साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक १३ | रविवार, ३ जनवरी १९९३ | विक्रमी सम्वत् २०४९ | दयानन्दाब्द १६८ | सृष्टि सम्वत १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक— २५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड १०० डालर | दूरभाष ३१०१५०

दिव्य विभूतिः पं० क्षितीश वेदालंकार

नई दिल्ली २७ दिसम्बर। प्रख्यात स्वतन्त्रता सैनानी लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार व विद्वान लेखक प० क्षितीश वेदालकार का २४ दिसम्बर, १९९२ को निधन हो गया। वे ७६ वर्ष के थे। प० जी कुछ समय से बीमार चल रहे थे और २३ दिसम्बर को उन्हें ग्रीन पार्क के मोहिन्द्रा नर्सिंग होम म दाखिल कराया गया था। अगले दिन १२-२५ पर उनका देहावसान हो गया।

२५ दिसम्बर को निगम बोध घाट पर पूर्ण वैदिक रीति से प० क्षितीश जी का दाह सस्कार किया गया। उनके बड़ पुत्र श्री विनयादित्य ने चिता को मुखाग्नि दी। इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा प्रधान स्वामी आनन्द बोध जी सरस्वती, स्वतन्त्रता सैनानी प० वन्देमातरम् रामचन्द्र राव, स्वामी ओमानन्द, हरियाणा आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान प्रो० शेरसिंह महानगर परिषद के अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तम गोयल, गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार निदेशक प्रकाशन विभाग पद्मभूषण श्री डा० श्याम सिंह शशि भाषा के सम्पादक डा० वेदप्रताप वैदिक, श्री अशोक कौशिक दिल्ली आर्य प्रतिनिधि के महामन्त्री व मन्त्री डा० धर्मपाल व श्री वेदव्रत शर्मा, श्री मूलचन्द गुप्त डा० महेश विद्यालकार, श्रीमती शकुतला आर्या, श्री अजय भल्ला, श्री रामनाथ सहगल, श्री रामसिंह आदि सहित अनेक सभाओ, सस्थाओ के प्रतिनिधियो साहित्यकारो व पत्रकारो ने श्रद्धेय पडित जी के अन्तिम दर्शन कर अश्रुपूरित नेत्रो से उन्हें अन्तिम श्रद्धाजलि अर्पित की। प० जी अपने पीछे धर्मपत्नी श्रीमती पवित्रा देवी पुत्र विनयादित्य व शीलादित्य, पुत्रिया विश्ववारा व रश्मि छोड गये हैं।

सरल सौम्य व्यक्तित्व के धनी श्री वेदालकार जी का जन्म दिल्ली में १६ सितम्बर, १९१६ को हुआ था। गुरुकुल कागडी में अध्ययन के दौरान ही उन्होंने हैदराबाद सत्याग्रह में प्रथम जत्थे का नेतृत्व कर उसमें भाग लिया। गुरुकुल से स्नातक की उपाधि ग्रहण करने के बाद उन्होंने उपदेशकी की और बाद में राष्ट्रीय पत्र दैनिक हिन्दुस्तान मे नियुक्त हुये। वहा से १९७९ को सहायक सम्पादक के रूप मे सेवा निवृत हुये और हिन्दी साप्ताहिक आर्य जगत से जुड गए। इस पत्र को उन्नति के शिखर पर पहुचाने का श्रेय प० वेदालकार को ही जाता हैं।

(शेष पृष्ट ४ पर)

स्वामी श्रद्धानन्द का ६६वां बलिदान दिवस

आर्यसमाज का विश्वबन्धुत्व का सन्देश घर-घर पहुँचाये

—आनन्दबोध सरस्वती

नई दिल्ली २५ दिसम्बर। आज देश को साम्प्रदायिकता की आग से बचाने का एकमात्र रास्ता यही है कि आर्य समाज का विश्वबन्धुत्व भाईचारे सच्चाई, ईमानदारी व कर्त्तव्यनिष्ठा का सन्देश घर घर पहुचाने के लिए सभी आयजन लक्ष्यबद्ध होकर मिशनरी भावना से काम करें। ये उद्गार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द के ६६वें बलिदान दिवस पर ऐतिहासिक लाल किला मैदान मे आयोजित आज एक समारोह में व्यक्त किये। स्वामी आनन्दबोध की अध्यक्षता में कार्यक्रम का आयोजन आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य द्वारा किया गया। इससे पूर्व दिल्ली व आसपास के क्षेत्रो के हजारो नर, नारी व स्कूली बच्चे स्वामी आनन्द बोध सरस्वती के नेतृत्व में प्रात श्रद्धानन्द बलिदान भवन से एक जलूस के रूप मे चले थे। शोभायात्रा लाहौरी गेट, खारी बावली, फतेहपुरी होती हुई लाल किला मैदान मे पहुची।

समारोह के मुख्य अतिथि सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता सैनानी व सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उपप्रधान श्री वन्देमातरम रामचन्द्र राव थे। श्री राव ने अपने दक्षिणी अफ्रीका के दौरे का उल्लेख करते हुये कहा कि नेल्सन मण्डेला जैसे अफ्रीका कांग्रेस के नेता भी यह मानते हैं कि भारत अपने बौद्धिक खजाने के कारण आज भी समूचे विश्व का मार्गदर्शन कर सकता है। उन्होने राष्ट्रवासियों का आह्वान

(शेष पृष्ठ ४ पर)

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव | सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

क्या यह देश २१वीं शताब्दी में जा सकेगा ?

विमल बधावन एडवोकेट

हाल ही मे अयोध्या के घटनाचक्र ने हमारे देश को एक ऐसे तिराहे पर ला खडा किया है जहा हमे निर्धारित करना है कि देश को भविष्य म किस माग पर ले जाया जाए यह माग है। (१) हिन्दू राज्य (२) वर्तमान सेक्यूलरिस्म जिसके कारण देश आज असमजस मे है और (३ सच्ची पथ निरपेक्षता।

सर्वप्रथम तो यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सविधान मे जहाँ अग्रजी शब्द सेक्यूलरिस्म का इस्तेमाल किया गया है उसके मुकाबले हिन्दी शब्द पथ निरपेक्ष है न कि धर्म निरपेक्ष वास्तविकता यह है कि धर्म यूनिर्वसल है जब कि पथ अलग-अलग हो जैसे हिन्दू मुस्लिम ईसाई इत्यादि। धम का अभिप्राय व्यवहार की सर्वोच्चता तथा सच्चाई ईमानदारी जैसी बातो से है जब कि पथ का अभिप्राय अलग अलग समुदायो द्वारा रहन सहन पहचान तथा पूजा पद्धति के अलग अलग तरीको से है। अत हमारी यह मान्यता हो कि सरकार को धर्म से विमुख नही होना चाहिए क्योकि इसी का मतलब भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार है सरकार पथ-निरपेक्ष हो सकती है अर्थात सरकार का विशेष झुकाव किसी विशेष पथ की ओर न हो।

हिन्दू राज्य

आज सबसे मुख्य प्रश्न यह है कि देश का भविष्य मे स्वरूप कैसा होना चाहिए ? ब्रिटेन एक ईसाई राज्य है जहा राज्य का एक विशेष पथ है जिसकी रक्षा की जिम्मेवारी सरकार पर है बेशक वहा दूसरे पथ के लोगो को भी रहने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार अरब देश इस्लामी राज्य हैं इनकी जिम्मेवारी इस्लाम की रक्षा करना है यहा पर तो दूसरे पथ के लोगो के साथ अत्यधिक घटिया व्यवहार किया जाता है कभी-कभी तो इन्हे अमानवीय यातनाए भी दी जाती हैं। इन सबके मुकाबले भारत एक हिन्दू राज्य क्यो नही हो सकता क्योकि भारतमे ८०प्रतिशत से भी अधिक हिन्दूहैं और ये अपने उदार-वादी स्वभाव से दूसरे पथ के लोगो को बिल्कुल अपने समान स्तर पर रखने को भी तैयार है तो भारत को हिन्दू राज्य घोषित करने म क्या आपत्ति हो सकती है और वा भी तब जब कि इस देश का निर्माण (विभाजन) सन् १९४७ मे इसी आधार पर हुआ था। उसमे मुसलमान तो केवल मोहनदास गाधी की कृपासे ही रह सकने योग्य हुएथे अन्यथा हिन्दू राज्य की घोषणा १९४७ म ही हो गई होता। अब प्रश्न यह है क्या यह घोषणा आज नही हो सकती ? क्या इस प्रकार की घोषणा से भारत को साम्प्रदायिक समझा जाएगा ? जब ब्रिटेन और अरब आदि देशो को एक विशेष पथ अपनाने पर साम्प्रदायिक नही कहा जाता तो भारत के बारे मे ऐसा कहना कैसे उचित होगा।

वतमान सेक्यूलरिस्म (पथ निरपेक्षता)

सन १९७५ मे पहली बार हमारे सविधान को यह शब्द दिखाया गया और हमारे सासदो ने केवल इसी शब्द को सविधान मे जोडने से ही अपनी महानता समझी जब कि सम्पूर्ण सविधान को वास्तविकता मे पथ निरपेक्ष रूप दिए जाने के लिए किसी भी प्रावधान मे कोई परिवर्तन आवश्यक नही समझा गया। पथ निरपेक्षता का अभिप्राय जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सरकार किसी पथ की ओर विशेष झुकाव न दिखाए अर्थात् सबसे पहली बात कि भारत माता की धरती पर रहने वाले समस्त मनुष्य चाहे किसी भी पथ से सम्बन्धित हो भारत सरकार से समान व्यवहार की अपेक्षा करगे तथा सरकार भी सबको एक समान समझ कर समस्त कानूनो और सवि-धान के प्रावधानो का समान रूप से लागू करायेगी।

यदि ऐसा अर्थ है पथ निरपेक्षता का तो इसमे कोई दूसरी राय नही कि हमारा वर्तमान पथ निरपेक्ष स्वरूप पूरी तरह से एक ढकोसला है क्योकि भारत मे बीसियो कानून ऐसे हैं जो आज विभिन्न पथो तथा समूहो के लिए अलग-अलग तरीके तथा प्रावधानो के साथ लागू किए जा रहे है। उदाहरण के लिए। (१) भारतीय सविधान के अनुच्छेद २९ जिसके अनुसार यदि किसी मुस्लिम सस्था द्वारा कोई विद्यालय चलाया जा रहा है तो इस अनुच्छेद के द्वारा उन्हे कुछ विशेष अधिकार दिए गए हैं जब कि हिन्दू सस्थाओ के स्कूलो मे वह विशेष अधिकार नही दिए जाते। (२) भारत मे यदि कोई हिन्दू एक पत्नी के जिन्दा रहते दूसरी शादी करे ना उसे कारावास तथा जुर्माना दोनो की सजा का प्रावधान है जब कि मुस्लिम समदाय पर यह कानून लागू नही होता अपितु उन्हे चार पत्नियो तक रखने की छूट है। ३ हिन्दू तलाक शुदा महिलाओ की स्थिति कानून मे अत्यधिक सरक्षित है जब कि मुस्लिम महिलाओ को ऐसे अधिकार से पूर्णतया वचित रखा गया है।

जिस देश की कानून प्रणाली म स्थान-स्थान पर ऐसे पथिक भेद विद्यमान हो क्या उस देश को पथ निरपेक्ष कहा जा सकता है। इन्ही पथिक भदभाव पूर्ण नीतियो के कारण हमारे देश मे न बुझने वाली आग १९४७ से अब तक सुलग रही है और इस प्रणाली के रहते इस आग का ठण्डा होना पूर्णतया असम्भव है।

सच्ची पथ निरपेक्षता

वर्तमान पथ निरपेक्षता के परिणाम देखकर हमारी आत्मा भी काप उठगी। आज आवश्यकता इस बात की है कि या तो इस राष्ट्र को हिन्दू राज्य घोषित किया जाए और नही तो लक्ष्यबद्ध कार्यक्रम के द्वारा सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि पथ निरपेक्षता का वास्तविक स्वरूप शीघ्र लागू करवाया जाए समस्त भेद भाव पूर्ण कानूनो का समानता के आधार पर नवीकरण किया जाए तभी देश को उन्नति के मार्ग पर ले जाने के लिए आर्थिक सुधारो का क्रियान्वयन सम्भव होगा। अन्यथा आज यह देश जिस प्रकार विश्व के नक्शे मे प्रकट होता है इस रूप मे २१वी शताब्दी मे नही पहुच सकेगा।

पं० पृथ्वीराज शास्त्री की प्रथम पुण्यतिथि १४ जनवरी ९३ को थादला मे मनाई जावेगी

आय समाजो और आय जनता की सूचनार्थ निवेदन है कि स्व० प० पृथ्वीराज शास्त्री की प्रथम पुण्य तिथि आगामी १४ जनवरी १९९३ को अ० भा० दयानन्द सेवाश्रम (जिला झाबुआ म० प्र० के ३ दिवसीय रजत जयन्ती समारोह के अवसर पर मनाई जावेगी। गायत्री यज्ञ के आयोजन के साथ आश्रम के सचालन हेतु नव निर्मित भवन का उदघाटन सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के कर-कमलो से सम्पन्न होगा। यज्ञ के सचालन हेतु श्रीमती शान्ति जी अग्निहोत्री व श्री राजसिंह जी थादला पधार रहे हैं। इस समारोह मे आदिवासी शिक्षार्थी भी सम्मिलित होगे।

सघ के महामन्त्री श्री देवव्रत महत्ता, मन्त्री श्रीमती प्रेमलता (धर्मपत्नी स्व० पृथ्वीराज शास्त्री) तथा श्रीमती ईश्वर रानी १० जनवरी ९३ को बम्बई फिरोजपुर जनता एक्सप्रेस से रवाना होकर ११ जनवरी को थादला पहुच रहे हैं। श्री राजसिंह जी आय भी इन्ही के साथ जायेंगे।

जो सज्जन इस यज्ञ मे सम्मिलित होना चाहें, वे कृपया श्रीमती प्रेमलता जी डब्ल्यू० जैड० ११९८ रानीबाग, शकूरबस्ती दिल्ली ११००३४ (दूरभाष न० ७१८२८४४) से सपर्क करें।

केन्द्रीय कार्यालय अ० भा० द० से० सघ दिल्ली

एकता का सूत्रधार श्रद्धानन्द

सम्पादकीय

ससार मे कभी-कभी ऐसे महापुरुष जन्म लेते है जो अपने त्याग, तपस्या, परमार्थ एव बलिदान से नए युग का और नए इतिहास का निर्माण करते हैं। उनके पदचिन्हो पर चलकर आने वाली पीढिया अपने को धन्य मानती हैं। सामाजिक, राजनतिक धार्मिक एव सास्कृतिक क्षेत्र मे नई दिशा प्रदान करन वाले महापुरुषो की शृङ्खला लम्बी है और हम एसे महापुरुषो का श्रद्धापूवक स्मरण करना चाहिए ताकि हम उनके जीवन और कृतित्व स प्ररणा ग्रहण कर सक तथा सामाजिक कल्याण के काय करके अपन जीवन को अथवत्ता तथा सार्थकता प्रदान कर सके। युग प्रवत्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती एसे ही महामानव थे। वे एक ऐसी पारसमणि थे जिसके स्पश स अनेक पाप पक म निमग्न मनुष्य स्वण बन गए और उनका तजोदीप्त निमल सुरभित जीवन दूसरो के काम म लग गया। ऐसे ही महापुरुषो ने सवमव यज्ञ तक करने मे भी सकोच नही किया। व अपने से ऊपर उठ गए थे वे सबके लिए हो गए थे और ऐसे ही एक महामानव थे स्वामी श्रद्धानन्द जो मात्र एक बार स्वामी दयानन्द के ओजस्वी, तजस्वी स्वरूप को देखकर, उसके अकाट्य तर्कों स प्रभावित होकर, उनकी ईश्वर और धम की व्याख्या सुनकर उनके हो गए स्वामी श्रद्धानन्द का पूव नाम मुशीराम था। अनेक दुर्व्यसनो से ग्रस्त मुशीराम का जीवन स्वामी दयानन्द के उपदेशामृत का पान करके सुवणमय हो गया। उनका सारा ससार ही आलोकित हो गया। उनकी सभी दसो दिशाए सुवासित हो गयी। वह जिस दिशा में भी गया, उनकी चरण-रेख वही पर अकित हो गई। उन्ही कदमो पर आज भी अनेक चलने को लालायित हैं।

वकील मुशीराम की मानसिक और बौद्धिक चेतना की जागृति उच्च शैल शिखर से आविर्भूत शुभ्र जलस्रोत के समान थी जो कल-कल करती चारों दिशाओ मे फैल गई। चेतना के उस अजस्र स्रोत से मानव कल्याण की जलधारा फूट पडी। धीरे-धीरे वह पतली जलधारा शिवालिक की उच्च पवत शृङ्खलाओं से उतर कर हरिद्वार के विस्तीर्ण प्रान्तर मे ठहर गई और उसने चारो ओर रम्य वातावरण की सृष्टि की। यहा पर न रुक कर यह उद्दाम प्रवाह धारा राष्ट्रीय क्षितिज पर उभर कर, सभी को एक दृष्टि स देखने तथा सभी का कल्याण करने के लिए अग्रसर हो उठी— जिस दिन पवित्र सन्यासाश्रम मे प्रवेश किया, उसी दिन सारे ससार को एक परिवार समझने सारे ससार के धन को एक आख मे देखने और लोक लज्जा को छोडकर लोक सेवा मे दत्तचित्त होने का व्रत धारण कर लिया था।' मायापुरी की वह वाटिका धन्य है जहा से यह सुव्रती जन-जन के उद्धार के लिए राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली की ओर बढ चला।

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन मे अनेक मोड आए। वे पौराणिक जगत से निकल कर आर्य जगत के सिरमौर बने। यहा पर उन्होने राष्ट्रीय विचार धारा को नई ऊर्जा तथा देश की रक्षा में तत्पर नागरिक बने के लिए अपनी प्राचीन गौरवमयी शिक्षा पद्धति पर गुरुकुल की स्थापना की। अब उनका क्षेत्र बढ गया और वे सामाजिक तथा राजनैतिक क्षितिज पर छा गए। उनके जीवन मे कही पर भी ठहराव न था। वे तो तीर की भाति आगे बढ जात थे। जब राजनैतिक जीवन की क्षुद्रताए सामने आई और उन्हे अपना अभीष्ट प्राप्त न होता दीखा तो हिन्दू महासभा हिन्दू सगठन आर्य सगठन दलितोद्धार अछूतोद्धार तथा धम परिवतन की दिशा मे आगे बढ चले।

उनके जीवन मे विभिन्न सोपान और परिवतनो और उनके द्वारा प्रवर्तित एकता के सूत्रो को समझने के लिए उनके लेखो और ग्रन्थो का अनुशीलन अनिवार्य है। स्वामी जी ने पत्रकारिता की महत्ता को अपने जीवन के प्रारम्भिक चरणो मे ही पहचान लिया था। वे शब्द की शक्ति स परिचित थ। इसलिए उन्होन १९ फरवरी १८८९ को जालधर स 'सद्धम प्रचारक' साप्ताहिक प्रारम किया। इस पत्र को देखकर लाला साईदास ने कहा था—'यह पत्र समाज मे नया युग लाएगा। यद्यपि यह कहना कठिन है कि वह युग हितकर होगा या घा तक।' ये शब्द ठीक वैसे ही थे, जैसे कि उन्होने मुशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के आर्य समाज लाहौर में प्रविष्ट होने पर, पहले दिन उनके भाषण के बाद कहे थे—'आर्य समाज मे यह नई स्पिरिट आई है, देखे यह आर्य समाज को तारती है या डुबा देती है।' लाला साईदास की विलक्षण परीक्षण शक्ति की उद्भावना को स्वामी श्रद्धानन्द ने सकारात्मक दिशा मे प्रवृत्त होकर गौरव ही प्रदान किया। इस 'सद्धर्म प्रचारक' को पढकर एक सज्जन के आक्षेप करने पर कि— दयानन्द के इतने कट्टर शिष्य बनते हो पर महर्षि ने तो अपना सारा साहित्य हिन्दी मे लिखा है, आप सद्धर्म प्रचारक उर्दू मे क्यो निकालते हैं? उन्होने 'प्रचारक' को हिन्दी मे निकालने का निश्चय कर लिया और मार्च १९०७ में 'सद्धर्म प्रचारक' गुरुकुल कागडी से हिन्दी मे प्रकाशित होने लगा। १९११ मे उन्होने प्रचारक को दैनिक कर दिया। इसे उन्होने दिल्ली से प्रकाशित किया तथा इसमे राजनीति की गतिविधियो को प्रमुखता दी गई उनके बडे पुत्र 'हरिश्चन्द्र' प्रचारक के सपादक थे। ३० जनवरी १९१७ को यह पत्र पुन हरिद्वार से प्रकाशित होने लगा। यह पत्र आर्य समाज की सार्वभौम नीतियो का नियामक था। महात्मा मुशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के भावो और विचारो का सपूर्ण प्रतिफलन उसमे होता था। १९०४ म सत्यवादी नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया गया। इसके प्रथम सपादक प० पद्म सिह शर्मा थे। स्वामी श्रद्धानन्द के सपादन में १९२० में गुरुकुल कागडी म 'श्रद्धा' नाम की साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। दक्षिण भारत के अग्रेजी शिक्षित समुदाय तक अपने विचारो को पहुचाने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने १ अप्रैल १९२६ म अग्रेजी साप्ताहिक 'द लिबरेटर' निकाला। स्वामी जी से प्रेरणा लेकर इन्द्र जी ने 'अर्जुन', 'विजय' और 'सत्यवाद' साप्ताहिक निकाले। स्वामी जी के दौहित्र श्री सत्यकाम विद्यालकार ने 'नवयुग' नामक एक दैनिक का सपादन किया। १९२६ म स्वामी जी की हत्या हो जाने पर वीर सावरकर ने अपने छोटे भाई डा० नारायण सावरकर को रत्नगिरि बुलाया और उन्हे दो पत्र निकालने की प्रेरणा दी। इसमे एक पत्र 'श्रद्धानन्द' था। यह पत्र स्वामी श्रद्धानन्द जी की पावन स्मृति मे प्रारम किया गया था। इसके प्रथम अक में उनका अपना लेख 'श्रद्धानन्द जी की हत्या' भी प्रकाशित हुआ था।

स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षधर थे। वास्तव मे वे यह मानते थे कि एक ही भाषा होने से एकता का सूत्रपात किया जा सकता है। ६ दिसम्बर १९१३ को भागलपुर में हुए चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर भाषण करत हुए स्वामी जी ने उस समय कहा था—'बिना एक राष्ट्र भाषा के प्रचार के राष्ट्र का सगठित होना ऐसा ही दुष्कर है जैसा बिना जल के मीन का जीवन। जिस समाज के सभासदो के पास एक दूसरे के हार्दिक भावों को समझने का कोई एक साधन नही उनका सगठन दृढ कैसे हो सकता है।' भारत वर्ष के नेताओ ने यह तो मान लिया है कि एक राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का निर्माण नही हो सकता, परन्तु इस विषय मे अभी तक मतभेद है कि कौन सी राष्ट्र भाषा बन सकती है। मेरी सम्मति यह है कि आर्यभाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती है। इस भाषा को हम केवल हिन्दुओं की ही भाषा नही प्रत्युत सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द भाषायी एकता को भी राष्ट्रीय एकता का एक प्रमुख सूत्र मानते थे।

स्वामी श्रद्धानन्द जात पात के भेदभाव को दूर करना चाहत थे। उनके विचार मे इससे एकता के मार्ग मे बाधा पडती है उनके गुरुकुल मे मेहतरो के बच्चे भी, सवर्णों के बच्चो के साथ साथ रहते पढते, खेलते और खाते थे। २६ दिसम्बर १९१९ को अमृतसर काग्रेस के अपने स्वागताध्यक्ष भाषण म उन्होने अछूतोद्धार को काग्रेस कार्यक्रम का आवश्यक अग बनाने का प्रस्ताव रखा था। इस पवित्र जातीय मन्दिर मे बैठे हुए अपने हृदयो को मातृभूमि के पवित्र जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि साढे ६ करोड हमारे लिए अछूत नही रहे बल्कि हमारे भाई बहन है। उनकी पुत्रिया और पुत्र हमारी पाठशालाओ में पढेगे, उनके नर-नारी हमारी सभाओ मे शामिल होगे और स्वतत्रता प्राप्ति के युद्ध मे हमारे कधे स कधा जोडेगे।'

वे एकता स्थापना के सूत्रो के अन्तगत ही 'अछूतोद्धार' को मानते थे। उनका दिल उस समय से उठा था, जब प० मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में आयोजित हिन्दू सगठन की सभा मे एक अछूत को अपने विचार प्रकट करने से रोक दिया गया था। स्वामी श्रद्धानन्द ने ३१ मार्च १९१९ की घटनाओं का विवरण इस प्रकार दिया था—'३१ को पचास हजार मातपदारों के साथ मैं

(शेष पृष्ठ ६ पर)

दिव्य विभूति: पं० क्षितीश वेदालंकार

(पृष्ठ १ का शेष)

सिद्ध-हस्त लेखक प० वेदालकार जी ने अनेक देशो की यात्रा की और गहन अनुभव, चिन्तन व भजन के आधार पर २६ से अधिक मौलिक ग्रन्थो व भव्य स्मारिकाओ की सम्पादन व रचना की है एव सैकडो लेख लिखे। तूफान के दौर से पजाब काश्मीर झुलसता स्वग विशेष चर्चित रही।

ओजस्वी वक्ता प० क्षितीश जी के आगमन से आर्यसमाज के उत्सवो व कायक्रमो की शोभा बढती थी। उनकी वाणी मे जादू था व श्रोता मन्त्र मुग्ध हो सुनते रहते थे।

प० जी सरलता सज्जनता व शालीनता की प्रतिमूर्ति थे। सज्जनता के कारण अनेक बार उन्हें कष्ट व हानि भी उठानी पडी परन्तु अपना स्वभाव नही बदला।

विलक्षण प्रतिभा के धनी प० क्षितीश वेदालकार को २० से अधिक उपाधि व सम्मान से अलकृत किया गया था। वास्तव मे सस्थायें उन्ह सम्मानित कर स्वय गोरवान्वित अनुभव करती थी।

हिन्दी, सस्कृत के प्रकाड प० क्षितीश जी ने अनक आनन्दोलनो मे बढ चढकर भाग लिया। वाणी व लेखनी के धनी प० जी जैसे विरले ही होते हैं। वस्तुत वे अपनी मिसाल स्वय थे।

रविवार, २७ दिसम्बर को डी-८१ गुलमोहर पार्क मे उनके निवास के पास विशाल पार्क मे ३ से ५ बजे तक धर्म शान्ति यज्ञ व श्रद्धाजलि सभा का आयोजन किया गया। सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए कहा कि क्षितीश जी ने हैदराबाद सत्याग्रह के प्रथम जत्थे मे शामिल हो उल्लेखनीय काम किया था। गुरुकुल के इस स्नातक ने वाणी व लेखनी से आर्य समाज की अद्भुत सेवा की। प० जी के भाषणो से समा बध जाता था और अलौकिक आनन्द आता था। आज उनकी आवाज नही है परन्तु उनकी याद बाकी अत्यन्त दुख की बात है कि प० जी जैसे प्रखर विद्वान आज हमारे बीच से जा रहे हैं। उनके बताये मार्ग पर चल कर ही हम उन्हें सच्ची श्रद्धाजलि दे सकते हैं।

श्री विशुद्धानन्द जी शास्त्री ने कहा कि प० क्षितीश जी नवचेतना ज्ञान के भास्कर थे। प० जी ने सुन्दर व आदर्श जीवन जीया था।

श्री बलराज मधोक ने कहा कि यदि किसी व्यक्ति को अमर कहा जा सकता है तो वे प क्षितीश जी थे। उनका आय जीवन हमारे लिए आदर्श है। एडवोकेट श्री सोमनाथ मरवाह ने कहा कि प० जी का कृतित्व उ हे सदैव जि दा रखेगा। श्री सत्यदेव भारद्वाज ने कहा कि श्री क्षितीश जी एक विभूति थे जो अब हमारे बीच नही है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव ने प० क्षितीशजी कहा विद्यार्थी काल से ही आय समाज से जुडे रहे। राजनीति व अध्यात्म दोना पर ही उन्होन खोजपूर्ण लेख लिखे हैं। प० जी के निधन स न केवल आर्यसमाज बल्कि राष्ट्र की अपूरणीय क्षति हुई है।

दिल्ली सभा के महामन्त्री डा० धमपाल ने कहा कि प० वेदालकार जी आर्य समाज की गौरवमय विभूति थे। प० जी का आय सन्देश से विशेष लगाव था। इसके लिए विशेष रूप से लिखते थे और उन्हीं के सत्परामर्श से आय सन्देश के विशेषाको की श्रृखला शुरू की गयी है। प० जी ने कहा था कि हमे अपने आर्य महापुरुषो को इसी प्रकार स्मरण करते रहना चाहिए। प० जी को हम अपने बीच पाकर गौरवान्वित महसूस करते थे।

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री सुभाष विद्यालकार ने कहा कि पत्रकार, लेखक चिन्तक व विचारक क्षितीश जी हमारे पथप्रदर्शक व प्रेरणा-स्रोत थे।

सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री सच्चिदानन्द शास्त्री ने अपनी भावाजलि अर्पित करते हुए कहा कि हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र मे गुरुकुल के स्नातको ने जो कार्य किए हैं उसमे प० क्षितीश जी का विशेष योगदान है।

दिल्ली आर्य प्रान्तीय महिला सभा की प्रधाना श्रीमती शकुन्तला आर्या ने व्यक्तित्व व कृतित्व के धनी प० वेदालकार जी को एक कमयोगी बताया।

दीवान हाल आर्य समाज के प्रधान श्री मूलचन्द गुप्ता ने कहा कि जो भी व्यक्ति पत्रकारिता से जुडा था वे उससे विशेष स्नेह करते थे। वे किसी वर्ग विशेष के नहीं परन्तु पूरे आर्य जगत के थे।

ग्रीन पाक आय समाज क प्रधान श्री इन्द्रनारायण जी हाथी दात वाले ने कहा कि प० क्षतीश जी एक रत्न थ जो आज नही रहे। वे गूढ से गूढ विषय को भी सरल शैली मे प्रस्तुत करा मे सक्षम थे। सादा जीवन व उच्च बिचार के वे प्रतीक थे। अभी आय सन्देश के २७ दिसम्बर के नवीनतम अक मे प० जी का लेख पढ मैं भाव विभोर हो गया।

आय प्रादशिक सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ सहगल ने कहा कि प० जी को आर्य जगत मे पूण स्वतन्त्रता थी और उनके परिश्रम व कुशल लेखनी से ही आर्य जगत की ग्राहक सख्या म वृद्धि हुई। डी० ए० वी० सस्थान के प्रधान श्री शान्ति लाल सूरी ने कहा कि प० जी हमारे प्राण थे।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान क पूव सम्पादक श्री गोविन्द के जरीवाल ने कहा कि प० क्षितीश जी परदु खकातर थे। वे प्रखर विद्वान व शास्त्रज्ञ थे तथा उनमे सौन्दर्य बोध भी गजब का था।

प० क्षितीश जी के बचपन के सहपाठी श्री मनोहर विद्यालकार ने कहा कि वेदालकारजी मैं बात को प्रस्तुत करने की विशेष कला जानत थे। श्री नरेन्द्र वाचस्पति जी ने प० जी को एक अद्वितीय ओजस्वी वक्ता बताया। श्री धीरेन्द्र जी, श्री आनन्द भारती, श्री सत्यव्रत व श्री अजय सहगल ने भी श्रद्धाजलि अर्पित की। शोक सभा का सचालन श्री अजय भल्ला ने करते हुए कहा कि प० क्षितीश वेदालकार जी आर्य जगत की अमूल्य धरोहर थे।

परमपिता परमात्मा मे प्रार्थना है कि दिवगत आत्मा को शान्ति व परिवार जनो को दारुण दुख सहने की शक्ति प्रकाश करे।

प० क्षितीश वेदालकार दिव्य विभूति को शत शत नमन।

—विमल वात शर्मा

स्वामी श्रद्धानन्द का ६६वां बलिदान दिवस

(पृष्ठ १ का शेष)

करते हुये कहा कि वे अपने-२ पथक मतभेदो का भुलाकर राष्ट्र के विकास मे समुचित योगदान दें।

एकता के सूत्रधार का विमोचन

समारोह मे दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो डा० धर्मपाल द्वारा लिखित 'एकता क सूत्रधार पुस्तक का श्री वन्देमातरम रामचन्द्रराव ने विमोचन किया। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री विद्वान लेखक डा० धमपाल ने इससे पूर्व अनेक पुस्तको का सम्पादन व लेखन किया है।

कायक्रम मे हिन्दी साप्ताहिक 'आय सन्देश' के "श्रद्धानन्द बलिदान स्वामी समपणानन्द' सयुक्ताक का आय प्रादेशिक सभा के प्रधान श्री दरबारी लाल ने विमोचन किया।

इस अवसर पर सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान आचार्य सत्यप्रिय शास्त्री को मेजर अश्विनी कुमार कण्व स्मृति पुरस्कार से भी सम्मानित किया। ज्ञातव्य है कि मेजर अश्विनी कुमार कण्व श्रीलका मे भेजी गयी भारतीय शान्ति सेना मे सेवा करते हुए शहीद हो गये थे।

कार्यक्रम का शुभारम्भ श्रद्धानन्द बलिदान भवन मे आयोजित राष्ट्र रक्षा यज्ञ से हुआ था।

आगामी कार्यक्रम

बसन्त मेला कोटद्वार गुरुकुल महाविद्यालय कण्वाश्रम द्वारा कोटद्वार भावर में २९ स ३१ जनवरी ९३ तक बसन्त पचमी मेले का आयोजन किया जा रहा है। इसमें राष्ट्र भृत यज्ञ, व्यायाम प्रदर्शन, प्रतियोगिताय, वैदिक सगोष्ठी, अनेक महासम्मेलन आदि कार्यक्रम रखे गये हैं। भोजन व आवास की नि शुल्क व्यवस्था गुरुकुल की ओर स है। ऋतु-अनुकूल बिस्तर साथ लाये।

विशेष ध्यान योग शिविर हरिद्वार पातजल योगधाम आर्यनगर, ज्वालापुर हरिद्वार में ३ जनवरी से १७ जनवरी, ९३ तक स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में एक विशेष ध्यान योग शिविर लगाया जा रहा है। निवास व्यवस्था योगधाम की ओर से होगी। भोजनादि का व्यय साधक वहन करगे तथा बिस्तर भी साथ लाय। इच्छुक साधक-साधिकाय ३ जनवरी तक अवश्य पहुच जाए।

११३वा वार्षिकोत्सव कानपुर आर्य समाज मेस्टन रोड कानपुर का ११३वा वार्षिकोत्सव शिवरात्रि के पावन पव पर १८ स २१ फरवरी, ९३ तक आय समाज हाल श्रद्धानन्द पाक मे मनाया जा रहा है। शोभायात्रा व अनेक सम्मेलन भी होगे

'घुटने-टेक' राजनीति

जगमोहन

हाल ही में सांसदों का एक प्रतिनिधि मण्डल श्रीनगर गया और वहाँ से लौटकर कुछ सदस्यों ने इस प्रकार के बयान दिए हैं कि वहां स्थिति सुधर रही है। इस प्रतिनिधिमण्डल ने घाटी में क्या देखा, इस पर मैं टिप्पणी नहीं करूंगा। लेकिन दो बातें जरूर बताना चाहूंगा। पहली यह कि आज के माहौल में इस प्रकार के किसी भी उच्च स्तरीय प्रतिनिधिमण्डल को कश्मीर घाटी भेजने से कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता। बल्कि इससे आतंकवादियों को एकजुट होकर अपनी बात और जोर से दुनिया तक पहुंचाने का एक मौका मिलता है। मैं यह भी नहीं मानने को तैयार हूं कि कश्मीर घाटी में स्थिति सुधरी है। जिस प्रकार की खबरें रोज समाचार पत्रों में पढ़ने को मिल रही हैं, उनसे तो यही लगता है कि स्थिति सुधरने की बजाय दिन प्रतिदिन और ज्यादा बिगड़ती जा रही है।

कश्मीर के बारे में बातचीत का दौर शुरू करना, फिर से राजनीतिक प्रक्रिया प्रारम्भ करना और घाटी में अपनी साख खो चुके उन नेताओं को फिर से कश्मीर के समाधान की कोशिश का हिस्सा बनाने की बात भी चल रही है, जो लोग आज घाटी में प्रवेश करने का साहस नहीं कर सकते। मेरे विचार में ये बात बेमानी है। मैंने बार-बार पहले भी कहा है और आज भी यही कहता हूं कि कश्मीर में कोई भी राजनीतिक प्रक्रिया शुरू करने से पहले वहां निचले स्तर तक सरकार को अपनी प्रभुसत्ता अच्छी तरह स्थापित कर लेनी चाहिये। अन्यथा सरकार की नीतियों में छोटे से छोटा परिवर्तन भी वहां लागू नहीं किया जा सकेगा।

नवम्बर, ८९ में भी इसी प्रकार लोकसभा के चुनाव कराने की गलती की गई थी। उस समय ध्यान ही नहीं दिया गया था कि डा० फारूख अब्दुल्ला का प्रशासन और सत्ता के विभिन्न घटकों पर कोई नियंत्रण ही नहीं है। प्रशासन के सभी कोनों पर विघटनवादी बैठे थे और जब धीरे धीरे यह नग्न सत्य सतह पर उभर कर आया तो उससे आतंकवादियों को जबर्दस्त मानसिक प्रोत्साहन मिला। वे और बढ़-चढ़कर भारत विरोधी हरकतें करने लगे। इस माहौल में जो लोग दुविधा में थे कि वे भारत को चुनें या आतंकवादियों को, उन्हें लगा कि आतंकवादी जीत रहे है। भारत सरकार कमजोर हो गई है। इस लए वे आतंकवादियों के साथ जाकर मिल गए। इस बार यदि ऐसी ही गलती दोहराई गई तो इससे भी भयंकर परिणाम हो सकते हैं।

(अ) मानवाधिकारवादी

यह भी चर्चा चल रही है कि एमनेस्टी इन्टरनेशनल नामक मानवाधिकारवादी संस्था के प्रतिनिधि को भारत आकर स्थिति का जायजा लेने हेतु सरकार ने अनुमति दे दी है। इस सरकार के तथाकथित मानवाधिकारवादी अपने एक पक्षीय और प्राय आतंकवादियों की आवाज उठाने के कारण काफी बदनाम हो चुके है। ये मानवाधिकारवादी उन सुरक्षा बलों की कथित ज्यादतियों को पूर्णत झूठे ढंग से प्रचार करने में संकोच नहीं करते जो अपनी जान पर खेलकर आतंकवादियों के निर्मम प्रहारों से आम जनता और देश की एकता को बचाने में जुटे होते हैं। लेकिन वे आतंकवादियों द्वारा निर्दोष स्त्री, पुरुष और बच्चों पर किये जाने वाले अत्याचारों की ओर ध्यान नहीं देते।

एमनेस्टी इंटरनेशनल की रिपोर्टों में आतंकवादियों पर सुरक्षा बलों के कथित जुल्मो-सितम का तो खूब वर्णन किया गया है। पर उन ८८ लोगों का कोई जिक्र तक नहीं है जिनके हाथ और पांव बांधकर आतंकवादियों ने कश्मीर में पेड़ों पर उल्टा लटकाकर फांसी दे दी थी। उन १४ लोगों का भी जिक्र नहीं है, जिनके शरीर पर बम बांधकर दिन में सरेआम उड़ा दिया था। न ही उन ५ लोगों का जिक्र है जिन्हें आतंकवादियों ने जिन्दा जला दिया था। सिर्फ जनवरी, '९० से '९२ के बीच घाटी में २३५२ विस्फोट हुए थे। इन अत्याचारों का क्या किसी मानवाधिकारवादी संगठन ने अपनी रिपोर्ट में जिक्र किया है? ये लोग उन हत्यारों को समर्थन देते हैं, जो मासूम बच्चों और महिलाओं को मारते हैं। जिस तरह से ये तथाकथित मानवाधिकारवादी, मानवाधिकार के मुखौटे में आतंकवाद को न्यायसंगत ठहरा रहे हैं उसे देखते हुए यह आतंकवाद एक दिन उन्हीं पर कहर ढा सकता है। ये लोग चाहे कुछ भी कहते रहें हम आतंकवाद से न तो झुके है, न हो झुकेंगे।

आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई में न सिर्फ केन्द्र सरकार को कठोरतापूर्वक घाटी में अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करनी होगी, बल्कि आतंकवादियों से सामना करने की परम्परागत नीति भी त्यागनी पड़ेगी। घाटी के कट्टरपंथी तत्त्वों पर और जोरदार दबाव डालना होगा। आतंकवादियों और उदारवादियों में भेद कर उदारवादियों को भारतीय संविधान के ढांचे में काम करने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। आतंकवादियों द्वारा और पाकिस्तान सरकार द्वारा कश्मीर के बारे

१९४७ से ही भारत सरकार ने इस्लामिक कट्टरपंथियों की राष्ट्र विरोधी गतिविधियों के सामने घुटने टेके हैं। इसी वजह से उनकी निर्दोष लोगों के खून की प्यास बढ़ गई। भारत सरकार को उस समय कार्यवाई करनी चाहिए थी जब सऊदी अरब के धन से तीन सौ मदरसे घाटी में खोले गए थे। इन मदरसों और मस्जिदों से इस्लामिक कट्टरपंथियों ने अनपढ़ जनता को भारत के खिलाफ भड़काया।

में जो दुष्प्रचार किया जाता है, उसका असर खत्म करने के लिए उसी बड़े पैमाने पर भारत सरकार को तथ्यों के प्रचार का जबर्दस्त अभियान छेड़ना होगा इसके अलावा कश्मीर के लिए निर्धारित बजट राशि का इस्तेमाल कहां और कौन कर रहा है, इस पर कड़ी निगरानी की जरूरत है। अभी तो भारत सरकार कश्मीर के लिए भारी-भरकम राशि का आवंटन कर परोक्ष रूप से आतंकवादियों की ही सहायता कर रही है, क्योंकि इस समय इस राशि का अधिकांश हिस्सा आतंकवादियों की जेबों में जा रहा है और सरकार इस पर नियंत्रण करने में अक्षम रही है।

आत्मघात प्रवृत्ति

मैं कुछ माह पूर्व अमरीका गया था। वहां न्यूयार्क में भारतीय मूल के अमरीका निवासियों से बातचीत करते हुए मैंने यह कहा था कि हम भारतीयों में स्वयं को ही आहत करने की अपूर्व क्षमता है। हम खुद को ही इतना बेदर्दी से चोट पहुंचाते हैं जिस पर आश्चर्य होता है। भारत और विदेश में जहां भी मैंने मानवाधिकारवादी संगठनों के सामने कश्मीर की यथार्थ स्थिति को सामने रखकर उनकी गलती की ओर ध्यान दिलाने की कोशिश की हर बार उन संगठनों के पदाधिकारियों ने कहा कि उनका निष्कर्ष आपके अपने भारतीयों द्वारा उपलब्ध कराई गई जानकारी पर आधारित है।' ऐसे भारतीय, भारत को कलंकित करते हैं और देशभक्ति को लज्जित करते हैं।

दूसरी सबसे बड़ी समस्या सरकार की तुष्टीकरण की नीति है। कोई भी विवेकशील व्यक्ति धारा ३७० को जारी रखने के बारे में सहमत नहीं हो सकता। जब हम कहते है कि कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है, इसका अर्थ यह होना है कि कश्मीर भारत का वैसा ही अभिन्न अंग है जैसा पंजाब या तमिलनाडु। पर शुरू से ही कश्मीर के मामले में सरकार ने राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा कर कट्टरपंथी तत्त्वों के सामने घुटने टेकने की नीति अपनाई। इसी वजह से कट्टरपंथियों के हौसले बढ़े और वे भारत की एकता को ही छिन्न-भिन्न करने में जुट गए। यह वैसा ही है जैसे द्वितीय विश्व युद्ध से पहले अंग्रेजों ने म्यूनिख में नाजायज मांगों को मानकर सोचा था कि अब मामला शांत हो गया है। लेकिन उसके परिणाम-स्वरूप हिटलर का उदय हुआ और दूसरा विश्व युद्ध हुआ। यदि ब्रिटिश सरकार म्यूनिख में जर्मनों की नाजायज मांगों के सामने समर्पण नहीं करती तो हिटलर का उदय टाला जा सकता था। १९४७ से ही भारत सरकार ने इस्लामिक कट्टर-पंथियों की राष्ट्र विरोधी गतिविधियों के सामने घुटने टेके हैं। इसी वजह से उनकी निर्दोष लोगों के खून की प्यास बढ़ गई। भारत सरकार को उस समय कारवाई करना चाहिए थी जब सऊदी अरब के धन से तीन सौ मदरसे घाटी में खोले गए थे। इन मदरसों और मस्जिदों से इस्लामिक कट्टरपंथियों ने अनपढ़ जनता को भारत के खिलाफ भड़काया।

लेकिन जहां इस्लामिक कट्टरपंथियों के इस जहर से लड़ने की जरूरत है, वहीं हमें अपने भीतर झांककर हिन्दुत्व में भी क्रांतिकारी और गतिशील सुधार लाने होंगे। एक सर्वव्यापी सांस्कृतिक नवजागरण, जिसमें से पूर्णत जाग्रत और पूर्ण शक्ति सम्पन्न हिन्दुत्व का प्रकाश चारों ओर फैले, इसका हमें जरूरत है। जो पुरानी मान्यताएं हमारी प्रगति में बाधा बन रही हैं, उन्हें तोड़ना होगा और अपनी सनातन शक्ति को आधुनिक संदर्भों में दिशा देनी होगी। तभी हम कश्मीर को और इस प्रकार भारत को भी बचा सकेंगे।

साभार पाञ्चजन्य

स्वामी श्रद्धानन्द

(पृष्ठ १ का शेष)

कब्रिस्तान की ओर चला मुसलमान शहीद का जनाजा हिन्दू बराबर कन्धा दे रहे थे। शहीद की कब्र पर उसके खून के पैबन्द से बरसों के बिछुड़े हुए दिल एक दूसरे से जुड़ गए थे। फिर शाम को दो और जनाजे कब्रिस्तान की ओर चलते करके मैं तीन अर्थियों के साथ श्मशान भूमि मे पहुंचा और दाहकर्म के पीछे परमेश्वर के दरबार में शान्ति के लिए प्रार्थना की और हिन्दू-मुसलमानों को ईश्वर दत्त एकता को स्थिर रखने के लिए अपील की तो एक सिक्ख भाई ने कहा—'हम पर क्यों जुल्म करते हो ? सिक्ख भी कौम के साथ हैं।' उन हजारों की भीड मे उस समय सैकडों की आंखों से प्रेम की जल धारा बह रही थी और अब मैं श्मशान भूमि से चल दिया, तो प्रिंसिपल सुशील कुमार रुद्र मुझे आकर गले मिले और कहा—मातृभूमि के निरपराध पुत्रों पर अत्याचार नहीं देख सकता, मेरा हृदय भारत के साथ है और प्रत्येक सच्चा ईसाई आपके साथ है।'

स्वामी जी के इन शब्दों को सुनकर कौन होगा, जो उन्हें संकुचित दायरों मे बाधने का प्रयत्न करे। वह सारे मानव समाज के थे, पूरा राष्ट्र उनका अपना था। उनकी शहादत सूर्य का वह प्रकाश है जो सब पर समान रूप मे पड़ता है और जीवन का सचार करता है।

४ अप्रैल १९१९ की घटना हिन्दू-मुसलिम एकता का एक विशिष्ट उदाहरण है। स्वामी जी महाराज ने दिल्ली की शाही जामामसजिद से वेदमन्त्र 'त्व हि न पिता वसो, त्व माता शतक्रतो' के साथ अपना संदेश आरम्भ किया था। इसके बाद उन्होंने फतहपुरी मसजिद मे भी जनता को संबोधित किया था। 'हिन्दू मुसलमानों को और अधिक संगठित होकर देश की परतन्त्रता की बेड़ियां काटनी हैं।' उनकी मान्यता थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता के द्वारा ही राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता को प्राप्त किया जा सकता है।

सन् १९२२ मे पंजाब मे अजनाला के पास 'गुरु का बाग' को लेकर सिक्खों ने मोर्चा लगाया हुआ था। उसमें भाग लेने के लिए स्वामी जी अमृतसर पहुंचे और अकालतख्त मे अपना सुप्रसिद्ध व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान ने हिन्दू-सिक्ख एकता को सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

जिस समय अब्दुल रशीद अपनी मूर्खताभरी चेष्टा से इस्लाम के माथे पर कलंक का टीका लगा रहा था, उधर गोहाटी मे अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन की तैयारियां हो रही थीं। स्वागताध्यक्ष महोदय ने स्वामी जी को उसमें आमंत्रित किया। वे स्वयं तो रुग्णावस्था के कारण उसमे सम्मिलित न हो सकते थे, परन्तु उस समय उन्होंने जो तार द्वारा संदेश भिजवाया, वह एकता का यश है—

भारत का भावी सुख हिन्दू मुसलिम एकता पर आश्रित है।'

स्वामी जी महाराज एकता पर कितना बल देते थे, यह उनके इन कथनों मे सर्वथा स्पष्ट है 'मैं धमकियों से पूर्ण संदेश भेजने वालों को ऐसा पतित नहीं समझता जैसा कि वे स्वयं अपने आपको समझते हैं। जो मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे मुसलमान भाइयों के प्रति सहिष्णुता दिखाएं और मुझे प्रिय माने हुए सिद्धान्तों की रक्षा में सहायता दें।

निस्सन्देह राजनीतिज्ञ और योद्धाओं का किसी जाति के निर्माण करने मे बड़ा हाथ होता है परन्तु उनके नाम सहज में ही भूल जाते हैं जबकि उन महात्माओं के नाम जो किसी जाति के नवीन जीवन को बनाते हैं, आगामी नस्लों की स्मृति में सदा बने रहते हैं। ऐसे ही थे स्वामी श्रद्धानन्द जी थे। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। इसके लिए उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

जो सोचते हैं कि वे केवल एक सम्प्रदाय के लिए सोचते थे वे साम्प्रदायिक भावना से परिपूर्ण थे, वे गलती पर हैं स्वामी जी महाराज तो इन क्षुद्र सीमाओं से ऊपर उठ चुके थे। वे कर्म अकर्म और विकर्म का भेद जानते थे। उनके विचार उदार थे। उनका हृदय विशाल था। उनका कर्तृत्व ही इष्णु था। उनकी विनम्रता, निर्भीकता, बलिदान का भाव और अटल विश्वास ही उनके जीवन का शृङ्गार थे। वे मनुष्यता का मान थे। वे शूरता की शान थे। वे ऋषियों का आर्ष भाव थे। वे भारत भूमि का सम्मान थे।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, सत्यनिष्ठ, कर्त्तव्यपरायण, ईश्वर विश्वासी, स्वाभिमानी, निर्भीक, आदर्श आचार्य छात्र वत्सल, दृढ़, सिद्धान्तवादी, सभी कार्यों मे अग्रणी, सर्वस्व समर्पण कर्त्ता, एकता के सूत्रधार राष्ट्रनायक स्वामी श्रद्धानन्द को हमारी विनम्र श्रद्धाञ्जलि।

आर्य, वानर और राक्षस संस्कृति (२)

—क्षितीश वेदालंकार

रावण वेद का विद्वान होने पर भी उसके सर्वथा विपरित आचरण करता है। वह पर स्त्रियों का अपहरण करता है। सती सीता का अपहरण करने में भी उसकी यही प्रवृति उजागर हुई है। लंका मे आश्रमों का तो नाम है ही नहीं, वहां आर्य संस्कृति के तप-त्याग और संयम प्रधान जीवन का भी कोई स्थान नहीं हैं। आर्य संस्कृति सतोगुण प्रधान है तो राक्षस संस्कृति तमोगुण प्रधान है। उसके लिए कोई अनैतिक कार्य अनुचित नहीं है, इसलिए आर्य संस्कृति के प्रतीक और धर्म की मर्यादाओं को पालन करने वाले श्रीराम को उसे मारने के लिए बाध्य होना पड़ा। आखिर सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का विनाश यही तो धर्म है। "परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्"—गीता के इस कथन के अनुसार सज्जनों का परित्राण और दुर्जनों का विनाश धर्म नहीं तो क्या है। रावण आधुनिक उपभोक्तावादी और विलासितापूर्ण संस्कृति का प्रतीक है और "खाओ पीओ मौज उड़ाओ" की जीवन पद्धति को उचित मानता है जबकि आर्य संस्कृति जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों के द्वारा जीवन मे तप त्याग, संयम और परोपकार को महत्व देती है।

हमारी दृष्टि मे आर्य संस्कृति, वानर संस्कृति और राक्षस संस्कृति में यही अन्तर है।

लेख को इस श्लोक से समाप्त करें—

विजेतव्या लंका चरण तरणीयो जलनिधि ।
विपक्ष पौलस्त्य रणभुवि सहायाश्च कपय ॥
तथाप्येको राम सकलम् वधीद् राक्षस कुलम् ।
क्रियासिद्धि सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

लंका जैसे समुद्र से घिरे दुर्जेय राक्षस राज्य पर विजय प्राप्त करनी है और समुद्र को भी बिना किसी नाव के, नलनील के द्वारा रखी गई पाषाण शिलाओं पर चलकर समुद्री भाग को पार करना है, विपक्ष में महर्षि पुलस्त्य के पोते और अपने बलवान योद्धाओं से घिरे रावण से लोहा लेना है और रणक्षेत्र में सहायता करने वाले केवल वानर अर्थात् वनवासी लोग हैं। कोई प्रशिक्षित सेना साथ नहीं है, तथापि अकेले राम ने सारे राक्षस कुल को ऐसे नष्ट कर दिया कि यह कहावत चल पड़ी है—"सवा लख पोते, सवा लख नाती, ताके घर न दिया न बाती।" महापुरुषों के सत्त्व में अर्थात् आत्मिक बल में कार्य सिद्धि का मन्त्र छिपा होता है, फिर उनको साधनों की चिन्ता नहीं होती।

'सुपर्ण' डी ८१ गुलमोहर पार्क नई दिल्ली-११००४९

शोक प्रस्ताव

आर्य समाज सान्ताक्रुज, बम्बई ने एक शोक प्रस्ताव मे कहा है कि प० राजगुरु के निधन से आर्य जगत से एक बहुत बड़ा विद्वान उठ गया है। उनकी कमी निकट भविष्य मे पूर्ति होना असम्भव है।

आर्य युवा विकास परिषद दिल्ली ने प० राजगुरु शर्मा को एक प्रख्यात वैदिक विद्वान, वृहद वैदिक यज्ञों मे दक्ष बताया। शोक प्रस्ताव मे कहा है कि उनकी विद्वता व नेतृत्व को आर्य समाज कभी नहीं भूल सकता है।

आर्य समाज दिलशाद गार्डन दिल्ली ने शोक प्रस्ताव मे प० राजगुरु शर्मा, दानवीर माता श्रीमती लीलावती गुलाटी के निधन पर दुख व्यक्त किया है।

आर्य समाज सान्ताक्रुज ने लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार प० सत्यप्रिय सिद्धातालंकार के निधन को एक अपूर्णीय क्षति बताया प० जी सान्ताक्रुज आर्य समाज के संस्थापक सदस्यों मे से

बौद्धिकाध्यक्ष रामाशा 'आर्यपुत्र', आर्यवीर दल उ० प्र० ने स्वामी गुरुकुलानन्द सरस्वती, माता व पिता के निधन पर गहरा शोक व्यक्त किया है।

आर. एस. एस. व विश्व हिन्दू परिषद से पाबन्दी हटाई जाए

—स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

नई दिल्ली १२ दिसम्बर। आर्य समाज की सर्वोच्च स था आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती न राष्टीय स्वय सेवक सघ व विश्व हिन्दू परिषद पर गैर कानूनी गतिविधि निरोधक कानून के अन्तर्गत प्रतिबन्ध लगाने की कडी निन्दा की है। स्वामी जी ने एक वक्त य म प्रधानमन्त्री से अपील करते हुये कहा है कि बहुमत की भावनाओ का आदर करत हुये इस निर्माण पर पुन विचार करें और अनावश्यक प्रतिबन्ध हटाया जाए।

स्वामी जी ने कहा कि हिन्दू नेताओ द्वारा ६ दिसम्बर की घटना के लिए अविलम्ब खेद व्यक्त किया गया था। सघ तथा विहिप के उच्च नेता इतनी बडी भीड पर नियन्त्रण नही पा सके। इसमे कुछ असामाजिक व अवाछनीय तत्व घुसपैर कर गए थे। ४ ० साल पुराने ढाचे का नुकसान पहुचाया जो बुद्धिमता का काम नही था। परन्तु सरकार ने इसके विपरीत अल्प सख्यको को प्रम करने के लिए वरिष्ठ नताओ को राजद्रोह के आरोप मे गिरफ्तार किया है तथा उनके राष्ट्रीय व सामाजिक सगठनो पर प्रतिबन्ध लगाया है जो न तो कारण सम्मत है और न ही उचित।

स्वामी जी ने कहा देश के अन्दर व बाहर विशेष रूप से पाकिस्तान बगलादेश, इ गलड आदि म मन्दिरो को तोडा व जलाया जा रहा है जिससे बहुमत का दिल आहत है। प्रतिबन्ध के आदेश को अनुचित ठहराते हुये स्वामी जी ने कहा कि केन्द्र सरकार ने मुस्लिम लीग को इस आदेश मे बाहर क्यो रखा है जिसने १९४७ मे देश के बटवारे मे मुख्य भूमिका निभायी था और उसकी आज वहीभी नीति है।

लदन आय समाज को आग लगा दी

लदन आय समाज लन्दन पर दगाइयो न आक्रमण किया एव पैट्रोल छिडक कर भवन मे आग लगा दी जिसमे सम्पत्ति को काफी नुकसान हुआ है। सरकार इस बारे मे मौन है। यह जानकारी आर्य समाज लन्दन के मन्त्री श्री इन्द्र चोपडा ने सार्वदेशिक सभा को टेलीफोन द्वारा दी। सभा म ा डा० सच्चिदानन्द ने इस बारे मे भारत सरकार से रोष प्रकट करते हुए माग की है कि विदेशो मे हो रही इस प्रकार की घटनाओ को तुरन्त रोका जाय मुआवजा दिलवाया जाए तथा अपराधियो को दड दिया जाए।

R. N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 1-1-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/92
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (एल-११०२४/९२
पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) ११९/९२

इस्लामिक सेवा संघ के प्रमुख के कुकर्म

नई दिल्ली २० दिसम्बर। सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाये जाने के बाद इस्लामिक सेवा संघ (आई०एस०एस० का प्रमुख अब्दुल नजर मदनी भागता फिर रहा है। पुलिस द्वारा आई०एस०एस० के भवनो आदि पर मारे गये छापो से अनेक आपत्ति जनक दस्तावेज एव बडी मात्रा मे धनराशि प्राप्त हुई है जो लोगो को आतंकित करके जमा की गयी थी। साथ ही मदनी के कुकर्मों द्वारा गर्भवती हुई अनेक लडकियो के ढेरो पत्र भी प्राप्त हुये हैं। छापो के दौरान मदनी के एक अड्डे से ५ करोड रुपए की लागत से बनाये जाने वाले दफ्तर के जरूरी कागजात भी बरामद हुये हैं। इससे मदनी का असली चेहरा लोगो के सामने आ गया है। इस आशय का समाचार पंजाब केसरी के २१ दिसम्बर ९२, के अंक में प्रकाशित हुआ है। मदनी की पत्नी शफीनिजा ने कहा कि मैंने मदनी से विवाह कर क्या गुनाह किया है और शरीअत का उल्लंघन करने वाले मदनी को इस्लाम की बातें करने का क्या अधिकार है। शफी ने गुजारे भत्ते के लिए अदालत मे मुकदमा दायर किया है।

उल्लेखनीय है कि आई०एस०एस० के कार्यकर्त्ताओ ने १ अप्रैल ९२, को केरल के दक्षिणी जिलों मे माइक के द्वारा झूठी घोषणा की थी कि अयोध्या मे बाबरी मस्जिद को ध्वस्त कर दिया है तथा उसे बचाने की कोशिश मे सैकडो मुसलमान मारे गए हैं। इसके फलस्वरूप वहा भडके दंगो में जन व धन की काफी हानि हुई थी। २० दिसम्बर ९२, के दैनिक हिन्दुस्तान के रविवासरीक अंक मे भी आई एस-एस क्या बला है शीर्षक से एक लेख छपा है।

शोक समाचार

आचार्य पुरुषोत्तम का निधन

आर्य समाज के सुप्रसिद्ध उपदेशक आचार्य पुरुषोत्तम का १८ दिसम्बर को देहावसान हो गया वे गत एक वर्ष से मधुरोग से पीडित थे। आचार्य पुरुषोत्तम जी सरल हंसमुख मधुरभाषी प्रवचनकर्ता थे दयानन्द घाट पर सम्पन्न हुये दाह संस्कार के अवसर पर राजधानी की समाजो व संस्थाओं के सैकडो गणमान्य नरनारी उपस्थित थे २१ दिसम्बर को आर्य समाज, मन्दिर मार्ग में शान्ति यज्ञ व श्रद्धांजलि सभा मे अनेक आर्य महानुभावो ने आचार्य जी को श्रद्धासुमन अर्पित किये। परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को सद्गति व परिवार जनों को दुःख सहने की शान्ति प्रदान करे।

श्री माधोप्रसाद दिवंगत

आर्य समाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता व शुभचिन्तक श्री माधोप्रसाद (आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर) का २७ नवम्बर ९२ को मेरठ मे निधन हो गया। वे ७० वर्ष के थे। वे सार्वदेशिक सभा से कई वर्षों से जुड़े हुये थे। मृत्यु पूर्व उन्होंने लगभग पौने दो लाख रु० की धरोहर राशि सभा में स्थापित श्री माधोप्रसाद विद्यार्थी स्थिर निधि में जमा करवा दी थी।

सभा कार्यालय मे आयोजित शोक सभा मे सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि श्री माधोसिंह अपनी जाति व धर्म की रक्षा के लिए सदैव काम करते रहे। दिवंगत आत्मा की शान्ति की प्रार्थना व परिवारजनो के प्रति संवेदना प्रकट की गयी।

सेवा में—
267 श्री पुस्तकाध्यक्ष
पुस्तकालय,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ प्र)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली ११०००१ फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल १०२४/१-०९२

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक १४ | रविवार, १० जनवरी १९९३ | विक्रमी सम्वत् २०४९ | दयानन्दाब्द १६८ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक— २५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष ३१०१५०

श्री रामलाल मलिक नहीं रहे

नई दिल्ली, २ जनवरी। कर्मठ आर्य नेता व सुप्रसिद्ध समाजसेवी श्री रामलाल मलिक नहीं रहे। वे ८२ वर्ष के थे। पिछले कुछ समय से बीमार चल रहे। ३० दिसम्बर, ९२ को प्रात ७ ३० बजे रामजस रोड निवास स्थान पर उनका निधन हो गया और पचकुइया रोड श्मशान घाट पर दोपहर बाद उनका अन्तिम सस्कार किया गया। अन्त्येष्टि के समय अनेक समाजो, सभाओ व सस्थाओ के गणमान्य महानुभाव उपस्थित थे। दिवगत के परिवार मे धर्मपत्नी, तीन पुत्र व दो पुत्रिया है।

श्री मलिक दलितोद्धार सभा के अध्यक्ष, आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली राज्य के प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि एव ट्रकारा ट्रस्ट, दिल्ली शाखा के सदस्य रहे। वे अनेक गुरुकुलो व शिक्षण सस्थाओ से भी जुडे हुये थे। आर्य समाज करोल बाग प्रधान के रूप मे उन्होने क्षेत्र की बडी सेवा की।

श्री मलिक हिन्दी साप्ताहिक आर्य जगत के भी वर्षो तक परामर्श दाता रहे। कुशल प्रबन्धक श्री मलिक ने अनेक विराट समारोह व कार्यक्रमो मे हजारो लोगो के लिए भोजन व आवास की व्यवस्था की।

शनिवार, २ जनवरी, ९३ को आर्य समाज मन्दिर करोल बाग रस्म पगडी के अवसर पर शान्ति यज्ञ सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता मे एक शोक सभा आयोजित की गयी।

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने श्री रामलाल मलिक के प्रति अपने श्रद्धासुमन अर्पित करते उनके निधन को समाज की गहरी क्षति बताया। स्वामी जी ने कहा कि श्री मलिक गुरुकुल एटा को नई दिल्ली के बिरला मन्दिर की तरह भव्य रूप प्रदान करना चाहते थे। स्वामी जी ने कहा कि उनके परिवारजन श्री मलिक के समाज सेवा के मार्ग पर चल उनके यश व कीर्ति मे वृद्धि करते रहेगे।

दिल्ली आर्यप्रतिनिधिसभा के प्रधान श्रीसूर्यदेव ने श्रीमलिक को श्रद्धाजलि देते हुये कहा कि अनथक कार्यकर्त्ता श्री मलिक बिस्तर पर बीमारी की हालत मे भी समाज सेवा के लिए पत्र लिखते रहते थे। आर्य समाज के कार्यो म और सक्रिय रूप से काम करने की उन्होने मुझे प्रेरणा दी। मेरे पिता श्री प्रह्लाद दत्त जी को उन्होन कहा था कि दिल्ली देहात मे वेद प्रचार कार्य और तेज गति मे करवाओ।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा धर्मपाल ने अपनी भावाजलि देते हुये कहा कि समर्पित कार्यकर्त्ता श्री मलिक आर्य समाज के कार्यो को करने मे वे सदैव तत्पर रहते थे। बीमारी की हालत मे भी आर्य समाज की ही चिन्ता करते थे।

आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली राज्य के महाशय धर्मपाल न अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि वे सन्त थे, चलती फिरती आर्य समाज थे और अपनी कर्मठता के कारण आज वे जिन्दा हैं केन्द्रीय सभा के महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री ने कहा कि उनके बताये मार्ग पर चलना ही श्री मलिक के प्रति सच्ची श्रद्धाजलि दी जा सकती है।

पूर्व सासद श्री रामचन्द्र विकल ने कहा कि श्री मलिक आर्य समाज के लिए अधिकार पूर्वक दान मागते थे और वे समाज सेवा के लिए समर्पित थे।

श्री सोमनाथ मरवाह जी ने कहा कि श्री मलिक घर की परवाह किये बिना समाज सेवा मे लगे रहते थे। ऐसे व्यक्ति सदियो बाद पैदा होते हैं। स्वामी दिव्यानन्द ने श्री मलिक के कार्यो से प्रेरणा लेने का आह्वान किया।

(शेष ३ पृष्ट पर)

आर्य समाज का भविष्य

आर्य समाज एक बडी सस्था है, इस पर जितना मान किया जाए उतना कम है। इस सस्था के निर्माता जगत गुरु महर्षि दयानन्द जी सरस्वती किसी प्रशसा के मोहताज नही। उनकी जितनी प्रशसा की जाए कम है।

वैदिक धर्म बुद्धि यज्ञ धर्म है और आर्य समाज इस का प्रचारक है। बुद्धि थोडे मनुष्यो को अपील करती है। इसलिए आर्य समाज जनता मे नही फैल सका। जनता बुद्धि से वचित होती है। उसे तो भडकाने वाली बातें चाहिए। परन्तु ज्योहि बुद्धि का प्रश्न आया ज्योहि दतचित होकर समाधी लेने का प्रश्न आया, जनता अगडाइया लेने लगेगी। उसे नीद आनी शुरू हो गई।

आर्य समाज मे ज्ञान पर जोर है, बुद्धि पर जोर है, ब्रह्मचर्य पर जोर है। असली त्याग और तपस्या पर जोर है। तृण से लेकर सूर्य तक ज्ञान प्राप्ति पर जोर है। मगर वर्तमान भारत की जनता ज्ञान रहित है। इसलिए आर्य समाज की ओर कैसे आए।

जनता कैसे प्रभावित हो? इसका एक उपाय यह हो सकता है कि आर्य समाज जनता सम्बन्धी प्रत्येक बात मे अधिक से अधिक रुचि ले। खूब जनता की सेवा करे।

सेवा का व्रत धारण करके आर्य समाजी जनता पर छा जाए। इनकी इद्रियो, मन और आत्मा तीनो के भोजन का प्रबन्ध करे। अच्छे-२ भजन हो, वार्तालाप और शका समाधान हो। वैदिक धर्म के सिद्धातो को सुगमता से समझाया जाए। प्रेम और आत्मा की तृप्ति की जाए। साप्ताहिक सत्सगो से दिन जनता को घरो से बुला-२ कर आर्य समाज मे ले जाया जाए।

भारत की स्वतन्त्रता के बाद कुछ ऐसी लहर चल रही है जो धीरे-२ तूफान का रूप धारण करती जा रही है और देश के सामने एक समस्या बनती जा रही है। स्वामी दयानन्द तो तूफान को रोक कर वैदिक धारा बहाने आए थे और आजकल इस पश्चिम की लहर के साथ बहने मे ही राष्ट्र का कल्याण समझना सभ्यता से दूर ले जाने की तरह है।

महर्षि दयानन्द के जीवन मे विशेषता थी कि उन्होने कभी गोलमोल शब्दो मे कभी किसी का समर्थन नही किया। जो वस्तु जिस रूप मे है चाहे वह किसी की ओर भी क्यो न हो, ऐसी शक्ल मे ही पेश कर दिया। यही इनका ऋषिपन था। आर्य समाज भी इसी लिए बनाया गया।

जब तक हमारे घरो का और शिक्षणालयो का वातावरण आर्य समाजी आदर्शवाद से ओत प्रोत नही होगा तब तक जनता तथा युवक आर्य समाज की ओर आकर्षित नही होगे।

इसके अतिरिक्त वर्तमान स्थिति का एक मुख्य कारण यह भी है कि आर्य समाज के वैतनिक अवैतनिक प्रचारको के लिए वह सम्मान का भाव नही है जिससे जनता उनकी ओर आकर्षित हो। प्रचारको उपदेशको तथा पुरोहितो का आर्य समाज मे सादर सत्कार उतना नही होता जितना दूसरी सस्थाए करती है। जिसके कारण आज आर्य समाज का पुरोहित अपने पुत्रो को पुरोहित बनाने मे हिचकिचाता है क्योकि वह स्वय भूख का शिकार होता है। इन कमियो को दूर करने के लिए दूसरो के दोष देखने या दिखाने की मनोवृत्ति को छोडकर अपने घरो तथा शिक्षणालयो और आर्य समाजो मे इस विचार धारा को प्रमुखता देने का यत्न करना चाहिए। बुराईयो के साथ समझौता करने की वृत्ति छोडकर बुराईयो के विरोध की भावना पैदा करनी चाहिए। परन्तु यह सब कुछ करने से पहले इनका प्रारम्भ अपने से करना चाहिए। तभी हमारी वाणी और लेख का प्रभाव होगा।

आज आर्य समाज इस बात का सकल्प करे और जिस कार्य के लिए ऋषिवर ने अपने जीवन की बाजी लगा दी उसके लिए आर्य समाज कमर कस कर इस तूफान का सामना करने के लिए पाखण्ड खण्डनी पताका उठा कर इसके रोकने के लिए आगे आए, यह इसका पवित्र सन्देश है। अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब भारत वर्ष मे वही अन्धकार के बादल छा जाएगे जबकि मूलशकर का जन्म हुआ था। इसलिए आर्यो उठो और सोई आत्मा को जागृत करो और जनता के उपकार मे लग जाओ।

कृष्णचन्द्र आर्य, एम ए
वैदिक प्रवक्ता
१८४, केनरा अपार्टमेंट्स, सैक्टर-१३, रोहिणी, दिल्ली-११००८५

श्री रामलाल मलिक नहीं रहे

(पृष्ठ १ का शेष)

दिल्ली देहात की ओर से श्री मागे राम आर्य ने कहा कि श्री मलिक ने देहात क्षेत्र मे वेद प्रचार के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। श्री मलिक की तरह शहरी व देहाती क्षेत्र को जोडने का काम करना चाहिए।

यमुनापार की सस्थाओ की ओर से श्री विश्म्भर नाथ भाटिया ने श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए कहा कि कर्म के धनी श्री मलिक ने आर्य समाज की उन्नति के लिए बहुत काम किया।

दिल्ली आर्य विद्या परिषद् के अध्यक्ष प्रो० चन्द्रदेव ने श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए कहा कि आर्य समाज के तपोवन की मूर्ति श्री मलिक कर्मवीर, युद्धवीर व शातिवीर थे।

दिल्ली आर्य प्रान्तीय महिला सभा की प्रधान श्रीमती शकुन्तला आर्या ने श्रद्धाजलि देते हुए कहा कि श्री मलिक ने धर्म, कर्म अर्थ तीनो का समन्वय कर आर्य समाज की महान सेवा की है। प्रान्तीय महिला सभा की उपप्रधाना श्रीमती सरला मेहता ने कहा कि आर्य समाज श्री मलिक के रोम-रोम मे बसा था। श्रीमती प्रकाश आर्या ने कहा कि मातृ शक्ति के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी।

डा० तीर्थ राम शास्त्री, मालवीय नगर ने भावाजलि अर्पित करते हुए कहा कि जिनके जन्म लेने से समाज राष्ट्र की सेवा होती है, उनका जीवन ही सफल होता है। श्री मलिक भी ऐसा ही महान आत्मा थे।

श्रद्धानन्द दलितोद्धार सभा के अध्यक्ष श्री हरवश रखेर ने भी श्री मलिक को चलती फिरती आर्य समाज बताया।

प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ सहगल ने बताया कि अजमेर मे ऋषि निर्वाण शताब्दी समारोह मे श्री मलिक ने एक लाख लोगो के भोजन की व्यवस्था की थी। श्री दरबारी लाल ने कहा कि श्री मलिक कुशल प्रबन्धक थे। योदिशक, नारोजी सम्मेलनो में श्री मलिक ने बढ चढकर भाग लिया।

चूनामडी के श्याम लाल, व्यापारी वर्ग की ओर से श्री धर्मपाल चड्ढा, ईंट उद्योग की ओर से सुखदेव आदि ने भी श्री मलिक की सेवाओ का स्मरण कर श्रद्धाजलि दी। अनेक सस्थाओ की ओर से शोक सदेश प्राप्त हुए।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवगत की आत्मा को सद्गति प्रदान करे एव शोक सतप्त परिवार को दुःख सहने की शक्ति दें। कर्मयोगी श्री रामलाल मलिक को विनीत श्रद्धाजलि।

वेद मां की कारुणिक निज हृदय पीड़ा

पूर्वजो के त्याग तप को हे आर्य सन्तति।
याद करने का समय अब आ गया है।।
वेद मा की कारुणिक निज हृदय-पीडा।
को समझने का समय अब आ गया है।।

धर्मरक्षा राष्ट्रहित हीं जल पडी अगनि न चिताए।
वी भू मेवाड के बलिदान की अद्भुत कथाए।।
जो पुर मे जो किया हुकार ऋषि ने,
आर्यवीरो! आज उस ऋण का चुकने का समय अब आ गया है।।१।।

बोटिया कटती रहीं, पर चोटिया कटने न पायी।
सूत्र त्रय की वेदमहिमा प्राण दे हमने बचायी।।
आज क्यो हम छोडते ही जा रहे ये चिह्न पावन ?
मातु पितु के शुद्ध की लाज, रखने का समय, अब आ गया है।।२।।

सरहिन्द की दीवार तो है, आज भी देती गवाही।
चुन गये थे धर्म-हितु गोविन्द-सुत मासूम भाई।।
वीर वन्दा और हकीकत राय का बलिदान प्रेरक,
आज उस बलिदान से निज हृदय-दीपक,
को जलाने का समय अब आ गया है।।३।।

दयानन्द ऋषि-वेदना को 'आर्यपुत्र' - जयेश वेदम्'।
धारकर अन्त करण मे, हम बढेगे देश देशम्।।
बह रही पश्चिम की आधी, मे अरक्षित आर्य-भू पर,
'मनुमव' उपदेश को, साकार करने का समय अब आ गया है।।४।।

(बौद्धिकाध्यक्ष, आर्यवीर दल पूर्वी उ प्र)

—प रामाज्ञा 'आर्यपुत्र'

पं. क्षितीश कुमार वेदालंकार

सम्पादकीय

(श्रद्धेय प० जी २४ दिसम्बर को हमे बिलखता छोड गए)

आर्यसमाज के गौरव-पूण इतिहास के चमकते अध्याय, सुप्रसिद्ध पत्रकार, सामाजिक विषयो के स्वतन्त्र विचारक वेदोपदेष्टा, सरल सौम्य स्वभावी प० क्षितीश कुमार वेदालकार के विषय मे लिखना मेरे लिए कठिन हो गया है। मैं उनकी मेधा एव विवेक तथा कार्यक्षमता स इतना अभिभूत हू कि तटस्थ चिन्तन उनके विषय मे, मैं कर ही नही सकता। प० जी ख्यातिप्राप्त लेखक के साथ साथ प्रभावी वक्ता एव कथावाचक भी है। दिल्ली की आर्यसमाजो के वार्षिकोत्सवो के मच उनके बिना सूने से रहते है। जब वे आ बिराजते है, तभी उन मचो की शोभा बढती है। उनकी काया कोई लम्बी चौडी नही है, पर उनका मस्तिष्क विशाल है और उसी प्रकार विशालतर है उनका हृदय। यह तुलना किसी और से करने की मैं धृष्टता नही कर सकता। यह तुलना उनके ही निजी व्यक्तित्व के नियामक दो तत्त्वो की है।

जब वे मच पर उपस्थित होते हैं, तो अन्य वक्ता भी सावधान हो जाते हैं। वे जानते हैं कि प० जी का ज्ञान एव अनुभव इतना है कि उन्हे अपनी बात सावधान होकर तथ्यो के आधार पर ही रखनी चाहिए। स्वय पडित जी के कथ्य सदा ही ऐतिहासिक तथ्यो एव उनकी अपनी स्वोपज्ञ विचारणा मे गुम्फित होते हैं।

माननीय प० जी की सहनशीलता की कोई सीमा नही। वे समय की नब्ज को दूर से ही पहचानते हैं। लगभग दस वर्ष पहले एक आर्यसमाज के विद्वान ने उनकी पत्रकारिता शैली के विषय में लिखा कि उन्हे लेखो का चयन और प्रकाशन इस प्रकार नही, इस प्रकार करना चाहिए। प० जी ने सरल और विनीत भाव से उनके पत्र को ज्यो का त्यों इस टिप्पणी के साथ प्रकाशित कर दिया कि हमें तीस-चालिस वर्ष केपत्रकारिता के अनुभव के बाद भी जो सुहृद मित्रो से समयानुकूल शिक्षा मिलती है उसे हम सादर ग्रहण करने के लिए सदैव उद्यत हैं। एक अन्य मित्र ने अभी कुछ दिन पहले उनके द्वारा प्रकाशित हम हिन्दू हैं विषय पर आपत्तियाँ कीं। इस पर प० जी ने लिख दिया कि हम विशालतर हित को देखते हुए, इस पर कोई टिप्पणी करना समयोचित नही समझते। वे मित्र प० जी के द्वारा सम्पादित आर्यजगत् के भारत को हिन्दू राज्य घोषित करो' विशेषाक को सभवत देख नही पाए होगे। उस अक मे इस विषय का विशद विवेचन उपलब्ध है। हिन्दू शब्द के लिए उनकी अपनी मौलिक स्थापनाए है। वे इस देश का वाचक मानते हैं और धर्म के अर्थ मे इस शब्द के प्रयोग को गौण मानते हैं। इस सम्बन्ध मे उन्होंने प्राचीन ग्रन्थो से उद्धरण भी दिए है—[हिमालय समारभ्य यावदिन्दु सरोवरम्। हिन्दुस्तानमिति ख्यातमाद्यन्ताक्षरयोगत ।]

प० जी परिश्रमी व्यक्ति है। वे किसी भी कथ्य को सामान्य रूप में नही लेते। हर विषय की गहराई तक जाते हैं अपने कथ्य को प्रमाणो के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। इस विचारणा को पुष्ट करने के लिए उन्होने उक्त विशेषाक मे स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा गाधी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, जवाहरलाल नेहरू आचार्य तुलसी, स्वामी विवेकानन्द, लाला हरदयाल एम ए मुहम्मद करीम छागला, न्यायमूर्ति पी रामकृष्णन, प्रो बलराज मधोक, दिनकर, अज्ञेय दीनदयाल उपाध्याय, अली सरदार जाफरी, लाला लाजपतराय, श्री जगजीवनराम और राहुल साकृत्यायन जैसे अपने-अपने क्षेत्रो म दिग्गज महानुभावो के विचार भी दिए थे।

आदरणीय प० जी का जीवन वृत्त सामान्य स उत्कृष्टता की ओर लम्बी यात्रा का साक्षी है। उन्होने १९१६ में दिल्ली मे जन्म लिया, गुरुकुल कागडी और आगरा विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की और पजाब तथा अन्य प्रान्तो मे प्रचार किया। पर यही उनका लक्ष्य नहीं था। उनका उद्देश्य तो समाज सुधार था और वे इसके लिए विशालतर पट की खोज मे थे जो उन्हे पत्रकारिता के क्षेत्र में आने पर प्राप्त हुआ। वे अपनी वाणी के साथ साथ लखनी से भी समाज सुधार के कार्यं मे जुट गए। उन्होंने कभी किसी व्यक्ति विशेष के लिए कार्य नहीं किया। उन्होंने सदा अपनी आत्मा के लिए कार्य किया। समाज सुधार की उन्हे तडप है और वे आज भी इसी कार्यं मे जुटे हैं। उन्होने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया, सैकडों लेख लिखे, साहित्य की सभी स्थापित विधाओ को नई दिशा दी। तूफान के दौर से पजाब' तो उनकी बहुचर्चित एव बहु प्रशसित सर्वथा मौलिक एव अनुपम रचना है।

उनके ज्ञान का स्रोत, विभिन्न विषयों की पुस्तको के अध्ययन के अतिरिक्त उनका निजी दीर्घ जीवन-अनुभव भी है। उन्होने अनेक देशो की यात्रा की है। नेपाल, ग्रेट ब्रिटेन, तिब्बत बगलादेश, नैरोबी, मारीशस आदि देशो में वे गए क्योंकि उनकी रुचि पर्यटन मे थी पर वे केवल सैर-सपाटे तक सीमित नही रहे। जिसके मन में दूसरों को देने की इच्छा हो, वह कृपण कैसे होगा? वह स्वार्थी हो भी नही सकता। इन देशो के भ्रमण मे उन्हे जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उन्हे जो नवीन अनुभव हुए, उन सभी को उन्होने मारीशस स्मारिका', 'बगला देश स्वतन्त्रता के बाद' तथा 'आर्य जगत् विदेश प्रचार अक' के माध्यम से दूसरो को दिया। सभी पाठक उन अनुभवो को पढकर गद्गद् हो गए। हैदराबाद सत्याग्रह का जैसा जीवन्त विवरण 'निजाम की जेल में' प्राप्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है। हम इस स्वतन्त्रता सेनानी को सश्रद्ध प्रणाम करते है।

माननीय प० जी ने कारावास भोगा। यह उनका सोद्देश्य था। यह मानवता के उद्धार के लिए था। उन्हे अनेक सस्थाओ स सम्मान भी मिला। वे भारतीय साहित्यकार सघ के प्रधान रहे। वे प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे प्रचार मन्त्री रहे। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में उपमत्री तथा धर्मार्य सभा के वर्षों सदस्य रहे। वे कुशल कार्यकर्त्ता तथा सुदक्ष सगठन-कर्त्ता भी हैं। वे सगठन को सुदृढ करने की दृष्टि से आने वाली पीढी को बताना चाहते हैं कि भारतीय स्वतन्त्रता का वह गौरवपूर्ण अध्याय—हैदराबाद विजय—आर्यो ने किस प्रकार अपने लहू से लिखा था—जनया दैव्यम् जनम्।

प० क्षितीश कुमार जी ने आर्य जगत् का सम्पादन भार सभालने के बाद विशेषाको की एक अद्भुत स्पृहणीय परम्परा डाली है। उनका 'सस्कृत रक्षा विशेषाक' तो समस्त सस्कृत प्रेमियो की अमूल्य धरोहर है। महात्मा हसराज विशेषाक' और बोधाक हमे नवचेतना और नव स्फूर्ति प्रदान करते है। उनके 'क्रान्तिवीर अक' और 'ऋषि निर्माण शताब्दी अङ्क को भी लोग चिरकाल तक याद करेंगे।

उनके विषय मे अनेक बाते लिखना चाहता हू, पर इतने महनीय और स्पृहणीय व्यक्ति के विषय मे लिखते सकोच भी अनुभव करता हू। परमपिता परमात्मा से कामना करता हू कि वे दीर्घजीवी हो, सदा स्वस्थ रहे और हमे समाज सुधार के कार्य मे सदा प्रेरणा देते रहे।

उस सतत जागरूक राष्ट्रीय प्रचेता के प्रति विनत श्रद्धाजलि।

डा० धर्मपाल—ए/एच १६, शालीमार बाग, दिल्ली-५१

सम्पादक के नाम पत्र

आर्य सन्देश के विशेषाक

आर्य सन्देश के विशेषांक अच्छे स्तर की सामग्री लिए होते हैं। सभी अकों को अपने पुस्तकालय मे सभाल कर रखता हू।

राजबीर सिंह, ग्राहक न० २३०८

लेख अच्छा लगा

आदरणीय सूर्यदेव जी व डा० धर्मपाल जी,

नमस्ते!

आर्य सन्देश प्रगति पथ पर है, बधाई स्वीकार करे। १८ अक्तूबर के अक प० क्षितीश वेदालकार जी का लेख "रामायण के स्थानो का भौगोलिक परिचय' पढकर प्रसन्नता हुयी। अब आप आयुर्वेद के प्रथम वैद्य श्री धन्वन्तरी जी से सुश्रुत तक का इतिहास व चित्र तयार कर जनता का ज्ञानवर्धन करे।

कमला प्रधान
नया हैदराबाद

आदर्श त्रैतवाद (१५)

राजसिंह भल्ला

ईश्वर का विराट रूप

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्र-सूर्यौ दिशः -
श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां
पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।। मुण्डको २ १-४

पुरुष का विराट रूप वर्णन करते हुए मुनि ने कहा—द्युलोक इस पुरुष का सिर है, चन्द्र सूर्य नेत्र हैं, दिशाए कान और वाणी विस्तृत वेद है, वायु इसका प्राण है और विश्व इसका हृदय है। दोनों पैर भूमि हैं। यह पुरुष सब भूतो, प्राणियो का अन्तरात्मा है, सबके अन्दर विद्यमान है।

ब्रह्म अन्धकार रहित है

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषो ऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ।।
मुण्डको० २-२-६

रथ नाभि अरो की भान्ति जहा नाडिया जुडी हैं। वहा हृदय मे वह यह आत्मा अनेक विकासों से भीतर प्रकट होता है। ओ३म् ऐसे उस आत्मा का सिमरण करो। अज्ञान अन्धकार से परे पार उतरने के लिए तुम्हारा कल्याण हो। ओ३म् नाम से इस ब्रह्म का इस विशुद्ध चित्त सत्त्व मे ध्यान करें जो कि आत्मा रूप है अन्धकार से रहित है। कल्याण करने वाला यह ब्रह्म है। अत चित्त मे उसका साक्षात्कार करना चाहिए।

सर्व व्यापक ब्रह्म

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयो मध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये तथा तैलं पाषणेष्विव काञ्चनम् ।।
एवं सर्वाणि भूतानि मणौसूमिवात्मनि स्थिर बुद्धि रस मूढो
ब्रह्मविद ब्रह्मणि स्थितिः ।। बिन्दु पा०

जैसे पुष्पो मे गन्ध व्याप्त है। दूध मे घृत व्याप्त है। तिलो मे तैल व्याप्त है और पत्थर में सोना इसी प्रकार सब भूतो मे माला के मणको में पिरोये हुए सूत के समान वह भगवान् ओत प्रोत हो रहा है। इसी प्रकार समष्टि चित्त के अन्दर भी सूक्ष्म रूप से वह ब्रह्म ओत प्रोत है। साधक को चाहिए कि साधना के द्वारा समाहित चित्त होकर समाधि द्वारा इस तत्त्व के मध्य मे अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से ब्रह्म का साक्षात्कार करे।

ब्रह्म एक है व्यापक और चेतन है

एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम् ।
इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये ।। महो० ५-५६

ब्रह्म एक है, चेतन है, आकाश के समान व्यापक है। सब पदार्थों मे स्वरूप से अखण्डित होकर विद्यमान है। अपने चेतन की चचलता की शान्ति के लिए, विक्षिप्तता को दूर करने के लिए सब व्यापक भगवान् की उपासना और आराधना करनी चाहिए।

ईश्वर के अनेक नाम

(मुक्ति का केवल मार्ग)

स ब्रह्मा, स शिव, सेन्द्र सोऽक्षर, परम स्वराट्, स एव विष्णु,
स प्राण, स कालोऽग्नि, स चन्द्रमा ।
स एवसव यद भूत, यच्च भाव्यम् सनातनम् । ज्ञात्वा त मृत्युमत्येति
नान्य पन्था विमुक्तये ।। केवल्यो० ८-९

वह ईश्वर ही ब्रह्मा है, सबसे बडा है, कल्याणकारी है, सहार करता है। वही इन्द्र है, प्रकाशमान है। स्वय सम्पूर्ण ससार में शासन करता है। सबको अपने अधिकार मे चलाता है। वही विष्णु रूप मे सबका पालक है पोषक है। रक्षक है। वही प्राण रूप है। अन्तर्यामी होकर प्राण और जीवन का सचार करता है। अपनी चेतन सत्ता के द्वारा पदार्थों को गति प्रदान करता है। वही काल रूप अग्नि है, मृत्यु में भी व्याप्त होकर विद्यमान है। वह ईश्वर चन्द्रमा के समान प्रकाशमान है। प्रत्येक प्राणी को प्रकाश प्रदान करता है। वह ईश्वर भूत वर्तमान भविष्यत् तीनो कालो मे वर्तमान है। वह काल रूप है सनातन है। अनादि और अनन्त है। उसको जानकर मनुष्य मृत्यु को लाघ जाता है। मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उस ज्ञानी को मौत का भय नही रहता। इसके अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा रास्ता नही है।

ज्योतियो की ज्योति

ज्योतिषामपि त ज्ज्योतिस्तम् पारे प्रतिष्ठितम् । योग शिखो० ४-२२

वह ब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति है। तम के आगे या तम के पार इस ज्योति स्वरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। वह ब्रह्म तम से भी परे अत्यन्त सूक्ष्म प्रकाश स्वरूप है।

परमात्मा असग है

निरिच्छेसस्थिते रत्ने यथा जोक प्रवर्तते । सत्तामात्रे परे तत्वे तथैवाय जगद्गण ।।
अतश्चात्मनि कर्तृत्वेकर्तृत्व चर्वमुने । निरिच्छत्वादकर्तासौकर्ता सन्निधिमात्रत ।।
महो० ४-१३-१४

ऋषि कहते है कि जैंप खान या दुकान में पडे हुए हीरे की कोई इच्छा नही होती है कि कोई मुझे ग्रहण करे या धारण करे परन्तु ससारी लोग स्वय ही इसको धारण अथवा व्यापार के लिए ढूढते हैं। इसी प्रकार परम तत्त्व चेतन ब्रह्म की प्राप्ति खोज अथवा ज्ञान के लिए स्वय ही ससार के लोग प्रवृत्त होते हैं। अथवा जगत् का कारण प्रकृति स्वय ही उसके सान्निध्यमात्र स कार्य मे प्रवृत्त हो जाती है। ईश्वर की कोई इच्छा नहीं होती क्योकि ईश्वर मे इच्छा तो तब ही जब उसका कोई प्रयोजन या स्वार्थ हो। इच्छा किसी कारण से होती है ऐसा कोई कारण नहीं अत ईश्वर में इच्छा पूर्वक कर्तव्य धर्म माने गए हैं वह प्रकृति के सान्निध्य मात्र से माने गए है। किसी भी प्रकार की इच्छा न होने से ईश्वर अकर्ता है क्योकि बिना इच्छा के कोई कर्म नही होता। जब ईश्वर मे इच्छा ही कोई नही है तब कर्म भी कैसे करेगा कार्य करने हो से तो कर्ता होता है। अत ईश्वर में कर्तव्य धर्म नही घटता। वहा कर्तव्य धर्म माना गया है वहा प्रकृति या माया के सान्निध्य मात्र से माना गया है। वास्तव मे ईश्वर में कर्ताधर्म नही है क्योकि धर्मरूप परिणाम विकारवान् में होता है और ईश्वर तो निर्विकार है।

ईश्वर सर्वाधार है मूल है

तस्य क्वमूलम् स्यादन्यत्रान्नात एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुगनापो मूलमन्विच्छद्भि सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य। शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ।
सन्मूला सोम्येमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा।
छान्दो० ६ ८-४

उस देह का अन्न के अलावा दूसरा कारण कहा अर्थात् दूसरा मूल नही देह का कारण अन्न अर्थात् पृथिवी है। ऐसे ही निश्चय से हे सोम्य! पृथिवी रूप अकुर से जल का राज जान? हे प्यारे! पानियो के अकुर कार्य से तेज कारण को जान? हे सोम्य! तेज कार्य से सत मूल को सबके सचालक भगवान को जान हे प्यारे ये सारी प्रजाए सब आत्माए तथा सृष्टिया सत के मूल वाली हैं। इन सब का आश्रय परमेश्वर है। वे सत के आश्रित है और सत मे प्रतिष्ठित हैं। सत्य मेंसम्पूर्ण विकासमय जगत् स्थित है। भगवान् हो सारे कारणों का आश्रय है और तब आत्माओ का आधार है। परमेश्वर मे सारे कारण विलक्षण और अचिन्तनीय रूप से रहते हैं। इस कारण ईश्वर सब का मूल कहा जाता है।

ईश्वर असीम है

यतश्चोदेति सूर्योऽस्त यत्र च गच्छति। त देवा सर्वेर्पितास्तदु नात्येति
कश्चन। एतद्वै तत्। कठो० १-४-९

जिस परमेश्वर के प्रताप से सूर्य उदय होता है और अन्त मे जिसमें अस्त हो जाता है सब देव उसी मे समर्पित हैं। उसकी शक्ति से ओत प्रोत हैं। उसको कोई भी देव लाघ नही सकता। उसका नियम अटल है। यह वही परमेश्वर है जिसकी स्तुति भक्तजन करते हैं।

ईश्वर के नामों की पद्यमय व्याख्या

महर्षि दयानन्द रचित सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास पर आधारित

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

सर्वश्रेष्ठ है ईश का, नाम एक ओंकार ।
अ, उ, म् के तीन हैं अक्षर रचनाधार ॥
'अ' से सिद्ध विराट् है, अग्नि और विश्वादि ।
"उ' से बने हिरण्यगर्भ, वायु तैजस आदि ।।
"म' से ईश्वर, अदिति, अरू, प्राज्ञ सिद्ध हैं नाम ।
सत्य शास्त्र वेदादि में, मुख्य यही पैगाम ॥
रक्षा करता विश्व की, तभी नाम है ओ३म् ।
खम् कहते हैं इसलिये, व्याप्त रहे ज्यो व्योम् ॥
सबसे बडा जहान मे, तभी ब्रह्म है नाम
सभी साथक नाम हैं, प्रभु सब गुण का धाम ।।
ओ३म् नाम अक्षर सदा, पूजनीय अविराम ।
यही नाम निज ईश का, बाकी गौणिक नाम ॥
सभी वेद, जप-यज्ञ मे, होता जिसका गान ।
वही प्राप्ति के योग्य है, सर्वशक्ति की खान ।।
सबका गुरु, सूक्ष्म अती, स्वय प्रकाश स्वरूप ।
बुद्धिगम्य है योग से परम पुरुष जग-भूप ॥
स्वय प्रकाशक है प्रभु तभी अग्नि विख्यात ।
मनू इसलिए नाम है, वैज्ञानिक निष्णात् ।।
मात्र प्रजापति है, वहीं जग का पालन हार ।
परम सम्पदायुक्त है, इन्द्र सुखो का सार ॥
प्राण नाम है इसलिए, जगत जीवनाधार ।
सतत् व्याप्त जगदीश का, नाम ब्रह्म रस सार ।।
जग स्रष्टा ब्रह्मा वही, रचे जगत साकार ।
व्यापक वह सर्वत्र है विष्णू निर-आकार ॥
दुष्टो को दण्डित करे, रूद्र सदेव रूलाय ।
मगलमय, कल्याणकर है शिव विश्व हिताय ।
सर्वव्याप्त अक्षर प्रभु स्वय प्रकाश स्वरूप ।
प्रलयकर है काल सम काल अग्नि यम रूप ।।
दिव्य-द्रव्य मे व्याप्त है पोषक पूरण-काम ।
जिसका रूप महान है, पवन,-तुल्य बलवान ॥
इसीलिए जगदीश मे दिव्या और सुपर्ण ।
गरूत्मान अरू मातरिश्व, नाम सिद्ध ज्यो स्वर्ण ।।
सभी प्राणि रहते जहा, भूमि ईश का नाम ।
प्राण वश्य तन इन्द्रियो, ईश वश्य जग धाम ॥
लौकिक द्रव्यो से नही सिद्ध ईश का अर्थ ।
स्तुति विनय उपासना सर्वज्ञान सामर्थ्य ॥
व्यापक, शुद्ध सनातनम्, स्रष्टा जहा विशेष ।
वहीं ईश के नाम होता ग्रहण हमेश ।
रचना स्थिति जड-प्रलय दृश्य और अल्पज्ञ ।
आदि विशेषण से नही, ग्रहण ईश सवज्ञ ॥
विविध चराचर जगत, रच, ज्योतित करता ईश ।
तभी विराट सुनाम से उल्लेखित जगदीश ।।
ज्ञान ज्ञेय-सवज्ञ है, केवल वही उपास्य ।
परमेश्वर का नाम है अग्नि अनश्य प्रकाश्य ।

(क्रमश)

भयंकर सामाजिक अभिशाप : दहेज

'दहेज' आज के युग की सर्वाधिक मुखर समस्या है। दहेज दानव ने आज के तथाकथित सभ्य समाज को भयकर रूप से क्षतिग्रस्त कर दिया है। इस दहेज ने समस्त सामाजिक, धार्मिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था को चरमरा कर रख दिया है। दहेज न दे पाने वाले न जाने कितने अभिभावक मानसिक सन्तुलन खो बैठे हैं। न जाने कितनी युवतिया अविवाहित जीवन बिता रही हैं, न जाने कितनी युवतियां असमय में ही काल-कवलित हो रही हैं ? पूरा का पूरा समाज इस दहेज रूपी अग्नि मे धू-धू करके जल रहा है और नारियो को देवी व पूज्या का स्थान देने वाला यह समाज अट्टहास कर रहा है।

दहेज न मिल पाने पर ससुराल वाले राक्षस बनकर नव वधू को जलाकर मार डालने मे सकोच नही करते हैं। नववधू को जहा अपनी ससुराल मे प्यार व सम्मान मिलना चाहिए था वहा उसे असहनीय ताने, प्रताडना व धधकती चिता तक मिल जाती है। समस्त धार्मिक मान्यताओ व परम्पराओ को दहेज लोभी नर-पिशाचों ने तोड-मरोड डाला है। इसी दहेज रूपी दानव ने आज समस्त प्रशासनिक व्यवस्थाओं पर कुठाराघात किया है। लडकी के बाप को शादी के लिए दहेज चाहिए। अब वह ईमानदारी से मात्र वेतन पर दहेज नही दे सकता, इसलिए आज प्रत्येक विभागो का कर्मचारी व अधिकारी अनैतिक व अनुचित तरीके से अन्धाधुन्ध घूस डकार रहा है। भयकर भ्रष्टाचार की चपेट मे बसा हुआ प्रदेशीय व केन्द्रीय प्रशासन छटपटा रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति मे नरता-पशुता मे परिवर्तित हो गई है। आज का मानव दहेज के लोभ मे राक्षस बन गया है।

विवाह एक धार्मिक व पुण्य कृत्य है। हिन्दू धर्म (वैदिक) के अनुसार विवाह एक सस्कार है, जो इस सृष्टि के अनवरत् सचालन का केन्द्र बिन्दु है। इस महानतम् सद्कार्य के सम्पन्न होने में आज पापी धन आडे हाथों आ रहा है।

धन के लोभी इन नर-पिशाचो को कौन समझाए कि कन्या ही सबसे बडा और वास्तविक दहेज है। वैदिक परम्पराओ के अनुसार वर व कन्या की शैक्षिक योग्यता, स्वभाव शारीरिक बनावट समान गुण आदि पर ही विचार होना चाहिए। लेकिन आज तो धन पर ही विचार हो रहा है फिर चाहे परिवार मिट्टी मे ही क्यों न मिल जाय। दहेज ने आज के मानव समाज को पशुओ का समाज बनाकर रख दिया है। मानवता चीत्कार कर रही है। लेकिन दहेज लोभियो के कानो पर जू तक नही रेग रही है। वे तो आख के अन्धे कान के बहरे हो गए है तभी तो नारी उत्पीडन की यह भयावह व सवनाशी चीत्कार नही सुन रहे हैं। यह भी विडम्बना ही है कि इस दहेज को नारिया भी हवा दे रही हैं। दहेज की माग व नव-वधुओ की प्रताडना मे नारियो का हाथ रहता है। आज लडकी की शादी मे सभी आदर्श की बात करते हैं लेकिन लडके की शादी मे असीमित धन की माग करते हैं।

इसी दहेज के कारण आने वाले दिनो मे मानवता का अस्तित्व ही सकट ग्रस्त होने जा रहा है। दहेज के डर से आज के माता पिता भ्रूण परीक्षण करवाकर लडकियो का गर्भ समापन करवा दे रहे हैं। दहेज के लोभी राक्षसो ! जरा सोचो! यदि इसी तरह लडकियो की भ्रूण हत्यायें होती रही तो आने वाले पच्चीस वर्षों के बाद इस सृष्टि की नव रचना का क्या होगा? तब लडकिया नही मिलेगी? तुम्हारी आसुरी प्रवृत्ति के कारण ही आज के मा बाप को दहेज के भय से अपने कलेजे के टुकडे की हत्या करवानी पड रही है, आखिर यह पाप किसके सर पर चढकर बोलेगा ? कुछ तो सोचो। ईश्वर से डरो। प्रकृति से डरो ! मानवता के सर्वनाश का कारण मत बनो। नवजवान भाइयों व बहनो। तुम्ही कुछ सोचो ! दहेज के लोभी मा बाप को दुत्कार दो। दहेज लोभियो से शादी मत करो। मानवता की रक्षा के लिए यह क्रान्तिकारी कदम उठाना तुम्हारा कर्तव्य है। उसका पालन करो।

राधेश्याम 'आर्य'
मुसाफिरखाना, सुलतानपुर, (उ०प्र०)

सम्पन्न हुए कार्यक्रम

आर्य समाज पंजाबी बाग एक्सटेंशन

नई दिल्ली स्त्री समाज पंजाबी, विस्तार का वार्षिकोत्सव प्रान्तीय महिला सभा की अध्यक्षा श्रीमती शकुन्तला आर्या की अध्यक्षता में १२ नवम्बर को धूमधाम से सम्पन्न हुआ। विदुषी वक्ताओं ने कहा कि महर्षि दयानन्द ने रूढ़िवादी समाज के चिन्तन को बदल कर नारी को सम्मानजनक स्थान दिलाया था। श्रीमती प्रकाश मिगलानी ने वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत की।

वेद गोष्ठी

अजमेर अन्तराष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ, नई दिल्ली के तत्वावधान में श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के सहयोग से ऋषि उद्यान मे एक भव्य वेद गोष्ठी आयोजित की गई जिसकी अध्यक्षता लब्ध प्रतिष्ठ वैदिक विद्वान डा० भवानी लाल भारतीय ने की।

कार्यक्रम में डा० जयदेव विद्यालकार (रोहतक), श्री दीनानाथ शास्त्री (अमेठी), डा० सरोज दीक्षा (दिल्ली), डा० वेदपाल वर्णी, डा० बद्रीप्रसाद, श्री रामकृष्ण आर्य (कोटा), डा० नृपसिंह (कुरक्षेत्र) श्री कुशलदेव शास्त्री (नादेड), डा० सुरेन्द्र कुमार आदि ने भी प्रेरक विचार प्रस्तुत किये। विद्वानो ने इस तथ्य को उजागर किया कि देश मे मौलिक ज्ञान बीज रूप में दिया गया है और इसे किसी विशेष काल घटना व आख्यान से नही जोड़ा जा सकता है। अनेक पाश्चात्य व भारतीय विद्वानो ने वेद के गलत अर्थ किये हैं।

वेदपीठ के महामन्त्री श्री सत्यानन्द आर्य ने विद्वानो का अभिनन्दन किया, मन्त्री श्री के एल भाटिया ने पीठ की गतिविधियो की जानकारी दी तथा परोपकारिणी सभा के मन्त्री डा० धर्मवीर ने कार्यक्रम का संयोजन किया।

रजत जयन्ती

मोगा आर्य माडल हाई स्कूल मोगा का रजत जयन्ती समारोह २० नवम्बर को आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री वीरेन्द्र की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। श्री वीरेन्द्र ने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि डा० राजेन्द्र विज्ञान मनुष्य के रूप में देवता थे जो सारी आयु सेवा करते रहे। प्रिंसिपल श्रीमती कमलेश ने २५ साला रिपोर्ट पढी। बच्चो ने आकर्षक सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये।

सोनीपत मे यज्ञोत्सव

सोनीपत आर्य समाज शान्तिनगर सोनीपत मे २३ से २९ नवम्बर, ९२ तक युजर्वेद पारायण यज्ञ श्री शामदेव एव श्री खानचन्द मुन्जाल की प्रधानता मे समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम मे वेद विद्यालय गौतम नगर के ब्रह्मचारी भी उपस्थित थे।

आर्य समाज ही चरित्र सकट को दूर कर सकता है

दिल्ली आर्य समाज बिरला लाइन्स, कमला नगर दिल्ली के ६१वे वार्षिकोत्सव के अवसर पर २३ नवम्बर से २९ नवम्बर, ९२ तक आचार्य प० प्रकाश चन्द्र जी शास्त्री के ब्रह्मत्व मे सामवेद पारायण यज्ञ का आयोजन किया गया। २९ नवम्बर को पूर्णाहुति के पश्चात् केन्द्रीय भूतल परिवहन मन्त्री श्री जगदीश टाइटलर ने श्रीमती आदर्श कोहली श्रीमती सन्तोष सूद, श्री शिव प्रसाद गुप्त एव डा० सजय मुखर्जी को विभिन्न क्षेत्रो में उल्लेखनीय सेवाओ के लिए स्मृति चिह्न प्रशस्ति पत्र व वैदिक साहित्य भेंट कर सम्मानित किया।

इस अवसर पर श्री टाइटलर ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि आज राष्ट्र मे चरित्र का सकट है और आर्य समाज ही इसे दूर कर सकता है। पूर्व कार्यकारी पार्षद श्री कुलानन्द भारतीय, श्री अभिविनय भारती विद्यावाचस्पति, ब्र० आचार्य नरेन्द्र जी श्री अशोक विद्यालकार आदि ने भी प्रेरक विचार रखे। रात्रि को प्रतिदिन प० वेदबन्धु व श्री भारती जी की कथा एव प० नरदेव जी आर्य शास्त्री के भजन होते रहे। स्मृति चिह्न श्री जयप्रकाश जी आर्य व वैदिक साहित्य श्री श्यामसुन्दर जी गुप्त की ओर से दिये गये।

दिल्ली देहात मे प्रचार कार्यक्रम

दिल्ली देहात आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द द्वारा मनपुर डबास गाव मे १० नवम्बर को पूर्णिमा तथा २५ नवम्बर ... कार्यक्रम का आयोजन व सचालन किया गया। प० सत्यदेव स्नातक, प० श्यामवीर राघव व प० दिनेश दत्त द्वारा प्रस्तुत भजन व प्रवचनो का ग्रामवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इस ग्राम मे प्रत्येक पूर्णिमा व अमावस्या को यज्ञ, वेदोपदेश का विशेष कार्यक्रम रखा जाता है।

शिक्षित मुस्लिम युवक ने हिन्दू धर्म ग्रहण किया

कानपुर आर्य समाज मन्दिर दर्शनपुरवा मे विशेष शुद्धि समारोह में एक ३० वर्षीय एम०एस०सी० तक शिक्षा प्राप्त मुस्लिम युवक ने केन्द्रीय आर्य सभा के प्रधान श्री देवीदास आर्य से वैदिक धर्म (हिन्दू धर्म) की दीक्षा प्राप्त कर वैदिक धर्म ग्रहण किया। इस एयरफोर्स के पूर्व अधिकारी का श्री आर्य ने नाम बदलकर अब्दुल रहीम से अभिषेक आर्य घोषित किया।

श्री देवीदास आर्य ने श्री अभिषेक को सत्यार्थ प्रकाश ग्रथ की प्रति भेंट की। इस अवसर पर श्री अभिषेक ने भाषण देते हुए कहा कि उनको हिन्दू धर्म की उदार व स्वतत्र विचारधारा ने विशेष आकर्षित किया। उनको कठमुल्लापन व कट्टरपन्थी बने रहने से घृणा है। समारोह मे उपस्थित स्त्री-पुरुषो ने अभिषेक से प्रसाद ग्रहण कर उनका स्वागत किया।

पुरुषार्थ सर्वश्रेष्ठ है

'मानव जीवन मे पुरुषार्थ को सर्वश्रेष्ठ स्थान है। ससार के प्राणिमात्रो को वेद पुरुषार्थ करने का ही उपदेश देता है, इसलिए हरएक को पुरुषार्थी बनकर व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति करना चाहिए।" यह विचार परोपकारिणि सभा के प्रधान तथा वैदिक यति मण्डल के अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी सर्वानन्द जी महाराज ने गौतमनगर स्थित श्री मद्दयानन्द वेद विद्यालय के वार्षिक चतुर्वेद ब्रह्म परायण यज्ञ के अवसर पर व्यक्त किए।

स्वामी जी ने आगे कहा कि, देश की युवा पीढ़ी आज दिन व दिन दिशाहीनता की ओर मुड रही है। उन्हे सत्य सनातन वैदिक धर्म का पवित्र रास्ता दिखाकर अपने-अपने क्षेत्र मे पुरुषार्थी बनाने की आवश्यकता है। अत हमे सौ बरस तक पुरुषार्थ करते रहना चाहिए, यही वेद का आदेश और उपदेश है। वेद विद्यालय मे २९ नवम्बर से १३ दिसम्बर तक चतुर्वेद परायण महायज्ञ स्वामी दीक्षानन्द के ब्रह्मत्व में हर्ष एवं उत्साह के वातावरण में मनाया गया।

आर्य समाज खैरा (नजफगढ) का उद्घाटन

नई दिल्ली नजफगढ में स्थित ग्राम खैरा के आर्य समाज के नये भव्य भवन का उद्घाटन ८ दिसम्बर को वैदिक यति मण्डल के प्रधान वीतराग सन्यासी स्वामी सर्वानन्द जी के करकमलो से सम्पन्न हुआ। लगभग साढे तीन लाख की लागत से बने इस भवन के लिए खैरा ग्रामवासियो ने दान देकर राष्ट्र एव समाज कार्य में योगदान दिया।

अपने अध्यक्षीय भाषण मे स्वामी सर्वानन्द जी महाराज ने कहा कि ससार मे सृष्टि के नियम सभी के लिए समान है और वेद ज्ञान भी सभी मनुष्यमात्र के लिए एक ही है। उसी का प्रचार और प्रसार आर्य समाज करता आ रहा है। सच्चाई-इन्साफ सदा ही इस समाज का वैदिक सिद्धान्त है।

कार्यक्रम का सचालन प्रधान श्री रघुनाथसिंह जी ने किया कार्यक्रम में स्वामी सरूपानन्द जी आर्यवीर दल के सह सचालक खुशीराम शर्मा तथा सन्यासी जन व विद्वान उपस्थित थे। लोहारुला गुरुकुल की ब्रह्मचारिणियो तथा ग्रामवासियो ने इस समारोह मे उत्साह से भाग लिया।

टन्कारा/भारत यात्रा ट्रेन द्वारा

दिनाक १३-२-९३ से १०-३-९३ तक

दर्शीय स्थान दिल्ली बडोदा राजकोट द्वारका सोमनाथ टन्कारा बम्बई बैन्गलौर मैसूर वृन्दावन गाडन तिरचनापली रामेश्वरम कन्या कुमारी मद्रासपुरी वाराणसी अयोध्या इलहाबाद कानपुर वगरा।

(१) आने-जाने वास स्टीयर दशी घो का भोजन सोने की सीट प्रति सवारी ६५०० रु० है।

(२) मीट बुक कराने के लिए जानकारी प्राप्त करन के लिए प्रबन्धक—

शामदास सचदेव

दूरभाष—७५२६१२८ ७३८५०४ पी० पी०

आय समाज चूना मण्डी पहाड गज नई दिल्ली ५५

घर का पता—

मकान न २६१३ भगतसिह गली न० ९ चूना मण्डी पहाड गज नई दिल्ली ५५

(२) श्री मालविया जी

आर्य समाज मन्दिर (अनारकली मन्दिर) माग नई दिल्ली १

फोन—३४३७१८ ३१२११० कायालय

(३) खोगन्द्र गिरी

आय समाज चूना मण्डी पहाड गज नई दिल्ली ५५

आयसन्देश–दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१
R N No 32387/77 Posted at N D P S O on 7 8 1 1993 Licence to post without prepayment Licence No U (C) 13५/९२
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल ११०२४/९२
पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९२

गुजराज के राज्यपाल द्वारा ऋषि जन्मस्थली के दर्शन

टकारा २३ नवम्बर। गुजरात के राज्यपाल श्री स्वरूप सिंह टकारा मे दयानन्द के जन्म स्थान महर्षि स्मारक महालय मे सपरिवार पधारे। प० अरुणकुमार विदर्मीप के ब्रह्मत्व मे गायत्री महायज्ञ मे श्रद्धापूवक आहुतिया दी। इससे पूव टकारा ट्रस्ट के अधिकारियो ने राज्यपाल एव श्रीमती सिधूबेन ने राज्यपाल की धमपत्नी श्रीमती शीला जी का अभिनन्द किया। राज्यपाल ने दयानन्द दिव्य दशन चित्र प्रदशनी) ऋषि बोधो स्थान व ऋषि जन्मस्थली के भी दशन किये। महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री अनिल कमार शास्त्री ने विद्यालय की जानकारी दी राज्यपाल ने समस्याओ को ध्यान से सुनकर उनके निराकरण का आश्वासन दिया।

तपोवन मे आर्ष विद्या गुरुकुल का शुभारम्भ

देहरादून २ दिसम्बर। वदिक साधन आश्रम तपोवन देहरादन मे आर्ष विद्या गुरुकुल चलाने का निश्चय किया गया है। इसमे युवको को वर्णोच्चारण शिक्षा से लेकर महाभाष्य तक तथा वेदाग प्रकाश सत्याथ प्रकाश सस्कारविधि दश उपनिषद आदि शास्त्र पढाकर उन्हें आर्ष विद्वान आचार्य आर्योपदेशक धमप्रचारक पुरोहित के रूप मे तयार किया जाएगा। छात्रो की सख्या अभी दस से अधिक नही होगी। प्रवेश के लिए योग्यता कम से कम दशम श्रेणी उत्तीर्ण या इसके समकक्ष और आयु कम से कम १५ वष रखी गई है। प्रवेशार्थी हिन्दी वा सस्कृत मे लिख पढ बोल सकता हो वह धम अथ मोक्ष के लिए विद्याभ्यास करने तथा देश धम जाति की रक्षा व उत्थान के लिए निष्काम सेवा करने का दढ सकल्प रखता हो ईश्वर वेद ऋषि यज्ञ परोपकार आदि मे आस्थावान हो।

लेखको से निवेदन

सामायिक लेख त्यौहार व पर्वो से सम्बन्धित रचनायें कृपया अक प्रकाशन से एक मास पूर्व भिजवायें।

२१ फरवरी ९३ को ऋषि बोधाक—प० गणपतिचन्द्र शर्मा विशेषाक तथा २१ माच ९३ को आय समाज स्थापना—प० रामचन्द्र देहलवी विशेषाक प्रकाशित हो रहे हैं। विद्वान लेखको से लेख सादर आमान्त्रित हैं।

आय सन्देश मे लेखको के कथन व मतो से सहमत होना आवश्यक नही है।

आय सन्देश का वार्षिक शुल्क २५ रुपये तथा आजीवन शुल्क २५ रुपए हैं। आजीवन ग्राहक बनने वालो को ५० रुपये के विशेषाक या वदिक साहित्य नि शुल्क उपहार स्वरूप दिये जाते हैं।

पाठको के सुभाव आमन्त्रित हैं।

कृपया सभी पत्र व्यवहार व ग्राहक शल्क दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली ११०००१ के नाम भजे।

छात्रो का चयन आरम्भ कर दिया गया है। प्रवेश इच्छुक विशेष जानकारी के लिए तथा जो सज्जन इस पवित्र काय मे अपना सात्विक सहयोग दना चाहें या किसी योग्य नवयुवक को प्रेरित करके भेजना चाहे आचाय भद्रकाम वर्णी आर्ष विद्या गुरुकुल वदिक साधन आश्रम तपोवन दहरादून २४८००८ से सम्पर्क कर सकते हैं।

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सावदेशक प्रेस पटौदी हाउस दरियागज नई दिल्ली-११०००२ मे मुदित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड नई दिल्ली ११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल १०२४/१–०९२

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक १५-१६ रविवार, २४ जनवरी १९९३ विक्रमी सम्वत् २०४९ दयानन्दाब्द १६८ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक— २५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

नवम् आर्य युवा महासम्मेलन सम्पन्न

राष्ट्र की अखण्डता का संकल्प लें : स्वामी दीक्षानन्द

नई दिल्ली, १० जनवरी। "पृथ्वी मेरी मातृभूमि है और मैं उसका पुत्र हू।" मैं बारम्बार उसे नमन करता हू। हमे राष्ट्र की अखण्डता एव सुरक्षा के लिए हर बडे से बडे बलिदान देने के लिए ततपर रहना चाहिए। य उद्गार स्वामी समर्पणानन्द शोध सस्थान के अध्यक्ष स्वामी दीक्षानन्द जी ने आज तालकटोरा इण्डौर स्टेडियम, नई दिल्ली मे आयोजित नवम् आय युवा महासम्मेलन के समापन समारोह मे पुरस्कार वितरित करते हुए कहे। कायक्रम दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे आयोजित किया गया, और स्वामी जी ने इसकी अध्यक्षता की।

उल्लेखनीय है कि गत वष ७ नवम्बर से ५ दिसम्बर तक राजधानी के विभिन्न स्कूलो मे छात्र-छात्राओ के शैक्षिक, बौद्धिक एव चारित्रिक विकास के लिए सभा ने विभिन्न प्रकार की प्रतियोगितायें आयोजित की थी, जिसमे हजारो बच्चो ने भाग लिया। आज ३५० विजेताओ को स्वामी जी ने शील्ड, पदक, प्रशस्तिपत्र एव वैदिक साहित्य भेंटकर सम्मानित किया।

स्वामी जी ने आगे कहा कि राष्ट्रभाषा हमारी एकता की कडी है और चाहे हमे हथकडी भी लग जाये परन्तु इसके उत्थान के लिए हर प्रकार का प्रयास करना चाहिए।

कायक्रम का शुभारम्भ सभा के प्रधान श्री सूयदेव एव आय केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य के प्रधान महाशय धमपाल ने दीप प्रज्जवलित कर किया।

नागरिकता विकास अनुसधान एव प्रशिक्षण केन्द्र नई दिल्ली के निदेशक श्री जय नारायण शर्मा ने भव्य आयोजन का उद्घाटन किया। उन्होने कहा कि भारतीय सस्कृति बहुत समृद्ध है और इसके उत्थान के लिए हमे निरन्तर प्रयास करते रहन चाहिए।

दिल्ली प्रशासन के श्रम उपायुक्त श्री वी० कुमार समारोह के मुख्य अतिथि थे। श्री कुमार ने कार्यक्रम की सराहना करते हुए कहा कि ऐसा सुन्दर एव मनोहारी कायक्रम इससे पूव मैंने कभी नही देखा। उन्होने आगे कहा कि आय समाज ही ऐसी सस्था है जो बच्चो के चरित्र निर्माण की शिक्षा देती है। उन्होने राष्ट्रभाषा हिन्दी को सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए ही आवाहन किया।

(शेष पृष्ट ३ पर)

गुरुकुल आम सेना का रजत जयन्ती समारोह

२२०० ईसाई वैदिक धर्म में दीक्षित

नई दिल्ली, ३० दिसम्बर। गुरुकुल आश्रम आमसेना (उडीसा) के ३० दि० का सम्पन्न हुये रजत जयन्ती समारोह मे २२०० ईसाई स्वेच्छा से वैदिक धम मे दीक्षित हुये। कार्यक्रम की अध्यक्षता सावदेशिक आय प्रतिनिध सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने की। आचाय विशिकेशन शास्त्री न यज्ञ प्रारम्भ कराया और स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने 'पुनन्तु माम् देवजन पुनन्तु मनसा किया' मन्त्रोच्चारण करते हुये आम के पत्ते से जल छिडक कर बनवासी, स्त्री, पुरुष बच्चो को वैदिक धर्म की दीक्षा दी। शुद्धि सस्कार के बाद आचाय जी ने वस्त्र व धोतिया भी वितरित की। शुद्ध हुये बनवासियो को यज्ञोपवीत दिय। इन्हे कुछ समय पूर्व विदेशी मिशनरियो ने प्रलोभन देकर ईसाई बनाया था।

जन समूह को सम्बोधित करते हुये स्वामी जी ने भारत सरकार से माग की कि जो विदेशी मिशनरी भारत आकर गरीबो का धर्मपरिवतन करते हैं उनके षडयन्त्र को असफल बनाने के पूण प्रयत्न किये जाने चाहिए। जन सभा को प्रो० शेरसिंह, आचाय आय नरेश, ब्रह्मचारी राजसिंह आय ने भी सम्बोधित किया। गुरुकुल के प्रधान श्री मित्रसेन न तीन लाख रुपय की राशी दान स्वरूप दी। स्वामी आनन्दबोध सरस्वती न दस हजार की सहायता राशी सभा का ओर से देने की घोषणा की। समारोह का सफल सचालन स्वामी धर्मानन्द ने किया। कायक्रम मे स्वामी ओमानन्द स्वामी दीक्षानन्द, आचाय हरिदेव, माता प्रेमलता शास्त्री, श्री दीवनचन्द पलटा, श्री रमेशचन्द श्रीवास्तव आदि गणमान्य महानुभावो के अतिरिक्त आयवीरो ने भी भाग लिया।

आर्यसमाज दीवानहाल दिल्ली का १०८वां वार्षिकोत्सव

शुक्र, शनि तथा रविवार, दिनांक २६, २७ व २८ मार्च १९९३ को

लालकिला मैदान मे समारोहपूर्वक मनाया जायेगा।

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव

सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

वजीर और फकीर : कुछ प्रेरक प्रसंग

लेखक—प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु' वेद सदन अबोहर

पंजाब तब सीमा प्रान्त तक फैला हुआ था। पूर्व मे इसकी सीमा देहली को लगती थी। शिमला कांगडा कालका और डलहौजी के पर्वतीय क्षेत्र भी पंजाब में हुआ करते थे। केवल सात मन्त्री सारा शासन चलाते थे। चौधरी छोटूराम का सारे प्रान्त मे बडा रोब था। वह मुख्य मन्त्री तो नहीं थे परन्तु, सरकार की नीतियों के सूत्रधार वही थे। चौधरी छोटूराम दीनानगर आए। वहां एक विराट् राजनैतिक सम्मेलन मे उनका भाषण था।

सम्मेलन से पूर्व व सम्मेलन की समाप्ति पर वह दयानन्द मठ में पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के दर्शनार्थ आए। स्वामी जी कुटिया में बैठे हुए थे। चौधरी जी ने बूट पहन रखे थे। बूटों के तस्मे खोलने को झुके तो स्वामी जी महाराज ने कहा, चौधरी जी फकीर की कुटिया है।"

तब उनके साथ आए एक नौकर ने बूटों के तस्मे खोले। चौधरी जी चरण-स्पर्श करके देर तक श्री स्वामी जी महाराज के साथ कुटिया में वार्तालाप करते रहे। सम्मेलन की समाप्ति पर चौधरी जी फिर मठ मे आए। श्री प० निरजनदेव जी इतिहास केसरी उन दिनो मठ मे ही पढते थे। चौधरी जी के साथ सम्मेलन मे भाग लेने आए कई बडे-बडे किसान आए। चौधरी जी स्वामी जी महाराज से कुछ विचार विमर्श करके चले गए तो स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने उन लोगो से कहा, "तो आप निकट से वजीर को देखने आए। वहां सम्मेलन में तो दूरी से देख सके।'

उन लोगो मे से एक ने कहा, स्वामी जी हम वजीर को देखने नहीं आए, हम तो उनके दर्शन को आए हैं जिस महान् हस्ती को वजीर मिलने आया था।"

पाठकवृन्द! जिस महामुनि के तप और बलिदान से आर्य समाज की इतनी शान थी, उसका रिक्त स्थान कौन पूरा करेगा? आज हम वजीरों के बिना कोई जलसा, सम्मेलन नहीं कर पाते। आर्य समाज को आज ऐसे फकीर चाहिए जिनको मिलने वजीर भाग-भाग कर आए।

रोहतक में चौधरी छोटूराम जी का जन्मोत्सव स्वामी जी की अध्यक्षता मे रखा गया। महाराजा भरतपुर एक मुख्य वक्ता थे। वह थोडा विलम्ब से पहुचे। उनके आने पर सारी सभा खडी हो गई। स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज सभापति के आसन को सुशोभित कर रहे थे। महाराज पूर्ववत् चुप चाप बैठे रहे। भरी सभा में सहस्रों की उपस्थित मे महाराजा ने जब स्वामी जी के चरण छूकर नमस्ते की तो सभा स्थल पर उपस्थित सज्जन उस दृश्य को देख कर भाव विभोर हो गये। फकीरों की हसी मे शान है।

लाहौर में स्वामी जी ने श्री प० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती को कहा जाओ जाकर चौधरी छोटूराम जी को बुलवा कर लाओ। श्री सिद्धान्ती जी ने प्रात काल चौधरी जी को महाराज का सन्देश सुनाया। वह तत्काल अपना कीकर का दण्डा लेकर पदल ही चल पडे। जब कार न ली तो सिद्धान्ती जी ने कहा 'मैं टागा लाता हू।

चौधरी जी बोले, 'नहीं स्वामी जी के चरणो मे पैदल ही चलेगे।"

श्री विश्वनाथ जी सुपुत्र धर्मवीर महाशय राजपाल जी ने मुझे बताया कि मेरी आखों में सदा बाल्यकाल का वह दृश्य उपस्थित रहता है जब लाहौर मे तख्तपोश पर स्वामी स्वतन्त्रानन्द जो विराजमान होते थे। पत्रकार शिरोमणि महाशय कृष्ण, शहीद महाशय राजपाल, प० ठाकुर दत्त जी, देश विख्यात विधि विशेषज्ञ दीवान बद्रीदास जैसे यशस्वी नेता गुरुदत्त भवन में आकर महाराज के सामने चटाई पर बैठा करते थे। वे साधु तो महान् थे ही। ये आर्य नेता भी तो अपने समय की महान विभूतियां थीं। उनका बडप्पन उनकी श्रद्धा व विनम्रता से और निखरता था। उन नेताओं के इस धर्मभाव से आर्य समाज का सगठन हर मोर्चे पर बढता गया। ये सब लोग आर्य समाज का गौरव व अभिमान थे।

देश का विभाजन हुआ तो स्वामी जी रोहतक चौधरी मातूसिंह जी की कोठी पर कथा करने जा रहे थे। आपने एक पत्र नरवाना समाज को लिखा कि मैं दोपहर की गाडी से नरवाना होता हुआ रोहतक जाऊंगा। नरवाना में महात्मा आनन्द भिक्षु जी की कथा हो रही थी। प० निरजन देव जी के व्याख्यान हो रहे थे। ला० अनन्तराम समाज के मन्त्री थे। आपने अपने घर पर स्वामी जी के लिए भोजन बनवाया। स्वामी जी बारह बजे के बाद भोजन नहीं किया करते थे। ला० अनन्तराम जी ने इसी बात को सोच कर महाराज का भोजन तैयार करवाया और समाज मे सूचना दी कि स्वामी जी दोपहर की गाडी से रोहतक के लिए निकलेंगे। मैं भोजन पहुचाने जाऊंगा। जिसने भी स्वामी जी के दर्शन करने हो स्टेशन पर पहुच जावे।

नरवाना के सब छोटे बडे आर्य समाजी शोभा यात्रा के रूप में जयकारे लगाते हुए स्टेशन पर महाराज का भोजन पहुचाने व दर्शन करने चल पडे। आगे-आगे महात्मा आनन्द भिक्षु जी व प० निरजनदेव जी थे। गाडी रुकी तो स्वामी जी आर्यों को देखकर नीचे उतर आए। अभिवादन का उत्तर दिया। आर्यों ने कहा कि यदि हरजा न हो तो रात्रि आप रुक जावें। एक व्याख्यान हो जावेगा। स्वामी जी ने कहा कि टिकट ले रखा है। सबने कहा कि टिकट की चिन्ता मत करें। तब स्वामी जी ने कहा, 'अच्छा रोहतक रात्रि तो कोई प्रोग्राम नहीं, आप केवल एक तार चौधरी मातूसिंह जी को करदें।"

स्टेशन मास्टर भी उस भव्य मूर्ति को देखकर महाराज के चरण छूने पास आया। उसने कहा तार तो मैं अभी कर देता हू। गाडी कुछ अधिक देर रुकी रही। गाडी मे से अनेक यात्री उस तेजस्वी प्रतापी ब्रह्मचारी आर्य नेता के दर्शनार्थ नीचे उतर आए। स्वामी जी ने सब को आशीर्वाद दिया। जब आर्य समाज में धर्म भाव प्रबल था, वेद को परम धर्म समझा जाता था, तब आर्य समाज में ऐसे-ऐसे दृश्य देखने को मिलते थे अब आर्य समाज मे यह बात नहीं है। स्कूल व संस्थाओं का भाड की दुकानों का एक जाला सा बन गया है। अब आर्य समाज की सम्पत्ति उसके लिए विपत्ति बन चुकी है। आर्यों! वही श्रद्धा फिर पैदा करो। अपने हृदयों मे वही अरमान पैदा करो। उसी उत्साह से अपने हृदयों में वही अरमान पैदा करो। उसी उत्साह से अपने सीने गर्माओ तभी महाराज की याद मनाना सार्थक होगा। श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज ने जिधर भी, जहां भी पग धरा एक इतिहास बना दिया। वे स्वय एक इतिहासकार थे परन्तु, इससे भी बडी बात यह है कि आपने हमारे इतिहास मे नये नये अध्याय जोडे। आपने जीवन मे कभी भी धन सग्रह के लिए किसी के आगे झोली नहीं पसारी। अपने आश्रम के लिए कभी भी धन सग्रह को न निकले। फ्रैंच व जर्मन भाषा के सत्यार्थ प्रकाश के लिए भी पत्रों में ही। अपने को स्थूल अक्षरा सत्यार्थ प्रकाश के लिए भी केवल पत्रों मे अपील निकाली ऐसे वीतराग सन्यासी का मूल्याङ्कन तो करिये।

आपने बडे बडे शास्त्रार्थ महारथी समाज को दिये। बडे-बडे विद्वान् उपदेशक दिये। समाज को बलिदानी कार्यकर्त्ता दिये। आपने समाज को इतने साधु वानप्रस्थी दिये कि आपसे पूर्व किसी ने भी समाजको इतने सन्यासी शिष्य न दिये। हैदराबाद सत्याग्रह के फील्ड मार्शल, तपस्वी सेनानी को समाज कदापि न भूल सकेगा।

लोहारू की धरती को लहू की धार से सींचने वाले ब्रह्मचारी को हम सदा याद रखेंगे। भारतीय स्वाधीनता सग्राम मे अमानवीय यातनायें सहने वाले इस तपोनिधि सन्यासी की साधना हमारे लिए सदा प्रेरणा स्रोत रहेगी। सत्यव्रतधारी इस बालब्रह्मचारी ने विदेशों मे धर्म प्रचार व राष्ट्रीय गौरव के लिए जो कुछ किया वे सब हमारे लिए अविस्मरणीय रहेगा।

मालेर कोटला के नवाब से सनातन धर्म के मन्दिर की पवित्रता के लिए टक्कर लेने वाले महामुनि के लिए जाति सदा ऋणी रहेगी। शुद्धि के लिए, गोरक्षा के लिए, राष्ट्र भाषा के लिए, स्वदेशी आन्दोलन के लिए इस वेद वेत्ता साधु ने जो सघर्ष किया वे स्वर्ण अक्षरों मे लिखा जावेगा। प्रभु की वेद वाणी के लिए वैभवशाली परिवार को त्यागकर भिक्षा के भोजन पर जीवन बिताने वाले राजर्षि का वन्दन, अभिनन्दन करते हुए हम सच्चे वेद भक्त और प्रभु भक्त बनने का व्रत ले।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जन्म-दिवस समारोह



महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्म दिवस के अवसर पर समारोह आयोजित करने की समस्या पर्याप्त दिनो से उठती रही है। इसका एक कारण यह भी रहा है कि काफी समय से स्वामी जी की जन्म तिथि का निर्धारण ही नहीं हो पाया था। इसी कारण आर्य पर्व पद्धति में भी महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्म दिवस को सम्मिलित नहीं किया गया था। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की कई बैठकों मे समय समय पर इस विषय पर विचार किया गया। इस सबंध मे १७ फरवरी १९९१ को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की एक उपसमिति गठित की गयी। इस उपसमिति मे श्री वीरेन्द्र जी, श्री प० रामचन्द्र राव वन्देमातरम् श्री ओम प्रकाश गोयल और डा० धर्मपाल (सयोजक) को सम्मिलित किया गया।

इस उपसमिति ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा को २९ मई १९५५, २९ जनवरी १९५७, २० जून १९५८, २३ जुलाई १९६० की बैठको मे इस विषय पर किए गए विचार पर पुन विचार किया। इस उपसमिति ने हरियाणा प्रान्त मे महर्षि दयानन्द जन्मदिवस के अवसर पर घोषित प्रतिबान्धत अवकाश की तिथि पर भी विचार किया प० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति, प० भीमसेन शास्त्री, प० इन्द्रदेव ज सपुरा प० अखिलानन्द, श्री जगदीशसिंह गहलोत तथा प० भगवत दत्त की मान्यताओ पर भी गम्भीर रूप म विचार किया। इन सभी मान्यताओ पर विचार करने के बाद यह निश्चय किया गया कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म तिथि फागुन बदि दशमी, सवत १८८१ अर्थात् शनिवार १२ फरवरी सन् १८२५ है। उपसमिति की रिपोर्ट सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा को दी गई तथा सार्वदेशिक की अतरग सभा में सर्वसम्मति से इस जन्मतिथि को सम्पुष्ट किया गया।

गत वर्ष १२ फरवरी १९९२ को महर्षि दयानन्द सरस्वती जन्म दिवस समारोह, समारोह पूर्वक दिल्ली के हिमाचल भवन सभागार मे पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता मे मनाया गया। भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति डा० शकर दयाल शर्मा इस समारोह मे मुख्य अतिथि थे। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा विभिन्न प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओ की ओर सभी आर्य समाजो, शिक्षण सस्थाओ स यह अपील की गई कि वे अपने वहा यह समारोह पूर्वक धूमधाम स मनाये। यह कार्यक्रम सम्पूर्ण भारतवर्ष म तथा विदेशो मे भी आयोजित किया गया।

इस वर्ष समस्या है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म दिन १६ फरवरी १९९३ को है तथा ऋषि बोधादिवस १९ फरवरी १९९३ को है। यह दोनो समारोह एक दूसरे के बहुत निकट है। इन दोनो समारोहो को अलग-अलग मनाया जाये अथवा एक साथ यह एक विचारणीय विषय है। हम प्रतिवर्ष श्रावणी उपाकर्म स लेकर श्रीकृष्ण जन्माष्टमी तक वेदप्रचार सप्ताह का आयोजन करते हैं। इसी प्रकार यह उचित होगा कि फरवरी के महीने मे भी इसी प्रकार ऋषि बोध सप्ताह का आयोजन किया जाये, जिसके अन्तर्गत यह दोनो ही तिथिया आ जाये। फाल्गुन का महीना भारत की जलवायु की दृष्टि स भी बहुत अच्छा है। इस अवसर पर तरह-तरह के सास्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। लोगो मे उल्लास होता है और उमग का वातावरण चारो तरफ दिखाई पडता है। जगह-जगह पर होली समारोह की तैयारिया भी प्रारम्भ हो जाती हैं। आर्य समाजो को भी इस अवसर पर पूरे सप्ताह प्रभातफेरी, यज्ञ, वेद प्रवचन तथा सार्वजनिक सभाओ का आयोजन करना चाहिए।

दिल्ली में इस वर्ष महर्षि दयानन्द सरस्वती जन्म दिवस समारोह १६ फरवरी १९९३ को तालकटोरा इण्डोर स्टेडियम, नई दिल्ली मे समारोह पूर्वक मनाया जायेगा और ऋषि बोधोत्सव फिरोजशाह कोटला मैदान मे १९ फरवरी १९९३ को पारम्परिक ऋषि मेला के रूप में मनाया जायेगा। सभी आर्य समाजो, स्त्री आर्य समाजो, शिक्षण सस्थाओ म विनम्र अनुरोध है कि वे अपने-अपने मन्दिरो में इन कार्यक्रमो को भव्यता पूर्वक आयोजित करे तथा इन सार्वजनिक समारोहो मे भी पूरी सज्ज धज्ज के साथ भाग ले।

—डा० धर्मपाल

स्वामी दीक्षानन्द

(पृष्ठ १ शेष का)

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव जी ने सभा की गतिविधियो का परिचय दिया। उन्होने कहा कि आज बच्चो के निर्माण की ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। सभा बच्चो मे राष्ट्रीयता की भावना एव देश प्रेम जागृत करने के लिए युवा महासम्मेलन जैसे रोचक एव आकर्षक कार्यक्रम आयोजित करता रहा है इनसे बच्चों मे अनुशासन की भावना भी बढती है।

दिल्ली आर्य प्रान्तीय महिला सभा की प्रधाना श्रीमती शकुन्तला आर्या, ने कहा कि आज विकृत धर्म निरपेक्षता है। हमे भाषा प्रान्तीयता आदि सभी प्रकार के मतभेद भुलाकर राष्ट्रीय एकता को सुदृढ करना चाहिए। महदेव मल्होत्रा आर्य पब्लिक स्कूल, पजाबी बाग की प्रधानाचार्या श्रीमती बृजबाला भल्ला ने कहा कि बच्चो को राष्ट्र के लिए समर्पित भावना से काम करने का सकल्प लेना चाहिए।

इस विशाल कार्यक्रम का कुशल सचालन सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने किया। उन्होने कहा कि आज से ३ हजार वर्ष पूर्व और कोई धर्म नही था। सत्य सनातन वैदिक धर्म ही प्राचीनतम है और वह हमे मानवता, भाईचारे एव राष्ट्रप्रेम का सदेश देता है।

दीप प्रज्जवलन के पश्चात विभिन्न स्कूलो व गुरुकुलो ने वेदगायन, पी टी, योग, शस्त्र प्रदर्शन का अत्यन्त मनोहारी कार्यक्रम प्रस्तुत किये। सभी वक्ताओ ने इन्हें अत्यन्त आकर्षक एव अद्वितीय बताया। आसन प्रदर्शन कार्यक्रम मे गुरुकुल गौतम नगर, प्रदर्शन मे महर्षि दयानन्द पब्लिक स्कूल, राजौरी गार्डन तथा शस्त्र प्रदर्शन मे गुरुकुल गौतम नगर को एम०डी०एच० की ओर से शील्डें प्रदान की गयी। गुरुकुल गौतम नगर के ब्रह्मचारी श्री वेद प्रकाश का तीर-दाजी कार्यक्रम की सभी ने करतल ध्वनि से सराहना की। उसने आखो पर पट्टी बाधकर, एव शब्द भेदी बाण द्वारा निशाने पर तीर लगाकर सबको मत्रमुग्ध कर दिया। गुरुकुल नरेला की वीरागनाओ के कार्यक्रम की भी सभी ने सराहना की।

इस कार्यक्रम मे श्री जयनारायण शर्मा श्री वी० कुमार एव आर्य सन्देश के सहसम्पादक श्री विमल कान्त शर्मा को स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती जी ने शाल उढाकर, सम्मान चिन्ह व वैदिक साहित्य भेंटकर सम्मानित किया। इस कार्यक्रम के स्वागताध्यक्ष सुप्रसिद्ध समाजसेवी, दानवीर और आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के प्रधान महाशय धर्मपाल थे। कार्यक्रम मे अतिथियो का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया गया।

समारोह मे न्यूयार्क आर्यसमाज के प्रधान श्री सुदेशमुखी सहित दिल्ली को अनेक सस्थाओ व समाजो के गणमान्य महानुभाव एव हजारो स्कूली छात्र-छात्राओ एव गुरुकुलो के ब्रह्मचारियो एव ब्रह्मचारिणियो ने भाग लिया।

सम्पादक के नाम पत्र

मेरी तबीयत बहुत अच्छी नही है। आयु भी ७९ वर्ष की हो रही है। फिर भी मुझे बहुत प्रसन्नता होती है, जब आप आर्य सन्देश को आगे बढा रहे हैं कुछ बातो म आर्य सन्देश आर्य पत्रो मे अत्यधिक महत्वपूर्ण लगता है।

डा० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालकार की विद्वता लेखन व भाषण शैली अत्यन्त उत्कृष्ट था। उन्होने आर्य समाज के लिए के लिए बहुत लिखा व बहुत किया परन्तु उनके परिवार ने सनातनी पद्धति स उनका कार्य आदि किया।

सुरेश चन्द्र वेदालकार
आरोग्य मन्दिर गोरखपुर

आर्य सन्देश का महर्षि निर्माण दिवस एक प० नाथूराम शकर शर्मा विशेषाक का अवलोकन किया, अच्छा लगा। आपसे निवेदन है कि प० शर्मा की अमर कृतिया कहा मिलेंगी, प्रकाशक या मिलने का पता लिखे।

रमेश चन्द्र विद्यार्थी
मोहल्ला सुमेरपुर हमीरपुर, उत्तर प्रदेश

आदर्श त्रैतवाद (१६)

राजसिंह भल्ला

ईश्वर एक सर्व व्यापक

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ कठो० १-४-१०

जो परमेश्वर यहा है, वही वहां सूर्य आदि में है । जो सूर्यादि में विद्यमान है वही इस लोक में स्थित है । वह मनुष्य मरण से मरण को पाता है जो इस विश्व मे नाना ईश्वर मानता है ।

निराकार सर्वान्तर्यामी और सर्व शक्तिमान् भगवान् स्वसत्ता से सर्वत्र विद्यमान है । उसकी इच्छा सब लोक लोकान्तरो का नियन्त्रण कर रही है । उसका होना देश काल के बन्धन मे नही है । वह लीलामय भगवान् अखण्ड और एक है । वह अज्ञानी लोग जन्म मरण के चक्कर मे फसे रहते है जो यह मानते हैं कि ईश्वर अनेक है ।

ईश्वर एक है अखण्ड है

मनसैवेदमवाप्तव्य नेह नानानास्ति किंचन ।
मृत्यो स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ कठो० १ ४-११

यह मन ही से-आत्मा ही से जानना चाहिये कि परमेश्वर में नानापन नही है । वह एक अखण्ड परमात्मा है । जो मनुष्य परमात्मा में नानापन देखता है अर्थात् नाना ईश्वर मानता है वह मरण से मरण को प्राप्त होता है । वह जन्म मरण के चक्र में पड़ा ही रहता है । उसकी मुक्ति नही होती ।

ईश्वर सर्वाधार है

य एष सुप्तेषु जागर्ति काम काम पुरुषो निर्मिमाण ।
तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिंल्लोका श्रिता सर्वे तदुनात्येति कश्चना एतद्वै तत् ॥
कठो० १-५ ८

सनातन ब्रह्म का वर्णन करते हुए मुनि कहते है—जो यह परम पुरुष प्रत्येक कामना की रचना करता है हुआ सोए हुओ—अज्ञानियो में जागता है । सब का ज्ञाता और साक्षी है । वह ही तेजोमय है । वह ब्रह्म है । उस ही को अमृत कहा जाता है । उसमे सब लोक आश्रित हैं । उसको कोई नहीं लांघ सकता । यह वही परमात्मा है ।

ईश्वर अन्तर्यामी भीतर बाहर

अग्नियथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रति रूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तारात्मा रूप रूप प्रति रूपो बहिश्च । कठो० १-५-९

जैसे भुवन मे प्रविष्ट एक ही अग्नि रूप रूप—पदार्थ पदार्थ के प्रति तद्रूप हो रहा है तदाकार दीखता है ऐसे हो एक और सबका अन्तरात्मा ईश्वर वस्तु वस्तु मे साक्षी रूप से विद्यमान है । और सब से बाहर भी है । अग्नि से यहा तेज से मतलब है । वह पदार्थों में रम जाता है । परन्तु फिर पृथक् भी रहता है । ऐसे ही सबका अन्तर्यामी सबका साक्षी है परन्तु सबसे पृथक् भी है । ईश्वर के व्यापकत्व का यह वर्णन है ।

भगवान् का नियम अटल

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पचम ॥ कठो० १-६ ३

परमेश्वर का नियम-न्याय अटल है । शासन प्रबल है । यह दर्शाते हुए ऋषि कहते है । इस ब्रह्म के भय-नियम से अग्नि जलती है । इसके नियम मे सूर्य उदय होता है । इसके नियम से इन्द्र-मेघ वायु और पाचवा मृत्यु दौड़ते है । भगवान् का नियम सारे जगत् मे काम कर रहा है । उसकी निर्यात अटल है ।

नियन्ता भगवान्

यो योनि योनिमधितिष्ठत्येको, विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वा ।
ऋषि प्रसुत कपिल यस्तमग्रे, ज्ञानैर्बिभर्ति जायमान च पश्येत् ।
श्वेता० ५ २

जो एक अद्वितीय भगवान् योनि योनि को—प्रत्येक लोक को अधिकार में कर रहा है, जो सारे साकार पदार्थों को और सब कारणों को वश मे रक्खे हुए है और जिसने पूर्व काल मे उत्पन्न हुए बालक कपिल ऋषि को ज्ञानो से पोषण किया । उपासक उस प्रकट स्वरूप को-उस प्रकाश स्वरुप को देखे-ध्यान में उसका दर्शन करे ।

सृष्टा सहर्ता अधिपति ईश्वर

एकैकंजाल बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे सहरत्येष देव ।
भूय सृष्ट्वा पतयस्तथेश सर्वाधिपत्य कुरुत महात्मा । श्वेता० ५-३

यह ऊपर वर्णित ईश्वर प्रत्येक सृष्टि रूप जाल को अनेक प्रकार से विस्तृत करता हुआ इसी क्षेत्र मे-आकाश में उसका सहार करता है । इसी प्रकार फिर जीव प्रकट करके वह महान् आत्मा ईश्वर सबका स्वामित्व करता है । ईश्वर सृष्टा और सहर्ता है ।

अमर अविनाशी ब्रह्म

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवा नुविलीयेत न हास्योदग्रहणायेव स्यात् । य तो यतस्त्वादीत लवणमेवैव वा अर इद महद् भूतमनन्तमपार विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति । न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति हो वाच याज्ञवल्क्य । बृहदा० २-४-१२

इस विषय पर यह प्रसिद्ध उदाहरण है जैसे जल में डाला हुआ नमक का डला जल मे ही मिल जाय जल मे ही मिल जाता है फिर उसका ग्रहण ही नहीं हो सकता जल तो जहा-जहा से कोई लेते उसे नमक ही मालूम होगा और अरी मैत्रेयी ! ऐसे ही वह अनन्त अपार परमात्मतत्त्व ज्ञानमय ही है । इन पाच तत्त्वों से प्रकट होकर सृष्टि रचना में जाना जाकर तार्किको के सम्मुख उन ही भूतों में अदृश्य हो जाता है । वह तर्क से अगम्य है । उसकी प्रेत्य सज्ञा नहीं है—उसका नास्तित्व-मरण नहीं है । वह अमर अविनाशी परमेश्वर है । याज्ञवल्क्य ने कहा—अरी मैत्रेयी ! यह ही मैं कह रहा हू ।

ब्रह्म विद्या

सर्वव्यापिनमात्मन क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् । आत्मविद्यातपोमूल, तद्,
ब्रह्मोपनिषत्यपरम् । तद ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ श्वेता० १-१६

दूध में घृत की भान्ति सवत्र विद्यमान आत्मविद्या और तप से जानने योग्य, सर्वव्यापी आत्मा को जानना ही वह ब्रह्मोपनिषत् परम है । वह ब्रह्मोपनिषत् परम है, यह ही ब्रह्म विद्या तथा रहस्य है ।

तीसरा अध्याय

जीव आत्मा

ससार के तीन अनादि तत्त्व में अभी तक हमने केवल एक अनादि तत्त्व परमात्म का ही वर्णन किया है आगे दूसरे अनादि तत्त्व जीव का वर्णन किया जाएगा । जीव जब शरीर मे प्रवेश कर लेता है तो उसकी सज्ञा जीवात्मा हो जाती है ऐसा कई स्थानो पर हमने पढा है ।

जीवात्मा का वर्णन करने से पहले हम चित्त का वर्णन करना आवश्यक समझते हैं । चिति सज्ञाने धातु से चित्त शब्द बनता है । इसका अर्थ है ज्ञान प्राप्ति का साधन । यह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा के सयोग से चेतनवत् बनकर जीवात्मा के लिये ज्ञान तथा कर्म द्वारा सारे भोगो का सम्पादन करता है । यह चित्त वैसे तो जड होता है किन्तु जीवात्मा के सयोग से सदा गतिशक्ति बना । जीवनी शक्ति का उत्पादक है यह सकोच विकास शक्ति आत्म सयोग से सदा चेतन सा भासने वाला महत तत्त्व का अश ही चित्त सत्त्व है । यह बगुले के परों समान सफेद पारदशक मोहक चमकीला अण्डाकृति पिण्ड सा होता है । छाती के अन्दर दोनो फेफड़ो के बीच जो हृदय स्थान है उसमे नवजात शिशु के अगूठे के अगले पोरे के समान या छोटे बेदाना अगूर के बराबर एक पोल है इसी हृदयगुहा-हृदयकाश कहे जाने वाले स्थान मे विद्यमान छोटा सा पिण्ड ही चित्त का निवास स्थान है । इसी चित्त में जीवात्मा का निवास स्थान भी है । इसे आनन्दमय कोश भी कहते हैं । यह जीवन शक्ति का महान् केन्द्र है । इस आनन्दमय कोश में एक देशीय अणु आत्मा अपने कारणों द्वारा अपने भोग और अपवर्ग को निष्पन्न करता है । यदि किसी कारण से यह हृदय में होने वाली क्रिया रुक जाए तो तुरन्त ही जीवात्मा अपने कारणो सहित निकल कर भाग जाता है । यह चित्त जीवात्मा की चेतना—ज्ञान शक्ति का धोतक अन्त करण का ज्ञान प्रधान भाग विशेष है । हृदय गत इसी चित्त गुहा मे आत्मा का निवास है । (क्रमश)

वेद में विज्ञान-पिण्ड व ब्रह्माण्ड की स्थिति और संबंध

आचार्य वेद भूषण, अधिष्ठाता अंतर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान हैदराबाद-२७

आज धीरे धीरे मनुष्य के चरण विज्ञान की ओर बढ रहे हैं। प्रयास जारी है। पर कहीं ये वैज्ञानिक वेद पढ़ लेते तो इनका पथ अत्यन्त सुगम हो गया होता। किन्तु आज तो कुछ ऐसे भी लोग हैं जो कहते हैं कि—वेद का विज्ञान से क्या लेना देना ? यह प्रश्न ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि—पहाडो का गणित से क्या सम्बन्ध है ?

जबकि कहा जा सकता है कि—पहाडे ही गणित हैं और गणित ही पहाडा है। वेद और विज्ञान का भी यही सबंध है। वेद शब्द का अर्थ ही ज्ञान है। ज्ञान के विशिष्ट विभाजन ही विज्ञान कहाते हैं। विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान कहाता है।

बात आरम्भ होती है पेट से। एक दिन हमने अनुभव किया कि पेट में पाचन प्रक्रिया मे कुछ शिथिलता हो अनुभव हो रही है। हमने इस शिथिलता को दूर करने सिर पर एक आयुर्वेद का तेल लगाना आरम्भ किया। इस तेल में स्नायविक विकारो को दूर करने की अद्भुत क्षमता है। कोई एक मास तक निरन्तर रात्रि में सोने से पूर्व हम सिर पर तेल लगाते और एक प्लास्टिक का पतला सा टुकडा लेकर सिर को ढांप कर ऊपर से वस्त्र से सिर को ढांप लेते हैं वैसे प्लास्टिक का देह पर क्या प्रभाव पडता है ? कितना अनुकूल और कितना प्रतिकूल हम नहीं जानते। पर चू कि—प्लास्टिक में से हवा प्रवेश नहीं कर पाती और प्लास्टिक सिर पर लगाए तेल को वस्त्र के समान पी नहीं लेता यह हम जानते हैं। सिर पर डाला गया वस्त्र कहीं तेल को पी न ले इस दृष्टि से हमने वस्त्र और सिर के मध्य मे प्लास्टिक का उपयोग कर लिया। एक मास के बाद हमने अनुभव किया कि पाचन सस्थान में उत्पन्न दुबलता का निवारण हो गया।

अब हमे ऐसा विश्वास हो चला है कि—हमारे देह के अगों में जो भीतरी शक्ति है सूक्ष्म है शक्ति है। उसका मूल आधार हमारा बुद्धि यन्त्र है। हमारे देह में दो प्रकार से रोग उत्पन्न होते हैं। एक तो यन्त्र की बाह्य विकृति से दूसरे आभ्यन्तर विकृति से। जैसे किसी के हाथ पर चोट आजाए या टूट जाए तो हमारा हाथ दुर्बल हो जाता है या कार्य करने मे अक्षम हो जाता है। यह बाह्य विकार है। दूसरे प्रकार का विकार है अभ्यन्तरीय। इसमे बाह्य रुप मे हाथ जैसे का वसा रहता है। उसमे कोई बाह्य विकृति नही है पर वह इतना दुबल हो गया है कि—कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। यह विकार अभ्यन्तरीय विकार है। इन अभ्यन्तर विकृतियो का मूल कारण सिर मे स्थित उस अग से सबधित शिरा का दुर्बल होना

किसी पत्रिका में हमने शीषक पढ़ा कि शतायु श्री पाद दमोदर सातवलेकर जिनके सिर मे कभी दद न.ी हुआ वास्तव मे श्री सातवलेकर ि न्होने सौ वर्ष की पूण आयु भोगी इसका मूल कारण उनके सिर का स्वस्थ रहना है। हमारे स्वास्थ्य का गहरा सबध हमारे सिर मे है। हमारे दह म जो मुख्य उर्जा है उसे ही हम प्राण कहते हैं।

वेद मे प्राणो का केन्द्र सिर को दर्शा ा गया है वैदिक आर्य वचन है—ओ भू पुनातु शिरसि। भू तत्व को प्राण कहा जाता है। भूमि का अन्न का और प्राणों का गहरा सबध हैं। इसी लिए आयुर्वेद कहता है कि—अन्नों वे प्राण अन्न ही निश्चय म प्राण है।

प्राण शक्ति ही हमारी आभ्यन्तरीय श क्त है। इसका केन्द्र सिर ही है प्राण तत्व वैसे तो सूक्ष्म है पर विविध प्राणो मे प्राण ही स्थूल है। प्राण से अपान अधिक सूक्ष्म है अपान से व्यान अधिक सूक्ष्य है। प्राण में अग्नि की प्रधानता है। अपान मे अग्नि और वायु दोनो की प्रधानता है। व्यान मे अग्नि, वायु और जल इन तीनों की प्रधानता है।

प्राण का मुख्य कार्य है धकेलना। जो जितना अधिक शक्ति स किसी पदार्थ को दूर फेंक सकता है उसके प्राण उतने ही अधिक बलिष्ठ है ऐसा जानना चाहिए। अपान मे खींचने की शक्ति का सामर्थ्य अधिक होता है। व्यान मे उभयविध क्रियाओं का अद्भुत सम्मिश्रण है। किसी वस्तु का निरन्तर प्रवाहमान रखना यह व्यान का सामर्थ्य है।

जिस देह में व्यान की स्थिति नियन्त्रित रहती है वह पूर्ण स्वस्थ रहता है अर्थात् व्यान की स्वस्थता से पित्त वात और कफ तीनों का सन्तुलन ठीक ठीक रहता है। दूषित अन्न या अभक्ष्य पदार्थो के सेवन से प्राण तत्व दुर्बल हो जाता है। दूषित वायु के सेवन से अपान तत्व विकृत होता है दूषित जल के सेवन से व्यान तत्व विकृत होता है।

बुद्धि यन्त्र की स्वस्थता से वितरण व्यवस्था ठीक बनती है, वितरण व्यवस्था ठीक बनी रहे तो स्वास्थ्य ठीक रहेगा अपान ठीक रहेगा तो ग्रहण शक्ति ठीक रहेगी। प्राण स्वस्थ रहेगा तो प्रक्षेपण क्रिया ठीक बनी रहती है।

अन्न दोष से प्राण तत्व बिगडेगा। प्राण की विकृति से मूलाधार चक्र विकृत होगा और पेट से मल को बाहर फेकने का सामथ्य घट जाएगा। प्राण दुर्बल होने लगेगा।

दूषित वायु के सेवन अपान तत्व बिगडेगा। अपान से ग्रहण करने की शक्ति घटेगी। श्वास लेने, अन्न ग्रहण करने जल पीने आदि मे बाधा होगी। इससे वृत यन्त्र मे विकार उत्पन्न हो जाता है।

जब व्यान विकृति होगी अर्थात् अन्न दोष वायु दोष और जल दोष होने से ही मृत्यु होती है।

मृत्यु तब आती है जब व्यान विकृत हो जाता है। व्यान की विकृत मे वितरण व्यवस्था भग हो जाती है। सन्तुलन बिगड जाता है। सन्तुलन के बिगडने से अपान दुर्बल हो जाता है और अपान दौर्बल्य मे प्राण दौर्बल्य हो जाता है और प्राण त व अपने कार्य को पूण करने में अक्षम हो जाता है और सारी व्यवस्था ठप्प हो जाती है। व्यान का केन्द्र सिर है जिस प्रकार ब्रह्माण्ड मे सूर्य है उसी प्रकार देह मे पिण्ड में मस्तिष्क यन्त्र है। बुद्धि यन्त्र है। देह में इसी की प्रधानता है। इसीलिए देह मे सर्वाधिक सुरक्षा बुद्धि यन्त्र की है। सुदृढ सिर के आवरण के भीतर प्रभु ने इसे रक्खा है। फिर मनुष्य भी टोपी-पगडी और हैल्मेट द्वारा इसका दोहरी रक्षा करता है।

इस सारे विश्लेषण का निष्कष यह है कि हमें अपने सिर की ओर सर्व प्रथम ध्यान देना चाहिए। सिर को ढाकना या ढाके रखना, उत्तम आयुर्वेदिक तेल लगाना सिर मे मैल को न जमने देना तथा सिर भारी न रहे। सिर मे दद न हो सिर में चक्कर न हो इन तीनो बातो का ध्यान रखना। सिर मे दर्द है तो निश्चित जानिए कि—अपान विकृति है। सिर में भारीपन है तो जानिए की व्यान विकृति है और सिर में चक्कर है तो जानिए कि प्राण विकृति है।

यह प्रेरणा वेद मे बहुत स्पष्ट रुप दी गई है। वेद विज्ञान बडा अद्भुत है—

देखिए निम्न यजुर्वेद के छत्तीसवे अध्याय का सत्रहवा मन्त्र है—

यो शान्तिरन्तरिक्ष शान्ति पृथिवी शान्तिराप शान्तिरोषधय

शान्ति। वनस्पतय शान्तिर्विश्वेदेवा शान्तिब्रह्म शान्ति सर्वशान्ति शान्तिरेवशान्ति सा मा शान्तिरेधि।

वाह रे, हमारे वेद। आपका विज्ञान अदभुत है। ससार के समस्त मनुष्यो के कल्याण क लिए अपने प्रभु का सर्व श्रेष्ठ वरदान है वेद। यदि ससार मे शान्ति रहती है तो पहले द्यु लोक की रक्षा करो। आज वैज्ञानिक चिन्तित हैं कि पर्यावरण क चारो ओर जो एक आवरण है झिल्ली है उसमे छिद्र हो गया है। यह छिद्र इस बात का प्रमाण है कि—केवल पर्यावरण ही प्रदूषित नही हुआ अपितु यह प्रदूषण सौर मण्डल मे भर गया है। द्यू लोक अशान्त हो रहा है। सुधार के लिए सर्व सिर को ठीक कर लो। द्यू लोक को प्रदूषण रहित करो।

सिर ठीक होगा तो हृदय ठीक होगा। हृदय ठीक होगा तो यकृत ठीक होगा। पेट ठीक होगा। इस लिए सूक्ष्म जगत की व्यवस्था को सुधारने का क्रम द्यू लोक से आरम्भ होता है। इसीलिए सर्व प्रथम द्यौ शान्ति कहा है। द्यू लोक शान्त होगा तो अन्तरिक्ष शान्त होगा और अन्तरिक्ष शान्त होगा तो पृथिवी लोक शान्त होगा। द्यू शुद्ध हो, अन्तरिक्ष शुद्ध हो जाएगे तब औषधय शान्ति अन्न और औषधिया शुद्ध होगीं। इनके शुद्ध होने उपरोक्त तीनों की शुद्धि से वनस्पतिया शुद्ध होगी।

(क्रमश)

श्री महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक ट्रस्ट टंकारा

जिला-राजकोट-३६३६५० (गुजरात)

उप कार्यालय : आर्य समाज, 'अनारकली' मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली-११०००१

ऋषि बोधोत्सव का निमन्त्रण

एवं

आर्थिक सहायता की अपील

मान्यवर, सादर नमस्ते।

इस वर्ष ऋषि बोधोत्सव १८, १६, २० फरवरी १९९३ तदनुसार वीर शुक्र शनि को ऋषि जन्म स्थली टकारा मे भव्य समारोह के साथ मनाया जा रहा है। इस अवसर पर एक सप्ताह तक यजुर्वेद परायण यज्ञ होगा जिसके ब्रह्मा प० सोमदेव जी शास्त्री होगे। देश-देशान्तर से पधारे ऋषि भक्त आर्य विद्वान तथा कलाकार इस सुअवसर पर ऋषि के चरणो मे अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करेंगे। इस वर्ष आर्य वानप्रस्थाश्रम के अध्यक्ष महात्मा आर्य भिक्षु जी आचार्य रामप्रसाद वेदालकार गुरुकुल कागडी, हरिद्वार श्री ओमप्रकाश वर्मा भजनोपदेशक यमुना नगर पधार रहे हैं। कन्या गुरुकुल बडोदा, पोरबन्दर तथा जामनगर की कन्याए, टकारा उपदेशक विद्यालय के विद्यार्थी आयवीर दल धागध्रा एव केन्द्रीय आय युवक परिषद् दिल्ली तथा अन्य सस्थाओ के युवक, समारोह मे कायक्रम प्रस्तुत करेंगे। पधारने वालो के आवास, भोजन का पूण प्रबन्ध टकारा ट्रस्ट की ओर से नि शुल्क होगा, किन्तु बाहर से पधारने वाले सज्जन ऋतु अनुकूल अपने-अपने बिस्तर साथ लाये।

इस समय टकारा के अधीन निम्न काय चल रहे हैं —

१ अनर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय
(२ दिव्य दयानन्द दर्शन चित्र गृह
(२) आर्ष साहित्य प्रचार के द्र
(४) गो सवर्धन केन्द्र (गौशाला)
(५) अतिथि गृह (६) वेद प्रचार
(७) पुस्तकालय तथा सावजनिक वाचनालय

ऋषि जन्म स्थली टकारा मे अभी और भी अनेक विशेष करणीय कार्य हैं जैसे—ऋषि जन्म गृह के मुख्य भाग को अपने अधिकार मे लेना, टकारा की सस्थाओ का विकास तथा जन्मस्थली को विश्वदर्शनीय बनाना। टकारा ट्रस्ट के अधिकारी जनता जनार्दन के सहयोग से टकारा उत्सव की सफलता, टकारा की सस्थाओ का विकास तथा अन्यान्य कठिनाइयो को दूर करने का प्रबल प्रयत्न कर रहे हैं। इन सब कार्यों के लिए कम से कम ११-१२ लाख रुपये की और आवश्यकता है।

टकारा की गौशाला मे आजकल २५ से अधिक गायें हैं। इस गौशाला से विद्यार्थियो को शुद्ध दूध मिलता है, परन्तु हर वर्ष इस गौशाला मे घाटा हो जाता है। यह घाटा ऋषि-भक्तो और गोभक्तो के दान से ही पूरा होता है।

अत आपसे विनम्र निवदन है कि ऋषि बोधोत्सव पर आप इष्ट मित्रो सहित टकारा पधारिये और इस सारे कार्य का सुचारु रूप से चलाने के लिए अधिकाधिक आर्थिक सहयोग देकर पुण्य के भागी बनिए।

यह दान राशि आप क्रास चैक/ड्राफ्ट अथवा मनिआर्डर से महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टकारा के नाम से इसके दिल्ली, कार्यालय, आयसमाज, मन्दिर मार्ग नई दिल्ली-११०००१ के पते पर भिजवाने को कृपा करें।

आपसे सानुरोध प्राथना है कि आप अपनी ओर से अपनी आय समाज, अपनी शिक्षण सस्था तथा अन्य सम्बन्धित सस्थाओ की ओर से अधिकाधिक राशि भेजकर ऋषि से उऋण होकर पुण्य के भागी बनिए।

टकारा ट्रस्ट को दी जाने वाली राशि पर आय-कर की छूट है

निवेदक

ओंकारनाथ	दरबारी लाल	शान्ति प्रकाश बहल	रामनाथ सहगल
मैनेजिंग ट्रस्टी	प्रधान	कार्यकारी प्रधान	मन्त्री

टन्कारा/भारत यात्रा ट्रेन द्वारा

दिनांक १३-२-९३ से १०-३-९३ तक

दर्शीय स्थान, दिल्ली, बडोदा, राजकोट द्वारका, सोमनाथ, टन्कारा, बम्बई, बैंग्लोर, मैसूर, वृन्दावन गार्डन, तिरचनापली रामेश्वरम, कन्या कुमारी, मद्रासपुरी वाराणसी, अयोध्या, इलहाबाद कानपुर वगैरा।

(१) आने-जाने, वास, स्टीयर, देशी घी का भोजन सोने की सीट प्रति सवारी ६५०० रु० है।

(२) सीट बुक कराने के लिए जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रबन्धक—

श मवास सचदेव

दूरभाष—७५२६१२८, ७३८५०४ पी० पी०
आर्य समाज चूना मण्डी पहाड गज नई दिल्ली ५५

घर का पता—
मकान न २६१३ भगतसिंह गली न० ९ चूना मण्डी पहाड गज नई दिल्ली ५५

(२) श्री मालविया जी
आर्य समाज मन्दिर (अनारकली मन्दिर) मार्ग नई दिल्ली १
फोन—३४३७१८, ३१२११० कार्यालय

(३) ।।गेन्द्र गिरी
आय समाज चूना मण्डी पहाड गज नई दिल्ली-५५

आयसन्देश—दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No 32387/77 Posted at N D P.S O on 21-22-1-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) १३/९२
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९२
पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९२

पं० गोपदेव शास्त्री सम्मानित

महर्षि दयानन्द सरस्वती के १०९ वे निर्वाण दिवस पर श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के तत्वावधान मे आयोजित दिनाक ३१ अक्तूबर, १९९२ को ऋषि मेला १९९२ के अवसर पर आन्ध्रप्रदेश के आर्य विद्वान प गोपदेव शास्त्री दर्शनाचाय को राजस्थान राज्य के वन एव पर्यावरण मन्त्री श्री लालचन्द डूडी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार निधि न्यास आय समाज फुलेरा के महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार १९९२ से सम्मानित किया। पुरस्कार म दस हजार रुपये नकद, दयानन्द स्वर्ण पदक, उत्तरीय तथा प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया गया। आर्यसमाज फुलेरा के मन्त्री श्री भंवरलाल शर्मा ने अभिनन्दन-पत्र पढकर समर्पित किया। प० गोपदेव शास्त्री ने पुरस्कार मे प्राप्त दस हजार रुपये की राशि "अम्बा रामार्य सत्यार्थप्रकाश ट्रस्ट सिकन्दराबाद को दान स्वरूप प्रदान की तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के सारे ग्रन्थो का तेलगु अनुवाद एव अपनी अन्य पुस्तके परोपकारिणी सभा के पुस्तकालय को भेंट की, जिनकी सख्या ६६ से अधिक है।

अखण्ड भारत सम्मलेन

नई दिल्ली ९ जनवरी। वेद प्रचार मण्डल दिल्ली देहात के तत्वावधान मे ९ जनवरी को अखण्ड भारत सम्मेलन का आयोजन किया गया। यह कार्यक्रम आय समाज पालम गाव न० दि० के १४वे वार्षिकोत्सव पर रखा गया था।

कार्यक्रम की अध्यक्षता युवा समाज सेवक, श्री अशोक कुमार पाहुजा न की।

समारोह के विशिष्ट अतिथि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने अपने विचार व्यक्त करते हुय कहा आर्य समाज ने राष्ट्र की एकता व अखण्डता के लिए सदैव आगे बढकर काम किया है और आज की विकट परिस्थिति मे सभी प्रकार के मतभेद भुलाकर राष्ट्र के सुरक्षा एव इसके निर्माण मे हमे योगदान चाहिए।

समारोह मे एडवोकेट श्री प्रकाशच द गुप्त, श्रीमती ललिता निधावन, प० नारायण सिंह आय, श्री उदय श्रेष्ठ व श्री रामशरण दास आर्य ने भी प्रेरक विचार रखे।

शोक प्रस्ताव

आर्य समाज दीवान हाल चि० सजीव गुलाटी सुपुत्र माननीय महाशय धर्मपाल के आकस्मिक निधन पर गहरा दुख प्रकट करती है। आर्य समाज की यह महती सभा आर्य समाज के होनहार नव युवक के अकस्मात हमसे बिछुड जाने पर भारी आघात को सहन करते हुए परमपिता परमात्मा से दिवगत आत्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना करते हुए शोक सतप्त परिवार के प्रति हार्दिक सवेदना प्रकट करती है।

श्री सूयदेव
मन्त्री, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस पटौदी हाउस दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ म मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० एल १०२४/१-०९२

ओ३म्
साप्ताहिक
आर्य सन्देश
कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

वर्ष १६ अंक १७ | रविवार, ३१ जनवरी १९९३ | विक्रमी सम्वत २०४९ | दयानन्दाब्द १६८ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३
मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक— २५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष ३१०१५०

राम मन्दिर मुद्दा

उच्चतम न्यायालय में आर्यसमाज हस्तक्षेप याचिका प्रस्तुत करेगा

नई दिल्ली २६ जनवरी। सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने कहा कि यदि उच्चतम न्यायालय भारत सरकार के अनुरोध को स्वीकार करते हुये राम मन्दिर मामले पर सुनवाई प्रारम्भ करती है तो आर्य समाज एक पक्ष जानन के लिए इस कार्यवाही मे हस्तक्षेप याचिका प्रस्तुत करेगा जिससे इस मुद्दे के कानूनी पक्ष को और अधिक मजबूत किया जा सके।

उल्लेखनीय है कि सविधान के अनुच्छेद १४३ (१) के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की ओर से राष्ट्रपति ने उच्चतम न्यायालय से इस मुद्दे पर अन्तिम निर्णय देने का अनुरोध किया है कि क्या विवादित ढाचा बनाये जाने से पूर्व वहा कोई मन्दिर था या नही अर्थात क्या विवादित ढाचा कोई मन्दिर तोडकर बनाया गया था ? यह अनुरोध मुख्य न्यायाधीश श्री एल० एम० शर्मा से किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने अभी तक यह घोषणा नही की है कि क्या वह इस अनुरोध को स्वीकार करते हुये सुनवाई शुरू करे अथवा अनुरोध को अस्वीकार कर दे।

अधिवक्ताओं की समिति गठित

सार्वदेशिक सभा के पक्ष को उच्चतम न्यायालय के समक्ष न्याय सभा के अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री महावीरसिंह जी श्री लाला राम गुप्त श्री सोमनाथ मरवाह, न्याय सभा के सयोजक श्री विमल वधावन एडवोकेट व आय समाज के कई उच्चकोटि के अधिवक्ता रखेगे।

स्वामी आनन्दबोध ने आगे कहा है कि यह एक निर्विवाद तथ्य है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही अयोध्या मे मर्यादा पुरुषोत्तम राम का मंदिर था। यह बात ६ दिसम्बर १९९२, के बाद पुरातत्व विभाग के विशषज्ञो द्वारा स्थल पर की गयी खुदाई से और अधिक स्पष्ट हो चुकी है।

हस्ताक्षर अभियान सफल बनाने का आह्वान

राम मन्दिर निर्माण सम्बन्धी ज्ञापन पर समस्त हिन्दू जनता से स्वामी आनन्दबोध जी ने पूर्ण समथन देने का आह्वान किया है। दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव एव महामन्त्री डा० धमपाल ने भी दिल्ली की जनता से इसी आशय की अपील की है। हस्ताक्षरो के बाद ज्ञापन राष्ट्रपति जी को दिया जायेगा।

महर्षि दयानन्द का १६९वा जन्म दिवस

सभी आर्य समाजें १६ फरवरी को समारोहपूर्वक मनायें

नई दिल्ली, २६ जनवरी। सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने समस्त आर्य जगत से अपील की है कि युग-पुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती का १६९ वा जन्म दिवस फाल्गुन वदी दशमी तदनुसार १६ फरवरी १९९३ को समारोहपूर्वक मनाया जाव। इस दिन सभी आय समाजो द्वारा प्रभात फेरिया निकाली जाये, विशेष यज्ञ व प्रवचनो द्वारा महर्षि दयानन्द की समाज, राष्ट्र व मानवता के प्रति की गई बहुमूल्य सेवाओ का प्रचार व प्रसार किया जाय। समाज मदिरो मे रात्रि को प्रकाश व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

दिल्ली मे जयन्ती तालकटोरा इन्डोर स्टेडियम मे उत्साहपूर्वक मनायी जायेगी

राजधानी दिल्ली मे सभी आर्य समाजो एव सभी सम्बद्ध सस्थाओ द्वारा नई दिल्ली के तालकटोरा इन्डोर स्टेडियम मे यह कायक्रम प्रात १० से १ बजे तक मनाया जायेगा। समारोह मे अनेक राष्ट्रीय नेता एव आय विद्वान आयजनो को सम्बोधित करेगे

स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने सभी आय समाजो, सस्थाओ एव आय सभाओ को यह निर्देश भी दिया है कि केन्द्र व राज्य सरकारो से इस दिन सावजनिक अवकाश की माग की जाए तथा राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री मुख्य मन्त्री एव सम्बद्ध अधिकारियो को इस आशय के पत्र बडी सख्या मे भिजवाये जावे।

बंगला देश मे—

धर्म परिवर्तन किया जा रहा है हिन्दुओं का

नई दिल्ली, २३ जनवरी। हिन्दुओ व आदिवासियो को बागला देश मे मुसलमान बनाया जा रहा है। यह बात अमेरिका विदेश विभाग की मानवाधिकारो के बारे मे वार्षिक रिपोट मे कही गयी है।

बागला देश का सविधान, रिपोट के अनुसार, धम बदलने की इजाजत देता है परन्तु इस्लाम त्याग का कडा विरोध करता है। बागलादेश म इस्लाम के राजकीय धम घोषित किये जाने के बाद अल्पसख्यक बहुत चिन्तित हं।

उल्लेखनीय है कि विवादित ढाचा ढहाये जाने के बाद बागला देश मे अनेक मन्दिर व मकानो को तबाह किया गया था और वहा आगजनी, लूटमार व बलात्कार की अनेक घटनाये हुई है। अत बागला देश मे हिन्दुओ ने २८ जनवरी को सरस्वती पूजन के अवसर पर सजावट न करने एव जुलूस न निकालने का आह्वान किया है।

प्रधान सम्पादक —सूर्यदेव
सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

अद्भुत् प्रतिभा सम्पन्न–स्वामी समर्पणानन्द

(डा० सुरेशचन्द्र वेदालकार एम १/६९ राप्ती नगर कालोनी, आरोग्य मन्दिर गोरखपुर

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती के नाम का स्मरण आते ही मेरे सामने अद्भुत वक्ता विचित्र ऊहा के धनी उद्भट् विद्वान वेदवदागतत्व विद् ख्याति प्राप्त लेखक, कवि शास्त्रार्थ महारथी, गुरुकुल कागडा विश्वविद्यालय के आचार्य और प्रतिनिधि सभा पजाब के प्रधान श्री प० बुद्धदेव जी विद्यालकार की मूर्ति सम्मुख आ उपस्थित होती है। उनका सादा जीवन उच्च विचार की प्रतिमा आखो मे बसी सी लगने लगती है। उनको खद्दर की लुगी और उस पर खद्दर की कमीज और साथ में झोले मे लटकती हुई पुस्तको वाला रूप ही मुझ ध्यान मे आता है। स्वामी जी के रूप मे समर्पणानन्द सन्यासी का रूप मैंने नही देखा।

आज से ८-१० वर्ष पहले का बात है। आर्य समाज उनाव के वार्षिकोत्सव मे मैं भाषण के लिए आमन्त्रित हुआ। वहा के मन्त्री तथा अन्य व्यक्तियो ने मेरे भाषण को ओजस्वी माना और वही रहने वाले एक अधेड सज्जन मेरे पास आकर बोले कि आपने 'बुद्धदेव विद्यालकार की शैली मे बडा ओजस्वी भाषण दिया। मैंने उस समय इस विषय में कुछ अधिक नही सोचा फिर एक बार जौनपुर जिले की तहसील केराकत मे आर्य समाज के वार्षिकोत्सव में आर्य वीरो को सबोधित करने के लिए मुझे कहा गया। मच का सचालन वहा के एक प्रसिद्ध चिकित्सक (वैद्य) कर रहे थे। उनका नाम तो भूल गया हू। वे वैदिक धर्म के सिद्धातो के अच्छे ज्ञाता और कर्मठ व्यक्ति थे और किसी भी भाषण की समाप्ति के बाद अपनी प्रतिक्रिया भी प्रस्तुत करते थे। आर्य वीरो को सबोधित करते हुए ओजस्वी शब्दो मे मैंने 'आर्य' शब्द की व्याख्या की और आर्य' की पहचान जीवन मे सत्कर्मो के लिए प्रगतिशील रहना और 'चरैवेति चरैवेती बढे चलो, बढे चलो को ध्यान मे रख कर आगे बढो बताया। कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' तुम्हारा लक्ष्य है। मेरे भाषण के बाद श्री वैद्य जी ने अपनी प्रतिक्रिया मे मेरे भाषण को ध्यान मे रख कर कहा— वेदालकार जी ने आज हमें वैदिक मन्त्रो के साथ श्री प० बुद्धदेव विद्यालकार की याद दिलवा दी। इस समय ऐसे विद्वानों की कमी दिखाई दे रही है। मेरे लिए प्रसन्नता स्वाभाविक बात है पर मुझे प० बुद्धदेव जी की तरह बतलाने में मुझे उनकी अतिशयोक्ति ही लगी। मैंने पजाब केसरी लाला लाजपत राय और राष्ट्र पुरुष वीर सावरकर के भाषण सुने है यद्यपि उन जैसे ओजस्वी भाषण आज तो दुर्लभ हैं पर मैं आज भी निस्सकोच कह सकता हू कि प० बुद्धदेव विद्यालकार उनसे इस कला में अधिक ही थे। उनके भाषण मे वस्तु विषय के साथ ही साथ वही ओज, वही तेज और वही प्रभावशाली छाप मिलती है। बुद्धदेव जी बुद्धदेव जी ही थे।'

बुद्धदेव जी विद्यालकार का जन्म १ अगस्त १८९५ ई० को देहरादून के निकट कौलागढ सहारनपुर) ग्राम मे प० रामचन्द्र जी के यहा हुआ था। पडित रामचन्द्र जी की पत्नी यशवती देवी थी। उनके श्वसुर कृपाराम जी महर्षि दयानन्द के भक्त थे और उन्होने देहरादून आने के लिए स्वामी जी को आमन्त्रित किया और उनके व्याख्यानो का प्रचार एव व्यवस्था की। श्री रामचन्द्र जी ने अपने पुत्र नवीनचन्द्र को जो गुरुकुल कागडी मे बुद्धदेव बने वहा प्रविष्ट कराया। उनका विवाह श्रीमती सुशीलादेवी से हुआ और उनकी दो पुत्रिया अपराजिता और प्रभात शोभा हुयी।

इनके पिता स्वर्गीय रामचन्द्र जी गुरुकुल शिक्षा के प्रति समर्पित व्यक्ति थे और गुरुकुल कागडी के माध्यमिक विभाग गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ मे कक्षा ९ तथा कक्षा १० के ब्रह्मचारियों को अग्रेजी पढाते थे। उस समय भी उनके चेहरे पर वृद्धावस्था विद्यमान थी। सबसे पूर्व गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में पण्डित जी के दर्शन और भाषण सुनने का मुझे सौभाग्य मिला। मैं अपने अध्ययन काल मे बहुत पटाकू छात्रो में नही था। हमारे अग्रेजी के अध्यापक श्री प० रामचन्द्र जी वृद्ध थे अत उनके पढाई के घटो को हम मनोरजन का घटा भी समझते थे। शायद शरारत करने पर मार भी खाई होगी ? पर, उससे हमे तो चोट क्यो लगती थी ? उनके हाथ अवश्य पीडित हुए होगे ? वैसे पडित जी का हम लोग सम्मान भी बहुत करते थे। एक बार वार्षिकोत्सव पर श्री प० बुद्धदेव विद्यालकार पधारे। वे भोजनादि तो उपदेशको के साथ करते थे पर उनका शयन उनके पिता जी के यहा होता था। रहते भी वही थे और उनके भाषण और व्यवहार का यह प्रभाव हुआ कि हम विद्यार्थी उन्हे घेरे रहने लगे। उन्होंने अपने जीवन की कुछ घटनाए तो सुनाई ही, वेद के प्रति श्रद्धा को जागृत करने मे भी प्रेरणा दी। उन्होने वेद के माहात्म्य को प्रकट करते हुए कथा सुनाई। उन्होने बताया

एक बार एक व्याकरणाचार्य और एक गणिताचार्य नाव में सवार होकर नदी के पार जा रहे थे। जब नाव आगे बढी तो व्याकरणाचार्य महोदय ने नाविक से पूछा नाविक ! क्या तुमने व्याकरण पढा है ? नाविक ने कहा "नहीं महाराज ! मै व्याकरण व्याकरण कुछ नही जानता। नाव से यात्रियो को पार उतारता भर हू।' व्याकरणाचार्य बोले— 'तब तुम्हारा जीवन बेकार हुआ। थोडी देर बाद गणिताचार्य महोदय बोले— नाविक ! क्या तुमने गणित पढी है।' वह मुस्कराया और बोला— महाराज ! मैं गणित वणित क्या जानू ? मुझे तो नाव द्वारा दूसरो को पार उतारना भर आता है ' गणिताचार्य महोदय बोले, "तब तो तुम्हारा सारा जीवन बेकार हो गया। इतने मे नाव डगमगाने लगी, यात्रियों के चेहरे उद्विग्न दिखाई देने लगे तब नाविक बोला— 'गणिताचार्य जी और व्याकरणाचार्य जी महाराज! आप लोग बताइए क्या आप लोग नाव चलाना जानते हैं ?" उन्होने जरा घबराहट के साथ कहा, 'अरे भाई ! हम क्या जाने नाव चलाना। हमने तो गणित और व्याकरण पढा है।' नाविक हसते हुए बोला, "तब तो भद्र पुरुषो ! आप लोगो का सारा जीवन बेकार हुआ। नाव तो डूब जाएगी।

हमे पडित जी की बात समझ में नही आ रही थी कि इस घटना से वेद पढने का क्या सबन्ध है। वे आगे बोले—"विद्यार्थियो ! गणित व्याकरण आदि अन्य विद्यायें वेदाध्ययन के बिना बेकार हैं। ससार सागर को पार करने के लिए तो वेदाध्ययन ही करना पडेगा। बिना वेदो की शिक्षा के शान्ति नही मिल सकती। शान्ति के बिना ससार सागर पार नही हो सकता

प० बुद्धदेव जी के पिता जी ने उनकी बचपन की एक घटना बतलाई। वे बोले यह लडका प्रारभ से भावुक है। देहरादून की एक घटना सुनाई। उन्होने बताया कि बुद्धदेव जी की मा ने एक बार पुत्र को कुछ पैसे देकर मिठाई खाने के लिए भेजा। रास्ते मे उन्होने दो तीन बच्चो को देखा जिनके शरीर पर भयकर सर्दी मे भी कपडे नहीं थे एक मिठाई की दुकान के आगे जूठे पत्तलो की प्रतीक्षा मे खडे थे भूख से व्याकुल थे बालक नवीनचन्द्र (बुद्धदेव) [illegible] इस दृश्य को न देख सके और उन्हो दुकानदार [illegible] बच्चो को खिला [illegible] पिता जी मैंने देखा [illegible] पैसे [illegible] दिया।

कवि बुद्धदेव—[illegible] भावुक [illegible] क्रान्तदर्शी [illegible] का अवसर दिया। [illegible] प्रतिभा के [illegible] लिखना हुआ उतना अवसर [illegible] प० बुद्धदेव जी को [illegible] अधिक अवसर मिलता [illegible] सूरदास और तुलसीदास के टक्कर की कविताए एव गीत रचते। उनके कुछ भजन तो किसी भी तरह उनके गीतो से कम नहीं। जिन्होने मस्त होकर उन्हे प्रभु भक्ति के स्वनिर्मित गीत गाते देखा है वे न शक्यते तद् वर्णयितु [illegible] स्वय तदन्त करणेन गृह्यते के अनुसार समझ जा सकता है। उनकी रचनाये स्वान्त सुखाय होती थी। इनके काव्य सग्रह बिखरे फूल और उसकी राह पठनीय है। प्रार्थनावली के गीत भावपूर्ण हैं।

वैदिक साहित्य ज्ञाता—इनको वैदिक साहित्य का सूक्ष्म ज्ञाता कहा जा सकता है। इन्होने मरत सोम स्वग शतपथ मे एक पथ शतपथ ब्राह्मण तथा अथर्व वेद का भाष्य पुस्तक लिखी। शतपथ ब्राह्मण को समझने मे इनसे बहुत सहयोग मिलता है। इन्होने अथर्ववेद के चतुर्दश काण्ड का भाष्य सप्त सिन्धु-सूक्त' के रूप में किया है। अथर्ववेद का भाष्य पूर्ण नही कर सके। प्रात सूक्त, ऋग्वेद का मणि सूक्त ऋग्वेद [illegible] मण्डलो में प्रस्तुत विचारधारा का पारस्परिक

(शेष पृष्ठ ६ पर)

सम्पादकीय

भारतीय प्राचीन संस्कृति : वैदिक संस्कृति की महत्ता

यह निर्विवाद है कि वेद ससार की सभी पुस्तको में प्राचीनतम है और यह भी निर्विवाद है कि आर्यों का आदि देश भारत है, फिर भी समय-समय पर ऐसे प्रश्न उठाये जात रहे है जिनसे भारत के प्राचीन ऐतिहासिक, सास्कृतिक गौरव पर प्रश्न चिन्ह सा लग जाता है। पिछले दिनो कुछ प्रान्तीय सरकारो के शिक्षा मत्रालयो ने अपनी पाठ्य पुस्तको मे परिवतन और सशोधन इस आशय के किए थे जिनसे भारतीय अस्मिता एव गौरव का उज्जवल पक्ष प्रकट हो, परन्तु एसा हमारी केन्द्रीय सरकार को समवत किसी विवशता के कारण मान्य नही है। अग्रेजी हिन्दुस्तान टाइम्स के २१ जनवरी १९९३ से महानगर सस्करण मे एक समाचार प्रकाशित हुआ है—'अजुन सिंह का पाठ्य पुस्तको को धमनिरपेक्ष बनाने हेतु अभियान।' धमनिरपेक्षता अथवा पथनिरपेक्षता अथवा सम्प्रदाय निरपेक्षता—यह अलग प्रश्न है। वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या किसी को सन्तुष्ट करने के लिए, अपनी अच्छी बातो को छोड दिया जाए और क्योकि उसकी बातो का जोडना है इसलिए उनकी बेकार बातो को भी जोड लिया जाए।

मानव ससाधन विकास मत्रालय का दायित्व बहुत ही महत्पूर्ण है। यह इसी से स्पष्ट है कि एक गरिमामय व्यक्तित्व को यह कायभार सौंपा गया है। हमारा तो यही आग्रह है कि पाठ्य पुस्तको मे उन सभी बातो को सम्मिलित किया जाए जो मानव का नैतिक, चारीत्रिक विकास करत हैं जो भारतीय सस्कृति का उज्ज-वल पक्ष प्रस्तुत करती हैं। यह देश तो 'मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्' का सदेश-वाहक है।

एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मन
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सवमानवा ॥

इस देश मे जन्मे अग्रणी लोगो का सारा विश्व सदा से ही अनुसरण करता रहा है। यह देश महापुरुषों का देश है जिसने सपूण विश्व को मानवता का सदेश दिया है —

'मनुभव जनया दैव्य जनम्।' यह वह देश है जिसने सारे ससार को श्रेष्ठ बनाने का व्रत लिया है—कृण्वन्तो विश्वमायम्।

इस देश के इतिहास और पाठ्य पुस्तको का धमनिरपेक्षता के नाम पर सही रूप मे प्रस्तुत न करना, इसके गौरव को क्षति पहुचाना होगा। बहुत हो चुका। अब तो हम स्वतन्त्र है। हमारा अपना सविधान है। २६ जनवरी को हम गणतत्र दिवस भी मना रहे हैं। आओ, हम सब मिलकर प्रण करें कि हम अपने अतीत की गरिमा को सुरक्षित रखेगे तथा भविष्य को और भी ज्यादा गौरवपूण बनायेंगे।

—डा० धमपाल

सम्पादक के नाम पत्र

अनुपम भेंट

बधाई हो स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस एव स्वामी समपणानन्द सरस्वती विशेषाक की अनुपम भेंट के लिए। वास्तव मे पत्रिका ने नई दिशा दी है। इस पत्रिका के पठनीय विषय है शिक्षाप्रद लेख एव अपनाये जाने वाली सरल शब्दो मे प्रस्तुत बाते। ईश्वर आपको शक्ति दे कि आप इसी प्रकार मार्ग दशक लेख विशेष जानकारियो के साथ देते रहे जिससे पाठक प्रेरणा प्राप्त कर सके। आर्य सन्देश प्रगति पर है।

राम प्रकाश, के डी-७८-ए, अशोक विहार दिल्ली-५२

आरक्षण को छोड़ दो संरक्षण लो मान

मचा हुआ है देश मे, आरक्षण का शोर।
वग-वाद का हो गया, है भारत मे जोर॥
है भारत मे जोर, स्वार्थी नेताओ का।
आतनाद दे रहा, सुनाई दुखियाओ का॥
लीडर हैं कृतघ्न, देश से प्यार नही है।
कुर्सी के हैं दास, शुद्ध व्यवहार नही हैं॥
जाति-पाति को वढा, रहे हैं हाय! अनाडी।
भारत की है सभी, तरह से बात बिगडी॥
मनुष्य मात्र की एक जाति है सब कहते हैं।
धाराओ मे भिन्न-भिन्न फिर क्यो कहते है॥
अबला, दीन, अनाथ, मदद हो उनकी पूरी।
मिट जाएगी सुनो, सभी सामाजिक दूरी॥
पढ लिखकर के योग्य, बन भारत के बच्चे।
भारत के दो बना, नागरिक उनको सच्चे॥
योग्यता अनुसार, काम दो उन्हे यहा पर।
स्वग बनेगा देश, बात लो हृदय मे धर॥
गुण, कर्म, स्वभाव, मुताबिक काम मिलेगा।
विकसित होगा राष्ट्र, हिलाये नहीं हिलेगा॥
फिर तो जलकर नही, मरेंगे बालक प्यारे।
पैदा होगे राम, कृष्ण से राज दुलारे॥
हे नेताओ, उठो, फर्ज अपना पहचानो।
जगत गुरु"ऋषि दयानन्द"की शिक्षा मानो॥
आरक्षण को छोड दो, सरक्षण लो मान॥
प्यारे भारतवर्ष का, करो अरे! उत्थान॥

प० नन्दलाल निर्भय सिद्धात शास्त्री
ग्राम व पोस्ट बहीन जिला फरीदाबाद (हरियाणा)

सम्पादक के नाम पत्र

मान्य श्री डा० साहब, सादर नमस्ते'

आर्य अन्देश का श्रद्धानन्द अक मेरे सुझाव है। विशेषाको मे आर्य सन्देश ने कीर्तिमान स्थापित किया है यह सब आपकी सूझ-बूझता एव कार्यकुशलता का माण है मेरी ओर से हार्दिक बधाई। आप ने इस अक मे श्रद्धेय स्व० समर्पणानन्द जी के ओजस्वी, क्रान्तिकारी, एव सरल विचारो से आयजनता को परिचित कराया है यह सर्वथा उपयुक्त भी है और सफल थी। पुन बधाई।

भगवान करे जोरे कलम और जियादा'

उत्तम चन्द शरद पानीपत

एक सग्रहणीय अक

आपने आय सन्देश के माध्यम से श्री चमूपति अक निकाल कर एक सराहनीय काय किया है। इससे अच्छा और क्या हो सकता है। अक सराहनीय और सग्रहणीय है। उसमे यदि श्री चमूपति जी की पुस्तको के सम्बन्ध मे मूल्य पृष्ठ सख्या तथा प्राप्ति स्थान का भी उल्लेख कर दिया होता तो और भी अच्छा होता। अब आप आगामी साधारण अक मे यह छाप कर कमी को पूरा कर देने का कष्ट अवश्य करे। मैं उन सभी पुस्तको को मगाना चाहता हू। हिन्दी विशेषाक भी अपनी जगह पर अद्वतीय ही है। उसकी समस्त सामग्री हिन्दी जगत की धरोहर ही है। दोनो अको के लिए आपको बधाई अनेक साधुवाद।

शिव चरनलाल अशोकचन्द्र आय, तुलसीपुर

एक साफ सुथरा-पत्र

आप का पत्र "आय सन्देश' का अवलोकन गत वष से ही कर रहा था। 'आय मित्र' के आपसी अन्तद्वन्द को देखते एक साफ सुथरे पत्र की आवश्यकता महसूस हो रही थी, जिसकी पूर्ति आय सन्देश से हो सकती है। 'आय सन्देश' का वार्षिक शुल्क ३० रु० मनी आडर द्वारा प्रेषित कर रहा हू। कृपया मुझे आय सन्देश का ग्राहक बनाने का कष्ट करे तथा पत्र नियमित भेजने की कृपा करेंगे।

प्रमोद कुमार आय प्रधानाचार्य
द्रोपदी देवी शिक्षा निकेतन बिल्थरा रोड बलिया (उ० प्र०)

आदर्श त्रैतवाद (१६)

राजसिंह भल्ला

यह आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है जिसका अनुमान भी असम्भव सा प्रतीत होता है। रंग रूप मे भी इसकी तुलना किसी सासारिक पदार्थ से नही की जा सकती ऐसा साक्षात् दर्शी महात्माओ का कहना है। यह आत्म तत्त्व ध्रुव निश्चल निष्क्रिय रहता हुआ भी अपनी ज्योतिर्मयी दिव्य शक्ति से कारण शरीर सूक्ष्म-शरीर तथा स्थूल शरीर की क्रिया शक्ति बनाए रखता है। चेतन जीवात्मा की ज्योति से चित्त मे चेतना के प्रसार से यह चित्त प्रतिक्षण सकोच विकास स्वभाव को प्राप्त होता रहता है। इसी से ज्ञान और क्रिया की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है और जीवात्मा को अपनी सत्ता का बोध बना रहता है और चित्त के दर्पण मे अपने ज्योतिर्मय के प्रति बिम्ब को देख कर आनन्द का अनुभव करता है। क्रिया के द्वारा जो भान होता है वह ज्ञान कहलाता है। और उस ज्ञान की क्रिया के दर्शन से समाहित चित्त मे एक मधुर सा रस बहाने वाली लहरिया उठ-उठकर जो हर्षयुक्त भाव उत्पन्न करती है उसका नाम है आनन्द। यह जीवात्मा को अपने अस्तित्व सत्ता के बोध होने का स्वरूप है इस बोध का दूसरा परिणाम ही आनन्द है।

जीव अपने कर्तव्य कर्मों के करने में स्वतन्त्र है। यह जीव अनादि है। ईश्वर की भाति जीव भी चेतन है और स्वभाव से पवित्र अविनाशी और धार्मिक है। जीव अल्पज्ञ है। सूक्ष्म है। जीव और परमेश्वर का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। जीव और ईश्वर का अन्तर यही है कि जीव सूक्ष्म परिमाण वाला और परमेश्वर सूक्ष्मतर है। जीव अल्पज्ञ एक देशीय और ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है; ये दोनो सत्ताए भिन्न हैं। एक नही हैं। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति, प्रलय सबका नियम मे रखना जीव के कर्मों का फल देना ईश्वर के जीव से अधिक गुण हैं।

आत्मा अजन्मा अनन्त अनादि

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

कठो० १-२ १८

आचार्य उपदेश करते हैं कि यह जीवात्माए और परमात्मा न तो उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं। क्योकि ज्ञानस्वरूप परमात्मा और चेतन जीवात्मा मिश्रित नही है। इसलिए इसका कोई कारण नही जिससे इनकी उत्पत्ति स्वीकार की जावे। और न ही यह किसी की हालत मे बनो है जो इनम उत्पन्न हो। ये दोनों स्वत सिद्ध सत्ता हैं। इनकी उत्पत्ति और नाश दोनो नही हैं। ये दोनो स्वतत्र सत्ता हैं। इनका कारण कोई भी नही है। इस कारण ये दोनो अजन्मा नित्य अविनाशी और अनादि है। इनमे एक ईश्वर राजा और जीव उसकी प्रजा है। सदा एक रस रहते हैं। विकार अर्थात् उत्पन्न होना, बढना, एक सीमा तक बढकर रुक जाना, रूप बदलना, घटना और नाश हो जाना इन बातो म ये दोनो पृथक् हैं। ये विकार तो मिश्रित में होते हैं ऐसा दुनिया मे पाया जाता है। जो कुछ उत्पन्न होता है यह कम अर्थात् काम करने मे उत्पन्न होता है। काम करने से दो गुण उत्पन्न होते हैं एक सयोग और दूसरा बियोग। ये दोनो गुण मिश्रित मे रहते हैं। दो अणुओ के मिलने से सयोग उत्पन्न होता है एक अणु से सयोग नही इससे सिद्ध होता है कि मृत्यु और उत्पत्ति शरीर के लिए हैं उसमे रहने वाले जीव और ब्रह्म शरीर के नाश होने से नाश नही होते और उत्पत्ति से उत्पन्न नही होते। अत देहस्थ जीवात्मा चेतन है इसका स्वरूप जीवन मरण से रहित है। इसके स्वरूप मे परिवर्तन नही होता यह कार्य कारण भाव की सीमा से परे है। यह अजर अमर अनादि और अविनाशी सत्ता है। यह परम सूक्ष्म चेतन सत्ता है।

आत्मा न किसी को मारता है और न मरता है

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नाय हन्ति न हन्यते ॥ कठो० १-२-१९

जब कोई मनुष्य जगत् मे मरता है, तो लोग कहते हैं कि उसे परमात्मा ने मार दिया है। या अमुक मनुष्य ने मारा है। ऐसा विचार अज्ञानी लोग करते हैं। क्योकि ईश्वर तो इच्छा रहित है वह तो अपनी इच्छा स कोई कर्म नही करता अत उसे मारने वाला कसे कह सकते है। वह तो स्वभाव से कार्य करता है। अत उसका प्रभाव कर्मो के अनुकूल पडता है। जिसके जैसे कर्म हैं। उस पर ईश्वर के न्याय का प्रभाव वैसा ही पडता है। अर्थात् जिसके कम मरने के हैं वह ईश्वर के न्याय नियम से मरता है। और जिसके कर्म मरने योग्य नही हैं वह नहीं मरता। इस कारण ईश्वर को मारने वाला कहना अज्ञानता है। जीव को मारने की शक्ति किसी मे नही। अत जीव को और ब्रह्म को मरने वाला या मारने वाला कहना अज्ञानता है। न तो आत्मा मरता है और न किसी को मारता है।

आत्मा चेतन हृदय निवास

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा
श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य।

छान्दो० ३-१४-३

आत्मा ज्ञाता ऋषि कहते हैं—यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर अन्न के दाने से, जौ से, सरसो के दाने स, श्यामक के दाने से, श्यामक चावल के दाने से भी सूक्ष्म है। अत्यन्त सूक्ष्म सत्ता है। और वह ही मेरा आत्मा हृदय में भीतर स्वशक्ति स्वरूप तथा ज्ञान म पृथिवी से बडा है। अन्तरिक्ष से बडा है। प्रकाशमय तारा मण्डल से बडा है। और सारे लोको से बडा है। चेतन स्वरूप आत्मा सत्ता की तुलना ये जड लोक मिलकर भी नही कर सकते।

(क्रमश)

ईश्वर के नामों की पद्यमय व्याख्या

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

आकाशादिक भूत सब करते जहा प्रवेश।
अथवा इनमे व्याप्त हो, जो रह रहा हमेश॥
इसीलिए उस ईश का नाम विश्व है सिद्ध।
कण-कण मे वह व्याप्त है, जग मे सदा प्रसिद्ध॥

जिसमे ज्योतित सूय सम, लोक हुए उत्पन्न।
उसके ही आधार पर, ये रहते सम्पन्न॥
अथवा जो रवि आदि का गर्भ-जन्म स्थान।
इसमे उस परमेश का, हिरण्यगर्भ नाम॥

जड-चेतन जग रचयिता प्रलयकर जग पाल।
सर्वशक्तिमय ईश है, पवन व्याप्त सब काल॥
स्वय प्रकाशित सूय-सम लोको का परकाश।
इससे उसका नाम है तैजस जगत-उजास॥

सत्य ज्ञान ऐश्वय है उसके पास अनन्त।
इससे वह परमात्मा, है ईश्वर सुखवन्त॥
जो अविनाशी है सदा, सज्ञा है आदित्य।
जान जग व्यवहार सब, प्राज्ञ नाम है नित्य॥

स्तुति, विनय, उपासना, करनी उसकी योग्य।
जो गुण कम स्वभाव मे, सबसे श्रेष्ठ सुयोग्य॥
सबसे वरता स्नेह जो, पात्र प्रीति का नीक।
इसीलिए तो मित्र है, उसका नाम सटीक॥

सबसे श्रेष्ठ वरेण्य है, एकमात्र वह इष्ट।
"वरुण' नाम विख्यात है, सर्वाधार वरिष्ठ॥

वेद में विज्ञान-पिण्ड व ब्रह्माण्ड की स्थिति और संबंध (२)

औषधि और वनस्पतियो की शान्ति से सम्पूण देव तेतीसो देवता शुद्ध हो जाएगे। अर्थात् समूचे ब्रह्माण्ड में शान्ति यही ब्रह्म शान्ति होगी। इसमे सर्वत्र शान्ति ही शान्ति होगी तब मैं शान्त होऊगा। सारी व्यवस्था को ही ठीक करना होगा तभी मैं ठीक रह सकू गा। आज की समस्या गम्भीर है केवल पर्यावरण शोधन मे बात नही बनेगी हमे पहने द्यू लोक को शुद्ध करना होगा। द्यू लोक की शुद्धि से आकाशीय आवरण फिर ठीक हो जाएगा। जो छेद हो गया वह फिर बन्द हो जाएगा।

हम जो औषधि खाते हैं वह प्रथम हमारे मस्तिष्क की अव्यवस्था को दूर करती है तब वह सबधित रोग का निवारण कर पाती है।

प्रश्न पैदा होता है कि—वो शान्ति कैसे समव ? वनौषधियो को तथा गाय के घृत को युक्ति पूर्वक जलाओ अर्थात् यज्ञ करो। खूब करो तब तक करो जब तक द्यू लोक शुद्ध नही हो जाता है। तब अन्तरिक्ष शुद्ध होगा। स्टेथस्कोप अन्तरिक्ष को व्यवस्था को दर्शाता है। देह में जब तीव्र ज्वर हो आता है तब प्रथम सिर पर ठण्डे पानी की पट्टी और बाद मे औषधि का सेवन। अन्तरिक्ष ठीक हो जाएगा तब फिर द्यू लोक ठीक हो जाएगा। भूख लगने लगेगी।

ये सारी बाते प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं जो मन्त्र मे कही गई हैं।

देह को ठीक करने प्रथम ब्रह्म प्राणायाम। ब्रह्म प्राणायाम से प्राण बलिष्ठ होता है। आभ्यन्तर प्राणायाम से अपान बलिष्ठ होता है। स्तम्भवृत्ति से व्यान बलिष्ठ होता है और बाह्याभ्यान्तरायेघी मे शेष सारे विकार मिश्रित विकार नष्ट हो जाते हैं। शाति पाठ हमें सुधार का क्रम बतलाता है। इस क्रम को जानकर हमे अशाति अव्यवस्था को दूर भगा सकते हैं।

ससार की उन्नति के दो ही श्रेष्ठ उपाय है यज्ञ और प्राणायाम

गाय के घी मे सौर उर्जा की सौर तत्व की प्रधानता होती है। इसे अग्नि मे डालने से घृत का सूक्ष्म वाष्प द्यूलोक तक जाती है क्योकि यह अग्नि का गुण है कि—प्रत्येक पदाथ का उसके मूल केन्द्र तक पहुचा देती है

यज्ञ मे डाला गया गाय का घी सूय लोक तक जाता है। जो कहते हैं कि जल का वाष्प बनता है और घृत का नही बनता वे अज्ञानी हैं जल भी रस है और घृत भी रस है। जल स्थूल है उप ये देख लेते ह घृत सूक्ष्म होता है और हल्का होता है वह दृष्टि गोचर नही होता है। हल्का होने मे वह पानी मे बहुत आगे ऊपर तक अर्थात सूयलोक तक जाता है। द्यू लोक को शात करता है शुद्ध करता है।

इसीलिए यजुर्वेद मे जो यज्ञ का वेद है उसमे यह मत्र पढा गया है।

विज्ञ जान हमारी बातो पर सूक्ष्मता म विचार करेगे। इसीलिए समूची धरती पर वेदो के प्रचार व प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है। कि – हम सब वेदो का स्वाध्याय करे और मत्रो पर सूक्ष्म चिन्तन करे।

यह सुनिश्चित जाने कि हम पिण्ड म ब्रह्माण्ड को और ब्रह्माण्ड से पिण्ड को भली भाति जान सकते है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड मे अद्भुत एक समता है सामञ्जस्य है। इन दोनो को ठीक ठीक जानकर वेदो के रहस्यो को भी समझा जा सकता है।

वेद म ससार और ससार से वेद जाना जाता है।

आचाय वेद भूषण
अधिष्ठाता अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान
हैदराबाद २७

शहीदों के स्मरण का दिन

(राधेश्याम "आय"—मुसाफिरखाना-सुलतानपुर, उ० प्र०)

गणतन्त्र दिवस भारत मा के उन लाखो अमर सपूतो के स्मरण का पुण्य दिवस है, जिन्होने हसते-हसते इस महान राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए अपना जीवन उत्सग कर दिया। आज यह पावन पव याद दिलाता है, भगत सिंह, चन्द्र-शेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल अशफाक उल्ला खा तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस सरीखे वीर सपूतो के अमर बलिदान का, जिन्होने मा के बधन को काटने के लिए अपनी जवानी, अपनी तरुणाई अपना सवस्व, स्वाधीनता के महान सग्राम की पुण्य बलिवेदी पर समर्पित करके, स्वतन्त्रता का पावन पथ प्रशस्त किया। भारत की स्वाधीनता का सग्राम, जो अनवरत नब्बे वर्षों तक चलता रहा, त्याग व बलि-दान, उत्सर्ग व समपण की गाथा बन गया।

इन्ही महानतम् बलिदानियों के शोणित का प्रतिफल है—यह भारत की आजादी व भारत का गणतन्त्र। आज हमको आत्म विश्लेषण करना होगा कि जिन महान् उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए उन लाखो नवजवानो ने अपने प्राण समर्पित किए, क्या उन उद्देश्यो की पूर्ति में हम अपने को लगा पाए हैं। उत्तर मिलेगा—नही। बिल्कुल नही। हम लोगो ने उन महान् बलिदानियो के लहू के साथ खिल-वाड किया है, विश्वासघात किया है और आज हम केवल अपनी जेबें गरम करने मे ही सलग्न हो गए हैं। आज कमचारी, अधिकारी, राजनेता, शासक, प्रशासक सब के सब कर्तव्य-विमुख होकर उचित-अनुचित, नैतिक अनैतिक तरीके से मात्र धन सचय मे व्यस्त हैं। परिणामस्वरूप सारा राष्ट्र भयकर भ्रष्टाचार, अनाचार, कुव्यवस्था के चगुल में फसकर छटपटा रहा है। हमारी ही स्वाथपरता तथा स्वार्थ-परक नीतियो के कारण राष्ट्रीय एकता अखण्डता सकटग्रस्त हो गई है। सारे देश मे धम के नाम पर अधम, व्यवस्था के नाम पर कुव्यवस्था, सत्य के नाम पर असत्य, व्याप्त हो रहा है। दानवी वृत्तियो के घनघोर तिमिर मे आज भारत का नागरिक किंकतव्य-विमूढ बन गया है। त्याग तथा बलिदान की पावन परम्पराए व भावनाए तिरोहित हो जाने के कारण राष्ट्र की वह स्वाधीनता खतरे मे पड गई है जिसे असख्य नवजवानो के बलिदान से हमने प्राप्त किया था। आज महर्षियो का यह पुण्य देश राम व कृष्ण जैसे महामानवो की यह धरती राणा शिवा जैसे वीरो की भूमि, भगत, सुभाष अशफाक जैस की बलिदानी भूमि, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द गाधी, गौतम की यह कर्म-भूमि घोर नरक में परिवर्तित होकर आसू बहा रही है। भारत मा अपने स्वार्थलोलुप, अकमण्य, कायर तथा मक्कार पुत्रो को धिक्कार रही है। लेकिन इन कायरो के कान पर जू तक नही रेग रही है। इस महान् गणतत्र के गुण का जीवन हमने घूसखोरी, भ्रष्टाचार, धनलोलुपता झूठ फरेब के माध्यम से नारकीय जीवन बना डाला है। राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए मानव-मानव के मध्य जानलेवा खाई खोद डाली है। वोटो के लालचवश जात-पात तथा साम्प्रदायिकता की धधकती अग्नि मे घी डालने का काय किया गया है। आज किसी को समाज व देश की चिन्ता न होकर अपनी ही चिन्ता सता रही है। महान् भारतीय सास्कृतिक मूल्यो को हमने गिरवी रख दिया है। मानवता की जनहितकारी सवाहक परम्पराओ को हमने तोड-मरोड डाला है। जन-जन मे ईर्ष्या द्वेष लोभ, मोह की राक्षसी प्रवृत्तिया हिलोरे ले रही है।

ऐसे भयावह समय मे आज हमारे समक्ष आसन्न सवनाश म सुरक्षित रहने का मात्र एक ही उपाय है कि हम पुण्य स्मरण करे, उन अमर शहीदो का, उनके बलिदान का, उनकी भावनाओ का, उनके लाल लहू का। यह स्मरण शायद हमारे तिमिराश्रित पथ पर प्रकाश की कुछ किरणो को बिखेर सके और हम भी भारत मा का सच्चा सपूत बनने का प्रयास कर सके।

स्वास्थ्य चर्चा—

सिर के बालों की हिफाजत

सिर के बाल चेहरे की शोभा बढाते हैं। बाल जितने काले होते हैं उतने ही सुन्दर लगते हैं। सिर के बालो को देख कर प्राय आयु का अनुमान लगाया जाता है। यदि सिर पर बाल न हो तो उसे गजा कहने लगते हैं।

आपको लम्बे लम्बे बाल रखने का शौक है तो उनकी हिफाजत करना भी आपका कर्तव्य है। यदि बालो को सवार कर नही रख सकते तो बालो को बढाना कोई आवश्यक नहीं है अब तो महिलाए भी बालो से तग आकर कटवा रही हैं और काला करने के लिए रगवा भी रही हैं बहुत से लोग खिजाब लगाते रहते हैं। साराश यह है कोई भी सफेद बालो को पसन्द नहीं करता।

आजकल देखने मे आता है कि नवयुवक और युवतियो के बाल जवानी मे ही सफेद हो जाते हैं और नाना प्रकार के सुगन्धित तेल और शैम्पु आदि का प्रयोग करना आरम्भ कर देते हैं फिर भी बाल झड झडकर गिर रहे हैं। क्या कारण है कि बाल जल्दी पकने और झडने लगते हैं? निम्न चार अवस्थाओ मे बाल सफेद होकर गिरने लगते हैं—

१—उमर का तकाजा अर्थात वृद्ध अवस्था आने पर बाल पकने लगते हैं।

२—फिकर या गम अर्थात हर समय चिन्ता करते रहने पर भी बाल सफेद हो जाते है।

३—शारीरिक कमजोरी या नजला के प्रभाव से बाल सफेद हो जाते हैं। बाल हमारी अस्थियो के अग हैं और अस्थिया कैलशियम (चूने) से बनती है। शरीर मे कैलशियम की कमी के कारण बाल झडने लगते हैं।

४—हर समय सिर पर सख्त पगडी बाधने या टोपी पहने रहने के कारण भी बाल झड जाते हैं। यही कारण है कि महिलाओ की अपेक्षा पुरुषो मे गजापन अधिक होता है।

बालो की सुरक्षा के लिए निम्न बातो पर ध्यान दीजिए—

१—बालो को गम पानी की बजाय ताजा पानी से धोना चाहिए। धोने के बाद धूप की बजाय छाया मे खुश्क करना चाहिए।

२—गीले बालो मे कभी तेल न लगावें। बालो के सूखने पर ही तेल लगाना चाहिए। तेल लगाकर बालो मे बार-बार कघी करनी चाहिए।

३—बालो को धोन के लिए साबुन का अधिक प्रयोग न करें। साबुन से धोने की जब कभी आवश्यकता पडे तो अच्छी प्रकार का साबुन प्रयोग करे जिसमे कास्टिक की मात्रा अधिक न हो। सिर के बालो को दही, छाछ, मुलतानी से धोना हितकर है। त्रिफला के पानी से धोना भी लाभदायक है। त्रिफला ५० ग्राम कूटकर एक किलो पानी मे रात को किसी मिट्टी के बतन मे भिगो दो। प्रात छानकर सिर धो लो।

४—बालो मे लगाने के लिए गोले (नारियल) का तेल उत्तम है। इसके अतिरिक्त गर्मियो मे ब्राह्मी आवला का तेल का प्रयोग करें। यदि सिर मे जू पड गई है या फ्रास भी रहता हो तो शुद्ध सरसो के तेल म कपूर मिलाकर लगायें या तल मे नीम के पत्ता का रस मिलाकर लगावे।

५—बालो के पोषक तत्व की कमी को दूर करने के लिए घी-दूध, फलो का रस जैसे पौष्टिक पदार्थों का सेवन करे।

६—चिन्ता को छोडकर चिन्तन करना चाहिए।

७—ईर्ष्या द्वेष को त्याग कर प्रसन्न रहना चाहिए।

८—आजकल के फैशन के अनुसार बालो को झुण्ड की तरह खुश्क रखना नेत्रो के लिए हानिकारक है।

९—बालो को धूल गर्द से बचाने के लिए महिलाओ को सिर ढक कर रखना चाहिये।

नोट—किसी प्रकार की कोई शका हो तो अपना पता लिखा हुआ डाक टिकट लगाकर लिफाफा भेजे या स्वय सम्पर्क करे—

—देवराज आर्य मित्र
वैद्य विशारद
आर्य समाज बल्लभगढ, जिला फरीदाबाद

स्वामी समर्पणानन्द

(पृष्ठ २ का शेष)

सामजस्य स्थापित करने वाला ग्रन्थ, ऋग्वेद मडल सूक्त भी लिखा है। पाणिनीय प्रवेशिका, (सस्कृत भाषा-शिक्षण) अथ ब्रह्मयज्ञ, अथ देवयज्ञ पचयज्ञ प्रकाश भी अनूठे ग्रथ हैं।

अन्य ग्रन्थ—बुद्धदेव जी का साहित्य अत्यधिक विस्तृत है। अन्य ग्रन्थों में उन्होंने पशुबलि वेद शास्त्र विरुद्ध है, किसकी सेना मे भर्ती होंगे? कृष्ण की या कस की? (सरिता मे प्रकाशित रतनलाल बसल के आज का सबसे बडा देशद्रोह गो पूजा शीर्षक लेख का खडन किया और उसकी वेद विरोधी बातो के विरुद्ध आन्दोलन भी। वेदो के सबध मे क्या जानो और क्या भूलो? गोपावर्त पुस्तक मे गाय की महत्ता दिखलाई है। वर्ण व्यवस्था और उस पर आक्षेप, मनु और मांस, श्रीमद् भगवद् गीता समपण भाष्य, श्री प० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश द्वारा सकलित प इतजो के कारावास मे दिए गए प्रवचनो का सग्रह 'वैदिक अग्नि प्रकाश' नाम म किया है। सुर और असुर, भारतीय लोक सघ की स्थापना क्यो? ससार का पुनर्निर्माण, हिन्दू समाज मत चूक आदि इनके चालीस के लगभग प्रकाशित ग्रथ हैं। 'हिन्दू समाज मत चूक हिन्दुओं के लिए मार्गदर्शन का काम करेगी।

विद्यामार्तण्ड श्री प० बुद्धदेव जी विद्यालकार के आदर्श महर्षि दयानन्द थे और आर्य समाज के लिए वे अपना तन, मन, धन समर्पित करने को सदा उद्यत रहते थे। उत्तर व दक्षिण भारत की आर्य समाजो में सर्वत्र उच्चकोटि के वक्ता, शास्त्रार्थ महारथी, गुरुकुल कागडी के आचार्य प्रगल्भ लेखक और अनुपम विद्वान् श्री बुद्धदेव जी के प्रति मैं अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हू और उनके कार्यो को पूरा करने का आर्यजनो से आह्वान भी।

हरिजन पुरोहितों की नियुक्ति

आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने गुण-कर्म स्वभावानुसार वर्णों का चयन करना स्वीकार किया है। इस प्रकार आर्य समाज की वेदी से पौरोहित्य पद पर विद्वत्ता की कीमत गुण-कर्म-स्वभाव से नियुक्ति की मान्यता देती है। दिल्ली मे दो सौ पचास आर्य समाजें हैं जहा पर सस्कारो की पूर्ति हेतु इतने ही व्यक्ति पौरोहित्य का कार्य करते हैं। जिसमे जाति-पाति का कोई भेद नहीं है। सस्कारो मे या प्रवचनो मे जाने पर यह कोई नही पूछता कि आप किस वर्ण के है। आप पाडित्य कम करते हैं इतनी जानकारी पर्याप्त है। मैं समझता हू कि शायद दो सौ पचास मे ५० के करीब जन्मना ब्राह्मण होगे। शेष इतर जन्म जात से विद्वानो की सख्या है। वह विद्वान आर्यसमाज की वेदी के अतिरिक्त जब वह अपने परिवार या बिरादरी मे जाते हैं तब जन्मना वर्ण व्यवस्था के अनुसार ही कार्य करते हैं। इस बात का सभी जातीय बिरादरी के लोगो को ज्ञान है परन्तु फिर भी कोई आपत्ति नही करता है और पौरोहित्य-पाण्डित्य का कम योग्यता के मापदण्ड से कराया जाता है।

अभी बिहार राज्य की सरकार ने ४ शकराचार्यों की गद्दी पर चार दावेदार घोषित किए है। इस प्रकार न तो वह गद्दीधर बन सकेंगे और न वह कर्मकाण्ड के अधिकारी हो बन सकेगे। सर्व प्रथम उन्हे कर्म काण्ड कराने की विधि बताई जाय और फिर जो भी उनसे सस्कार कराए उनकी गणना कर हरिजन पडितो से सस्कार कराए।

शकर की गद्दी के दावेदार न बनाकर और चार गद्दी शकर के नाम पर बनाई जाए। तब उस पर वह तथाकथित आचार्य बठाकर शकर के नाम पर न सही जिसके नाम पर गद्दी बनाई जाय उसके नाम का उद्घोष किया जाय।

आज का शकर भीमराव अम्बेडकर या रामविलास पासवान या विश्वनाथ प्रतापसिंह कोई भी बन सकता है। केवल समाज मे जातीय विद्वेष की भावना पैदा कर विष के बीज बोए जा रहे है। जन्मना व कर्मणा वर्ण व्यवस्था से मतलब नही है?

वर्तमान और भविष्य

आकाश की बुलन्दी पर चमकते नक्षत्र न धरती के कणो को घृणा की दृष्टि से देख कहा तुम्हारा अस्तित्व कितना नगण्य है अ धकार मे विलीन तुच्छता की पराकाष्ट है। मुझ देखो देवो के लोक मे जगमगा रहा हू। क्या तुम्हें अपने अस्तित्व पर ग्लानि नही होती ?

धरती पर पडे अन्धकार म विलीन एक कण न कहा मित्र ! इतनी गर्वोक्ति से काम न लो थोडी प्रतीक्षा करो। हमारी तपस्या को तुच्छता मत गिनो। कुछ ही काल पश्चात हमारा तप पूव से प्रकाश के पु ज रूप स उभरेगा जिसके प्रकाश की तीव्रता को तुम सहन न कर सकोगे और ससार की दृष्टि से ओझल हो जाओगे। वह प्रकाश पु ज धरती और आकाश को जगमगा देगा तब धरती पर सोना बरस जाएगा और तुम्हारी दृष्टि मे तुच्छ लगने वाले कण चमक उठे। मित्रवर ! तुम्हारा वर्तमान विलासमय है और भविष्य अन्धकार युक्त हमारा वर्तमान तपोमय है और भविष्य जाज्वल्यमान। बस इतना अन्तर है।

पुरोहित की आवश्यकता

आय समाज बी०एन० पूर्वी शालीमारबाग दिल्ली ५२ के लिए एक सुयोग्य पुरोहित की आवश्यकता है जो दैनिक यज्ञ वैदिक सस्कार कथा आदि कराने में दक्ष हो। निशुल्क निवास सुविधा उपलब्ध है। इच्छुक सज्जन आवेदन शीघ्र भेंजे एव सम्पर्क करें।

भूदेव शर्मा मन्त्री

आर्य समाज बी० एन० पूर्वी शालीमार बाग दिल्ली ५२

दूरभाष ७२२३६८७ प० परमान द नागर प्रधान

आयसन्वेश–दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R N No 32387/77 Posted at N D P S O on 28 29 1 1993 Licence to post without p epayment, Licence No U (C) 139/९२
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९२ पूर्व मुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू (सी०) १३९,९२
साप्ताहिक 'आर्यसन्देश" ३१ जनवरी, १९९३

चुनाव समाचार

आर्य समाज मन्दिर, केशवपुरम नई दिल्ली

प्रधान—श्री मनवीर सिंह राणा मन्त्री श्री अशोक कमार गग तथा कोषाध्यक्ष—श्री राम आर्य

आर्यसमाज तिजारा जिला अलवर —प्रधान श्री दयाराम आय म त्री श्री विशनदास एवं कोषाध्यक्ष श्री दुर्गाप्रसाद।

आर्यसमाज पखारोड सी ब्लाक जनकपुरी नई दिल्ली ५८ वार्षिक निर्वाचन
प्रधान डा० शिवकुमार शास्त्री मन्त्री श्री सत्यप्रकाश आय
कोषाध्यक्ष-श्री हरिकिशन लाल गुलाटी।

आर्यसमाज दीवान हाल दिल्ली ६ वार्षिक निर्वाचन प्रधान श्री मूलचन्द गुप्त मन्त्री-श्री सूर्यदेव कोषाध्यक्ष श्री ज्ञान स्वरूप।

सावदेशिक आय वीर दल चौगामा क्षेत्र पलडी (मेरठ) २५०६२२ उ०प्र०—जिला स्तरीय मन्त्री-श्री रामगोपाल आय सचालक श्री धमवीर शबगा उपसचालक-श्री हरपाल सिंह निरपुडा चौगामा क्षत्र, ब्रिमेश कुमार टटीरी बागपत क्षेत्र) उपमन्त्री श्री मनोज कुमार टटीरी, सजीव कुमार शबगा कोषाध्यक्ष-श्री देवेन्द्र शर्मा टटीरी प्रवीण आय टटीरी

प० इन्द्र विद्यावाचस्पति रचनावली के प्रकाशन की योजना

महोदय,

हम प० इन्द्र विद्यावाचस्पति की सम्पूर्ण पुस्तको तथा अन्य साहित्यिक कृतित्व का सकलन तथा प्रकाशन कर रहे हैं। इसके लिए हम आर्य समाज तथा हिन्दी प्रेमियो की सहायता चाहते हैं। हमारा उनसे आग्रह है कि उनके पास प० इन्द्र विद्यावाचस्पति की जो पुस्तके हैं, वे कृपया उनकी सूची अधोलिखित पते पर भेजने का कष्ट करें। इस सूचना के बाद हम उन्हे लिखेंगे कि हमे उनसे कौनसी पुस्तक मगानी है। उसके बाद हम उनके द्वारा भेजी गई पुस्तकको फोटो कापी कराकर उन्हें लौटा देंगे।

हमे विश्वास है कि हमारे पाठक इस महत् कार्य मे हमारी सहायता करेगे।

पता – डा० धर्मपाल, डा० कमल किशोर गोयनकर
१५, हनुमान रोड दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली-११०००१

नि शुल्क योग चिकित्सा शिविर

प्रतिदिन प्रात ७ से ८ बजे दिनाक १४ १-९३ से २५ १-९३ तक सरल योग क्रियाओ द्वारा मानसिक एव शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए स्वय पधारे तथा समस्त पारिवारिक जनो को भी इसकी सूचना देकर लाभान्वित करें।

इस योग चिकित्सा शिविर का सचालन श्री ओ० एस० वर्मा डायरेक्टर योग कन्सिलटैन्सी सर्विस पिलानी (राजस्थान) करेंगे।

कैप्टिन देवरत्न आर्य (प्रधान) नरेन्द्र अम्बालाल पटेल (महामन्त्री)
आय समाज मन्दिर सान्ताक्रुज (प०) विठ्ठलभाई पटेल मार्ग,
बम्बई-५४, फोन ६४८२८००

सेवा मे—

श्री पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगड़ा विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सावदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ म मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली ११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल १०२४/१–९२

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अक १८ १६ रविवार, ५ १४ फरवरी १९९३ विक्रमी सम्वत् २०४९ दयानन्दाब्द १६८ सृष्टि सम्बत १९७२९४९०९३
मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

आर्यसमाज सरोजिनी नगर का ४२वां वार्षिकोत्सव

अमर बलिदानी हकीकतराय ने एक नया इतिहास रचा था

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

नई दिल्ली, ७ फरवरी। आज से लगभग २२५ वर्ष पूर्व सियालकोट मे एक १२ वर्ष के बच्चे हकीकतराय ने अपना बलिदान देकर एक नया इतिहास रचा था। धन्य हैं, वे माता-पिता जिन्होने धर्म पर प्राण न्यौछावर करने वाले ऐसे अमर बलिदानी को जन्म दिया था। ये उद्गार स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने आज आर्यसमाज सरोजिनी नगर के ४२ वें वार्षिकोत्सव पर आयोजित राष्ट्रीय चेतना सम्मेलन मे व्यक्त किये। इस अवसर पर अखिल भारतीय हकीकत राय सेवा समिति के तत्वावधान मे वसन्तोत्सव एव धर्मवीर हकीकतराय बलिदान दिवस समारोह भी आयोजित किया गया। सम्मेलन की अध्यक्षता दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा के प्रधान श्री कृष्णलाल सिक्का ने की।

स्वामी आनन्दोध सरस्वती ने आगे कहा कि सन् १९८६ मे कश्मीर में १०५ मन्दिर तोडे गये थे। वहा से भागकर आये कश्मीरी पंडितो को लेकर हम श्री माखनलाल फोतेदार से मिले थे। कश्मीर जाकर हमने ध्वस्त मन्दिरो के चित्र लिए थे जो आज भी सभा मे हैं। जब हम टूटे हुये मन्दिरो के चित्र लेकर पूर्व प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाधी से मिले तो उन्होने दस करोड रुपये मन्दिरो के पुनिर्माण के लिए आवंटित किये थे। इस प्रकार टूटे मन्दिरो का निर्माण हुआ था। स्वामी जी ने बताया कि वे उन दिनो जम्मू व कश्मीर के तत्कालीन राज्यपाल श्री जगमोहन से भी मिले थे।

स्वामी जी ने आगे कहा कि आज परिस्थिति अजीब है। ६ दिसम्बर की घटना के बाद देश मे हिन्दुओ के ३५० मन्दिर तोडे जा चुके हैं। हरियाणा का मेवात मिनी पाकिस्तान बन रहा है। मैंने स्वय दौरा कर देखा कि वहा दगाईयो से २४ मन्दिर तोडे हैं परन्तु देश मे टूटे इन मन्दिरो के लिए क्या किया गया है। (उल्लेखनीय है कि पुन्हाना मे आर्यसमाज और उसके प्राचीन पुस्तकालय को जलाकर दस लाख का नुकसान किया गया, इसी मे आर्य वेद प्रचार मडल मेवात का कार्यालय भी था। स्वामी जी दौरे के बाद दगाईयो की माग की, मन्दिरो के पुर्निर्माण करने एव पीड़ितो को तुरन्त मुआवजा देने की भी माग की थी।)

स्वामी जी ने हिन्दुओ की घटती हुई जनसख्या पर भी चिन्ता व्यक्त की। उन्होने कहा कि आज मुसलमानो व ईसाईयो की जनसख्या निरन्तर बढ रही है। स्वामी जी ने बताया कि महर्षि दयानन्द ने इसके लिए शुद्धि का चक्र चलाया था। महर्षि दयानन्द ने देहरादून मे 'अल्हा रक्खा' नामक मुसलमान के शुद्धकर उसका नाम अलखधारी रखा था और इस प्रकार ऋषि दयानन्द ने भारत की राष्ट्रीयता मे एक नया अध्याय जोड़ा था।

स्वामी जी ने कहा कि आर्यसमाज व आर्यसमाज के सेवको ने हिन्दू जाति की रक्षा के लिए सदैव आगे बढ़कर अद्वितीय कार्य किये हैं। उन्होने आशा व्यक्त की कि अमर बलिदानी हकीकतराय के बलिदान से बच्चे प्रेरणा लेंगे।

कार्यक्रम मे रतनचन्द आर्य पब्लिक स्कूल सरोजिनी नगर के नन्हे बच्चो ने बाल हकीकत राय नाटिका प्रस्तुत की। विवेक विहार कक्षा ४ के छात्र आशीष कौशिक ने हकीकत राय के बारे मे अपने विचार प्रस्तुत कर श्रोताओ को मन्त्र मुग्ध कर दिया। हकीकत राय पर सुश्री सुषमा शर्मा की कविता को भी सराहया गया। बच्चो ने अनेक सास्कृतिक कार्यक्रम भी पेश किये जिन्हें स्कूल की प्रिंसपिल श्रीमती अनिता कपिला व सहयोगी अध्यापिकाओ से तैयार कराया था।

कार्यक्रम के मुख्य अतिथि श्री केदारनाथ साहनी ने भाषण व कविता प्रतियोगता के विजेता बच्चो को पुरस्कृत किया।

श्री साहनी ने अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि जो जाति, समाज व देश अपने बलिदानियो को भूल जाते हैं, इतिहास उन्हें कभी क्षमा नहीं करता। आज यदि देश की आत्मा को जिन्दा रखना है तो हमे वीर बलिदानी हकीकत से प्रेरणा लेनी चाहिए। उन्होने कहा कि चादनी चौक मे शिव मन्दिर के बारे मे लगायी गयी पाबन्दी को हटवाने के लिए आर्य समाजियो ने आगे बढ कर जोरदार काम किया था।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा में महामन्त्री डा० धमपाल ने कहा कि हम सभी वीर हकीकत का नाटक देखकर रोमाचित हो गये। हकीकत ने सिर कटा दिया पर सिर झुकाया नही परन्तु आज अनेक लोग थोडे से लोभ के कारण अपना धर्म परिवतन कर विधर्मी हो रहे हैं। गिरिाचल मे अनेक ईसाई बन रहे हैं। आर्यसमाज ने राष्ट्र की अखण्डना के लिए धर्म परिवतन के इस खतरे का आगे बढकर सामना किया है। उडीसा, झाबुआ, मीनाक्षी पुरम आदि अनेक स्थानो पर आयसमाज ने हजारो लोगो को शुद्ध कर पुन वैदिक धर्म मे दीक्षत किया है। डा० धमपाल ने कहा कि हमे आदिवासियो की निर्धनता कम करने के लिए और कार्य करने चाहिए ताकि के गरीबी के कारण वे धर्म परिवतन न करे।

सासद श्री बी० एल० शर्मा 'प्रेम ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि ऋषि दयानन्द न हमे बलिदान का सन्देश दिया था और त्याग व बलिदान आर्य समाजियो के सस्कारो मे विद्यमान है। वीर हकीकत व अनेक बलिदानियो के बलिदान से आने वाली पीढियो प्रेरणा लेती रहेगी। इस अवसर पर श्री प्रेमचन्द श्रीधर, श्री विश्वमित्र मेधावी विद्यावागीश एव पूर्व महानगर पार्षद श्री रामभज ने भी अमर बलिदानी श्री हकीकत के बलिदान से प्रेरणा लेने का आह्वान किया।

इससे पूर्व प्रात राष्ट्र चेतना यज्ञ आयोजन किया गया एव श्री गुलाबसिंह राघव के मनोहर भजन हुये। दिल्ली आर्य प्रान्तीय महिला सभा की प्रधाना श्रीमती शकुन्तला आर्या, अखिल भारतीय सेवा समिति के अध्यक्ष श्री रतन लाल सहदेव, मन्त्री श्री रोशन लाल गुप्ता, सरोजिनी नगर समाज के प्रधान श्री तिलकराज चोपडा दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा के सगठन मन्त्री श्री आय मित्र समाज आदि ने अतिथियो का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। कार्यक्रम का सचालन द० दि० वेद प्रचार सभा के मन्त्री श्री पुरुषोत्तम लाल गुप्ता ने किया।

उल्लेखनीय है कि ६ फरवरी को समाज मन्दिर मे अखिल भारतीय हकीकत राय सेवा समिति के अध्यक्ष श्री रतन लाल सहदेव की अध्यक्षता मे धर्मवीर हकीकत राय पर कविता व भाषण प्रतियोगताओ मे बच्चो ने उत्साहपूवक भाग लिया।

आनन्द स्रोत बह रहा, तू क्यों उदास है ?

चमनलाल

प्राय सुनने मे आता है 'नानक दुखिया सब ससार"। यदि हम विचार-पूर्वक देखे तो गुरुनानकदेव की यह उक्ति सर्वथा सत्य ही है कि सारा ससार दुख और शोक से ग्रस्त है। आप किसी म मिलें चाहे प्रात काल सैर को जाते हुए बाग मे, या कही बाजार मे या सडक पर, सभी कुछ न कुछ अपने दुख-दर्द की बात कहे बिना न रहेंगे। किसी भी नगर-ग्राम मे घर-परिवार मे कोई भी ऐसा नहीं मिलेगा जो कुछ न कुछ दुख की कहानी लिये न हो। किसी को नौकरी न मिलने का दुख, तो किसी को मन पसन्द रोजगार न मिलने का गम, किसी को दुकान पर छापा पडने का दुख, तो किसी अन्य को अपनी फैक्टरी मे आग लगने का दुख है। धनवान का दुख कुछ और है तो निर्धन का किसी और प्रकार का है। सब दुखी हैं। ससार की इस स्थिति को देखकर कपिल मुनि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रथ 'साख्य दर्शन' मे बडे ही सरल, परन्तु मार्मिक शब्दों मे इस भाव को यू व्यक्त किया है —

'कोऽपि कुत्रापि सुखीति न"।

इसी तत्व को महर्षि पतञ्जलि ने अपने सुविख्यात ग्रथ—'योग दर्शन' में ऐसे लिखा है—'परिणाम-ताप-सस्कारदुखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुखमेव सर्वं विवेकिन"। (२/२५) अर्थात् परिणाम, पाप, सस्कार और गुणवृत्ति विरोध इन चार कारणों से पता चलता है कि ससार में सब दुख ही दुख हैं, सुख कुछ भी नहीं।

जन्म-मृत्यु का चक्र

हमें यदि किसी भाग्यशाली परिवार मे किसी प्रकार का दुख नहीं दीख पडता, तो वह कम से कम अपने किसी सम्बन्धी की मृत्यु के कारण तो अवश्य दुखी होगा ही। क्योंकि प्रकृति का यह अटल नियम है कि "जो जन्मा है वह मरेगा अवश्य ही"। योगीराज श्री कृष्ण ने भी यही बात अर्जुन का मोह दूर करने हेतु गीता मे इस प्रकार कही है—

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च"। (गीता २/२७

यही नहीं, अथर्ववेद में तो स्पष्ट तौर पर लिखा मिलता है कि मृत्यु सब पर सवार है, इसके पाशो से कोई प्राणी बचा नही है —

'मृत्युरीशे द्विपदाम मृत्युरीशेचतुष्पदाम्।' अथर्ववेद ८/२/२३

आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस प्रकार अपनी बुद्धि और दूसरे का धन सबको अधिक प्रतीत होता है, ठीक इसी प्रकार प्रत्येक आदमी अपने को दूसरे से अधिक दुखी समझता है। कवि शिरोमणि रविन्द्रनाथ ठाकुर ने ससार की इस वास्तविकता का एक प्रसग मे बहुत ही सुन्दर शब्दो मे यू व्याक्त किया है —

"नदीर ए पार कहे कर या पुकार, जे सुख जगते शे शकल ओ पार।
ओ पार कहे छोडया दीर्घ श्वास सुखरे शकल खानी परे पार "

अर्थात् नदी का यह किनारा पुकार पुकार कर कहता है कि ससार मे जितना भी सुख है, वह सब का सब दूसरे किनारे पर है। मैं तो दुखी हू, सब सुख तो दूसरी ओर है, दूसरा किनारा भी लम्बी श्वास भर कर यही कहता है कि सब सुखो का भण्डारा तो पहले किनारे पर है मेरे पास तो कुछ भी नही। अत यहा तो प्रत्येक हृदय में दुख की ज्वाला है और प्रत्येक आख में आसू। इस भाव को बाबा फरीद ने यू व्यक्त किया है —

"फरीदा मैं तो जानिया, मैं दुखी सुखी सब जग्ग।
ऊचे चढ-चढ देखिया, तो घर-घर एहो अग्ग।"

विद्वानों का कथन और प्रत्येक मनुष्य का अनुभव भी यही है कि सब प्राणी दुख से घबराते हैं और सुख चाहते हैं —

"दुखादुद्विजते सर्वे सर्वस्य सुखमीप्सितम्"

हां यह बात अलग रही कि पुण्य के फल (सुख) को तो सब चाहते हैं परतु कोई भी पुण्य-धर्म का काम करना नहीं चाहता, जबकि पाप के फल (दुख) को कोई भी नही चाहता, तो भी लोग पाप करने से नहीं घबराते। महाभारत में कहा है —

फल धर्मस्य चेच्छन्ति, धर्म नेच्छन्ति-मानवा ।
फल पापस्य नेच्छन्ति, पाप कुर्वन्ति यलत ॥

परन्तु वास्तविकता तो यह है कि यहा घर-घर दुख व्यापने पर भी कोई भी ससार को छोडने को तैयार नहीं है। भला कौन आदमी दुख में रहना पसन्द करेगा? परन्तु कुछ है ऐसा ही। जर्जर शरीर वाली उस दुखी बुढिया की कहानी को कौन नही जानता, जो मल-मूत्र से लिप्त, भूखी-प्यासी, मक्खियो से सतायी जा रही, चिल्ला-चिल्ला मौत को बुला रही थी। यमराज ने उस बुढिया पर दया करके अपने दूतो को उसको लाने हेतु उसके पास भेज दिया, परन्तु जब यमदूतों को अपने पास देखा तो बोली —

"मैं तो मौत को मजाक मे बुला रही थी, भाग जाओ यहां से।'

जीने की अभिलाषा

महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र से यही तो कहा था कि जीवों मे जीने की आशा बडी बलवती है—"अहो महीयसी जन्तो जीविताशा बलीयसी।'

आचार्य कौटिल्य ने तो यहां तक कह दिया कि मनुष्य इन्द्रपद के बदले भी अपना शरीर त्यागना नही चाहता "देही देह त्यक्त्वा एन्द्रपदमपि न वाञ्छति।'

अत इसमे सिद्ध हुआ कि वास्तव में ससार में सुख की मात्रा दुख की अपेक्षा कही अधिक है इसीलिए तो इसको किसी भी प्रलोभनो के मिलने पर भी कोई भी छोडना नहीं चाहता। अधिकतर लोग जो सुख में विचरते हुए भी अपने को दुखी समझते हैं, यह उनकी मानसिक दुर्बलता के सिवा और कुछ भी नहीं।

इस अवस्था को देखकर कविवर प्रकाश ने बडे सुन्दर शब्दों में यू कहा है —

"आनन्द स्रोत बह रहा, पर तू उदास है।
अचरज है जल मे रहकर भी, मछली को प्यास है॥"

सभी जानते हैं कि मछली की जान पानी से है। इसके बिना यह जीवित नही रह सकती। परन्तु यदि मछली समुद्र के अथाह जल में रहकर भी प्यासी रहने की शिकायत करे तो इससे अधिक मूर्खता की बात और क्या होगी। बस, ठीक यही दशा इस उभय योनि (भोग योनि और कर्मयोनि) वाले प्राणी मनुष्य की है। जगत नियन्ता प्रभु ने इसकी तृप्ति के वास्ते क्या कुछ नही दे रखा है, परन्तु यह फिर भी दुखी, अशान्त चित और परेशान दिखाई देता है।

ईश्वर का यह काव्य

प्रभु बडे दयालु हैं। जस कोई भौतिक पिता अपने बच्चो का सदैव हित चाहता है, ठीक इसी प्रकार उस सर्वनियन्ता पिताओ के भी पिता ने उससे भी कही अधिक हमारे हितो को दृष्टि में रखकर इस दृश्यमान अद्भुत सृष्टि की रचना की है —

'पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति।'

यह सृष्टि प्रभु को काव्यपूर्ण रचना है। इस अद्भुत रचना को देखकर आज के बडे बड मनीषी वैज्ञानिक दग रह जाते हैं। मनुष्य की प्रत्येक इन्द्रिय की तृप्ति के लिए सभी प्रकार की सामग्री उपलब्ध है। षड्ऋतुओं का अपने-अपने समय पर आना जाना अचम्भे मे डाल रहा है सबको। बसन्त ऋतु आई है निकल गये आप प्रात भ्रमण के लिये, क्या सुन्दर दृश्य देखने को मिलता है बाग में कोयल अपनी मधुर, सुरीली मीठी वाणी से राग अलाप रही है तो चिड़ियाँ चहचहा रही हैं वृक्षों के हिलते हुए हरे-हरे कोमल पत्ते मानो कोई हाथ हिला कर आपको बुला रही हैं। मनोहर समीर लताओं की कोमल नन्हीं-नन्हीं पत्तियों से होती हुई जब आपके शरीर को छूती है तो सचमुच एक विचित्र प्रकार आनन्द की अनुभूति होती है। आखों की तृप्ति के लिए तो मानो परमात्मा ने साधनों के भण्डार खोल दिये हो। बागों में नाना प्रकार के सुन्दर रग-बिरंगे फूल, भांति-भांति के जीव-जन्तु और समुद्र की रगीन मछलियों के परिवार तथा अन्य पौधे जैसे दिखाई देने वाले अनेक जीव-जन्तु आखों को कैसे सुन्दर लगते हैं। इसी प्रकार नासिका, जिह्वा आदि दूसरी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए भी इस सुन्दर सृष्टि की रचना करके हमारे ऊपर कितना महान् उपकार किया है। यही नहीं, प्रभु ने तो इस जीव हित के लिए अपना सब कुछ आहुत कर दिया है, इसी लिए तो शास्त्रों,

शेष पृष्ठ ४ पर)

महर्षि दयानन्द सरस्वती



महापुरुष वे होते हैं, जो युग को नया सदेश और प्रगति के लिए नये मार्ग बताते हैं या किसी क्षेत्र में नये आविष्कार करते हैं। उन्नीसवी सदी का पदार्पण भारत के इतिहास का स्वर्ण प्रभात है। कई पावन चरित्र महापुरुष अलग-अलग उत्तरदायित्व लेकर इस पुण्य भूमि में अवतरण होते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती भी ऐसे ही एक महाप्रतिमा-मण्डित महापुरुष हैं। चरित्र स्वास्थ्य, त्याग, ज्ञान और शिष्टता मे जो आदर्श महर्षि दयानन्द जी महाराज मे प्राप्त होते हैं उनका लेशमात्र भी अभारतीय पश्चिमी शिक्षा सम्भूत नही है। फिर भी ऐसे आर्य ज्ञान तथा कर्म का कितना प्रसार रह सकता है, वह स्वय इसके उदाहरण हैं। कुछ लोग यह कहते हैं वैदिक तथा प्राचीन शिक्षा द्वारा मनुष्य उतना उन्नत मन, मस्तिष्क वाला नही हो सकता, जितना अग्रजी शिक्षा द्वारा होता है। परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व एव कृतित्व का जब हम आकलन करते है तो यह सिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती का चिंतन महान था। वे एक महान मनुष्य थे। वे वैदिक ज्ञान को मनुष्य के उत्कर्ष मे प्रत्यक्ष उपलब्धि थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज को स्थापना की। मानो उन्होने नये जीवन की प्रतिष्ठा कर दी हो। देश मे महिलाओ, पतितो तथा जाति-पाति के भेदभाव को मिटाने के लिए उन्होने जो कार्य किया वह दिव्य है। ऋषि द्वारा सस्थापित आर्य समाज ने अनेक दिशाओ में कार्य किया। राष्ट्रभाषा हिन्दी के भी स्वामी जी प्रवत्तक हैं। गुरुकुल शिक्षा पद्धति का प्रवत्तन भी उनके समय मे ही हो गया था। किसी दूसरे प्रतिभाशाली पुरुष मे और जो कुछ उपकार देश तथा जाति का हुआ हो पर ऋषिवर का उपकार सदैव स्मर्णीय रहेगा। सबसे पहले वेदो को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ही हमारे सामने रखा। इस बात पर गर्व करते हैं कि हम ऋषि सन्तान है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की मान्यता थी कि विभिन्न मतो का प्रचलन हमारे देश के पतन का कारण है। उन्होने भारतवर्ष को भिन्न भिन्न मतवाद के अज्ञान कीचड में से निकालकर वैदिक विचारधारा का प्रारम्भ किया। उन्होने वाममार्गियो को आडे हाथो लिया। यहा तक कि रामानुजाचार्य जैसे मान्य धर्माचार्य को भी उन्होने ललकारा। मूर्तिपूजा का उन्होने सशक्त विरोध किया। जैनियो तान्त्रिको तथा वैष्णवो के शख, घन्टा घडियाल का विरोध करके उन्होने सही मार्ग प्रशस्त किया। अवतारवाद मे वह विश्वास नही करते। उन्होने वेदो से उदाहरण लेकर कहा कि परमात्मा की प्रतिमा नही हो सकती। वे कहते हैं किसी भी शास्त्र मे ब्रह्म का विग्रह सिद्ध नही होता। ब्राह्मणो की ठग विद्या की उन्होने आलोचना की। उन्होने शैव शाक्त और वैष्णव के साथ साथ कबीर दादू को भी फटकारा है। उनका कहना है कि जो पाषाण को छोडकर पलग, गद्दी तकिया, खडाऊ और दीप की पूजा करते हैं वह भी उचित नही है। उन्होने मुसलमान सिखो तथा ईसाईयो की कमियो को तो सामने रखा ही साथ हा अपनो की कमियो को भी प्रस्तुत करने मे कमी नही रखी

स्वामी जी के व्यग्य बडे उपदेशपूर्ण हैं। आर्य सस्कृति के लिए उन्होंने निस्सहाय होकर भी विजयघोष किया और साथ ही उसकी सम्यक प्रतिष्ठा की। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अमर ग्रथ सत्यार्थ प्रकाश मे विभिन्न विषयो पर अपने विचार व्यक्त किये। उन्होंने इसकी भूमिका मे ही लिख दिया—मेरा इस ग्रथ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्यासत्य के अर्थ का प्रकाश करना है और जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वास्तव मे महर्षि दयानन्द ऐसे महापुरुष थे जिन्होने कभी किसी का पक्षपात नही किया। वे सारे विश्व को उसी मार्ग पर ले जाना चाहते थे जिसमे मानव मात्र का सुख व कल्याण निहित है।

इस वर्ष महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्मदिवस समारोह दिल्ली के ताल कटोरा इन्डौर स्टेडियम में १६ फरवरी १९९३ को सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता में मनाया जा रहा है। ऐसे ही समारोह विश्व के विभिन्न कोनो मे मनाये जायेगे। आओ—हम प्रण करें कि—महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यो और सिद्धान्तो का प्रचार प्रसार करने मे सलग्न हो जाये। जब हम यह काम कर सकगे तभी हमारा ऋषिवर के जन्म-दिवस समारोह को आयोजित करना सार्थक होगा।

—डा० धर्मपाल

सम्पादक के नाम पत्र

सराहनीय प्रयास पर हार्दिक बधाई

आर्य सन्देश का महर्षि दयानन्द निर्वाण दिवस एव प० नाथूराम शकर शर्मा का सयुक्ताक बहुत ही पसन्द आया। महाकवि शकर पर दुर्लभ लेख उनका काव्य चेतना पर विद्वान लेखको के लेख जहा उनके व्यक्तित्व व कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डालता है वहा उनका काव्य आर्यों के मन-मस्तिष्क मे नव उत्साह का सचार करता है। यह सयुक्ताक एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है जो आर्य साहित्य मे बेजोड उपहार स्वरूप है। हिन्दी साहित्य मे भी आर्य समाज ने ऐसे अनमोल रत्न दिए जिनकी काव्य साधना से हम गौरवान्वित हो सकते हैं। आशा है भविष्य मे भी आर्य सन्देश प्रेरक ज्ञानवर्धक व आर्य सस्कृति का मार्ग दर्शन करने वाले अक प्रस्तुत करता रहेगा। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकारें।

नरेन्द्र अवस्थी प्रचारमन्त्री
दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा

संग्रहणीय-विशेषांक

आर्य सन्देश का महर्षि निर्वाण दिवस एव प० नाथूराम शकर शर्मा शकर सयुक्ताक प्राप्त हुआ वास्तव मे विशेषाक काफी सुन्दर एव आकर्षक निकला है। आपने इस अक मे महर्षि दयानन्द सरस्वती एव प० नाथूराम शकर शर्मा शकर' के विषय मे पाठको को ढेर सारी सामग्री दी है। आर्य सन्देश के विशेषाको की बडी धूम रहती है। यह भी अपनी उसी शान के अनुरूप निकला है। इस पत्रिका का आर्य जगत की तमाम पत्र-पत्रिकाओ मे अपना विशिष्ट स्थान है। अत पत्रिका का यह अक सभी दृष्टियो से उत्तम तथा सग्रहणीय रहा है। विशेषाक की सफलता के लिए बधाई।

रामकुमार आर्य
वाटर सप्लाई वर्क्स जोशी चौहान (सोनीपत) हरि०

उत्कृष्ट सम्पादकीय

मैं आपके आर्य सन्देश को नियमित रूप से पढता हू' प्रकाशित लेख सामग्री उच्चस्तरीय होती है। लेकिन मै सबसे पहले सम्पादकीय लेख पढ़ता हू। वास्तव मे अत्यन्त ज्ञान वर्धक होता है।

साप्ताहिक आर्य सन्देश की जितनी प्रशसा की जाए कम है सभी विशेषाक बडे आकर्षक रूप मे हाथ मे आते ही महापुरुषो के बारे मे पढने ही मन बडा प्रसन्नता से भर जाता है। आपने दीपावली पर आर्य सन्देश की सम्पादकीय जो सरदार वल्लभ भाई पटेल' की जीवन के अन्तिम वार्षिक उत्सव मे आर्य केन्द्रिय सभा का विवरण लिखा पढा आपने तो कमाल ही कर दिया। बधाई स्वीकारे वास्तव मे यह आपका एक अत्यन्त सराहनीय प्रयत्न है।

आर्य जगत व राष्ट्रहित मे आपके समर्पण भाव के प्रति मैं नतमस्तक हू। ईश्वर से आपकी आयु सतआयु करने की कामना करता हू। धन्यवाद

अशोक कुमार आर्य, प्रधान
आर्य बाल युवा मच पूर्वी दिल्ली बी-३/३० नन्द नगरी दिल्ली ९३

अनुपम विशेषांक

आर्य सन्देश का श्रद्धानन्द बलिदान दिवस एव स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती सयुक्ताक मिला। आदि से अन्त तक पढ़ गया। आप लोगो ने यह महिम ज्ञान यज्ञ किया है जो हमारे भविष्य की नीव को अपराजेय व अटूट बनायेगा। स्वामी समर्पणानन्द जी वस्तुत त्याग, शुचिता एव कर्मठता के जीवन्त स्वरूप थे।

यह अक वास्तव मे उनके महान व्यक्तित्व के प्रति लघुतम विनम्र श्राद्ध है सुन्दर आकर्षक साज सज्जा, शुद्ध मुद्रण व वर्तनी की एक भी त्रुटि नही—इस दृष्टि समग्र आर्य सामाजिक प्रकाशन मे आर्य सन्देश का यह अक अनुपम, निराला और स्पृहणीय सिद्ध हुआ। यदि स्वामी जी प्रकाशित कृतियो का उल्लेख कर दिया जाता तो सोने पर सुहागा सिद्ध होता।

भैरव दत्त शुक्ल, जावाल आश्रम पो० तिकुनिया उ०प्र०

वीर हकीकत से भारत मे भेजो हे जगदीश्वर बच्चे

भारत वीरो सुनो सुनाए, तुमको सच्ची एक कहानी,
नाम अमर कर गया जगत मे, वीर हकीकत वह बलिदानी ।

वीर हकीकत राय वास्तव, मे था बालक बडा निराला,
ईश्वर-भक्त, साहसी, निर्भय दयावान, योद्धा मतवाला ।

पिता भागमल का वह बेटा, माता कौरा ने था पाला,
बुद्धिवान, सत्य का पालक, सभी बालको मे था आला ।

राम, कृष्ण की वीर कथाए, उसको थी याद जुबानी,
नाम अमर कर गया जगत मे,वीर हकीकत वह बलिदानी।

मुसलमान बच्चो ने उस पर झूठा था आरोप लगाया,
करता है तौहीन खुदा की, मौलवियो को था बहकाया ।

कट्टर पथी मुल्लाओ को, तरस नहीं बालक पर आया,
मजहब की तौहीन समझकर, केस बना लाहौर पठाया ।

भारत मे थी सुनो, मोहम्मदशाह रंगीला की सुलतानी,
नाम अमर कर गया जगत मे, वीर हकीकत वह बलिदानी ।

कहने लगा नवाब काजियो से, सुन करके किस्सा सारा,
कान खोल कर सुनो हकीकत राय फैसला आज हमारा ।

मुसलमान बन जा, मै दूगा धन-दौलत का बडा सहारा,
सुख पाएगा अरे लगा दे, अल्लाह हो अकबर का नारा ।

मौज उडाएगा तू, तेरी हो जाएगी सफल जवानी,
नाम अमर कर गया जगत मे,वीर हकीकत वह बलिदानी।

वीर हकीकत बोला, 'वैदिक धर्म कभी मैं ना छोडूगा ,
है इस्लाम मूर्खों का मत, उससे ना नाता तोडूगा ।

"अमर आत्मा है, ओ पापी केवल" मानव तन है नश्वर,
"धर्म एक है सच्चा साथी', तेरा है अब ध्यान कहा पर ।

जग का स्वामी है जगदीश्वर, कहते हैं सब ज्ञानी ध्यानी,
नाम अमर कर गया जगत मे, वीर हकीकत वह बलिदान।

धन्य-धन्य उस वीर बाल को,नही मौत का भी भय खाया,
बसत पचमी के दिन निर्भय, धर्म की खातिर शीष कटाया।

वीर हकीकत से भारत मे, भेजो हे जगदीश्वर बच्चे,
ईश्वर विश्वासी, सतवादी, परोपकार मन के सच्चे ।

प्यारी भारत माता को दें, बना सकल जग की महारानी,
नाम अमरकर गया जगत मे वीरहकीकत वह बलिदानी ।

—प० नन्दलाल निर्भय सिद्धात शास्त्री, भजनोपदेशक
ग्राम व पोस्ट बहीन, जिला-फरीदाबाद (हरियाणा)

हिन्दु संगठनों पर प्रतिबन्ध अनुचित

प्रातीय आर्य महिला सभा की अध्यक्षा श्रीमती शकुन्तला आर्या ने आर्यसमाज लाजपत नगर मे दो दजन से अधिक धार्मिक एव सामाजिक महिला सगठनो की ओर से एक सभा मे कहा कि केन्द्रीय सरकार ने जिस ढग से राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, विश्व हिन्दू परिषद एव बजरग दल पर प्रतिबन्ध लगाया है, उससे ये स्पष्ट हो गया है कि सरकार अयोध्या के मसले को प्रजातात्रिक ढग से न सुलझा कर विघटनकारी तत्वो के दबाव मे आकर ८२ प्रतिशत हिन्दुओ की भावनाओ को उपेक्षित कर रही है । हिन्दू सगठनो को प्रतिबधित करने का सरकारी निर्णय दुर्भाग्यपूर्ण, अविवेकपूर्ण तथा मुस्लिम तुष्टिकरण का परिचायक है। श्रीमती आर्या ने प्रतिबन्ध आदेश को अनुचित ठहराते हुए कहा कि यदि विश्व हिन्दू परिषद, राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और बजरग दल को प्रतिबधित किया है तो मुस्लिम लीग को क्यो नहीं प्रतिबन्धित किया, जिसके विषवमन से पाकिस्तान बना ।

तू क्यों उदास है ?

(पृष्ठ २ का शेष)

में प्रभु को आहुत' कह कर पुकारा है । उसका सारा ऐश्वर्य इस शरीरधारी जीव मनुष्य के लिए ही तो है ।

अत सिद्ध हुआ प्रभु ने तो हमें यहा दुख भोगने के लिए नही भेजा है, अपितु उसने तो हमे यहा आनन्द आमोद-प्रमोद का जीवन बिताने और आनन्द से नाचते, हसते-व्यवहार करते आगे बढने के लिए भेजा है —

"प्राञ्चो अगाम नृतमे हसाय ।" अथर्ववेद १२/२/१
"अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शत हिमा सर्ववीरा मदेम ।"
अथर्ववेद १२/१/२८
"पिबन्तो मदिर मधु तत्र श्रवासि कृण्वते" सामवेद ३५६

ऐसा हर्षोल्लास का सौ वर्ष या इससे भी अधिक दीर्घ जीवन यापन के प्रभु ने हमारे कर्मानुसार यह सर्वश्रेष्ठ योनि मानव देह भी प्रदान की है ।

मानव जीवन अमूल्य

वास्तव मे यह 'मृण्मयम् गृहम्' (मिट्टी का बना घर) मानव देह कुछ साधारण सी वस्तु नही है । यह बडी मूल्यवान् ध्यान देने योग्य वस्तु है। हमारे धर्म ग्रन्थो में कही इसका निर्वचन, कही अपराजित, तो कहीं सर्वश्रेष्ठ योनि, और प्रभु की श्रेष्ठतम कृति, तो कहीं जीव का आधार और प्रभु मिलने का एकमात्र साधन इसको ही कहा गया है —

इम वपू निर्वचमम् । ऋग्वेद ५/४७/४
न मनुष्यात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित । महाभारत शान्तीपर्व
अय लोक प्रियतमो देवानामपराजित । अथर्ववेद ५/३०/१७

अत हमने देखा कि प्रभु ने इस ससार की रचना जीवहित के लिए की है और इसको सुख का धाम बनाया है न कि दुख का घर चारो ओर आनन्द ही आनन्द का मानो अपार सागर उमड रहा हो । साथ ही इसका आनन्द रसास्वादन करने हेतु प्रभु ने उसको अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानव देह भी प्रदान की है । हा, जीव की यह अपनी इच्छा है कि भोग की भावना से इसमे फस जायें और दुख उठाये, या इसका सार जानकर इसे अपवर्ग का साधन बना दे ।

एच-६४, अशोक बिहार, दिल्ली ५२

ईश्वर के नामों की पद्यमय व्याख्या (३)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

पाप पुण्य फल देत है, सत्य न्याय अनुरूप ।
नाम 'अयमा' ईश का, न्यायाधीश अनूप ।। ३४ ।।
सकल सुखो से युक्त है, परमानन्द अनन्त ।
"इन्द्र" उसे कहते सभी, योगी-मुनिवर-सन्त ।। ३५ ।।
नभ-ब्रह्माण्डो से बडा, प्रीतम पालनहार ।
तभी "बृहस्पति" नाम है, उसका बृहताकार ।। ३६ ।।
अचर और चर जगत मे, व्यापक जो सब ठौर ।
"विष्णु" ईश का नाम है, जपो शाम अरु भोर ।। ३७ ।।
अनन्त बल सामर्थ्य है, महापराक्रम युक्त ।
तभी 'उरुक्रम" नाम से, होता ईश प्रयुक्त ।। ३८ ।।
जो जड-चेतन सृष्टि का, प्राण-प्रकाशा धार ।
स्वत प्रकाशित ईश है, "सूय" ज्ञान-आगार ।। ३९ ।।
वह जड-चेतन जगत मे, सतत रहा है व्याप ।
सर्वोत्तम उत्कृष्ट है, अपना स्रष्टा आप ।। ४० ।।
जीव-प्रकृति-आकाश से, सूक्ष्मतर सर्वात्म ।
परमेश्वर का सार्थक, नाम अमर "परमात्म" ।। ४१ ।।
ईशो का भी ईश है, पूरी तरह समर्थ ।
अनुपम और अतुल्य है, "परमेश्वर' प्रभु-अर्थ ।। ४२ ।।

आत्मबोध का पर्व शिवरात्रि

डा० महेश विद्यालंकार

आर्य समाज के जन्म, निर्माण और इतिहास मे शिवरात्रि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसी पर्व पर आर्य समाज के उदय का बीजांकुर हुआ था। शिवरात्रि के मगल पावनपर्व पर ही पुण्यात्मा मूलशकर को कण-कण में व्याप्त शकर के वास्तविक मूल को जानने और पाने की प्रबल जिज्ञासा उठी थी। इसी दिन मूलशकर की प्रसुप्त चेतना उद्बुद्ध हुई थी। जीवन में भयकर झझावात आया था। विचारो में ऐसा तूफान उठा कि सब कुछ तोडता, छोडता, मोडता, दुनिया से अकेला, अलग जा खडा हुआ। बाद में वही पहचान दयानन्द बनी। वह देवपुरुष शिवरात्रि की रात जागने के बाद जीवन भर कभी नही सोया। उस महामानव के हृदय मे सत्य और असत्य को, धर्म और अधर्म को, जड और चेतन को, शिव और अशिव को जानने की प्रबल इच्छा थी। सच्चे शिव को जानने की उसी बलवती इच्छा से हृदय में सत्य ज्ञान का बोध हुआ। जीवन मे तप-त्याग तपस्या और सकल्प का सहारा लेकर घर से निकल पडा अनेक कष्ट-बाधाए-विरोध आए, पर वह महायोगी आगे ही बढता गया। जिसने ससार के इतिहास में जीवन्त-चेतना अध्याय जोडा। उसी ऋषिवर की ज्ञान-स्मृति और प्रेरणा का पर्व है शिवरात्रि।

पर्व जीवन मे प्रेरणा, चेतना, उत्साह, सकल्प श्रद्धा और नूतनता का सन्देश देने के लिए आते हैं। महापुरुषों के जीवन की आद्यन्त घटनाए ससार को प्रेरणा, उपदेश सन्देश और आदर्श प्रदान करती हैं। शिवरात्रि आत्मबोध और आत्म चिन्तन का पर्व है। हमने जीवन मे क्या पाया और क्या खोया है? हम किधर जा रहे हैं? हमारा लक्ष्य क्या है? कही हम ऐसे दुर्गुण, दुर्व्यसनों और कर्मो मे लिप्त तो नही हो रहे हैं? जिनसे मानवता का पद कलकित होता है? कही मेरे अन्तस मे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि शत्रु अन्दर ही अन्दर खोखला तो नही कर रहे हैं? कहीं मैं मात्र अपने लिए ही तो नहीं जी रहा हू? मैं आत्म कल्याण के लिए क्या कुछ पूजी एकत्र कर रहा हू, या कि व्यर्थ मे ही भोग-विलास तथा वासनाओं की पूर्ति में अमूल्य मानव जीवन व्यतीत किए जा रहा हू? मैं ससार मे किसलिए आया हू? मेरा क्या कर्त्तव्य है? कहा जाना है? क्या लेकर जाना है? किसके पास जाना है?

यही है आत्मबोध जीवन बोध, कर्त्तव्य बोध और दिशा बोध की धारा। भारतीय संस्कृति की मूल-चेतना में आत्मबोध का स्वर मुखर है। इसी कारण भोग के साथ योग, भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता शरीर के साथ आत्मा और प्रकृति के साथ परमात्मा को जानने का भाव जोडा गया। जिससे जीवन मे समरसता बनी रहे। जीवन मूल-उद्देश्य से भटके नही। आज जीवन और जगत के प्रति दृष्टिकोण मात्र भोगवादी और प्रकृतिवादी हो रहा है। उसी का परिणाम है कि सर्वत्र अशान्ति, कलह, रोग, शोक, असन्तोष मारकाट लडाई झगडे आदि हो रहे हैं। ये बढेंगे, घटेगे नही? क्योकि मानव मूल से तेजी से हट और कट रहा है।

इतिहास साक्षी है कि छोटी-छोटी बातो, घटनाओ और उपदेशो ने लोगो के जीवन बदल दिए। जीवन की दिशा ही बदल गई। जीवन का कायाकल्प हो गया। पतित जीवन से पवित्र जीवन बन गए, पापात्मा से पुण्यात्मा हो गए। भोगी विलासी दुर्व्यसनी जीवन ने ऐसा काँटा बदला कि जीवन तपस्वी, त्यागी, परोपकारी और धर्मात्मा बन गया। नास्तिक से आस्तिक बन गए। एक वाक्य ने कीचड में फसे हीरे को अपनी पहिचान करा दी। ये सब जब होता है जब अन्दर में ज्ञान विवेक और श्रद्धा की त्रिवेणी बह रही हो। हृदय सत्य धर्म को जानने के लिए लालायित हो। आत्मबोध जागा हुआ हो। आत्म चेतना की पकड गहरी, मजबूत और पक्की हो। सकल्प मे तीव्रता, आतुरता तथा वेदना भरी हो। अन्दर से जागे हुए हो। आज हम सब अन्दर से सोते जा रहे हैं? बाहर से जाग रहे हैं? पर्व आते हैं। उत्सव, वेद कथाए, जलसे, जलूस और सम्मेलन होते है और चले जाते हैं! किन्तु हमारे जीवन में कहीं भी आत्म चिन्तन, आत्म सुधार आत्म कल्याण आदि का भाव नही जगता है? दुर्गुण, दुर्व्यसन तथा बुराईयों से टूटने की ललक, बेचैनी एव वेदना नजर नही आती है। बाहर की दुनिया में खूब धूमधाम टीमटाम व प्रदर्शन हो रहे हैं। अन्दर की दुनिया सोई और खोई पडी है। आवश्यकता है अन्दर की ओर देखने की। अन्दर छिपे हुए सुख-शान्ति एव आनन्द के स्रोत तक पहुचने की। तभी जीवन यात्रा सार्थक बन सकेगी।

शिवरात्रि आत्म-ज्ञान का पर्व है। सत्य की खोज करने का पर्व है। आत्म चेतना को जाग्रत करने का उत्सव है। आत्मानुभूति को जाग्रत करने का अवसर है।

शिवरात्रि श्रेष्ठ सकल्पो और व्रतो को दुहराने का त्यौहार है। जीवन में कुछ करने और आगे बढने की निरीक्षण वेला है। सच्चे शिव के साथ अपने को जोडने का पावन सन्देश लेकर आती है हर वर्ष शिवरात्रि। महर्षि के जीवन मे शिवरात्रि की रात सत्य की खोज और जीवन परिवर्तन का कारण बनकर आई थी। इससे पूर्व जितनी शिवरात्रिया आई होंगी? आज भी आ रही हैं? कहीं कोई परिवर्तन और सत्यबोध नजर नहीं आ रहा है? उस महापुरुष ने ससार को असत्य से सत्य की ओर, अधर्म से धर्म की ओर, पाप से पुण्य की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर आगे का मार्ग दिखाया। वे मनु के इस कथन को साकार करना चाहते थे—

> एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
> स्व स्व चरित्र शिक्षरेन् पृथिव्या सर्वमानवा ।।

समग्र वसुधा के लोगो! भारत भूमि की शरण में आओ! यहा से जीवन और चरित्र के लिए उन्नत शिक्षा एव आदर्श ग्रहण करो। इसी में तुम्हारा कल्याण सम्भव है।

आज आर्य समाज को आवश्यकता है—आत्मशुद्धि आत्म निरीक्षण और आत्म विश्लेषण की। मन, वचन और कर्म मे आई हुई अपवित्रता असहिष्णुता, अध्यात्मिकता तथा नास्तिकता आदि दुगुणो को दूर करने की। सभा-सगठनों सस्थाओं तथा समाज मन्दिरो मे व्याप्त परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, असहयोग, स्वार्थ, पदलोलुपता आदि बुराईयो को दूर करने की। ऋषि ने जो वेद प्रतिपादित विचारो की मशाल जलाई थी, उन विचारो के प्रचार-प्रसार की आज महती आवश्यकता है। आर्य समाज का चिन्तन विचार प्रधान है। यह सगठन ससार को विचार देता है किन्तु पीडा तो यह है कि आज हम स्वय विचार ज्ञान और कर्त्तव्य भावना शून्य होते जाते रहे हैं। जिस उद्देश्य, भावना और कर्त्तव्य के लिए उस महापुरुष ने आर्य समाज बनाया था, वह हमारी आखो से ओझल हो रहा है। हम औरो की तरह ईट, पत्थर भवन पैसा, फिक्स डिपोजिट चुनाव पद अहकार आदि मे फसते जा रहे हैं। मूल टूट रहा है। आज हम दयानन्द के नाम को कैश करने मे अपनी शान समझ रहे है? उस महात्यागी तपस्वी महामानव ने अपने नाम, पद महत्व और स्वार्थ के लिए कभी कुछ नही किया। उन्हीं के अनुयायी आज किधर जा रहे हैं? यह इसके लिए चिन्तनीय और विचारणीय है।

शिवरात्रि का पर्व हमे जगाने के लिए आता है। ससार जड पूजा मे लिप्त, प्रगाढ निद्रा मे सो रहा है आर्यो! तुम स्वय जागो! दूसरो को ज्ञान विचारो से जगाओ। ऋषि ने हमारे हाथो मे प्रभु की पवित्र वाणी वेद ज्ञान की धरोहर सौंपी है। इस वेद ज्ञान के प्रकाश को घर घर तक पहुचाना है। यह तभी होगा, जब हम यह सकल्प लेगे—इद दयानन्दाय इद न मम्। यही ऋषि के ऋण से उऋण होने का सच्चा मार्ग है यही उनका तर्पण है। यही उनकी श्रद्धाजलि है। यही शिवरात्रि की प्रेरणा, भावना और सन्देश है कि उठो! जागो! अपने कर्त्तव्य का बोध करो। जड पूजा से चेतन पूजा की ओर बढो। ऋषि ने जो हमें चिन्तन विचार जीवन दर्शन, सत्य धर्म और कर्त्तव्य का बोध कराया, उसे बाटो, फैलाओ! आगे बढाओ! ससार विचारो से दरिद्र हो रहा है! विचारो की शून्यता से लोग जीवन और जगत को नरक बना रहे हैं। उन्हे विचारों की सजीवनी बूटी दे दो! वे जी उठेंगे। यही दयानन्द हमसे चाहते थे। यही शिवरात्रि हमे कह रही है? आर्यो! अब तो कुछ सोचो समझो और करो। क्या कर रहे हो? अपने धर्म-कर्म और उद्देश्य को पहिचानो! तभी कुछ बात बनेगी। तभी शिवरात्रि का आना सार्थक होगा।

आदर्श त्रैतवाद (१८)

राजसिंह भल्ला

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ।
एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति ।
यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥
छान्दो० ३-१४-४

वह मेरा आत्मा सर्व समर्थ है। पूर्ण काम है। सर्वगन्ध ज्ञानवान् है। सर्व रस ज्ञानवान् है सब इस शरीरको सुप्राप्त है, वाणी रहित है, किसी भोग के आदर से ऊपर है, पर पदार्थ की अपेक्षा नहीं करता तथा यह मेरे हृदय मे भीतर जो साक्षीरूप आत्मा है यह ब्रह्म है। मैं यहां से मर कर इसी को प्राप्त होऊंगा। जिस उपासक की आत्मा परमात्मा में ऐसी श्रद्धा हो सन्देह वा शंका न हो वह भी इसी ब्रह्म को प्राप्त होता यह शाण्डिल्य ऋषि ने कहा था। यह चिन्तन द्वारा स्व स्वरूप उपासना है। इससे आत्म सत्ता जग जाया करती है और जीवन सफल हो जाया करता है ऐसा महात्माओं का कथन है।

आत्मा निकाय, जरा रहित पाप व शोक रहित

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति । न वधेनास्य हन्यते । एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम् ।
अस्मिन् कामा समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको
विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः यथा ह्येवेह प्रजा अन्वा-
विशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं, यं क्षेत्रभागं
तं तमेवोप जीवन्ति ॥ छान्दो० ८-१-५

शरीर की जीर्णता से यह ब्रह्मपुर स्थित आत्मा नहीं जीर्ण होती। इस शरीर के वध से यह हनन नहीं किया जाता। यह आत्मा सच्चा ब्रह्मपुर है। इसमे ही मनोरथ भली प्रकार स्थित है। यह हृदय स्थित आत्मा निष्पाप है, जरा रहित है, मृत्यु रहित है, शोक रहित है, क्षुधा रहित है तृष्णा रहित है, सत्य इच्छा वाला है और सत्य संकल्पवान है। उसकी कामनाएं ऐसे पूर्ण होती हैं जैसे ही इस लोक मे प्रजाएं राजा के पीछे चलती है। राजा का जैसा आदेश हो प्रजा उसके अनुसार उस-उस आदेश को चाहने वाली हो जाती है जिस देश को जिस क्षेत्र भाग को राजा प्रदान करे उस उसका ही भोगती है।

जीवात्मा ज्ञान स्वरूप है

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते ज्ञानस्वरूपमवादी
ज्ञानं ज्ञेयैक साधनम् । योग तत्वो०

अज्ञान से संसार में प्रवृत्त होती है और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। यह जीवात्मा पहले ज्ञान स्वरूप ही है। इस ज्ञेय के लिए ज्ञान ही साधन बनता है। क्योकि इससे जीवात्मा की भ्रान्ति दूर होती है। यह ज्ञानी होते हुए भी अपने आपको अज्ञानी समझने लगा है। जब साधना के द्वारा आपको ज्ञान आता है तो सब क्लेश समाप्त हो जाते है।

आत्मा का निवास हृदय

द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सह स्थितौ ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥ अन्नपूर्णो० ४ ३२

मनुष्य के शरीर मे अत्यन्त शोभायमान जीवात्मा और ईश्वर हृदय प्रदेश मे साथ मिलकर विद्यमान हैं इन दोनो मे जीवात्मा ही कर्म फल का भोग करता है, ईश्वर नहीं। केवल साक्षी रूप होकर बिना किसी प्रकार के भोग के वह महेश्वर निवास करता है।

आत्मा अमृत है

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् । ओ३म् क्रतो स्मर
कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ ईशो० १७

ज्ञान, क्रियावान आत्मा

व्यष्टि रूप देहस्थ चेतन, अपार्थिव है—प्रकृति का विकार नहीं है, अमृत है, अविनाशी है तथा (इसको) यह भौतिक स्थूल शरीर भस्मान्त है। जीवनान्त मे आत्मा के निकल जाने पर, भस्म हो जाने वाला है। ऐसा निश्चय रख कर। हे कर्मशील मानव तू भगवान् का—ओ३म का स्मरण कर आत्म चिन्तन से जीवन को सफल बना और किये हुए कर्मों को स्मरण कर—अपने किये हुए कर्मों की आलोचना कर देहस्थ चेतन जीवात्मा जन्मान्तर में जाने वाला है। यह प्रकृति का विकार भी नहीं है किन्तु अविनाशी पदार्थ है। विनाश तो केवल देह का ही होता है वह भी अन्त में—जीवात्मा के निकल जाने पर। इसलिए ऐसे देह और आत्मा के विवेक से कर्मशील मानव को भगवान् की आराधना करनी चाहिए और अपने किये हुए कर्मों की आलोचना करनी चाहिए। ये दोनों साधन मानव जीवन को उन्नत करने के लिये बड़े उपयोगी हैं। ऐसा शास्त्रों का कहना है। अनुभव भी वही बताता है।

जीवात्मा अंगुष्ट मात्र रवि तुल्य

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकार समन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥ श्वेता० ५ ८

परमात्मा से अलग दूसरा भी जो आत्मा है वह अंगुष्टमात्र है—अंगो मे रहने वाला है सूर्य के समान रूपवान्-प्रकाशमान् है। संकल्प और अहंकार संयुक्त है। बुद्धि के गुण से ही वह सुई का नोक बराबर अत्यन्त सूक्ष्म देखा गया है। अनुभव किया गया जीवात्मा प्रकाशस्वरूप परम सूक्ष्म है।

जीव का परिमाण

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ श्वेता० ५-९

बाल की नोक के सौवें भाग का सौ प्रकार से टुकडे किये हुए का भाग जितना हो वह जीव का परिमाण जानना चाहिए वह अनन्त के लिये कल्पित किया जाता है। आत्मा का उक्त परिमाण सूक्ष्मता दर्शक है। वास्तव मे आत्मा परम सूक्ष्म है।

गुरुकुल गदपुरी (फरीदाबाद) वार्षिकोत्सव

श्रीमद् दयानन्द गुरुकुल विद्यापीठ गदपुरी तहसील पलवल जिला फरीदाबाद का ५६ वा वार्षिकोत्सव १२ १३ १४ माच १९९३ को मनाया जा रहा है। इस अवसर पर अथर्ववेद पारायण महायज्ञ सस्कृत भाषण प्रतियोगिता श्लोकोच्चारण प्रतियोगिता गौरक्षा, राष्ट्ररक्षा नशाबन्द सम्मेलन रख हैं।

५ मार्च से १४ माच तक पुरोहित प्रशिक्षण शिविर डा० धर्मदेव शर्मा शास्त्री के सानिध्य मे रखा गया है। उत्सव पर भारत के प्रसिद्ध आर्य विद्वान भजनोपदेशक, सन्यासी तथा समाज सेवक नेतागण पधारगे। अधिक सख्या मे उपस्थित होकर धर्म लाभ उठाए।

सधन्यवाद तेज० तेवातिया

ऋषि पर्व

नई दिल्ली आय समाज हनुमान रोड न० दि० मे १६ से १९ फरवरी तक ऋषि पर्व (महर्षि दयानन्द जन्मोत्सव से बोधोत्सव तक) धूमधाम से मनाया जा रहा है। प्रतिदिन प्रात डा० कणदेव के ब्रह्मत्व मे यजुर्वेद पारायण यज्ञ तथा रात्रि को डा० महेश विद्यालकार के विशेष प्रवचन होगे। सभी सादर आमान्त्रित हैं।

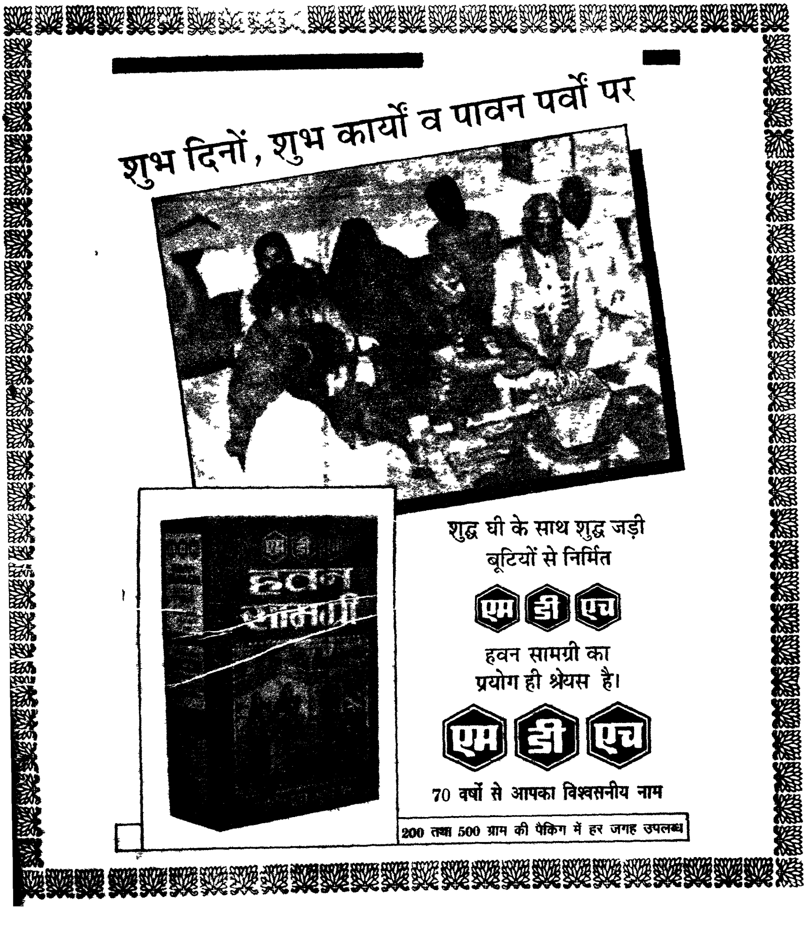
राममूर्ति कैला प्रधान वेदव्रत शर्मा मन्त्री

महर्षि दयानन्द जन्म दिवस

१६ फरवरी १९९३ तालकटोरा इन्दोर स्टेडियम नई दिल्ली मे स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता मे। मुख्य अतिथि आन्तिरिक गृह राज्य मन्त्री श्री राजेश पायलेट।

ऋषि बोधोत्सव

१९ फरवरी १९९३ को दिल्ली के फिरोजशाह कोटला मैदान में दक्षिण केसरी प० वन्देमातरम रामचन्द्रराव की अध्यक्षता मे होगा। मुख्य अतिथि हरियाणा के मुख्यमन्त्री चौधरी भजन लाल जी होगे। अ म और भी नेता पधारेंगे।



आर्यसन्देश—दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१
R. N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 11 12 2 1993 Licence to post w th ut t epa nent Licence No U (C) 13 /९२
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल ११०२४ ९२ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९२
व साप्ताहिक आर्यसन्देश' १४ फरवरी १९९३

आर्य आदर्श विद्यालय का १० वा वार्षिकोत्सव समारोह पूर्वक सम्पन्न

नई दिल्ली १७ जनवरा। आय आदश स्कूल आदश नगर दिल्ली का १०वा वार्षिकोत्सव शाह आडिटोरियम मे आज समारोहपूवक मनाया गया।

रग बिर गी पोशाको मे नन्हे मुन्नो ने गीत सगीत व नत्य के अनेक सुन्दर व आकर्षक सास्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत कर खचाखच भरे हाल मे हजारो दर्शक का मन मोह लिया।

मुख्याध्यापिका श्रीमती पुष्पलता मैन्दिकत्ता ने वार्षिक रिपोट पढते हुये बताया कि विज्ञान मेधावी छात्रवृति प्रतियोगिता मे सिखिल जोन मे इस स्कूल की ८२ मे से ७७ बच्चो को छात्रवृति प्रदान की गयी है यह हमारे लिए गोरव की बात है।

समारोह मे मुख्य अतिथि दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने ७७ छात्रवृति प्राप्तकर्त्ताओ को पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया। कार्यक्रम मे शिक्षा के क्षेत्र मे समर्पित सेवाओ के लिए सुश्री पुष्पलता मैन्दिकत्ता सुश्री आशा शर्मा सुश्री अ जु सक्सैना सुश्री उषा बत्रा एव निष्ठ वान प्रबन्धक श्री महावीर बत्रा को भी डा० धर्मपाल ने सम्मानित किया।

डा० धर्मपाल ने अपने उदगार व्यक्त करते हुये कहा कि शिक्षिकाओ ने अत्यन्त परिश्रम बच्चो को तैयार कर के कार्यक्रम प्रस्तुत कराये हैं सभी बधाई के पात्र हैं। आर्य समाज वास्तव मे एक रचनात्मक व क्रान्तिकारी आनन्दोलन है जैसा कि एक नाटिका मे दर्शाया गया है।

वार्षिकोत्सव एव यजुर्वेद पारायण महायज्ञ

धर्मप्रेमी बन्धुओ! आपके प्रिय गुरुकुल पूठ का वार्षिक उत्सव १९,२०,२१ माच १९९३ को समारोहपूवक मनाया जा रहा है। इस अवसर पर विभिन्न सम्मेलनो का आयोजन किया जा रहा है। देश के उच्चकोटि के विद्वान सन्यासी, नेता एव भजनोपदेशक पधार रहे हैं। आप सब भी बन्धु-बान्धवों एव इष्ट मित्रों सहित पधा कर अनुगृहीत करें।

निवेदक

सत्यानन्द आर्य (प्रधान) — धर्मपाल आचार्य (सचालक)
यशपाल सुधाशु (उपप्रधान) — डा० शिवकुमार शास्त्री (महामन्त्री)

गुरुकुल महाविद्यालय पूठ जि० गाजियाबाद (उ० प्र०)

आर्यसमाज मेस्टन रोड, कानपुर, उ प्र.

आर्यसमाज मेस्टन रोड कानपुर का ११३ वा वार्षिकोत्सव शिवरात्रि के पावन पव पर प्रतिवर्ष की भाति इस वर्ष भी १८ फरवरी से २२ फरवरी १९९३ तक आर्य समाज मन्दिर व श्रद्धानन्द पार्क मे समारोह पूर्वक मनाया जाना निश्चित हुआ है। शोभायात्रा नगर कीतन १८ फरवरी को तथा महर्षिबोधोत्सव-शुक्रवार, १९ फरवरी को मनाया जायेगा।

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी हरिद्वार की औषधियों का सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदरनाथ चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन ३२६१८७१

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिकप्रेस पटौदी हाऊस दरियागज नई दिल्ली ११०००२ मे मुदित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१ फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल १०२४/९-०९२

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक २०-२१ रविवार, ७ मार्च १९९३ विक्रमी सम्वत् २०४९ दयानन्दाब्द १६८ सृष्टि सम्वत १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

राजधानी मे ऋषिबोधोत्सव

आर्यसमाज ने अद्भुत कार्य किये पर राजनैतिक लाभ नहीं उठाया

चौधरी भजन लाल

नई दिल्ली १९ फरवरी। हरियाणा के मुख्यमन्त्री चौधरी भजन लाल ने कहा कि महान समाज सुधारक ने समाज मे व्याप्त छुआछूत जैसी कुरीतियो एव बुराइयो को दूर करने मे अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। श्री भजन लाल आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य द्वारा फिरोजशाह कोटला मैदान मे आयोजित ऋषि-बोधोत्सव के अवसर पर मुख्य अतिथि के रूप मे बोल रहे थे। श्री भजन लाल ने कहा कि आर्य समाज ने राष्ट्र के स्वाधीनता सग्राम मे अमूल्य योगदान दिया परन्तु आर्य समाज ने कभी भी राजनैतिक लाभ नही उठाया है। उन्होने नारी शिक्षा, दलितोद्धार आदि के क्षेत्र मे आर्य समाज द्वारा किये गये कार्यों की भी सराहना की।

दयानन्द जयन्ती पर सार्वजनिक अवकाश

श्री भजन लाल ने करतल ध्वनि के बीच युगपुरुष दयानन्द सरस्वती के जन्म दिवस पर हरियाणा मे सार्वजनिक अवकाश की घोषणा की। उन्होने आगे कहा कि हरियाणा स्कूली पाठ्यक्रम से इस गलत ऐतिहासिक तथ्य को निकाला जायेगा कि आर्य लोग बाहर से आये थे। श्री भजन लाल ने यह भी घोषणा की कि हरियाणा मे वृद्ध आश्रम बनाने के लिए आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली को दस एकड भूमि दी जायेगी।

विमोचन

चौधरी भजन लाल ने आचार्य हरिदेव सिद्धात भूषण तक केसरी द्वारा लिखित वैदिक ज्ञान आलोक पुस्तक का भी विमोचन किया।

श्री भजन लाल ने कहा कि ऋषि दयानन्द इतिहास मे सदैव याद किये जाते रहेगे क्योकि स्वामीजी ने अपने अन्तर्ज्ञान के प्रताप से ससार को वेदो का प्रकाश दिया था और साथ ही मानव मात्र को एक दूसरे की सेवा करने की प्रेरणा दी।

वर्तमान परिस्थितियों के लिए तुष्टीकरण की नीति जिम्मेदार स्वामी आनन्दबोध

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने इस अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि आर्यजनो को राष्ट्र की एकता व अखण्डता का सकल्प लेना चाहिए तथा वर्तमान परिस्थितियो में सविधान के प्रति सच्ची निष्ठा रखनी चाहिए। स्वामी जी ने आज के हालात के लिए राजनेताओ और तुष्टीकरण की राजनीति को जिम्मेदार बताया।

हिन्दू धर्म मे हस्तक्षेप बन्द किया जाए प वन्देमातरम्

प्रख्यात स्वतन्त्रता सेनानी और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उपप्रधान प० वन्देमातरम रामचन्द्रराव ने कहा कि भारत के मुसलमान भाईयो को यह समझना चाहिए कि वे आर्यो की सतान हैं तथा राम व कृष्ण उनके पूर्वज हैं। यदि वे इस तथ्य को समझलें तो देश मे साम्प्रदायिक सद्भाव के समक्ष कोई चुनौती नही रहेगी। प० वन्देमातरम् जी कार्यक्रम मे अध्यक्ष पद से अपने विचार व्यक्त कर

(शेष पृष्ठ ४ पर)

दयानन्द जन्मोत्सव

युवक दयानन्द से प्रेरणा लें व संस्कृति की रक्षा करें

श्री अरविन्द नेताम

नई दिल्ली १७ फरवरी। केन्द्रीय कृषि राज्यमन्त्री श्री अरविंद नेताम ने कहा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने समाज मे व्याप्त अनेक दोषो व विकृतियो को दूर करने मे अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया और रूढिवाद मे डूबे समाज को एक नया रास्ता दिखाया था। श्री नेताम आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली राज्य द्वारा तालकटोरा स्टेडियम मे आयोजित दयानन्द सरस्वती के १६९ वें जन्म दिवस समारोह में मुख्य अतिथि के रूप मे बोल रहे थे। समारोह की अध्यक्षता सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने की।

(शेष पृष्ठ ४ पर)

सन्देश

दिनाक १६-२-९३

आदरणीय स्वामी आनन्दबोध सरस्वती जी,

मैं आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के १६९वें जन्म दिवस समारोह मे सम्मिलित होने के लिए बहुत उत्सुक था, किन्तु खेद है कि मै अस्वस्थ होने के कारण इस पुनीत अवसर पर उपस्थित नही हो सकूगा।

मैं महर्षि दयानन्द जी के प्रति अपनी असीम श्रद्धा व्यक्त करते हुए समारोह के आयोजको और इसमे सम्मिलित होने वाले सभी महानुभावो को अपनी शुभ कामनाए भेजता हू और समागम की सफलता की कामना करता हू।

ज्ञानी जैलसिंह
भारत के पूर्व राष्ट्रपति

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

मानव निर्माण की श्रेष्ठ योजना

आज विश्व मानव प्यास से व्याकुल हिरण की तरह भटक रहा है। वह मानसिक शान्ति चाहता है। उसके लिए शान्ति मृग मरीचिका बन गई है। चारो ओर अशान्ति ही अशान्ति दृष्टिगोचर होती है। चाहे आश्रम हो चाहे घर चाहे व्यक्ति हो या परिवार, चाहे समाज हो या राष्ट्र हर क्षेत्र में चिन्ता क्षोभ और अशान्ति का वातावरण है। कहने के लिए हम प्रगति के पथ पर बढ रहे हैं पर परिणाम सर्वथा प्रतिकूल।

प्रत्येक देश मे योजना आयोग बने हैं। इन विभागो मे मानव की प्रगति के लिए योजनाए तैयार की जाती हैं। मौलिक साधन जीवनोपयोगी आवश्यकताओ की सीमा लाघ रहे हैं। पर फिर भी चारो ओर हा हा कार मचा है।

इसका कारण क्या है? मनुष्य शान्ति को बाहर खोज रहा है। कस्तूरी मृग की तरह वास्तव मे शान्ति की खोज बाहर नही भीतर की जानी चाहिए। पर भीतर शान्ति प्राप्त करने के लिए भीतर से भी विकास करना चाहिए। ठीक है कि एक बीज को बाहर से खाद व पानी दिया जाता है पर उस बीज का विकास भीतर से ही होता है। यदि बीज में भीतर से विकसित होने का सामर्थ्य नही है तो बाहर की बढिया से बढिया खाद व भरपूर जल भी उसे विकसित नही कर पाता। आज का मनुष्य भीतर से सामर्थ्य हीन हो चला है। बाहर साधनो का ढेर पडा है। साधनो का अम्बार लगा है पर मनुष्य मुरझा रहा है।

यह समझ लेना चाहिए कि सारी बाह्य शक्ति भीतर को जागृत नहीं कर सकती है जब तक कि भीतर से जागरण की योजना नही बनती। रोटी को तवे पर डाल देने के बाद उस पर कुछ लिखा जाना या अकित करना सभव नहीं है। यदि आटे के कण-कण को अनुप्रणीत कर गुण युक्त करना है तो यह योजना बीजारोपण से पूर्व ही करनी होगी।

अभी-अभी हमने समाचार पत्र में एक समाचार पढा है कि, एक आर्ष विद्या का नया केन्द्र स्थापित हो रहा है इस केन्द्र मे मैट्रिक पास सोलह वर्ष से अधिक की आयु वाले छात्रो को प्रवेश मिलेगा। अनुभव हीनता की पराकाष्ठा है। गुरुकुल कागडी जैसे विद्या प्रतिष्ठान जहा ७-८ वर्ष की आयु के छात्रो को प्रवेश दिया जाता है वे भी निर्माण में असफल हो चुके हैं। फिर सोलह वर्ष की आयु के बाद मानव निर्माण की कल्पना भी मृग मरीचिका मात्र बन कर रह जाएगी। सोलह वर्ष की आयु तो विकास की सीमा से परिपूर्ण होती है। यह विकास उसका भीतरी विकास से सबधित है। बालक सोलह वर्ष तक सब संस्कार भीतर अकित कर चुका होता है अब तो उसका बाहरी निर्माण प्रारम्भ होता है। भीतरी विकास की सामग्री जुट चुकी है नीव आठ वर्ष की आयु से भी पूर्व बल्कि गर्भाधान से कई वर्ष पूर्व ही डाली जाता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम और सीता ने नियमपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण किया था पुन १४ वर्ष का वनवास काल मे किया। इतनी तपस्या के बाद कहीं सीता ने लव और कुश को जन्म दिया। योगेश्वर कृष्ण ने विवाह के बाद ग्यारह वर्ष का ब्रह्मचर्य धारण किया तब प्रद्युम्न जैसे एक वीर योद्धा को जन्म दिया।

बात स्पष्ट है कि—मानव निर्माण की योजना माता पिता को करनी होती है।

तभी महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास मे परमात्मा के नामो की व्याख्या करके सत्यार्थ प्रकाश में कर्तव्य कर्म का आरम्भ मातृमान पितृमान आचार्यवान पुरुषो वेद' इसमे आरम्भ किया है।

पर आज तो माता और पिता को ही गृहस्थाश्रम के सूक्ष्म विज्ञान का बोध ही नही है। ऐसी स्थिति मे एक मात्र उपाय यही है कि दक्ष प्रशिक्षित पुरोहितों का निर्माण किया जाए ये पुरोहित परिवारो में जाकर गृहस्थजनो का पथ-प्रदर्शन करें। जब तक गृहस्थाश्रम की योजना सुनियोजित नही होगी तब तक मानवीय समस्याए सुलझेगी नहीं।

भले ही राष्ट्र मे प्रजातन्त्र रहे, धर्मनिरपेक्षता रहे या देश फिर से सोने की चिडिया बन जाए या अयोध्या मे सोने का राम मन्दिर बन जाए मनुष्य समाज मे अशान्ति ही अशान्ति रहेगी। आज मानव समाज में जडता का या जड पूजन का महत्व बढ गया है।

जो मुसलमान अपने को बुत परस्ती का घोर विरोधी मानता है वह भी आज मिट्टी की मस्जिद के लिए रक्त पात की तैयारी कर रहा है। हिन्दू ने तो सारी मर्यादाओ को तिलाजलि दे डाली। अयोध्या मे ही पत्रकार बहनों को अपमानित कर सीता के सतीत्व पर प्रहार किया है।

चेतन से अधिक जड को महत्व देने का कारण श्रेष्ठ सस्कारो का अभाव है आज राम की आवश्यकता नही है केवल मन्दिर की आवश्यकता रह गई है।

जब राम का निर्माण नही होगा तब तक हजारो लाखो मन्दिरो के निर्माण से भी कुछ नही होगा।

मनुष्य को सस्कारित करना होगा योग्य पुरोहितो का निर्माण ही आज समाज की प्रथम आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान हैदराबाद अपने अल्प सामर्थ्य के अनुसार मानव निर्माण की इस योजना मे रचनात्मक प्रयत्न कर रहा है। पुरोहित की मान्यता समस्त विश्व मे है। वन्य जातियो मे भी पुरोहित की मान्यता है। पर पुरोहित स्वय पथ भ्रष्ट हो चला है। जब तक पुरोहित का निर्माण नही होगा मानव सस्कारित नही होगा। वेद ने स्पष्ट कहा है कि "राष्ट्रे वय पुरोहिता जागृताम।" राष्ट्र को जागरूक रखने के लिए पुरोहित को जागरूक होना पडेगा।

इसलिए प्रतिवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान की ओर से एक महीने का पुरोहित प्रशिक्षण शिविर लगाया जाता है। पिछले छ शिविरों में हमने चार सौ पुरोहितो को प्रशिक्षित किया है। इस वर्ष प्रतिष्ठान की ओर से काठमाण्डौ नेपाल देश की राजधानी में १५ मई से १५ जून १९९३ तक इस शिविर का आयोजन किया जा रहा है। भारत के सुयोग्य व्यक्तियो को चाहे वे पुरुष हो या स्त्री एक सीमित सख्या मे उन्हे भी अनुमति दी जाएगी।

इसके लिए वे ही सज्जन आवेदन करे जो अपने श्रेष्ठ चरित्र और अच्छे व्यवहार से नेपाल के भाइयो को प्रभावित कर सके।

सरकार ने भी एक विभाग खोल रखा है परिवार नियोजन का। इस नियोजन से मानव निर्माण की दिशा मे प्रतिकूल प्रभाव पड रहा है, क्योकि यह नियोजन है सयोजन नही। बुद्धि जीवी परिवारो का ध्यान मानव निर्माण की सुयोजना की ओर आकृष्ट करना चाहते है।

हमारा यह अभियान मानव मात्र के अत्यन्त हितो को ध्यान मे रखकर चलाया जा रहा है हमारा ध्येय मनुष्य मे मानवीय गुणो की स्थापना हेतु सस्कारो की शुद्ध प्रक्रिया को समझाना व माता पिता को सुसन्तान निर्माण की प्रेरणा प्रदान करना मात्र है।

हमे विश्वास है कि मानव समुदाय गभीरता से सोचेगा और विश्व मे शान्ति के प्रचार व प्रसार हेतु मानवीय मूल्यो को मनुष्य में भरने का सत्प्रयत्न करेगा।

आचार्य वेदभूषण अधिष्ठाता अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान, हैदराबाद-२७

पाणिग्रहण-संस्कार

नई दिल्ली १७ फरवरी। सुप्रसिद्ध समाज सेवी स्व० प्रह्लाद दत्त जी के पौत्र एव दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव के सुपुत्र चि० शशिकान्त का शुभविवाह सस्कार सौ० अल्का, सुपुत्री श्री कैलाश चन्द वर्मा के साथ १४ फरवरी, १९९३ को नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ।

इस शुभ अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती, भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह, पूर्व केन्द्रीय मन्त्री प्रो० शेरसिंह, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के कुलपति श्री सुभाष विद्यालकार, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल, दिल्ली आर्य प्रान्तीय महिला सभा की प्रधाना श्रीमती शकुन्तला आर्या एव अनेक आर्य व धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक सस्थाओ के गणमान्य महानुभावो ने नव-दम्पति को स्नेहाशीष प्रदान किया।

आर्य सन्देश परिवार की ओर से चि० शशिकान्त व सौ० अल्का के सुखद, व मगलमय भविष्य के लिए शुभकामनायें।

पं० लेखराम को कहीं हम भूल तो नहीं गए

वीरप्रसूता मा भारती ने देश, धर्म व जाति पर बलिदान देने वाले ऐसे अनेक वीरों को जन्म दिया है जिन्होंने अपने व्यक्तित्व व कृतित्व से मानवता की अनुपम सेवा की है। स्वनाम धन्य धर्मवीर प० लेखराम एक ऐसे ही बलिदानी थे जिन्होंने ६ मार्च, १८९७ को वैदिक धर्म के लिए बलिदान देकर एक नया इतिहास रचा।

अमर हुतात्मा प० लेखराम का जन्म ८ चैत्र सवत् १९१५ (सन् १८५८) को श्री तारासिंह मेहता के घर सैयदपुर तहसील चकवाल (पश्चिमी पाकिस्तान) मे हुआ था। आपकी माता का नाम श्रीमती भागभरी था। ६ वर्ष की आयु में कुशाग्रबुद्धि के बालक लेखराम को एक देहाती मदरसे मे पढने भेजा गया और उनकी प्रारभिक शिक्षा उर्दू व फारसी मे हुई। प० जी को अरबी, हिन्दी सस्कृत व गुरमुखी का भी अच्छा ज्ञान था परन्तु वे अग्रेजी नही जानते थे।

२१ दिसम्बर, १८७५ को प० लेखराम पेशावर मे पुलिस सेवा मे भर्ती हो गये और उन्नति करते करते सार्जेण्ट के पद तक जा पहुचे। प्रारम्भ से धार्मिक प्रवृत्ति के लेखराम ने जब मुशी कन्हैयालाल अलखधारी की पुस्तके पढी तो वे दयानन्द की वैदिक विचारधारा से अत्यन्त प्रभावित हुये और सन् १८८० मे उन्होने अजमेर आर्य समाज की स्थापना की। सन् १८८१ मे महर्षि दयानन्द के दर्शन कर उनसे शका समाधान किया और वेद प्रचार के लिए प्रेरणा प्राप्त की। स्वामी जी ने उन्हे २५ वर्ष से पूर्व विवाह न करने का परामर्श दिया। ऋषि दयानन्द से मिलकर लेखराम, दयानन्द के ही हो गये और उनके जीवन की धारा ही बदल गई। सन् १८८४ को प० लेखराम ने पुलिस की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और समर्पित भाव से आर्य समाज की सेवा करने लगे।

प० लेखराम ने ऋषि दयानन्द का जीवन चरित्र लिखकर आर्य समाज के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा है। इसके लिए देश मे गुजरात, काठियावाड मथुरा, राजस्थान आदि अनेक स्थानो का भ्रमण कर उपयोगी जानकारी प्राप्त की और तथ्यो की खोज की। तथ्यमूलक व मौलिक जीवनी लिखकर प० लेखराम ने अद्वितीय कार्य किया।

पेशावर आर्य समाज से प० लेखराम ने 'धर्मोपदेश' नामक उर्दू का एक मासिक पत्र निकालना शुरू किया जिसका सम्पादन व सचालन वे स्वय करते थे परन्तु आर्थिक कठिनाइयो के कारण इसे कुछ वर्ष बाद बन्द करना पड़ा।

फिरोजपुर मे प्रकाशित होने वाले उर्दू 'आर्य गजट' का उन्हे सन् १८८७ मे सम्पादक नियुक्त किया गया और २ वर्ष तक उन्होंने उसका कुशलतापूर्वक सम्पादन किया। अजमेर से भी 'वैदिक विजय' पत्र निकलवाया।

प० लेखराम एक सिद्धहस्त लेखक थे। अनेक पत्र पत्रिकाओ मे उनके प्रकाशित लेखो की धूम मची रहती थी आर्य समाज के इस महान साहित्यकार ने छोटी बडी ३४ पुस्तकें लिखी हैं। उनका समस्त साहित्य उर्दू मे ही है परन्तु प्राय सभी का हिन्दी अनुवाद हो चुका है। प० जी ने मनुस्मृति के २६ सस्करण एकत्रित किए थे और वे एक विशुद्ध मनुस्मृति प्रकाशित करना चाहते थे। मनुस्मृति के एक अध्याय का भी उन्होंने भाष्य तैयार कर लिया था। वाल्मिकी रामायण का भी शुद्ध सस्करण निकलवाने की उनकी इच्छा थी।

वैदिक सिद्धान्तो के ओजस्वी व प्रखर प्रवक्ता प० लेखराम ने देश मे स्थान-स्थान पर घूमकर आर्य समाज का डका बजा दिया। उनके व्याख्यानो को लोग घन्टो तक मन्त्रमुग्ध हो सुनते रहते थे। उन्होने अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ किए। इस शास्त्रार्थ महारथी के तर्कों के सामने विधर्मी ठहर न पाते थे। प० जी ने अपने व्याख्यानो के दौरान जगह जगह नवीन आर्य समाजो की स्थापना की। सियालकोट मे सिखो की रक्षा, मुजफ्फरनगर मे अन्ध विश्वासो का खडन, करनाल मे कपोल कल्पित ज्योतिष खडन अजमेर में कब्र परस्तो का खडन आदि उनके महत्वपूर्ण कार्यों को सदैव याद रखा जायेगा।

ऋषि दयानन्द द्वारा प० लेखराम को लिखे दो पत्र उपलब्ध हैं। स्वामी जी ने एक पत्र में गोरक्षा के बारे में ज्ञापन पर हस्ताक्षर कराने को कहा था और दूसरे मे हिन्दी के प्रचार की बात थी। प० लेखराम ने इन दोनो पर अत्यन्त निष्ठापूर्वक कार्य किया।

३६ वर्ष की आयु में प० लेखराम ने लक्ष्मी देवी से विवाह किया। वे एक पतिव्रता नारी थी। प० जी ने उन्हे घर ही पढाया। उनके एक पुत्र भी हुआ परन्तु बीमारी के कारण अल्पायु मे ही चल बसा। प० जी के निधन के बाद उनकी दो हजार रु० की बीमा राशि श्रीमती लक्ष्मी देवी ने गुरुकुल कागडी को दान मे दी जिससे एक ब्रह्मचारी का दाखिला हुआ जो आगे चलकर प० बुद्धदेव (स्वामी समर्पणानन्द) के नाम से विख्यात हुआ।

आर्य सस्कृति के महान रक्षक प० लेखराम सादगी व सदाचार के प्रतीक थे वे नित्य प्रति सन्ध्या हवन स्वाध्याय व लेखन कार्य करते थे। सच्चाई व ईमानदारी उनमे कूट कूट कर भरी थी। सभा से केवल तीस रुपए मासिक वेतन लेते थे प्रचार भ्रमण के दौरान ... सभा से एक पैसा भी नही लेते थे।

निर्भीकता की मूर्ति प० लेखराम का भाषण, शास्त्रार्थ व वेदप्रचार के दौरान बार बार विधर्मियो ... करता रहता थी। एक बार उन्होने कहा था कि मुझे मुसलमान का डर नही है और ... मेरा कुछ नही कर सकता।

प० लेखराम सिर पर कफन बाधकर घूमते थे। शुद्धि के क्षेत्र मे उनका ... मुस्तफाबाद आदि कई स्थानो पर अनेक लोगो को न केवल विधर्मी होने से बचाया अपितु कई बिछुड भाइयो को भी पुन वैदिक धर्म मे दीक्षित किया। फरवरी १८९७ को एक गठे बदन का मुस्लिम युवक प० जी के पास शुद्ध होने आया और उनके पास रहने लगा। ६ मार्च १८९७ को उसने पेट में छुरा घुसेड कर प० जी की आते बाहर निकाल दी। रात्रि दो बजे ओम् विश्वानि देव व गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुये अन्तिम श्वास ली। अन्त में उन्होने कहा आर्य समाज का भाषण व लेखन का कार्य बन्द नही होना चाहिए।

आर्य मुसाफिर लेखराम सारी आयु समर्पित भाव से आर्य समाज की सेवा करते हुये शहीद हो गये। आर्य समाज के लिए उनके दिल मे गजब का दर्द व तड़प थी। ६ मार्च को उनके बलिदान दिवस पर हमने क्या किया और उनसे कितनी प्रेरणा ली। वास्तव मे हमें अमर शहीद प० लेखराम जी को तो वर्ष मे हर पल स्मरण कर उनसे नई ऊर्जा व प्रेरणा प्राप्त करते रहना चाहिए।

पडित जी के बलिदान दिवस पर विनत श्रद्धाजलि।

—विमलकान्त शर्मा

अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान हैदराबाद द्वारा काठमाण्डो नेपाल मे वेद प्रशिक्षण शिविर

आगामी १५ मई से १५ जून ९३ तक एक मास का वेद प्रशिक्षण शिविर काठमाडो नेपाल मे लगाया जा रहा है। सभी स्त्री पुरुष इस प्रशिक्षण मे भाग ले सकते हैं। इस शिविर मे आचार्य वेद भूषण स्वय पौरोहित्य का प्रशिक्षण देगें।

इच्छुक जनो को फरवरी ९३ के अन्त तक पाच रुपये के पोस्ट के टिकट भेजकर नियम व आवेदन पत्र प्राप्त कर भेज देने चाहिए।

सम्पर्क सूत्र—आचार्य अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान, हैदराबाद-२७

बच्चों को प्रसाद देना चाहिए था

केन्द्रीय आर्य सभा दिल्ली राज्य द्वारा १६ फरवरी को तालकटोरा इडोर स्टेडियम में "दयानन्द जन्मोत्सव" मे आर्य समाज तिलक नगर के अन्तर्गत चलने वाले दयानन्द आदर्श विद्यालय के बच्चो ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। महाशय धर्मपाल जी ने दयानन्द दिग्दर्शन पुस्तक २५ रुपये के रियायती मूल्य पर उपलब्ध करा कर प्रशसनीय कार्य किया। आर्य स्कूलो के छात्रो को ऐसे कार्यक्रमो मे अवश्य भाग लेना चाहिए। समारोह मे यदि बच्चो को प्रसाद के रूप मे कुछ दे दिया जाता तो बच्चे प्रसन्न हो जाते।

वीरभान वीर'

आर्यसमाज ने अद्भुत कार्य किये

(पृष्ठ १ का शेष)

रहे थे। उन्होने धर्मनिरपेक्षता के नाम पर हिन्दू धर्म मे परिवतन एव हस्तक्षेप की भी कडी निन्दा की और कहा कि अन्य धर्मों मे सामाजिक व धार्मिक सुधारो के नाम पर हस्तक्षेप क्यो नही किया जाता जबकि इसकी वहा अत्यन्त आवश्यकता है।

प० वन्देमातरम ने देश की आजादी मे आर्यसमाज के ऐतिहासिक योगदान की चर्चा करते हुये कहा कि आज देश मे कश्मीर को पाकिस्तान मे मिलाने के षडयन्त्र चल रहे हैं तो कही खालिस्तान की माग उठ रही है। दक्षिणी भाग एव देश के अन्य भागो मे भी नक्सलवाद के कारण आज देश की एकता व अखण्डता को खतरा पैदा हो गया है, अत आय समाजियो को दयानन्द के बताये रास्ते पर चल कर इस खतरे का सामना करना चाहिए।

बी० ए० तक नारी शिक्षा मुफ्त श्री बच्चन सिंह

इस समारोह मे हरियाणा के कृषि राज्यमन्त्री श्री बच्चनसिंह ने प्रमुख वक्ता के रूप मे अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुये कहा कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्र मे सबसे पहले नारी शिक्षा के लिए अद्भुत कार्य किये हैं। उन्होने घोषणा की कि हरियाणा मे स्नातक स्तर तक स्त्री शिक्षा नि शुल्क की जायेगी।

समारोह मे आर्य विदुषी डा० रमा, प्रमुख व्याकरणाचार्या डा० प्रज्ञा देवी आदि ने भी देव दयानन्द की सेवाओ का स्मरण कर उन्हें भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए प्रस्ताव पारित

कार्यक्रम मे सवसम्मति से यह प्रस्ताव पारित कर सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से यह अपील की गयी कि देश की वर्तमान विषम परिस्थितियो पर आर्यसमाज का राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाकर कोई ठोस निणय शीघ्र लिया जाए ताकि देश और समाज की अधिक क्षति न हो सके।

ऋषिबोधोत्सव समारोह का शुभारम्भ कोटला मैदान मे प्रात यज्ञ से हुआ। प्रख्यात वैदिक विद्वान प० रामकिशोर जी ने ओमध्वजारोहण करने हुये कहा कि यह पताका आर्यों को अज्ञान, अन्धकार व कुरीतियो का उन्मूलन करते हुये विश्व विजय का सन्देश देती है। यह ध्वजा गति का प्रतीक है और आर्यों को गतिशील व सक्रिय रहकर समाज व राष्ट्र उन्नति मे योगदान देते रहना चाहिए।

उल्लेखनीय है कि समारोह मे आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य के प्रधान महाशय धर्मपाल, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव, महामन्त्री डा० धर्मपाल, सावदेशिक सभा के मन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री, दिल्ली आर्य प्रातीय महिला सभा की प्रधाना श्रीमती शकु तला आर्या, श्रीमती कृष्णा चड्ढा, एडवोकेट श्री सोमनाथ मरवाह, चौधरी लक्ष्मीचन्द, प्रख्यात वैदिक विद्वान डा० महेश विद्यालकार जैसी गणमान्य महानुभावो सहित राजधानी की अनेक आर्य समाजो शिक्षण सस्थाओ के अधिकारियो व आर्यजनो ने भारी सख्या मे उत्साहपूर्वक भाग लिया। सभा के महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री ने मच सचालन किया।

ज्ञातव्य है कि फाल्गुन कृष्ण १४ सवत् १८९५ को शिवरात्रि पव पर बालक मूल शकर के मन मे सच्चे शिव के दशन की लालसा जागी थी और इसी कारण देश विदेश की आय समाजें श्रद्धापूवक ऋषिबोधोत्सव पव मनाती हैं।

उप-राष्ट्रपति सचिवालय नई दिल्ली

सन्देश

१२ फरवरी, १९९३

उपराष्ट्रपति जी को यह जानकर बडी प्रसन्नता है कि सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान, महान समाज सुधारक और आर्य समाज के सस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का १६ फरवरी, १९९३ को नई दिल्ली के ताल कटोरा इन्डोर स्टेडियम मे १६९ वा जन्म दिवस समारोह आयोजित किया जा रहा है। वह आशा करते हैं कि उनका व्यक्तित्व और कृतित्व भावी पीढियो के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा।

उपराष्ट्रपति जी इस समारोह की पूर्ण सफलता की कामना करते हैं।

शम्भू नाथ वर्मा

सावधान

आर्य केन्द्रीय सभा के महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री की हरे रग की कपडे की एक फाइल १९-२-९३ को ऋषि बोधोत्सव के अवसर पर कोटला फिरोजशाह मैदान मे किसी ने मञ्च से उठा ली है। उसमे आवश्यक कागजो के अतिरिक्त दो आर्य केन्द्रीय सभा की रसीदें जिनका रसीद बुक न० १०७ है, भी हैं। जिस किसी सज्जन को मिले उसे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दयानन्द भवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली के कार्यालय मे भिजवा दे। दानी महानुभावो से प्रार्थना है कि रसीद बुक न० १०७ पर किसी को दान राशि न दे। ऐसे व्यक्ति की सूचना हमे तुरन्त और अवश्य दे।

युवक दयानन्द से प्रेरणा

(पृष्ठ १ का शेष)

श्री नेताम ने आगे कहा कि आर्य समाज के कारण ही आज विश्व की सबसे प्राचीन सस्कृति एव वेद की विचारधारा जीवित है। आर्यसमाज ने देश के आदिवासी व वनवासी क्षेत्रो मे सामाजिक कायक्रम चलाकर क्षेत्र के लोगो को राष्ट्र की मुख्यधारा मे जोडने का महत्वपूर्ण काय किया है।

कृषिमन्त्री श्री नेताम ने कहा कि दयानन्द ने अहिन्दी भाषी होते हुये भी हिन्दी भाषा के माध्यम से जन-जन को एकता का सन्देश दिया तथा हिन्दी भाषी क्षेत्र ही उनकी कर्मभूमि रहा। उन्होने युवको से कहा कि सस्कृति की रक्षा का दायित्व आज उनके कन्धो पर है। स्वामी दयानन्द के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाजलि यही है कि स्वामी जी से प्रेरणा लेकर उनके बताये रास्ते पर चलते रहे।

श्री नेताम ने कहा कि स्वामी दयानन्द नारी शिक्षा पर बहुत बल देते थे। स्वामी जी ने कहा था कि यदि महिलायें ही अशिक्षित रहेगी तो औरो का उत्थान कैसे होगा।

सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने अध्यक्षीय भाषण मे अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि यदि युग पुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती न होते तो आज हिन्दू जाति (आर्य जाति) का अस्तित्व ही न होता। उन्होने आगे कहा कि स्वामी दयानन्द ने मानव जाति के कल्याण के लिए वेद प्रतिपादित वैदिक सिद्धातो के अनुसार आचरण पर बल दिया। स्वामी आनन्दबोध ने कहा कि दयानन्द जी स्वराज्य के सर्वप्रथम उद्घोषक थे और उन्होने आजादी की लडाई मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

हरियाणा के खाद्य मन्त्री श्री महेन्द्र प्रताप ने कार्यक्रम का उद्घाटन करते हुये कहा कि जब-२ समाज मे दोष आते हैं तो उनके निवारण के लिए सन्त व महापुरुष हमारे बीच आते हैं। स्वामी दयानन्द भी एक ऐसे ही सन्त थे जिन्होने स्वराज्य, स्वभाषा, स्वधम व स्वदेशी का मन्त्र सबसे पहले दिया था।

इस अवसर पर सनातन धर्मी सन्यासी स्वामी सर्वज्ञमुनि, हरियाणा के विधायक श्री पुरुषोत्तम लाल आदि ने भी आय समाज के सस्थापक स्वामी दयानन्द को श्रद्धासुमन अर्पित किये।

प० गणपति शर्मा विशेषाक का विमोचन

केन्द्रीय मन्त्री श्री अरविन्द नेताम ने इस भव्य समारोह मे हिन्दी साप्ताहिक आर्य सन्देश के 'ऋषिबोधोत्सव एव प० गणपति शर्मा सयुक्ताक का विमोचन किया। कार्यक्रम मे वैदिक सत्सग समिति व दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा द्वारा प्रकाशित तथा डा० धर्मपाल द्वारा सम्पादित युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती का एक फोल्डर भी प्रचारार्थ वितरित किया गया।

उपराष्ट्रपति के आर० नारायणन, लोकसभा अध्यक्ष शिवराज पाटिल आदि ने अपने सन्देश भेजकर महर्षि दयानन्द सरस्वती को श्रद्धाजलि अर्पित की।

केन्द्रीय सभा द्वारा आयोजित इस समारोह में केन्द्रीय सभा के प्रधान महाशय धर्मपाल, सार्वदेशिक सभा के वरिष्ठ उपप्रधान प० रामचन्द्रराव वन्देमातरम्, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव व मन्त्री डा० धर्मपाल सहित अनेक गणमान्य नेता व विभिन्न समाजो के आर्य नर नारी, गुरुकुलों के ब्रह्मचारी व शिक्षण सस्थाओ के बच्चों ने श्रद्धापूर्वक भाग लिया। कार्यक्रम का सचालन केन्द्रीय सभा के महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री ने किया।

श्री सजीव गुलाटी का दु:खद निधन



नई दिल्ली। आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य के प्रधान एवं प्रमुख आर्य समाजी नेता महाशय धर्मपाल के कनिष्ठ पुत्र श्री सजीव गुलाटी का दु:खद आकस्मिक निधन १० जनवरी १९९३ को हो गया। वे २६ वर्ष ६ महीने के थे।

श्री सजीव गुलाटी का जन्म १० जून १९६६ को हुआ था। वे महाशय जी की सबसे छोटी सतान थे। सरस्वती शिशु मंदिर में उनकी प्रारंभिक शिक्षा हुई। शिक्षा ग्रहण के बाद सन् १९८५ में एम डी एच कारखाने में बैठने लगे और उसी वर्ष नवम्बर माह में उन्हें कम्पनी का निदेशक बना दिया गया। श्री सजीव अत्यन्त दक्षता व निष्ठा से अपने दायित्व का निर्वाह करते रहे।

हंसमुख मिलनसार व्यवहार कुशल व तर्कपटु श्री सजीव प्रातः व सायं नियमित रूप से भजन पूजा पाठ के बाद ही भोजन ग्रहण करते थे। २० नवम्बर १९८९ को आयुष्मती सोनिका के साथ उनका विवाह हुआ था।

इस हृदय विदारक घटना पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव महामन्त्री डा० धर्मपाल तथा अनेक आर्य व सामाजिक संस्थाओं ने शोक प्रस्ताव पारित कर दिवंगत के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की और परमपिता परमात्मा से प्रार्थना की कि शोक संतप्त परिवार को इस दारुण दुःख सहने की शक्ति प्रदान करे एवं दिवंगत आत्मा को शांति व सद्गति दे।

श्री सुरेश चन्द वेदालकार नहीं रहे

नई दिल्ली। प्रखर आर्य विद्वान एवं सिद्ध हस्त लेखक श्री सुरेशचन्द वेदालकार का विगत मास गोरखपुर में निधन हो गया। वे ७५ वर्ष के थे।

प० सुरेशचन्द जी का जन्म १७ अक्तूबर १९१७ को देवरिया जिले के हाटा नामक गांव में श्री हरीप्रसाद के यहां हुआ था। आपने गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में स्वामी श्रद्धानन्द के चरणों में बैठकर १४ वर्ष तक शिक्षा ग्रहण कर १९३९ में वेदालकार की उपाधि ग्रहण की। आगरा विश्वविद्यालय से एम ए करने के बाद आप १९४० से १९४६ तक छः वर्ष तक बिहार में वैद्यनाथधाम में अध्यापन करते रहे और बाद में १९४६ से १९४८ तक अध्यापन किया। तत्पश्चात् १९४८-४९ में गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले पत्र आरोग्य के सम्पादकीय विभाग में कार्यरत रहे। सन् १९५१ में डी ए वी कालेज गोरखपुर में हिन्दी प्राध्यापक पद पर नियुक्ति के बाद अवकाश ग्रहण तक वहीं सेवारत रहे।

मिलनसार मधुरभाषी एवं प्रतिभासम्पन्न श्री वेदालकार आर्य सिद्धांतों के प्रखर वक्ता थे। अनेक पत्र पत्रिकाओं में उनके सिद्धांतपरक लेख छपते रहे हैं। विद्वान लेखक प० वेदालकार ने हंसते जीना मानव कर्म सूत्र दुर्गुण दूर भगाइये मातृभूमि की वंदना कर्म का स्वरूप सहित तीस से भी अधिक पुस्तक लिखी हैं। प० वेदालकार के निधन से आर्य जगत की अपूर्णीय क्षति हुई है। परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवंगत की आत्मा को शांति एवं सद्गति प्रदान करे।

हंसराज गुप्ता कम्प्यूटर इंस्टीच्यूट

वेदज्ञान के साथ आधुनिक विज्ञान का अध्ययन भी जरूरी है

—डा० धर्मपाल

नई दिल्ली २२ फरवरी। हंसराज गुप्ता कम्प्यूटर इंस्टीच्यूट आर्य भवन जोर बाग नई दिल्ली का आज श्रीमती प्रगिरा देवी गुप्ता ने करतल ध्वनि के बीच दीप प्रज्ज्वलित कर विधिवत रूप से उद्घाटन किया। इस कम्प्यूटर संस्थान का नियन्त्रण एवं प्रबन्ध श्रद्धानन्द सेवा संघ के अन्तर्गत है।

श्रद्धानन्द सेवा संघ के प्रधान प० ज्ञानचन्द आर्य सेवक ने समारोह में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि इस कम्प्यूटर संस्थान के शुरू होने से न केवल छात्रों व युवकों को कम्प्यूटर जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र में प्रशिक्षण मिल पायेगा बल्कि उनके लिए रोजगार के अवसर भी उपलब्ध हो सकेंगे। उन्होंने आगे कहा कि इस जनोपयोगी प्रशिक्षण से आपस में मेल मिलाप की भावना बढ़ेगी और राष्ट्रीय भावना भी सुदृढ होगी।

प० आर्य सेवक ने यह भी बताया कि आर्थिक रूप से कमजोर एवं मेधावी प्रशिक्षणार्थियों को छात्रवृत्तियां भी दी जायेगी।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने इस कम्प्यूटर संस्थान को शुरू करने पर अपनी शुभकामनाएं दी और बताया कि दिल्ली में किसी आर्य समाज या आर्य संस्थान के अधीन चलने वाला यह अपने किस्म का पहला कम्प्यूटर प्रशिक्षण संस्थान है। उन्होंने आगे कहा कि वेदादि शास्त्र ज्ञान विज्ञान के अनन्त भंडार हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द ने भी वेद एवं प्राचीन वैदिक संस्कृति के अध्ययन के साथ २ आधुनिक ज्ञान विज्ञान के शिक्षण पर बल दिया था। उन्होंने बताया कि इस कम्प्यूटर संस्थान के डाइरेक्टर श्री वनीश बी० शर्मा गुरुकुल कांगड़ी के होनहार छात्र हैं।

कार्यक्रम में प्रकाशन विभाग भारत सरकार के महानिदेशक पद्मश्री डा० श्यामसिंह शशि एवं अन्य अतिथियों का पुष्पमालाओं द्वारा स्वागत किया गया। पत्रकार श्री अजय भल्ला दीवानहाल आर्य समाज के प्रधान मूलचन्द गुप्त सार्वदेशिक आर्य वीर दल के मन्त्री श्री वेदव्रत शर्मा आदि महानुभाव भी सम्मिलित हुए। कार्यक्रम का शुभारम्भ डा० कणदेव शास्त्री एवं प० मिश्र के ब्रह्मत्व में यज्ञ से हुआ। श्रद्धानन्द सेवा संघ के मन्त्री श्री हंसराज चोपड़ा ने धन्यवाद व्यक्त किया। श्री खरैती लाल भाटिया ने कार्यक्रम का संचालन किया।

आगामी कार्यक्रम

वार्षिकोत्सव

आपको कन्या गुरुकुल महाविद्यालय नरेला का वार्षिक महोत्सव १३ व १४ मार्च १९९३ को मनाया जा रहा है। इस पुनीत अवसर पर सभी सादर आमन्त्रित हैं।

वेद कर्मवीर आर्य महामन्त्री कन्या गुरुकुल नरेला

धर्मनिरपेक्षता और भारतीयता

आर्य राष्ट्रीय मंच के तत्वावधान में १४ मार्च ९३ को आर्य समाज मंदिर मार्ग नई दिल्ली में धर्मनिरपेक्षता और भारतीयता पर एक विचार गोष्ठी होगी। इसमें पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह श्री प्रभाष जोशी श्री वीरेन्द्र आदि आमन्त्रित वक्ता विचार रखेंगे।

आदर्श त्रैतवाद (१९)

राजसिह भल्ला

जीव अलिग है।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाय नपु सक ।
यद्यच्छशरीरमादत्त तेन तेन स रक्ष्यते ।। श्वेता० ५ १०

यह देही—जीवात्मा न ही स्त्री है न पुरुष है और न ही यह नपु सक है किन्तु जिस जिस स्त्री आदि के शरीर को ग्रहण करता है उस उस से वह रक्षित वा ल क्षत किया जाता है। आत्मा वास्तव मे त्रिलिङ्गातीत है।

जीव का कर्मानुसार जन्म

सकल्पनस्पशनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्टया चात्मविवृद्धि जन्म ।
कर्मानुग न्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रुपाण्यभिसम्प्रद्यते ।। श्वेता० ५ ११

सकल्प मोग दशन और मोह से और अन्न तथा जल सचन से जीव के शरीर का बढना और ज न्म है। जीवात्मा लोको मे क्रम स कर्मानुसार जन्मों को प्राप्त होता है।

जीव की कर्मानुसार गति

गुणान्वयो य फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुण स्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप सचरति स्वकर्मभि ।।
श्वेता० ५ ७

ा करते हुए ऋषि कहते हैं कि जो आत्मा गुणो से युक्त है फल वाल कर्मों का कर्ता है। उस किये हुए कर्मो के फलो को भोगने वाला है। अनेक जन्म यो नयो के रूप वाला है सत रज तम तीन गुणयुक्त है—तीनो मार्गों मे चलने वाला है उत्तम मध्यम नीच कर्मों के करने वाला है इन्द्रियो का स्वामी है तथा अपन कर्मों स ज म ज मन्तरो मे फिरता है सक्षेप मे ज वात्मा का स्वरूप इस प्रकार कह सकत हैं। यह चेतन सूक्ष्म से भी सूक्ष्म जिसका अाग विभाग न हो सके जिसमे किसी भी जड या चेतन के प्रवेश करने का अवकाश न हो कूटस्थ निर्विकार असग न ष्क्रिय न य अल्पज्ञ निग यव अप णामी चतन सत आत्मा है सूक्ष्मता मे इसमे परा काष्टता है। प्रकृति के ा म ममत्व की भावना या ब य भोक्तापन के आरोप का और चित्त के सयो । से अनेक प्रक र के गुणो ा आराप हो ज ता है इसके सग से ही ज म मरण ब ध आर मोक्ष माना गया है त ना र ो क अभाव म या सम्ब ध छूट ज ने प र मुक्ति रो ना ह ना है।

जीव के शरीर का बढना और जन्म

मकल्पनस् शनद ष्ट हैर्ग्रा म्बुवष्ट्या च म वव द्धज म
क निग यनुक्रमेण ह स षु रुपाण्या भस ग्रवते त ० ५ ११

मकल्प भोग नन औ माह और अ न तथा जल चन म ज व क शरा क बढन औ ज म है जाव मा लोको मे क्रम क नुसार जन्मो प्राप्त होना है।

जीवात्मा

अगु ष्ठ त्र पुरुषोऽ तर त्मा सदा जन ना हृदय स न्नविष्ट।
त स्व च्छरीरात्‌ ब ृ मुञ्जा दवेषीका धैयण।
त वद्या च्छुक्रममृत त विद्य च्छुक्रममृतमिति कठो० १ ६ ७

जीवात्मा को सबसे अ धक प्रय अपना शरार है। अनादि काल से इस शरार में सुख भोगे अ र भोगता है उसमे उसे राग है वही बन्धन है और ग्रन्थि है। अ वद्या ग्रसित य ज व शरीर म प्रथक होना नही चाहता और शरीर मज बूरन छोड ा पडगा ऐसा जानकर बडा कष्ट मानता है। अ गुष्ट मात्र स्थान मे रहता हुआ जाव रगा योगाभ्यास के द्वा ा शरार के बन्धन स छुडा द जिससे फिर शरीर धारण करने का इच्छा न करे।

अस्य विस्र सम स्य शरीरस्थस्य द हन
देहा द्विमुच्यमानस्य किमत्र पार शष्यते एतद्वै तत। कठो० १ ५ ४

इस पूजनीय देह म रहने वाला देही आत्मा का जब वह देह से फिसलता वा छूटता है तब देह में क्या शेष रहता है। अर्थात् कुछ भी पीछे नही रहता यह वहा आ मा है

आत्मा सूक्ष्म परम सत्य अविकारी है

स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्य मद सर्व तत्सत्यम्। स आत्मा तत्त्वमसि
श्वेतकेतोइति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ।।
छान्दो० ६ ८ ७

वह जो यह प्रकृति के विकार स ऊपर आत्मा है परम सूक्ष्म है, यह ही शुद्ध आत्म भाव है यह सब वह सत्य है परम सत्य है इसमें विकार नही है। हे श्वेतकेतु! वह शुद्ध आत्मा यह तू है तेरा स्वरूप परम शुद्ध है। उसने कहा और भी भगवान बताये। आरुणा ने कहा—प्यारे! तथास्तु।

आत्मा सूक्ष्म ज्ञानवान परम सत्य

स य एषोऽणिमा एतदात्म्यमिद सर्वं तत्सत्यम्। स आत्मा तत्त्वमसि
श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा साम्येति होवाच।
छान्दो० ६ ९ ४

वह जो अविकारी है यह परम सूक्ष्म है। यह आत्म भ व है यह सब वह सत्य है परम स य है। हे श्वेतकेतु! वह यह आत्मा विकार अज्ञ न र हत तू है। उसन कहा और भी भगव न मुझे उपदेश करें। आरुणि ने कहा प्यारे तथास्तु।

आत्मान राथन विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च ।। कठो० १ ३ ३

ऋषि कहते हैं कि आ मा को रथ का स्वामी जान और देह को रथ ही समझ बु द्ध ा सार थ ज न अ र मन को लगाम समझ इ द्रियो को घोड कहते है और उनके म ग वषय म ग है इ द्रयो और मन सहित आ मा को विद्वान् लोग कर्ता और भोक्ता कह है

आर्य वन मे योग शिविर

आर्य वन विकास फार्म मे २४ माच मे २ अप्रल १९९३ तक दस दिवसीय योग प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया है। ‑४ अप्रल को उत्सव मनाया जायेगा। शिविर मे क्रियात्मक योग प्रशिक्षण के माथ योगादि दर्शनो के चुने हुए सूत्रो का अध्यापन भी किया जायेगा। शिविर शुल्क ५० रुपये रखा गया है जो आर्थिक दृष्टिसे असमर्थ होगे उनको योग्य जानकर शुल्क मे छट दी जा सकेगी। अपनी योग्यता, व्यवसाय आयु सहित आवेदन पत्र निम्न पत पर लिखकर स्वीकृति ले लेवे तथा मन्त्री आर्यवन के पास शुल्क जमा करवा देव।

आचाय दशन योग महाविद्यालय
आय वन विकास, रोजड, पो० सागपुर
जिला साबरकाठा गुजरात-३८३३०७

धनजीवाल जी पटेल (प्रधान, आयवन), स्वामी सत्यपति (शिविराध्यक्ष)

अस्त्र-शस्त्र प्रशिक्षण शिविर का आयोजन

राष्ट्र के देशद्रोही तत्वो को कुचलने के लिए तथा भारत के नौजवानो मे राष्ट्र प्रेम पैदा करने व इनका सैनिकीकरण करने के उद्देश्य से "आय युवा विकास परिषद, दिल्ली प्रदेश परिषद के अध्यक्ष डा० जसबीर सिंह आय जी के निर्देशन मे मार्च, १९९३ मे एक मास का अस्त्र-शस्त्र प्रशिक्षण शिविर का आयोजन आर्यसमाज राजनगर, पालम कालोनी नई दिल्ली ४५ म करने जा रही है।

इस शिविर मे भारत के समस्त राज्यो से चुने हुये युवको को जुडो कराटे, नानचाक, कुगफु, बाक्सिग तलवार, छुरी, भाला, लाठी व आधुनिक हथियारो सहित यज्ञ, सन्ध्या ईश्वरोपासना, राष्ट्रभक्ति का गहन प्रशिक्षण सेना के सेवा निवृत्त अधिकारियो व आर्यसमाज के विद्वानो द्वारा दिया जायेगा।

आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 4-5-3-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
प साप्ताहिक "आर्यसन्देश" ७ मार्च १९९३

आर्यसमाजो के अधिकारियो की सेवा मे नम्र निवेदन

माननीय प्रधान जी, मन्त्री जी सादर नमस्ते।

प्रभु कृपा से आप स्वस्थ एव सानन्द होगे।

निवेदन है कि आर्यसमाजो का वित्तीय वष १ अप्रैल से ३१ मार्च तक होता है। आर्यसमाज के नियम उपनियमो तथा दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के नियमानुसार सभा से सबधित प्रत्येक आयसमाज को प्रतिवर्ष अपनी आर्यसमाज के सदस्यो से वर्ष भर मे प्राप्त कुल चन्दें का दसवा भाग दशाश राशि, न्यून से न्यून १०१ रुपए (सामर्थ्य आर्यसमाजें अधिक भी भेज सकती हैं) वेदप्रचार राशि सभा के साप्ताहिक पत्र आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५ रुपए अथवा आजीवन शुल्क २५१ रुपए, आर्य वीर दल के लिए सहयोग राशि अवश्य भिजवानी होती हैं।

सभा कार्यालय के परिपत्र दिनाक ६-४-१९९२ दिनाक १९ ५ ९२ दिनाक २९-१०-९२ मे आपसे प्रार्थना की गयी कि आप अपनी आर्यसमाज की गतिविधियो की रिपोर्ट, सदस्यो की सूची तथा उपयुक्त देय राशिया यथाशीघ्र सभा कार्यालय को भिजवा दे।

आपकी आर्यसमाज से अभी तक वर्ष १९९१-९२ की दशाश, वेदप्रचार, आय सन्देश, आर्य वीर दल की राशिया सभा कार्यालय को प्राप्त नही हुई हैं।

आपसे अनुरोध है कि आप उपरोक्त राशिया सभा को यथाशीघ्र भिजवाकर संगठन शक्ति का परिचय दें। डा० धर्मपाल, महामन्त्री

वेद वेदांग पुरस्कार एवं वेदोपदेशक पुरस्कार १९९३

आर्य समाज सान्ताक्रुज १९९३ मे दो पुरस्कारो से आर्य विद्वानो को सम्मानित करेगा।

१ वेद वेदाग पुरस्कार —

जिस विद्वान ने जीवन पर्यन्त वेद वेदागो पर अनुसधान किया हो एव ग्रन्थ लिखे हो उन्हे वेद वेदाग पुरस्कार से सम्मानित किया जाएगा। पुरस्कार राशि २१ ००० रुपए से बढ़ाकर २५,००१ रुपए दी जाएगी।

२ वेदोपदेशक पुरस्कार —

वेद वेदाग के अनुसधान कर्त्ताओं के अतिरिक्त जिस विद्वान ने जीवन पर्यन्त आर्य समाज के उपदेशक, भजनोपदेशक, अथवा कायकर्ता के रूप में सेवा की हो, उन्हें वेदोपदेशक पुरस्कार से सम्मानित किया जाएगा। पुरस्कार की राशि ११,००० रुपये से बढाकर १५,००१ रुपये होगी।

पुरस्कृत किये जाने वाले प्रत्येक विद्वान को अभिनन्दन पत्र, शाल एव रजत ट्राफी से सम्मानित किया जाएगा। उपरोक्त पुरस्कार हेतु आर्य समाज सान्ताक्रुज बम्बई-५४ योग्य विद्वानो के प्रस्ताव को आमन्त्रित करती है जो आर्य बन्धु किसी विद्वान का नाम उपरोक्त पुरस्कारो हेतु प्रस्तावित करना चाहते हैं उन विद्वानो के जीवन परिचय, कार्य एव लिखे गये ग्रन्थो की सूची सहित विस्तृत पत्र दि १०-३-९३ तक भेजने की कृपा करें। जो विद्वान अपने नाम का स्वयं प्रस्ताव करेंगे वे अयोग्य माने जाएगे।

सेवा में—

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सावदेशिकप्रेस, पटौदी हाउस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल १०२४/१-०९२

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अक २३ रविवार १४ माच १९९३ विक्रमी सम्वत् २०४९ दयानन्दाब्द १६८ सृष्टि सम्वत १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

सार्वदेशिक सभा के वार्षिक अधिवेशन मे महत्वपूर्ण निर्णय

देश की एकता की रक्षा के लिए आर्यसमाज को काम करना है

मेवात मे हिन्दुओ पर अत्याचार की निन्दा | अयोध्या मे केवल राम मन्दिर का निर्माण हो | महाराणा प्रताप जयन्ती मनाने की घोषणा

नई दिल्ली, २८ फरवरी। आय समाज के सर्वोच्च सगठन सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का वार्षिक अधिवेशन सभा प्रधान पूज्य स्वा आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता मे १८ फरवरी को आर्य समाज मन्दिर दीवान हाल मे सम्पन्न हुआ। २६ व २७ फरवरी को सभा की कार्य समिति एव धर्मार्य सभा की महत्वपूर्ण बैठकें हुई।

स्वामी आनन्दबोध ने अपने सम्बोधन मे कहा कि आज जब देश अनेक समस्याओ से ग्रस्त है तो आर्य समाज को आगे बढकर देश की एकता व अखण्डता की रक्षा के लिए जन जन की आकाक्षाओ के अनुरूप आगे बढकर कार्य करना होगा। ऐसे हालात मे आर्य समाज को महत्वपूण भूमिका निभानी होगी।

स्वामी जी ने,स्मरण कराया कि अग्रेजो व प्रतिक्रियावादी देशी नरेशो के विरुद्ध सघर्ष मे आर्य समाज ने उल्लेखनीय भूमिका निभा ी थी।

सभा के साधारण अधिवेशन मे आय प्रतिनिधि सभा दक्षिण अफ्रीका से पधारे श्री सत्यदेव शानन का जोरदार स्वागत किया गया।

अधिवेशन में दक्षिण भारत से प० वन्देमातरम् रामचद्र राव बम्बई से कैप्टन देवरत्न आय, गुजरात से मधुसूदनलाल पित्ती श्री रत्न प्रकाश गुप्ना, मध्यप्रदेश से श्री रमेशचन्द श्रीवास्तव बगाल से वटकृष्ण वमन पजाब से श्री वीरेन्द्र, हरियाणा से प्रो० शेरसिह, हिमाचल से प० विद्याधर राजस्थान से श्री छोटू सिह एडवोकेट दिल्ली से बाबू सोमनाथ मरवाहा महाशय धर्मपाल, श्री सूयदेव, सार्वदेशिक न्याय सभा के प्रधान जस्टिस महावीरसिंह उ० प्रदेश से डा० सच्चिदानन्द शास्त्री और जयनारायण सहित कई प्रमुख महानुभाव सम्मिलित हुए।

अधिवेशन मे निम्न चार महत्वपूण प्रस्ताव पारित हुये —

प्रस्ताव सं०—१

आज देश जिस प्रकार से सकटमय परिस्थितियो से गुजर रहा है यह आर्य समाज के लिए गहरा चिन्ता का विषय है। इन बिगडती परिस्थितियो के बावजूद राजनीतिक दलो द्वारा चैतन्य हीनता और भी अधिक दयनीय है।

हम एक ऐसी अवस्था मे पहुच चुके है जहा अपने आपको दो बुराइयो के बीच मे फसा पाते हैं।

—राष्ट्रीय एकता की भावना का सर्वत्र अभाव।

—बाहरी शत्र ताकतो द्वारा महायता प्राप्त विघटनकारी प्रयास।

आर्य ममाज का यह दृढ विश्वास है कि भारतीय सविधान के कुछ प्रावधान तथा हमारे देश के कुछ तत्वो (सवैधानिक अगो) की स्वय को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग रखने की इच्छा दोनो ही राष्ट्रीयता के अभाव के लिये जिम्मेदार हैं।

आर्यसमाज यह महसूस करता है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय षडयन्त्र के तहत ऐसा किया जा रहा है जिससे भारत को कमजोर करके इसे विभिन्न स्वतन्त्र राज्यो मे बाटा जा सके और यह सब उसी प्रेरणा से किया जा रहा है जिस प्रकार ब्रिटेन के नेताओ ने स्वतन्त्रता से पूर्व हमारे देश को धर्म के नाम पर बाटकर इस देश के दो टुकडे किए थे।

आर्य समाज का यह मत है कि हिन्दुत्व चेतना का उदय" केवल मात्र एक प्राकृतिक प्रतिक्रिया है उस व्यवहार की जो हमारे देश के आदर्शवादियो ने इस देश के बहुसख्यक लोगो के साथ किया है। यह तथाकथित आदर्शवादी यथार्थ से परे ऊची हवा मे उडान भरते हुए ऐसा पिछले कई वर्षों से करते रहे है।

भारत आज उन कट्टरवादी इस्लामिक देशो के बीच दबकर रह गया है जिनमे मे एक इसके पूव मे है, एक पश्चिम मे है, इसके अतिरिक्त अन्य इस्लामिक देशो की एक विस्तृत शृखला। इन इस्लामिक

(शेष पृष्ठ २ पर)

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक - विमलकान्त शर्मा

सार्वदेशिक सभा के महत्वपूर्ण निर्णय

(पृष्ठ १ का शेष)

देशो के कुछ ऐसे सगठन जो गैर इस्लामिक राष्ट्रो की प्रत्येक क्रिया पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए तत्पर रहते हैं। इस प्रक्रिया मे अन्य समस्त पथिक समुदाय उनके लिए असहनीय हैं।

यही नही भारत मे भी इस प्रकार के इस्लामिक कट्टरवादी सगठनो के समर्थक मौजूद हैं जो भारत को खण्ड-खण्ड करना चाहते हैं, जिसके पीछे इनका उद्देश्य या तो एक नये इस्लामिक देश की कल्पना है या पाकिस्तान को कुछ अतिरिक्त भूमि लाभ है। इन्ही लोगो द्वारा कुछ हिन्दू मन्दिरो को तोडे तथा अपवित्र किए जाने के उदाहरण हमारे सामने हैं।

"हिन्दुत्व चेतना का उदय" यदि आलोचनात्मक पहलू से भी देखा जाय तो भी यह एक प्राकृतिक प्रतिक्रिया ही है, उस व्यवहार के प्रति जो मुस्लिम कट्टरवादियो द्वारा प्रदर्शित किया जाता रहा, तथा सरकार की मुसलमानो के लिए तुष्टिकरण नीति जो सेक्यूलरिज्म के नाम पर अपनाई गई है।

सेक्यूलरिज्म (पथ निरपेक्षता) का अभिप्राय भेदभाव कदापि नही है। यदि इसका अर्थ "सर्व धर्म सम्भाव" लिया जाता है तो समाज सुधार तथा समाज कल्याण के नाम पर केवल हिन्दू धर्म के कार्यो मे ही हस्तक्षेप की सवैधानिक व्यवस्था क्यो? जब कि दूसरे अन्य पथो मे इससे भी अधिक सामाजिक बुराईया विद्यमान है और जहा हस्तक्षेप सम्भव भी है।

आर्य समाज यह महसूस करता है कि यही उचित समय है जब समस्त राजनैतिक दलो के द्वारा अपनी राजनैतिक सोच से ऊपर उठते हुए समस्त राष्ट्र तथा इसके लोगो के विषय मे बिना किसी भेदभाव के विचार किया जाये।

भारत की जनता बिना किसी जाति या पथिक भेदभाव के भारतीय है, उन्हे एक मानकर चलने की नीति ही राष्ट्रीय एकता की भावना को मजबूत करेगी।

अत आर्य समाज का यह सुझाव है कि सेक्यूलरिज्म से सम्बन्धित उन समस्त सवैधानिक प्रावधानो मे यथोचित परिवर्तन किए जाए जिससे किसी भी पथ के हित मे या अहित मे किसी प्रकार का भी भेदभाव सम्भव न हो।

प्रस्ताव सं०—२

अयोध्या मे ढाचा गिराए जाने के बाद उत्पन्न परिस्थितियो और विशेष रूप से प्रधानमन्त्री द्वारा मस्जिद के पुनर्निर्माण की घोषणा से आर्य समाज, सरकार द्वारा इस विवाद को समाप्त करने के लिए किये जा रहे इन प्रयासो से सहमत नही है।

अब जबकि राष्ट्रपति द्वारा इस विवाद को सर्वोच्च न्यायालय की राय हेतु सविधान के अनुच्छेद १४३ के तहत माननीय न्यायाधीशो के सुपुर्द कर दिया गया है, इन परिस्थितियो मे आर्यसमाज सरकार से यह माग करता है कि सर्वोच्च न्यायालय की राय से पूर्व इस विवाद के निपटारे मे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप, सरकारी कार्यवाही द्वारा या बयानो द्वारा न किया जाए क्योकि यह न्यायिक प्रक्रिया की अवमानना होगी।

आर्य समाजो की शिरोमणि सस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का यह निश्चित मत है कि अयोध्या, जो कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम की जन्म स्थली है, मे मस्जिद निर्माण की बात अब नहीं की जानी चाहिए। वहा केवल राम मन्दिर का निर्माण होना चाहिए। इस मार्ग मे आने वाली किसी भी प्रकार की अडचनो को देश का राष्ट्रवादी तत्व कदापि स्वीकार नहीं करेगा।

आर्य समाज उन प्रबुद्ध मुसलमानो की राय का स्वागत करता है जिन्होने उदारता पूर्वक राममन्दिर निर्माण के पक्ष मे राय दी है और देश के अन्य समस्त समुदायो और सगठनो से अपील करता है कि वे भी एक निर्विवादित सत्य के समर्थन मे आवाज उठावें।

इस विवाद के चलते देश मे सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सुधार और कल्याणकारी कदम सफल नही हो सकते।

प्रस्ताव सं०—३

अधिवेशन मे सर्वसम्मति से यह भी निर्णय हुआ कि आर्य समाज द्वारा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता और अखण्डता के महापुरुष महाराणा प्रताप की जयन्ती राष्ट्रीय स्तर पर समारोह पूर्वक मनाई जायेगी। इस निर्णय के क्रियान्वयन के लिए एक उपसमिति का गठन कर दिया गया है।

प्रस्ताव सं०—४

सार्वदेशिक सभा के इस अधिवेशन मे अयोध्या काण्ड के बाद हरियाणा मे मेवात क्षेत्र के हिन्दुओ पर मुस्लिमो द्वारा किए गये अत्याचारो, मन्दिरो की तोडफोड और सम्पत्तियो के नुकसान की कडी निन्दा की गई और एक प्रस्ताव द्वारा भारत सरकार और हरियाणा सरकार से माग की गई कि मेवात क्षेत्र मे असुरक्षित अल्पसख्यक हिन्दुओ के सम्भावित पलायन को रोकने के लिए तुरन्त कडी कार्यवाही की जावे। ●

भारतीय लोकतन्त्र की अग्नि परीक्षा

दशरथ जैन, पूर्व मन्त्री म०प्र० प्रशासन

कही अयोध्या प्रकरण ने हमारी राष्ट्रीय एकता पर प्रहार कर मुस्लिम लीग के द्वि-राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को पुष्ट तो नही किया? जो भी हो विश्व के मुसलमानो को यह कहने का मौका जरूर मिल गया कि कायदे आजम मुहम्मद अली जिन्ना बडे ही दूरदर्शी थे और उन्होने पाकिस्तान के निर्माण की शर्त पर भारत की आजादी स्वीकार करने मे बडी ही बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था। अयोध्या प्रकरण से ही पडोसी और दूरस्थ देशो मे हिन्दुओ को कितनी क्षति पहुची है और वहा उनका जीना किस प्रकार दूभर हो गया है? राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को भी कितनी क्षति पहुची है? यदि एक मस्जिद को ध्वस्त करने मे पाकिस्तान मे लगभग ५५० और बागलादेश मे लगभग १२५ मन्दिर ध्वस्त होते है और उन देशो मे मजहबी उन्माद के कारण अल्पसख्यक हिन्दुओ को बडी सख्या मे मौत के घाट उतारते हुए उनकी बहुमूल्य सम्पत्ति नष्ट कर उन्हे दर-दर का भिखारी बनाया जाता है तो यह सौदा हमारे लिए कितना महगा पडा है, यह भी विचारणीय है। भारत मे ऐसी मस्जिदो की सख्या लगभग ३,००० बताई जाती है, जो मन्दिरो को ध्वस्त कर बनाई गई। यदि एक तथाकथित विवादित ढाचे को गिराने की देश को इतनी कीमत चुकानी पडी है, तो ३,००० मस्जिदो को गिराने की कितनी कीमत चुकानी पडेगी और इस कीमत को चुकाकर भी क्या हम भारत को विकसित देशो की श्रेणी मे रख पायेंगे?

चुनाव समाचार

आर्य समाज पीपाड़ नगर जोधपुर (राज०)

प्रधान—श्री बृजवल्लभ जी खण्डेलवाल
उपप्रधान-श्री कवि कस्तूरचन्द जी घनसार
मन्त्री—श्री विजयकुमार जी आर्य
कोषाध्यक्ष—श्री जगदीश चन्द जी आर्य
पुस्तकाध्यक्ष—पूनमचन्द जी जडिया।

चम्पालाल आर्य, पू० मन्त्री

देदीप्यमान नक्षत्र पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी



आर्य समाज के देदीप्यमान नक्षत्र पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी २६ वर्ष की अल्पायु में १९ मार्च, सन् १८८९ को प्रातः ७ बजे चल बसे। उन्होंने जो अद्वितीय कार्य किये उनके कारण पंडित जी का नाम आर्य समाज के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी का जन्म २६ अप्रैल, १८६४ को मुल्तान के एक धर्मपरायण परिवार में लाला रामकृष्ण के घर हुआ था। उनके बचपन का नाम मूला था। उनके सरदाना कुल गुरु ने उनका नाम वैरागी रखा परन्तु बाद में वे गुरुदत्त के नाम से विख्यात हुये।

विलक्षण प्रतिभा के धनी मुनिवर पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एक मेधावी छात्र थे। सन् १८८० को हुई मैट्रिक की परीक्षा में उन्होंने सारे पंजाब में पंचम स्थान प्राप्त किया। एफ ए की परीक्षा में वे प्रथम स्थान पर रहे। लाला लाजपतराय, हंसराज आदि उनके सहपाठी थे। एम एस. सी की परीक्षा में तो पूरे विश्वविद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करके उन्होंने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया था।

अद्भुत तर्कशक्ति सम्पन्न पं० गुरुदत्त विद्यार्थी प्रत्येक बात को तर्क के तराजू पर ही तोलते थे। पं० रैमलदास व लाला चेतनदास की प्रेरणा से सत्यार्थ प्रकाश पढने के बाद वे आर्य समाज की ओर आकृष्ट हुये और २० जून १८८० को आर्य समाज के विधिवत् सदस्य बन गए।

जब महर्षि दयानन्द की बीमारी का समाचार लाहौर पहुंचा तो पंजाब प्रतिनिधि सभा की ओर से पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एव लाला जीवनदास दो युवकों को प्रतिनिधि के रूप में अजमेर भेजा गया। वे ९ अक्तूबर, १८८३ को अजमेर पहुंचे। पं० गुरुदत्त ने ऋषि के जब दर्शन किये तो वे मृत्युशय्या पर पडे थे। पं० गुरुदत्त तब तक घोर नास्तिक थे परन्तु जब उन्होंने ऋषि की मृत्यु का अद्भुत दृश्य देखा तो पंडित जी के हृदय में ईश्वर के प्रति अगाध विश्वास ने जन्म लिया और उनके जीवन की दिशा ही बदल गई। अन्तिम समय में ऋषि के पास केवल पं० जी ही थे और "हे प्रभो तेरी इच्छा पूर्ण हो" कहते हुए ऋषि ने नश्वर शरीर त्यागा था।

लाहौर पहुंचने पर पंडित जी ने ऋषि दयानन्द की मृत्यु के बाद में एक मर्मस्पर्शी व्याख्यान दिया और ऋषि की स्मृति में एक महाविद्यालय खोलने का प्रस्ताव रखा।

१ जून, १८८६ को स्थापित प्रथम डी ए वी स्कूल के संस्थापकों व कर्णधारों में पंडित जी का नाम उल्लेखनीय है। पंडित जी ने स्थान स्थान पर व्याख्यानों द्वारा धन संग्रह में अपूर्व योगदान दिया।

शिक्षा समाप्ति के बाद पंडित जी को अतिरिक्त सहायक आयुक्त (एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमीशनर) का सम्मानजनक पद मिल रहा था परन्तु उन्होंने शिक्षक का व्यवसाय अपनाया। वे सरकारी कालेज में विज्ञान के प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हो कार्य करने लगे और आर्य समाज की मां सेवा समर्पित भाव से करते रहे।

पं० गुरुदत्त ने सत्यार्थ प्रकाश का १८ बार स्वाध्याय किया था और हर बार उन्हें उससे नवीन प्रकाश व ज्ञान मिलता रहा। बार बार अनुरोध करने पर भी उन्होंने ऋषि की जीवनी न लिखने का यह कारण बताया कि अभी तो वे देव दयानन्द के जीवन चरित्र को अपने जीवन में ढालने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे आदर्श मनीषी थे पं० गुरुदत्त विद्यार्थी।

पं० जी की स्मरण शक्ति गजब की थी। उर्दू, फारसी, हिन्दी, संस्कृत, पंजाबी, अंग्रेजी, मुल्तानी आदि भाषाओं पर उनका अधिकार था। वे एक अच्छे आशु कवि भी थे।

प्रबुद्ध पत्रकार पं० गुरुदत्त ने एक उच्चस्तर की वैदिक मेगजीन का भी प्रकाशन व सम्पादन किया। पं० जी की विद्वत्ता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उनके द्वारा तैयार टर्मिनोलोजी आफ वेदाज नामक कोष आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित किया गया था। आपने कुछ उपनिषदों का भी अंग्रेजी में अनुवाद किया।

पंडित जी स्वयं को एक विद्यार्थी ही मानते थे परन्तु उनके पांडित्य के कारण उन्हें पंडित जी कह कर सम्बोधित किया जाता था। पं० जी ओजस्वी वक्ता थे। वेद प्रचार के लिए घूम-घूम कर व्याख्यान देने, अष्टाध्यायी की कक्षाएं लेने, डी ए वी के लिए अथक काम करने आदि से उन्हें क्षय रोग हो गया और १९ मार्च १८९० को उन्होंने नश्वर देह त्याग दी। लाहौर में श्मशान भूमि में एक विशाल जन-समूह की उपस्थिति में वैदिक रीति से उनकी अन्त्येष्टि की गई।

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी आर्य समाज के प्रकाशस्तम्भ हैं। १९ मार्च को उनके निर्वाण दिवस पर प्रतिवर्ष सभाओं, गोष्ठियों व कार्यक्रम द्वारा उनके गौरवशाली व्यक्तित्व व कृतित्व का स्मरण कर उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। इस तिथि के आसपास के आर्य समाज के रविवारीय सत्संग, दैनिक यज्ञ, उत्सवों आदि में भी पंडित जी पर विशेष व्याख्यान कराये जाने चाहिए। वे जातियां मिट जाती हैं जो देश व धर्म पर बलिदान होने वाले अपने शहीदों को भूल जाती हैं। अतः पंडित गुरुदत्त जी का पुण्य स्मरण कर, उनसे प्रेरणा ले और अधिक सक्रिय होकर सच्चे मन से हमें आर्य समाज की सेवा करते रहना चाहिए।

अद्भुत मनीषी को कोटि कोटि नमन

—विमल कान्त शर्मा

सम्पादक के नाम पत्र

पठनीय व संग्रहणीय विशेषांक

आर्य सन्देश का महर्षि दयानन्द निर्वाण दिवस एवं पं० नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' संयुक्तांक प्रकाशित कर आपने अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है। विशेषांक पठनीय व संग्रहणीय है। बधाई स्वीकार करें।

अनन्त प्रसाद आर्य पुरोहित
आर्य समाज मन्दिर, छपरा, बिहार

'आर्य सन्देश' सम्बन्धी घोषणा

फार्म-४

१ प्रकाशन का स्थान	१५ हनुमान रोड नई दिल्ली
२ प्रकाशन अवधि	साप्ताहिक
३ मुद्रक का नाम	सूर्यदेव
क्या भारत का नागरिक है	हाँ
४ मुद्रक का पता	१५ हनुमान रोड, नई दिल्ली १
५ प्रकाशक का नाम	सूर्यदेव
६ क्या भारत का नागरिक है	हां
७ प्रकाशक का पता	१५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१
८ सम्पादक का नाम	सूर्यदेव
क्या भारत का नागरिक है	हां
सम्पादक का पता	१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-१
उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हो	दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली ११०००१

मैं सूर्यदेव एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये हुए विवरण सत्य हैं।

सूर्यदेव
प्रकाशक

महर्षि दयानन्द की मान्यताएं

डा० नरेन्द्र कुमार 'आलोक 'सपना' ई १२० डी, प्रताप विहार, गाजियाबाद उ प्र

विश्व की महान विभूतियों में महर्षि दयानन्द का विशिष्ट स्थान है। उन्होने १६वी शती में सम्पूर्ण विश्व को मानवता का पाठ पढाया। सम्पूर्ण विश्व को एकात्मकता का चोला पहनाने के लिए उस समय आवश्यकता थी एक युग-दृष्टा की। उसे महर्षि दयानन्द ने पूरा किया। उन्होने समय को पहचाना। वैदिक सस्कृति में छिपे हुए अमूल्य वैदिक सिद्धान्तो को पुन ससार के सम्मुख रखा। सिद्धान्तो का प्रचार प्रसार सस्था द्वारा सुव्यवस्थित ढग से हो इसलिए उन्होने १८७५ मे आर्य समाज की स्थापना की।

महर्षि दयानन्द ने अपने विचारो के सम्बन्ध में लिखा है—"मैं कोई नया मत-मजहब-सम्प्रदाय चलाने नही आया हू। अपितु ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त वैदिक विचारो का ही प्रचार-प्रसार करना चाहता हू।

स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने कोई नया मत नही चलाया। आर्य समाज को सम्प्रदाय विशेष मानना उचित नही।

उन्होंने तत्कालीन समाज का गहन चिन्तन व मनन कर तदनुकूल वैदिक सिद्धातो का पुन प्रतिपादन किया। यहा उनकी प्रमुख वैदिक विचारधारा को सक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

आध्यात्मिक मान्यताएं

ईश्वर—स्वामी दयानन्द ने परमात्मा के विभिन्न गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर उसके शताधिक नामो पर प्रकाश डाला है। फिर भी परमात्मा का निज व मुख्य नाम ओ३म् माना है। उसी नाम का सर्वदा प्रयोग करना चाहिए।

बहुदेवतावाद—अनेकेश्वरवाद एव जड देवी देवताओ की उपासना को नकारते हुए उन्होने—

इन्द्र मित्र वरुण म्निमाहुरथो दिव्यस्सुपर्णो गरुत्मान।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि 'यम' मातरिश्वानमाहु ॥

जैसे अनेक प्रमाणो से एक परब्रह्म की उपासना पर बल दिया है।

ईश्वर के सम्बन्ध में स्वमन्तव्यामन्तव्य में वह लिखत हैं—"ईश्वर जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं जो सच्चिदानन्द आदि लक्षणयुक्त हैं जिसके गुण-कर्म-स्वभाव है जो सर्वत्र निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान दयालु, न्यायकारी एव सृष्टि का कर्ता धर्ता, हर्ता सब जीवो को कर्मानुसार सत्य न्याय से फल देने वाला दाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हू।"

परमात्मा के इन गुणो के आधार पर महर्षि दयानन्द ने अवतारवाद, मूर्तिपूजा, अनेकेश्वरवाद को अवैदिक सिद्ध कर सृष्टि के आदि कर्तारूप मे एक ब्रह्म को ही उपास्य बताया है। ईश्वर नित्य है। वह जन्म, मरण, इच्छा, द्वेष आदि कर्मो से सवथा अलग है। उसकी प्राप्ति वेदोक्त धर्माचरण-उपासना आदि से सम्भव है।

जीव—महर्षि दयानन्द के अनुसार जीवात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव सम्पन्न है जीव को परिभाषित करते हुए वह लिखते हैं—

"जो इच्छा, द्वेष, सुख, दु ख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को जीव मानता हू।'

जीवात्मा कर्मों को करने मे स्वतत्र है। किन्तु फल भोगने मे परतत्र है। जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधम्य से भिन्न और व्याप्य-व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न है। अर्थात जैसे आकाश से मूर्तिमान द्रव्य कभी भिन्न न था, न है और होगा, न कभी एक था, न होगा—इसी प्रकार परमेश्वर व जीव को व्याप्य-व्यापक उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त मानता हू।'

जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्व जाते
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।

जैसे अनेक प्रमाणो से अपनी मान्यताओ को स्पष्ट किया है।

प्रज्ञान ब्रह्म। अह ब्रह्मास्मि। आदि ब्राह्मण वचनो की व्याख्या करते हुए वह लिखते हैं—

अर्थात् ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप है (अहम्) अर्थात् ब्रह्मस्थ हू। यहा तात्स्थ्योपाधि है। मचा क्रोशन्ति का अभिप्राय है—मचस्थ पुरुष पुकारते हैं। न कि मच। क्योकि मच जड है। अत मच पुकारने में असमर्थ है। इसलिए जीव ब्रह्म का सहचारी है। वेदोक्त तर्कों के आधार पर स्वामी दयानन्द ने ईश्वर, जीव-प्रकृति तीनो को अनादि माना है। प्रकृति जड है। ईश्वर जीव चेतन होते हुए भी भिन्न है। उन्होने द्वैत-अद्वैत आदि को व्यवहारिक न मानकर त्रैतवाद की पुष्टि की है।

प्रकृति —इस दृश्यमान जगत का निमित्त कारण परमात्मा है। एवं उसका उपादान कारण प्रकृति है। साख्य दर्शन के अनुसार— सत्व (शुद्ध) तमः (जाड्य) अर्थात् तीनो का सघात ही प्रकृति है। उससे महत्तत्व, महत्तत्व से अहकार, अहकार से पचतन्मात्राए, उनसे सूक्ष्म भूत और दस इन्द्रिया ग्यारहवा मन पाच तन्मात्राओ से और इन्द्रिया, मन स्थूल भूतो का कारण है। पुरुष प्रकृति का न उपादान कारण है और न किसी का कार्य है।

सदेव सोम्येदम् आसीत्। ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। सर्व खल्विद ब्रह्म नेह नास्ति किंचित्। जैसे कुछ वचनो के आधार पर कुछ लोगो ने इस दृश्यमान जगत को ब्रह्म माना है उनके अनुसार सब कुछ ब्रह्म ही है। उसके अलावा कुछ भी नही है। परन्तु स्वामी दयानन्द का मानना है कि जैसे शरीर के अग जब तक शरीर के साथ रहते हैं तब तक कार्य कर सकते हैं। अन्यथा निष्क्रिय हो जाते हैं। वैसे ही प्रकरणस्थ विषय सार्थक और प्रकरणसे अलग करने का किसी अन्य के साथ जोडने पर अनर्थ हो जाते है। आशय यह है कि यहां सत्यस्वरूप प्रकृति एव जगत का मूलाधार और स्थिति का स्थान है। यह सब जगत सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा ब्रह्म प्रकृति मे लीन होकर वर्तमान था अभाव न था।

जगत का निर्माण निमित्त उपादान एव साधारण कारणो से होता है। निमित्त कारण के दो भेद हैं—१ सब सृष्टि को दो कारको से बनाना, धारण एव पालन करना साथ ही सबका व्यवस्थापक मुख्य निमित्त कारण परमात्मा है।

२ परमात्मा की सृष्टि मे से पदार्थों को लेकर अनेक विध कार्यान्तिर बनाने वाला साधारण निमित्त कारण जीव है।

उपादन कारण का अभिप्राय है प्रकृति-परमाणु एव ससार के बनाने की सामग्री। जगत को उपादान ब्रह्म को माने, तो ब्रह्म परिणामी अवस्थान्तरयुक्त विकारी हो जाएगा। वैशेषिक दर्शन के अनुसार, जैसा उपादान कारण होता है वैसे ही उससे होने वाले कार्य मे भी गुण आ जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—'यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय सम्भवन्ति, यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथा द रात्सम्भवतीह विश्वम्।

इसका आशय यह है कि जगत का उपादान कारण ब्रह्म नही है। क्योंकि वह जडरूप शरीर ततु का उपादान और जीवात्मा निमित्त कारण है। वैसे ही व्यापक ब्रह्म ने अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत को बनाकर बाहर स्थूल रचकर आप उसी मे व्यापक होकर साक्षी भूत आनन्दमय हो रहा है।

वेद —सृष्टि के प्रारम्भ मे परमात्मा ने अग्नि आदित्य, वायु तथा अगिरा के अत करण मे ज्ञान कर्म उपासना एव विज्ञान युक्त चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एव अथर्ववेद प्रकट किए। परमात्मा नित्य होने से उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान (वेद) को नित्य मानना चाहिए। देश, काल, सीमा आदि की दृष्टि से वेद को बाधा नही जा सकता। महर्षि दयानन्द ने वेदोत्पत्ति, नित्यत्व व विषय विचार आदि मे वेदोक्त परपरा का अनुसरण करते हुए स्पष्ट किया है कि परमात्मा ने मनुष्यो को वैदिक ज्ञान दिया। ताकि मनुष्य सृष्टि के तमाम पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर, उनसे यथावत लाभ उठा सके। वेदादि सत्यशास्त्रों का ज्ञान निमित्त परपरा से ही सभव है। स्वाभाविक ज्ञान से थोडा बहुत ही हो सकता है।

अत वेद, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् आदि का ज्ञान गुरुमुख से प्राप्त करना ही श्रेयस्कर होता है।

देवता —वैदिक दृष्टि से देवता तैंतीस होते हैं। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र एव एक प्रजापति को मिलाकर तैंतीस देवता होते हैं। शतपथ ब्राह्मण एव निरुक्तादि के अनुसार कुछ देवता जड और कुछ चेतन होते हैं। सूर्य-चन्द्रमा आदि को जड देवता कहते हैं। माता-पिता आचार्य धार्मिक व विद्वानों को चेतन देवता माना जाता है। वेद में, देवता से मन्त्रगत विषय का सकेत होता है। सूर्य, चन्द्रमा व पृथ्वी आदि व्यावहारिक व जड देवता हैं। अतः इनकी उपासना करना उचित नहीं है।

क्रमशः

आचार्य विश्वश्रवा व्यास का निधन

वैदिक वाङ्मय के प्रसिद्ध विद्वान् तथा आर्य समाज के वरिष्ठ नेता महा-महोपाध्याय आचार्य विश्वश्रवा व्यास का ९० वष की अवस्था मे २७ फरवरी १९९३ को रात्रि लगभग ३ बजे बरेली मे देहात हा गया।

आर्य जगत में आचार्य जी महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनन्य भक्त और सिद्धातो की रक्षा मे हर किसी से सर्वदा टकराने और जूझने के लिए विख्यात रहे हैं। अपनी विलक्षण प्रतिभा, उग्रस्वभाव ओजस्वी भाषण और प्रभावी लेखन के लिए सदा स्मरणीय रहेंगे। वे अपनी ही धुन के धनी थे। व्याकरण एव साहित्य के एक अच्छे शिक्षक होते हुए भी वे सरल और भावुक हृदय व्यक्ति थे। उनका सरल एव सरस काव्य अनायास ही पाठकों के हृदय को छू जाता है।

आचार्य जी ने आर्य समाज के सगठन मे विभिन्न पदो पर रहकर महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन की महान सेवा की है। अन्तिम समय तक वे सक्रिय रहे। पिछले कई वर्षों से नेत्र ज्योति प्राय नष्ट हो जाने पर भी अपने साहस और दृढ इच्छा शक्ति से दयानन्द और आर्य समाज की धुन मे ही मस्त रहे। अपने घर और परिवार को कभी भी अपेक्षित समय नही दिया।

एक साधारण परिवार मे जन्म लेकर अभाव एव उपेक्षा के वातावरण मे जाते हुए भी उन्होने अपने अथक परिश्रम, अदम्य साहस और महान लगन से विभिन्न स्थानो पर विभिन्न गुरुओ से विद्याध्ययन करते हुए स्वय को एक उच्चकोटि के विद्वान के रूप मे स्थापित किया। उन्होने अनेक उत्तम ग्रन्थ लिखे जिनमे कुछ अप्रकाशित ही रह गये।

आचार्य जी की अन्त्येष्टि २८ फरवरी को बरेली स्थित श्मशान भूमि पर पूर्ण वैदिक रीति से सम्पन्न हुई। सस्कार प० अशर्फीलाल आर्य तथा प० विद्याशकर अनलेश ने कराया। इस अवसर पर डा० ओमप्रकाश आर्य, सत्य स्वरूप एडवोकेट, डा० सतोष "कण्व" डा० प्रकाश, आचार्य प्राज्ञदेव डा० विश्वमित्र आदि अनेक विद्वान और आय समाज की विभिन्न सस्थाओ के प्रतिनिधि और कार्यकर्ता उपस्थित थे।

प्रेरक प्रसग

मां की याद

उन दिनो चन्द्रशेखर आजाद की अग्रेजी सरकार मुस्तैदी से खोज बीन कर रही थी। पर आजाद उसके हाथ नही लग रहे थे। वह घूमते हुए डी० ए० वी० कालेज लाहौर पहुचे। वहा वह द्वारका दास पुस्तकालय आने जाने लगे। एक दिन वह पुस्तकालयाध्यक्ष राजाराम शास्त्री जी के साथ घूम रहे थे। शास्त्री जी ने बातो ही बातो मे पूछ लिया —'आजाद भाई, तुम दिन रात क्रान्ति मे लगे रहते हो। अधिकतर घर से बाहर रहते हो। भूमिगत भी रहते हो। क्या कभी तुम्हे पूजनीय माता जी की याद नही आती। उनकी जब याद आती है तो तुम क्या करते हो।

इतना सुनना था कि आजाद का चेहरा उदास हो गया। आखें भर आई। बोले—"भाई, जीवन की यही मेरी सबसे बडी कमजोरी है। पुलीस भी यह समझती है कि जब भी मुझे मा की याद सतायेगी तब मैं घर पहुचूगा और पुलिस मुझे पकड लेगी। मातृभक्ति के कारण मैं पकडा गया, तो पार्टी का बहुत बडा नुकसान होगा। इस लिए मा के दर्शन से वचित रहना पडता है, मुझे।"

राजाराम उनकी बाते ध्यान से सुन रहे थे। आजाद बोले—"मा की याद सताते ही मैं उनकी पूजा करने लगता हू।" कहकर वह झुके। सिर धरती पर टिका दिया। बोले—"मैं मा से क्षमा मागने लगता ; कि मा यह न समझना कि मैं तुम्हें भूल गया हू। इस तरह धरती माता को ही अपनी माता समझकर वदना कर लेता हू।"

वाह रे आजाद! धन्य है तुम्हारी जननी और जन्मभूमि के प्रति श्रद्धा।

सद्भावों का यह त्योहार

पाठ पढ़ाता मानवता का, तथा सिखाता सद्व्यवहार।
ऋतु बसन्त के बीच पधारा, सद्भावो का यह त्योहार।
आओ बालक वृद्ध युवा सब, खेलें समरसता कारण।
जन जन के अन्तर मे पावन, उठे पुन अपनत्व तरग।
गले परस्पर मिलें सभी हम त्याग आपसी द्वेष-भावना।
सुख-समृद्धि-सफलता सरसे, पूर्ण बने नर-नारि कामना।
भेद भाव की कलुष कुटिलता का हो अब सम्पूर्ण समापन।
मानव मे मानव के प्रति हो, फिर से मधुरिम सा अपनापन।
जाति तथा सम्प्रदाय वाद के, विष का हो फिर पूरा अन्त।
आए सद्गुण सद्वृत्तियो का हर्षित सा ऋतुराज बसन्त।

राधेश्याम आर्य, विद्यावाचस्पति

वैदिक विद्वान की आवश्यकता

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वैदिक प्रकाशन विभाग तथा साप्ताहिक मुख-पत्र आर्य सन्देश मे सहयोग के लिए वैदिक सिद्धातो के ज्ञाता आर्य समाजी विद्वान की आवश्यकता है। वेतन योग्यता व अनुभव अनुसार निश्चित किया जायेगा। कृपया सम्पर्क करें।

डा० धर्मपाल महामन्त्री
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली-१

ईश्वर के नामों की पद्यमय व्याख्या (४)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

जड-चेतन जग की करे, जो रचना अविराम।
सविता' इससे सिद्ध है, परमपिता का नाम ॥ ४३ ॥

सत्पुरुषो की जीत हित रहता सदा सचेष्ट।
स्वय प्रकाशक जगत को करे उजाला भेंट ॥ ४४ ॥

स्तुति करने योग्य है सभी सुखो का सार।
जग को सुख, मदमस्त हित है वह ताडनहारा॥ ४५ ॥

निद्रा हित उसने दिया, रैन प्रलय उपहार।
काम्य ज्ञानमय ईश है देव ज्ञान आगार ॥ ४६ ॥

सबपिता सबका करे पालन, दे सुख ढेर।
परमेश्वर का नाम है, इससे सिद्ध 'कुबेर" ॥ ४७ ॥

विशद विश्व का कर रहा, पुन पुन विस्तार।
सर्व शक्तिमय ईश है, 'पृथिवी" जगदाधार ॥ ४८ ॥

अकथ-परम अणु परस्पर, करे सयोग वियोग।
दुर्जन हन्ता ईश को, "जल" कहते सब लोग ॥ ४९ ॥

बहुविधि इस ब्रह्माण्ड का, करता सतत् प्रकाश।
अत पूज्य परमात्मा, कहलाता 'आकाश' ॥ ५० ॥

सबको रख निज गर्भ मे, स्वय वरण के योग्य।
सब जग को स्वीकारता, पाते है सब भोज्य ॥ ५१ ॥

परमेश्वर के सिद्ध हैं, नाम "अन्त' "अन्नाद'।
"अत्ता"-तीनों से मिले, सबको पूर्ण प्रसाद ॥ ५२ ॥

बसते जिसमे भूत सब, सबमे जिसका वास।
परमपिता "वसु" नाम का, देता है आभास ॥ ५ ॥

आदर्श त्रैतवाद (२०)

राजसिंह भल्ला

हस शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोतावेदिषदतिथिर्दु रोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥
कठो० १-५ २

यह जीवात्मा एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर को जाने वाला है। बाहर की कोई वस्तु भी इसको अपने अधीन नही कर सकती। जो सम्पूर्ण शरीरो अर्थात् चींटी से लेकर मनुष्य तक मे जाने वाला जिसका दर्शन केवल मनुष्न के हृदयाकाश मे हो सकता है यज्ञो आदि कर्मो का करने वाला और शरीर की भूमि में रहने वाला—जिसकी आने जाने की कोई तिथि नियत नही मुक्ति के लिए केवल मनुष्य शरीर मे आने वाला मुक्ति मे लौट कर ऋषियो के शरीर में आने वाला, नित्य ज्ञान के द्व रा ब्रह्म मे स्थिर होने, तत्व ज्ञान के न होने मे जल जन्तुओ के जन्म धारण करने वाला, भूमि मे रहने वालो के शरीर में जाने वाला पहाडी जन्तुओ की दशा में उत्पन्न होने वाला और वास्तव में वह सब विकारो से अलग है। क्योकि वह अलिप्त है अविकारी है बाहरी प्रभाव उसमे नही जा सकता। जब इसको अप तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब सबसे ब्रह्म ही उसका उद्देश्य होता है। सारांश यह है कि ज्ञान और अज्ञान के कारण जीवात्मा की अनेक दशा होती है। ज्ञान के कारण यह उत्तम दशा मे होता है और अज्ञान के कारण नीच दशा मे होता है। इस कारण नीच गति से निकल कर उत्तम गति को पहुचता है।

आत्मा अमर है

जीवापेत वाव किलेद म्रियते न जीतो म्रियत इति।
स य एषोऽणिमा एतदात्म्यमिद सव तत्सत्यम् ॥ छान्दो० ६-११ ३

निश्चय से यह शरीर आत्मा रहित ही मरता है। आत्मा नहीं मरता। मरण भाव आत्मा में नही है। यह सदा अमर सत्ता है। वह जो यह अविनाशी आत्मा है परम सूक्ष्म है। यह आत्म भाव है। यह सब वह सत्य है। परम सत्य है।

आत्मा परम सूक्ष्म है

स य एषोऽणिमा। एतदात्म्यम् इद सव तत्सत्यम्। छान्दो० ६ १२ ३

वह जो यह देह म आत्मा है परम सूक्ष्म है। यह आत्मा भाव है। यह सब वह सत्य है

आत्मा अविकृत और अमृत सत्ता है

मघवन्म र्यं वा इद शरारमात्त मृत्युना। तदस्यामृतस्याशरीरस्या
त्मना धष्ठनम् आत्तो वै मशरीर प्रियाप्रियाभ्याम्। न वै सशरीरस्य
मत प्रयाप्रययोरपहृनिरस्ति अशरीर वाव सन्त न प्रयाप्रिये स्पृशत।
छान्दो० ८ १२ १

ह द्र। यह पाच भूता का बना देह मरण धर्मा है। मृत्यु म ग्रस्त खाया हुआ है। वह शरार स अविनाशी अशरीर आत्मा का अधिष्टान रहने का स्थान है। न चय सशरार आत्मा प्रियाप्रिय स सुख द ख स ग्रस्त है। निश्चय शरीर वाले आत्मा के सुख दु खो का न श नही है। आत्मा के अशरीर हो जाने पर सुख दु ख नही स्पश करने। आत्मा अशरीर अविकृत और अमृत मत्ता है।

आत्मा शुद्ध चेतन्य है

एवमेवैष सप्रसादोऽस्माच्छरीरात्स मु थाय पर ज्योतिरुपसपद्य स्वेन
रुपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तम पुरुष। स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण
स्त्रीभिवा यानर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजन स्मरं नद शरीर। स यथा प्रयोग्य
आचरणा युक्त एवमवायमस्मिञ्छरीर प्राणो युक्त। छन्दो० ८ १२ ३

ऐसे हा यह प्रसन्न आत्मा इस शरीर स निकल कर परम ज्योति परमेवर धाम को प्राप्त करके अपने परम शुद्ध स्वरूप म प्रकट होता है। यह मुक्तात्मा उत्तम पुरुष है। वह अ त्मा वहा मुक्ति में रहता है। मुक्त होकर यह स्त्रियो से यानो से ब न्धुओ मे हमता हुआ खेलता हुआ और जो रमण करता हुआ सशरीर आत्मा या उमका मित्र वग को और इस भौतक शरीर को न स्मरण करता हुआ रहता है। वह जैसे रथ मे जुडा हुआ घोडा होता है ऐसे ही यह आत्मा इस शरीर मे जुडा हुआ है। मुक्त होकर हा इसमे अलग होता है। वह शुद्ध चेतन्य है।

चौथा अध्याय

प्रकृति

तीसरा अनादि तत्त्व प्रकृति है। यह कारण रूप मे नित्य और काय रूप में अनित्य, परिणाम को प्राप्त होसे वाली, भोग और मोक्ष प्रदान करने वाली है। चेतन के मन्निधान से क्रियाशील होकर ससार का सृजन करन वाली है। अपने सब कार्यों की अपेक्षा विभु कारण रूप में सूक्ष्म, कार्य रूप ब्रह्माण्डो के रूप में स्थूल है। जड है परन्तु चेतन ब्रह्म के सन्निधान से चेतन भी बन कर जीवो को भोग और मोक्ष प्रदान करने मे समर्थ है। प्रलयकाल की अवस्था में कारण रूप मे स्थित होकर साम्य भाव को प्राप्त होती है और सृष्टि के सृजन काल में महान् आकार वाली बनकर समस्त ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर लेती है और सदा चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से क्रियाशील बनी रहती है। ये सब इस प्रकृति के धर्म हैं। बत्तीस प्र कार के पदार्थो का निर्माण करके सब प्राणियो का भोग और अपवर्ग प्रदान करना इसके मुख्य कम है। ज्ञान और क्रिया इसके सर्व प्रथम दो ही मुख्य गुण हैं। इसके द्वारा ही यह गतिशील होती है। चेतन ब्रह्म के साथ इसका नित्य सम्बन्ध है। यह व्याप्य है और ब्रह्म इसमे व्यापक है।

ब्रह्म के सम्बन्ध मे प्रकृति मे अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। वास्तव मे प्रकृति का अपना एक ही स्वरूप है जडता। शेष जितने भी धर्म इसमे उत्पन्न होते हैं—वे चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से होते हैं। इस प्रकृति की जो जडता है वह नित्य है इस की इस जडता का कभी अभाव नही होता इसलिए प्रकृति को सत् कहा है। क्योंकि ईश्वर, जीव प्रकृति तीनो पदार्थ नित्य और अनादि हैं। चेतन के सबध से यह प्रकृति ज्ञान और क्रिया वाली हो जाती है। हालांकि चेनन कूटस्थ है परन्तु इसमे ज्ञान और क्रिया सन्निधान मात्र से ही हो जाते हैं।

दशरथपुरी मे सीता जन्म दिवस

रविवार, १४ फरवरी ९३ को वेद प्रचार मण्डल, दिल्ली देहात की ओर से आर्य नेता श्री सत्यपाल आर्य की अध्यक्षता में सीता जी का जन्मदिवस बड़े ही समारोह पूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर स्वामी संजीवनी आनन्द सरस्वती प० उदय श्रेष्ठ, श्रीमती उज्जवला वर्मा एव श्री सपन शास्त्री ने इस आर्य पर्व के महत्व पर प्रकाश डाला।

आर्य कन्या गुरुकुल महाविद्यालय नरेला का वार्षिक महोत्सव

महर्षि दयानन्द के स्वप्नो को साकार करने वाली गौरवमयी सस्था कन्या गुरुकुल नरेला का सैंतीसता वार्षिक महोत्सव १३, १४ मार्च १९९३ को बड़ी धूमधाम से मनाया जा रहा है। सभी आर्य प्रेमियो को इस पुनीत अवसर पर सपरिवार सादर आमन्त्रित किया जाता है। कृपया अपने इष्ट-मित्रो सहित अधिक से अधिक सख्या में उत्सव मे पधार कर धार्मिक व सामाजिक लाभ उठावे।

वैद्य कर्मवीर आर्य, महामन्त्री

नेत्र चिकित्सा शिविर

आत्मशुद्धि आश्रम, बहादुरगढ, मे २८ मार्च १९९३ को अनुभवी डाक्टरो द्वारा आखो के आप्रेशन किये जायेंगे। रोगी २७ मार्च को नेत्र शिविर मे दाखिल हो जायें। दवाई, ऐनको, भोजन आदि की नि शुल्क व्यवस्था है। शिविर वेणु, नेत्र सस्थान, नई दिल्ली के सहयोग से लगाया जा रहा है।

२७ मार्च को महात्मा राम किशोर जी वैद्य के ब्रह्मत्व मे चतुर्वेद शतक वृहद यज्ञ प्रारम्भ होगा और २८ मार्च को पूर्णाहुति होगी।

सभी साथी सादर आमन्त्रित हैं।

डा० नरेन्द्र कुमार को मातृशोक

हिन्दी मासिक नन्दन के उप सम्पादक डा० नरेन्द्र कुमार की पूज्य माता श्रीमती विमला देवी का ११ दिसम्बर ९२ को इटावा उ प्र मे निधन हो गया। वे ७० वर्ष की थीं। श्री छेदी लाल की धर्मपत्नी श्रीमती विमला देवी सरल व हसमुख, धार्मिक स्वभाव की पतिव्रता नारी थी। उनके परिवार मे ३ पुत्र व १ पुत्री है।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवगत की आत्मा को शान्ति एव सद्गति तथा परिवार जनो को दुख सहने की शक्ति प्रदान करे।

आयसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१
R. N. No 32387/77 Posted at N D P S O. on 11-12 3-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३
पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३

महर्षि दयानन्द ने कुरीतियो के विरुद्ध संघर्ष का बिगुल बजाया था

डा० धर्मपाल

नई दिल्ली, १४ फरवरी। आर्य समाज बाहरी रिंग रोड, विकासपुरी का वार्षिकोत्सव ११ से १४ फरवरी, १९९३ तक समाज मन्दिर मे धूमधाम से मनाया गया।

११ फरवरी से आचार्या प्रेमभिक्षु के ब्रह्मत्व से प्रारम्भ हुये चतुर्वेद शतक पारायण महायज्ञ की १४ फरवरी को पूर्णाहूति के अवसर पर सैकडो आर्य नर-नारियो ने श्रद्धापूर्वक भाग लिया।

समाज सुधार के मन्त्रदाता विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुये दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने कहा कि १९ वी शताब्दी के महानतम समाज सुधारक स्वामी दयानन्द ने जात पात छुआ छात सती प्रथा, अनमेल विवाह जन्मना वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध सघर्ष का बिगुल बजाया था तथा विधवा विवाह को वेदानुकूल बताकर नारी शिक्षा पर बल दिया था। कार्यक्रम मे डा० धर्मपाल ने श्रीमती सरोजनी सचदेव द्वारा सम्पादित एक स्मारिका का भी विमोचन किया।

डा० श्रीमती शशी प्रभा कुमार ने कहा कि नारी को सम्मान दिलाने वाले स्वामी दयानन्द ने हमे स्वराज्य, स्वसस्कृति, स्वधर्म, स्वभाषा स्वसाहित्य का मन्त्र दिया। इस अवसर पर आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री, डा० महेशचन्द्र विद्यालकार, प० जैमिनी शास्त्री, आदि ने भी प्रेरक विचार प्रस्तुत किये।

कार्यक्रम मे मुख्य अतिथि श्री तिलकराज चोपड़ा ने सर्वश्री कुलभूषण कुमार, रामनाथ आहूजा, रविन्द्र आर्य, श्रीमती जनक चौधरी एव श्रीमती सुशीला साहनी को सम्मान चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया। समाज मन्त्री श्री यशपाल सलूजा ने मच सचालन किया था प्रधान श्री चन्द्रभान चौधरी ने धन्यवाद व्यक्त किया।

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय नरेला का वार्षिक वृतान्त

जनवरी १९९१ से मार्च १९९२ तक गुरुकुल नरेला मे नामकरण सस्कार शान्ति यज्ञ, जन्म दिन यज्ञ गृह प्रवेश, विवाह सस्कार, दुकान उद्घाटन पारिवारिक सत्सग, पर्व दहेज प्रथा, शराबबन्दी सिनेमा के खिलाफ प्रचार आदि के १६९ कार्यक्रम आयोजित कर लोगो मे जागृति पैदा की गयी। ये कार्यक्रम कादीपुर, कुण्डली, सिरसपुर बाकनेर सिघोला, कुरैनी, समयपुर, सफिदाबाद, अलीपुर, भोरगढ, शाहपुर गढी, मुखमैलपुर आदि नरेला से बाहर के ग्रामीण क्षेत्रो व नरेला में आयोजित किये गये।



सेवा में—

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिकप्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन–३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक २५ रविवार, २८ मार्च १९९३ विक्रमी सम्वत् २०४९ दयानन्दाब्द १६८ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

गाजियाबाद जनपदीय महासम्मेलन

आर्यसमाज के मंच का राजनैतिक दलों को दुरुपयोग न करने दिया जाये

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

गाजियाबाद, १६ मार्च। आय समाज के मच का राजनैतिक दलो द्वारा किये जा रहे दुरुपयोग को रोकना ही होगा तभी आर्य समाज अपने वास्तविक स्वरूप मे जनता की ओर अधिक सेवा कर सकेगा। ये उद्गार सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आन द बोध सरस्वती न आर्यसमाज सूरजपुर (ग्रेटर नोएडा) मे आयोजित गाजियाबाद जनपदीय महासम्मेलन मे मुख्य अतिथि के रूप मे विशाल जन सभा को सम्बोधित करते हुये प्रकट किय। स्वामी जी ने आगे कहा कि आय-समाज ने अतीत मे देश धम व जाति को बचाने के लिए जो बडे-२ त्याग व बलिदान दिये हैं वे इतिहास मे स्वण अक्षरो मे अ कित है।

स्वामी आनन्दबोध ने आगे बताया कि अयोध्या काड के बाद पाकिस्तान मे ५५०, बगला देश मे २२० तथा हरियाणा के मेवात क्षेत्र म २४ मन्दिरो को अपवित्र व ध्वस्त किया गया है उल्लेखनीय है कि स्वामी जी न मेवात का दौरा करन के बाद हरियाणा के मुख्य मन्त्री श्री भजन लाल से मन्दिरो के शीघ्र पुनिनर्माण की माग की है।

स्वामी जी ने यह भी बताया कि सन् १९८० के आसपास मीनाक्षी पुरम के गाव के सब हरिजनो को मुसलमान बना लिया था, उन सभी को आय समाज ने वैदिक धर्म मे पुन दीक्षित कर महत्वपूण काय किया है। इसके लिए आय समाज के शीर्ष नेताओ न सात बार दौरा किया और राष्ट्रीय स्तर का आय महासम्मेलन किया था जिसका प्रभाव पूरे दक्षिण भारत मे पडा था। उन्होने आगे कहा कि इसी प्रकार दयानन्द सेवाश्रम संघ विशेष रूप से उन क्षेत्रो मे उल्लेखनीय काम कर रहा है जहा ईसाई मिशनरी सक्रिय होकर लोभ व धन द्वारा शोषण करके उन्हे बलात ईसाई बना रहे हैं। इस सेवाश्रम की स्थापना २५ वष पूव धम परिवतन की गतिविधियो पर रोक लगाने हेतु की गयी। वतमान दयानन्द सेवाश्रम सघ आसाम, नागालैण्ड, राची, कालाहाण्डी, झाबुआ बासवाडा सीतापुर, सलकिया एव मध्य-प्रदेश व महाराष्ट्र के अनेक ईसाई बहुल क्षेत्रो मे कायरत है।

नव वर्ष शुभ व मंगलमय हो

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा विक्रमी सम्वत् २०५० के शुभारम्भ एव आय समाज स्थापना दिवस के पावन पव पर हार्दिक शुभ कामनायें।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा एव आय सन्देश की ओर से नव सम्वत्सर एव आय समाज स्थापना दिवस (२४ माच, १९९३) आप व आपके परिवार के लिए मगलमय एव कल्याणकारी हो।

सूर्यदेव
प्रधान दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा
एव प्रधान सम्पादक आय सन्देश

डा० धर्मपाल
महामन्त्री
दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा

विमल कान्त शर्मा
सह-सम्पादक

आर्यसमाज दीवान हाल का १०८वां वार्षिकोत्सव

२९ मार्च से १ अप्रैल : वेद प्रवचन समाज मन्दिर मे

लाल किला मैदान मे

२ अप्रैल : ध्वजारोहण, भाषण प्रतियोगिता व कार्यकर्त्ता सम्मेलन

३ अप्रैल : महिला सम्मेलन एवं संस्कृति रक्षा सम्मेलन

४ अप्रैल : वेद सम्मेलन एवं राष्ट्ररक्षा सम्मेलन

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सह सम्पादक—विमलकान्त शर्मा

लो श्रद्धाञ्जलि आर्य पुरुष !

(पं० रामाज्ञा 'आर्यपुत्र' की लेखनी से)

आर्य जगत् के यशस्वी लेखक श्री सुरेशचन्द्र जी वेदालकार का निधन गत् ३० जनवरी १९९३ ई० को गोरखपुर स्थित उनकी पुत्री के निवास स्थान पर हो गया। अपने एक अभिन्न मित्र द्वारा यह सूचना पाते ही जहा गहरी वेदना हुई, वही उनके सानिध्य मे बीते कुछ दुर्लभ क्षणो की स्मृतिया ताजी हो उठी। वैसे तो उनका परिचय आर्य पत्र-पत्रिकाओ के स्वाध्याय से वर्ष १९८६ ई० मे ही प्राप्त कर लिया था परन्तु जब उक्त मित्र द्वारा यह पता चला कि अपने निकट के ही एक ग्राम हाटा, डाकघर नदौली, जनपद-देवरिया के ही मूल निवासी है तो बडी हो प्रसन्नता हुई। श्री वेदालकार जी की जीवन-यात्रा अपने पैतृक ग्राम मे शुरू होकर, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थादि की परिक्रमाकर, गोरखपुर मे स्थायित्व को उस समय प्राप्त हुई जब वे गोरखपुर स्थित दयानन्द एग्लो वैदिक विद्यालय मे अध्यापक नियुक्त हो गये। इस स्थल को कर्मभूमि बनाकर, सतत आर्य सामाजिक प्रचार यात्राए कर, ऋषि दयानन्द जी की वैदिक विचार-धारा का प्रचार-प्रसार करते हुए ही, ईश की ऐसी कृपा, कि अन्तत उसी स्थल पर अपनी इस नश्वर काया को सदा सदा के लिए छोडकर, उस परमेश की परम सत्ता मे विलीन हो गये। जिसे मैं गोरखपुर वासियो का सौभाग्य ही समझता हू क्योकि वे इधर अनेक वर्षों से म्वदेवी जी के साथ अपनी जन्मभूमि के दर्शनार्थ गाव आकर कई कई माह प्रवास करने लगे थे।

परमात्मा की महती कृपा से गत्वर्षों मे एकबार उनके पैतृक निवास स्थान पर स्वमित्रो के साथ उनके साकार दर्शन का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था, और यह सुयोग इसलिए बन गया था कि उसी गाव के एक पौराणिक परिवार ने उन्ही की प्रेरणा से स्वनिवास स्थान पर शान्ति यज्ञ का कार्यक्रम निश्चित किया था। उस परिवार मे पहुचने से पूर्व हम तीनो जन सर्वप्रथम उनके आवास पर गये। लेखन कार्य छोडकर श्री वेदालकार दम्पती ने, अपनी अवस्था विशेष की शारीरिक दुबलताओ के बावजूद भी आतिथ्य मे कोई कोर कसर नहीं छोडी। 'विद्याददातिविनय' की सूक्ति का सजीव स्वरूप प्रत्यक्ष देख, मुझे तो एक विशिष्ट आनन्द प्राप्त हो रहा था जबकि हम सब बार बार यह आग्रह करते रहे कि 'आप आतिथ्य सम्बन्धी कोई भी कष्ट न उठाए क्योकि हम सब जलपानादि अभी-अभी करके ही चले आ रहे है।' स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के बावजूद भी वे कुछ क्षणो के लिए ही सह शान्ति यज्ञ मे यजमानो को आशीर्वाद देने पहुचे जबकि इसके पूर्व हम सब वहा पहुचकर श्री पण्डित जी के विशेष निवेदना के बाद यज्ञ की प्रक्रिया सम्पन्न कराये। इसके बाद श्री वेदालकार जी हम सबको अपने घर ले आये। उनके पैतृक आवास जो आज भी उनके पुरखो के वैभव की याद दिला रहा है के सम्बन्ध मे उन्होने बताया कि मेरी इच्छा इसमे एक पाठशाला व यज्ञशाला सहित आर्य समाज स्थापित करने की है साथ ही साथ वे यह भी चाहते थे कि मेरी जन्म धरा से नित्यप्रति ध्वनि विस्तारक यन्त्र के माध्यम से सुमधुर वेद की ऋचाए प्रसारित व वैदिक धर्म प्रचारित हो परन्तु ये सारी इच्छाए अधूरी छोडकर ही वे यहा से चल गये। अपने आवास पर उन्होने हम सबको स्वलिखित छपी अनेक पुस्तकें भी दी। मैंने तो अपनी उन पुस्तको पर यादगार हेतु हस्ताक्षर भी करा लिया पश्चात पूछ लिया कि इन पुस्तको की कीमत कितनी है? (ऐसा इसलिए किया कि उन्होने प्रथम ही, वार्तालाप के दौरान बताया था कि प्रकाशक बन्धुओ द्वारा मुझ तक मात्र इतनी ही उदारता बरती जा रही है कि मेरी स्वलिखित पुस्तको के प्रकाशन के बाद आवश्यक प्रतियो के आदेश पर पचीस प्रतिशत छूट देकर शेष राशि की वी० पी० कर दी जाती है जिसे आप सब प्रकाशक बन्धुओ द्वारा लेखक को दिया गया प्रोत्साहन, या जैसा चाहे उचित शब्द दे सकते हैं, सो कुछ सोच विचारकर लौटाना उचित न समझते हुए, आर्थिक तगी के दौर मे भी उसे छुडा लेता हू) उत्तर मे उन्होने तुरन्त कहा कि मैं जानता हू 'आर्यपुत्र' जी कि आपकी आर्थिक स्थिति शून्य है, इसलिए ये पुस्तकें आशीर्वाद के रूप में उपहार ही समझी जाए, साथ ही यह भी कहा कि भविष्य मे आप तक उपलब्ध पुस्तकें भिजवाता रहूगा। भाव सम्प्रेषण मे उनकी दीर्घ-कालीन अनुभव की झलक स्पष्ट हो रही थी। जब हम सब उनका अभिवादन कर चलने को हुए तो वे यह कहते हुए कि अभी तो आप सबको छोडने कम से कम दरवाजे तक तो चलते ही है और वे रुग्णावस्था मे भी हम सबके साथ कुछ दूरी तक चलने के पश्चात् ही लौटे थे। ऐसे सुयोग्य आर्य पुरुष का आशीर्वाद ले हम सब स्वस्थान लौट आए। बाद मे मेरी उनकी मुलाकात नही हो पायी। अर्थाभाव के कारण आन्तरिक इच्छा के बावजूद भी मैं उनसे गोरखपुर मिलने नही जा सका, अतएव दूसरी बार के साकार दर्शन से बचित ही रहा फिर भी पत्राचार की यदा-कदा प्रक्रिया मे, मैंने कभी भी शिथिलता नही बरती।

श्री राजेन्द्र जी 'जिज्ञासु' के पत्र के बारे मे जब मैंने उनसे चर्चा की तो उन्होने बताया कि 'उनकी मेरी मुलाकात, एक उत्सव पर हुई थी, जहा उन्होने मेरे धारा प्रवाह मन्त्र पाठ की प्रशसा की थी। इधर सम्भवत वेदालकार जी का अन्तिम प्रकाशित लेख स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज के सम्बन्ध में ही था जिसे आर्य पत्रो मे प्रमुखता से स्थान मिला था। सम्भवत कुछ ऐसे भी लेख हो, जो मृत्यु-पूर्व आर्य पत्रो को प्रकाशनार्थ प्रेषित किया गया हो। जब मुझे यह पता चला कि श्री वेदालकार जी के कर कमलो मे उस समय भी साहित्य सृजन करती लेखनी विद्यमान थी, जब उनके प्राण पखेरू निकल थे, तो मेरे सजल नेत्रो से अश्रु प्रवाहित हुए बिना नही रह सके। लेखनी के धनी गुरुकुल कागडी के सुयोग्य स्नातक व स्वामी श्रद्धानन्द जी की साधना का आजीवन दीप प्रज्जवलित रखने वाले इस श्रेष्ठ मनीषी को मैं अपनी विनम्र स्मृति श्रद्धाजलि अर्पित करता हू।

भागलपुर-देवरिया (उ०प्र०)

सरकारी कामकाज मे हिन्दी

श्री रामनाथ सहगल

भारत को स्वतन्त्र हुए ४५ वर्ष और इसे गणतन्त्र घोषित हुए ४३ वर्ष बीत गये है। सविधान मे हिन्दी (देवनागरी लिपि सहित) को राष्ट्रभाषा एव राजभाषा का पद दिया गया है और जब तक समस्त देशवासी इसे राष्ट्रभाषा एव राज-भाषा के रूप मे स्वीकार नही कर लेते तब तक अग्रेजी सह-भाषा के रूप मे मान्य रहेगी, ऐसा भी उल्लेख आया है। इस प्रसग मे मुझे इजराइल का एक उदाहरण स्मरण आ रहा है। इजराइल के अस्तित्व मे आने के उपरान्त वहा पर भी राष्ट्र-भाषा एव राजभाषा का प्रश्न आया था। विद्वानो से परामर्श किया गया तो 'हिब्रू' को राजभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करने के लिए समय-सीमा की अनेक बातें सम्मुख आई, जिनमे न्यूनतम अवधि छ मास की थी। सब देख-सुनकर शासक ने कहा 'छ मास की अवधि आज समाप्त होती है।' और अगले दिन से हिब्रू इजराइल की राष्ट्रभाषा घोषित हो गई किसी को किसी प्रकार की कठिनाई नही हुई। श्रीलका मे भी ऐसा ही कुछ हुआ था जब वहा सिंहली को राष्ट्र एव राजभाषा घोषित किया गया था।

भारत की स्थिति विचित्र है। सरकार की ओर से हिन्दी के प्रयोग के लिए निरन्तर परिपत्र भेजे जाते है, इसमे कोई सन्देह नही किन्तु अग्रेजी की अभ्यस्त नौकरशाही इससे परेशान है। विभागो मे हिन्दी के टाइपराइटर खरीदे गये, हिन्दी के स्टेनो टाइपिस्टो की नियुक्तिया हुई। इसके लिए विशेष प्रबन्ध किए गए, किन्तु वही 'ढाक के तीन पात'। हिन्दी मे डिक्टेशन कौन दे, परिणामस्वरूप कार्य नही चला। तब हिन्दी अधिकारियो और अनुवादको की नियुक्तियां हुई। कार्य मे कुछ गति आने लगी। केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद जैसी अनेक सस्थायें आगे आई तो कार्य मे और भी गति आने लगी।

वर्तमान मे सरकारी काम काज मे हिन्दी की स्थिति यदि सन्तोषजनक नहीं है तो अब उतनी निराशाजनक भी नही है। शनै शनै सरकारी काम काज में हिन्दी के चरण बढते जा रहे हैं और आशा करनी चाहिए कि ये चरण अब रुकेंगे अथवा थकेंगे नहीं अपितु बढते ही जायेंगे।

अनेक जन यह कहते नही थकते कि दक्षिण भारत मे हिन्दी का विरोध होता है। कदाचित यह पूर्ण सत्य नही है। अर्धसत्य भी केवल इसलिए कि वोट की राज-नीति ने अपने चरण जहा-जहा, जिस-जिस क्षेत्र मे रखे, वहा शेष सभी चरण पिछडते

(शेष पृष्ठ ७ पर)

अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के प्रचार-प्रसार का संकल्प लें



सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती के निर्देशन मे सभा ने १०+२ की न्यूनतम योग्यता वाले १८ से ४० वर्ष के देश विदेश के प्रतियोगियो के लिए सत्याथ-प्रकाश पत्राचार प्रतियोगिता शुरू की है। प्रतियोगिता का माध्यम हिन्दी अथवा अग्रेजी है और प्रथम, द्वितीय व तृतीय आने वाले विजेता को क्रमश ११ हजार, ५ हजार व २ हजार के आकषक पुरस्कार प्रदान किये जायेगे। सभा में इसके लिए एक अलग परीक्षा विभाग की भी स्थापना की गई है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा कृत सत्याथ-प्रकाश वस्तुत एक अमर ग्रन्थ है। प्रात सन्ध्या व यज्ञ के पश्चात् इसी अनमोल ग्रन्थ का स्वाध्याय करके ही अमर शहीद बिस्मिल ने फासी का फदा चूमा था। आर्य समाज के देदीप्यमान नक्षत्र पडित गुरुदत्त विद्यार्थी ने भी इसी अद्भुत ग्रन्थ को १८ बार पढ़ा था और हर बार उन्हे इससे एक नवीन प्रकाश, ज्ञान व प्रेरणा मिलती रही। इसी काल-जयी कृति को पढकर अनगिनत लोगो का जीवन ही बदल गया। अत इस पावन ग्रन्थ के प्रचार प्रसार की महती आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुये स्वामी आनन्द बोध जी द्वारा प्रारम्भ कराया गया यह अभियान अत्यन्त स्तुत्य है और सभी आय जनो को इसमें अधिक से अधिक प्रतियोगियो को भाग लेने के लिए प्रेरित करना चाहिए। यदि सभा ४० से अधिक आयु के प्रतियोगियो के लिए एक अलग वग बनाये अथवा ४० की अधिकतम आयु सीमा समाप्त कर दे तो ठीक रहेगा।

इसी सदर्भ मे स्वामी आनन्द बोध जी ने सभा की ओर से इस आशय की एक अपील भी जारी की है कि सभी आर्य समाजे व आर्यजन अपने-अपने क्षेत्र मे बिभिन्न विषयों के बुद्धि जीवियो, स्कूल-कालेज की कक्षाओ मे प्रथम, द्वितीय व तृतीय स्थान पाने वाले विद्यार्थियों आदि को प्रति वर्ष कम से कम २०० सत्यार्थ-प्रकाश सप्रेम भेंट करे और वाछित रिकाड रखे। सभा द्वारा इस दिशा मे सर्वोत्तम काम करने वाली सस्था व व्यक्ति को भी आय समाज स्थापना दिवस पर सम्मानित किया जायेगा।

अत प्रत्येक आर्य समाज व आर्य शिक्षण सस्था एव आर्य सस्थान के शीष अधिकारी हिन्दी एव आवश्यकतानुसार अन्य भाषाओ के सत्याथ प्रकाश पर्याप्त मात्रा में मगाकर रख ले उत्सवों, कायक्रमो, सस्कारो आदि के अवसर पर अतिथियो, मेधावी छात्रो, पुरस्कार विजेताओ आदि को सत्याथ प्रकाश का एक-एक प्रति भी अवश्य भेंट करे।

इतना ही नहीं, आर्यजनो को तो ऋषि ऋण से उऋण होने के लिए घर से ही पहल करनी चाहिए। प्रत्येक आयजन को प्रतिदिन सन्ध्या-प्राथना एव दैनिक यज्ञ के पश्चात् सत्यार्थ-प्रकाश के पावन ग्रन्थ का श्रद्धापूवक स्वाध्याय करना चाहिए। जैसे प्रत्येक आर्य समाज मे रविवारीय सत्सग मे यज्ञ के बाद सत्यार्थ-प्रकाश का पाठ होता है उसी प्रकार समाज मन्दिर मे प्रतिदिन दैनिक यज्ञ व सत्यार्थ प्रकाश का भी पाठ होना चाहिए। समय श्रद्धा व सुविधानुसार नियत किया जा सकता है। समाजों व आर्य सस्थाओ द्वारा प्रत्येक उत्सव पर सत्यार्थ-प्रकाश सबधी प्रतियोगिताए भी आयोजित करनी चाहिए।

भाईयो, नव वष मे इस क्रान्तिकारी अभियान को सफल बनाने के लिए सकल्प ले।

—बिमल कान्त शर्मा

ईश्वर के नामों की पद्यमय व्याख्या (५)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

दुर्जन अति रोदन करे, पाप ईश का दण्ड।
वह सर्वेश्वर 'रुद्र' है, न्यायिक शक्ति अखण्ड ॥ ५४ ॥

नारा हैं जल जीव तो, सबके वासस्थान।
सब जीवो में व्याप्त वह, 'नारायण' भगवान ॥ ५५ ॥

सबको सुख देता, स्वयम है आनन्दस्वरूप।
'चन्द्र' नाम से ख्यात है, ईश्वर तत्त्व अनूप ॥ ५६ ॥

मगलमय है स्वयम् सब, जीव-सुमगल हेतु।
'मगल' प्रभु का नाम है मोक्ष माग का सेतु ॥ ५७ ॥

बोध रूप खुद जीवगण, उससे पाते बोध।
'बुध' है वह अज्ञान के, दूर करे अवरोध ॥ ५८ ॥

अति पावन प्रभु, जीव सब उस सग होय पवित्र।
'शुक्र' है वह शुभ्र जसे, धवल है नक्षत्र ॥ ५९ ॥

सहज भाव से प्राप्त है, सबको धीरजवान।
तभी शनैश्चर' नाम से, उसकी है पहचान ॥ ६० ॥

एकाकी जिसमे नही, कोई वस्तु सयुक्त।
'राहू खुद तज दुष्ट को सबसे करे वियुक्त ॥ ६१ ॥

जिसमें सारा जग बसे, सब रोगो स मुक्त।
मुक्त जनो का रोग हर, 'केतु' नाम उपयुक्त ॥ ६२ ॥

सकल द्रव्य ब्रह्माण्ड के, जो करता सयुक्त।
विद्वानो का पूज्य है, था, होगा, हर वक्त ॥ ६३ ॥

ईश व्याप्त सर्वत्र है निराकार सर्वज्ञ।
इस कारण परमात्मा, कहलाता है 'यज्ञ' ॥ ६४ ॥

देता है वह जीव को सभी पदाथ यथेष्ट।
करता ग्रहण सुपात्र को 'होता' है वह ठेठ ॥ ६५ ॥

नियमबद्ध सब चर अचर रखता है निज अग।
भ्रात तुल्य रक्षा करे, नियम करे नहीं भग ॥ ६६ ॥

पृथिव्यादि सब लोक का धारक रक्षण हार।
सुख देता प्रभु बन्धु' है, दे भ्राता सम प्यार ॥ ६७ ॥

स तति रक्षण-अगनि हित, पिता सचेष्ट हमेश।
सब जीवोन्नति-चाहना, करे 'पिता' परमेश ॥ ६८ ।

भारतीय नव वर्ष २०५० विक्रमी

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती

अत्र, तत्र, सवत्र सनातन वैदिक घम ध्वजा फहराओ।
भारतीय नव वष हमारा दो हजार पचास मनाओ ॥

अति पुनीत धरती भारत की विश्वम्भरा उर्वरा बनाओ।
सौख्यधाम नयनाभिराम भारत में सोना उपजाओ ॥
भारतीय नव वष मनाओ ॥

देश काल की ओर निहारो करो सगठन प्रीति बढाओ।
कलुषित, कलह, कपट, कटुता को उर अन्दर से मार गिराओ ॥
भारतीय नव वर्ष मनाओ ॥

ज्ञान ज्योति जगमगा सकल अज्ञान तिमिर को दूर भगाओ।
भारतवासी जन-जन में चेतनता नई जवानी लाओ ॥
भारतीय नव वष मनाओ ॥

पानी दूध समान परस्पर देश निवासी मिलो मिलाओ।
करो राष्ट्र रक्षा सब मिलकर जन्मभूमि की शान बढाओ ॥
भारतीय नव वष मनाओ।

महर्षि दयानन्द की मान्यताएं (२)

डा० नरेन्द्र कुमार 'आलोक 'सपना' ई १२० डी, प्रताप विहार, गाजियाबाद उ प्र

उपासना परब्रह्म परमात्मा की प्रार्थना स्तुति-उपासना के द्वारा मानव उसे प्राप्त कर सकता है। उपासना का अभिप्राय है—परमात्मा के समीप बैठकर उसका चिंतन व मनन करना। यज्ञो की चर्चा आश्रम प्रकरण में की गई है। मोक्षेच्छुक को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

मोक्ष वैदिक सस्कृति के चार लक्ष्यो—धम अर्थ काम व मोक्ष में से मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ माना गया है। स्वामी दयानन्द का विचार है कि जीवात्मा जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है तो उसे वह परातकाल तक सूक्ष्म इन्द्रियो से आनन्द प्राप्त करता है। इच्छानुसार अनेक लोको में स्वच्छद विचरण करता है। मुक्ति मे जीवात्मा का लय नही होता, उसकी सत्ता बनी रहती है। मोक्ष काल की एक निश्चित सीमा है। मुक्त जीवात्मा उतने समय तक आनन्द में रहती है। समय पूरा होने पर पुन जीवात्मा शरीर धारण कर इस ससार मे आ जाता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन एव धारणा ध्यान समाधि आदि योग के अष्टागो से मोक्ष को प्राप्ति सम्भव है।

सामाजिक मान्यताए मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जिस भी समाज मे मनुष्य रहता है उस समाज की कुछ मूलभूत विशेषताए अवश्य होती हैं। भारतीय समाज भी इसम अछूता नही है। स्वामी दयानन्द ने सामाजिक दोषो को दूर करने का प्रयास किया।

वण व्यवस्था महर्षि दयानन्द के समय वैदिक वण व्यवस्था क्षीण हो चली थी उस व्यवस्था को सुधारना अ यत आवश्यक था। अत —

ब्राह्मणोस्य मुखमासाद बाहू राजन्य कृत ।
उरु तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रो अजायत ।

के आधार पर उनका मानना है कि जिस प्रकार शरीर के अग प्रत्यग मिलकर सपूर्ण शरीर का सचालन करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र रूपी शरीर को ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एव शूद्र परस्पर मिलकर सचालित करत हैं। क्रमश ये चारो वर्ण ज्ञान, बल धन व सेवा से राष्ट्र को सुदृढ एव उन्नत बनाते हैं।

कुछ लोगो ने जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को स्वीकारा है। परन्तु स्वामी दयान द इसका आधार गुण कर्म स्वभाव मानते है। निरुक्त मे लिखा है— वर्णो वृणुते जो वरण किया जाता है वह वण है। मनुष्य गुण, कम स्वभाव के आधार पर अपनी आजीविका चुनता है। इस पर आधारित वण व्यवस्था मे प्रत्येक वण के लिए मर्यादाए हैं। उनका यह पालन करना जरूरी समझता है। ब्राह्मण सबभान हो य द वह अपनी मर्यादा का पालन नही करता। ब्राह्मणोचित आच ण न करने पर वह शूद्रवत् समझा जाएगा। शूद्र मिथ्या अहकार तजकर वदोक्त पठन पाठन यजन याजन अपने श्रेष्ठ आचार विचार व कम स उच्चवण को प्राप्त कर सकता है उसके अत करण म उच्च वण ग्रहण करने के लिए आकाक्षा बनी रह सकता है

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्।
क्षत्रि ज्जातमेव तु विद्याद्वैश्य त्तथैव च ।।

मनु लिखित इस श्लोक का तात्पय है कि चारो वर्णों म जिस जिस वण के सदृश जो जो पुरुष य स्त्री हो वह वह उस वण मे गिना जावे।

सामाजिक मर्यादा के र णाथ वण परिवतन का भय बना रहना आवश्यक है। आपस्तम्बीय सूत्रो की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने स्पष्टत यह व्यवस्था दी कि धमाच ण म निकृष्ट वण उत्तम वण को प्राप्त कर सकता है तथा अधर्म आचरण से उच्च वण निम्न वर्णो मे चला जाता है।

वण व्यवस्था का सुचारु रूप से चलाने के लिए विद्या सभा व राजसभा का सहयोग अत्यत आवश्यक है।

गुण कम, स्वभाव पर आधारित वण व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि कन्या एव पुरुष की क्रमश १६व एव २५व वर्ष मे वर्णानुकूल परीक्षा ली जाए तत्पश्चात् विवाह की अनुमति दी जाए।

ब्राह्मण के लिए पठन पाठन यजन याजन, दान ग्रहण, प्रतिग्रण छह कर्म बताए गए है। इसी प्रकार प्र नबका पालन किया—धम को प्रवृत्ति एव सुपात्रो का सेवा म धनादि का उपयोग करना अग्निहोत्रादि करना, कराना वेदादि शास्त्रो का प ठन पाठन और व्यसनो से दूर रहकर शारीरिक एव आत्मिक उन्नति करना, क्षत्रिय के प्रमुख कार्य हैं। वैश्य के लिए पशुपालन, दान अग्निहोत्रादि, वाणिज्य कृषि एव कुसीद कम बताये गए हैं। शूद्र के लिए तीन वर्णों की यथायोग्य सेवा करना निर्दिष्ट है।

गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित वर्ण व्यवस्था से प्रत्येक मनुष्य स्वभावानुकूल काय कर देश की उन्नति मे परम सहायक हो सकता है।

आश्रम महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास आश्रम पर विशद चर्चा करत हुए प्रत्येक आश्रम की महत्ता को स्वीकारा है।

ब्रह्मचर्याश्रम जन्म से २५ वर्ष पर्यन्त या उससे अधिक ४८ वर्ष अथवा जीवनपर्यन्त तक चलता है। इस आश्रम की आधारशिला आचार्यकुल में सुदृढ होती है। ब्रह्मचारी को विनय मधुर मितभाषी तथा सत्यवक्ता होना आवश्यक है। जितेन्द्रिय रहकर विद्याजन करना उसका लक्ष्य होता है। उसके लिए मद्यमास, गध माला स्त्री और पुरुष सग त्याज्य हैं। ब्रह्मचारी को सवदा शुद्ध पवित्र एव सात्विक भोजन ग्रहण करना चाहिए। ब्रह्मचय आश्रम मे अजन छत्र उपानह, द्यूतक्रीडा, परनिंदा आदि अकरणीय है।

ब्रह्मचारी को प्रतिदिन प्रात साय न्यूनतम एक घटा दत्तचित्त होकर सत्यासत्य परमेश्वर का चिंतन तथा मनन करना चाहिए। मन को एकाग्र करने के लिए महर्षि पतजलि द्वारा निर्देशित योग के आठ अगो का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम स मन शुद्ध व पवित्र हो जाता है। हठयोग का आश्रय लेना उचित नही प्रात साय वेदमत्रोच्चारण करते हुए, देवयज्ञ करना चाहिए। मत्रों के अर्थो को जानना आवश्यक है। घृत को अच्छी तरह स तपाकर सशोधित द्रव्यो स होम करने पर वायुमडल शुद्ध व निरोग बनता है। वैदिक मत्रो का उच्चारण मनुष्य को वैसा ही बनने की प्रेरणा देता है।

छान्दोग्योप नषद् म ब्रह्मचारी के क्रमश कनिष्ठ (२५ वष) मध्यम (३५ ४० वर्ष) एव उत्तम (४८ वष) तीन भेद बताए गए है। ब्रह्मचारी अधिकतम ४८ वष तक ब्रह्मचर्याश्रम का पालन कर सकता है अथवा सपूण जीवन ब्रह्मचारी भी रह सकता है।

स्त्री २४ वष तक ब्रह्मचारिणी रहकर गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल विवाह कर सकती है। अन्यथा वह भी आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। यह तलवार की धार पर चलने के समान है। यह कठोर काय योगाभ्यास एव पूर्ण विद्याभ्यास स ह सभव है

सतान का शिक्षा स्वामी दयानन्द ने बालक के प्रति माता-पिता के कर्तव्यो का दर्शाते हुए बताया है कि सतानो को उत्तम शिक्षा, गुण कम से सुशोभित करना माता पिता का प्रमुख कतव्य है। उसकी पूर्ति धार्मिक जितेन्द्रिय व विद्वान आचाय के समीप बालक को विद्या के लिए छोडने मे ही सभव है। आठ वष का सतान को आश्रम म पढने के लिए भेजना आवश्यक है। कन्या पाठशाला बालक की पाठशाला स दूर होनी चाहिए। साथ ही एक दूसरे का अन्य विद्यालय मे प्रवेश निषिद्ध हो न चाहिए।

सतानो का शिक्षा दीक्षा आचाय के निर्देशन मे हो। राजा समय समय पर उनका निरीक्षण कर राजनियम हो कि कोई आठ वष मे ऊपर के बालक-बालिकाओ को अपने पास न रखे। विद्याध्ययन काल मे माता-पिता सतानो से कम ही मिल।

आचार्य ब्रह्मचारी को सवदा न्याय एव सत्याचरण के पथ पर प्रेरित करें। ब्रह्मचारी की परीक्षा लेकर आचाय उसकी बुद्धि के अनुसार विद्या प्रदान करे। आचाय के लिए आव यक है कि वह ईश्वर एव वेदोक्त सिद्धातानुसार विद्या प्रदान करते हुए सृष्टिक्रम के विपरीत कुछ भी न पढावे। ब्रह्मचारी सर्वागीण विकास करे इसके लिए सुयोग्य आचाय का सान्निध्य आवश्यक है।

राजा एव दरिद्र के बच्चो को शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध एक समान होना चाहिए। आश्रम मे जैसा राजा का बच्चा भोजनादि करे वैसा ही दरिद्र के बच्चो को भी मिले।

पठन-पाठन आय पद्धति से हो एव आय ग्रन्थो का अध्ययन कराया जाए। कन्या पाठशाला मे विदुषा म हलाए अध्यापन कराए। सहशिक्षा त्याज्य है।

क्रमश

आदर्श त्रैतवाद (२१)

राजसिंह भल्ला

ब्रह्म और प्रकृति का नित्य सम्बन्ध है। अन्त में ज्ञान और गति को ईश्वर के गुण कह देते हैं। वास्तव में ये गुण ब्रह्म के नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म तो निर्गुण है। ये गुण प्रकृति के भी नहीं है क्योंकि वह जड है अतः इसमे भी ज्ञान और गति की बडी भ्रान्ति ही है परन्तु होते प्रकृति मे ही हैं। ऐसा चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से होता है। यथार्थ मे तो ईश्वर जीव प्रकृति तीनो नित्य अपने एक ही स्वरूप वाले हैं। जड मे जो गुण उत्पन्न होते है वे संयोग में होते हैं। ईश्वर और जीव मे कोई भी गुण उत्पन्न नहीं होता परन्तु चित्त और प्रकृति के सम्बन्ध में इनमे आरोपित कर दिये जाते हैं चेतन के सम्पर्क में इस जड मे क्रिया रूप परिणाम होने लगता है क्योंकि दोनो नित्य है अतः इस कार्य में भी नित्यता सी आ जाती है। वैसे दोनो का सम्बन्ध है साथ ही सम्बन्ध होने से ज्ञान क्रिया बल को कोई प्रकृति के गुण कहते हैं कोई ब्रह्म के परन्तु ये तीनो धर्म होते प्रकृति मे हैं ब्रह्म में ही क्योंकि ब्रह्म तो निर्गुण है। प्रकृति को किसी ने भी निर्गुण नही माना है। कुछ लोग ब्रह्म को भी निर्गुण और सगुण दोनो मानते हैं। निर्गुणता तो ब्रह्म का अपना स्वरूप है और सगुणता इसमें प्रकृति मे सम्बन्ध से मान लते है। चेतनता के अतिरिक्त जितने भी गुण ब्रह्म मे आत्मा मे माने जायगे वे प्रकृति के ही सयोग से उत्पन्न होकर इनमे ही आरोपित किये जायेंगे। क्योंकि ब्रह्म और जीव तो दोनो निर्गुण हैं और असग हैं। असग इसलिए कहा गया है कि सम्बन्ध होते हुए भी इनमें कोई परिवर्तन या विकार नही होता यदि इनमे विकार आ जाये तो इन्हे असग अलिप्त नही कह सकते।

प्रकृति विभु है और ब्रह्म भी विभु है। परन्तु अपेक्षाकृत ब्रह्म प्रकृति से बडा विभु है। प्रकृति विजातीय है। अतः ब्रह्म और आत्मा के समान मिल नही सकती है। यह ब्रह्म की अपेक्षा कुछ स्थूल ही मानना पडेगा। क्योंकि परमात्मा तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। स्थूल मानने पर ही इसमे विकार सम्भव हो सकते हैं और नानारूप परिणाम हो सकते हैं। स्थूल होने से इसमें ब्रह्म आ भी सकता है। बाहर हो भी सकता है। इसी लिए इसमे ब्रह्म ओतप्रोत है और प्रकृति का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध ब्रह्म के साथ है।

प्रकृति से यह बनी हुई सृष्टि कितनी विशाल है इसका अनुमान लगाना भी कठिन है यह सौर मण्डल जिसके बीच मे सूर्य है इसका घेरा पचनम अठारह करोड मील है यह सारे ब्रह्माण्ड की अपेक्षा इतना छोटा है जितना मनुष्य के तीन कदम चलने मे पैरो को धूल लग जाए। बडा विशाल है यह ब्रह्माण्ड आसमान मे दिखाई देने वाले ये छोटे छोटे तारे हैं बडे बडे नक्षत्र हैं वास्तव में ये हमारे सूर्य से भी कई गुणा बडे हैं। जरा सोचो अगस्त्य तारा सूर्य से एक करोड गुणा बडा है। जो नक्षत्र सौर ब्रह्माण्ड ... वे ... हैं कि उस दूर के मण्डल में सात खरब छाछट अरब और ... ब्रह्माण्ड समा जाय कितना बडा है यह प्रकृति का विस्तार भला सर्व मनुष्य ... तो कोई अचरज की बात नही।

माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। श्वेता० ४ १०

प्रकृति को माया जानो और मायी को ईश्वर या महेश्वर समझो। इस माया के अवयवो से यह सारा जगत भरा हुआ है कोई स्थान ऐसा नही है जहां इस प्रकृति माया के कार्य रूप पदार्थ न हो। सारा ब्रह्माण्ड इसके कार्य रूप पदार्थों से भरा हुआ है।

माया से जीवात्मा बन्धा है

छन्दांसि यज्ञा क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥
श्वेता० ४ ९

छन्द यज्ञ इष्टियां व्रत जो हो चुका और जो होगा वेद कहते हैं इस सब को और हम को भगवान् रचता है—प्रकट करता है। उसमें सृष्टि मे माया से दूसरा— भगवान् के अलावा जीवात्मा रुका हुआ है। माया में जीवात्मा ही बद्ध है। भगवान् सदा निर्लेप है।

क्रियाशील प्रकृति

नील पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥
श्वेता० ४ ४

कार्य पासक प्रकृति को—जगत के उपादान कारण को लक्ष्य बना कर कहता है अनादिमत् कारण तू किसी सामर्थ्य से वर्त रहा है। भगवान् की इच्छा से क्रियाशील है जिससे नील वर्ण पदार्थ गमनशील लोक हरित पदार्थ रक्त वर्ण पदार्थ बादल ऋतुएं समुद्र और सारे लोक उत्पन्न हुए हैं।

प्रकृति को जीव सेवन करता है

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
श्वेता० ४ ५

आकार या रूप वाली बहुत प्रजा रचती हुई रक्त वर्ण एक प्रकृति को एक अनादि जीवात्मा सेवन करता हुआ अविकार से करता है—उसमें बस जाता है। अथवा सो जाता है तथा दूसरा अजन्मा भगवान् जीवात्मा द्वारा भोगी हुई इस प्रकृति को त्याग देते हैं परमात्मा उसमें—प्रकृति मे बद्ध नही होता।

ईश्वर जीव प्रकृति का सम्बन्ध

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ श्वेता० ४ ६

ईश्वर जीव और प्रकृति का सम्बन्ध बताते हुए ऋषि कहते हैं कि ईश्वर और जीव दोनो सुरक्ष सुगुण वाले हैं आत्ममात्र से मिले हुए हैं सखा हैं और समान—एक ही प्रकृति रूप वृक्ष को आलिंगन कर रहे है उन दोनो मे एक जीवात्मा वृक्ष प्रकृति के स्वाद फल को खाता है और दूसरा भगवान् प्रकृति के फलो को न खाता हुआ साक्षी रूप मे देखता है।

महर्षि दयानन्द जन्म दिवस सम्पन्न

आर्य समाज हनुमान रोड, नई दिल्ली मे १८ स १९ फरवरी ९३ तक दयानन्द जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया गया। प्रतिदिन प्रात डा० वर्णदेव के ब्रह्मत्व मे यजुर्वेद पारायण यज्ञ, स्वामी स्वरूपानन्द के मधुर भजन तथा रात्रि को वैदिक विद्वान डा० महेश विद्यालकार के मनोहर प्रवचन हुये।

समारोह में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती व उपप्रधान श्री रामचन्द्र वन्देमातरम महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री एव दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धमपाल के पधारने पर पुष्पमालाओ द्वारा भव्य स्वागत किया गया सर्भ नेताओ ने प्रेरक उद्बोधन दिया। समाज के प्रधान श्री राममूर्ति कैला ने विभिन्न समाओ से पधारे महानुभावो का स्वागत किया एव वरिष्ठ उपप्रधान श्री रतनलाल सहदेव ने धन्यवाद किया। ऋषि पर्व पर समाज मन्दिर मे शानदार रोशनी भी की गई।

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय नरेला दिल्ली मे २६ फरवरी को महान् क्रातिकारी एव समाज सुधारक स्वामी दयानन्द के जन्म दिवस पर कन्याओ ने वेदमन्त्र गायन, सगीत व भाषण प्रतियोगिताओ द्वारा दयानन्द का गुणगान किया। अध्यापिकाओ ने ऋषि के प्रेरक प्रसग प्रस्तुत किए। गुरुकुल की आचार्या डा० अन्नपूर्णा एम ए पी एच डी ने भी उद्बोधन दिया।

केन्द्रीय आर्य युवक परिषद दिल्ली के तत्वावधान मे १४ फरवरी को आर्य समाज मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली मे दयानन्द जन्मोत्सव सासद श्री मदनलाल खुराना की अध्यक्षता मे मनाया गया। पूर्व सासद श्री रामचन्द्र विकल ने दयानन्द के आदर्शो को जीवन मे अपनाने पर बल दिया। जय भारत मारुति के निदेशक श्री सुरेन्द्र आर्य ने ध्वजारोहण किया। स्वामी जीवानन्द, स्वामी दिव्यानन्द, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल, दिल्ली आर्य प्रान्तीय महिला की सभा मन्त्राणी श्रीमती कृष्णा चड्ढा, प्रि० तिलकराज आदि ने दयानन्द के सन्देश व प्रसार पर बल दिया। मच सचालन अनिल आर्य ने किया।

आर्य युवक सभा पजाब द्वारा दयानन्द का १६९वा जन्मोत्सव १६ फरवरी को शान्ति निकेतन आदर्श विद्यालय बेंजमन रोड, लुधियाना में धूमधाम स मनाया गया। अध्यक्षता प्रि० रणधीर शर्मा ने की एव सयोजक थे सभा के प्रधान श्री रोशनलाल आर्य मुख्य अतिथि श्री एम एम कालिया ने श्री कमलमोहन चोपडा एव भारत कम्प्यूटर के प्रबन्ध निदेशक श्री सुभाष सिगला को सराहनीय समाज सवाओ के लिए सम्मानित किया। यूनियन के महासचिव श्री बी० एम० फ्रेड्रिक व श्री कालिया ने दयानन्द के उपकारो का स्मरण कर श्रद्धासुमन प्रस्तुत किये। सर्वश्री ओमप्रकाश आर्य, देवपाल आर्य, वृज भूषण बसल ने विशेष सहयोग दिया

आर्य समाज महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना द्वारा १६ फरवरी को आर्य समाजी सेठ श्री योगेन्द्र पाल की अध्यक्षता मे धूमधाम से मनाया गया। समाज पुरोहित आचार्य राजेश्वर शास्त्री के ब्रह्मत्व मे विशेष यज्ञ हुआ। सर्वश्री जगत जी वर्मा प्रो० वेदव्रत विद्यालकार, सेठ योगेन्द्रपाल आदि ने युग प्रवतक दयानन्द को भावाजलि दी। समाज के महामन्त्री श्री महेन्द्र प्रताप ने मच सचालन किया। सर्वश्री नरेन्द्रसिह जी मल्ला, ओमप्रकाश पासी, बलराज कृष्ण वर्मा, श्रवण कुमार आदि ने कार्यक्रम मे सराहनीय योगदान दिया।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

द्वारा आयोजित

सत्यार्थ-प्रकाश पत्राचार प्रतियोगिता

—: पुरस्कार :—

प्रथम : ११ हजार द्वितीय : ५ हजार तृतीय : २ हजार

न्यूनतम योग्यता : १०+२ अथवा अनुरूप

आयु सीमा : १८ से ४० वर्ष तक

माध्यम : हिन्दी अथवा अंग्रेजी

उत्तर पुस्तिकायें रजिस्ट्रार को भेजने की अन्तिम तिथि ३१-८-१९९३

विषय : महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश

नोट —प्रवेश, रोल न०, प्रश्न-पत्र तथा अन्य विवरण के लिए मात्र बीस रुपये नगद या मनीआर्डर द्वारा रजिस्ट्रार, परीक्षा विभाग सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान नयी दिल्ली-२ को भेजे। पुस्तक अगर पुस्तकालयो, पुस्तक विक्रेताओ अथवा स्थानीय आर्य समाज कार्यालयो से न मिले तो तीस रुपये हिन्दी सस्करण के लिये और पैंसठ रुपये अग्रेजी सस्करण के लिये सभा को भेजकर मगवाई जा सकती हैं।

डा० ए. बी. आर्य
रजिस्ट्रार

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती
प्रधान

सभा वाहन द्वारा वेद प्रचार

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रचार वाहन द्वारा दोपहर भोजन अवकाश समय कृषि भवन बोट क्लब पर प्रतिदिन सोमवार से गुरुवार तक १ घण्टा धूमधाम के साथ वेद प्रचार होता रहता है जिसमे श्री स त्यदेव स्नातक श्री जनार्दन श्री चन्नीलाल आय और श्री चन्द्रपाल आय ढोलक वादक सभी का पूण सहयोग मिलता है यहा हजारो सरकारी कमचारियो की उप स्थित होती है।

६ फरवरी १९९३ को ग्राम प्रचार गाव मदनपुर डबास म यज्ञ प्रवचन भजनोपदेश हुआ। सभी ग्रामवासियो ने धम लाभ उठाया। ७ फरवरी को श्री धर्मेन्द्र कुमार आर्य के निवास स्थान शकरपुर म उनके सुपुत्र विपिन के कणवेधन सस्कार के शुभावसर पर यज्ञ भजन प्रवचन का आयोजन रखा गया यहा सकडो श्रोतागणो ने कार्यक्रमो मे भाग लिया। २१ फरवरी को आयसमाज लक्ष्मी नगर के वार्षिकोत्सव मे यज्ञ प्रवचन भजनो का कायक्रम रहा उसके से मदनपुर डबास वेद मन्दिर के प्रागण मे हवन सत्सग हुआ

(पृष्ठ २ का शेष)

गये। यही स्थिति दक्षिण मे हिन्दी की भी है। अन्यथा दक्षिण भारतीय जितनी शुद्ध हिन्दी बोलते अथवा लिखते है उतना शुद्ध तो हम जो स्वय को हिन्दी भाषी कहते हैं वे भी नही लिखते अथवा बोलते है

प्रश्न सरकारी कामकाज मे हिन्दी के बढते चरण का है। ये चरण शनै शनै बढ रहे है इनका मथर गति समय पाकर तीव्रता ग्रहण करेगी और वह दिन दूर नही जब हिन्दी सरकारी कामकाज की भाषा बन जायगी और सहभाषा के रूप मे अग्रजी का वचस्व समाप्त हो जायगा। आवश्यकता है दृढ सकल्प की कत्तव्य पालन मे निष्ठा और तत्परता की। जय हिन्दी जय नागरी।

ब्रह्मचारियो को कम्बल व चद्दर वितरित

२४ फरवरी का गुरुकुल खेडा खुद म जाकर ब्रह्मचारियो को कम्बल चददर बाटी गई। साथ ही भजनोपदेश का कायक्रम रखा गया यह कम्बल और चददर दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव जी से प्राप्त हुए।

२७ फरवरी को श्री अनिल कुमार खण्डूजा एव श्रीमती राजेश्वरी खण्डूजा की शादी वष गाठ पर हवन सत्सग व प्रवचन का कायक्रम दिलशाद गाडन मे रखा गया।

आयसन्देश–दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१
K N No 32387/77 P t d at N D P S O on 25 26 3 1993 L ce ce t post w th u n enayment Licence No U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० एल ११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
व साप्ताहिक आर्यसन्देश २८ मार्च १९९३

अपील

देश विदेश का सभी आयसमाजो एव सदस्यो से सावदेशिक सभा की ओर से विशेष अनुरोध

(क) वह अपने गाव अथवा नगर के बुद्धजीवियो डाक्टरो इजीनियरो वकीलो जजो अध्यापको कवियो लेखको सम्पादको विधान सभा राज्य सभा के सदस्यो अन्य मत मतान्तरो के महा ता अनुयाइयो पडितो अपनी कक्षाओ मे प्रथम द्वितीय तृतीय आने वाल विद्यार्थियो मे प्रतिवष कम से कम दो सौ प्रतिया सत्याथ प्रकाश की सप्रेम वितरित कर और सबके नाम पता फोन आदि का रिकाड एक अलग रजिस्टर मे रख।

(ख) प्रत्येक आय समाज अपने गाव अथवा नगर मे स्थान स्थान पर निम्न लिखित नारे लिखवायें। शारीरिक आत्मिक सामाजिक एव राजनीतिक उन्नति के लिए— महर्षि दयानन्द कृत सत्याथ प्रकाश पढ

मिलें—समाज व व्यक्ति का पूरा नाम पता फोन न०

(इसके स्टीकर बनवाकर उपयुक्त स्थानो पर चिपकाए जाए)

(ग) प्रत्येक समाज अपन अपने स्थान पर वष मे कम से कम एक बार सत्याथ प्रकाश पर भाषण प्रतियोगिताए एव लिखित प्रतियोगिताए करवाय और इसके लिए सभी स्कूल व कालेजो मे सूचना दी जाए।

(घ) आय समाज के विद्वानो का स्कूल कालेज व अन्य सभा सोसायटियो एव क्लबो आदि मे प्रवचनो का प्रबन्ध किया जाए और विद्वानो से भी विनम्र अनुरोध किया जाए कि वह प्रात स सग के पश्चात दिन भर खाली रहने की बजाए इस तरह के प्रवचनो के लिए व्यक्तिगत प्रयास भी कर। समाचार पत्रो मे अपने लेख भेज। प्रादेशिक सभाए भी विद्वानो के लेखो को अपनी अपनी आय पत्रिकाओ तक सीमित न रखकर समाचार पत्रो मे भी छपवाने का भरसक प्रयास करें।

(ङ) प्रत्येक समाज पर्याप्त मात्रा मे सत्यार्थ प्रकाश की हिन्दी अग्रेजी अथवा अन्य प्रादेशिक भाषाओ की प्रतिया मगवाकर रख और उन्हें अपने नगर के प्रमुख प्रमुख पुस्तक विक्रेताओ रेलवे तथा बस स्टड आदि के बुक स्टालो पर भी उपलब्ध करवाए ताकि सार्वदेशिक सभा की ओर से की जाने वाली 'पत्राचार सत्यार्थ प्रकाश प्रतियोगिता मे भाग लेने के इच्छुक प्रतियोगियो को सत्यार्थ प्रकाश की प्रति प्राप्त करने मे कोई असुविधा न हो। प्रत्येक समाज एव व्यक्ति इस पत्राचार प्रतियोगिता का पर्चे बाटकर अथवा विज्ञापन देकर यथा शक्ति खूब प्रचार करें।

प्रतिवष सर्वोत्तम काम करने वाली सस्था अथवा व्यक्ति को सभा की ओर से आर्यसमाज स्थापना दिवस पर सम्मानित किया जायेगा।

निवेदक

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

प्रधान

सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा महर्षि दयानन्द भवन
रामलीला मैदान नई दिल्ली ११०००२
दूरभाष ३२७४७६१ ३२६०९८५

श्री सम्पादक जी गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ०प्र०)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सावदेशिक प्रेस पटौदी हाउस दरियागंज नई दिल्ली ११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५ हनमान रोड नई दिल्ली ११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक २६ रविवार ४ अप्रैल १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

आर्य समाज का ११८वां स्थापना दिवस समारोह

आर्य समाज सभी का मित्र है और भाईचारे का सन्देश देता है

स्वामी आनन्द बोध सरस्वती

डा० भवानीलाल भारतीय सम्मानित

नई दिल्ली २४ मार्च आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य के तत्वावधान म आर्य समाज का ११८ वा स्थापना दिवस आज हिमाचल भवन मे ममारोहपूवक मनाया गया। दिल्ली की समस्त आर्य समाजो व आय सस्थाओ की ओर से आयोजित इस कायक्रम की अध्यक्षता सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री ने की।

इस अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करत हुए समारोह के प्रमुख वक्ता सार्वदेशिक सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने कहा कि युग पुरुष दयानन्द ने चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को आज ही के दिन सन १८७५ को बम्बई मे क्रान्तिकारी आन्दोलन आर्य समाज की ससार का कल्याण करने के लिए स्थापना की थी और इसके लिए एक मुसलमान भाई न पाच हजार रुपये का दान दिया था जिसका उल्लेख समाज मन्दिर के शिलालेख मे अंकित है।

आय समाज सभी का मित्र है, भाइचारे का मन्देश देता है और किसी के प्रति शत्रुता की भावना नहीं रखता। स्वामी जी न आगे कहा कि आय समाज का सिद्धान्त वेदो का सन्देश है जो इश्वर वाणी है। ऋषि दयानन्द न किसी नये मत का स्थापना नही की थी बल्कि ब्रह्मा से जैमिनी पर्यन्त जो सत्य मान्य वैदिक धम था दयानन्द न उसे ही पुन प्रतिष्ठित किया था।

स्वामी जी ने आय जनो को आय समाज स्थापना दिवस एव नव विक्रमी सवत् २०५० की शुभ कामनायें देते हुए कहा कि आज इस पावन पव पर सभी आत्म निरीक्षण करे कि हमने आय समाज को आगे बढाने के लिए क्या किया। क्या हमारे कारण कही आर्य समाज की बदनामी तो नही हुई। स्वामी जी न आगे कहा कि कुछ स्वार्थी तत्व अपने निहित स्वार्थों के लिए आय समाज को बदनाम करने मे लगे हैं अत आर्यजनो को उनसे सचेत रहकर काम करते रहना चाहिए और तप, त्याग व बलिदान की नीव पर खडे इस महान सगठन को मजबूत बनाने में योगदान देना चाहिए।

स्वामी जी ने बताया कि गऊ की रक्षा के लिए ऋषि दयानन्द ने एक हस्ताक्षर अभियान चलाया था। स्वामी दयानन्द ने वेद के सही भाष्य कर वेद ज्योति जलायी थी जबकि इसके पूर्व वेदो के नाम पर अनेक भ्रान्तिया फैली हुयी थी। ऋषि दयानन्द ने साथ ही सभी को आर्य (श्रेष्ठ आचरण वाला व्यक्ति) बनने का भी उपदेश किया था। स्वामी आनन्द बोध ने आगे बताया कि रूस विभाजन के बाद ससार में ६५ मुस्लिम देश हो गये हैं परन्तु विश्व मे नेपाल ही एकमात्र आय राष्ट्र है और आर्य सस्कृति का रक्षक ही नेपाल का राजा हो सकता है। उल्लेखनीय है कि स्वामी जी व प० रामचन्द्र राव बन्देमातरम ने इस सदम में महत्वपूर्ण योगदान दिया था और महारानी विक्टोरिया के दरबार मे हस्ताक्षरो का ज्ञापन भी प्रस्तुत करने का उनका विचार था पर वह पूरा न हो सका। स्वामी जी ने कहा कि गो रक्षा का सर्वोत्तम उपाय गऊ का दूध बढाना है। गऊ को अच्छा भोजन दिया जाये। स्वामी जी ने बताया कि सार्वदेशिक सभा द्वारा साढे बारह एकड भूमि मे गाजीपुर मे एक गो-सरक्षण केन्द्र की स्थापना की गयी है और हमारा लक्ष्य अच्छी नस्ल की एक हजार गाय रखने का है।

आर्य समाज को तोड़ने वाले ब्रह्म हत्यारे है

स्वामी जी ने मीनाक्षीपुरम मे शुद्धि काय मे आर्य समाज की भूमिका की जानकारी दी और बताया कि आज तामिलनाडु मे ३१ आर्य समाज हैं। हम बिछुडे हुए भाइयो को पुन शुद्ध करके भारतीय बनाते है।

स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने इस सुभावसर पर प्रख्यात वैदिक विद्वान डा० भवानीलाल भारतीय को श्री लालमन आर्य वैदिक विद्वान पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया। स्वामी जी ने उन्हे शाल ओढाकर, सम्मान राशि व श्रीफल भेंट कर सम्मानित किया। दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव, आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के प्रधान महाशय धर्मपाल' प्रो० उत्तमचन्द शरर, दिल्ली आय प्रान्तीय महिला सभा की प्रधान श्रीमती शकुन्तला आय सरला मेहता श्रीमती शकुन्तला दीक्षित, श्री विश्मभर नाथ भाटिया आदि ने श्री भारतीय जी का पुष्पहारो द्वारा स्वागत किया। प्रादेशिक सभा के मन्त्री श्री रामनाथ सहगल ने प्रशस्ति पत्र भेंट किया। यह पुरस्कार श्री सत्यानन्द आय के पूज्य पिता श्री लालमन आय की स्मृति मे प्रति वष प्रदान किया जाता है।

आय समाज की ज्वाला मे अन्याय व शोषण भस्म हो जायेगा

डा० भवानीलाल भारतीय न अपने सम्मान के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहा कि आय समाज के जीवन के ११७ वष व्यतीत होने के बाद भी इस महान सगठन मे तेजस्विता व कर्मठता है जबकि इसके समकालीन प्राथना समाज, ब्रह्म-समाज आदि का आज नाममात्र का प्रभाव है। डा० भारतीय ने बताया कि दयानन्द के समकालीन अमरीकी विद्वान ऐन्ड्रयू जेक्सिन ने ऋषि दयानन्द को श्रद्धाजलि देते हुए कहा था कि भारत मे मुझे एक ऐसी ज्वाला दिखाई दे रही है जिसमे अन्याय, शोषण, सामाजिक कुरीतिया आदि सब जल कर राख हो जायेंगी। दयानन्द द्वारा जलाई गई यह आय समाज की ज्वाला है।

आर्य समाज देशभक्तो के दिल की धड़कन है

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी प्रो० उत्तमचन्द शरर ने कहा कि आर्य समाज दयानन्द की यादगार है, श्रद्धानन्द की श्रद्धा है, लेखराम का लहु है तथा हर देश

(शेष पृष्ठ ४ पर)

प्रधान सम्पादक सूर्यदेव

सहसम्पादक – विमलकान्त शर्मा

महर्षि दयानन्द की मान्यताएं (३)

डा० नरेन्द्र कुमार 'आलोक' 'सपना' ई १२० डी, प्रताप विहार, गाजियाबाद उ प्र

आचार्य ब्रह्मचारी को क्रमश व्याकरण, निघण्टु निरुक्त, छद वाल्मीकि रामायण के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति, दर्शन, उपनिषद एव चारो वेदो को स्वर, शब्दार्थ एव क्रिया सहित पढाते तदुपरा त चरक सुश्रुत (क्रियात्मक) धनुर्वेद, गजविद्या गान्धर्व वेदशिल्प विद्या एव भूगोल आदि की शिक्षा द

आर्ष शिक्षा प्रणाली की प्रशसा करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—जितनी विद्या इस रीति से बीस वा इक्कीस वर्षों म हो सकती हैं उतनी अन्य परपरा मे शतवष मे भी नही।

स्त्री शूद्रो नाधीयताम् पर प्रहार करते हुए यथेमा वाच कल्याणी मावदानि जनेभ्य । ब्रह्म राजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

आदि उद्धरणो मे उन्होने स्पष्ट किया है कि वेद सपूर्ण मानव के लिए हैं। वर्ण विशेष के लिए उन्हे बताना उचित नही। शूद्र एव स्त्री को वेद का ज्ञान न दिया जाए तो अन्य वर्णो की सेवा एव सतान का उत्तमोत्तम रीति म पालन कैसे सभव होगा।

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम्' का आशय है कि सतान की सर्वप्रथम शिक्षा माता की गोद से प्रारभ होती है यदि माता ही अशिक्षित है तो सतान की शिक्षा-दीक्षा कैसे हो सकती है। अशिक्षित माता बच्चे का उचित मार्गनिर्देशन नही दे सकती। गार्गी, मैत्रेयी सीता सावित्री आदि अनेक विदुषी महिलाए हो चुकी है जिन्होने अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए सतानो को उत्तम बनाया

शिक्षा अनिवार्य हो जिससे कि कोई सतान अशिक्षित न रहे। माता व पिता भी बच्चे से पढाई की अवस्था मे दूसरा काम न ल सके जिससे कि उसकी शिक्षा मे व्यवधान पडे।

राजनियम हो जो बच्चो की शिक्षा के लिए प्रयास न करे तो दण्ड मिले सामाजिक भय भी बना रहना चाहिए, अशिक्षित का उपेक्षा की जानी चाहिए। समावर्तन सस्कार पश्चात् ब्रह्मचारी को घर मे रखना चाहिए।

गृहस्थाश्रम

पुरुष कम स कम एक वेद का सागोपाग अध्ययन कर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करे। अध्ययन समाप्त हो ब्रह्मचारी का समावर्तन सस्कार किया जाए। गुरु की अनुज्ञा स माता पिता द्वारा अनुमोदित कन्या से विवाह करना चाहिए। विवाह के समय माता-पिता को विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। वर-कन्या के गुण कर्म, स्वभाव, विद्या, बुद्धि आदि को ध्यान में रख कर कन्या के कुल, नाता-गोता आदि पर ध्यान देना आवश्यक है। जहा तक हो सके विवाह दूरस्थ प्रदेशो म करने चाहिए। विवाह के तीन भेद हैं—निकृष्ट (पुरुष २४ वर्ष कन्या १६ वर्ष), मध्यम (३०-३५ या ४० वर्ष का पुरुष एव १८-२० वर्ष की कन्या) उत्तम (पुरुष ४८ वर्ष, कन्या २४ वर्ष)। सोलह वर्ष म न्यून कन्या का विवाह एव २४ वर्ष म कम पुरुष का वर्ण नही करना चाहिए। अन्यथा अनेक प्रकार की बीमारिया उत्पन्न होने की सभावनाए होती है।

ब्राह्म, दैव, आर्ष प्राजापत्य असुर, गान्धर्व, राक्षस एव पैशाच विवाह के आठ भेद होते हैं। ये क्रमश सर्वोत्कृष्ट मध्यम, निकृष्ट अधम और महाभ्रष्ट होते है। स्वयवर विवाह एक सीमा तक उचित माना गया है। जिसमे कन्या अपने अनुकूल कुलीन योग्य वर का स्वय चयन करता है। सीता, द्रौपदी, सावित्री आदि का विवाह स्वयवर स हुआ था। उसमे माता पिता की सलाह को भी ध्यान में रखना चाहिए।

गर्भाधान सस्कार के विषय मे स्वामी दयानन्द ने लिखा है 'पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो तब वेदी और मडप रचकर अनेक सुगन्धित द्रव्य और घृतादि का होम तथा अनेक विद्वान पुरुष स्त्रियो का यथायोग्य सत्कार कर। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देने योग्य समझे उसी दिन सस्कार विधि पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कार्य करके मध्यरात्रि या दस बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहण पूर्वक विवाह विधि म पूरा करके एकान्त सेवन करे'।

गर्भस्थित होने पर पति पत्नी सात्त्विक एव पौष्टिक पदार्थो का सेवन करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन कर। गर्भ के चौथे महीने पुन्सवन तथा आठवे महीने मे सीमन्तोन्नयन करना चाहिए। प्रसवोपरात बच्चे एव माता की पूरी तरह से देखभाल करते हुए दोनो की रक्षा करना पति का मुख्य कर्तव्य है।

गृहस्थ के लिए पचमहायज्ञो का करना आवश्यक होना चाहिए। ब्रह्मयज्ञ एव देवयज्ञ की चर्चा ब्रह्मचर्य प्रकरण मे की जा चुकी है।

पितृयज्ञ मे गृहस्थ अपने माता पिता, आचार्य विद्वान आदि की यथायोग्य सेवा शुश्रूषा करता है। पितृयज्ञ के दो भेद किए गए हैं। श्राद्ध और तर्पण। मृतक श्राद्ध एव तर्पण अनुचित है। श्राद्ध का आशय है जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाए उसको श्रद्धा और जो श्रद्धा म कार्य किए जाए उन्ही को श्राद्ध कहते हैं तथा जिस जिस कर्म स तृप्त अर्थात् विद्यमान माता-पिता पितर प्रसन्न हो किए जाए उन्हे तर्पण कहते हैं। ब्रह्मा आदि ऋषि, पुत्र पौत्र, प्रपौत्र आदि पितर कहलाते हैं। इनके द्वारा बताए गए आचरणो का पालन करना पितृतर्पण है। ऋषियो द्वारा निर्दिष्ट आचरण का सेवन ऋषि तर्पण है। माता-पिता-पितामह-मातामही आदि की स्वास्थ किए गए कार्यो को पितृतर्पण कहते हैं।

गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि प्रतिदिन पत्नी को बलिवैश्व करने को कहे। सिद्ध भोजन में से लवण रहित अन्न ले तथा ओ अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। आदि दस मत्रो से दस आहुतिया चूल्हे की अग्नि में दें। ओ सानुगायेन्द्राय नम। आदि मत्रो स भोज्यान्न निकाले। इन्हे अग्नि में डाल दें। या कोई अतिथि हो तो उसे खिला दे। इसी प्रकार श्वभ्यो नम। इत्यादि से कुछ भोजनाश निकालें। उसे किसी बुभुक्षित प्राणी अथवा पशु-पक्षी को खिला दें। इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि अज्ञात रूप से जिन जीव-जतुओ की हत्या हो जाती है उनका प्रत्युपकार हो जाए।

घर पर आए हुए अतिथि की यथायोग्य सेवा करना अतिथि यज्ञ कहलाता है। विद्वान, धार्मिक सत्योपदेष्टा आचार्य, साधु व सन्यासी आदि पूज्य जनो की समुचित सेवा शुश्रूषा करना गृहस्थ का परम कर्त्तव्य माना है। अतिथियों को उचित है कि जिस घर में आतिथ्य स्वीकार करे उस घर के लोगो को सत्य मार्ग का उपदेश करे, उनके दुर्गुणो आदि को दूर करे।

विवाह

स्वामी दयानन्द ने कहा है कि गृहस्थ का मूल आधार गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित विवाह होना चाहिए। विपरीत विवाह गृहस्थ मे विष घोल देता है। बहु-विवाह का निषेध किया गया है।

पुनर्विवाह के लिए आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष क्रमश अक्षत योनि एव अक्षतवीर्य हो। अन्यथा पुनर्विवाह म परस्पर कलह द्वेष तथा कुल में विद्रोह की सभावना बनी रहती है।

नियोग प्रथा पुरानी है एव शास्त्रानुकूल है। लेकिन इस प्रथा का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। नियोग एव विवाह मे भेदो को दर्शाते हुए स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट किया है कि विवाह म पति पत्नी दस सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। लेकिन नियोग म दो या चार सन्तान पैदा कर सकते हैं। विवाहित पुरुष-स्त्री साथ रहते हैं, किन्तु नियोग मे उन्हे ऋतुदान के समय को छोड साथ-साथ रहना वर्जित है। कुछ लोग नियोग को भ्रष्ट व पाप मानते हैं। उनकी तमाम शकाओ का निराकरण कर स्वामी दयानन्द ने नियोग को वेद सम्मत सिद्ध किया है। ईश्वर के सृष्टि क्रमानुरूप स्त्री पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार अधिकतर रुक नहीं सकता। समाज भ्रष्टाचरण स दूर रहे इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृतियो की पूर्ति हो। प्राय कामवासना सबधी बातो को लेकर ही समाज म अनैतिकता का बोलबाला होता है। जब मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा नियोग द्वारा सम्पन्न हो रहा है तो नियोग को भ्रष्ट व पाप कहना उचित नहीं है। सामाजिक मान-मर्यादा के सरक्षण हेतु ही इस प्रथा का उदय हुआ था। यही कारण है कि नियोग की प्रक्रिया मे पुरुष स्त्री को समाज से अनुमति लेना अनिवार्य स्वीकार किया गया है।

नियोग मे पुरुष व स्त्री दोनो को ही इस बात की प्रतिज्ञा करनी पडती है कि नियोग का कार्य हो जाने पर दोनो अलग-अलग रहेंगे, अन्यथा उन्हे जातिनियम तथा राजनियम तोडने के अपराध में दड दिया जा सकता है।

क्रमश:

आइए बड़ी लकीरें खीचें



युग पुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती ने चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को सन् १८७५ मे बम्बई मे क्रान्तिकारी आन्दोलन आर्य समाज की स्थापना की थी। आर्य समाज ने आज वट वृक्ष का रूप धारण कर लिया है। अनुमानित आकडो के अनुसार देश मे आज ८००० आर्य समाजे हैं और समाज के सदस्यो की सख्या ५ लाख है। दस करोड लोग आर्य समाज की धाराओ से प्रभावित हैं। सर्वोच्च सगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अधीन ५० प्रतिनिधि एव २०० जिला सभाय कार्य कर रही है। ६५ गुरुकुलो मे १० हजार से अधिक विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। २५ कन्या गुरुकुल, १०० कन्या महाविद्यालय १२५ कन्या पाठशालाओं में भी हजारो छात्राय शिक्षाग्रहण कर रहा हैं। १५००प्राथमिक विद्यालय १२०० हाई स्कूलो एम ए स्तर के ५०० कालेजो आदि मे भी लाखो छात्र-छात्राये शिक्षा पा रहे है। १५ अरब रुपये से भी अधिक आर्य समाज द्वारा शिक्षा पर प्रति वर्ष व्यय किया जा रहा है। हिन्दी व अन्य भाषाओ मे १२० पत्र-पत्रिकाये प्रकाशित हो रही हैं और ५५ आर्य पुस्तक प्रकाशक हैं। दस अनाथालय एव २५ विधवाश्रमो द्वारा भी आर्य समाज सेवा कर रहा है। आर्य समाज के १५०० वैतनिक व २००० अवैतनिक उपदेशक व भजनोपदेशक हैं। आर्य समाज अपनी विचारधारा के प्रचार-प्रसार पर लगभग डेढ करोड रुपये प्रतिवर्ष खर्च कर रहा है। ४५० से अधिक व्यक्ति आर्य समाज सम्बन्धी क्रियाओ पर पी एच डी कर चुके हैं और चार विश्वविद्यालयो मे दयानन्द पीठ स्थापित है। स्वामी श्रद्धानन्द की श्रद्धा लेखराम के लहु, प० गुरुदत्त विद्यार्थी की विद्वता, महात्मा हसराज के त्याग आदि ने आर्य समाज के इस विशाल व भव्य इतिहास में स्वर्णिम अध्याय जोडे हैं।

आर्य समाज का इतिहास बलिदानो का इतिहास है। स्वराज्य के सर्वप्रथम मन्त्रदाता दयानन्द के ८० प्रतिशत से अधिक अनुयायियो ने स्वतन्त्रता सग्राम मे अभूतपूर्व योगदान दिया था। अनेक शास्त्रार्थ महारथियो, उद्‌भट विद्वानो, सिद्धहस्त लेखको प्रख्यात पत्रकारो व साहित्यकारों उपदेशको सगीताचार्यो व भजनोपदेशको, कर्मठ कार्यकर्त्ताओ ने रात दिन कार्य कर आर्य समाज की अमूल्य सेवा की है। नारी उद्धार, समाज सुधार, शुद्धि आन्दोलन वेद प्रचार, गो सरक्षण व हिन्दी के प्रचार आदि में भी आर्य समाज ने कीर्तिमान स्थापित किये हैं।

२४ मार्च को देश-विदेश मे आर्य समाज स्थापना दिवस का पावन पर्व धूमधाम से मनाया गया। यह हमे आत्म निरीक्षण व आत्म चिन्तन की प्रेरणा देता है। वेद के उपदेश व आर्य समाज के सिद्धान्त द्वारा मार्ग प्रशस्त करते हैं। आर्य समाज के दस नियम कर्त्तव्य बोध कराते है आर्य समाज का कार्य निरन्तर चल रहा है यह यज्ञ तभी पूरा होगा जब अशिक्षा, अन्याय, अभाव, मतमतान्तर आदि हमारे परिवार, समाज, राष्ट्र व देश से समाप्त हो जायेगे। इसके लिए हमे सत्याचरण द्वारा जीवन मे आर्यत्व लाकर मृदुलभाव से आर्य समाज की सेवा करते रहना है। निराशा व कायरता को दूर कर एव अनुशासित हो सगठन को सुदृढ करना है। यदि हमे कही भी कोई छोटी लकीर दिखाई देती है तो उसे मिटाने की बजाय उससे बडी लकीर खीच कर आगे बढना है

—विमल कान्त शर्मा

आर्य समाज के नियम

१ सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते है, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

१ ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करने योग्य है।

ईश्वर के नामों की पद्यमय व्याख्या (६)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

जनको का भी जनक है, 'पितामह' जगदीश।
पितु-पितरो का भी पिता है 'प्रपितामह' ईश ॥ ६९ ॥

जननी निज सन्तान की सुख उन्नति में लीन।
जीव-प्रगति चाहे सदा, 'माता'-ईश प्रवीन ॥ ७० ॥

सदाचार दाता तथा, विद्याओ का हेतु।
परमेश्वर 'आचार्य' है, ज्ञान ज्योति का सेतु ॥ ७१ ॥

सत्य धर्म प्रद ज्ञानमय-वेद पढाता नित्य।
सृष्टि आदि अगना, पवन और अगिरा दित्य ॥ ७२ ॥

ब्रह्मादिक गुरुअन-गुरू, अक्षय ज्ञानागार।
परमेश्वर 'गुरु' नाम से ख्यात सकल ससार ॥ ७३ ॥

प्रकृति-तत्व नभ आदि के, सकल भूत परमाणु।
यथायोग्य सग्रथित कर, देह सग जीवाणु ॥ ७४ ॥

देता जन्म, स्वयं कभी होता ना उत्पन्न।
'अज' ईश्वर बिन देह सब, कार्य करे सम्पन्न ॥ ७५ ॥

रचकर सारे जगत का करता है विस्तार।
परमेश्वर का नाम है, 'ब्रह्मा' सर्जन हार ॥ ७६ ॥

'सत्' कहते हैं द्रव्य को, उससे होता साधु।
परमेश्वर ही 'सत्य' है, श्रद्धा करो अगाध ॥ ७७ ॥

सब कुछ जाने वह प्रभु इसीलिए है 'ज्ञान'।
लम्बा चौडा लघु गुरू ना कोई परिणाम ॥ ७८ ॥

मर्यादा अरु अवधि का नही कही है अन्त।
तभी ईश का नाम है जग-विख्यात 'अनन्त' ॥ ७९ ॥

जिसमे पहले अन्य का, नही रहा अस्तित्व।
जन्म-मृत्यु से जो परे वही आदि है तत्व ॥ ८० ॥

जिसके ना आरम्भ का, कारण जग में अन्य।
वही एक परमात्मा, तत्व 'अनादि' अनन्य ॥ ८१ ॥

जो आनन्द स्वरूप है मुक्त जीव जिस बीच।
पाते हैं आनन्द सब, नही लेश दुख-कीच ॥ ८२ ॥

धर्माचारी जीव भी, नित पावे सुख-कन्द।
निश्चय वह परमात्मा, कहलाता 'आनन्द' ॥ ८३ ॥

तीन काल से है परे, वर्त्तमान सब-काल।
'सत्' भी उसका नाम है सबकी करे सम्भाल ॥ ८४ ॥

चेतनमय, देता सबै, सत्यासत्य विवेक।
'चित्' सज्ञा से ख्यात है, मात्र ईश ही एक ॥ ८५ ॥

तीन विशेषण युक्त हैं वह अव्यक्त अनूप।
इसीलिए कहते उसे, 'सत्-चित-आनन्द' रूप ॥ ८६ ॥

निश्चल अविनाशी प्रभु, कहलाता है 'नित्य'।
शुचि, सबका शोधन करे, 'शुद्ध' ईश आदित्य ॥ ८७ ॥

सदा सभी का जानता, परमेश्वर है 'बुद्ध'।
जगती मे कोई उसे, कर नही सके अशुद्ध ॥ ८८ ॥

मुमुक्षुओ के क्लेश सब हरता है वह मुक्त।
तभी प्रकृति से है वह 'नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त' ॥ ८९ ॥

है वह जिस आकार का, है धार नही मूल।
'निराकार' व्यापक प्रभु सारे जग की चूल ॥ ९० ॥

(पष्ठ १ का शेष)

भक्त के हृदय की धडकन है और मैं इस महान सगठन का एक साधारण सा सेवक हू। आज हर आय समाजी का कर्त्तव्य है कि व समभ कि आय समाज क्या है। आज लोग वेद मन्त्रो का गलत अथ कर रहे ह। आज वेदो मे से लोग कृष्ण-सुदामा व ऋषभदेव के प्रसग ढूढने का यत्न कर रहे हैं। ऐसा करना वेदो का उपवास है और प्रत्येक आय समाजी को इस बारे मे सचेत रहना चाहिए। धम तो केवल वेद का है। शेष सब मजहब हैं। उन्होने इस बात पर दुख जताया कि आज हिन्दू लोग कब्रो की पूजा कर रहे हैं और मिन्नतें मागते हैं।

प्रो० शरर ने आगे कहा कि आज के इस पवित्र दिन पर हर आय समाजी प्रतिज्ञा करें कि वह सबसे पहले आय समाजी हैं फिर कुछ और तथा वह आय समाज के वचस्व को कम न होने देने का भी सकल्प ल। उन्होने कहा कि दयानन्द ने एक आग जलाई थी उसमे से शोले निकलते रहने चाहिए बफ नही निकलनी चाहिए। उन्होने कहा कि हम कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिसमे आय समाज के नाम पर कोई दाग लगे। आय समाज मुख्य है और गौण हैं। हमे जीना है तो आय समाज के लिए जीना है और मरना है तो आय समाज के लिए मरना है।

प्रो० शरर ने आय समाज के सगठन को सुदृढ करन का आहवान करते हुए आस्तीन के उन सापो से सचेत रहने को कहा जो आज सगठन मे निराशा का वातावरण पैदा करना चाहते हैं। उन्होने कहा जो सगठन को तोडता है अथवा कमजोर करता है वह ब्रह्म-हत्या का पाप करता है।

धम को परिभाषित करने की जरूरत है

पूव सासद श्री रामचन्द्र विकल ने कहा कि आज आय समाज को धम की ठीक परिभाषा ससार को बतानी है। राजनीति धर्म के बिना लगडी है परन्तु धर्म को राजनीति पर हावी नही होने देना चाहिए। देव दयानन्द न सबसे पहले स्वराज्य का नारा दिया था और वे राजनीतिज्ञो के गुरुओ के भी गुरु थ श्री विकल ने स्वस्थ रहने के लिए योगासनो को अपनाने पर बल दिया।

ऋषि ने नारी को सम्मानजनक स्थान दिलाया

डा० रमा ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि देव दयानन्द ने एक सदी पूर्व एक ज्योति जलायी थी। उन्होने समाज सुधार का एक यज्ञ शुरू किया था। नारी को शिक्षित करने पर बल दिया था तथा नारी को समाज मे गरिमापूण स्थान दिलाया था। वह यज्ञ अभी पूरा नही हुआ है और हमे श्रद्धापूवक उसम आहुतिया डालते रहना चाहिए। डा० रमा ने कहा कि आज विद्या के मन्दिरो से अहिंसा की लहरें चल रही हैं। अत माता पिता को बच्चो को अच्छ सस्कार देक उनकी नीव पक्की करनी चाहिए ताकि वे राष्ट के अच्छ नागरिक बन सक

जीवित माता-पिता की पूजा कर

अन्त मे डा० सच्चिदानन्द शास्त्री ने अपन अध्यक्षीय भाषण म कहा कि आज हिन्दू लोग मजारें पूज रहे हैं। इदिरा गाधी अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अडड मे भी एक मजार पर पूजा की जाती है। उन्होने दुख व्यक्त किया कि हिन्दुओ की जेब से इन मजारो पर करोडो रुपए का चढावा चढाया जाता है। उन्होने मूर्ति पूजा के स्थान पर जीवित मूर्तियो माता पिता व गुरु की पूजा अर्थात आदर सत्कार मान सम्मान करने की अपील की।

उन्होने आय जनो से कहा कि वे आज के दिन चिन्तन व मनन करें कि आय समाज के लिए उन्होने क्या किया है तथा आय समाज उनके कारण कितना आगे बढा है। डा० शास्त्री ने बच्चो को गुरुकलो मे भेजने का भी आहवान किया। उल्लेखनीय है कि डा० सच्चिदानन्द के परिवार से १८ व्यक्ति गुरुकुलो मे शिक्षा ग्रहण कर चुके हैं। उन्होने आय समाज के लिए हर सभव त्याग व बलिदान देने को भी कहा क्योकि इसके बिना आय समाज फल फल नही सकता है।

ग्रन्थो का लोकापण

समारोह मे स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने आचाय धमवीर शास्त्री द्वारा लिखित शत पर्णा एक महर्षि माल्यापणम का भी विमोचन किया। स्वामी जी ने आचाय हरिदेव द्वारा लिखित एक अन्य पुस्तक शिव पावता—सवाद का भी विमोचन किया।

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को राष्ट्रीय पव घोषित किया जाए

कार्यक्रम मे सवसम्मति से भारत सरकार से यह भी माग की गयी कि आज चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन को राष्ट्रीय पव के रूप मे मनाकर अवकाश घोषित किया जाए। नव वष दिवस को राष्ट्रीय दिवस घोषित करना इसलिए भी आवश्यक है क्योकि इसी दिन राष्ट पुरुष ऋषि दयानन्द ने १८३२ म आय समाज की स्थापना की थी।

आदर्श त्रैतवाद (२२)

रा सिंह भल्ला

पुरुष भोगो मे फसत है

समान वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक

श्वे ता० ४ ७

जिस प्रकृति रूप पेड पर परमेश्वर आरूढ है उसी समान वृक्ष पर पुरुष बद्ध हम भोगो म मग्न अपन असमथता स मोह मे फसा हुआ शोक करता है और जब वह उपासना से ज्ञान होन पर दूसर सखा ईश्वर को और उस भगवान की महिमा को देखता है तब शोक रहित हो जाता है

भगवान ने नाना पदाथ प्रकट किये

तदेतत्सत्य यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गा सहस्रश प्रभवन्ते स्वरूपा।
तथाक्षराद्विविधा सोम्य भावा प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।

मुण्डको० २ १ १

अब तत्त्वदर्शी ऋषि सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति तथा लय दिखाते हुए अगिरा ने कहा—सो यह सत्य है जसे प्रचण्ड अग्नि से सहस्रो समान रूप वाली चिगारियां उत्पन्न होती हैं ऐसे ही हे सौम्य प्यारे! अविनाशी भगवान् से नाना पदाथ प्रकट होते हैं—नाना पदार्थो को भगवान् प्रकट करता है और फिर वह सब उसी में लय हो जाते हैं।

पाचो महाभूतों को ईश्वर ही प्रगट करता है

एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिराप पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ मुण्डको० २ १ ३

उसी भगवान् से प्राण जीवन उत्पन्न होता है। मनोवृत्ति और सब इन्द्रिया भी उसी से उत्पन्न होती हैं आकाश वायु अग्नि और जल और सबको धारण करने वाला पृथिवी भी वही उत्पन्न करता है। सृष्टि के बनाने वाला वह परमात्मा है।

विश्वरूप

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिश श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा।
वायु प्राणो हृदय विश्वमस्य पद्भ्या पृथिवी ह्येष सवभूतान्तरात्मा॥

मुण्डको ३ ४

विश्व रूप का वणन करते हुए ऋषि कहते हैं—द्युलोक उस बिराट पुरुष का सिर है चन्द्र सूय नेत्र हैं दिशाए कान और वेद विस्तृत वेद हैं। वायु उसका प्राण और उसका हृदय विश्व है दोनो पैर भूमि है वह पुरुष सवभूतों का अन्तर म है (क्रमश

शौय पुरस्कार

आय समाज के इस पावन पव पर आय बाल गृह पटौदी हाउस दरियागज के दसवी कक्षा के छात्र श्री उत्तमचन्द को स्वण पदक देकर मेजर डा० अश्विनीकुमार कण्व शौय पुरस्कार १९९ से पुरस्कृत किया गया। विभिन्न स्कूलो के १२ अन्य छात्र छात्राओ को भी इसी प्रकार सम्मानित किया गया

नियम व मन्त्र दौड पुरस्कार

फिरोजशाह कोटला मदान मे १९ फरवरी को बोधोत्सव के अवसर पर आयोजित विभिन्न आयु वग के छात्र छात्राओ युवको व महिलाओ को नियम मन्त्र दौड कबड्डी आदि खलो के ४८ विजताओ को पदक व प्रशस्ति पत्र प्रदान कर पुरस्कृत किया गया। कबडडी के लिए शील्ड आर्य बाल गृह पटौदी हाउस को प्रदान की गयी।

इस कार्यक्रम मे मच सचालन आय केन्द्रीय सभा के महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री ने किया। उन्होने आय समाज को राष्ट्र का सजग प्रहरी बताया। रात्रि को राजधानी मे अनेक समाज मन्दिरो में रोशनी की गयी। प्रात काल प्रभात फेरी निकाली गयी। आय समाज दीवान हाल हनुमान रोड आदि ने आर्य समाज स्थापना दिवस व नव विक्रमी सवत पर आय जनो को बधाई व शुभकामनाए दीं।

शत-शत वन्दन राम ! तुम्हारा

मर्यादा पुरुषोत्तम तुम थे
मर्यादाओ के अनुरक्षक ।
सत्य शिवम सुन्दरता पूरित
मानवता के थे तुम रक्षक ।

वेदो के तुम थे अनुगामी
वैदिक धम तुम्हे था प्यारी ।
शत शत वन्दन राम ! तुम्हारा

विप्र धनु सुर सन्त जनो मे
भरा अभयता कास्पन्दन ।
नष्ट किया था बाहु बलो से
पूण मनुजता का कटु क्रन्दन ।

मुक्त हुआ फिर दानवता से
हर्षित हो महि मणुलसारा ।
शत शत वन्दन राम ! तुम्हारा ॥

त्याग-तपो का बलिदानो का
तुमने जग को माग दिखाया ।
शान्ति-सफलतास-मृद्धि सुख का
समरसताका राज्य बनाया ।

गूज उठा फिर भूमण्डल पर
सत्य धम की जय का नारा ।
शत शत वन्दन राम ! तुम्हारा ॥

शौय शक्ति के ओजन्तेज के
क्षमा-दया के थे प्रतिरूप ।
निर्मित किया सुपथ ज्योतिमय
सत्य सनातन दिव्य अनूप ।

दुनिया भर की दनुज वृ न्दो
को तुमने निर्भय ललकारा ।
शत शत वन्दन राम ! तुम्हारा ॥

राधश्याम आय विद्यावाचस्पति

निर्वाचन समाचार

आर्य समाज फोर्ट बम्बई—प्रधान श्री रामरिछपाल अग्रवाल उप-प्रधान श्री सदाशिव आर० प्रणम्बुर जगन्नाथ एन० शेटटी मन्त्री श्री डी० सी० शेटटी एव कोषाध्यक्ष श्री कार्तिक जी पाडया ।

आपसी मतभेद भुला-कर देश के दुशमनो को कुचल दे

श्री ओमकार आय प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई ने एक प्रेस वक्तव्य मे कहा है कि बम्बई मे १२ माच को जो दुखद घटनायें हुई उसने देश को ही नहीं विदेशो मे भी चिन्ता खडी कर दी है । इस घटना में दो पहलू ध्यान मे रखने पडेंगे । पहला बाबरी ढाचे को गिराय जाने के बाद पाकिस्तान का प्रपागडा और दुनिया भर के इस्लामी मुलको को उत्तेजित करना । दूसरा भारत के इसराईल के साथ सम्बन्धो को लेकर अन्य इस्लामी मुलको का रवैया । इसमे कोई सन्देह नही कि पाकिस्तान का हाथ इस मे है ताकि भारत की अथ व्यवस्था और हिन्दू मुसलमानो के सम्बन्धो को बिगाड कर और कुछ अन्य देशो को भारत मे दिसम्बर और जनवरी की तरह फिर अफरा तफरी पैदा की जाए ।

१ इस समय हम देशवासियो को सतक रह कर और जुट रह कर इसका मुकाबला करना है । २ किसी प्रकार की अशान्ति और अफवाहो को नही फलाना । ३ अपराधियो को खोजने म और अपराध भविष्य मे न हो सरकार की पूरी पूरी सहायता करना । ४ कम से कम एक वष के लिए बन्द मोर्चे रैलिया प्रदशन हडताल इत्यादि समाप्त करके देश को उन्नति की ओर ले जाना देश की शक्ति को बेकार के कार्यों मे न लगा कर और अपने मतभेदो को भुल कर देश की सुरक्षा और दुश्मन को कुचलने मे लगानी चाहिए ।

ऋषि बोधोत्सव

प्रान्तीय आर्य महिला सभा दिल्ली द्वारा ६ माच को आर्य समाज राजौरी गार्डन मे श्रीमती प्रकाश आर्या की अध्यक्षता मे ऋषि बोधोत्सव व सीताष्टमी पर्व उत्साह पूवक मनाया गया। श्रीमती चमेली ने ओ३म ध्वाजारोहण किया। महिला सम्मेलन मे श्रीमती ऊषा शास्त्री ने सत्य का प्रकाश करने का सकल्प लेने का आवाह्न किया। श्रीमती शकुन्तला दीक्षित न ऋषि को सर्वात्मना समर्पित महापुरुष बताया। श्रीमती सरला मेहता ने सत्याथ प्रकाश के नियमित स्वाध्याय पर बल दिया। श्रीमती प्रकाश आर्या ने दयानन्द को दया का प्रतीक बताया। कायक्रम मे आदश मा, आदश पत्नी व आदश नारी के रूप मे सीता मा को स्मरण किया गया। श्रीमती शकुन्तला आर्या ने धन्यवाद व्यक्त किया।

आय समाज हनुमान रोड, नई दिल्नी द्वारा ऋषि बोधोत्सव ऋषि पव के रूप मे धूमधाम से मनाया गया। कायक्रम मे सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती, व० उपप्रधान श्री वन्देमातरम् रामचन्द्र राव, महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री, दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल आदि न ऋषि दयानन्द को श्रद्धाजलि दी। रात को मन्दिर मे भव्य रोशनी की गयी।

टकारा युगपुरुष दयानन्द की जन्मस्थली टकारा मे १८ से २० फरवरी तक भव्य ऋषि बोधोत्सव सम्पन्न हुआ। आचार्य सोमपाल शास्त्री, बम्वई के ब्रह्मत्व मे शुरू यजुर्वेद पारायण यज्ञ, की पूर्णाहुति १९ फरवरी को हुई १८ फरवरी को ट्रस्ट के मैनेजिंग ट्रस्टी की अध्यक्षता मे प्रभात फेरी, एव श्रीमती सुदशन मुजाल की अध्यक्षता मे आर्य महिला सम्मेलन हुआ। श्री रामनाथ सहगल ने टकारा मे निर्माण काय एव भावी योजना की जानकारी दी। कार्यक्रम मे लन्दन से पधारे श्री जी० चन्द्रा ने टकारा ट्रस्ट को एक लाख दान दिये। उनका स्वागत सम्मान किया गया। १९ ता० को १२ बजे शोभा यात्रा भी आयोजित की गयी। रात्रि ९ से १२ बजे श्रद्धाजलि कार्यक्रम हुआ।

आय समाज महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना द्वारा ऋग्वेद शतक से शुरू कर यजुर्वेद शतक तक महायज्ञ का आयोजन आचाय राजेश्वर शास्त्री (डबल गोल्ड मेडेलिस्ट) के ब्रह्मत्व मे सम्पन्न हुआ। यह कायक्रम बोधोत्सव के उपलक्ष्य मे किया गया। राची विहार से प० गोविन्द प्रसाद विद्यावारिधि, लुधियाना के प० वेद प्रकाश शास्त्री विरजानन्द आर्य समाज कदवई नगर की भजन मण्डली, डा० बाल कृष्ण शास्त्री आदि न भजनो प्रवचनो द्वारा ऋषि की महिमा का गुणगान किया। कार्यक्रम १४ से २१ फरवरी तक मनाया गया।

आय युवक सभा नवा कोट अमृतसर क तत्वावधान मे बोधोत्सव प्रि० विनोद पाल की अध्यक्षता म मनाया गया। मुख्य वक्ता श्री रोशन लाल आय, न ऋषि का महान समाज सुधारक व आधुनिक भारत के निर्माता के रूप मे याद किया। मुख्य अतिथि श्री हरजीत सिंह न विभिन्न प्रतयोगिताओ के विजेता बच्चो को पुरस्कार दिये। श्री रामकुमार अरोडा न नवनिर्मित यज्ञशाला का उद्घाटन किया। आय समाज मोरिण्डा, पजाब द्वारा ऋषि बोधोत्सव साध्वी स्वामी सुमनायति की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ त्रिदिवसीय गायत्री यज्ञ म अनक आर्य जनो ने श्रद्धापूवक भाग लिया।

आर्य समाज हिण्डोन सिटी (राजस्थान) द्वारा बोधोत्सव पर तीन दिवसीय कायक्रम के दौरान आयोजित सत्याथ प्रकाश की परीक्षा मे १८०० प्रतियोगियो ने भाग लिया। ९० प्रतिशत से अधिक अक प्राप्त करने वाले १०० विजेताओ को पुरस्कृत किया गया। परीक्षा मन्त्री श्री विशन स्वरूप आर्य एव श्री रामबाबू आर्य के सराहनीय काय से ही आयोजन सफल हुआ। पुत्र विवाह पर दहेज न लेने के कारण महेश चन्द्र को सम्मानित किया गया। इस अवसर पर श्री क्षितीश वेदालकार को मरणोपरान्त १० वा घूडमल आय साहित्य पुरस्कार नागरिक अभिनन्दन सहित प्रदान किया गया जो उनकी धमपत्नी श्रीमती पवित्रा देवी न ग्रहण किया। श्रीमती पवित्रा देवी एव उनके पुत्र श्री विनयादित्य ने २५०० रु० की पुरस्कार राशि मनित्र गुरुदत्त सस्थान को भेंट कर दी। भव्य रोशनी भी की गयी।

आर्य समाज जवाहर नगर पलवल, फरीदाबाद मे १९ फरवरी को श्री धनपत राय आय की अध्यक्षता म बोधोत्सव धूमधाम से मनाया गया। प० राकेश शास्त्री देवराज शास्त्री आचाय मनुदेव, श्री मुरारी लाल के प्रवचन व भजन हुये तथा वैदिक पाठशाला क बच्चो न आकर्षक खेल दिखा कर सबका मन जीत लिया। मन्दिर मे रोशनी भी गयी।

महर्षि दयानन्द मठ जालन्धर मे २१ फरवरी को बोधोत्सव के अवसर पर विशेष यज्ञ श्री शालिग्राम पराशर (शास्त्री) के ब्रह्मत्व में सम्पन्न हुआ। श्री वेद प्रकाश आय, श्री वेदव्रत मेहरा, पूर्व प्रि० आदि ने दयानन्द से प्रेरणा ले समाजोत्थान के लिए काय करने का आह्वान किया।

आर्य समाज दयानन्द पथ मेरठ मे शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य मे बोधोत्सव धूमधाम से मनाया गया। सावदेशिक सभा के महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री ने आर्यों से ऋषि के मन्तव्यो का प्रचार करने की अपील की।

आर्य समाज तात्याटोप नगर भोपाल मे १९ फरवरी को भव्य बोधोत्सव मनाया गया। आर्य वीर दल के सचालक श्री तुलसीदास ने ध्वाजारोहण किया तथा प्रेरक उद्बोधन दिया। आर्य विद्वान श्री लक्ष्मी नारायण त्यागी ने आर्य वीरो को राष्ट्र के लिए हर बलिदान देने का सकल्प दिलाया।

आर्य केन्द्रीय सभा चण्डीगढ द्वारा डी ए वी कालेज चण्डीगढ के सभागार मे हरियाणा के राज्यपाल श्री धनिकलाल मडल की अध्यक्षता मे दयानन्द जन्मोत्सव पर एक सगोष्ठी आयोजित की गयी। प्रख्यात वैदिक विद्वान डा० भवानीलाल भारतीय, पजाब के राज्यपाल श्री सुरेन्द्रनाथ, न्यायमूर्ति श्री टेकचन्द आदि न दयानन्द जी को भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की। सभा प्रधान श्री किशनलाल मन्त्री श्री इन्द्रराज शर्मा न कायक्रम को सफल बनाने मे योगदान दिया।

भोपाल महानगर आय समाज विचार गोष्ठी कार्यालय द्वारा १ फरवरी को चार स्थानीय आय समाजो व तीन डी ए वी स्कूलो द्वारा तात्याटोपे नगर समाज मन्दिर म दयानन्द जन्मोत्सव पूर्व मन्त्री श्री लक्ष्मी नारायण के सम तत्व मे धूमधाम से मनाया गया। सर्वश्री डा० नागपाल लक्ष्मी नारायण आदि न आजादी की लडाई व समाज सेवा के क्षेत्र मे दयानन्द की सेवाओ का स्मरण किया। सयोजक श्री आदित्य पाल न धन्यवाद ज्ञापित किया।

महर्षि दयानन्द जन्मोत्सव

—आय केन्द्रीय सभा इलाहाबाद जनपद द्वारा आयोजित दयानन्द जन्मोत्सव मे आय समाज चौक के पूव प्रधान श्री राधमोहन ठाकुर बजरगसिंह केन्द्रीय आय सभा के म त्री डा सुरेश चन्द्रमोहन शास्त्री एव श्री पुरुषोत्तम लाल ने महर्षि दयानन्द का सव आ का स्मरण कर उन्हे भावाञ्जलि प्रस्तुत की।

—आष गुरुकुल महाविद्यालय नमदापुरम मे १६ फरवरी को दयानन्द जन्मोत्सव गुरुकुल क आचाय श्री जगदेव नष्ठिक की अध्यक्षता मे मनाया गया। गुरुकुल के ब्रह्मचारियो ने ऋषि को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

आगामी कायक्रम

वेद सगोष्ठी वेद सस्थान क तत्वावधान मे २४ २५ अप्रैल को सी २२ राजौरी गाडन म होगी

वार्षिकोत्सव

—आय समाज आयमगढ उत्तरप्रदेश का ९१वा वार्षिकोत्सव १८ से २१ फरवरी तक दयानन्द विद्यालय परिसर आयमगढ मे धूमधाम से मनाया गया। १८ फरवरी को नगर कीतन १९ फरवरी को राष्ट्र रक्षा सम्मेलन महिला आय सम्मेलन राष्ट्रीय छात्र व आय वीर सम्मेलन हुये एव धनुष विद्या का शानदार प्रदशन किया गया। जिला सम्मेलन व आर्यं वीर दल गोष्ठी भी सम्पन्न हुई।

सन्यास दीक्षा

दक्षिण अफ्रीका डरबन के सुप्रसिद्ध समाज सेवी एव वदिक धम के स्तम्भ श्री सत्यदेव जी ने १४ माच ९३ को प्रभात आश्रम टीकरी भोला झाल मेरठ मे सन्यास की दीक्षा ली इस अवसर पर अनेक गणमान्य आय महानुभाव उपस्थित थे।

R. N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 1-2-4-1993 Licence t post witho prepayment, Licence No. U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
८ साप्ताहिक "आर्यसन्देश" ४ अप्रैल १९९३

वैदिक साहित्य वितरण समारोह

पश्चिमी दिल्ली की आर्य समाजो व अन्य सस्थाओ की ओर से आर्य समाज स्थापना दिवस के अवसर पर ९ अप्रैल को दोपहर ३ बजे पैराडाइज पब्लिक स्कूल गो ४७ किरण गार्डन नजफगढ रोड, नई दिल्ली मे वैदिक साहित्य वितरित किया जायेगा। उद्घाटन डा० सच्चिदानन्द शास्त्री, मन्त्री सार्वदेशिक सभा एव अध्यक्षता श्री विक्रमकपूर करेंगे। स्वामी आनन्दबोध सरस्वती मुख्य अतिथि होगे।

महात्मा हसराज दिवस समारोह

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा एव डी०ए०वी० सस्थाओ की ओर से रविवार १८ अप्रैल १९९३ को प्रात ९ बजे से दोपहर १ बजे तक महात्मा हसराज दिवस समाराह मनाया जायेगा। सभी सादर आमन्त्रित हैं।

रामनाथ सहगल, मन्त्री
आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली

आर्य बाल गृह कबड्डी मे प्रथम पुरस्कार जीता

विगत दिनो आर्य समाज स्थापना दिवस पर हिमाचल भवन मे आर्य बाल गृह के बालको को अन्तर्राष्ट्रीय आर्य समाज की खेल प्रतियोगिताओ मे कबड्डी म विशेष शील्ड प्रदान कर प्रथम पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

यह पुरस्कार डी०ए०वी० सस्थाओ के मन्त्री श्री रामनाथ सहगल तथा आर्य समाज दीवान हाल के कायकर्ता प्रधान श्री सूर्यदेव जी ने एक सादे समारोह मे इन बालको को उनके अधिष्ठाता श्री एच०एस० रघुवशी के साथ प्रदान किये।

—हमीरसिह रघुवशी

चुनाव समाचार

आर्य केन्द्रीय सभा गुडगांव

प्रधान श्री ओम प्रकाश आर्य उपप्रधान—श्री चन्दन सिंह
महामन्त्री—श्री ओम प्रकाश चुटानी, मन्त्री—श्री जगदीश आर्य
कोषाध्यक्ष—श्री श्याम सुन्दर आर्य लेखानिरीक्षक—श्री हीरानन्द
भण्डारी—श्री अमीरचन्द श्रीधर।

आर्य समाज बिन्दापुर मण्डल

प्रधान श्री जन्मेजय, महामन्त्री श्री डी० सी० वर्मा
कोषाध्यक्ष—श्री रामपाल शर्मा।

आर्य समाज मुभावर (भरतपुर) राजस्थान

श्री बृजेन्द्र कुमार आर्य-प्रधान श्री ओ३म् प्रकाश पसारी-उपप्रधान,
श्री वैद्य दिनेश चन्द आर्य-मन्त्री, श्री राजेन्द्र प्रसाद जी वैद्य-सहमन्त्री
श्री भगवत प्रसाद जी कोषाध्यक्ष

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस पटौदी हाउस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

वर्ष १६ अक २७ | रविवार, ११ अप्रैल १६६३ | विक्रमी सम्वत् २०५० | दयानन्दाब्द १६६ | सृष्टि सम्वत् १६७२६४६०६३
मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष ३१०१५०

आर्यसमाज दीवान हाल का १०८वा वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज ने अनगिनत देश भक्त पैदा किये हैं

ज्ञानी जैलसिंह

संस्कृत-अध्ययन के लिए ७२ हजार की छात्रवृत्तियां दी जायेगी

नई दिल्ली ४ अप्रैल। आर्य समाज दीवान हाल का १०८ वा वार्षिकोत्सव २ से ४ अप्रैल तक अनेक महत्वपूर्ण सम्मेलनो, यजुर्वेद पारायण यज्ञ एव प्रतियोगिताओ के आयोजन के साथ ऐतिहासिक लाल किला मैदान मे समारोहपूवक सम्पन्न हुआ।

पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानीजैलसिंह ने राष्ट्र रक्षा सम्मेलन मे मुख्य अतिथि के रूप मे बोलते हुए कहा कि आय समाज ने न केवल देश की आजादी के लिए अद्वितीय योगदान दिया था बल्कि इतने देशभक्त पैदा किये हैं कि आसमान के तारो की तो गिनती की जा सकती है परन्तु आर्य समाज द्वारा किये गये देशभक्तो की गिनती करना कठिन है। आर्य समाज ने समाज सुधार के काम करके ऊच-नीच का भेद मिटाया है और दयानन्द के उपदेश केवल आयसमाजियो के लिए नही है अपितु सारे देशवासियो के कल्याण के लिए हैं।

ज्ञानी जी ने कहा कि भाषा भी हमारी मा है। देश की १५ राष्ट्रभाषाए अपनी हैं परन्तु हिन्दी जन-जन की भाषा है व प्रमुख है परन्तु अग्रेजी देश मे मेहमान के रूप मे ही रह सकती है। देश की आजादी की लडाई अग्रेजी से नही लडी गयी थी बल्कि हिन्दी के द्वारा लडी गयी थी। ज्ञानी जी ने सासदो से कहा कि अगले चुनाव मे यदि वे जनता के सामने वोट अग्रेजी मे माग कर चुनाव जीत कर आयेंगे तो ठीक है अन्यथा उन्हे मानना चाहिए कि जनता की भाषा अग्रेजी नहीं है और उन्हे ससद मे अग्रेजी का प्रयोग नही करना चाहिए। ज्ञानी जी ने यह भी कहा कि सस्कृत हमारी प्राचीनतम समृद्ध भाषा है और पजाबी, मलयालम आदि अनक भाषाओ मे सस्कृत के अनक शब्द हैं।

ज्ञानी जी ने कहा कि मा के पैरो के नीचे की धूल माथे पर लगाने एव उसकी सेवा करने से स्वग मिलता है। साथ ही हम धरती मा भारत माता की भी निष्ठापूर्वक सेवा करनी चाहिए। आयसमाज को हमेशा की तरह देश की एकता, अखण्डता की रक्षा व भाईचारे के लिए काम करते रहना चाहिए यही सच्ची भारतीयता है।

ज्ञानी जी ने कहा कि मिजोरम, नागालड व मघालय म अग्रेजी मातृभाषा हैं। मिशनरियो ने वहा गलत प्रचार किया। वहा के निवासियो को भारत के त्याग व बलिदानो का सच्चा इतिहास बताया जाना चाहिए ताकि वे देश की मुख्यधारा से पूरी तरह जुड सकें।

मुख्य अतिथि ने कहा कि आर्य समाज अपने मन म बुरा न रखने वाली सस्था है। हमें भी अपने मन म किसी के प्रति बुराई नही रखनी चाहिए तभी हमे भी कोई बुरा नहीं समझेगा।

सम्मेलन के अध्यक्ष डा० वेद प्रताप वैदिक ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि आर्यसमाज ही देश मे ऐसी सस्था है जो राष्ट्र रक्षा की चिन्ता करती है एव ऐसे सम्मेलनो का आयोजन करती रहती है। मैं विशुद्ध रूप से आय समाजी ही हू और आय समाज मेरे रोम-रोम मे बसा है। आय समाज मूलत प्रेम का धम है, सत्य के प्रचार का सन्देश देता है। दयानन्द ने वेदो के दरवाजे स्त्रियो व शूद्रो के लिए खोल कर महान उपकार किया है। यदि हमे दयानन्द के सपनो का भारत बनाना है तो हमे समाज मे अनुचित असमानता दूर करनी होगी। यह सब गुणकर्म योग्यता के आधार पर ही सभव है और जन्मना जाति से नही।

डा० वैदिक ने आगे कहा कि यह कहना ठीक नही है कि काफिले आते गये और देश बनता गया। भारत तो एक प्राचीनतम देश है। यह तब भी था जब काफिले नही आ रहे थे तथा अब आजादी के बाद भी काफिले नही आ रहे है तो भी है। यहा प्रजातन्त्र की नीव गहरी है और वोटो द्वारा सत्ता परिवतन होता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के सस्कृत विभागाध्यक्ष डा० वाचस्पति उपाध्याय ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि पवित्र गायत्री मन्त्र पावन गगा एव सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे समुल्लास की शिक्षाओ द्वारा अच्छे सस्कार देकर बिस्मिल जैसे देशभक्त व चरित्रवान नागरिको का निर्माण कर राष्ट्र की रक्षा की जा सकती है और ऐसे सम्मेलन साथक होगे।

सार्वदेशिक सभा के वरिष्ठ उपप्रधान एव स्वतन्त्रता सैनानी प० वन्देमातरम रामचन्द्र राव ने कहा कि समाज सुधार के नाम हिन्दू धर्म मे दखल बन्द करने से ही राष्ट्र रक्षा होगी। प्रख्यात वैदिक विद्वान श्री विशुद्धानन्द जी शास्त्री ने कहा कि सस्कृत के प्रचार-प्रसार तुष्टीकरण की नीति के त्याग, एव बलिदान व त्यागो द्वारा ही राष्ट्र की रक्षा सभव है।

प्रो उत्तमचन्द्र 'शरर' ने कहा कि देश के सभी नागरिको के लिए एक समान कानून बनाने व लागू करने से ही राष्ट्र की रक्षा सच्चे अर्थों हो सकेगी। आज आयसमाज एक आवाज बुलन्द कर रहा है। आयजन जहा कही भी खडे हैं उन्हे सगठित होकर कुरीतियो, अशिक्षा, घृणा का अन्धेरा दूर कर सत्य, ज्ञान व प्रेम का उजाला फैलाते रहना चाहिए। आचाय प्रेमचन्द्र श्रीधर ने अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि आय समाज एक सगठन है, जीवन दशन है और राष्ट्र रक्षा की बात करता है परन्तु सत्ता का भूखा व्यक्ति कभी देश भक्त नही हो सकता। राजनेताओ की गलतिया देश के लिए अभिशाप बन जाती हैं। यह झूठ बन्द किया जाना चाहिए कि आर्य बाहर से आये थे। प० वन्देमातरम ने आगे कहा कि भारत के बिस्मार्क सरदार पटेल समानता के आधार पर राष्ट निर्माण चाहते थे।

सम्मेलन मे सुप्रसिद्ध समाज सेवी स्व० वैद्य प्रह्लाद दत्त की स्मृति मे दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित दैनिक यज्ञ पद्धति का पूव राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने विमोचन किया। यह पुस्तक श्रीमती पद्मा देवी धमपत्नी वैद्य इन्द्रदेव जी के सात्विक दान से प्रकाशित की गयी है। समारोह मे डा० सच्चिदानन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित 'सस्कार चन्द्रिका' का भी लोकार्पण किया गया।

(शेष पृष्ठ ६ पर)

प्रधान सम्पादक— सूर्यदेव

सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

महर्षि दयानन्द की मान्यताएं (४)

डा० नरेन्द्र कुमार 'आलोक' सपना ई १२० डी, प्रताप विहार, गाजियाबाद उ प

नियोग के लिए सम अथवा उत्तम वर्ण को प्रधानता दी जानी चाहिए। विधवा पति के छोटे भाई से नियोग कर सकती हैं। आचार्य यास्क ने लिखा है—देवर कस्मात ? द्वितीयो वर ! उच्यते ! आशय यह है कि विधवा का दूसरा पति देवर है। वह छोटा भाई अथवा बडा भाई अथवा अपने वर्ण या अपने से उत्तम वर्ण वाला भी हो सकता है।

अक्षत योनि स्त्री चाहे सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल छोटे भाई से विवाह कर सकती है या पति की मृत्यु के उपरान्त नियोग का सहारा ले सकती है। पुरुष स्त्री की मृत्यु के बाद नियोग कर सकता है।

इसके साथ ही पुरुष के असमर्थ होने पर, विदेश चले जाने पर आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करने के बाद भी पति न आए तो स्त्री नियोग कर सकती है।

यदि स्त्री रुग्णा, कुल्टा व वन्ध्या है तो पुरुष नियोग कर सन्तानोत्पादन कर सकता है।

महर्षि दयानन्द ने यह स्वीकार किया है कि विवाह जन्मजन्मान्तरों का मेल होता है। इस पवित्र बंधन मे जितनी पवित्रता होगी उतनी ही पवित्र संतान होगी। गृहस्थाश्रम का निंदक स्वयं का निंदक होता है। सद्गृहस्थ में ही समस्त लोगो की उन्नति सम्भव है।

वानप्रस्थाश्रम

मनुष्य के लिए तृतीय आश्रम वानप्रस्थ होता है। मनुष्य को ५० वर्ष पश्चात् यदि पत्नी है, तो उसे उसकी इच्छानुसार जंगल मे ले जाकर स्वाध्याय जप तप ईश्वर चिंतन व अग्निहोमादि कर्म करते हुए संयमी जीवन व्यतीत करना चाहिए। पत्नी न जाना चाहे, तो उसे पुत्रों के पास पुत्र न हो तो सगे संबंधियो के पास, उसके खान-पान, रहन सहन की यथोचित व्यवस्था कर स्वयं जंगल मे निवास करना चाहिए।

विद्वान धार्मिक साधु-सन्यासी का यथायोग्य आदर सत्कार करना चाहिए।

सन्यासाश्रम

७५ वर्ष के पश्चात् मनुष्य को सन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो जाना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है—ब्रह्मचर्याश्रमसमाप्यगृहीभवेतगृहीभूत्वावनी भवेद्वनी वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।

मनुष्य क्रमश तीन आश्रमो का पालन करके सन्यस्त हो सकता है। इसके साथ ही किसी ब्राह्मण ग्रन्थ में भी यह व्यवस्था है—

यदहरेव विरजेतदहरेव प्रवजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत।

मनुष्य को जिस दिन भी पूर्ण वैराग्य हो जाए तो वह गृहस्थ वानप्रस्थ आश्रमो का सेवन न करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् सन्यासी बन सकता है। पर यह काम अत्यन्त कठिन है। क्षणिक भावावेश मे सन्यासाश्रम ग्रहण करना सर्वदा निंदनीय है।

सन्यासी का आचार विचार व्यवहार सर्वदा समस्त प्राणियो के लिए वेदोक्त ही होना चाहिए। पक्षपात रहित न्यायाचरण सत्य-असत्य का निर्णय एवं लोकोपकार की भावना से प्रेरित होकर श्रेष्ठ कार्यो को करे। साथ ही मोक्ष प्राप्त्यर्थ सर्वदा प्रयत्नशील रहे। मनसा वाचा कर्मणा समस्त जीवो का हित-चिंतन करे। सुख-दुःख मान-अपमान को एक-सा ही समझे।

एक रात्रि वसेत् ग्रामे, यतीना काचनम् जैसे वचनो के आधार पर कुछ लोगो की धारणा है कि सन्यासी को एक गाव मे एक रात रुकना चाहिए। साधु-सन्यासियो को सोना, चादी धन आदि देने वाला नरक जाता है। परन्तु महर्षि दयानन्द का विचार है कि ऐसी मिथ्या धारणा उन लोगो की है जो यह सोचते हैं कि यदि सन्यासी के पास धन होगा तो हमारी पोपलीला का खूब खडन करेगा। किसी गाव शहर मे ज्यादा ठहरेगा तो हमारे बारे मे उसे सब कुछ पता लग जाएगा। सन्यासी वहां रुक कर पोपलीला को खोलेगा। इसी भय से कुछ स्वार्थी लोगो ने ऐसे मिथ्या-वचन गढ लिए हैं।

संन्यासी परिव्राट् होता है। सारी पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए सभी के हित की बात सोचता है। सन्यासी की तुलना मुख से की गई है।

राजनैतिक मान्यताए

शासन की देखभाल का कार्य क्षत्रिय का होना चाहिए। राजा की स्वेच्छाचारिता एवं निरकुशता पर नियंत्रण रखने के लिए तीन सभाओ का गठन होना चाहिए। वे सभाए हैं—विद्यार्य धर्मार्य, एव राजार्य

महाप डितो को विद्यार्य सभा का सदस्य बनाना चाहिए। विद्वान व धार्मिक कार्यो मे कुशल को धर्मार्य तथा नीति राजनीति शास्त्र वेताओ को राजार्य सभा में सम्मिलित करना चाहिए।

ऋग्वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थो मे स्पष्ट बताया है कि एक व्यक्ति को स्वतंत्र राज्य का अधिकार सौंपना उचित नही है। अपितु राजाओं को सभापति तदधीन सभा सभाधीन राजा राजा और प्रजा, प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे।

मनुस्मृति मे बताया है कि राजा को इन्द्र वायु, सूर्य अग्नि, वरुण, चन्द्र एवं कुबेर के समान विभिन्न गुणो से युक्त होना चाहिए।

राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह धार्मिक, विद्वान व शूर-वीर हो। उसे विद्या एव आत्मकल्याण के लिए सर्वदा तैयार रहना चाहिए। राजा मृगया, द्यूत, दिवाशयन, मादक द्रव्यो के सेवन से दूर रहे। अपनी पत्नी मे ही प्रीति रखे। नाच-तमाशा, गाना-बजाना, अनावश्यक भ्रमण, समय व्यर्थ करना चुगली, असूया, ईर्ष्या, धन का अपव्यय, कटु भाषा का प्रयोग आदि त्याज्य है।

राजा अपनी सहायता के लिए स्वदेशी एवं उच्च कुलोत्पन्न शूरवीर सुपरिचित व्यक्तियो को अपना सचिव बनाए। संख्या मे सात या आठ हो। इससे राजकाज के कार्यों में मदद मिलती है।

पडोसी राज्यो से मधुर संबंध बनाए रखने के लिए दूतों की नियुक्ति करनी चाहिए। चतुर, बुद्धिमान, नीतिज्ञ व वाक्पटु निष्कपट को दूत मानना चाहिए।

राज्य की शासन व्यवस्था को सुदृढ एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए आवश्यक है कि राजा सेना का सगठन करे। सेना की देखभाल का कार्य सुयोग्य धीर-वीर, राष्ट्रप्रेम उत्तम हो सेनापति को सौंपना चाहिए। राज्य के चारो ओर मजबूत दुर्ग बनाने चाहिए इनमे सशस्त्र सेनाओ के आवास भोजनादि की व्यवस्था हो।

युद्ध मे राजा को धर्म का पालन करते हुए विजयश्री की ओर बढते रहना चाहिए। सैनिकों का धर्म है कि वे नपुंसक रोगी बाल वृद्ध, नारी दर्शक, किसान, निःशस्त्र, शरणार्थी, बंदी घायल सैनिको पर वार न करे।

युद्ध से होने वाले लाभो को राजा अपने तक ही सीमित न रखे। अपितु युद्ध मे प्राप्त धन का सोलहवा भाग राजकोष मे रखवा दे, शेष सैनिको मे बाट दे। जिससे कि सैनिकों की राजा के प्रति स्वामी भक्ति बनी रहे और युद्धो में सोत्साह भाग ले सकें।

राजकाल के लिए नियुक्त सेवकों को यथायोग्य वेतन देना चाहिए।

राज्य के एक एक भाग को चलाने के लिए एक-एक प्रधान चुनना चाहिए। ग्रामो की सख्या के वृद्धि होने के साथ ही प्रधान पुरुषो की सख्या भी बढा देनी चाहिए।

बडे-बडे नगरो का संचालन करने के लिए प्रशासन को चुस्त बनाने के लिए एक समिति का गठन करना आवश्यक है। सभागार में बैठ कर उनकी समस्याओ पर विचार करना राजा का कर्त्तव्य है।

राजा को दण्ड के प्रति सजग रहना चाहिए। बिना दंड भय के शासन चलाना असभव है। दण्ड का विधान सोच-समझ कर करना चाहिए। अन्यथा शासन ढीला हो जाता है। शारीरिक एव आर्थिक दंड देने के साथ ही उसे धिक् कहकर भी दंडित कर सकते हैं।

सेना के रख-रखाव एव प्रजा की उन्नति के लिए राजा कर लेता है, किन्तु ध्यान रहे जैसे भ्रमर पुष्प से मधु ग्रहण करता है, फूलो को नष्ट नही करता। राजा को भी प्रजा को कष्ट दिए बिना ही कर प्राप्त करना चाहिए।

क्रमशः

प्रेरणास्रोत

महात्मा हंसराज



१९ अप्रैल, १८६४ को होशियारपुर मे बेजवाडा नामक स्थान पर जनमे त्यागमूर्ति महात्मा हसराज का जन्मदिवस गत वर्षों की भाति इस माह भी धूमधाम से मनाया जा रहा है। मेधावी छात्र हसराज सन् १८८५ मे पूरे पजाब विश्वविद्यालय मे द्वितीय स्थान प्राप्त करने के बाद समर्पित भाव से आर्य समाज की सेवा करने लगे। डी० ए० वी० आन्दोलन के प्रणेता हसराज ने लगभग २६ वर्ष तक स्कूल व कालेज मे अवैतनिक सेवा की। महान शिक्षाविद् हसराज छात्रो से पितृतुल्य व्यवहार करते थे। महात्मा जी ने देववाणी सस्कृत व जनभाषा हिन्दी के अध्यापन पर विशेष बल दिया और उन्होने कालेज मे एम० ए० सस्कृत की पढाई की नि शुल्क व्यवस्था की।

दृढ ईश्वर विश्वासी हसराज के बडे पुत्र बलराज जब दिल्ली षडयन्त्र केस के कारण जेल मे थे, छोटा पुत्र निमोनिया से पीडित था और घर मे आर्थिक सकट से विचलित देखकर अपनी पुत्री से कहा कि परमात्मा जो करता है, वह ठीक ही करता है। महात्मा जी का कथन था कि सन्ध्या, स्वाध्याय, सत्सग, शुद्ध विचार एव समीक्षा को आचरण मे अपनाने से आर्य समाज की दिन दुगनी व रात चौगनी उन्नति होगी तथा वैदिक धर्म का भी बोलबाला होगा।

हसराज जी सेवा को आर्य समाज की उन्नति का मूलतत्व मानते थे और उन्होने अनेक अवसरो पर अकाल बाढ व भूकम्प पीडितो की जो सहायता की है वह स्वर्णाक्षरो मे अकित है। शुद्धि आन्दोलन मे भी हसराज जी का योगदान अविस्मरणीय है।

कमठता की मूर्ति हसराज जी ने आय प्रादेशिक सभा सहित अनेक सस्थाओ की स्थापना की थी। आर्य समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे अनथक सेवा करने वाले हसराज का निधन ५ नवम्बर, १९३८ को हुआ।

अद्भुत व्यक्तित्व के धनी, सर्वस्व त्यागी हसराज मे अजब का वाणी सयम एव सहनशीलता थी। सादगी—खादी का कुर्ता, पजामा व सिर पर पगडी—एव उच्च विचारो के प्रतीक हसराज आज भी सभी के प्रेरणास्रोत हैं।

वास्तव मे ऐसे आदश पुरुष का जन्म दिन आत्मनिरीक्षण का दिन है। हम सब, विशेषकर डी० ए० वी० सस्थान से जुडे महानुभाव, आत्मचिन्तन करें कि तपोनिष्ठ हसराज जी के आदर्शों पर कितना चल रहे हैं और उनसे प्रेरणा ले निरतर आगे बढते रहे, यही सच्ची श्रद्धाजलि है।

—विमल कान्त शर्मा

सम्पादक के नाम पत्र

पं० नाथूराम शकर शर्मा विशेषाक प्रेरणाप्रद है

आपका 'आय सन्देश' के महर्षि निर्वाण दिवस एव प० नाथूराम शकर शर्मा शेकर का सयुक्ताक काफी समय बाद प्राप्त हुआ उसके लिए हार्दिक धन्यवाद। अक काफी अच्छा लगा तथा आवरण पृष्ठ काफी प्राकृष्टित रहा। सम्पूण अक पढ़कर हृदय वदामन प्रति प्रसन्नता से भर गया। आप 'आयसन्देश' के विशेषाक समय-समय पर प्रकाशित करके साधुवाद के पात्र हैं। जिससे आजकल के आर्य नवयुवक शिक्षा ले सकने मे सफल होगे तथा वह शकर जी के जीवन से उनकी कविताओ के माध्यम से आर्य सुधारो की जो उच्चकोटि की विचारधारा दी उनसे वह प्रेरणा लेकर अपने जीवन मे सुधार करके लाभान्वित होगे। स्वय ने सन् ३८ मे शेकर सदन के दर्शन करके स्वय को गौरवान्वित हुआ तभी उनके पुत्र स्व० प० हरी शकर शर्मा के दर्शन प्रथम बार किये थे तथा उनकी कविता सुनी।

रमेश चन्द आर्य

ग्राहक न० २७९५ च दोसी, मुरादाबाद उ०प्र०

पठनीय सामग्री से भरपूर विशेषाक

आर्य सन्देश का स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती विशेषाक प्राप्त हुआ। अत्यन्त उपयोगी पठनीय सामग्री से भरपूर विशेषाक की उत्कृष्टता हेतु आपको कोटिश धन्यवाद।

स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज कृत 'श्रीमद् भगवद् गीता' मुझे आर्य समाज मऊ जनपद से प्राप्त हुआ था गीता के अन्दर जो श्लोक मृतक श्राद्ध, अवतारवाद वेद निन्दा आदि के पोषक प्रतीत होते हैं उन्हे स्वामी जी के भाष्य द्वारा अत्यन्त सुबोध तर्क युक्त एव वेद प्रतिपादित सिद्धातो के पोषक प्रतीत हो रहे हैं। स्वामी जी के तीव्र तार्किक बुद्धि पर आर्य जगत को गव है। आज ऐसे ही सन्यासी की आर्य समाज को पुन आवश्यकता है।

लालमणि शर्माय ग्रा०-पहरी जि०-बलिया (उ०प्र०)

ईश्वर के नामों की पद्यमय व्याख्या (७)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

रूप-पाप-दुष्कामना, इन्द्रिय-विषय से दूर।
आप 'निरजन' ईश है, ज्ञान-ज्योति भरपूर॥ ९१॥

जीव-प्रकृति-सब द्रव्य का स्वामी पालनहार।
'गणपति' और 'गणेश' है, ईश्वर अपरम्पार॥ ९२॥

विश्व अधिष्ठाता वही, 'विश्वेश्वर' कर्त्तार।
व्याप्त सभी व्यवहार मे, उनका है आधार॥ ९३॥

तदपि किसी व्यवहार मे, ईश नही है लिप्त।
इस कारण सर्वेश का, नाम ख्यात 'कूटस्थ'॥ ९४॥

'देव' शब्द के तुल्य हैं, 'देवी' के भी अर्थ।
तीनो मित्रो मे वही, रखता सम-सामर्थ्य॥ ९५॥

ईश-विशेषण देव' है, 'चिति' का 'देवी' होय।
'देवी' ईश्वर नाम है, राखो हृदय सजोय॥ ९६॥

अखिल सृष्टि के सृजन मे, है वह पूण समथ।
'शक्ति' नाम भी दे रहा, ईश्वर ही का अथ॥ ९७॥

जिसका सेवन सब करें, बुधज्य-योगी-सन्त।
'श्री' अति सुन्दर नाम से, जाना जाय अनन्त॥ ९८॥

जगत चराचर देखता, रचता दृश्य-स्थूल।
नेत्र-नासिका देह सब, वृक्ष पत्र-फल-फूल॥ ९९॥

पृथिवी जल, बहु रग के, रजकण-पत्थर-द्रव्य।
चन्द्र सूय नक्षत्र के, दृश्य बनाता भव्य॥ १००॥

अखिल विश्व की कान्ति है, श्रुति-सन्तन का लक्ष्य।
दशनीय प्रभु रम्य है, नाम 'लक्ष्मी' धन्य॥ १०१॥

विविध ज्ञान विज्ञान का, ईश्वर अनुपम छन्द।
भाषा के सब जानता, शब्द अर्थ-सम्बन्ध॥ १०२॥

इसके सकल प्रयोग का, उसे यथावत् ज्ञान।
'सरस्वती के नाम से, पूजित है भगवान्॥ १०३॥

स्वत कार्य अपने सभी, करता है वह इष्ट।
अन्य किसी की सहायता, उसको नही अभीष्ट॥ १०४॥

अपना ही सामर्थ्य है उसका विशद अपार।
'सवशक्तिमय' नाम है, व्याप्त सकल ससार॥ १०५॥

अष्ट प्रमाणो पर परख, सत्य होय जो सिद्ध।
पक्षपात बिन आचरण, होता 'न्याय' प्रसिद्ध॥ १०६॥

क्रमश

विभिन्न विचारधाराओं का अपूर्व सामंजस्य करने वाले—श्री क्षितीश जी

—वरेन्द्र विद्यावाचस्पति

अनेक वर्ष पहले की बात है। श्री कृष्ण जन्माष्टमी से पूर्व एक दिन भाई गोविन्द प्रसाद केजरीवाल ने कहा—एक ऐसे आर्य विद्वान् का नाम सुझाइए जो जन्माष्टमी के पर्व पर मथुरा मे श्रीकृष्ण जन्मस्थान में ओजस्वी विद्वत्तापूर्ण भाषण दे सके और जिसे सनातनी विद्वान् और जनता भी सराहे। एक क्षण की प्रतीक्षा न करते हुए मैंने बन्धुवर क्षितीश जी वेदालकार के नाम का सुझाव दिया। उनके नाम पर उन्होने सहमति प्रकट की, पर झिझक भी प्रकट की कि कद काठी और बाह्य स्वरूप से सम्भवत वह जनता को आकर्षित नही कर सके। इस झिझक के बावजूद उन्होने मथुरा जन्मस्थान और दिल्ली के लक्ष्मी नारायण (बिरला) मन्दिर के प्रबन्धक प० देवधर जी के सम्मुख क्षितीश जी के नाम का प्रस्ताव रख दिया। उनकी माग पर ही केजरीवाल जी ने यह चर्चा की थी। कुछ दिन बीत गए, एक दिन केजरीवाल जी आए, बहुत अधिक प्रसन्न थे। बोले—क्षितीश जी ने मथुरा जन्मस्थान मे कृष्ण जन्माष्टमी पर वह समा बाधा, जिसकी किसी को उम्मीद नही थी। क्षितीश जी ने जन्माष्टमी पर एकत्र हजारो के जनसमूह के सम्मुख बिखरे हुए छोटे-छोटे राज्यो को एक बृहत्तर भारत-महाभारत के सूत्रधार एव कर्मयोग का सन्देश देने वाले योगेश्वर श्रीकृष्ण की ऐसी उदात्त छवि सीधी-सादी भाषा मे रखी, जिसे प्रबन्धको, सनातनी विद्वानो और सामान्य जनता ने खूब सराहा।

एक आर्य विद्वान् द्वारा सामान्य सनातनी जनता व विद्वानो का हृदय जीतने की घटना क्षितीश जी के जीवन की एक बडी उपलब्धि थी, इससे भी उनकी बडी स्थायी उपलब्धि थी आर्यजगत् जैसे एक विचारधारा के पत्र को आर्य समाज के सर्वाधिक यशस्वी लोकप्रिय पत्र के रूप मे प्रतिष्ठित करना। इस सबध मे उल्लेखनीय बात यह थी कि वह स्वय गुरुकुल विचारधारा के प्रवक्ता थे, परन्तु उन्होने कालेज शिक्षा प्रणाली के मुखपत्र 'आर्यजगत्' का कार्यभार सभालते हुए पत्र के माध्यम से दोनो विचारधाराओ का अपूर्व सामजस्य प्रस्तुत किया। यह कितने अधिक अचम्भे की बात है कि एक शताब्दी बीतने के बावजूद गुरुकुल एव कालेज शिक्षा प्रणालियो और उनकी शिक्षण सस्थाओ मे कोई तालमेल सम्भव नही हो सका, परन्तु क्षितीश जी ने अपने कर्तव्य से इन दोनो ही विचारधाराओ के पत्रो एव सस्थाओ मे ही नही, प्रत्युत आर्य समाज मे अपनी विशिष्ट स्थिति बना ली था। यह उनकी एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही।

बाह्य शरीर मे वामन दीखने वाले भाई क्षितीश जी अपने कार्यो से एक विराट व्यक्तित्व के प्रतीक थे। एक सामान्य निर्धन परिवार मे जन्म लेकर अपनी लेखनी और वाणी से देश के सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन मे श्री क्षितीश जी ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। १६ सितम्बर, १९१६ को पुरानी दिल्ली के एक पुराने मोहल्ले मे उनका जन्म हुआ था और छियत्तर वर्ष के यशस्वी जीवन के बाद २४ दिसम्बर, १९९२ के दिन नई दिल्ली मे उनका देहावसान हो गया। आज के युग मे उन्नति के सोपान पर पहुचना 'पुश' और 'पुल', 'धक्के' और 'पहुच' के साधनो के बिना सम्भव नही, परन्तु क्षितीश जी ने अपनी साधना, लगन और दृढनिश्चय से समाज मे अपनी विशिष्ट स्थिति बनाई। हैदराबाद सत्याग्रह मे सफलता के बाद जब उन्हे पजाब, पुराने मध्यप्रान्त बरार के सामाजिक जीवन मे आगे बढने का सुअवसर मिला और देश के विभाजन के बाद उत्तर भारत के मचो पर उनकी वाणी की ओजस्विता और बुलन्दी ने अपनी धाक जमाई तब उन्होने उपदेशकों के स्थान पर पत्रकारिता के तत्कालीन मिशनरी जीवन को अपनाया। वर्षो तक उन्होने दैनिक पत्र के सम्पादन, विशिष्ट साम्भ लेखन, हास्य लेखन अग्रलेख आदि विधाओ मे गरिमा, प्रतिष्ठा और यशस्विता प्राप्त की। अवकाश प्राप्त कर भी वह घर मे विश्राम करने की अपेक्षा लेखनी और वाणी द्वारा समाज सेवा का दायित्व निबाहते रहे। नर दायित्वो को पूर्ण करने के साथ उन्होने पजाब, कश्मीर और बगला देश पर अपने ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थो से उक्त तीनो क्षेत्रो की समस्याओ को समझने और उनके समाधान मे योगदान सम्भव है। यह प्रसन्नता का विषय है कि पत्रकारिता एव पर्यटन के जोखिम भरे सघर्षपूर्ण जीवन मे जो कुछ देखा और लिखा, उसका बडा भाग ग्रन्थाकार रूप मे सग्रहीत और प्रकाशित हो गया है।

स्व० भाई क्षितीश जी ने एक वामन पृष्ठभूमि के बावजूद देश के सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन में एक विराट व्यक्तित्व की सृष्टि की। स्वार्थ एव आपाधापी से भरे युग मे उन सरीखे विराट व्यक्तित्व से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। इसी के साथ उनके विभिन्न विचारधाराओ के मध्य सामजस्य करने वाले व्यावहारिक जीवन से बहुत कुछ सीख सकते है।

आदर्श त्रैतवाद (२३)

राजसिंह भल्ला

ईश्वर और जीव को सखा और प्रकृति को वृक्ष मानकर

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ मुण्डको ३ १-१

उपासना का वर्णन करने के अनन्तर अगिरा ने अलकारिक रूप मे ईश्वर और जीव को समान जाति वाले पक्षी और प्रकृति को वृक्ष मानकर उनका परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है।

उपास्य और उपासक का सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं कि दो सुपर्ण पक्षी हैं। वे परस्पर घनिष्ट प्रेम मे मिले हुए सखा हैं और एक ही समान वृक्ष को आलिंगन किए हुए है उनमे एक प्रकृति रूप पेड के स्वादु फल को खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है। और प्रकृति तो भोग्या है।

प्रकृति महा वृक्ष है। इस पर भगवान् और जीवात्मा दोनों आरूढ हैं। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध स्वाभाविक है और सनातन है तथा सखापन का है। भेद इतना है कि जीवात्मा प्रकृति के अनुकूल फलो को भोगता है जिससे वह दुखी होता है और परमेश्वर केवल साक्षी बना रहता है।

जीवात्मा प्रकृति के मोह मे फस जाता है

समाने वृक्षे पुरो पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोक ॥
मुण्डको० ३-१-२

उसी एक पेड पर पुरुष जीवात्मा भोगो मे निमग्न-कर्म में बधा जाकर अपनी असमर्थता से मोह मे पडा शोक करता है। जब दूसरे अपने से भिन्न ईश्वर को अपना सखा देखता है और उसकी अपार दया आदि महिमा को जानता है तो शोक रहित हो जाता है। दोनो मे सर्वज्ञ और अल्पज्ञ होने का भेद है और वृक्ष प्रकृति रूप है।

प्रकृति पूजक घोर अन्धकार को जाते है

अन्धन्तम प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इवे ते तमो य उ सम्भूत्याᳲरता ॥ ईशो० १२

घोर अन्धकार मे वे लोग प्रवेश करते हैं जो जन असम्भूति को प्राकृत कार्य जगत् को, प्रकृति को ही आराधते है, आत्मा का विचार न कर केवल लाभ, मोह, ममतामय मायिक व्यवहार मे ही निमग्न रहते हैं। उससे अधिक ही अन्धकार मे वे जन प्रवेश करते हैं जो सम्भूति मे ही—केवल अकर्मण्य आत्मवाद में लगे रहते हैं। सद्व्यवहार शून्य, अकर्मण्य आत्मवाद मे, पराश्रित निरुद्यत और निष्क्रिय आत्मवाद मे रत रहने वाले जन अधिक अन्धेरे में ग्रस्त रहा करते हैं। निरे आत्मवाद की रट लगाना और अपने व्यवहार को, दैनिक जीवन यात्रा को भी न चला सकना अधिक अज्ञानग्रस्त रहने के कारण कहे गये हैं। (क्रमश)

अवैध यौन सम्बन्ध और वेद

एक आपत्ति जनक लेख का प्रामाणिक जवाब

—प्रो० भवानीलाल भारतीय धर्माधिकारी, सार्वदेशिक धर्मार्य सभा

सार्वदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के माननीय प्रधान स्वामी आनन्दबोध जी ने मेरे पास ७ मार्च १९९३ के पजाबकेसरी के एक लेख की कटिंग भेजी है यह लेख किन्ही सुभाष कुमार का लिखा हुआ है और इसका शीर्षक है 'इतिहासके आइने मे वेश्यावृत्ति'। यदि लेखक को लिखनेके लिए यही विषय मिला तो इस पर कुछ कहना हम उचित नही समझते किन्तु वेश्यावृत्ति की कथा लिखने के सिलसिले मे वेद और अन्य वैदिक ग्रन्थो को यो ही लपेटे मे ले लिया। सुभाष कुमार कोई विख्यात वैदिक विद्वान तो हैं नही कि उनके द्वारा लिखी गई वेद विषयक इन टिप्पणियो तथा भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले कथन पर हम ध्यान देते, किन्तु यह जानकर कि प जाब केसरी जैसे अखबार को लाखो लोग पढते हैं, इस लेख के आपत्ति जनक स्थलो का निराकरण करना आवश्यक है।

प्रथम तो लेखक महोदय को यह समझना चाहिए कि वेद कोई कहानी या उपन्यास तो हैं नही कि बिना उनके अध्ययन की पूरी तैयारी किए, उनके मम को समझा जा सके। वेद मन्त्रो के वास्तविक अथ ज्ञान के लिए निरुक्त, व्याकरण आदि वेदागो, उनके व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थो तथा तत सदृश अन्य आषग्रन्थो का अध्ययन आवश्यक होता है। पता नही सुभाष कुमार इनमे से किन किन ग्रन्थो का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं या उन्होने यो ही सुनी सुनाई बातो को इधर उधर ने पढकर यह ऊटपटाग लेख लिख डाला।

लेखक कहता है कि ऋग्वेद मे ऐसे असख्य उदाहरण मिलते हैं जिनसे तत्कालीन समाज मे स्त्री पुरुषो के बीच अवैध सम्बन्धो के आम प्रचलन की बात जाहिर होती है। लेखक को ज्ञात होना चाहिए कि वेद न तो इतिहास का ग्रन्थ है और न किसी युग विशेष को सामाजिक दशा का वर्णन करने वाला कोई समाज शास्त्रीय ग्रन्थ। वह तो ज्ञान-विज्ञान, कम, उपासना जैसे लौकिक एव पारलौकिक विषयो का ज्ञान करने वाला उत्कृष्ट विश्वकोष है। सभी भारतीय एव पाश्चात्य विद्वान इस बात पर एकमत हैं कि वेदो मे उल्लिखित विचार अत्यन्त उदात्त मानवीय भावो के उत्कष के प्रतीक तथा जीवन को दिव्य बनाने का उपदेश देते हैं। उनमे जो नैतिक उपदेश ग्रथित हैं वे व्यक्ति परिवार और समाज के लिए सदा से आदश रहे हैं। इस परिदृश्य मे इस लेखक द्वारा किये गये आक्षेप कितने हास्यास्पद हैं यह निम्न आलोचना से स्पष्ट हो जायेगा।

भाई बहन के अवैध सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिये लेखक ने ऋग्वेद (६-५५-४) के मन्त्र को प्रस्तुत किया है। मूल मन्त्र तो उसने दिया ही नही केवल उसके अर्थ का अनर्थ करते हुए लिख दिया कि स्वय पूषा देव अपनी बहिन ऊषा के जार अर्थात यार अथवा प्रेमी थे। इस अकल के दुश्मन लेखक ने पूषा और उषा को सचमुच का स्त्री पुरुष मान लिया और भाई बहिन के अवध सम्बन्ध की मिथ्या कल्पना कर ली। वेद का अनथ करने वालो के लिए आचाय यास्क ने ठीक ही लिखा था—

नैष स्थाणोरवराधो यदेनमन्धो न पश्यति।

स्थाणु का क्या अपराध यदि अन्धा उसे नही देखता। वेद मे जिस पूषा देवता का उल्लेख है वह कोई हाड, मास वाला व्यक्ति नही, अपितु सूय का वाचक है। वैदिक शब्दो के कोष निघण्टु मे उसे सूय का वाचक कहा गया है। अग्रेज विद्वान प्रो० मैकडानलके के अनुसार पूषा वह है जो पोषण करता है लोगो को समृद्धि प्रदान करता है—

The Name Pushan means Prosperer is derived from Pus, cause to thrive.

आगे वे पुन स्पष्ट करते हैं कि पूषा एक द्योलोक के देवता हैं जो सूय की उपकार करने वाली शक्ति के द्योतक हैं—Pushan was originally a solardeity representing the beneficent power of the 'Sun'

वस्तुत आलोच्य मन्त्र मे एक अलकार के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि जब पूषा रूपी सूर्य का उदय होता है तो सूर्योदय पूव काल की उषा का क्षरण हो जाता है। उषा चली जाती है और सूय अपने पूर्ण प्रकाश के साथ ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर देता है। स्वामी दयानन्द ने मन्त्रोक्त जार शब्द का वास्तविक अर्थ किया है, जीण करने वाला अत जार किसी यार या प्रेमी का वाचक नही है। स्वामी जी ने तो इस मन्त्र को राजा के लिए कर्तव्यबोधक मानते हुए लिखा है, "राजादयो मनुष्या यथा सूर्यो रात्रेनिवारको अस्ति तथैव प्रजासुजारकर्माणि वक्त्मा नात्मनुष्यान्निवारयत्।" जिस प्रकार सूय रात्रि का निवारण करता है उसी प्रकार राजाओ को प्रजाओ मे व्याप्त व्यभिचार दोष का निवारण करना चाहिए। मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को न समझकर सुभाष कुमार ने अर्थ का अनर्थ कर डाला।

अब हम ऋग्वेद के उस प्रसिद्ध यम यमी सूक्त की चर्चा करते हैं जिसके वास्तविक तात्पय को न समझकर इस मूख लेखक ने भाई-बहिन के वासनामूलक सवाद की कल्पना की है। वस्तुत सूक्त का अर्थ करते हुए अनेक प्राचीन एव अर्वाचीन भाष्यकारो को भयकर भ्रान्ति हुई है। उन्हे यह ज्ञात ही नहीं कि मन्त्र कथित यम और यमी कोई वास्तव मे शरीरधारी भाई बहिन नहीं है। मन्त्र का आधि दैविक अथ करें तो स्पष्ट होगा कि सूर्य का पुत्र होने के कारण दिन को यम तथा रात्रि को यमी कहा जाता है। अत रात और दिन दोनो का मानवीकरण कर मन्त्र मे उन्हे यम और यमी के नाम से पुकारा गया है। वास्तव मे यम यमी सवाद दिन और रात का ही सवाद है। जिन लोगो ने काव्य शास्त्र के अध्ययन मे अभिधा, लक्षणा, व्यन्जना जैसी शब्द शक्तियो का अध्ययन किया है वे यह जानते हैं कि काव्य मे वक्रोक्ति, लक्षणा तथा व्यन्जना आदि को ही मुख्य माना जाता है। मात्र अभिधाथ देने वाले प्रयोगो को काव्य श्रेणी से पृथक् माना गया है। उक्ति प्रसिद्ध है--वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि वाच्यार्थ बाध परम प्रकर्ष, अर्थेषु वाच्मेस्वाभिधेव दोष सा काचिदन्या सरणि कवीनाम्॥ अर्थात् काव्य मे तो वक्रोक्ति (कहने की वक्र शैली) ही विभूषण है और वाच्याथ का बाध ही उत्कृष्ट माना जाता है। अभिधा को जहा दोष माना गया है ऐसी कवियो की प्रणाली ससार से कुछ भिन्न ही है।

जब साधारण कवि भी अपनी कविता मे व्यग्यार्थ को प्रधान रखता है तो ससार के सबसे प्राचीन तथा ईश्वर प्रदत्त दैवी काव्य वेद की स्थिति को समझना भी आवश्यक है। कबीर जैसे भाषा कवियो ने भी उलटवासियो का प्रयोग किया है जिनका अथ समझने के लिए हमे उन शब्दो के वाच्यार्थ से भिन्न अथ करने पडते हैं।

क्रमश

ऐसी घोर निराशा मे.....

प० रामाज्ञा 'आयपुत्र' भागलपुर देवरिया (उ० प्र०)

ऋषिवर दयानन्द के तप को, हमे समझना ही होगा।
वरना सुन लो दुनिया वालो, पशु तुझसे बेहतर होगा॥
आय समाजी कहते आज, हम हैं सच्चे ऋषि सन्तान।
फिर भी देख रहे 'चित्रहार', साथ मे अन्य अवैदिक कार्य।
जो पत्थर पडा अक्ल पर, उसको आज हटाना ही होगा॥
राजन! मत कर कुतिया सग, पुरखो सम तू कर सत्सग।
पर अब चारो ओर कुसग, शिथिल पड रहे मनुज के अग।
ऐसी घोर निशा मे, ब्रह्मचर्य्य अपनाना ही होगा॥
देश की दशा देख ऋषिराज, व्यथित हो उठते बारम्बार।
धर्महित सहते कष्ट अपार, चतुर्दिक करते वेद प्रचार।
ओ३म्-ध्वज की छाया मे, अखिल विश्व को आना ही होगा॥
हो चुके थे जब हम निष्प्राण, बनाकर ऋषि ने 'आय समाज'।
पूण की अपने गुरु की चाह, दिखाकर जग को सच्ची राह।
सत्य-पथ पर चलने का, साहस हमे दिखाना ही होगा॥
जगाने वसुन्धरा के भाग्य, चल पडे जो वैदिक इन्सान।
दीप सम जलकर बनें महान्, वही है सच्चे ऋषि-सन्तान।
बढत 'आर्यपुत्र' के कदम मे, कदम मिलाना ही होगा॥

आर्यसमाज देश भक्त

(पृष्ठ १ का शेष)

वार्षिक रिपोर्ट

दीवान हाल आर्यसमाज के मन्त्री श्री सूर्यदेव ने वर्ष १९९२ ९३ के दौरान प्रमुख गतिविधियो का परिचय देते हुये कहा कि दीवान हाल द्वारा २२ भटकी हुई लडकियो का पता लगाकर उनके माता-पिता को सौंप दिया तथा १५ व्यक्तियो को शुद्ध करके पुन वैदिक धम मे दीक्षित किया गया। सभी आर्य पर्व व कार्यक्रम समारोहपूर्वक मनाये गये एव गुरुकुलो, विद्वानो अतिथियो अनाथो आदि को २२ हजार तथा गोसवर्धन केन्द्र, गाजीपुर के लिए ५१ हजार की सहायता राशि प्रदान की गयी। श्री सूर्यदेव ने यह भी बताया कि दिल्ली मे सस्कृत के अध्ययन के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय एव गुरुकुलो के छात्रो को योग्यता के आधार पर ७२ हजार की छात्रवृत्तिया भी दीवान हाल द्वारा प्रदान की जायेंगी तथा वैदिक सगोष्ठी की रूपरेखा प्राप्त होने के बाद इसका आयोजन भी किया जायेगा।

वेद सम्मेलन लब्ध प्रतिष्ठ वैदिक विद्वान स्वामी दीक्षानन्द की अध्यक्षता मे आयोजित वेद सम्मेलन मे विचार व्यक्त करते हुए प० विशुद्धानन्द जी शास्त्री ने कहा कि ऋषि दयानन्द ने वेद को जीवन से जोडा और सत्य को तर्क की कसौटी पर कसने को कहा। ऐ दयानन्द के दीवानो यज्ञ की आग बुझने न दो यदि भारत मे क्रान्ति आयेगी तो वेद से ही आयेगी। आय समाज तभी जीवित रहेगा यदि विद्वानो का सम्मान किया जायेगा और वेद को वेद की दृष्टि से देखा जायेगा।

दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो० डा० महेश विद्यालकार न कहा कि वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है और सभी के कल्याण के लिए वेद का अध्ययन, मनन व पठन-पाठन जरूरी है। समाजो मे वेद प्रचार फण्ड रखा जाए तथा वेद पढने वाले गुरुकुल के छात्रो की सहायता की जाए।

आचार्य रविदत्त गौतम ने कहा कि वेद सृष्टि का सविधान है और इसे जीवन मे अपनाने पर बल दिया। डा० जयदेव ने कहा वेद आय समाज का मूलाधार है और इसके बिना आर्य समाज का कोई अस्तित्व ही नही। वेद आज भी प्रासगिक हैं और राष्ट्रीय एकता का आधार है। आचार्य श्री प्रेम चन्द्र श्रीधर ने कहा कि वेद ज्ञान के प्रतीक है और दयानन्द की सबसे बडी देन यह है कि उन्होने वेदो के सही अथ हमे बताये जबकि इससे सायन आदि ने वेदो के अनर्थ किये थे।

स्वामी दीक्षानन्द ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा कि सृष्टि के प्रारम्भ मे परमात्मा ने वेद ज्ञान प्रकट किया था। वदो मे इतिहास नही है। वेदो के बारे मे शकाओ को दूर करने के लिए गोष्ठियो का आयोजन किया जाना चाहिए। श्री सूर्यदेव न कहा कि वेद सगोष्ठी की रूपरेखा तैयार कर प्रस्तुत की जानी चाहिए और दावान हाल समाज उसके लिए व्यवस्था करेगा।

सस्कृति रक्षा सम्मेलन

सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री की अध्यक्षता मे ३ अप्रैल को सस्कृति रक्षा सम्मेलन आयोजित किया गया। प० प्रकाश चन्द्र शास्त्री ने कहा कि नारी के सम्मान, सस्कृत के प्रचार प्रसार स्वभूषा, शुद्ध खान-पान एव त्याग की प्रवृति से ही सस्कृति की रक्षा हो सकती है।

प्रो० उत्तमचन्द शरर ने कहा कि देश पहाडो की ऊचाई व नदियो के पानी से बडा नहीं होता है बल्कि देश तब जिन्दा रहता है जब उसकी सस्कृति जीवित रहती है। दयानन्द का आर्य समाज ही सस्कृत को महत्व देकर इसकी रक्षा कर सकता है। गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलाधिपति प्रो० शेरसिंह ने कहा कि स्वतन्त्र चिन्तन मानव की सस्कृति है और सस्कृति को सबसे बडा खतरा विकृति से है वैदिक सस्कृति ही मानव कल्याण की सस्कृति है।

डा० सच्चिदानन्द शास्त्री ने कहा कि युगपुरुष दयानन्द ने विकृतियो को दूर कर सस्कृति की रक्षा की। श्री सूर्यदेव ने सम्मेलन मे घोषणा की कि दीवान हाल द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय आनर्स के तथा गुरुकुलो के सस्कृत अध्ययन करने वाले मेधावी छात्रो को प्रतिवर्ष क्रमश ३६-३६ हजार रुपये की छात्रवृत्तिया दी जायेंगी। सस्कृत की रक्षा करना आय समाज की पीढा है और इसके लिए हर सभव काम किया जायेगा।

श्रीमती सरला मेहता की अध्यक्षता मे ३ अप्रैल को सम्पन्न हुये महिला सम्मेलन ने श्रीमती कृष्णा चडढा, श्रीमती कृष्णा रहेजा, श्रीमती अग्निहोत्री आदि विदुषी महिलाओ ने ऋषि दयानन्द द्वारा नारी जाति के प्रति उपकारो का जिकर करते हुये पाखण्डो के उन्मूलन का भी आह्वान किया।

प० नेत्रपाल शास्त्री के ब्रह्मत्व मे यजुर्वेद पारायण यज्ञ की ४ अप्रैल को पूर्णाहुति दी गयी। केन्द्रीय मानव ससाधन मन्त्री श्री अर्जुन सिंह ने ३ अप्रैल को राष्ट्र रक्षा मे बोलते हुए कहा कि दयानन्द के आदर्शों पर चलकर आज देश उन्नति कर सकता है। श्री सिंह न स्वतन्त्रता सग्राम मे आर्य समाज के योगदान की सराहना की।

सावदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुये कहा कि आर्य लोग बाहर से आये थे इस झूठ को इतिहास की पुस्तको से निकलवाया जाना चाहिए। स्वामी जी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित किये जाने पर भी बल दिया।

आर्य वीर दल द्वारा शहीद चन्द्रशेखर आजाद को श्रद्धाजलि दी गई

भोपाल। दिनांक २७ २-९३ को आय वीर दल आय समाज टी टी नगर, भोपाल द्वारा भारत के महान क्रातिकारी अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद को वीरोचित श्रद्धाजलि दी गई।

समारोह के मुख्य वक्ता टी टी नगर आर्य वीर दल के युवा सचालक श्री तुलसीदास जी आर्य थे। श्री आय ने आर्ययुवको को अपनी सुप्त क्षमताओ एव शक्तियो को पहचानने का आग्रह किया तथा उनका उपयोग राष्ट्र तथा हिन्दू (आर्य) समाज की रक्षा तथा उन्नयन मे लगाने का आह्वान किया।

तत्पश्चात समारोह मे सन्तोष जाट, नरेन्द्र चौवितकर गणेश जाट, सहित सभी आय वीरो ने शहीद चन्द्रशेखर आजाद को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

कार्यकर्त्ता सम्मेलन

आर्यसमाज दीवान हाल के १०८ वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर २ अप्रैल को दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव की अध्यक्षता मे एक कार्यकर्त्ता सम्मेलन का आयोजन किया गया। डा० महेश विद्यालकार ने अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि आज हमे सेवको की जरूरत है न कि नेताओ की। आर्यसमाज मन्दिरो मे पवित्रता का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। आर्य समाज मे चरित्र निर्माण महत्वपूण है। इससे लोग हमारी ओर आकर्षित होगे जब हमारे जीवन मे आर्यत्व होगा।

डा० सच्चिदानन्द शास्त्री ने कहा कि स्वामी दयानन्द ने अशिक्षा, पाखण्डो व अन्याय के विरूद्ध लडाई लडी थी और हमे इसी दिशा मे और काम करना है। उन्होने गुरुकुलो मे उपदेशक तैयार करने की भी बात कही।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने कहा कि आर्य समाज का काम आज सगठन को सुदृढ करने से ही बढेगा। स्वामी दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के नियमित स्वाध्याय जीवन मे सत्य को अपनाने तथा श्रेष्ठ कर्मों द्वारा ही हम आगे बढ सकते हैं।

श्रीसूर्यदेव ने कहा कि आर्यसमाजियो को जहा कही भी कोई कमी दिखायी दे तो उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए परन्तु हमे निराशा की बात नही करनी चाहिए। उन्होने दयानन्द द्वारा लिखी व्यवहारभानू पुस्तक पढने व उस पर आचरण करने पर बल दिया ताकि दूसरे लोग हमारे प्रेमपूर्वक व्यवहार से आकर्षित हो सकें। उन्होने श्रद्धापूवक यज्ञ करने की भी जरूरत पर बल दिया। श्री सूर्यदेव ने आगे कहा कि स्वामी दयानन्द अकेले थे और उन्होने महान काय किया। आज दस करोड़ो है और हमे मिल जुलकर आय समाज की उन्नति मे सलग्न रहना चाहिए।

आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

F N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 8 9-4-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० /एल-११०२४/६३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू (सी०) १३६/६३

वैद्य प्रहलाद दत्त जन्मदिवस समारोह

आय समाज के जग मे फैलता ज्ञान रूपी प्रकाश के साक्षी, इतिहास पुरुष, कमठ एव कर्तव्य परायण, सरलता की सहज साकार मूर्ति माननीय वैद्य प्रहलाद दत्त जी का जन्म दिवस समारोह आर्य ममाज सदर बाजार के समागार मे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धमपाल की अध्यक्षता मे मानाया गया। इस अवसर पर प्रि० चमद्रदेव लाला किशोरी लाल, श्री विद्या कुमार जी, श्री भीमसिंह सैनी, श्री राजपाल सिह शास्त्री, महानगर पार्षद श्री सिहल जी, प० अशोक कुमार विद्यालकार, प० सत्यदेव स्नातक, प० ज्योति प्रसाद जी आदि महानुभावो ने वैद्य जी के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर प्रकाश डाला।

अपने अध्यक्षीय भाषण मे डा० धमपाल ने कहा कि वैद्य प्रहलाद जी का जन्म ३ मार्च १८९५ को हरियाणा के रोहतक जिले के जैतपुर ग्राम, तहसील झझर मे हुआ था। जाट हाई स्कूल रोहतक मे मैट्रिक करने के बाद व गुरुकुल झझर से जुड गए। यही से उनका आर्य समाज का कार्यक्षेत्र विस्तीर्ण होता गया। वे आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब के लाहौर अधिवेशन मे रोहतक स प्रतिनिधि बनकर गए थे। उन्होने आयुर्वेद का भी अध्ययन किया। चिकित्सा के साथ माथ वे आय समाज के सगठन तथा प्रचार प्रसार मे भी निरन्तर सलग्न रहे। दिल्ली में आने के बाद भाई वैद्य मूलचन्द जी के साथ उन्होने आय समाज की गतिविधियो मे सशक्त योगदान किया।

भारतीय स्वाधीनता सग्राम के अनय सैनानी वैद्य जी ने १९४२ के अग्रेजो भारत छोडो आन्दोलन मे भाग लिया और अनेक बार जेल गए। वैद्य जी ने राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ की दिल्ली शाखा की स्थापना की। उन्होंने शिव मदिर आन्दोलन हैदराबाद आय सत्याग्रह, काश्मीर आन्दोलन, हिन्दी रक्षा आन्दोलन और गौरक्षा आन्दोलन मे बढ-चढकर भाग लिया। उन्होने विभाजन के समय विस्थापितो का सम्यक रूपेण पुनर्वास करने मे अनुपम दक्षता का परिचय दिया। प० रामचन्द्र दहलवी के वे दाय हाथ थे। वैद्य जी का कर्तत्व आन्दोलनो के इतिहास मे सदा याद किया जाएगा। उन्होने सादा जीवन, उच्च विचार को अपना ध्येय बनाया। वैद्य जी ४१ वर्ष के ही थे कि उनकी पत्नी का असामयिक निधन हो गया। वैद्य जी ने अपने बेटो को माता-पिता का स्नेह देकर इस योग्य बनाया कि वे अपनी आजीविका के साथ-साथ पिताश्री की भाति समाज सेवा मे भी अग्रणी भूमिका निभा सके। उनके सभी पुत्र आर्य समाज मे तथा अन्य सामाजिक कार्यों मे अग्रणा है। स्व० वैद्य जी की यही सबसे बडी सम्पदा है।

काल के क्रूर चक्र ने १९ माच १९८८ को प्रात ६-३० बजे, सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय एव सामाजिक नेता, वैदिक धर्म एव सस्कृति के सवाहक, गोभक्त, हिन्दी के प्रबल समथक इतिहास पुरुष कर्मठ एव कतव्यपरायण सरलता की सहज साकार मूर्ति तथा सैकडो आन्दोलनो के प्रेरक श्वेत वस्त्रो में वीतराग सन्यासी वैद्य जी को हमसे छीन लि । ।

दिल्ली नगर निगम ने डिप्टी गज में उनके निवास स्थान तक जाने वाले मार्ग का नाम 'वैद्य प्रहलाद दत्त मार्ग रखकर उनकी धार्मिक सामाजिक एव राष्ट्रीय सेवाओ का सम्मान किया है।

इस अवसर पर आय समाज के लिए की सवाओ को ध्यान मे रखकर डा० धर्मपाल को पुष्पमालाओं, शाल तथा प्रतीक चिन्ह भेंट करके सम्मानित किया गया।

—विमलकान्त शर्मा

सेवा में—

श्री पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

सूयदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ म मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड नई दिल्ली ११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/-६३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक २८ रविवार, १८ अप्रैल १९९३ विक्रमी सम्वत २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

भारतीय भाषाये परीक्षा का माध्यम बनाओ अन्यथा

युवा वर्ग राष्ट्रीय धारा से अलग हो जाएगा

स्वामी आनन्द बोध सरस्वती

नई दिल्ली, ९ अप्रैल। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने कहा कि भारतीय भाषाये एव हमारी सस्कृति देश की आत्मा है। हिन्दी व अन्य भारतीय भाषायें हमारे व्यवहार व कामकाज की भाषाये होनी चाहिए जबकि आज अग्रेजी को थोप कर भारतीय सविधान के मौलिक अधिकारो का उल्लघन हो रहा है। नई दिल्ली मे सघ लोक सेवा आयोग के भवन के बाहर भारतीय भाषाओ को प्रतियोगी परीक्षाओ का माध्यम बनाने के लिए धरने पर बैठे युवको की गिरफ्तारी का कडा विरोध करते हुये ये बात स्वामी आनन्द बोध ने कही। स्वामी जी ने उन्हें तुरन्त रिहा करने की भी माग की।

स्वामी जी ने आगे कहा कि यह दुख की बात है कि आजादी के ४६ वर्ष बाद भी हमारी युवा शक्ति को अग्रेजी की अनिवार्यता हटाने के लिए सघर्ष करना पड रहा है और यह हमारे सविधान व भाषाओ का अपमान है। उन्होने आगे कहा कि यह आश्चर्य की बात है कि उच्च परीक्षाओ के लिए भारतीय भाषाओ के युवको की माग को अपनी ही सरकार निर्दयतापूर्वक ठुकरा कर न केवल युवा शक्ति को हतोत्साहित कर रही है, बल्कि देश की प्रगति व सास्कृतिक सम्पदा को भी समाप्त कर रही है। सरकार को २-३ प्रतिशत लोगो के लिए अग्रेजी की अनिवार्यता खत्म कर देश को आत्मनिर्भर व शक्तिशाली बनाना चाहिए। स्वामी जी ने यह भी चेतावनी दी कि यदि हिन्दी व भारतीय भाषाओ को प्रतियोगी-परीक्षा माध्यम बनने से इसी प्रकार रोका गया तो देश का युवा वर्ग राष्ट्रीय धारा से अलग-थलग हो जायेगा और इससे देश की एकता व प्रगति पर गम्भीर दुष्प्रभाव पडेगा।

स्वामी जी ने यह भी बताया कि विगत—तीन वर्षों मे आर्य समाज ने भारतीय भाषाओ के विकास एव देवनागरी लिपि को सम्पर्क लिपि बनाने के लिए तीन भारतीय भाषा सम्मेलनो का आयोजन किया है। लोकसभा अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल केन्द्रीय मन्त्री श्री अर्जुनसिंह व बिहार के मुख्यमन्त्री श्री लालू प्रसाद यादव एव अनेक नेताओ ने इन सम्मेलनो मे सम्मिलित होकर आर्य समाज के इन प्रयासो का समर्थन व सराहना की है।

वैदिक साहित्य वितरण समारोह

ओम का जाप करने से आनन्द की गंगा बहने लगती है

नई दिल्ली, ९ अप्रैल। आर्य समाज किरन गार्डन के तत्वावधान मे आज पैराडाइज पब्लिक स्कूल मे आर्य समाज स्थापना दिवस समारोह सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री विक्रम कपूर की अध्यक्षता मे धूमधाम से मनाया गया। कार्यक्रम का शुभारम्भ श्री अभिनव भारती के ब्रह्मत्व मे एक विशेष यज्ञ से हुआ।

समारोह के मुख्य अतिथि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने इस अवसर पर अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि सन् १८७५ मे बम्बई मे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की थी। वास्तव मे स्वामी जी ने वेदो के प्रचार, समाज सुधार एव ससार के कल्याण के लिए सत्य सनातन वैदिक धर्म की पुन स्थापना की थी और कोई नया मत नही चलाया था। आर्य समाज स्थापना दिवस मनाना तभी सार्थक होगा जब हम जीवन मे आर्यत्व लाकर दूसरो को अपनी ओर आकर्षित कर उन्हे आर्य समाजी बना सकें एव सदस्यता अभियान चलाकर सदस्यो मे वृद्धि कर सकें।

डा० धर्मपाल ने आगे कहा कि आहार, निद्रा, भय व मैथुन मनुष्य व पशुओ दोनो मे ही होते हैं परन्तु मनुष्य दया, ममता व सेवा के द्वारा दूसरो की उन्नति के लिए परोपकार मे लगा रहता है। ऋषि दयानन्द ने भी आर्य समाज के सुनहरी नियम द्वारा हमे सन्देश दिया है कि प्रत्येक को अपनी ही उन्नति मे सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिए। यदि इस नियम का सच्चाई से पालन करें तो हमारी बहुत उन्नति हो सकती है।

डा० धर्मपाल ने कहा कि मनुष्य को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ व वानप्रस्थ पहले तीन आश्रमो मे अपने-२ कर्त्तव्यो का ईमानदारी से पालन करना चाहिए तभी सन्यास जैन का लाभ है। सत्य व धर्म जैसे शाश्वत् मूल्यो की रक्षा के लिए भी हमे त्याग करना चाहिए।

समारोह मे श्री विक्रम कपूर ने ईश्वर भक्ति के मधुर भजनो द्वारा समा बाध दिया। श्री कपूर ने कहा कि 'ओम' परमपिता परमात्मा का मुख्य नाम है। सच्चे मन से ओम का स्मरण करने से सुख, शान्ति एव आनन्द प्राप्त होते हैं तथा यह हमारी मन, बुद्धि व आत्मा को पवित्र करता है। ओम् के जाप से आनन्द की गगा बहने लगती है। उन्होने कहा कि ऋषि दयानन्द की सबसे बडी देन यह है कि उन्होने हमे ईश्वर (ओम्) की भक्ति, स्तुति व उपासना करने का मार्ग दिखाया। उन्होने यह भी कहा कि आर्य समाज के बडे-२ व सुन्दर भवनो का तभी लाभ है यदि हम वेद की शिक्षाओ को जीवन मे अपनाये व उनका प्रचार करे तथा ओम का स्मरण करते रहे।

समारोह मे आर्य समाज की श्रेष्ठ सेवाओ के लिए श्री विक्रम कपूर ने डा० धर्मपाल को शाल ओढाकर व माल्यार्पण द्वारा सम्मानित किया। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द ने आर्य समाज उत्तम नगर की प्रधाना श्रीमती सुशीला महाजन को भी सम्मानित किया। डा० धर्मपाल ने आर्य समाज अशोक नगर के प्रधान श्री मगतराम आर्य एव कार्यक्रम के सयोजक

(शेष पृष्ठ ४ पर)

प्रधान सम्पादक -सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

महर्षि दयानन्द की मान्यताएं (५)

डा० नर न्मर आलोक सपना ई १६० डा प्रत प वहार ग जियाबा ५

आर्थिक मान्यताएं

वेद मन्त्रों में परमात्मा से प्रार्थना है कि हम धन ... हम धन ... कम ... जगत कुछ नहीं है। जीवन ... त्याग ... आत्मा की मर्यादा है कि मनुष्य ... आचरण ... धन ... धर्म ... महर्षि ... है—... समर्पित ... कम ... का निर्वाहन में ...

ब्राह्मण यज्ञ ... दान ... जीविका प्राप्त है ... रक्षा ... होगा। उसे वहां ... ऋण ... शुद्र उपयुक्त वर्णों की सेवा से जीविका अर्जित करेगा।

... प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव के अनुकूल कार्य करता है। ... मिलता है ... ब्रह्मचारी गुरुकुल में रहेगा ... लगाई के बारे में चिन्ता नहीं करना पड़ेगा। ब्रह्मचारी अनेक गृहस्थों से भिक्षा प्राप्त कर अपना व आचार्य का उदर पूर्ति करते हैं ... विशेष ... नहीं पड़ता। ब्रह्मचारी के मन में भी यह प्रश्न होता है कि उसे केवल ... नहीं ... अपितु पूरे समाज ने ... है। ... प्रश्न है वहीं पर समाज की सेवा करना भी आवश्यक है ... ब्रह्मचारी में अहंकार ईर्ष्या आदि भावनाएं पनप नहीं पाती।

गृहस्थ अपनी वृत्ति से जीविका चलाता है ... वानप्रस्थ ... में रहता है। सादा जीवन व्यतीत करता है ... कन्द मूल फल आदि से जीवन ... जो उसे जंगल में मिल ही जाती हैं। उसका कम धन से गुजारा हो जाता है। वानप्रस्थी गुरुकुलों में अध्यापन का कार्य करें तो गुरुकुल ... व्यवस्था में सुधार आ सकता है एवं उनके ... ज्ञान ... ब्रह्मचारी ... सकते हैं।

... त्र सर्वत्र विचरण करता है ... लोकोपकार में लगा ... है ... गृहस्थ का दक्षिण में मिल सकता ... आचरण देखना है ... धन कमा नहीं हो सकता ... पड़ता है।

महर्षि दयानन्द ... आर्थिक ... वैश्य ... कृषि के लिए पशु ... मजबूत ... बचत ... मनुष्य ... धन ... प्राप्त होती है ... मनुष्य ... बहुत कुछ ... है। ... अधिक मजबूत होता है।

धन के ... को रोककर ... इकट्ठा किया जा सकता है। छोटे छोटे ... जोड़कर अपने ... आर्थिक ढांचा मजबूत होना है।

गौ पालन भारतीय कृषि का मुख्य आधार है ... गौ ... पशु धन की वृद्धि करनी चाहिए। ... पशुओं के ... के लिए अभयारण्य बनाने चाहिए।

... आर्थिक ... से पिछड़े लोगों को ... जिससे कि वे उस ... से अपना आर्थिक पिछड़ापन दूर कर सकें ... कम मिले तो बेरोजगारी काफी दूर की हल का जा सकती है।

वन सम्पदा, जल सम्पदा, खनिज सम्पदा आदि ... का ... नियंत्रण होना चाहिए इनका ... प्रयोग होने से देश बहुत ही आगे बढ़ सकता है।

धन की समृद्धि के लिए लोगों का ईमानदार व परिश्रमी होना बहुत ही आवश्यक है। जो इसका पालन कर उसे पुरस्कृत करना चाहिए शेष को दण्डित करना चाहिए ... आलसी व बेईमान ... प्रजा ... समृद्ध ...

सामान्य जनता की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति होती है उसके लिए सहल कदम उठाए। ... पर नियन्त्रण हो। जितना खपत हो उतना ही उत्पादन हो ... वस्तुओं ... माप तौल व शुद्धता पर विशेष ध्यान ...

प्रजा ... कार्य में ... करना चाहिए। लूट खसोट ... दोनों मिलकर काम कर ... जा सकता है।

नैतिक मान्यताएं

महर्षि ... ग्रन्थ प्रकाश में लिखा है कि विद्वान बनना सरल है किन्तु धार्मिक बनना कठिन है। ... विद्या को आचरण में लाना ही धार्मिकता है ... श्रेष्ठाचार में है। कुछ विद्वान तो ... उसका पालन नहीं करते वह केवल विद्वता ही ... और उसका पालन करना ... सिखाता है।

... शरीर है तो उसके ... उस शरीर में रहने वाली आत्मा है। ... क्रिया है—ज्ञान ... के लिए और उसके साथ ही ... जैसा ज्ञान प्राप्त किया है वैसा ही पालन करना भी आवश्यक है।

... यही आचरण सिखलाता है। आचरण की शुद्धता ... व्यक्तिगत ... उन्नत होती है वहां पर समाज में ... बनता है और सबकी उन्नति होती है।

... चोरी करता है ... तो होगा ही साथ ही जिसका ... उसको ... चोर की खोजबीन ... के लिए ... भ्रम ... जिससे समाज पर ... झूठ बोलने से बहुत सी हानियां हो जाती हैं।

मनुष्य को ... जिससे ... अच्छा प्रभाव ... लोगों को भी चाहिए कि ... समाज को ...

... है ... मनुष्य ... हो जाता है ... आचरण ... भ्रमण करने से मनुष्य ... विशेष भ्रमण करना चाहिए। ... देश में ...

आचरण की ... शुद्धता के लिए भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिए ... शुद्ध ... वैसा होवे मन। ... मनुष्य ... शुद्ध सात्विक घी दूध ... पदार्थों का उचित मात्रा में प्रयोग कर ... एवं ... । धूम्रपान ... व्यसनों से बचें।

... स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट किया है कि ... पूर्ति के लिए की हैं मनुष्य को ऋणमुक्त, मितभुक एवं हितभुक होना चाहिए। भोजन न करने को व्रत मानना उचित नहीं है। ... अनावश्यक उपवास करना ... शरीर के साथ अन्याय ... है।

अतः स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द ने अपने तमाम ग्रंथों में यह स्पष्ट किया है कि मनुष्य को सत्य वेदोक्त मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। संसार में फैले हुए तमाम मत मजहब से शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती क्योंकि इनके ग्रंथों में दूसरों की निंदा बुराई वर्णित है। एक दूसरे को निम्न बताने की प्रवृत्ति मौजूद है। उन्होंने एकेश्वर ब्रह्म की उपासना पर बल देते हुए एक वेदोक्त मार्ग ही चलने का निर्देश दिया है।

समाप्त

अंग्रेजी की अनिवार्यता समाप्त हो



अनेक बलिदानो के बाद १५ अगस्त, १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ। २६ जनवरी १९५० को संविधान लागू होने के बाद हिन्दी को राजभाषा स्वीकार किया गया परन्तु सरकारी कामकाज मे साथ साथ अंग्रेजी को भी १५ वर्ष के लिए चलते रहने की स्वीकृति दी गई। अनेक कारणो से अंग्रेजी आज भी सरकारी कामकाज की प्रमुख भाषा के रूप मे प्रयुक्त हो रही है।

१८ जनवरी १९६८ को ससद मे दोनो सदनो द्वारा भाषा नीति ससदीय सकल्प पारित किया गया। इसके अनुसार अंग्रेजी भाषा की अनिवार्यता समाप्त कर भारतीय भाषाओ को पूर्ण विकल्प बनाया जाता था। ससद का यही सकल्प पुन दोहराया गया है परन्तु अभी तक व्यवहार मे नही आ सका है। भारतीय भाषा सरक्षण सगठन के कार्यकर्ता १६ अगस्त, १९८८ से लोक सेवा सघ आयोग भवन के बाहर प्रशासनिक व समकक्ष परीक्षाओ मे हिन्दी व भारतीय भाषाओ का माध्यम बनाये जाने की माग को लेकर सत्याग्रह करते आ रहे थे। आर्य समाज व अनेक हिन्दी प्रेमी सगठनो ने समय समय पर इन्हे नैतिक समर्थन दिया।

अपने भविष्य को दाव पर लगाकर देश के युवको के भविष्य के लिए इतिहास के सबसे लम्बे धरने पर बैठे इन युवको को ६ अप्रैल १९९३ को पुलिस ने हटा दिया। आर्य समाज के सर्वोच्च सगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने इस बारे मे एक प्रैस विज्ञप्ति मे कहा है कि आजादी के ४६ वर्ष बाद भी देश की युवा शक्ति को भारतीय भाषाओ के लिए सघर्ष करना पड रहा है, यह सब भारतीय भाषाओ का अपमान है। अनेक सगठनो ने भी इस बात पर दुख जताया है।

पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिह ने इस बारे मे ८ अप्रैल ९३ को कहा कि वे भारतीय भाषाओ के लिए सघर्ष कर रहे इन युवको की माग का समर्थन करते हैं और सविधान सम्मत मागो को लागू करवाने के लिए बैठे युवको को उठाकर जेल भेजने पर उन्होने हैरानी प्रकट की। इसी सदर्भ मे ज्ञानी जी ने यह भी कहा कि राष्ट्रीयता की पहली पहचान देश की भाषा व सस्कृति होती है। उन्होने कहा कि देश को और अधिक आत्मनिर्भर व शक्तिशाली बनाने के लिए उच्च शिक्षाओ का माध्यम भारतीय भाषाओ मे होना आवश्यक है।

ज्ञानी जी ने यह भी कहा कि देश की प्रतियोगी परीक्षाओ मे हर स्थान पर अंग्रेजी ही अनिवार्य है। इन परीक्षाओ के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी एव भारतीय भाषाओ को वैकल्पिक माध्यम अपनाये जाने की छूट नही है, जबकि अनेक राष्ट्रीय नेता इसके लिए कई बार शपथ ले चुके हैं। ज्ञानी जी ने इन युवको से अपील की कि वे अपनी मागो के समर्थन मे जेल मे अनशन न करे, क्योकि उनकी शक्ति का उपयोग और कार्यो मे भी किया जाना है।

आर्य समाज के सस्थापक युग पुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती हिन्दी को राष्ट्रीय एकता की कडी मानते थे। उन्होने कहा था कि दयानन्द के नेत्र वह दिन देखना चाहते हैं जब अटक से कटक व कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब जगह हिन्दी का ही प्रचार-प्रसार होगा। सयुक्त राष्ट्र सघ मे हिन्दी मे भाषण दिए जा चुके हैं आर्य समाज ने तो अन्तरिक्ष मे भी हिन्दी का जयघोष किया था। पूर्व प्रधानमत्री स्व श्रीमती इन्दिरा गाधी से अन्तरिक्ष यान मे हिन्दी मे बात करने वाले एवंवेड्न लीडर राकेश शर्मा आर्य समाज के अद्वितीय तकशास्त्री व विद्वान लेखक प० लोकनाथ तर्कवाचस्पति के ही पौत्र हैं।

केवल तीन-चार प्रतिशत अंग्रेजी जानने वाले लोगो के लिए अंग्रेजी का बने रहना कहा तक उचित है? एक भाषा के रूप मे अंग्रेजी का अध्ययन तो ठीक है परन्तु समाज व देश का निर्माण व विकास तो जन भाषा हिन्दी व भारतीय भाषाओं से ही हो सकता है। जितनी जल्दी अंग्रेजी की अनिवार्यता समाप्त हो और भारतीय भाषाओ को सम्मानजनक स्थान मिले उतना ही देश की एकता व आपसी भाईचारे के लिए ठीक है।

—विमल कान्त शर्मा

सम्पादक के नाम पत्र

स्वामी समर्पणानन्द विशेषाक

आपके द्वारा प्रेषित श्रद्धानन्द बलिदान दिवस एव स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती सयुक्ताक प्राप्त हुआ इसके लिये आपको शतशत धन्यवाद अन्यथा मैं ऐसे उपयोगी अक से वचित रह जाता। आप बडे पुण्य का कार्य कर रहे है। अन्य आर्य-समाजो पत्र-पत्रिकाओ उपेक्षित महापुरुषो से सम्बन्धित आप विशेषाक निकाल रहे है किन शब्दो मैं आपको धन्यवाद दू। शब्दो का अभाव अनुभव कर रहा हू।

राजबीर सिंह
ग्राहक न २३०८

अनुपम विशेषाक

स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस एव स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती विशेषाक की अनुपम भेट के लिये, वास्तव मे नई दिशा दी है इस पत्रिका को पठनीय विषय हैं, शिक्षाप्रद एव अपनाने वाली बाते बडी सरल भाषा मे। ईश्वर आप को शक्ति दे कि आप इसी प्रकार मार्गदर्शक लेख देते रहे विशेष जानकारियो के साथ जिससे पाठक प्रेरणा प्राप्त कर सके। आर्य सन्देश प्रगति पर है।

राम प्रकाश, अशोक विहार

सग्रहणीय विशेषाक

आर्य सन्देश का ऋषि बोधाक एव प० गणपति चन्द्र शर्मा सयुक्ताक प्राप्त हुआ। विशेषाक वास्तव मे काफी सुन्दर एव आकर्षक था। इसमे सभी लेख काफी शिक्षाप्रद एव प्रेरणादायक थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती एव पण्डित जी के सम्बन्ध मे ढेर सारी सामग्री पढने को मिली। आर्य सन्देश का आर्य जगत की तमाम पत्र-पत्रिकाओ मे अपना विशिष्ट स्थान है। इस पत्रिका के विशेषाको की भी बडी धूम रहती है। यह भी अपनी उसी शान के अनुरूप निकला है। अत पत्रिका का यह अक सभी दृष्टियो से उत्तम तथा सग्रहणीय है। विशेषाक की सफलता के लिए बधाई स्वीकार करें।

रामकुमार आर्य, मन्त्री
आर्य युवक परिषद गोयना (सोनीपत) हरियाणा

सर्वोत्तम विशेषाक

आर्य सन्देश का ऋषिबोधोत्सव एव प० गणपति शर्मा सयुक्ताक विशेषाक मिला धन्यवाद।

विशेषाक का अवलोकन करके हृद खुशी हुई। सर्वोत्तम विशेषाक का हर शब्द मस्त मन को छू गया। विशेषाक की परम्परा मे आर्य सन्देश का प्रत्येक विशेषाक जन-जन के लिए ज्ञानवर्द्धक व प्रेरणाप्रद है।

सभा आर्य सन्देश का प्रकाशन कर महान सत्कार्य कर जन मन सुखद बनाने एव राष्ट्रीय रोगो से देश को बचाने का सराहनीय एव प्रशसनीय कार्य कर रही है।

श्री बाबूरामसिंह कवि' गुजरात

स्वामी दयानन्द के जन्मदिन पर सरकारी अवकाश घोषित

नई दिल्ली ५ अप्रैल। भारत सरकार ने सन् १९९४ से आर्य समाज के सस्थापक एव युग पुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्म दिवस पर फाल्गुन बदी दशमी को सरकारी अवकाश करने की घोषणा की है। यह निर्णय प्रधानमन्त्री श्रीपी वी नरसिंह राव द्वारा केन्द्रीय मानव ससाधन विकास मन्त्री श्री अर्जुनसिंह के अनुमोदन पर लिया गया है और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने यह जानकारी एक प्रेस विज्ञप्ति मे दी है।

उल्लेखनीय है कि सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने २२ मार्च को एक विशेष पत्र द्वारा श्री अर्जुन सिंह से इस आशय का अनुरोध किया था। श्री सिंह ने इस बारे मे प्रधानमन्त्री को एक विशेष पत्र लिखा था और प्रधानमन्त्री ने २३ मार्च के श्री सिंह को लिखे पत्र द्वारा अवकाश निर्णय की सूचना दी है।

स्वामी आनन्दबोध ने इस ऐतिहासिक निर्णय पर प्रसन्नता व्यक्त की तथा भारत सरकार को धन्यवाद दिया तथा श्री अर्जुनसिंह के प्रयासो की प्रशसा की है। स्वामी जी ने इस सफलता पर सम्पूर्ण आर्य जगत को बधाई भी दी है। यह सीमित छुट्टियो की सूची मे शामिल किया गया है।

आदर्श त्रैतवाद (२४)

राजसिंह भल्ला

ऊपर के मन्त्र पाठ में जो आप ही आप विकसित न हो प्रकट न होवे पर चेतन सत्ता के आश्रित हो और परमेश्वर की प्रेरणा की अपेक्षा रक्खे वह प्रकृति है। असम्भूति है। आप ही आप अस्तित्व में स्थित है, प्रकट होता है, अपने आश्रित है और अपने आप में प्रकाशमान है—यह सम्भूति है स्वयंभू आत्मा है।

प्रकृति परिवर्तनशील है

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभय ७ सह।
विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ ईशो० १४

आत्मा को और कारण कार्यरूपा प्रकृति को, जो उस जोड़े को एक साथ जानता है—प्रकृति पुरुष का विवेक एक साथ प्राप्त कर लेता है, अर्थ-परमार्थ इकट्ठे सिद्ध कर लेता है तथा आत्म ज्ञान और व्यवहार दोनों को मिलाकर साधना साधता है वह जन नाश धर्मणी—परिवर्तनशीला प्रकृति का उचित भोग उपयोग करता हुआ मृत्यु पद को पार करके आत्मबोध से अमृत पद को प्राप्त कर लेता है जो आत्म तत्त्ववित् यह जानता है कि सब परिवर्तन नवपुरातन परिणाम प्रकृति में हो हैं आत्मा में नहीं हैं। वह इस विवेक से नदी पार करने के लिए नौकावत् प्रकृति का उचित भोग उपयोग करता हुआ मृत्यु पद को पार करके आत्म बोध से अमृत पद को प्राप्त कर लेता है वह परमानन्द को भोगता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जिसकी जीवन में मुक्ति न हो जाय तो उसकी मृत्यु के पश्चात् भी मुक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। इसी सिद्धान्त का नाम है अध्यात्मवाद

पांचवां अध्याय

ईश्वर जीव तथा प्रकृति का सम्बन्ध

उपनिषद बताते हैं कि यह आत्मा शरीर से अलग है असंग है अलिप्त है अविकारी है शुद्ध है चेतन है तो सवाल पैदा होता है कि भाई फिर यह शरीर किसके लिए है? उत्तर सीधा सा है कि जिसके लिए यह शरीर बना है उसे ही जीवात्मा कहते हैं। जगत के भोग भोगने और दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए मानव शरीर के साथ इस जीवात्मा का सम्बन्ध होता है। इस आत्मा का रूप बिगड़ता नहीं यह सदा एक रूप रहता है। जड़ रूप प्रकृति के तत्वों से बने इस शरीर को ही जब यह आपा समझने लगता है तो दुःखी होता है। कुर्सी पर बैठा हुआ व्यक्ति यदि यह कहे कि मैं कुर्सी हूं तो लोग हंसेंगे। ऐसे ही यह जीव यदि यह कहे कि मैं शरीर हूं तो हंसी की ही तो बात है। शरीर से सम्बन्धित आत्मा सुखी भी होती है दुःखी भी परन्तु जब यह जीवात्मा ध्यान की स्थिति में यह देखता है कि मैं प्रकृति और अज्ञान से बने सारे तत्त्वों तथा पदार्थों से सर्वथा अलग हूं तो वह इस भ्रम जाल से निकल जाता है इस परिवर्तनशील प्रकृति से उसे घृणा हो जाती है और आनन्द धाम की ओर बढ़ने लगता है। जीवात्मा को यही पुरुषार्थ करना है कि वह जड़ प्रकृति के तत्त्वों की असलियत को पहचान कर और उससे ऊपर उठकर सत, चित आनन्द से मिलाप कर ले।

ब्रह्म सत, चित, आनन्द है इसके साथ मित्रता करके जीवात्मा जो सत चित है आनन्द को पाता है। इसी तत्त्व की खोज करनी है, इसी को जानना है, इसी से मित्रता करनी है यह शरीर तो मरणधर्मा है। ऐसा जीवात्मा का निवास स्थान है इसीलिए जीव सुख दुःख में सदा ग्रस्त रहता है इसे आनन्द तभी मिलेगा जब यह आनन्द धाम के पास जाएगा उसकी उपासना करेगा। उससे मैत्री होने से तो सांसारिक सुख दुःख का स्पर्श भी नहीं होता ऐसी स्थिति में जीव के लिए सुख का भण्डार खुल जाता है। इसी ब्रह्म के सम्पर्क के कारण तो प्रकृति में गति है और उसी की कृपा से यह प्रकृति विकृत होकर नाना रूप धारण कर सृष्टि का निर्माण करती है ब्रह्म तो केवल दृष्टा मात्र रहता है। सारे संसार को घुमाता है और आप स्थिर रहता है संसार का सबसे बड़ा कोष आनन्द इस ब्रह्म के पास ही है। प्रकृति के पदार्थों से मिला जीवात्मा भ्रम से, अज्ञान से यह समझ लेता है कि प्रकृति के तत्त्वों में आनन्द है। छाया को वह जीवात्मा वास्तविक वस्तु समझ लेता है तो उसके पीछे दुःखी होता है। यह दुःख तभी दूर होता है जब वह इस भ्रम से निकल कर आनन्द भण्डार ब्रह्म की ओर जाता है।

ऋषियों साधकों का यह कहना है कि पंच भूतों के विवेक से ही उस ब्रह्म तत्त्व को जाना जा सकता है। पंच भूत नाशवान् है, जो प्रकृति से बिगड़ कर बने हैं इनकी अपनी निजी सत्ता नहीं है। पहले भी नहीं थे और फिर विनाश को प्राप्त होंगे ये जीव के कल्याण के लिए भेजे गये हैं ये जीव के दास हैं जीव इनका दास नहीं है। ये नाशवान् है जीव नित्य है। ये जड़ हैं जीव चेतन है। ज्ञानवान् है। जीव इनके जाल में क्यों फंसे जीव तो जीवात्मा है ठीक है, अल्पज्ञ शरीर में बन्द है दुःख भोग रहा है और आनन्द की खोज में है किन्तु है तो आत्मा उसका सहयोगी परमात्मा ही है। आत्मा परमात्मा दोनों सखा हैं सखा से सखा विमुख क्यों हो। अतः जीवात्मा के लिए उचित है कि वह अपने सखा परमात्मा से मेल करे, क्योंकि पंच भूतों के पास तो क्या उसकी माता प्रकृति के पास भी आनन्द नहीं है। आनन्द तो केवल परमात्मा के पास ही है। इसी की प्राप्ति के लिए जो क्रिया की जाती है वही अध्यात्मवाद है। सारे उपनिषद इसी की व्याख्या करते हैं।

यह शरीर का संघात और यह सारा संसार प्रकृति के विकार पंच भूतों से ही बना है। जब साधक परमात्मा की ओर बढ़ने का प्रयास करता है तो प्रकृति माया अपने अनेक रूप प्रलोभन, चमत्कार दिखाकर ज्ञान प्राप्त करने वाले को ही अपने वश में करना चाहती है यह जीव इसके प्रलोभनों में फंसकर उनके अनुसार कर्म करने लगता है। नाना दुःखों को खड़ा कर लेता है। जीव इन दुःखों को स्वयं ही पैदा करता है और फिर इनमें फंसकर दुःखी होता है। एक दुःख समाप्त नहीं होता दूसरा दुःख आ घेरता है। यह संसार तो गुलाब के पौधे के समान है, जिसमें फूल तो कभी कभी आते हैं किन्तु कांटे सदा उसमें रहते है और वह भी फूलों से सैकड़ों गुणा होते हैं। क्या परमात्मा ने यह संसार दुःखों के भोगने के लिए ही बनाया है। क्या परमात्मा ने प्रकृति को इसीलिए गति दी था कि वह जीव दुःखों में फंसा रहे। ऐसी बात नहीं है भगवान् तो न्यायकारी है, दयालु है उसका कोई कार्य ज्ञान और बुद्धि के विपरीत नहीं है। ऐसा सारे धर्म शास्त्र बताते हैं तो फिर मानव क्यों दुःखी है? उसके दुःख नित्य प्रति बढ़ते ही क्यों जा रहे हैं? इसका सीधा सा उत्तर यही है कि मानव दुःखों को टालने की बात करता है उसके सर्वथा नाश का प्रयास नहीं करता सारे ही शास्त्रों और सारे ही अनुभवी महानुभावों ने दुःखों के अत्यन्त नाश के लिये सर्वदा आनन्द में ही मग्न रहने का एक ही साधन बताया है और वह है अध्यात्मवाद।

गौतम मुनि के दर्शन का सार यह है कि जीव को दुःख, मिथ्या, ज्ञान से होता है। मिथ्या ज्ञान का जब तक नाश नहीं होता तब तक दुःखों का नाश भी नहीं हो सकता। मुनि का कहना है कि मिथ्या ज्ञान का नाश तत्त्व ज्ञान से ही हो सकता है और तत्त्व ज्ञान प्राप्ति का मार्ग ही अध्यात्मवाद है। इसी रास्ते पर चलकर दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति सम्भव है पातञ्जलि मुनि का कहना है कि नष्टाङ्ग योग के द्वारा जीव का अज्ञान नष्ट हो जाता है और जीव अपने आपको इन सारे भौतिक पदार्थों से सर्वथा पृथक् अनुभव करके समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। जैन मताचार्यों ने भी दुःखों से छुटकारा पाने के साधन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही बताए हैं।

ओम् का जाप...

(पृष्ठ १ का शेष)

प० अशोक कुमार को भी शाल ओढ़ाकर सम्मानित किया।

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती एवं श्री चन्द्रपाल भजनोपदेशक ने भी मनोहर भजनों द्वारा श्रोताओं को मंत्र मुग्ध कर दिया। विद्यालय के बच्चों ने सामूहिक गीत व सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये।

वैदिक साहित्य वितरण कार्यक्रम की एक विशेषता थी। सम्मानित महानुभावों को दयानन्द दिव्य दर्शन तथा बच्चों व उपस्थित नर-नारियों को वैदिक सिद्धान्त पुस्तक साहित्यक प्रसाद के रूप में वितरित की गयी। स्कूल की डाइरेक्टर सुश्री जे० आर० भाटिया ने कार्यक्रम को सफल बनाने में विशेष सहयोग दिया।

महान कर्मयोगी–महात्मा हंसराम

—नरेन्द्र अवस्थी

महात्मा हसराज जी डी० ए० वी० आन्दोलन के प्रेरणा-स्रोत एव प्रकाश स्तम्भ थे। कर्तव्यनिष्ठ, परोपकारी, सत्यप्रिय, तेजस्वी व शिक्षाविद गुणो से ओत-प्रोत इस ध्येय निष्ठ व्यक्तित्व ने अपनी प्रतिभा के प्रखर आलोक से समस्त आय-जगत को आलोकित किया। महान कमयोगी की भाति उनका व्यक्तित्व सघर्षों मे विकसित हुआ था। शैक्षनिक क्षेत्र, आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार शुद्धि आन्दोलन आदि के विविध क्षेत्रो मे उन्होने ठोस रचनात्मक कार्य किए। तुसन्यस्त सकल्पो योगी भवति कश्चन' योगी सकल्पो के अभ्यास के बिना नही हो सकता। यही आदर्श वाक्य गीता के सम्पूर्ण उपदेश की आधार शिक्षा है। तपोमूर्ति महात्मा हसराज का यह आदर्श बन गया।

अपनी हरी-भरी जवानी मे अपूर्व त्याग का सकल्प लेकर डी० ए० वी० आन्दोलन के लिये सर्वस्व होम करने वाले आदर्श व्यक्तित्व के यह अमर वाक्य मनुष्य के जीवन का एक ध्येय होना चाहिए, एक केन्द्र, जहा पहुचकर वह अपना जीवन कुर्बान कर सके, अपनी धन-दौलत और बाल बच्चो को आसानी से छोड सके। एक स्थान होना चाहिए जहा पहुचकर गव से वह कह सके कि चाहे प्राण चले जाए, चाहे सब ओर से विनाश का ताण्डव घेर ले, पर वह उस स्थान से लौटेगा, पीछे नही हटेगा। ऐसे स्थान पर ही मनुप्य का वास्तविक चरित्र और उसका वास्तविक मोल मालूम होता है।' दृढ सकल्प मे धनी इस श्लाघा पुरुष ने इन्ही शब्दो पर अपना सवस्व होम कर डी०ए०वी के नन्हे पौधे को एक विशाल वृक्ष का रूप दे दिया।

महात्मा हसराज ने आर्य समाज के दस नियमो को अपने जीवन मे ढाला अपना समस्त जीवन इसके प्रचार-प्रसार मे लगा दिया। उन्होने आर्य समाजियो को पाच सकार सध्या, स्वाध्याय सत्सग, समाज सेवा और सुपात्र को दान देने को अपनाने का आह्वान किया। तप और त्याग की प्रतिमूर्ति ने २६ वर्ष तक अवैतनिक रहकर ही कालेज के प्राचार्य पद को सुशोभित किया और सेवा मुक्त होने पर आयसमाज के कार्यों मे अपना जीवन लगाया। वह 'सादा जीवन उच्च विचार के उज्ज्वल उदाहरण बने। 'मनुर्भव' को चरितार्थ करने हेतु मानव के अज्ञान को मिटाकर सच्चा मानव बनाना उनका ध्येय था। मानव जाति के प्रति दया और सहृदयता की भावना से अभिभूत होकर उन्होने प्राकृतिक प्रकोपो से पीडित व्यक्तियो को राहत देने और दिलाने का अनुकरणीय व सराहनीय कार्य किया था। मानव जाति के उत्थान व विकास के लिए अनेक सस्थाओ का निर्माण इसी श्रृखला मे किया।

शुद्धि आन्दोलन की महत्ता को उन्होने समझा। धर्मान्तरण से राष्ट्रान्तरण की गहरी चाल को समझकर इस आन्दोलन मे भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। शुद्धि आन्दोलन के दिनो जब आगरा, भरतपुर और मथुरा के मलकाने राजपूतो की शुद्धि का अवसर आया तो वह तन मन धन से इसमे भी अग्रणी रहे। भीषण गर्मी की कडकती चिलचिलाती धूप में पीसने से तर-बतर होकर मीलो की पैदल यात्रा, खाने पीने की सुध नही, सोने का कोई ठिकाना नही, विश्राम की परवाह नही महर्षि दयानन्द के ऐसे दीवानो के जनून ने आर्यसमाज की वैचारिक क्रान्ति को प्रभावी बनाया। तीन महीने तक यह कठोर साधना चलती रही। उन्होने हर क्षेत्र मे एक मिसाल स्थापित की।

महापुरुषो के जन्मदिवस मनाने का मूल लक्ष्य यह है कि हम उनके आदर्शों से प्रेरणा लेकर अपने को उनका अनुकरणीय बनायें। क्रान्तिकारियो के मुकुटमणि स्वतन्त्र्यवीर सावरकर का कथन है कि हम किसी महापुरुष को सच्ची श्रद्धाजलि यही दे सकते है कि उनके कार्यों मे कुछ रचनात्मक रूप से कुछ जोड दें। आओ महात्मा हसराज के महान कार्यों मे कुछ जोडने का सकल्प लेवें।

॥ ओ३म् ॥

आर्य समाज ग्रेटर कैलाश पार्ट-II नई दिल्ली

प्रमुख गतिविधिया

दैनिक सत्सग —	प्रात ७ से ८ प्रतिदिन
रविवारीय सत्सग —	प्रात ८ से १०
महिला सत्सग —	शुक्रवार दोपहर ३ से ५
निशुल्क चिकित्सालय –	प्रतिदिन प्रात ९ से १ तक, जिसमे एलोपैथिक सेवान्तर्गत जनरल फिजीशियन दन्त चिकित्सक, नेत्र चिकित्सक स्त्री रोग चिकित्सक, ई सी जी सेवा व होम्योपैथिक चिकित्सा उपलब्ध है। साथ ही पैथोलाजिकल टैस्ट भी किए जाते है।
वैदिक पुस्तकालय व वाचनालय —	प्रात ९ से १ तक
धर्मशाला	— आर्य यात्रियो के अस्थायी निवासार्थ
सहायता	— निधन विद्यार्थियो निराश्रित रोगियो की सहायता की जाती है।
जूडो कराटे	— प्रतिदिन प्रात ६ से ७ तक साय ५ से ७ तक
वैदिक सस्कार	— श्री राजेन्द्र कुमार शर्मा, धर्माचार्य द्वारा – दूरभाष ६४३४२२९

प्रधान — जे० आर० आनन्द फोन ६४३९९७९, ६४५३१३७

मन्त्री — आर० एन० गुप्त

अवैध यौन सम्बन्ध और वेद (२)

एक आपत्ति जनक लेख का प्रामाणिक जवाब

—प्रो० भवानीलाल भारतीय धर्माधिकारी, सार्वदेशिक धर्मार्य सभा

इस प्रास्ताविक विवेचना के पश्चात जब हम यम यमी सूक्त पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि यम और यमी सामान्य नर नारी या भाई बहिन नही है। ये भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्वो के प्रतीक है। यम यमी इस ऋग्वेदीय सूक्त (१०-१०) के देवता भी हैं और ऋषि भी। इन दोनो के साथ "वैवस्वत शब्द जुडा हुआ है। इसका अर्थ हुआ 'विवस्वान् के पुत्र'। विवस्वान् सूर्य का वाचक है। दिन और रात दोनो ही सूर्य से सम्बद्ध है इस लिए ये दोनो ही सूर्य के पुत्र-पुत्री हैं। इन्ही से जगद व्यवहार का नियमन होता है अत इन्हे यम और यमी कहना भी समीचीन है। शतपथ ब्राह्मण मे अग्नि को यम और पृथ्वी को यमी कहा गया है—(शतपथ २-१-१०) अत इन यम और यमी को दिन और रात धावा पृथिवी, अग्नि और पृथ्वी अथवा पुरुष और प्रकृति का वाचक मानकर इस सूक्त का अर्थ किया जाना चाहिए।

खेद है कि सायणादि भाष्यकार भी मन्त्रो मे निहित व्यग्यार्थ को न समझ सके और सूक्त गत भ्राता स्वसा, जामि आदि पदो से भ्रमित हो गये। तथ्य यह है कि मन्त्र गत यम यमी को पति पत्नी मानकर अर्थ करने से सारी सगति लग जाती है। निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर ने मन्त्र गत (१० १० ११) भ्राता को भर्ता का वाचक तथा स्व पुरुषसरति इति स्वसा' के द्वारा स्वसा को पत्नी का वाचक सिद्ध किया है। इस सूक्त का आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए उन्होने प्रकृति और पुरुष का सवाद मानते हुए प्रकृत सूक्त की सुन्दर व्याख्या की है। निरुक्त के एक अन्य टीकाकार प० चन्द्रमणि विद्यालकार ने इस मन्त्र को सगोत्र भाई बहिन (एक ही गोत्र मे उत्पन्न लडका लडकी) के विवाह के निषेध के रूप मे व्याख्यात किया है तथा ऋषि दयानन्द ने अन्य मिच्छाम्व सुभगेपति मत् (१०-१०-१०) आदि उक्तियो का नियोग परक अर्थ किया है अत लेखक के आक्षेप मे कोई सार नही है।

सुभाष कुमार ने ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र (१० ६१-७) (भूल से उसने इसे छठा मन्त्र लिखा है) का भी सकेत किया है उसके अनुसार इस मन्त्र में प्रजापति ने अपनी ही पुत्री उषा के साथ यौन सम्बन्ध किया ऐसा सकेत है। प्रजापति-दुहिता का यह प्रसग ऋग्वेद मे अन्यत्र १ १६४-३३ तथा ३ ३१ ११ मे भी आया है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा निरुक्त ने इन मन्त्रो का वास्तविक अर्थ बताया तथा ऋषि दयानन्द ने स्वरचित ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका मे इस प्रसग का विस्तार से विवेचन करते हुए बताया कि वास्तव मे प्रजापति सूर्य का वाचक है और उषा को उसकी सन्तान कहा गया है। वास्तविक सूर्योदय से पूर्व जो प्राची दिशा मे लालिमा दिखाई देती है वह सूर्य की किरणो से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहलाती है। इस प्रकार सूर्य की रश्मियो का गिरना ही गर्भ स्थापना के तुल्य है। इस प्राकृतिक दृश्य के निरुपक मन्त्र के अलकार विधान को न समझकर अज्ञानी लेखक ने पिता पुत्री के अवैध सम्बन्ध की जो कल्पना की है वह नितान्त दूषित तथा गर्हित है। द्यौर्मे पिता जानतो (१-१६४-३३) इस मन्त्र मे पर्जन्य (बादल) पिता तुल्य है, पृथ्वी उसकी दुहिता तुल्य हैं। बादल द्वारा वृष्टि करके पृथ्वी को गर्भवती (वनस्पति लतादि उत्पन्न करने मे समर्थ बनाना) करना एक प्राकृतिक तथ्य है। पिता दुहितुर्गर्भमाधात् का सीधा सा अर्थ इतना ही है कि पिता पर्जन्य ने दूर पर स्थित (दुहिता, दुहिता दुरेहिता भवतीति) पृथ्वी के भीतर अन्न, औषधि वनस्पति आदि को उत्पन्न करने के लिए गर्भ का आधान किया,अर्थात उसे जल से सिंचित किया। लेख के अवशिष्ट अश की आलोचना हमारे प्रसग से बाहर है, क्योकि इसमें अवर कालीन ग्रन्थो के आधार पर जो चर्चा की गई है उसका वेदो से कोई सम्बन्ध नही है। ●

ईश्वर के नामों की पद्यमय व्याख्या (८)

भगवान दास, म०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

न्याय-धर्म है ईश का सुन्दर शील स्वभाव।
पर 'न्यायकारी" प्रभु, सर्वपाल प्रग-राव ॥१०६॥
सकल ज्ञान-ज्ञाता वही, जाने सत्य-असत्य।
सृजनों का रक्षण तथा, करता अभय-अमर्त्य ॥१०८॥

यथायोग्य वह देत है दुष्टजनो का दण्ड।
'दयालु" सज्ञा से प्रभु, ख्यात सकल ब्रह्माण्ड ॥१०९॥
द्वैत-रहित 'अद्वैत' है, दो जहां नहीं सयुक्त।
परमेश्वर "अद्वैत" है, नाम युक्ति से युक्त ॥११०॥

उस जैसी ब्रह्माण्ड मे, शक्ति नहीं अन्यत्र।
इसीलिये अद्वैत है, एकमात्र सर्वत्र ॥१११॥

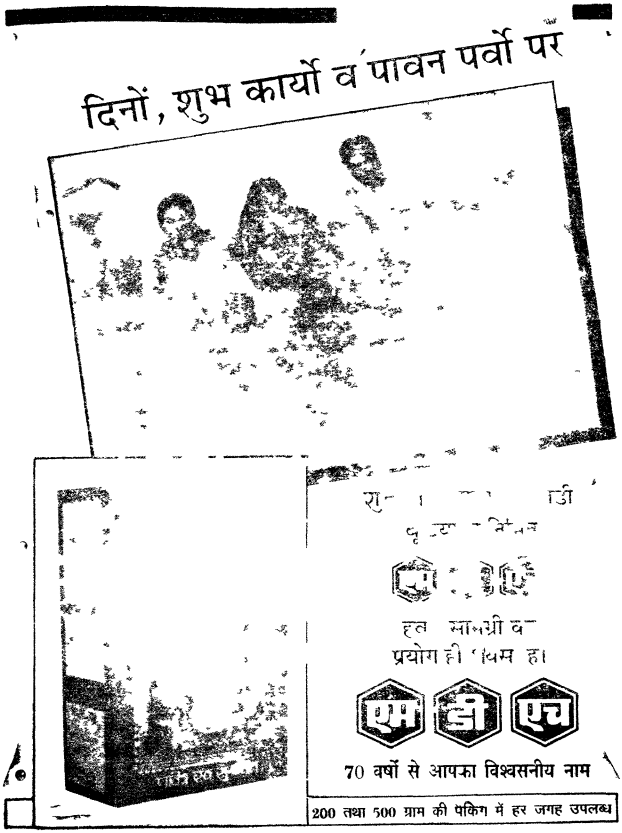
राम नौमी सोत्साह सम्पन्न

आर्य समाज महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम का जन्म दिवस १ अप्रैल नवमी के दिन मनाया गया जिसमें समाज के सदस्यों ने बढ़चढ़ कर भाग लिया। कार्यक्रम हवन यज्ञ से प्रारम्भ हुआ जो कि आर्य समाज के पुरोहित आचार्य ... व प० बनारसीदास ने बड़े मनमोहक भजन प्रस्तुत किये।

समाज के महामन्त्री श्री महेन्द्र प्रताप जी आर्य ने अपने विचार रखते हुए कहा कि आज महान तार्किक प० रामचन्द्र जी देहलवी का भी जन्म दिन है जिन्होंने शास्त्रार्थों के माध्यम से आर्य समाज का प्रचार किया था। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का तो जीवन ही अलौकिक था इस अवसर पर आचार्य राजेश्वर शास्त्री ने कहा कि श्री राम का भ्रातृ व प्रेम अनोखा था। अन्त में समाज के प्रधान श्री रणवीर जी भाटिया ने श्री रामचन्द्र के विषय में विस्तृत रूप से विचार रखे। राम ने जीवन में वेदों को मानकर मनुष्य को वेदों का महत्व बताया।

आर्यसमाज तिमारपुर का वार्षिकोत्सव

नई दिल्ली आर्यसमाज तिमारपुर दिल्ली का वार्षिकोत्सव १९ से २५ अप्रैल तक समाज मन्दिर में समारोहपूर्वक मनाया जायेगा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती जी नवनिर्मित यज्ञशाला का १९ अप्रैल को उद्घाटन करेंगे कार्यक्रम की अध्यक्षता ... आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल करेंगे और मुख्य अतिथि ... केन्द्रीय सभा दिल्ली ... के प्रधान महाशय धर्मपाल होंगे। महा० वेदराज द्वारा भजनोपदेश तथा आचार्य रामदत्त शर्मा के ब्रह्मत्व में यजुर्वेद पारायण यज्ञ सम्पन्न होगा २५ अप्रैल को पूर्णाहुति के बाद दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ... सम्मेलन की अध्यक्षता करेंगे तथा मुख्य अतिथि केन्द्रीय भूतल परिवहन मन्त्री श्री जगदीश टाइटलर होंगे। सभी सादर आमन्त्रित हैं।



आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 15 16-4-1993 Licence to post without prepayment Licence No. U (C) 139/93

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल ११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू (सी०) १३९/९३

८ साप्ताहिक "आर्यसन्देश" १८ अप्रैल १९९३

श्री रोशन लाल गुप्त को पत्नी शोक

नई दिल्ली आय समाज के कमठ कार्यकर्त्ता श्री रोशन लाल गुप्त की धमपत्नी श्रीमती कौशल्या देवी का १ अप्रैल, ९३ को अकस्मात देहावसान हो गया। २ अप्रैल को निगमबोध घाट पर पूर्ण वैदिक रीति से उनका दाह सस्कार किया गया जिसमे दिल्ली की विभिन्न आय समाजो एव आय सस्थाओ की ओर से श्रीमती कौशल्या देवो को अन्तिम श्रद्धाजलि अर्पित की गयी।

श्रीमती कौशल्या देवी सहज सरल, मधुर एव हसमुख स्वभाव की पतिव्रता नारी थी। ईश्वर मे अटूट विश्वास करने वाली धर्मपारायण श्रीमती कौशल्या देवी नित्य प्रति सन्ध्या एव यज्ञ करती थी। वे स्त्री समाज सरोजिनी नगर की लगातार तीस वष तक सेवा करती रही और आय समाज के सभी पर्वों एव कायक्रमो में उत्साहपूर्वक भाग लेती थी।

४ अप्रैल को आय समाज निर्माण विहार मे शान्ति यज्ञ एव रस्म पगडी सम्पन्न हुयी।

इसमे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से स्वामी स्वरूपानन्द जी सरस्वती दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा के महामन्त्री श्री पुरुषोत्तम गुप्ता यमुना पार एव दिल्ली की अनेक आर्य समाजो के प्रतिनिधियो द्वारा श्रीमती कौशल्या देवी की सेवाओ का स्मरण कर उन्हे भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित का गयी। श्री कौशल्या देवी का पुण्य स्मृति मे परिवार द्वारा १५ हजार रुपये का राशि विभिन्न सस्थाओ को दान मे दी गयी।

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ मे प्रवेश आरम्भ

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ सराय ख्वाजा निकट सूरज कुण्ड व बदरपुर बार्डर से एक किलोमीटर अरावली पवत पर स्थापित मे चौथी से दसवी तक प्रवेश आरम्भ है। गत वर्ष का परीक्षा परिणाम शत प्रतिशत/अध्यापक अनुभवी तथा ट्रेण्ड/अनिवार्य छात्रावास की व्यवस्था तथा शिक्षा नि शुल्क प्रवेश हेतु शीघ्र सम्पर्क करें।

फोन २७५३९८ आचार्य, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ
डा० नई दिल्ली-४४, फरीदाबाद

स्वर्णपदकीय शौर्य पुरस्कार

२४ माच ९३ आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य द्वारा आयोजित आर्यसमाज स्थापना दिवस पर हिमाचल भवन नई दिल्ली के सभागार में सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती ने जाफना के अमर शहीद मेजर (डा०) अश्विनी कुमार कण्व की स्मृति में ग्यारह प्रतिभावान छात्र छात्राओं को स्वर्णपदकीय शौर्य पुरस्कार से पुरस्कृत किया। समारोह की अध्यक्षता डा० सच्चिदानन्द शास्त्री एव सचालन किया डा० शिवकुमार शास्त्री ने।

परमपिता परमात्मा से प्राथना है कि दिवगत श्रीमती कौशल्या देवी की आत्मा को शान्ति एव सदगति प्रदान करे तथा परिवार जनो को दुख सहने की शक्ति प्रदान करे।

सेवा मे--

श्री पुस्तकालयाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सावदेशिकप्रेस पटौदी हाउस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ में मुदित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड नई दिल्ली ११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक २६ रविवार, २५ अप्रैल १९९३ विक्रमी सम्वत २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

आर्य तिमारपुर की भव्य यज्ञशाला का उद्घाटन

श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ भाईचारे व शान्ति का सन्देश देता है

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

दिल्ली, १९ अप्रैल। यज्ञ एक ऐसा श्रेष्ठतम कर्म है जो न केवल वायु, जल, ध्वनि आदि के प्रदूषण को दूर करता है बल्कि हमे त्याग व परोपकार का भी सन्देश देता है। ये विचार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने आज आर्य समाज मन्दिर तिमारपुर की नवनिर्मित भव्य यज्ञशाला का उद्घाटन करने के बाद आर्यजनो को सम्बोधित करते हुये कहे। उदघाटन के साथ ही आज तिमारपुर आर्यसमाज का एक सप्ताह तक चलने वाला वार्षिकोत्सव भी शुरू हो गया।

स्वामी जी ने कहा कि दिल्ली मे लाखो वाहनो के चलन एव हजारो कल कारखानो के कारण राजधानी का जल एव वायु अत्यधिक प्रदूषित हो चुका है। उल्लेखनीय है कि दिल्ली विश्व का चौथा सबसे अधिक प्रदूषित शहर है। सरकार यमुना नदी का प्रदूषण दूर करने के लिए करोडो की योजना चला रही है परन्तु यज्ञो से तो सभी प्रकार का प्रदूषण नष्ट हो जाता है।

स्वामी आनन्द बोध ने कहा कि एक बार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के सस्थापक सर सैय्यद अहमद को बताया था कि अग्नि मे जलने से घी व सामग्री की शक्ति सौ गुना बढ जाती है और वायु सुगधित होने के साथ रोग भी नष्ट होते है। स्वामी जी ने यह भी बताया कि अमेरिका मे अग्नि होत्र यूनिवर्सिटी की स्थापना हो चुकी है जहा किसान अग्नि मे घी व सामग्री जला कर अधिक उत्पादन प्राप्त करते हैं।

स्वामी जी ने आगे कहा कि प्राचीन काल मे हमारे पूर्वज यज्ञो को करके राष्ट्र का निर्माण करते थे और यज्ञ आज भी उतने ही प्रामणिक हैं। यज्ञ की महिमा पर विस्तार से प्रकाश डालते हुये स्वामी जी ने कहा कि हमे यज्ञ की भावना से। जीवन जीना चाहिए तथा वेद मार्ग पर चल कर आर्यजनो को विश्व मे भाईचारे व शान्ति की स्थापना के लिए निरन्तर कार्य करते रहना चाहिए।

(शेष पृष्ठ ६ पर)

आनन्द कथा का विमोचन

नई दिल्ली १३ अप्रैल राष्ट्रपति महामहिम डा० शकर दयाल शर्मा ने राष्ट्रपति भवन मे आज पूज्य महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती के पावन जीवन चरित्र के बारे मे 'आनन्द कथा' नामक पुस्तक का विमोचन किया। यह पुस्तक आर्यसमाज का देश विदेशो में डका बजाने वाले प्रख्यात सन्यासी आनन्द स्वामी के पौत्र मिलाप के सम्पादक श्री नवीन सूरी ने लिखी है। समारोह मे उर्दू दैनिक मिलाप के ७० वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य मे विशेषाक की प्रति भी डा० शर्मा को भेट की गयी।

श्री नवीन ने कहा कि महात्मा आनन्द स्वामी जी ने सारा जीवन एकता व मेल मिलाप का पाठ पढाया था। उन्होने कहा कि राष्ट्रपति जी मिलाप के सौ वर्ष पूरे होने पर भी हमे इसी प्रकार आशीर्वाद देगे। शिरोमणि अकाली दल (मास्टर तारासिंह गुट) के प्रधान जत्थेदार श्री रच्छपाल जी ने सभी का धन्यवाद व्यक्त किया। यह पुस्तक मिलाप प्रिंटर्स लि० (प्रकाशन विभाग) बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली से प्रकाशित की गयी है।

डा० धर्मपाल सम्मानित

नई दिल्ली १८ अप्रैल। सुप्रसिद्ध आर्य नेता डा० धर्म धर्मपाल को लोक सभा अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल ने समाज सेवा के लिए आज ताल कटोरा स्टेडियम मे एक भव्य समारोह मे शाल ओढाकर एव प्रतीक चिह्न भेंट कर सम्मानित किया। कार्यक्रम आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा एव डी०ए०वी० कालेज प्रबन्धकर्त्री समिति द्वारा आयोजित किया गया था।

दिल्ली विश्वविद्यालय के डा० जाकिर हुसैन कालेज के रीडर डा० धर्मपाल दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार, महर्षि शिला समिति आदि अनेक सस्थाओ के पदाधिकारी भी है।

विद्वान लेखक डा० धर्मपाल ने कई पुस्तके लिखी है और अनेको का सम्पादन भी किया है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे भी आपके अनेक लेख छपते रहे हैं। आर्य समाज के उत्थान के लिए समर्पित भाव से निरन्तर काम करने वाले डा० धर्मपाल के रेडियो, दूरदर्शन आदि पर भी अनेक वार्तायें व कार्यक्रम प्रसारित हो चुके हैं। हसमुख व विनम्र स्वभाव के धनी डा० धर्मपाल अत्यन्त व्यवहार कुशल है।

इसी समारोह मे आर्य समाज के लब्ध प्रतिष्ठ वैदिक विद्वान सिद्ध हस्त लेखक एव सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के धर्माधिकारी डा० भवानी लाल जी भारतीय को भी श्री पाटिल ने शाल ओढाकर व प्रतीक चिन्ह प्रदान कर सम्मानित किया। आर्य लेखक सघ के सस्थापक डा० भवानी लाल जी अनेक धार्मिक, सामाजिक व सास्कृतिक सस्थाओ से भी जुडे हैं। सरल सहज स्वभाव के धनी डा० भारतीय एक कुशल वक्ता भी है और भारत की अनेक पत्रिकाओ के प्रतिष्ठित लेखक भी है। डा० भारतीय के निर्देशन मे अभी तक (४७) शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किये जा चुके हैं। अनेक सस्थायें डा० भवानी को सम्मानित कर स्वय गौरवान्वित हुई हैं।

कार्यक्रम मे दिल्ली आर्य महिला सभा की अध्यक्षता श्रीमती शकुन्तला आर्या को भी लोक सभा अध्यक्ष श्री पाटिल ने इसी प्रकार सम्मानित किया। विदुषी लेखिका श्रीमती आर्या ने कई पुस्तकें लिखी है।

वे एक ओजस्वी वक्ता हैं और अनेक संस्थाओ से सक्रिय रूप से भी जुडी है।

उपरोक्त कार्यक्रम मे गुरुकुल गौतम नगर के आचार्य हरिदेव सहित डा ए० वी० सस्थाओ से जुडे अनेक लोगो को भी श्री शिवराज पाटिल ने सम्मानित किया।

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

पर्वों को प्रेरणाप्रद बनायें

(लेखक—गजानन्द आर्य, कलकत्ता)

पर्व और त्यौहार प्राय प्रत्येक वर्ग देश व सम्प्रदाय मे मनाये जाते है। सबकी मान्यताए अपनी अपनी हैं और मनाने के तौर-तरीके भी भिन्न हैं। जीवन मे सरसता प्रदान करते है ये उत्सव। त्यौहारो के साथ कोई घटना अवसर अथवा किवदन्ती जुडे होते है। मनाने वाले उन सब कारणो को स्मरण करते रहते हैं। हमारे हिन्दू समुदाय म त्यौहार व पर्वों की बहुत लम्बी सूची है। जितने पथ व सम्प्रदाय इस समुदाय म बढते गए उसी के साथ नये-नये उत्सव आनन्द के प्रसग जुडते गए। कुछ त्यौहार ऐसे हैं जो प्राचीन काल मे ऋषि मुनियो द्वारा समयकाल की अपेक्षा से प्रचलित किये गए थे और कालान्तर मे उनके साथ नयी नयी घटनायें-काल्पनिक एव वास्तविक भी सम्मिलित होती गयी। जिस प्रकार पुराने वटवृक्ष की मूल जडे नयी नयी जडो मे ढू ढने से नही मिलती उसी प्रकार हमारे प्राचीन त्यौहारो की मूल भावना अर्वाचीन किस्से कहानियो मे लुप्तप्राय हो गई हैं। नई फसल के अवसर के लिए निर्धारित होली व दीवाली का प्राचीन स्वरूप अब किसको याद है। चातुर्मास मे आने वाले रक्षाबन्धन का इतिहास ही बदल गया है। विजयादशमी की प्रासगिकता अब रामलीला व दुर्गापूजा से इतर नही रही।

इस तरह के प्राचीन त्यौहार आर्य समाज को भी प्रिय हैं क्योकि इन सबमे हमारी सस्कृति निहित है। बडे उत्साह से मनाने का मन रहते हुए भी वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे बहुत सोच-समझ कर हम अपना कर्तव्य निभा पाते हैं। पवित्र त्यौहारो के साथ अपवित्र कर्म चिपक गए हैं। खुशी के जोश मे होश भुला देने की प्रक्रिया जो चल पडी है उसमे से बच निकलकर आर्य अपने आर्यत्व की परिधि मे जो कर सकता है करता है। जिस पर अपना पूरा अधिकार नही है वैसे त्यौहारो की चर्चा न करके अपने कुछ नवीन पर्वों की उपयोगिता पर विचार करना चाहिए। महर्षि की याद मे ऋषि बोधोत्सव और निर्वाण दिवस मनाये जाते है। आर्य समाज स्थापना दिवस हमारे मुख्य पर्वों मे है। तीनो पर्वों पर हम यज्ञ हवन करते हैं। सभा का आयोजन करते हैं। सभा मे अधिकतर वक्ता महर्षि के गुणगान करते हैं। आर्य समाज की विशेषताओ को भी याद कर लिया जाता है। आर्य समाज से बाहर का कोई राजनैतिक अथवा सामाजिक व्यक्ति हमारी वेदी से ऋषि के प्रति कुछ उद्गार प्रकट करता है तो हम धन्य हो जाते हैं। तालियो की गडगडाहट और शान्ति पाठ के साथ हमारा पर्व सफल मान लिया जाता है।

अब जरा विचार तो करो वर्ष मे एक बार आने वाले पर्व को दो तीन घटो के भाषणो से इतिश्री मान लेना ही क्या पर्याप्त है। इतने से ही कर्तव्य पालन होता है तब गाधी जयन्ती पर गाधी की समाधि पर फूल चढाने वालो मे और हमारे मे अन्तर क्या है। ऋषि का गुणगान होना चाहिए। गुणगान हमारी श्रद्धाभक्ति का परिचायक है। स्वामी जी ने लिखा है कि स्तुति का फल प्रीति है। ऋषि की स्तुति करने मे और सुनने मे बहुत आनन्द की अनुभूति होती है। कई बार ऋषि जीवनी सुन सुन करके मन मे श्रद्धा की तरग बहने लगती है। परन्तु यह सब सुनना सुनाना ठीक वैसा ही है जैसा किसी पण्डित जी से रामकथा सुनकर गद-गद हो जाना। याद रहे रामकथा हो अथवा ऋषि कथा जिसके सुनने से जीवन मे परिवर्तन नही आया तब समय की बरबादी के सिवाय क्या कहेगे। महर्षि सत्यार्थ प्रकाश मे लिखते हैं—'जो केवल भाड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता है और अपना चरित्र नही सुधारता उसकी स्तुति करना व्यर्थ है।

आर्य समाज जो काम करता है युक्ति सगत मानकर करता है। अध परम्परा, अध श्रद्धा आर्यों के स्वभाव म नहीं है।

आर्य समाज के हम सदस्य हैं। ऋषि का लगाया यह पौधा बहुत पुराना नही है। इस शताब्दी के अन्त तक मात्र १२५ वर्ष का हो जायेगा। इस अल्प अवधि मे विश्व भर मे आर्य समाज का स्थान कितना महत्वपूर्ण बन गया यह शोध का विषय है। कितने रूपो मे इसे जाना जाता है यह भी इसके सर्वागीण विकास की कहानी है। यदि हम इसे सस्था कहे तो वास्तव मे सस्था है क्योकि इसका अपना विधान है जिसके अनुसार सदस्य बनते हैं—अधिकारी चुने जाते हैं और निर्धारित अवधि के पश्चात् निर्वाचन बदलते रहते है। कही कोई गुरु डम नही है। मताधिकार का प्रयोग इस सस्था ने प्रारम्भ किया है सम्भवत कोई भारतीय सस्था इससे पुरानी नही है। आर्य समाज की सस्था ने अपने अधीनस्थ कितनी सस्थायें खडी कर दी है यह भी एक कीर्तिमान है।

यदि आर्य समाज को एक आन्दोलन के नाम से जाना जाये तब भी यह सर्वथा उपयुक्त है। अध-विश्वास और अन्याय के विरुद्ध इसका सघर्ष चलता रहा है। जाति-पाति छुआछूत आदि राष्ट्रीय अभिशापो को मिटाने मे बहुत शक्ति लगाई है आर्य समाज ने। शिक्षा विस्तार के आन्दोलन से भला कौन अनभिज्ञ होगा। इसी प्रकार आर्य समाज एक विचार, एक जीवन दर्शन और एक गति को भी कहते हैं। आर्य समाज की समस्त मान्यताओ को न अपनाने वाले मत मतान्तरो के लोगो ने भी अपने चिन्तन और विश्वासो को बुद्धिपरक करने का प्रयास किया है उसके परोक्ष मे आर्य समाज है। सुदूर गावो मे आर्य समाज भजनिको ने लोगो के विचार शुद्ध करने मे बहुत कार्य किया है। बडी प्रसिद्ध उक्ति है कि आर्य समाज जब दौडता है तब हिन्दू समुदाय चल पडता है। जब आर्य समाज चलता है तब वह अगडाई लेकर खडा हो जाता है। जब तक आर्य समाज जागता है तब तक हिन्दू समाज सोया रहता है। साराश यही है कि आर्य समाज का गतिशील बने रहना आवश्यक है।

आर्य समाज जाति धर्म, सम्प्रदाय और देश विदेश के विभाजन से परे है। एक बहुत प्यारा नाम लाला लाजपत राय ने दिया था कि आर्य समाज मेरी मा है। बडी सुन्दर उक्ति दी थी लाला जी ने। आप तुलना करें माता और आर्य समाज के कर्तव्यो का। माता निर्माता भवति अर्थात बच्चो का निर्माण माताओ द्वारा होता है। यही गुण आर्य समाज मे भी है। निष्ठापूर्वक आचरण करने वाला आर्य समाजी निश्चय ही अच्छे सस्कारयुक्त धर्मात्मा और उन्नतिशील बनेगा। देशभक्ति और वेदभक्ति की अमृतमय लोरिया आर्य समाज के कर्मक्षेत्र मे अनायास प्राप्त होती हैं। ऐसे सगठन मे जुड जाना बहुत बडे सौभाग्य की बात है। आर्य समाज का सदस्य बनने पर जिस शपथ पत्र पर हस्ताक्षर किए जाते हैं उसका पाठ आर्य समाज के सत्सगो मे बार बार दुहराया जाता है ताकि हम अपने कर्तव्यो के प्रति सचेत रहे।

वर्ष मे एक दिन हमारी इस पवित्र सस्था का जन्मदिन आता है जिसे आर्य समाज स्थापना दिवस कहते हैं। घर के किसी सदस्य के जन्मदिन मनाने मे और माता रूपी आर्य समाज का जन्मदिन मनाने मे बहुत अन्तर है। इस सार्वभौम आन्दोलन को वर्ष भर का लेखा जोखा प्रस्तुत करने का उपक्रम बनाना चाहिए। केवल ऋषि के गुणगान तथा आर्य समाज के विगत गौरवशाली इतिहास को याद कर लेने भर से भविष्य नही बनेगा।

किसी सस्था को गतिशील बनाये रखने के लिए दो बातो का समन्वय बने रहना आवश्यक है। दो बात है – मन और वाणी। मन मे सकल्प करके उसे वाणी द्वारा प्रकट करना यज्ञीय कर्म है। मन मे विचार स्पष्ट न हो और वैसे ही सकल्प-विहीन बोलते जाना अयज्ञीय बात है। इसका दुष्परिणाम होता है गति का रुक जाना। अत अपनी सस्था के जन्मदिन पर आर्यों को यज्ञीय बने रहने का सकल्प लेना चाहिए। सकल्प के लिये मन, वचन और कर्म मे धारण करने योग्य ऋषि का वाक्य दोहरा लेना ही पर्याप्त होगा। जो उन्नति करना चाहो तो आर्य समाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नही तो कुछ हाथ न लगेगा क्योकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है आगे होगा उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। इसलिए जैसा आर्य समाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है वैसा दूसरा नही हो सकता। यदि इस समाज को यथावत उन्नति देखें तो बहुत अच्छी बात है, क्योकि समाज का सौभाग्य बढाना समुदाय का काम है एक का नही।

गजानन्द आर्य मन्त्री परोपकारिणी सभा अजमेर

आर्यवीर दल शिविर का आयोजन

श्रीमती परोपकारिणी सभा द्वारा सचालित दयानन्द व्यायामशाला के अतर्गत ग्रीष्मावकाश म दिनाक १६ मई से २५ मई तक दस दिवसीय शिविर का ऋषि उद्यान, पुष्कर रोड, अजमेर में आयोजन किया गया है।

इच्छुक आर्यवीर सयोजक से सम्पर्क करें। अपना नाम पजीकृत करा लें।

आर्यवीर दल शिविर दयानन्द आश्रम, केसरगज, अजमेर

ओमप्रकाश झवर
सयोजक

प्रेरणा के स्रोत महात्मा हंसराज

चमनलाल एम० ए०, एच-६४, अशोक विहार दिल्ली-५२

उन्नीसवीं शताब्दी के महान क्रांतिकारी देशोद्धारक नवजागरण के अग्रदूत आर्य समाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज का प्रचार-प्रसार जितना पंजाब प्रदेश मे हुआ उतना अन्य किसी प्रदेश मे नही हुआ। आर्य समाज द्वारा चलाए गए हैदराबाद धर्म युद्ध (१९३९) पंजाब हिन्दी सत्याग्रह (१९५७) जैसे अनेकों आंदोलनों का सूत्रपात भी इसी पंजाब मे हुआ इसके परिणाम स्वरूप लाला लाजपतराय भाई परमानन्द जैसे महान राजनैतिक तथा स्वामी दयानन्द के स्वप्ना को साकार करने वाले स्वामी श्रद्धानन्द प० लेखराम गुरुदत्त विद्यार्थी स्वामी दर्शनानन्द जैसे तपस्वी त्यागी भी पंजाब की ही देन हैं। इन्ही मे एक नवयुवक हंसराज अपनी कार्य कुशलता त्याग तपस्या और भीष्म प्रतिज्ञा के कारण लाला हंसराज या महात्मा हंसराज के रूप मे हमारे हृदय सम्राट बने।

नरोत्तम हंसराज

महात्मा हंसराज नरोत्तम व्यक्ति और दिव्यपुरुष थे। महर्षि दयानन्द ने उत्तम स्वरूप वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है —

विद्या विलास मनसो धृतशील शिक्षा
सत्यव्रता रहित मान मलापहारा।
संसार दुःख दलनेन सुभूषता ये।
धन्या नरा विहित कर्म परोपकारा।

अर्थात् सदा विद्या प्रचार मे रत शीलव्रत का पालक सत्य के व्रत को धारण करने वाला मान अपमान से रहित परोपकार मे संलग्न मानव धन्य है।

सचमुच महात्मा हंसराज इन पांचो दिव्यगुणो के प्रतीक थे ऐसे थे वह महामानव महात्मा हंसराज। "सादा जीवन और ऊंचा विचार" उनके जीवन का आदर्श था। वे कुशल शिक्षा शास्त्री और सच्चे देशभक्त थे। वे बडे ही सादु-स्वभाव के कुछ अनोखे ही व्यक्ति थे। इनका रहन सहन खान पान वेश भूषा बडा सादा व सरल था। बाहरी तडक भडक उनको छू न पाई थी। वह चाहे कालेज के प्रिंसिपल पद पर हो व धर्म या समाज प्रचार के लिए प्रवास में या विदेश मे। उनका रहन-सहन सर्वदा हर स्थिति मे एक समान होता था। उनका व्यक्तित्व दिव्य गुणो मे ओत प्रोत था।

महात्मा जी के तप पूत मुखमण्डल पर एक अनोखा तेज, नेत्र युगल में स्नेह, होठों पर स्मित की रेखा रहती थी। बातचीत मे अपनत्व और कार्य-कर्ताओं की समस्याओं को धैर्य से सुनने और उनके समाधान के लिए पारस्परिक विचार विनिमय द्वारा हल करने का प्रयास करते थे।

सर्वविदित है कि आचार्य विश्वबन्धु (चमन लाल) और प० भगवद दत्त, वैदिक विद्वानो का बंद सब जा कुछ विषयो पर बडा मतभेद हो गया जिस कारण आर्य समाज को क्षति पहुंच सकती थी, परन्तु जब सारा मामला महात्मा हंसराज के सामने आया तो उन्होंने समाज के हितो को दृष्टि मे रखकर और दोनो विद्वानो की योग्यता, विद्वता और कार्यकुशलता को ध्यान मे रखकर दोनो को सम्मान सहित अपने अपने काम मे स्वतन्त्रतापूर्वक लगे रहने का परामर्श दिया क्योंकि महात्मा हंसराज जी किसी भी विद्वान को समाज मे अलग करना नही चाहते थे। अतः उन्होंने विश्व बन्धु जी को स्वामी विश्वेश्वरानन्द वैदिक ट्रस्ट, होशियारपुर मे स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने को भेज दिया और भगवद दत्त जी को अपने उसी काम में लगे रहने को कहा।

निन्दा, प्रशंसा लोभ लालच की दुष्प्रवृत्ति से वे सदा मुक्त रहे। वह अपने विचारो के पक्के थे और बडे सिद्धान्तवादी थे। किसी भी कीमत पर वह सिद्धान्तो से समझौता करने को तैयार न थे। कहते है किसी संस्था ने उनको अपनी लिखी भारतीय इतिहास की पुस्तक पर प्रस्तावना लिखने की प्रार्थना की और इसके निमित्त २५,००० की राशि भी देने का प्रस्ताव रखा। बडा अच्छा व आकर्षक और लाभदायक प्रस्ताव था, कोई भी विद्वान इसको स्वीकार कर लेता, परन्तु वाह रे हंसराज! तूने इसको इस कारण ठुकरा दिया कि ऐसा करने में उनको कुछ आर्य समाज के सिद्धान्तो के विरुद्ध लिखना पडता था। यही नही एक बार पंजाब प्रदेश की सरकार ने उनको शिक्षामंत्री बनाने को कहा, ऐसे महान प्रलोभन को भी इन्ही कारणो से ठुकरा दिया।

प्रभु-भक्त व देश-भक्त हंसराज

महात्मा हंसराज जहां पक्के निष्ठावान प्रभु-भक्त थे वहां वे सच्चे देशभक्त भी थे। उनकी देशभक्ति ईश्वर भक्ति मे बाधक न होकर साधक बनी थी। वह तीन 'स' संध्या, स्वाध्याय सत्संग को करना मनुष्य का महाकर्तव्य मानते थे और वे देशभक्ति को देशवासियो के दुखदर्द दूर करने मे मानते थे तथा इस काम मे बडी तन्मयता से रुचि लिया करते थे विपत्तिग्रस्त लोगो को राहत पहुंचाने मे सदा तत्पर रहते थे। बीकानेर मे अकाल पडा हो या कांगडे का भूकम्प उडीसा का अकाल हो या कोयटा का भूचाल गढवाल मे भूखमरी हो या बिहार का भूकम्प, दक्षिण भारत मे मालाबार मे दंगा या कोहाट मे आतंक—जैसे ही इन दुर्घटनाओं के समाचार महात्मा जी को मिलते, वह तुरन्त किसी भेद भाव के बिना प्रेरणादायक अपीलें करते और अपने साथियो व कार्यकर्ताओं के साथ आपत्तिग्रस्त स्थान पर पहुंचकर कैम्प लगाकर राहत कार्य शुरू कर देते थे। इस प्रकार वे कार्यरत रहते थे। 'येना पावक चक्षसा भूरण्यन्त जना अनु। त्वं वरुण पश्यसि' इन वैदिक सूक्तियो को उन्होंने अपने जीवन मे पूरे रूप से आत्मसात कर रखा था।

योगी हंसराज

महात्मा हंसराज पूर्णरूपेण सच्चे योगी थे 'योगः कर्मसु कौशलम्।' 'समत्वं योग उच्यते' 'योगः चित्तवृत्ति निरोधः।'

योगीराज श्रीकृष्ण की भगवद् गीता में व महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन मे योग की परिभाषा से महात्मा जी का जीवन ओत प्रोत था वे जीवन मे घोर विपत्ति आने पर भी व परिस्थितियो के नितान्त प्रतिकूल होने पर भी वे लेशमात्र भी विचलित नही होते थे और धैर्य से उनका सामना करते थे। उदाहरणार्थ जब उनके ज्येष्ठ पुत्र बलराज पर दिल्ली षडयन्त्र से सम्बन्धित क्रांतिकारी दल के सदस्य होने के आरोप मे १९१४ मे अभियोग चलाया गया और इसके परिणाम-स्वरूप बलराज को आजीवन कालेपानी का दण्ड दिया गया और उन्ही दिनो मे जब उनकी धर्मपत्नी मरणशैया पर पडी अन्तिम सांस ले रही थी—जीवन की उन काली घटाओ मे भी महात्मा हंसराज जी लेशमात्र भी विचलित नही हुए और धैर्यपूर्वक अपने आर्य समाज के प्रचार कार्य में जुटे रहे।

तपस्वी हंसराज

महात्मा हंसराज जी वीतराग तप और त्याग की साक्षात मूर्ति थे।

"तपो द्वन्द्व सहिष्णुत्वं।' 'तपः स्वकर्म वर्तित्वम्'
तपः सारः इन्द्रियनिग्रहः।
'यस्य कार्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा सवै तापस उच्यते॥'

ऋषि मुनियो, धर्मराज युधिष्ठर और महान राजनीतिज्ञ चाणक्य के कहे गए तप के स्वरूप को महात्मा हंसराज जी ने सच्चे अर्थों मे अपने जीवन मे ढाला हुआ था। महात्मा जी के जीवन के अध्ययन करने से पता चलता है कि वे वास्तव मे सच्चे तपस्वी थे। युवावस्था मे ही उन्होंने भौतिक विषय भोगों की उपेक्षाकर इन्द्रियो पर संयम किया हुआ था। "पञ्च पदानि रूपो अन्वरोहं" यह वेद वाक्य महात्मा जी के जीवन में पूरे तौर से प्रतिबिम्बित हो रहा था।

महात्मा हंसराज जी प्रायः कहा करते थे कि "मनुष्य के जीवन का एक ध्येय होना चाहिए, एक केन्द्र जहां पहुंचकर वह अपना जीवन कुर्बान कर सके, अपनी धन-दौलत और बाल बच्चो को आसानी से छोड सके। एक स्थान होना चाहिए—जहां पहुंचकर गर्व के साथ वह कह सके कि चाहे प्राण चले जाए, चाहे सब ओर से विनाश का ताण्डव घेर ले, पर वह उस स्थान से लौटेगा नही पीछे नही हटेगा। ऐसे स्थान पर ही मनुष्य का वास्तविक चरित्र और उसका वास्तविक मोल मालूम होता है।' महात्मा जी की यह कथनी केवल मात्र न रहकर उनके जीवन का एक अभिन्न अंग बनी रही और जीवन का केन्द्र भी। यहां आर्य समाज द्वारा चलाए जाने वाली शिक्षा संस्था (स्कूल कालेज) और समाज-प्रचार ही वह स्थान व पवित्र ध्येय का संकेत है जिसके लिए उन्होंने सर्वस्व कुर्बान कर दिया व

(शेष पृष्ठ ५ पर)

आदर्श त्रैतवाद (२५)

राजसिंह भल्ला

उपरोक्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि तत्त्व ज्ञान के बिना दुःखो की अत्यन्त निवृत्ति नही हो सकती। इसकी प्राप्ति के लिए साधक जब अपने मन को परमेश्वर मे युक्त करता है तो परमात्मा उसकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने मे युक्त कर लेता है फिर साधक परमेश्वर के प्रकाश को अपने मे धारण करता है। परमात्मा मे युक्त हुए बिना तत्त्व ज्ञान का प्राप्त होना कठिन है और यह सम्भव होता है केवल ईश्वर के जुड जाने से इसी से फिर दुःखो की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है।

यह परम सत्य है कि प्रत्येक जीव जीभर सुख चाहता है और वह इस सुख को भौतिक पदार्थों मे प्राप्त करना चाहता है इस तरह से वह अपने आपको भौतिक पदार्थों मे फसाता जा रहा है। इस प्रकार चेतन की ज्योति पर जडता का मल बढता जा रहा है। अत्यन्त सुख पाने के लिए यह मानव न जाने क्या-क्या गोरखधन्धे करता रहता है। यदि वास्तविक आनन्द की एक झलक इस पर आ पडे तो इसके वे गोरखधन्धे क्षणभर मे समाप्त हो जाये। क्लेशो ने इस मानव का कभी पीछा नही छोडा। यह देखकर स्वय क्लेशो की भट्टी मे से निकले कुन्दन से बने हमारे दिव्यदर्शी ऋषियो ने उसी भट्टी मे पडे और छटपटाते मानव समूहो को देखकर और दयार्द्र होकर उन्हे क्लेशो से बचाने के लिए भगवान् से पुकार की याचना की और समाहित हो गए। समाधि स्थिति मे उनके सामने कुछ ऋचाए प्रकाशित हो गई, ऋषियो ने उन्हे जीवन मे ढाला तो उनको आनन्द प्राप्ति का साधन अनुभव किया उन ऋषियो ने, महात्माओ ने उनकी व्याख्या जनता जनार्दन की भलाई के लिए प्रसारित की। उन्ही व्याख्यानो का नाम है उपनिषद। उन्ही के विचार हम आगे लिखेगे।

ऋषि कहते हैं कि ओ३म् की आराधना करे।

छठा अध्याय

हमारा कर्तव्य ओ३म् को अराधें

ओमित्येतदक्षर मुद्गीथमुपासीतोमिति हयुद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥

छन्दो० १

भगवद् भक्त उपासना के समय ओ३म् अक्षर उदगीथ को आराधें उद्गाता ओ३म् कहकर ही गाया करता है। उस नाम का आगे यह व्याख्यान है। उपासना मे नाम जप, नाम चिन्तन तथा नाम ध्यान का बडा महात्म्य है। प्राचीन काल के सन्त महात्मा नाम को गाया करते थे इस कारण जब भगवान् का नाम ऊचे स्वर से गाया जाए तो उसी को उद्गीथ कहा जाता है। ओ३म् का अर्थ है रक्षा करने वाला ईश्वर। वही उदगीथ है।

सब रसो का सार भगवान का नाम

एषा भूताना पृथिवी रस पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस, ओषधीनाँ
पुरुषो रस, पुरुषस्य वाग्रसो, वाचोऋग् रस ऋच साम रस साम्न
उदगीथो रस ॥ छान्दो० १ १ २

पाच महा भूतो का रस सार पृथिवी है। पृथिवी का सार अन्नादि औषधियाँ हैं। औषधियो का सार पुरुष है। पुरुष का सार उसकी वाणी है। वाणी का सार ऋग् है—भगवान् की स्तुति है। ऋग् का सार साम है—स्तुति को स्वर से गाना है। साम का सार भगवान् का नाम गायन है। सब सारो का सार भगवान् का नाम है। सब सारो का सार और परमात्मा का प्रतीक होने के कारण परमात्मा के समान ही ओ३म् का जाप करना चाहिये। उसी की उपासना करनी चाहिए।

सारों का सार

स एष रसाना रसतम परम परार्ध्योऽष्टयो यदुद्गीथ ॥

छन्दो० १-१-३

वह यह आठवा सार, भगवान् का नाम है। वह सारो का सार। परम सार है, परमानन्द है। परम धाम है, सबसे बडा उत्कृष्ट स्थान है।

क्रमश

ईश्वर के नामों की पद्यमय व्याख्या (९)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

सत्-रज-तम, रस-गन्ध या, रूप-स्पर्श न लेश।
अबुधि और अल्पज्ञता, राग-द्वेष नही क्लेश ॥ ११२ ॥
इन सब गुण से रहित है, ईश्वर तत्व अनूप।
इस कारण कहते उसे, 'निर्गुण' और अरूप ॥ ११३ ॥
पावनता-सर्वज्ञता, अनन्त बल की खान।
सर्वसुख गुणयुक्त है, 'सगुण' नाम भगवान ॥ ११४ ॥
जगत-जीव गुण-रहित है, वह 'निर्गुण' परब्रह्म।
सर्वज्ञान गुण सहित है, 'सगुण' ईश जग-थम्भ ॥ ११५ ॥
जड चेतन जग में प्रभु व्यापक है सब ठौर।
'अन्तर्यामी' ब्रह्म है सर्व नियन्ता घोर ॥ ११६ ॥
ज्योतित हे प्रभु धर्म मे, केवल धर्म प्रतीक।
पाप-हित, अति न्यायप्रिय, 'धर्मराज' निर्भीक ॥ ११७ ॥
जीवो को दे कर्मफल, यथायोग्य व्यवहार।
अन्यायो मे पृथक् है 'यम' प्रसिद्ध कर्त्तार ॥ ११८ ॥
युक्त सकल ऐश्वर्य से, जगदाधार सुजान।
केवल भजने योग्य है, सुविख्यात 'भगवान्' ॥ ११९ ॥
वही मानने योग्य है, वैज्ञानिक निष्णात।
इसलिये 'मनु' नाम से, है वह जग-विख्यात् ॥ १२० ॥
जड चेतन-सब द्रव्य मे, व्याप्त सकल जग-धाम।
'पुरुष' नाम से ईश को, करते सभी प्रणाम ॥ १२१ ॥
धारक-पोषक है वही, सर्वाधार अनन्त।
'विश्वम्भर' कहते उसे योगी-मुनिजन सन्त ॥ १२२ ॥
सकल द्रव्य अरु जीव की आयु-भोग-गति चाल
नित्य तुला पर कर रहा, गणन, ईश है 'काल' ॥ १२३ ॥
सृष्टि-प्रलय के चक्र म, जो बच रहता शेष।
परमपिता परमात्मा कहलाता है 'शेष' ॥ १२४ ॥
सच्चा उपदेशक प्रभु, सकल ज्ञान मर्मज्ञ।
केवल उनको प्राप्त हो, जो असली धर्मज्ञ ॥ १२५ ॥
दम्भ कपट-छल आदि के, जितने अवगुण व्याप्त।
इन सबमे वह रहित है, तभी प्रभु है 'आप्त' ॥ १२६ ॥
सबका सुख, कल्याण ही, करना जिसका लक्ष्य।
परमेश्वर का नाम भी, 'शकर' है प्रत्यक्ष ॥ १२७ ॥
देवो का भी देव है विद्वद्वर विद्वान।
सूर्य आदि का ज्योति है, महादेव' भगवान ॥ १२८ ॥
यमराज प्रिय भक्त को, रखता सदा प्रसन्न।
सर्व-काम्य प्रभु है 'प्रिय', प्रीति-प्रेम सम्पन्न ॥ १२९ ॥
अपना कारण आप है जन्म-हेतु नही अन्य।
नाम 'स्वयम्भू' सिद्ध है, अनुपम शक्ति अनन्य ॥ १३० ॥
सब विद्याओ का करे, वेदो से उपदेश।
ज्ञान पुज 'कवि' नाम से सिद्ध वही परमेश ॥ १३१ ॥
मगलमय वह विश्व का करता है कल्याण।
परमेश्वर 'शिव' नाम है, करे दुःखो से त्राण ॥ १३२ ॥
परमेश्वर के लिख दिये, मैंने ये सौ नाम।
पर गुण, कर्म स्वभाव से, हैं अनन्त-अविराम ॥ १३३ ॥
हर गुण-कर्म-स्वभाव से, एक-एक है नाम।
ये सौ नाम समुद्र मे, बिन्दु तुल्य लो जान ॥ १३४ ॥

क्रमश

आर्य समाज बांकनेर, दिल्ली का ४८वा वार्षिकोत्सव हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न

३ व ४ अप्रैल, १९९३ को आय समाज बाकनेर दिल्ली के वार्षिकोत्सव पर मुख्य अतिथि कैप्टन भगवान सिंह, पूव भारतीय राजदूत फीजी ने आर्य समाज बाकनेर के प्रशसनीय सामाजिक कार्य की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए कहा कि यदि कोई मुझसे पूछे कि दिल्ली मे किस गाव मे कौन सामाजिक कार्य अच्छा कर रहा है तो मैं कहूगा कि बाकनेर गाव में सबसे अच्छा सुधार कार्य हो रहा है। द्रोणाचार्य पद्मश्री गुरु हनुमान ने आर्य समाज व्यायामशाला के पहलवानो व अन्य खिलाडियो की राष्ट्रीय स्तर की उपलब्धियो पर हर्ष व्यक्त करते हुए सरकार से अपील की कि इस व्यायामशाला के कुशल एव योग्य कुश्ती प्रशिक्षक श्री आनन्द प्रकाश एन आई एस को इसी व्यायामशाला मे कुश्ती प्रशिक्षक के पद पर नियुक्त कर देना चाहिए। स्वामी अग्निदेव 'भीष्म' (हिसार), स्वामी ओतानन्द, प० देवेन्द्रनाथ शास्त्री एम ए पी एच डी, प० मूलचन्द गौतम, श्री कुन्दनलाल हमदद हरियाणवी कवि आदि सन्यासी विद्वानो के मधुर एव ओजस्वी प्रवचनो ने ग्रामीण जनता को अत्यन्त प्रभावित किया।

इस शुभ अवसर पर आर्य युवको एव आर्य कुमारो को आय समाज की ओर आकर्षित करने के लिए विभिन्न प्रतियोगिताओ का सफल आयोजन किया गया। परिणाम इस प्रकार रहा—वालीबाल शूटिंग—प्रथम-युवा स्पोटस क्लब बाकनेर तथा पूठकला क्लब द्वितीय स्थान पर रहा। कबड्डी वरिष्ठ मे विजेता हरियाणा पुलिस तथा उपविजेता शक्ति स्पोट स क्लब नरेला। कबड्डी कनिष्ठ व वाली बाल मे श्री स्पोट् स क्लब बाकनेर (बी) तथा आय समाज बाकनेर (सी) विजेता रही। कुश्ती प्रतियोगिता मे प्रीतम अजय, जोगिन्दर मुकेश, जितेन्द्र, पवन, पवन (छत्रसाल), अशोक, जयपाल जयप्रकाश, जगदीश कमवीर, हसराज, सुरेन्द्र व बलराज प्रथम स्थान पर रहे तथा अशोक, राकेश, प्रदीप रमेश (छत्रसाल), ओम प्रकाश अनिल, कुलदीप, अनिल भारद्वाज, मुकेश, जयपाल, सजय, सुनील, वीरेन्द्र, विजय तथा सजय उपविजेता रहे। २६ किलो से ८२ किलोग्राम के वजन की कुश्तियो मे आर्य समाज व्यायामशाला बाकनेर के पहलवानो ने २०स्थान, छत्रसाल स्टेडियम ने ७स्थान तथा नरेला, नाहरी एव नागल ने एक-एक स्थान प्राप्त किया। आर्य समाज व्यायामशाला बाकनेर ने चैम्पीयनशिप जीती। इस खुशी से भाव-विभोर होकर गुरु हनुमान जी ने आर्यसमाज बाकनेर मे पहलवान खिलाडियो की सुविधा के लिए सभागार(हाल) बनाने की अपील की तथा स्वय इसके निर्माण करने के लिए धन एकत्रित करने का पूर्ण आश्वासन दिया। श्री मागेराम आय, प्रधान आर्य समाज बाकनेर ने हाल निर्माण हेतु ५१ हजार रुपए देने की घोषणा की। ग्रामीण जनता ने भी हाल निर्माण हेतु पूण उत्साह प्रकट किया।

दौड प्रतियोगिता मे कृष्णकुमार, राकेश राठी तथा हसराज क्रमश प्रथम, द्वितीय तथा ततीय स्थान पर रहे। निबन्ध तथा भाषण प्रतियोगिताओ मे सुभाषचन्द्र, मीनाक्षी व्यास क्रमश प्रथम स्थान, मीनाक्षी व्यास व विजयकुमार क्रमश द्वितीय स्थान पर तथा मजु एव योगेश क्रमश तृतीय स्थान पर रहे। इस शुभ अवसर पर आय समाज व्यायामशाला बाकनेर के प्रान्तीय एव राष्ट्रीय स्तर की कुश्ती मे २३, कबड्डी मे ५, वालीबाल मे ४ तथा हाकी मे २० खिलाडियो को प्रशिक्षण देने वाले श्री सत्यनारायण दहिया एव श्री आनन्द प्रकाश एन आई एस कुश्ती प्रशिक्षक को भी सम्मानित किया गया। श्री मागेराम आय प्रधान आय समाज बाकनेर ने ग्रामीण जनता के भरपूर सहयोग का हार्दिक धन्यवाद दिया।

मेहरलाल पवार, मत्री आय समाज बाकनेर (दिल्ली)

—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार, सवशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सवव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करने योग्य है।

—वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है। वेद का पढना पढाना और सुनना-सुनाना सब आर्यो का परम धर्म है।

—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यम रहना चाहिए।

—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहियें।

महात्मा हंसराज

(पृष्ठ ३ का शेष)

हसते-हसते अपना यौवन, तन-मन धन लुटा दिया।

जीवन की चौथी अवस्था मे—लगभग ७५ वष की आयु मे गृहस्था को सन्यास लेने का विधान है अर्थात सब प्रकार स इन्द्रिय निग्रह करके, सूय की तरह से चमकते हुए काय में लगना। परन्तु इस नवयुवक ने तो अपनी उभरती हुई जवानी मे ही अपनी सब इच्छाओ को मार, इन्द्रिय निग्रह करके सन्यासी के दो कर्म—'त्याग' और 'प्रचार'—काय को अपने जीवन का ध्येय बना लिया था।

महात्मा जी सन् १८८५-१९१२ तक उत्तर भारत मे शिक्षा सस्थाओ का जाल बिछाकर अज्ञान और अन्धकार को दूर करने के कार्य के साथ-साथ आय समाज के प्रचार मे जुटे रहे। वहा सन् १९१२ मे सेवा निवृत्त हो अगले २६ वष जीवन के अन्त (१९३८) समय तक वे आर्य समाज के प्रचार प्रसार मे लगे रहे।

उनके जीवन के अध्ययन से पता चलता है कि वे अपने ध्येय—सादा जीवन त्याग, तपस्या और ऊचे विचारो के साथ-साथ, दुनिया के लोगो को निन्दा, प्रशसा, प्रेम, घृणा की उपेक्षा करके ईश्वर पर विश्वास कर ईमानदारी के साथ अपने सुनिश्चित सेवा काय मे रत रहे।

महात्मा हसराज जी के पवित्र जन्म दिवस के अवसर पर आय समाज के नेताओ को बडी गम्भीरता पूर्वक महात्मा जी के जीवन से प्रेरणा लेकर कुछ ऐसे कदम उठाने चाहिए जिससे आर्य समाज के प्रचार-प्रसार मे पहले जैसी तीव्र गति दिखाई देने लगे और इस प्रकार महर्षि दयानन्द जी के स्वप्नो को साकार करने मे सफल हो यही सच्ची श्रद्धांजलि महात्मा हसराज जी को होगी।

श्री ओमप्रकाश गुप्ता को पत्नी शोक

नई दिल्ली २३ अप्रैल। आर्य समाज तिमारपुर, दिल्ली के कमठ सदस्य श्री ओमप्रकाश गुप्ता की धमपत्नी का १२ अप्रैल को निधन हो गया। वे ६७ वर्ष की थी और पिछले कुछ समय से बीमार चल रही थी। उसी दिन निगम बोध घाट पर उनका उनका अन्त्येष्टि सस्कार किया गया और सैकडो लोगो ने उनके अन्तिम दशन कर श्रद्धासुमन अर्पित किये।

श्रीमती मूर्ति देवी ईश्वर मे अटूट विश्वास रखने वाली सरल व मधुर स्वभाव की एक धम परायण पतिव्रता नारी थी। २३ अप्रैल को उनके निवास पर शान्ति यज्ञ एव रस्म पगडी सम्पन्न हुयी जिसमे अनेक धार्मिक व सामाजिक सगठनो के प्रतिनिधियो ने उन्हे भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की। उनके भरे पूरे परिवार मे चार पुत्र एव चार पुत्रिया हैं। परमपिता परमात्मा से प्राथना है कि दिवगत आत्मा को शान्ति एव परिवार जनो को दुख सहने की शक्ति प्रदान करे।

आर्यसमाज स्थापना दिवस सम्पन्न

आर्यसमाज नजफगढ नई दिल्ली द्वारा २२ मार्च को आर्य समाज स्थापना दिवस स्वामी मनीषानन्द जी की अध्यक्षता में धूमधाम से मनाया गया। कार्यक्रम में लो दहेज लो व सत्य की डगर में दयानन्द नामक दो नाटिका मुजफ्फरनगर से आई २० आर्यमित्रों की टोली ने प्रस्तुत की। प्रचारक श्री नारायण सिंह आर्य एवं समाज के प्रधान श्री रघुनाथ सिंह आर्य ने भी विचार व्यक्त किये।

—आर्य समाज बम्बई (काकड़वाड़ी वी० पी० रोड) में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा (२४ मार्च ९३) को आर्यसमाज स्थापना दिवस मनाया गया। हजारों आर्यजनों ने इस समारोह में भाग लिया। बृहद्यज्ञ एवं ओमध्वजा के आरोहण के बाद एक विराट सभा हुई जिसमें कैप्टेन देवरत्न आर्य श्री मंगलसेन चोपड़ा डा० सोमदेव शास्त्री डा० वागीश आचार्य आदि विचारकों एवं नेताओं ने अपने विचार व्यक्त किये। इस अवसर पर जनसत्ता के सम्पादक श्री राहुलदेव जी ने भी सभा को सम्बोधित किया। समारोह की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री मिठाईलाल सिंह जी ने की।

वक्ताओं ने आज की राष्ट्रीय तथा मानवीय समस्याओं के सन्दर्भ में आर्यसमाज का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और कहा कि आर्यसमाज की विचारधारा से जुड़कर चले बिना देश तथा समूची मानवता की समस्याओं का स्थायी समाधान सम्भव नहीं है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा सर्वप्रथम स्थापित आर्यसमाज बम्बई के प्रधान श्री झाऊलाल शर्मा ने आगन्तुक विद्वानों विशिष्ट अतिथियों का स्वागत किया तथा मन्त्री श्री राजेन्द्र पाण्डेय ने हार्दिक धन्यवाद व्यक्त किया।

बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री धर्मवीर गुलाटी ने सभा के कार्यक्रम का संयोजन तथा संचालन श्री देवदत्त शर्मा ने किया।

—नगर आर्य समाज गोरखपुर के तत्वावधान में २४.३.९३ को प० राम प्रसाद 'बिस्मिल' स्मारक लालडिग्गी उद्यान पर नव संवत्सर एवं आर्य समाज स्थापना दिवस यज्ञोपरान्त मनाया गया। आर्यसमाज स्थापना दिवस पर जिला सभा के अध्यक्ष प० द्विजराज शर्मा ने बताया कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन १८७५ ई० में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की विश्व में वैदिक ज्ञान की प्रेरणा जगाई। उन्होंने यह भी बताया कि आज के ही दिन विक्रमी संवत की भी नींव पड़ी थी। बैठक की अध्यक्षता नगर आर्य समाज के प्रधान प्रो० सत्यदेव आर्य एवं संचालन मन्त्री श्रृंगारवती आर्या ने किया। अन्य वक्ताओं में जिला सभा के मन्त्री श्री रमेश प्रसाद गुप्त श्री रजित नन्दन लोहिया किशुन प्रसाद वर्मा श्रीमती कलावती आर्या सरस्वती आर्या सावित्री आर्या आदि अनेकों ने अपने विचार व्यक्त किए।

श्रृंगारवती आर्या मन्त्री
नगर आर्य समाज साहबगंज गोरखपुर

प्रवेश सूचना

महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म भूमि टंकारा में ३५ वर्षों से श्री महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट द्वारा उपदेशक महाविद्यालय का संचालन हो रहा है। पाठ्यक्रम चार वर्षों का है। छात्रों को वेद उपनिषद दर्शन शास्त्र संस्कृत व्याकरण सत्यार्थ प्रकाश ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका आदि महर्षि दयानन्द कृत ग्रन्थों का व अंग्रेजी तथा आर्य भाषा का अध्ययन कराया जाता है। प्रवेश के इच्छुक १६ से २५ वर्ष आयु के अविवाहित निर्व्यसनी विनम्र भारतीय (वैदिक) साहित्य व संस्कृति के प्रति निष्ठावान संस्कृत विषय के साथ मैट्रिक परीक्षा अथवा तत्समकक्ष संस्कृत परीक्षा (अंग्रेजी विषय के साथ) उत्तीर्ण छात्रों द्वारा आवेदन पत्र स्वीकृत होंगे। नया सत्र-जुलाई १९९३ से प्रारम्भ। आवेदन पत्र ३१ मई तक इस कार्यालय में प्राप्त होने चाहिए। इस विद्यालय में शिक्षा भोजन-आच्छादनालेखन सामग्री पाठ्य पुस्तकें वस्त्र आदि की निःशुल्क व्यवस्था है।

सम्पर्क सूत्र —
श्री महर्षि दयानन्द अन्तराष्ट्रीय उपदेशक
महाविद्यालय टंकारा जि राजकोट (सौराष्ट्र) पिन ३६३६५०

१ सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

भाईचारे का सन्देश

(पृष्ठ १ का शेष)

स्वामी आनन्द बोध ने स्वास्थ्य को जीवन की अनमोल निधि बताते हुये कहा कि कम खाओ गम खाओ एवं नियमित रूप से व्यायाम करने से मनुष्य स्वस्थ व निरोग रह कर और अधिक जन सेवा का कार्य कर सकता है।

स्वामी जी ने आर्यजनों का आह्वान किया कि वे कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष करके वैदिक धर्म का प्रचार प्रसार करते रहें।

कार्यक्रम की अध्यक्षता दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने की। डा० धर्मपाल ने कहा कि संगठन सूत्र का मन्त्र ओम स गच्छध्वं स वदध्वं स वो मनांसि जानताम। देवा भागं यथा पूर्वे स जानाना उपासते।। हम आर्य जनों को कर्त्तव्य का बोध कराते हुये उपदेश देता है कि हमें मिल जुलकर प्रेमपूर्वक आर्य समाज का काम आगे बढ़ाना चाहिए यही यज्ञ का सच्चा अर्थ है। उन्होंने आगे कहा कि बुराइयों का त्याग कर अच्छाइयां ग्रहण कर जीवन में आर्यत्व लाना चाहिए तभी संसार में वेद का सन्देश फैलेगा।

आचार्य रामदत्त शर्मा के ब्रह्मत्व में आज यजुर्वेदीय पारायण यज्ञ भी प्रारम्भ हुआ जिसकी पूर्णाहुति २५ अप्रैल को होगी। उसी दिन दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव की अध्यक्षता में एक विशाल राष्ट्र रक्षा सम्मेलन भी होगा जिसके मुख्य अतिथि केन्द्रीय मन्त्री श्री जगदीश टाइटलर एवं अन्य आर्य नेता व विद्वान प्रेरक सम्बोधन देंगे। समारोह में श्री टाइटलर विभिन्न प्रतियोगिताओं के विजेताओं को भी पुरस्कृत करेंगे।

कार्यक्रम का संचालन समाज के मन्त्री श्री तेजपाल मलिक ने किया। सभी वक्ताओं ने अनुपम यज्ञशाला के निर्माण के लिए पदाधिकारियों को बधाई दी। समाज द्वारा संचालित आदर्श स्कूल के बच्चों ने ईश्वर भक्ति व राष्ट्र प्रेम के मनमोहक गीत प्रस्तुत किये। इससे पूर्व समाज व अनेक संस्थाओं के अधिकारियों ने पुष्पहारों द्वारा अतिथियों का स्वागत किया

आर्य वीर दल चेतना शिविर

महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत मे आय समाज एव आय वीर दल के कार्य का प्रेरणा के उद्देश्य से एक ग्रीष्मकालीन आर्य वीर दल चेतना शिविर का आयोजन किया है।

७ से १६ मई, १९९३ तक पुणे (महाराष्ट्र) मे लगने वाले इस शिविर मे सावदेशिक आयवीर दल के प्रधान सचालक डा० देवव्रत जी आचाय मागदर्शन करेंगे। यह प्रथम एव द्वितीय श्रेणी का शिविर रहेगा। १४ वर्ष से अधिक आयु वाले युवक इस शिविर मे सम्मलित हो सकेंगे। प्रवेश शुल्क केवल रु ५ सी/-प्रति छात्र रहेगा। शिविरार्थी अपने साथ गणवेश मे सफेद कमीज बनियान, मोजे, ब्राउन जूते बिछौना, थाली, कटोरी, लोटा, पेन, आदि साहित्य लाये। आय परिवारो के युवक जो शिविर में सम्मिलित होना चाहते हैं वे प्रवेश शुल्क तथा आवेदन पत्र अपने आय समाज द्वारा भेजकर स्थान आरक्षित करें।

मन्त्री आर्य समाज पिपरी पिपरी पुणे-४११०१७
दूरभाष (०२१२) ८७४०७।

आर्य समाज गोसपुरा नम्बर १ का वार्षिकोत्सव सम्पन्न

उपनगर ग्वालियर के गोसपुर नबर १ के आर्य समाज का सातवा वार्षिकोत्सव मनोरजनालय प्रागण, बिरलानगर मे २२ से २४ मार्च ९३ को सम्पन्न हुआ। श्री नेत्रपाल जी शास्त्री दिल्ली, पूज्यपाद स्वामी श्री शिवानन्द जी भरतपुर, श्री प्रेमप्रकाश जी गाघी यज्ञ के ब्रह्मा गाधीनगर, ग्वालियर तथा भजनोपदेशक श्री नरदेव जी आय सगीताचार्य, भरतपुर (राज०) के प्रवचनो एव मधुर व उद्बोधक गीतो मे बिरलानगर, ग्वालियर एव लश्कर व मुरार के जिज्ञासुओ के समुदाय ने भरपूर लाभ उठाया।

उक्त कायक्रम मे श्री बाबूलाल जी आर्य, भूतपूर्व सचालक, शिक्षा विभाग मध्यप्रदेश की अध्यक्षता मे महत्वपूण प्रस्ताव पारित किये गये। सभी कायक्रमो की सफलता मे मन्त्री श्री दीपचन्द आर्य, के अथक प्रयत्न व सभी सभासदो का सहयोग सराहनीय रहा।

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R N No 32387/77 Posted at N D P S O on 22 23-4-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/93

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल ११०२४/६३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू (सी०) १३६/६३

व साप्ताहिक "आर्यसन्देश" २५ अप्रैल १९६३

अन्तर्राष्ट्रीय युवक अधिवेशन

नई दिल्ली आर्यन यूथ लीग साऊथ अफीका के तत्वावधान मे जनवरी-फरवरी, १९९४ मे अन्तर्राष्ट्रीय युवक अधिवशन आयोजित किया जा रहा है। अधिवेशन के दौरान भोजन व आवास की नि शुल्क व्यवस्था होगी परन्तु हवाई यात्रा एव भ्रमण का व्यय प्रतिनिधियो को स्वय करना होगा।

लीग के लक्ष्य विभिन्न देशो के युवाओ द्वारा राजनैतिक, सास्कृतिक व धार्मिक क्षेत्रो मे विचारो का आदान प्रदान (२) पर्यावरण व ओजोन छत्तरी के बारे में विचार विमश (३) ड्रग्स आत्महत्या तनाव के कारण व निवारण के उपाय (४) विदेशो मे बसे भारतीयो की स्थिति (५) आर्य समाज म युवको की भूमिका का निर्धारण करना।

इगलेंड व मारीशस के युवा प्रतिनिधि शामिल हो रहे हैं। अधिवेशन मे भाग लेने वाले युवक गोष्ठियो मे भाग लेंगे एव पेपर पढेंगे। केवल इच्छुक युवा प्रतिनिधियो के नाम ३० अप्रैल, १९९३ तक भेजे जायें।

R Benimadhv (Miss)
A Bhogal
Joint Secretaries
Arvan youth Leauge
179 Umbba ngane Road
Avoca Durban 4051, South Africa

चिकागो मे तृतीय आर्य महासम्मेलन

नई दिल्ली, आर्य प्र तनिधि सभा अमेरिका के तत्वावधान मे चिकागो मे १० ११ जुलाई, १९९३ को तृतीय आर्य महासम्मेलन हो रहा है। इसमें भारत, अफीका इगलेंड दक्षिण अफीका, केनेडा एव विश्व के अनेक भागो से प्रतिनिधि वैदिक धर्म क प्रचार प्रसार के लिए भाग ले रहे हैं। अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करे

Virender Kumar
Cuordinaton, Arya Mahasam elcan
1906, STODDARD Ave, Wheaton, IL 60187
Phone 708/682-9877

सत्यार्थ-प्रकाश पत्राचार प्रतियोगिता

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आयोजित सत्यार्थ प्रकाश पत्राचा प्रतियोगिता मे १०+२ अथवा समकक्ष योग्यता वाले १८ से ४० वर्ष के प्रतियोग भाग ले सकते हैं। विषय महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश तथा माध्यम हिन्दी ए अग्रेजी। रोल नम्बर, प्रश्न पत्र व विवरण के लिए बीस रुपये का मनी आर्ड रजिस्ट्रार परीक्षा विभाग सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महर्षि दयानन्द भव रामलीला मैदान, नई दिल्ली को भेजे। उत्तर पुस्तिका भेजने की अन्तिम ति ३१ ८ १९९३ पुरस्कार प्रथम द्वितीय व तृतीय क्रमश ११ हजार, ५ हजार त २ हजार।

सेवा में—

मत्री जी
पुस्तकालय
कागड़ी विश्वविद्यालय
(उ प्र)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्र म पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/—६३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

वर्ष १६, अंक ३० रविवार, २ मई १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३
मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

आर्य समाज तिमारपुर मे राष्ट्र रक्षा सम्मेलन

आर्यसमाज धर्म, जात-पात से ऊपर उठकर राष्ट्र रक्षा के लिए काम कर रहा है —जगदीश टाइटलर

देश-द्रोहियों को सरेआम फांसी दी जाए —सूर्यदेव

दिल्ली २५ अप्रैल आर्य समाज तिमारपुर का १९ अप्रैल से प्रारम्भ हुआ वार्षिकोत्सव राष्ट्र रक्षा सम्मेलन, पुरस्कार वितरण एव यजुर्वेद पारायण महायज्ञ की पूर्णाहुति के साथ आज नवनिर्मित भव्य यज्ञशाला मे समारोहपूवक सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध आर्य नेता एव दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव ने की।

राष्ट्र रक्षा सम्मेलन

श्री जगदीश टाइटलर, भूतल परिवहन मन्त्री भारत सरकार ने राजधानी की विभिन्न आय समाजो व शिक्षा सस्थाओ से पधारे आय महानुभावो व बच्चो को सम्बोधित करते हुए कहा कि आज जहा एक ओर पाकिस्तान, कश्मीर व पजाब आदि मे गडबड पैदा कर रहा है वहीं दूसरी ओर देश मे गद्दार जात-पात धम, अमीरी-गरीबी आदि के नाम पर देश को तोडन मे लगे है। अत हमे इनसे सावधान रह कर देश की एकता के लिए काम करना है। श्री टाइटलर ने कहा कि यह प्रसन्नता की बात है कि आज आय समाज ही दश म धार्मिक सकीणता जात पात, छूआ छूत आदि से ऊपर उठकर देश की अखण्डता को सुदढ करने के लिए आवाज बुलन्द कर रहा है। आय समाज द्वारा राष्ट्र की एकता के लिए काम करना ही आय समाज की सबसे बडी देन है और राष्ट्र रक्षा के लिए सम्मेलन का आयोजन करना मुझे बहुत अच्छा लगा। श्री टाइटलर न आग कहा कि जो आज देश के खिलाफ आवाज उठाता है वह देश का सबसे बडा दुश्मन है और हमे उनसे सजग रहना है। उन्होने आगे कहा कि नन्हे-मुन्ने बच्चे देश का भविष्य ह, हमे सोचना है कि हम इन्हे कैसा देश देना चाहते हैं। आय समाज को बच्चो को अच्छे सस्कार दकर एव उनका चरित्र निर्माण कर देश की सेवा करते रहना चाहिए।

श्री जगदीश टाइटलर को क्षेत्र की श्रेष्ठ समाज सेवाओ के लिए श्री सूयदेव ने स्मृति चिह्न एव वैदिक साहित्य भेंट कर सम्मानित किया।

ओजस्वी वक्ता श्री सूयदेव ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा कि देश की अस्मिता पर जब भी प्रहार होता है तो आय समाज तडप उठता है और जब देश का विकास व निर्माण होता है तो आय समाज खिल जाता है। श्री सूयदेव ने आगे कहा कि महर्षि दयानन्द ने सबसे पहले स्वराज्य का उद्घोष किया था और आर्य-समाज ने देश की आजादी के लिए अनेक कुर्बानिया दी हैं। ऋषि दयानन्द सत्य के सबसे बडे पुजारी थे और उन्होने सत्य का प्रचार करते हुये अपने जीवन का बलिदान दिया। परन्तु आज दुख की बात है कि सत्य को सत्य नही कहा जाता। जो वोट की राजनीति के कारण पापी को पापी, अपराधी को अपराधी और देश द्रोही को देशद्रोही नही कह सकता। राष्ट्र की रक्षा हमारे जीवन मरण का प्रश्न है और राष्ट्र रक्षा के लिए राष्ट्रद्रोहियो को सरेआम फासी लगाने से नही हिचकना चाहिए।

श्री सूयदेव ने कहा कि आश्चय की बात है कि आज देश का राष्ट्रीय प्रैस अलगाववाद व विघटनकारी तत्वो के कार्यों की अच्छी कवरेज देता है परन्तु राष्ट्र रक्षा व राष्ट्र निर्माण की बात करने वालो को प्रमुखता मे नही छापता है। श्री सूयदेव ने आय जनो को मिल-जुलकर व सगठित होकर राष्ट्र की एकता व अखण्डता को सुदृढ करने का सकल्प लेने का आह्वान किया।

श्री सूयदेव ने कहा कि शराब के प्रचलन के कारण देश के भावी कणधार नवयुवक आज इसे पीकर बर्बाद हो रहे है उन्होने मन्त्री महोदय से अनुरोध किया कि वे अपने पद के प्रभाव का सदुपयोग कर मद्य-निषेध के लिए कुछ काय करें। उल्लेखनीय है कि आर्य समाज शराबबन्दी के लिए प्रारम्भ से ही सघर्ष करता आया है। श्री सूयदेव न आगे कहा कि बच्चे राष्ट्र की अनमोल निधि है इसलिए उनको अच्छे सस्कार देकर एव उनका चरित्र निर्माण कर हम राष्ट्र की रक्षा मे अग्रसर हो सकते है। इसके लिए प्रतियोगिताओ का आयोजन जरूरी है।

दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धमपाल ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि लोभ व भय के कारण आदिवासी, गिरिजनो व हरिजनो का धम परिवतन किया जा रहा है वह राष्ट्र की रक्षा म सबसे बडा बाधक है। केवल आय समाज ही एक ऐसी सस्था है जो इस धर्मान्तरण के विरुद्ध आवाज उठा-कर बिछुडे भाईयो को पुन वैदिक धर्म मे दीक्षित कर महत्वपूण काम कर रही हैं। उन्होने कहा कि आज शकराचार्यों द्वारा मदिरो मे हरिजनो के प्रवेश पर जो आपत्ति नही की जाती है, यह वैदिक धम की ही जीत है। ऋषि दयानन्द व आय समाज ने तो शुरू से छुआ छूत के विरुद्ध महत्वपूर्ण काम किया है। समाज सुधार, राष्ट्र रक्षा व राष्ट्र निर्माण का मूल मन्त्र है।

डा० धमपाल ने आगे कहा कि मनु महाराज द्वारा बताये धम के दस लक्षणो पर आचरण कर, सस्कृति व सस्कृत भाषा की रक्षा कर हमे राष्ट्र रक्षा के लिए काम करते रहना चाहिए।

ऐटा गुरुकुल के आचाय रामदत्त जी शर्मा ने अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि ईश्वरीय ज्ञान, वद, देववाणी सस्कृत एव राष्ट्र भाषा हिन्दी हमारी सस्कृति का आधार है। जो देश अपनी भाषा पर गव करता है, उसे सम्मान देता, है उसे

(शेष पृष्ठ ४ पर)

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

एक नारी–स्थितियां अनेक

भगवान देव "चैतन्य"

आज जब कभी भी पुरुष के साथ नारी की क्षमता की बात पढने व सुनने को मिलती है तो मुझे बहुत ही आश्चर्य होता है। वास्तव में इस प्रकार की तुलनाओ से आपस मे जो प्रेम,सौहार्द और सेवा का वातावरण बना होता है उसमे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे एक कटुता-सी आ जाती है। आज अधिकतर गृहस्थियो की यही स्थिति है जहा प्रत्येक कार्य को एक स्त्री या पुरुष के अहकार की भूमिका या स्थिति को लेकर आका जाता है। इसलिए टकराव का होना स्वाभाविक है। आज नारी समता की बात करती है मगर वह यह भूल गई है कि वास्तव मे वह तो पुरुष से बहुत महान है। वेदादि सत्य शास्त्रो मे नारी की महानता को देखा जा सकता है। वहा नारी को ब्रह्मा की सज्ञा दी है मगर जिन गुणो और गरिमाओ को मद्देनजर रख कर उसे इतना महान पद दिया गया था। आज उन गुणो का अभाव सा हो गया है। नारी भी पुरुष के साथ-साथ गुणो के आधार पर अपनी स्थिति से नीचे गिरी है इसीलिए उसे पुरुष के साथ समता स्थापित करने के लिए नारा देकर बाजार मे आना पडा है। इसके विपरीत यदि अपने गुणो को वह पुन धारण कर ले तो स्वत ही वह पुरुष से आज भी महान बहुत महान है। नारी क्यो और कैसे इस स्थिति पर पहुची कि उसे पुरुष के बराबर होने के लिए भी सघर्ष और होड की पक्ति मे खडा होना पडा। इसे हम अतीत के परिप्रेक्ष्य मे इस प्रकार देख सकते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया कि वैदिक काल मे नारी अपनी गरिमा के उच्चशिखर पर थी। उसका मान-सम्मान होता था। उसे समाज मे बहुत ऊचा स्थान प्राप्त था। यही नहीं वे वेद मन्त्रो की द्रष्टा थी। भारती मदालसा लोपामुद्रा आदि अनेक नारिया ज्ञान गरिमा की प्रत्यक्ष उदाहरण रही हैं। उस काल मे नारिया जैसा चाहती थीं अपनी सन्तानो को बनाने की सामर्थ्य रखती थी। विद्वत समाज मे उनके लिए विशेष स्थान था। कालान्तर मे विशेष रूप से महाभारत काल तथा उसके तुरन्त बाद का काल जहा हमारे सामाजिक, राजनैतिक और पारिवारिक पतन का काल था वही पर नारी भी पतन की गहराईयो की ओर मुड गई थी। सामाजिक परिस्थितियो ने इस प्रकार से मोड लिया कि नारी पुरुष पर न केवल पूर्णरूप से आश्रित हो गई बल्कि वह उसके हाथो का खिलौना मात्र बनकर रह गई। मुसलमानो के आने के बाद तो केवल मात्र भोग की सामग्री ही समझी जाने लगी। तत्कालीन सन्तो और कवियो का दृष्टिकोण भी नारी के अनुकूल नही रहा और उन्होने भी नारी को इस स्थिति से ऊपर उठाने के स्थान पर उसे तिरस्कृत ही किया। कबीर ने नारी के बारे मे बहुत सी ऐसी बातें लिखी है जो न केवल अविश्वसनीय है बल्कि बहुत ही आपत्तिजनक भी है। उन्होने नारी को माया, विकार और अत्यधिक तिरस्कार करने योग्य घोषित किया। उन्हे नारी का और कोई रूप दिखाई ही नही दिया। उनकी दृष्टि मे नारी एक ऐसी बीमारी है जिसकी छाया मात्र से ही भुजग मर जाता है। यही नही वे तो कहते हैं —

नारी तो हम भी करी किया नही विचार।
जब जाना परिहरि नारी बडा विकार।।

यही नही कवि का काव्य अनेक ऐसी ही भावनाओ से परिपूर्ण है जो नारी के समूचे व्यक्तित्व का मूल्याकन न करके एकाकी पक्ष को ही देखता है। कई और कवियो ने भी नारी के प्रति इसी प्रकार के विचार प्रकट किए है। यहा तक कि महाकवि तुलसी भी कह उठते हैं —

ढोल गवार शूद्र पशु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी।।

यही नही उन्होने तो अपने रामचरित्र मे ऐसे-ऐसे फतवे दिए हैं कि नारी के सुधार की भी कोई सभावनाए नही हैं।

राजपूत काल मे नारियो की ओर भी अधिक दयनीय दशा हो गई। यह ठीक है कि उस काल मे कुछ एक ऐसी वीरागनाए हुई हैं जो अपनी बहादुरी और जिन्दादिली के लिए एक इतिहास बन गई हैं मगर जहा तक समूची नारी जाति का सम्बन्ध था उसकी बहुत ही अधिक दयनीय स्थिति थी। यहा तक कि बेटी के जन्म तक को भी बहुत ही बुरी दृष्टि से देखा जाता था। बल्कि कई बार तो स्वय अपने हाथो से उन्हें पैदा होते ही मार दिया जाता था।

नारी के पतन का यह सिलसिला रुका नही बल्कि और भी अधिक गहराता गया और वर्तमान काल तक पहुचते-पहुचते नारी की स्थिति केवल यह रह गई कि —

अबला नारी तेरी बस यही कहानी।
आचल मे है दूध और आखो मे पानी।।

भारतीय नव जागरण काल ने जहा स्वतन्त्रता और सामाजिक उन्नति के नए द्वार खोले वही नारी के भाग्य के सदियो से बन्द पडे द्वार भी मानो खुल पडे। इस काल मे कुछेक ऐसे महापुरुष हुए जिन्होने न केवल स्वतन्त्रता के दरवाजे खटखटाए बल्कि समाज सुधार के चतुर्दिक प्रयास प्रारम्भ किए। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी इस समाज सुधारको मे सबसे प्रमुख रहे क्योकि उनका कार्यक्षेत्र बहुआयामी था। जहा तक नारी जागरण की बात है उसके दरवाजो को सतीप्रथा रोकने के रूप मे श्री राजा राममोहनराय ने खटखटाया तो जरूर था मगर इस दिशा मे भी दयानन्द जी ने ही ठोस कार्य किया क्योकि उन्होने इस समस्या के मूल मे जाकर इसका समाधान निकाला। शिक्षा के अभाव मे ही नारी अब तक पिसती चली आ रही थी।

इसलिए दयानन्द ने सबसे पहले नारी के शिक्षित होने पर ही बल दिया। इसके लिए हालाकि उनका समाज के तथाकथित ठेकेदारो ने बहुत ही बडा विरोध किया मगर उन्होने शिक्षा का प्रचार-प्रसार करके नारी की चतुर्दिक उन्नति के दरवाजे खोल दिए। उन्होने मनु महाराज के शब्दो मे इस बात की घोषणा की कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" अर्थात जहा नारियो का आदर सम्मान होता है वहा पर देवतागण निवास करते हैं और जहा इनका तिरस्कार होता है वहा से सभी सुख नष्ट हो जाते हैं। उस काल मे जब नारी का प्रत्येक क्षेत्र मे घोर विरोध हो रहा था इस प्रकार की घोषणा करना अप्रत्याशित ही था मगर महर्षि दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज अपनी समग्र शक्ति से नारी के उत्थान मे लग गया। पहले जिन लोगो ने विरोध किया था वे भी राह पर आ गए और नारी के लिए शिक्षा का क्षेत्र खुल गया। आज नारी बडे से बडे पद को शोभायमान कर रही है तथा उसका प्रत्येक स्थान पर आदर और सम्मान है मगर नारी आज भी यदि पतित है या पद दलित है तो इसकी वह स्वय भी कुछ हद तक कारण है क्योकि वह आज नारी की प्राचीन ज्ञान गरिमा से बहुत ही नीचे उतर गई है। वह पाश्चात्य रग मे रग कर अपने महान होने का दिखावा भर कर रही है। यदि वह वास्तव मे नारी के गुणो को ग्रहण करके अपनी गरिमा को स्थापित करने का प्रयास करे तो वह आज भी न केवल पुरुष के बराबर है बल्कि पुरुष से कही उच्च स्थान पर है।

नारी को अपनी गरिमा स्थापित करने के लिए न तो नारो की आवश्यकता है और न ही क्लबो और पार्टियो मे नग्न होकर कैबरे और ब्रेक डास करने की। वह आज भी यदि महान बन सकती है तो केवल मात्र अपने गुणो के आधार पर ही। इसी ओर आज नारी को सबसे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। उसे इस बात को भी नही भूलना चाहिए कि उसका मुख्य कार्यक्षेत्र चौराहे नही बल्कि घर ही है।

१९०/एस-३ सुन्दर नगर
(हि० प्र०)

—वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है। वेद का पढना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।
—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यम रहना चाहिए।
—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहियें।

निगरानी तो करनी ही पड़ेगी

—डा० नरेन्द्र कुमार, सपना ई १२०-डी प्रताप विहार, गाजियाबाद (उ०प्र०)

महर्षि दयानन्द ने सब मनुष्यो के सर्वांगीण विकास के लिए पुरजोर आवाज उठाई थी। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक एव धार्मिक जैसे अनेक पहलुओ पर विचार-विमर्श कर ऋषि दयानन्द ने एक प्रकाश पुज की धाती हम आर्यों को सौंपी थी। जिन बातो को लेकर किसी समय ऋषि के अनुयायी माननीय आर्यजन अपने प्राणो को न्यौछावर तक कर देते थे उन्ही आयजनो की वर्तमान पीढी ऋषि दयानन्द की मान्यताओ की तरफ से मुह मोडे हुए मजे से चैन की नीद ले रही है।

आर्य समाज एक ओर जहा सस्था है वहीं दूसरी ओर निरन्तर बुराइयो के खिलाफ लड़ा जाने वाला एव सदाव्रत समग्र आन्दोलन भी है। जब हम किसी बुराई के खिलाफ आवाज उठाते हैं और सयोगवश उसमे सफल हो जाते हैं तो उसे ही हम सब कुछ मानकर हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाते हैं। ध्यातव्य है कि इतने से ही आर्य समाज का उत्तरदायित्व पूरा नही हो जाता।

हमे तो जहा भी वेद प्रतिकूल, ऋषि प्रतिकूल, आचरण, रीति-रिवाज दिखाई पडें, उनका तत्काल एक होकर ईमानदारी और समय से उठकर मुकाबला करते रहना चाहिए।

यश मिले न मिले, सफल हो या असफल हो, स्वार्थ पूरा हो या न हो जैसी बातो को पूर्णतया नजरअदाज करते हुए हमे अपने कर्तव्य मार्ग पर डटना पडेगा।

कारण, आज जितने भी राजनैतिक-सामाजिक, धार्मिक सगठन हैं उनका स्वरूप हमारे सामने आए दिन उजागर होता रहता है। राजनैतिक नेताओ को हम तब से परखते आ रहे हैं जब से देश आजाद नही हुआ था। सामाजिक नेताओ का क्या हाल है। यहा छुटभैया भी नेता बन जाता है। सामाजिक कार्यकर्ता बनकर उसकी चाह एम० पी०, एम० एल० ए०, निगम अध्यक्ष आदि पदो तक सीमित हो जाती है। धार्मिक जगत मे तो और अच्छा है। धर्म के नाम जितना अधम हो रहा है वह आज स्पष्ट है। यहा तक कि धर्म का जो स्वरूप आज समाज मे चल रहा है जिस तरह से लोगो को बरगलाया जा रहा है वह उचित नहीं है। अपने स्वार्थो के लिए धर्म का इतना अधम युक्त कार्यो मे प्रयोग वर्तमान एव भावी पीढी के लिए धर्म के लिए कुआ मे मट्ठा डालने के समान सिद्ध होगी। फिर भी आर्यजन इस तरह आखें मूदे बैठे रहें तो इस देश का क्या होगा? यह तो समय बताएगा लेकिन इतना तो सत्य ही है कि एक समय वह भी आएगा जबकि लोगो को परोपकार, सत्य, ईमानदार, मेहनत आदि जैसे नैतिक शब्दो से भी बदबू आने लगेगी। क्या उस स्थिति मे यह माननीय ढाचा खडा रह सकता है।

बात हम इक्कीसवी सदी मे जाने की करते है लेकिन यहा तो बीसवी शदी का अत ही इस तरह होने को है मानो वह इक्कीसवी सदी के सुखद सपनो को चूर-चूर कर देगी।

देश आजाद हुआ। बडे खुश थे लोग। खुशी वाजिब भी थी। लेकिन आजादी जैसी विरासत को हमने किस कदर ठुकराया है उसका पता इसी बात से लग सकता है कि हम अभी भी अपनी भाषा हिन्दी को राष्ट्रभाषा न बना सके। हिन्दी को जन जन की भाषा न बना सके। ऐसे ही तमाम पहलू हैं जिन पर हमने गभीरता से विचार नही किया है। जो काम आजादी के पश्चात एक दशक मे पूरे हो जाने चाहिए थे वे कार्य साढे तीन दशक बाद भी पूरे नही किए गए हैं।

ऋषि दयानन्द ने धार्मिक एकता के लिए जो पहल शुरू की थी उसका कुछ लोगो ने अपने स्वार्थ के लिए विरोध किया। हमे इडिया का निवासी बना दिया गया। आर्य न बन सके। फिर भी आर्य समाज के सदस्य बन गए। अरे भाई! जब आर्य ही नही बने, तो आर्य समाज के सदस्य कैसे?

कितने ही कार्य ऋषि दयानन्द ने उठाए थे। हमने उन कार्यों को सिर्फ कार्य ही नही समझा। आदोलन के रूप मे जुझारु रुख न अख्तियार करके उन्हे नेताओ पर छोड दिया। ऐसे नेताओ पर जिनका देश, धर्म, जाति, सस्कृति से दूर-दूर तक का कोई सम्बन्ध नही है। आर्य समाज के रचनात्मक कार्यों मे शिथिलता आने का एक कारण यह भी है कि हमने बहुत सारे कार्यक्रम सरकार को सौप दिए और खुद आराम से चादर ओढकर सो गए।

हमारे जिन कार्यक्रमो को सरकार ने अपने हाथो मे लिया उनकी सफलता-विफलता पर विचार करना हमने क्यो छोड दिया। एक पिता जब बूढा हो जाता है, तो वह अपना कारोबार अपने पुत्रो को सौंप देता है। पर इसके साथ ही यदि वह पिता अपने बेटो पर निगरानी न रखे तो वह पिता अपनी जिम्मेदारी से मुह ही मोड रहा है न। हमारे कार्यक्रम सरकार के लिए अच्छी बात है। पर उन कार्यों की सफलता विफलता की निगरानी तो हमारी होनी चाहिए थी। हमने निगरानी करनी ही छोड दी। परिणाम यह हुआ कि दहेज प्रथा कानूनन अपराध बन गया। सती प्रथा पर सरकार ने रोक लगा दी। छुआछूत गैर कानूनी है आदि अनेक बातें हुई। लेकिन सच्चाई क्या है। क्या दहेज लेना-देना बद हुआ। कितने दहेज लोभियो को सरकार अपने कानून के पजो मे दबोच पाई। यदि दहेज प्रथा पर लगी रोक सफल हो जाती तो आए दिन युवतियो को आग की लपटो के हवाले कैसे किया जा सकता था?

बातो का हल सिर्फ बातो से नही होता। उसके लिए व्यक्तियो को अपनी सोच समझ का सहारा लेना पडता है। आज हमारी सोच समझ हम ही तक सीमित रह गई है। ऐसी स्थिति मे मात्र कानून से क्या हो सकता है। कानून का पालन व्यक्ति करता है। जब व्यक्ति कानून का पालन न करे तो सरकार क्या कर सकती है। ज्यादा से ज्यादा उसे सजा दे सकती है। सवाल है कि सरकार कितनो को सजा देगी। सरकारी पदो पर आरुढ व्यक्ति ही जब इन कानूनो की धज्जिया उडाते हैं तो पालन कौन करेगा। आप सोचिए अमीरो के लिए कानून नाम की कोई चीज क्या इस देश मे रह गई है। कानून की हिफाजत के लिए चार-छह गरीब लोगो को जेलो मे डाल देने से क्या कानून की रक्षा हो सकती है, नही, कदापि नही।

जरूरी यह है कि हम अपने आन्दोलनो को सिर्फ सरकार को सौंपने तक ही सीमित न रहे। अपनी बातो को जन-जन तक पहुचाए। कानून अपने ढग से निपटेगा। पर वैचारिक धरातल पर तो हम आर्यों को आगे आना ही पड़ेगा। सरकार आती हैं, जाती है उनके नियम कानून आए दिन बदलते रहते है पर ऋषि दयानन्द की बातें वर्षों गुजरने पर भी ज्यो की त्यो हैं। अकाट्य है सत्य हैं, जीवत हैं, निरन्तरता है। आर्यो को उन सभी आन्दोलनो को अपने हाथो मे लेना होगा। छुआछूत, दहेज, अधविश्वास, मास, मदिरा सेवन अशिक्षा आदि से हमे निरन्तर लडना पडेगा तभी हम ऋषि की वैदिकीय परम्परा को सही दिशा दे पाएगे।

आर्यसमाज तिमारपुर का राष्ट्र रक्षा सम्मेलन

(पृष्ठ १ का शेष)

व्यवहार मे लाता है, वह देश कभी भी परास्त नही हो सकता। राष्ट्र रक्षा वही कर सकता है जिसे अपनी सस्कृति से प्यार होता है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द जी सरस्वती ने मधुर भजनो के द्वारा कहा कि ऋषि दयानन्द द्वारा बताये वेद मार्ग पर चलकर एव अपने दुर्व्यसनो को दूर करके ही हम राष्ट्र रक्षा कर सकते हैं। जो दयानन्द के बताये मार्ग पर नही चलता वह राष्ट्र रक्षा तो क्या किसी की भी रक्षा नहीं कर सकता। दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान डा० सत्यकाम वेदालकार ने कहा कि अज्ञान, अन्याय व अभाव आज राष्ट्रीय एकता के सबसे बडे शत्रु हैं। आर्यसमाज शिक्षा की मशाल हाथ मे लेकर अज्ञान दूर करता रहा है। स्वामी दयानन्द ने अत्याचार व अन्याय सहने वाले को बडा पापी बताया है। डा० वेदालकार ने बताया कि स्वामी दयानन्द कहते थे कि मेरी अगुलियो को मोमबत्ती बनाकर भी जला दो तो भी मैं असत्य, अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध नही झुकूगा। डा० वेदालकार ने आगे कहा कि ऋषि दयानन्द द्वारा स्वभाषा, स्वसस्कृति व स्वधर्म की रक्षा के मन्त्र पर आचरण कर ही हम राष्ट्र रक्षा कर सकते हैं।

डा० ओमवीर सिंह ढाका ने कहा कि बच्चो का चरित्र निर्माण कर एव उनमे वीरता की भावना भरकर ही हम राष्ट्र रक्षा कर सकते हैं। आर्य समाज केशवपुरम के प्रधान श्री मनवर सिंह राणा ने कहा कि बच्चो को ठीक आहार व व्यवहार बताकर, उन्हे अच्छे सस्कार देकर एव मातृ शक्ति का सम्मान कर ही हम राष्ट्र रक्षा कर सकते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो० डा० मुहम्मद इस्माइल खा ने कहा कि आर्य समाज मे राष्ट्र प्रेम की भावना कूट-कूटकर भरी है। उन्होने कहा कि आपसी प्रेम, सद्भावना व बच्चो को अच्छी शिक्षा देकर ही हम राष्ट्र प्रेम की भावना जागृत कर सकते हैं।

पुरस्कार वितरण

श्री सूर्यदेव ने आर्य समाज तिमारपुर द्वारा बच्चो के लिए आयोजित वेद-मन्त्र, चित्रकला, निबन्ध व खेलकूद प्रतियोगिताओ के विजेताओ को पुरस्कृत किया।

वेद मन्त्र प्रतियोगिता मे प० चिरजीलाल शर्मा स्मृति चल वैजयन्ती आर्य माडल स्कूल तिमारपुर की कु० सोनिया, चित्रकला प्रतियोगिता मे श्री प्रकाश नाथ धवन, स्मृति चल वैजयन्ती आर्य विद्या मन्दिर केशव पुरम की कु० नेहा खुराना, निबन्ध प्रतियोगिता मे लाला रामेश्वर दास स्मृति चल वैजयन्ती इसी स्कूल की कु० नेहा कत्याल तथा खेल कूद प्रतियोगिता मे श्रीमती सुशील कुमारी बग्गा चल वैजयन्ती तिमारपुर स्कूल के कमल रावत को प्रदान की गयी। शेष १७ विजेताओं को भी पदक एव वैदिक साहित्य भेंट कर सम्मानित किया गया।

सम्मान कार्यक्रम

समारोह मे आर्यसमाज की श्रेष्ठ सेवाओ के लिए आर्यसमाज तिमारपुर के पूर्व प्रधान स्व रामेश्वरदास को स्मृति व वैदिक साहित्य प्रदान कर मरणोपरात सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार उनकी धर्मपत्नी श्रीमती गोमती देवी ने ग्रहण किया। अन्य सम्मानित आर्य महानुभाव हैं —आर्य समाज नागल राय के श्री युधिष्ठर वर्मा (अस्वस्थता के कारण उनके सुपुत्र डा० गयादेव वर्मा ने पुरस्कार ग्रहण किया), आर्य समाज सरस्वती विहार के श्री कृष्ण देव, अशोक विहार फेज-I आर्य समाज की श्रीमती लीलावती कपूर एव तिमारपुर की दान दात्री कर्मठ आर्य महिला श्रीमती भगवती सेठ।

आर्य समाज तिमारपुर के प्रधान चौधरी भीमसिंह ने दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव एव सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल को भी आर्य समाज का गौरव बताते हुए स्मृति चिह्न व वैदिक साहित्य प्रदान कर सम्मानित किया।

घर फूँक तमाशा—'धूम्रपान' सावधान !

डा० एस० के० भटनागर हैल्थ होम, शकरपुर विस्तार, दिल्ली-९२

बहुधा बड़े-बडे अग्निकाडो की जड होती है, बीडी-सिगरेट या जलती माचिस की तीली का लापरवाही से फेक देना फलस्वरूप धूम्रपान से अनेक घर, कारखाने, रुई के ढेर और मीले तक जलकर राख बन गई है। इस महामारी से गाव, खलिहान और शहर भी जले हैं और हजारो व्यक्तियो की जाने भी गई हैं।

धूम्रपान की शौक पूर्ति के लिए स्वास्थ्य, सम्पत्ति और बुद्धि खोकर बीमारी मोल ली जाती है। पुन स्वास्थ्य लाभ की लालसा में डाक्टरो की जेबें भरी जाती है और दवाइया खरीदी जाती हैं, जिससे परिवार का बजट लडखडा उठता है। एक रुपये से लेकर पचास रुपये रोज धूम्रपान पर व्यय करने वाले यदि जीवन भर का हिसाब लगाकर देखें, तब एक बडी-मोटी राशि को वे अपने स्वास्थ्य सदाचार और जीवन की जड खोदने में फूक डालते हैं। काश ! यह पैसा प्रारम्भ से ही समस्त परिवार की पौष्टिक खुराक पर खर्च कर दिया जाए, तब सब ओर आनन्द की लहर दौड जाए।

धूम्रपान के समय बीडी-सिगरेट के अग्रिम भाग मे लाल अग्नि स्वय में एक चेतावनी है, जो पीने वाले को नाक के नीचे और आखो के आगे होकर भी उसे दिखाई नही देती। धूम्रपान करने वाले अपने पक्ष मे अनेक प्रमाण सुनाते है—'लगे दम, मिटे गम' के साथ जो कहते हैं, उन्हे कवि के शब्दो मे सुनिये—

कुछ कहते हैं धूम्रपान से मिट जाती है शीघ्र थकान।
कुछ कहते हैं इससे होता है चिन्ताओ का अवसान।
कुछ कहते हैं धूम्रपान से बनता है आमाशय बलवान।
निराधार विश्वास कीजिए ये सारे ही अनुसधान।।

इसी प्रकार तम्बाकू से पायरिया दूर होता है तथा मुह की बदबू चली जाती है, यह भी एक बडी भ्रान्ति है। वास्तव में तम्बाकू की तेज गन्ध से मसूडे चेतनाहीन हो जाते है, उनकी दुर्गन्ध दबकर छुप जाती है। बीमारी बराबर बनी रहती है।

भारत सरकार ने १९६७ में एक पत्रिका मे तम्बाकू के विष के बारे में लोगो को चेतावनी दी थी, किन्तु जनता मे उसका कुछ प्रभाव नही पडा। यद्यपि विभिन्न देशो की सरकारे भी जनता को समय-समय पर धूम्रपान को स्वास्थ्य के लिए हानिकर बताकर सावधान करती रहती हैं, फिर भी धूम्रपान करने वालों की सख्या बढती जा रही है, विशेषकर भारतीय युवा पीढी में। बडे आश्चर्य की बात है कि ममता की मा—भारतीय नारी ने भी इस ओर, पाश्चात्य नारी की नकल की आड मे गलत कदम उठाया है। एक बार फिर छोटे मुह बडी बात कहकर मैं तम्बाकू की भयकर विष क्रिया की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हू।

(क्रमश)

यजुर्वेद महापारायण यज्ञ

१९ अप्रैल, ९३ को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती द्वारा उद्घाटित समाज मन्दिर की भव्य यज्ञशाला मे, आचार्य रामदत्त जी शर्मा के ब्रह्मत्व मे शुरू हुये यजुर्वेद महा पारायण यज्ञ की भी आज पूर्णाहुति सम्पन्न हुयी। यमुना विहार, शालीमार बाग, दीवान हाल, आर्य पुरा, नागलराय, केशव पुरम, सरस्वती विहार, किंग्जवे केम्प, अशोक विहार आदि आर्य समाजो से भी पधारे सैकडो नर नारियो ने यज्ञ मे श्रद्धापूर्वक आहुति दी। ७ दिन के इस कार्यक्रम मे आचार्य रामदत्त जी शर्मा तथा सगीताचार्य महाशय बेगराज एव साथियो के प्रात व साय दोनो समय प्रवचन व मधुर भजनोपदेश द्वारा जनता ने धर्म लाभ उठाया।

कार्यक्रम का कुशल सचालन समाज के कर्मठ युवा मन्त्री श्री तेजपाल मलिक ने किया। सर्वश्री आनन्द प्रकाश गुप्ता, दानवीर धवन एव विमलकांत शर्मा ने विशेष योगदान दिया।

अद्‌भुत वाग्मी तथा शास्त्रार्थ महारथी पं० रामचन्द्र देहलवी

डा० भवानीलाल भारतीय

अद्‌भुत वक्ता, प्रगल्भ तार्किक तथा शास्त्रार्थ समर मे प्रतिद्वन्द्वी पर विजय प्राप्त करने वाले महारथी रामचन्द्र देहलवी का जन्म मध्य प्रदेश के नीमच नगर में १८८१ वि० की रामनवमी (चैत्र शुक्ला नवमी) को पिता मुन्शी छोटेलाल तथा माता रामदेई के यहा हुआ। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जन्म दिन पर जन्म लेने के कारण नवजात बालक का नाम रामचन्द्र ही रखा गया। प्रारम्भिक शिक्षा नीमच में हुई। वे बचपन मे ही कुशाग्र बुद्धि थे। डी ए वी स्कूल अजमेर से उन्होंने मिडिल पास किया और प्रथम श्रेणी मे इन्दौर से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। १८ वर्ष की आयु में श्रीमती कमला देवी से उनका विवाह हो गया और इस प्रकार युवावस्था के आरम्भ मे ही वे गृहस्थी बन गये।

जीविका हेतु रामचन्द्र दिल्ली आये और दिल्ली के ही होकर रह गये। उन्हे अब रामचन्द्र देहलवी के नाम से ही जाना जाने लगा। प्रारम्भ में उन्होने एक अग्रेजी फर्म रैली ब्रादर्स में १५ रुपये मासिक पर कार्य किया। कुछ काल पश्चात् वे अपने श्वसुर की आभूषणो की दुकान पर स्वर्णकारी का काम करने लगे। इस कार्य में उन्हे अद्‌भुत दक्षता तथा सफलता प्राप्त हुई। ३६ वर्ष की अवस्था मे इनकी पत्नी का निधन हो गया किन्तु लोगो के बहुत आग्रह करने पर भी उन्होने दूसरा विवाह नही किया। जीविकोपार्जन के कार्य की समाप्ति पर देहलवी जी धर्म ग्रन्थो के अध्ययन मे समय लगाते थे।

उन दिनो दिल्ली के चादनी चौक में फव्वारे के निकट सप्ताह मे दो दिन मुसलमान मौलवी तथा ईसाई पादरी नियमित रूप से आकर हिन्दूधर्म पर आक्षेपो की झडी लगाते हुए कुत्सापूर्ण व्याख्यान देते और हिन्दू श्रोता चुपचाप अधोमुख होकर इन निन्दात्मक बातो को जडवत् सुनते थे। जब एक दिन प० रामचन्द्र देहलवी ने मौलवी और पादरी के इन निंदापूर्ण भाषणो को सुना तो उन्होने निश्चय किया कि वे इन बातो का दो टूक उत्तर देगे। यदि वे ऐसा नही कर पाते तो उनके स्वाध्याय का लाभ ही क्या है? अब उन्होने भी उस स्थान पर सप्ताह मे एक दिन इस्लाम और ईसाइयत के मिथ्या विश्वासो की आलोचना करते हुए व्याख्यानो का जो सिलसिला आरम्भ किया तो उससे विधर्मी प्रचारको के पाव उखड गए और देहलवी जी के इन व्याख्यानो मे नगर के लोग बडी सख्या मे आने लगे। जब श्रोताओ की अधिक भीड के कारण चादनी चौक की यातायात व्यवस्था पर असर पडने लगा तो पुलिस ने इनके व्याख्यानो की व्यवस्था गाधी-ग्राउण्ड मे कर दी। १९१० से १९२४ तक लगातार १४ वर्ष तक देहलवी जी व्याख्यान माला का यह सिलसिला चलता रहा। पत्नी और एक मात्र पुत्र के निधन से भी उनमे कोई व्यवधान नही आया।

जब देहलवी जी को कुरान के प्रामाणिक अध्यापन की आवश्यकता अनुभव हुई तो उन्होने एक अन्धे हाफिज जी को अपना गुरु बनाया और उनसे विधिवत् कलामे पाक का अध्यापन करने लगे। अब उन्होने पादरियो और मौलवियों से शास्त्रार्थ करने आरम्भ किए जिनमें उन्हे सर्वत्र सफलता मिली। देहलवी जी शास्त्रार्थों के सस्मरण रोचक, मनोरजक, शिक्षाप्रद, शास्त्रार्थकर्ता के प्रत्युत्पन्नमतित्व, विदग्धता तथा पटुता के द्योतक हैं। आवश्यकता इस बात की है कि अनेक लोगों को स्मृति मे सुरक्षित इन सस्मरणो तथा घटनाओ का प्रामाणिक सकलन किया जाकर उन्हे प्रकाशित किया जाये। वैदिक धर्म के उत्कृष्ट प्रवक्ता तथा सिद्धातो के मार्मिक व्याख्याता के रूप मे समस्त देश मे उनकी कीर्ति फैल गई और देश के कोने-कोने से उत्सवो मे उनकी माग बढती ही गई। हैदराबाद रियासत मे तो उन्होने अपने व्याख्यानो से जैसी अपूर्व जागृति फैलाई उससे भयभीत होकर निजाम शासन ने रियासत में उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध ही लगा दिया था। २ फरवरी १९६८ को देहलवी जी का निधन हुआ।

यद्यपि देहलवी जी व्याख्यान देने, शास्त्रार्थ करने तथा इसी प्रयोजन से सदा भ्रमण एव पर्यटन में ही अपना कालयापन करते थे, तथापि उन्होने कुछ उत्कृष्ट ग्रन्थो का भी रचना की है। दो सनातन सत्ताए जीव और ईश्वर का भेद निरूपित करने वाला दार्शनिक ग्रन्थ है जब १९४६ मे सिंध की मुस्लिम लीगी सरकार ने सत्यार्थ प्रकाश के १४वें समुल्लास पर यह कह कर प्रतिबन्ध लगा दिया कि इसमे कुरान की समालोचना की गई है तो देहलवी जी ने इस समुल्लास मे उद्धृत कुरान की आयतो का देवनागरी मे रूपान्तर एव हिन्दी अनुवाद कर यह सिद्ध किया कि स्वामी जी की समीक्षा पूर्णत मुक्ति युक्त है। उन्होने एक अन्य ग्रन्थ में अन्य मतावलम्बियो के लिए कुरान मे प्रयुक्त अत्यन्त उत्तजक एव कठोर वाक्यो का सग्रह भी किया। उनके अन्य ग्रन्थ है—ईश्वर सिद्धि, ईश्वरोपासना, धर्म और अधर्म, ईश्वर मे अविश्वास क्यो? विद्यार्थी और सदाचार, ईश्वर पूजा का वैदिक स्वरूप, इजील के परस्पर विरोधी वचन, पौराणिको से से शास्त्रार्थ का विषय निश्चित करते समय ध्यान मे रखने योग्य बात। जब टेपरेकार्डर का प्रयोग होने लगा तो देहलवी जी के अनेक व्याख्यान इस यत्र के द्वारा सुरक्षित कर लिये गये और उनको पुस्तकाकार प्रकाशित भी किया गया। ऐसे ग्रन्थ हैं—ईश्वर ने दुनिया क्यो बनाई?, पूजा-क्या क्यो और कैसे?, वेद का इस्लाम पर प्रभाव। उन्होने कुरान के सूरए बकर तथा सूरए फातिहा का हिन्दी अनुवाद भी किया था। उनके निधन के पश्चात् प० जगदीश विद्यार्थी (स्वामी जगदीश्वरानन्द) ने उनके विविध लेखो को देहलवी लेखावली के रूप में सगृहीत कर वेदप्रकाश के विशेषाक रूप मे प्रकाशित किया था।

नन्दन वन जोधपुर

कुछ चुने हुए वेदमन्त्रो के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

ओ३म् भूर्भुव स्व। तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचोदयात्।

(१)

सब शक्ति सम्पन्न-सच्चिदानन्द अनन्त स्वरूप प्रभो।
ज्ञान-मुक्ति-परिपूर्ण दयानिधि, न्यायाधीश अनूप प्रभो॥
अन्तर्यामी, जन्म-मृत्यु-भय दुख से दूर अरूप प्रभो।
सबके धर्त्ता पिता-रचयिता जगपालक जग भूप प्रभो॥
सकलैश्वर्य युक्त है प्रभुवर अखिल विश्व निर्माता है।
शुद्ध स्वरूप वरेण्य सुपावन, चेतन रूप विधाता है॥
धारण करे उसी को हम सब वही मुक्ति का दाता है।
वही बुद्धियो को प्रेरित कर, अत्समाचरण भगाता है॥
सदाचार का सुयश सुपथ भी, केवल वही प्रशस्त करे।
उसे छोडकर अन्य वस्तु मे ना कोई मन मस्त करे॥
उसकी समता जगती के नही, मिलकर तत्व समस्त करे।
न्यायाधीश पिता-राजा वह, सब सुख हमे प्रदत्त कर॥

(२)

ओ३म् सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्य करवावहे।
तजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥ ओ३म् शान्ति शान्ति शान्ति॥
सर्वशक्तिमय ईश दयामय अमर अभय, सब जग के तात हैं॥
तू रक्षक ससार का, है सत्य सनातन मीत।
तजकर वैर विरोध को हम करे परस्पर प्रीत॥
दे धन सम्पत्ति, बन सत्यव्रती, आनन्द सुमति, भोग दिन-रात हैं॥१॥
एक पिता तू विश्व का, हम सब तेरी सतान।
रखकर भौतिक लक्ष्य को, हम व्यर्थ हुए हलकान॥
हम सब मानव, पी प्रेमासव, समझे सगव, हम सारे भ्रात हैं॥२॥
परस्पर सामर्थ्य से पुरुषार्थ वर्द्धन हो।
तेजमय विद्यानिधी, जगदीश्वर में मन हो॥
हो पठित ज्ञान, फिर वर्धमान, सारे जहान मे नवल प्रभात है॥३॥
'आध्यात्मिक', 'अधिभौतिकी' अरु 'अधिदैविक' त्रैताप।
तन-मन-आतम के करो तुम शान्त सभी सन्ताप॥
हे अमिय-सिन्धु, आनन्द-इन्दु, तव कृपा-बिन्दु, पीवें सब साथ है॥४॥

क्रमश

आदर्श त्रैतवाद (२६)

रामसिंह भल्ला

खोजने योग्य

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश
स्तस्मिन यदन्तस्तदन्वेष्टव्य तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥

छान्दो० ८ १ १।

इस ब्रह्मपुर मे—भगवद् भक्त के शरीर मे जो यह सूक्ष्म कमल गृह है—हृदय है और इसमे भीतर जो सूक्ष्म आकाश है—आत्मा का निवास स्थान है, उसमे जो भीतर चेतन्य ज्योति है वह खोजने योग्य है। ब्रह्म की उपासना आराधना मनुष्य शरीर मे ही होती है। इस कारण शरीर को ब्रह्मपुर कहते हैं। यह स्थान बल, शक्ति और तेज का केन्द्र है। हृदय कमल को ब्रह्म महान धाम मानकर स्वसत्ता की जागृति के लिये यहा धारण करना और सत्य नित्य शुद्ध चैतन्य शक्ति स्वरूप परमात्मा का चिन्तन करना दहरोपासना है। इससे प्रसुप्त आत्म भाव जग जाता है। आत्म भाव के जागने पर उस व्यष्टिगत हृदय मे ही समष्टि जगत के चमत्कार, भाव तथा प्रतिबिम्ब प्रतीत होने लग जाया करते हैं। एसा साधको का अनुभव बताता है। हृत पुरष प्रबुद्ध हो जाये तो साधक के सकल्प मे सफलता मनोरथ सिद्धि और कर्त्तव्य आदि बल आ जाया करते है।

जानने योग्य

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपास
सत्यकाम सत्य सकल्प सो ऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य ।
स सर्वांश्च लोकानामोति सर्वांश्च कामान
यस्तमात्मान मनुविद्य विजानाती ह प्रजापतिरुवाच ।

छान्दो ८ ७ १

यह एक ऐतिहासिक वार्ता है।

एक सत्सग सभा मे प्रजापति नामक ऋषि न कहा—जो आत्मा पाप रहित है, अजर है अमर है शोक रहित है, सुधा रहित है तृषा रहित है सत्यकाम है और सत्यसकल्प है वह ही खोजने योग्य है। वह ही जानन योग्य है। वह ही जानन की इच्छा करने योग्य है। जो साधक इस आत्मा को साक्षात करके जान लेता है वह सारे लोको को और सार मनोरथो को प्राप्त कर लता है। वही परमात्मा के दर्शन होते हैं और कुछ जानना शेष नही रहता।

य सेतुरीजानानामक्षर ब्रह्म यत्पर । अभय तितीर्षता पार नाचिकेत शकेमहि ॥

कठो० १ ३ २

नाचिकेता द्वारा उपास्य परमेश्वर को हम जान सके जो यजम याजना करने वालो क लिये भव पार करने का पुल है। जो परमेश्वर है। जो ब्रह्म और परम पद है। जो अभय है और ससार सागर पार कहने वालो का परला पार है।

उसमे ध्यान लगा

यदर्चिमधदणुभ्योऽणु च यस्मिल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षर ब्रह्म स प्राणस्तदुवाक मन तदेतत्सत्य तदमृत
तद्वेद्धव्य सोम्य विद्धि । मुण्डको० २ २ २

जो प्रकाश करने वालो को भा प्रकाश करता है जो परमात्मा सूक्ष्मो मे सूक्ष्म छोटे से छोटा है। जिसमे सम्पूर्ण पृथिवी चन्द्रमा सूर्यादि लोक लोकान्तर और उन लोको मे वास करने वाले मनुष्य पशु स्थित है वहा नाश रहित ब्रह्म सबसे बड़ा और सबमे व्यापक है। वह सम्पूर्ण जगत के प्राणो का प्राण और मन का मन है, निर्भय है, नित्य है और मुक्त है अर्थात अमृत है हे प्यारे साधक। वही निशाना है जिस पर कार्य करन की जरूरत है। उसी मे ध्यान लगाना चाहिये। हे प्यारे भक्त ! उसी मे ध्यान लगा।

उसी एक को जानो

यस्मिन् द्यौ पृथिवी चान्तरिक्षमोत मन सह प्राणैश्च सव ।
तमेवैक जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्च अमृतस्यैष सेतु ॥

मुण्डको २-२ ५

जिस परमेश्वर मे सौर लोक, पृथिवी और आकाश पिरोया हुआ है तथा जिस मे सब इन्द्रियो के साथ मन पिरोया हुआ है उसी एक अविनाशी ब्रह्म को जानो। दूसरी वाणिया जो भगवान् का वर्णन नही करती छोड़दो। यह परमेश्वर अमृत का पुल है।

स्वर्ग कामना के लिये कर्तव्य

युक्तो तेन मनसा वय देवस्य सवितु सवे । सुवर्गेयाय शक्तय ॥

श्वेता० २ २

हम उपासक जन, स्वर्ग प्राप्ति की कामना वाले—परमानन्द की प्राप्ति के लिये परमेश्वर सविता के यज्ञ मे—ध्यान मे पूरी शक्ति से और ध्यान से युक्त—एकाग्र मन से स्थिर होवे। सब नियन्ता सर्वजनक परमेश्वर की उपासना पूरी कोशिश और एकाग्र मन से करनी चाहिए यही कत्तव्य है।

जानने योग्य

आत्मा वा अरे दृष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्य ।
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितम् ।

बृहदा० २-४-५

याज्ञवल्क्य कहते हैं अरि मैत्रेयी ! प्रिय स्वरूप आत्मा ही देखने योग्य है जानने योग्य है श्रवण करने योग्य मनन करने योग्य है और निश्चय से ध्यान करने योग्य है। आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से मनन से और विशेष ज्ञान से यह सारा रहस्य जाना हुआ हो जाता है।

कर्तव्य

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान निबोधत क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुग पथस्तत् कवयो वदन्ति ।

कठो० १-३ १४

उस आत्म तत्व को जानने के लिए उठो जागो और श्रेष्ठजनो को पाकर उनके सत्सग से परमात्मा शक्ति को समझो जैसी उस्तरे के लाघने मे कठिन तीखी धारा होती है वैसा यह कठिन माग ज्ञानी लोग कहते हैं। पुरुषार्थ, विवेक, सत्सग से यह सुगम हो जाया करता है।

इन्द्रदेव अवस्थी को पितृशोक

वीर अर्जुन के वरिष्ठ उप सम्पादक इन्द्रदेव अवस्थी के पिता श्री यदुनन्दन अवस्थी का २१ फरवरी को निधन हो गया। वे ७० वष के थे और पिछले कुछ समय से बीमार थे। उनके शोक सतप्त परिवार मे धमपत्नी ४ पुत्र व दो पुत्रिया हैं।

श्री यदुनन्दन अवस्थी एक आर्य समाजी चितक थे। वे कई टड यूनियन मजदूर सगठनो एव सामाजिक सस्थाओ से जड थे। विभिन्न सस्थाओ के प्रतिनिधियो ने समाज के प्रति उनकी सेवाओ का स्मरण कर उन्हे भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की। परमपिता परमेश्वर से प्राथना है कि परिवारजनो को दुख सहने की शक्ति एव दिवगत आत्मा को सदगति व शान्ति प्रदान करे।

प्रवेश प्रारम्भ

अतिम तिथि १० ५ ९३

आय बाल सरक्षण गृह के प्रबन्धक श्री अखिलेश भारतीय के अनुसार सरक्षण गृह मे आठ वष से अधिक आयु के असहाय बच्चो का प्रवेश प्रारम्भ है।

बच्चे के माता/पिता अथवा पिता का मृत्यु प्रमाण पत्र एव निकटतम आर्य समाज के मानद अधिकारी का अनुमोदित पत्र के साथ शाघ्र सम्पक करें।

कृष्ण गोपाल शास्त्री अधिष्ठाता

आय बाल सरक्षण गृह

८९७८ नया मोहल्ला निकट आजाद मार्किट चौक दिल्ली ६

आय समाज, नागल राय के वार्षिक चुनाव

प्रधान—डा० जयदेव वर्मा उपप्रधान—श्री जगमाल सिह यादव

मत्री—श्री भगवान दास उप मन्त्री—श्री रोहताश तवर

कोषाध्यक्ष—श्री देवदत्त शर्मा एव परतक ध्यक्ष श्री र म दास आय

भगवान दास मन्त्री

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R N No 32387/77 Posted at N D P S O on 29-30-4-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसैन्स न० यू (सी०) १३९/९३
८ साप्ताहिक "आर्यसन्देश" २ मई, १९९३

समीक्षा—

रोगो की सरल चिकित्सा

—हरीश भण्डारी

रोगो की सरल चिकित्सा के लिए आयुर्वेदाचाय स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती लिखित पुस्तक पिछले लम्ब समय से पाठको मे बहुत सराही गयी हैं। इसी सरल चिकित्सा पुस्तक अनुक्रम के चतुर्थ भाग का प्रकाशन पिछल दिनो हुआ। इसमे स्वामी जी ने चिकित्सा के क्षेत्र मे अपने लम्बे अनुभव के आधार पर आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थो के अनेक लोकोपयोगी नुस्खे प्रस्तुत किए हैं। इन नुस्खो मे प्रत्येक प्राणी के स्वस्थ जीवन यापन की पूण सभावनाए विद्यमान हैं।

नुस्खो के नियम पालन के बाद व्याधियों से दूर रहने की स्थिति बन सकती है। व्याधियो के उपचार मे परहेज का महत्वपूर्ण स्थान है।

स्वामी जी की सरल चिकित्सा पुस्तक माला की यह विशेषता है कि इसमे व्यक्ति को पहले उन स्थितियो से सावधान किया गया है जिससे उसके रोगी होने की शका बनती है। पुस्तकें प्रकाशन म आने से पहले अथवा रोग ग्रस्त होने से पहले जो रोगी बन गए हैं उनके ईलाज की सरल विधि सुझायी गयी है। इन विधियो मे महत्वपूर्ण बात यह है कि उपचार के सभी साधन हमारी रसोई अथवा घर मे ही उपलब्ध हैं। जरूरत सिफ उन्हें औषधि के रूप मे प्रयोग करने की है। स्वस्थ रहने के नियम वस्तु के गुण और उसका उपचार विधि को काव्यात्मक शैली मे प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक मे जहा फोडा फूसी, सिर दर्द जुकाम, निमोनिया, जोडो का दर्द आदि के ईलाज को छद शैली मे प्रस्तुत किया गया है, वही पीपल, तुलसी नीम, खजूर जैसे प्राकृतिक वस्तुओ के गुणो को भी सुझाया गया है।

पुस्तक का महत्वपूर्ण हिस्सा सतानोत्पति विधान से भरा हुआ है। इस खड मे सहवास, अच्छी सतान प्राप्ति आदि के लिए सहवास में बरती जाने वाली सावधानिया दी गयी हैं काव्यमय दृष्टात भी दिए हैं। गर्भवती स्त्री के लिए भी अनेक नुस्खे हैं, जिनसे पाठक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

कुल मिलाकर पुस्तक एक महामृत्यु जय मन्त्र के रूप मे उभर कर आती है, जिसमे वेद सदेश और आयुर्वेद का वैशिष्ठ्य भरा पडा है। पुस्तक मे प्रत्येक प्राणी के स्वस्थ जीवन यापन की सभी विधाए उपलब्ध है। इस लिए रोगो की सरल चिकित्सा का यह चौथा सस्करण अत्यन्त महत्वपूण बन जाता है।

आर्य नेता का निधन

आयसमाज आयमगढ के कमठ कार्यकर्ता एव पूव प्रधान श्री राम प्रसाद आर्य निवासी पुरानी कोतवाली आयमगढ का १० अप्रैल, ९३ वाराणसी में निधन हो गया। दाह सस्कार ११ अप्रैल को सम्पन्न हुआ।

११ ४ ९३ को आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन मे दिवगत आत्मा को श्रद्धाजलि अर्पित की गयी। इस अवसर पर महात्मा अक्षय मुनि जी ने श्री आर्य की सेवाओ का स्मरण किया। परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना की गई कि दिवगत आत्मा को चिरशान्ति व शोक सतप्त परिवार को इस असहाय कष्ट को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

सेवा में—

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अंक ३१ रविवार, ९ मई १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

स्वामी आनन्द बोध सरस्वती द्वारा राजस्थान के ऐतिहासिक स्थलों का निरीक्षण

महाराणा प्रताप जयन्ती समारोह २४ मई को लालकिला मैदान में मनाया जायेगा

मेवाड़ के महाराणा महेन्द्रसिंह वृहद् यज्ञ मे प्रथम आहुति देंगे

नई दिल्ली, २५ अप्रैल । समूचे आर्य जगत की ओर से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे महान शूरवीर, देशभक्त व हिन्दू जाति के सरक्षक महाराणा प्रताप की जयन्ती दिल्ली के ऐतिहासिक लालकिला मैदान मे रविवार २४ मई १९९३ को समारोहपूर्वक मनाई जा रही है । इस अवसर पर एक वृहद् यज्ञ आयोजित किया जायेगा। जिसमे महाराणा प्रताप के उत्तराधिकारी मेवाड़ के महाराणा महेन्द्र सिंह यज्ञ मे प्रथमाहुति देंगे । भामाशाह के प्रतीक दानवीर श्री हनुमान प्रसाद जी चौधरी का भी कार्यक्रम मे सम्मान किया जायेगा । यह जानकारी सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने २५ अप्रैल को आर्य समाज दीवान हाल मे दिल्ली के प्रमुख आर्य जनो की बैठक मे राजस्थान के ऐतिहासिक स्थलो के निरीक्षण के बाद अपनी वापसी पर दी ।

उल्लेखनीय है कि स्वामी आनन्द बोध ने २० अप्रैल को उदयपुर के लिए प्रस्थान किया था और उन्होने समोरबाग मे महाराणा महेन्द्रसिंह से मुलाकात कर उन्हें २४ मई के प्रताप जयन्ती समारोह मे दिल्ली पधारने का निमन्त्रण दिया जो उन्होने सहर्ष स्वीकार किया ।

स्वामी जी ने दौरे के दौरान उदयपुर के सग्रहालय मे महाराणा प्रताप से सम्बन्धित ऐतिहासिक वस्तुओ को भी देखा । स्वामी जी ने चित्तौड के किले मे उस पवित्र स्थल को भी देखा जहा महारानी पद्मनी ने जौहर किया था । राजपूती आन की रक्षा के लिए मेवाड की १४००० देवियो ने जिस यज्ञ कुण्ड मे अपने प्राणो का उत्सर्ग किया था, उसे स्वामी जी भाव-विभोर होकर देखते रहे। साथ ही स्वामी जी ने वह स्थान भी देखा जहा से अलाउद्दीन खिलजी ने दर्पण मे महारानी पदमनी का प्रतिबिम्ब देखा था। स्वामी जी ने चित्तौड मे गुरुकुल और आर्ष पद्मनी कन्या गुरुकुल का भी निरीक्षण किया ।

उदयपुर मे जिस पवित्र नवलखा महल मे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश लिखा था, स्वामी आनन्द बोध ने वह महल भी देखा । स्वामी जी ने वहा अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि इस स्थान पर एक न्यास का गठन करके वेद वेदाग विद्यालय का सचालन किया जाना चाहिए ।

स्वामी जी ने उदयपुर मे एक पत्रकार सम्मेलन को सम्बोधित करते हुये बताया कि—महान राष्ट्रीय नेता व देशभक्त महाराणा की पचशती जयन्ती के सिलसिले मे आर्यसमाज की ओर से देश के विभिन्न नगरो मे प्रतिवर्ष जयन्ती समारोह मनाये जायेंगे । सर्वप्रथम जयन्ती कार्यक्रम दिल्ली के लालकिला मैदान मे २४ मई को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे मनाया जा रहा है । उल्लेखनीय है कि आगामी वर्षों मे मेरठ, जालन्धर आदि शहरो मे तथा अन्तिम पचशती जन्म समारोह चित्तौड मे आयोजित किया जायेगा ।

महात्मा हंसराज जयन्ती सम्पन्न

ऋषि दयानन्द ने विश्व बन्धुत्व का सन्देश दिया

—ज्ञानी जैलसिंह

नई दिल्ली, १८ अप्रैल । महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देशवासियो को राष्ट्र-भक्ति के विचार दिये, प्राचीन गौरव का स्मरण कराया और जन-जन मे सुप्त आर्यत्व जागृत किया । ये विचार पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने १८ अप्रैल को तालकटोरा इन्डोर स्टेडियम मे आयोजित एक समारोह मे व्यक्त किये । कार्यक्रम का आयोजन आर्य प्रादेशिक सभा एव डी०ए०वी० प्रबन्धकर्त्री समिति के सयुक्त तत्वावधान मे महान शिक्षा शास्त्री महात्मा हसराज के जन्म दिवस के उपलक्ष्य मे किया गया था ।

श्री ज्ञानी जैल सिंह ने आगे कहा कि ऋषि दयानन्द ने वसुधैव कुटुम्बकम की शिक्षा दी थी जो विश्व भ्रातृत्व की भावना का प्रतीक है । पूर्व राष्ट्रपति ने कहा कि आर्य समाज देशभक्तो को जन्म देने वाली सस्था है और आर्य समाज ने जो कुछ किया है वह और किसी सस्था ने नही किया है । उन्होने आगे कहा कि महात्मा हसराज महान पुरुष थे और शिक्षा जगत मे उनकी अनुपम सेवाओ की ज्ञानी जी ने सराहना की ।

इस अवसर पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लोकसभाध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल ने कहा कि महात्मा हसराज जी एक प्रकाशस्तम्भ थे और उनके मार्ग पर चलकर ही देशवासियो को सही रास्ता मिल सकता है। उन्होने कहा कि वेदो व उपनिषदो का ज्ञान इस विश्व का चरम एव अन्तिम सत्य है । आज हमे तकनीकी एव यान्त्रिकी शिक्षा की बहुत जरूरत है परन्तु जीवन के जिस अन्तिम सत्य को जानने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है उससे वचित नही रहना चाहिये। प्रत्येक विद्यार्थी को

(शेष पृष्ठ ८ पर)

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव

सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

ऋषि दयानन्द के लेखन कार्य की पृष्ठभूमि

डा० भवानीलाल भारतीय

व्यक्ति का अध्ययन जितना व्यापक, विस्तृत तथा गम्भीर होता है वह उसी अनुपात मे स्वय भी उच्चकोटि का लेखन कार्य कर सकता है। केवल अध्ययन ही नही मनन चिन्तन तथा विवेचन एव विश्लेषण की उच्चस्तरीय क्षमता के अभाव मे कोई भी व्यक्ति स्वविचारो को सशक्त ढग से अभिव्यक्त नही कर सकता। इसके पूव कि हम स्वामी दयानन्द के द्वारा लिखित ग्रन्थो का आलोचनात्मक अध्ययन करें, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम उनके विभिन्न शास्त्र ग्रन्थो के अध्ययन अभ्यास की जानकारी प्राप्त करें। अध्ययन और मनन की यही सुदृढ नीव थी जिसके आधार पर उन्होने अपने साहित्य रूपी भवन का निर्माण किया था।

स्वामी दयानन्द का अध्ययन उनके बाल्यकाल से ही प्रारम्भ होता है। उनके पिता सामवेदी ब्राह्मण थे, किन्तु शैवमतानुयायी होने के कारण यजुर्वेद के पठन-पाठन की प्रणाली उनके कुल मे प्रचलित थी। यजुर्वेद का १७ वा अध्याय ही प्रसिद्ध रुद्राध्याय है जिसका शैव लोग अत्यन्त आस्था भाव से पाठ करते हैं। शैशव पार करते-करते दयानन्द ने भी रुद्राध्याय पढ डाला। १४ वें वष तक आते-आते उन्होने सम्पूण यजुर्वेद को कण्ठस्थ किया तथा अन्य वेदो का भी स्वल्प अभ्यास किया। वेद पाठ और वेदाभ्यास के बचपन मे पडे हुए ये ही सस्कार आगे चलकर उनमे प्रखरता से उद्बुद्ध हुए जबकि वेद प्रचार को उन्होने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाया और वैदिक शिक्षाओ के आधार पर ही स्वधम, स्वदेश तथा स्वराज्य को पुनरुज्जीवित करने का उन्होने भव्य सकल्प किया।

दयानन्द सरस्वती के अनुसार महाभारत के बाद के काल मे जो धार्मिक साहित्य लिखा गया उसमे वैसी उदात्तता नही है और न वैसा उदार दृष्टिकोण ही दिखाई पडता है जो महाभारत पूर्व के सस्कृत वाङ्मय मे विद्यमान था। इसका एक प्रमुख कारण उनके विचार मे परवर्ती लेखको मे आप प्रज्ञा का अभाव माना जा सकता है। स्वामी दयानन्द ने अपने विद्या गुरु दण्डी विरजानन्द के विद्यालय मे रह कर जो कुछ शास्त्राध्ययन किया, उससे उनके बौद्धिक और वैचारिक क्षितिज का तो विस्तार हुआ ही, एक सर्वथा अभिनव दृष्टि भी उन्हे मिली। इसे हम आर्ष और अनार्ष के विवेक की दृष्टि कह सकते हैं। दयानन्द के अनुसार "महर्षि लोगो का आशय, जहा तक हो सके वहा तक सुगम और जिसके ग्रहण मे समय थोडा लगे, इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगो की मनसा ऐसी होती है कि जहा तक बने वहा तक कठिन रचना करनी, जिसको बडे परिश्रम से पढ के अल्प लाभ उठा सके।"

इसी दृष्टि के आधार पर दयानन्द ने सस्कृत मे उपलब्ध समस्त राष्ट्रीय वाङमय को आर्ष और अनार्ष श्रेणियो मे विभक्त किया है। उनके अनुसार आर्ष ग्रन्थो की रचना उन महान मेधावी, विमल प्रज्ञा के धनी उदाराशय युक्त ऋषियो ने की है जिन्हे मानव कल्याण ही सर्वांश में अभीष्ट था। ऐसे स्थित प्रज्ञ, योग जन्य समाधि अवस्था मे परम तत्त्व का साक्षातकार करने वाले महर्षियो ने जो कुछ लिखा है वह मानवहित की दृष्टि से ही लिखा है। उन्हे न तो किन्ही पूर्वाग्रहो ने प्रभावित कर रखा था और न उनकी आस्थाये तथा निष्ठायें किसी सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित थी। इस प्रकार उन्होन जो कुछ लिखा है वह नितान्त समजस, सन्तुलित, युक्ति एव तर्कसम्मत तथा विज्ञान एव सृष्टि नियमो के अनुकूल है।

आष ग्रन्थो की रचना शैली तथा विवेचन प्रणाली से सर्वथा भिन्न वे अनाष ग्रन्थ हैं जिनके लेखक सम्प्रदाय विशेष की सकीर्ण कारणो मे बद्ध होने के कारण जो कुछ लिखते हैं वह अत्यन्त जटिल दुरुह तथा शब्दाडम्बर पूर्ण तो होती ही है, ऐसे लेखको का वैचारिक धरातल भी नितान्त छिछला, अनुदार तथा अवैज्ञानिक रहता है। भारत का मध्यकालीन शास्त्रीय साहित्य इसी प्रकार के अनाष लेखन की कोटि मे आता है। किंचित विस्तार से इस साहित्य की चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा। प्रथम दर्शन ग्रन्थो को ही ले। शारीरिक सूत्रो पर शकराचाय से प्राचीन कोई भाष्य आज उपलब्ध नही हैं, यद्यपि रामानुज ने अपने वेदान्त भाष्य के आरम्भ मे यह सकेत अवश्य किया है कि पूववर्ती भाष्यकार आचाय बोधायन की दृष्टि को स्वीकार करते हुए ही वे भी इस भाष्य लेखन को आरम्भ कर रहे हैं। यदि शकर पूर्व का कोई वेदान्त भाष्य उपलब्ध होता तो यह अनुमान करना हमारे लिए सरल हो सकता था कि अद्वैतवेदान्त को पुष्ट करने वाली व्याख्याओ से भिन्न भी कोई दृष्टि हो सकती है और जिसके आधार पर बादरायण के सूत्रो को समझा जा सकता है।

तथापि वेदान्त दर्शन तथा उस पर लिखे गए शाङ्कर भाष्य को बिना कोई पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण बनाए, यदि पढा जाय तो इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुचा जा सकता है कि जीव ब्रह्मैक्यवाद की स्थापना करने, मायावाद को प्रतिष्ठित करने तथा बाह्य जगत को प्रपच, मिथ्या और मनोकल्पित सिद्ध करने के शकर कृत प्रयास चाहे कितने ही प्रबल क्यो न प्रतीत हो, वे सूत्रो के मौलिक अभिप्राय से मेल नहीं खाते। वस्तुत शकराचार्य ने अद्वैतवादी दर्शन के जिस भव्य भवन का निर्माण किया है वह उनकी अपूव प्रज्ञा, महान चिन्तन शक्ति तथा प्रबल ऊहाओ का तो परिणाम है किन्तु उसके लिए कोई प्राचीन सुनिश्चित शास्त्रीय आधार भी है ऐसा नही कहा जा सकता। यो जोडतोड कर उपनिषद् वाक्यो तथा अन्य ग्रन्थो के कुछ वचनो मे शाङ्कर मत का मूल खोजा जा सकता है किन्तु यह बहुत कुछ क्लिष्ट कल्पनाओ तथा शास्त्र वाक्यो के मनोनुकूल अर्थ करने से भी सम्भव होता। किसी परम्परा अथवा अन्य प्रमाणो से उसकी पुष्टि करना कठिन है।

यह सब कुछ होने पर भी यह स्वीकार करना पडेगा कि शकर ने उपनिषद् भाष्य, गीता भाष्य तथा वेदान्त भाष्य लिखकर भारत के दार्शनिक चिन्तन मे एक सर्वथा नवीन अध्याय का आरम्भ किया। यह शकर जैसे बहुश्रुत, बहुपठित तथा महान मनीषा के धनी आचाय के लिए ही सम्भव था कि वह उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त की स्वअभिप्रायानुकूल व्याख्या कर दर्शन के क्षेत्र मे एक ऐसे सिद्धान्त का प्रवर्तन कर सका जो कालान्तर मे हिन्दू जाति के सामान्य दार्शनिक विश्वास के रूप मे तो परिगणित हुआ ही साथ ही हमारे श्वास प्रश्वास यहा तक कि रक्त शिराओ मे भी अन्त प्रविष्ट हो गया। आज अद्वैत दशन को ही सामान्य हिन्दू दशन समझा जाता है।

कालान्तर मे अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि मे ही विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। स्वय शकर ने हो प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त अपरोक्षानुभूति, अद्वैत सिद्धि, विवेक चूडामणि आदि अनेक प्रकरण ग्रन्थ लिखे। शकर के बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य पर उन्ही के शिष्य सुरेश्वराचार्य का प्रसिद्ध वार्तिक है। वाचस्पति मिश्र कृत शाङ्कर भाष्य की भामती टीका अपने रचनाकार का अप्रतिम वैदुष्य सूचित करती है। शकर के परवर्तीकाल मे आनन्दगिरि विधारण्य सदानन्द श्रीहर्ष आदि शतश अद्वैताचार्यो ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थो की रचना कर भगवान भाष्यकार के दार्शनिक मन्तव्यो का ही उपबृहन किया। निश्चय ही इन परवर्ती वेदान्त लेखको मे एक ओर जहा सदानन्द जैसे सरल शैली मे लिखने वाले भी थे तो दूसरी ओर श्रीहर्ष जैसे लेखको की भी कमी नही थी जिन्होने खण्डनखण्ड खाद्य जैसा जटिल और क्लिष्ट ग्रन्थ लिखकर दयानन्द के इस मत की पुष्टि ही की कि अनार्ष शैली के लेखक अनावश्यक पाण्डित्य का प्रदशन कर अपनी रचना को व्यर्थ मे ही बोझिल बनाते हैं।

दशन सूत्रकार ऋषियो के मूल अभिप्राय को परवर्ती भाष्य और व्याख्याकारो ने किस प्रकार विकृत, परिवर्तित तथा कभी कभी तो सर्वथा विपरीत होकर दिया है इसका उदाहरण हम शाङ्कर भाष्य की विवेचना के प्रसग मे देख चुके है। अन्य दशन सिद्धान्तो पर लिखने वाले लेखको ने भी लगभग ऐसी ही भूमिका निभाई है। जैमिनी के मीमासा दशन पर लेखनी चलाने वाले कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर ने इस दशन को सवथा अनीश्वरवादी दशन ही बना दिया। इसी प्रकार न्याय दर्शन की आर्ष चिन्तन प्रणाली समाप्त हुई और नव्यन्याय का सूत्रपात हुआ जिसके अन्तगत प्रमेय भाग की तो प्राय उपेक्षा ही हुई मात्र प्रमाण भाग पर ही विवेचन होता रहा। साख्य दशन का भी ईश्वर स्वरूप भुला दिया गया और ईश्वर रचित कारिकाओ के प्रचलन से यह धारणा बल पकडने लगी कि साख्य दशन के अन्तगत जगत रचयिता ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल मे शास्त्रो पर जो टीका, भाष्य आदि का लेखन हुआ उससे उन-उन शास्त्रकारो के मौलिक आशय का प्रतिपादन नही हो सका। ऋषि दयानन्द ने इन सब बातो का ध्यान रखकर ही अपने ग्रन्थो की रचना की थी।

समस्त आर्य समाजों के नाम आवश्यक परिपत्र

श्री प्रधान जी/मन्त्री जी

सप्रेम नमस्ते !

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि महान देशभक्त मातृभूमि के रक्षक और आर्य संस्कृति के पोषक मेवाड केसरी महाराणा प्रताप की जयन्ती मनाने का सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा दिल्ली के लालकिला मैदान मे २३ और २४ मई १९९३ से वृहद यज्ञ के साथ शुभारम्भ किया जा रहा है। महाराणा प्रताप के शौर्य देश भक्त एव बलिदानो के अनूठ उदाहरणो से आर्य जाति श्रद्धानत होकर उन्हें आदर के साथ स्मरण करती है। आज की विषम परिस्थितियो मे उस राष्ट्र शिरोमणि महापुरुष के जीवन मूल्यो से देश वासियो का मार्ग दर्शन करने और अपने पूर्वजो के शौर्य और राष्ट्रभक्ति की प्रेरणा प्रदान करने की बडी आवश्यकता है इसलिए आर्य समाज ने उस राष्ट्र नायक और आर्य जाति के कुलदीपक महाराणा प्रताप की जयन्ती का शुभारम्भ करने का निर्णय लिया है।

२३ मई १९९३ को प्रथम दिन का कार्यक्रम प्रात ७ ३० बजे वृहद यज्ञ के साथ प्रारम्भ होगा, जिसमे महाराणा प्रताप के वशज और मेवाड के वर्तमान महाराणा महेन्द्र सिंह मेवाड अपने हाथो से प्रथम आहुति अर्पित करेंगे। उनके साथ उदयपुर के सेठ हनुमान प्रसाद चौधरी (जिन्हे भामाशाह का प्रतीक माना जाता है) तथा भील जाति के वशज जिनके पूर्वजो ने महाराणा प्रताप का अपने हाथों से तिलक किया था भी इस अवसर पर उपस्थित रहेंगे। २४ मई को पूर्णाहुति का कार्यक्रम सम्पन्न होगा।

मैं पिछले सप्ताह स्वय उदयपुर और चित्तौड गया था वहा महाराणा महेन्द्रसिंह मेवाड' तथा अन्य कई महानुभावो से भी मिला था। मैंने चित्तौड का ऐतिहासिक किला तथा रानी पद्मिनी के जौहर स्थल को भी देखा। समूचे राजस्थान मे आर्य समाज द्वारा राष्ट्र नायक महाराणा प्रताप की जयन्ती मनाने के कार्यक्रम से बहुत बडा उत्साह दिखाई दे रहा है।

अत आपसे निवेदन है कि आर्य समाज के इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए अधिक से अधिक सख्या मे भाग लेने के लिए २३ और २४ मई के लिए अभी से व्यवस्था बना ले और हमे यह भी सूचित करें कि आपके वहा से कम से कम कितने भाई बहन कार्यक्रम मे पहुच रहे हैं।

इस वृहद कार्यक्रम के लिए धन की भी आवश्यकता है, आपसे प्रार्थना है कि अपनी समाज/सस्था अथवा अपने साधनो से जो भी सहयोग राशि अर्पित कर सके उसे यथाशीघ्र सार्वदेशिक सभा को भिजवाने की कृपा करें। दोनो दिन के कार्यक्रमो म ऋषि लगर की भी व्यवस्था की जा रही है। आप सबका तन मन और धन का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।

शुभकामनाओं सहित भवदीय

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

प्रधान

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के नाम केन्द्रीय मन्त्री श्री अर्जुनसिंह जी का पत्र

मानव ससाधन विकास मन्त्री
भारत
नई दिल्ली ११० ०१
२३ अप्रैल १९९३

आदरणीय स्वामी आनन्दबोध जी

आपका दिनाक ८ ४ १९९३ का पत्र प्राप्त हुआ, धन्यवाद। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्म दिवस को शासकीय प्रतिबन्धित अवकाश मे सम्मिलित किए जाने का अनुरोध माननीय प्रधानमन्त्री श्री पी०वी० नरसिंह राव को मैंने आपके सुझाव पर किया था। प्रधानमन्त्री जी ने मेरे निवेदन को स्वीकार किया और समस्त आर्य जगत की भावना का सम्मान करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्म दिवस को शासकीय अवकाश के रूप मे स्वीकृति प्रदान की है।

आपने अपने पत्र के माध्यम से धन्यवाद प्रेषित किया है वास्तव मे धन्यवाद और बधाई का श्रेय आपको ही जाता है। आप जैसे सिद्धान्त प्रिय स्वामी के सानिध्य मे समस्त आर्य जगत और मानवता को सही दिशा दर्शन मिले, यही मेरी मगल कामना है।

आपका
अर्जुन सिंह

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती,
प्रधान,
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
महर्षि दयानन्द भवन
रामलीला मैदान,
नई दिल्ली ११०००२

सम्पादक के नाम पत्र

विशेषाक सभाओ के मार्ग दर्शक है

आर्य सन्देश के अनेक विशेषाक निकल कर आपने बहुत ही उपयोगी कार्य किया है और अन्य सभाओ के लिए मार्गदर्शक का काम किया है। इनसे उन महात्माओ और विद्वानो की वर्तमान पीढी मे भी यश और कीर्ति बढ़ेगी जिन्होने अपना सर्वस्व समाज सुधार के लिए न्यौछावर कर दिया था। आप एक ऐतिहासिक कार्य कर रहे हैं, इसके लिए आप तथा आपके सम्पादक विशेष बधाई के पात्र हैं।

जगन्नाथ सयोजक, जराभाषा कार्य

पुराणपंथी ताकतो से सावधान

आर्य समाज को पुराणपथी तानाशाही ताकतो से सावधान रहना चाहिये। आर्य समाज अपने विशुद्ध स्वरूप मे ही उपस्थित होकर शक्ति शाली बन सकता है अन्यथा भविष्य अन्धकारमय है।

प्रा० धर्मेन्द्र धीमा खारीवाव, वडोदरा-३९०००१

कुछ चुने हुए वेदमन्त्रो के भावो की काव्य व गीतों के माध्यम से व्याख्या (२)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

(३)

यो भूत च भव्य च सर्व यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवल तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥१॥
यस्य भूमि प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिव यश्चक्रे मूर्धान तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णव।
अग्नि यश्चक्र आस्य तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥३॥
यस्य वात प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥४॥

अथर्ववेद सहितायाम्। काण्डे १०। प्रपाठके २३। अनुवाके ४ (सूक्ते ८) म०१ (तथा सूक्ते ७) मन्त्र ३२-३३ ३४ ॥

(ध्वनि—अपना मुकद्दर बिगडे हुए एक जमाना बीत गया)
सर्वश्रेष्ठ ! सब जग मे महान् नमन तुम्हें हे परमेश्वर ॥

भूत भविष्यत् वर्तमान में जितने हैं व्यवहार सभी।
निज विधान विज्ञान-ज्ञान से,ईश जानता सब कुछ ही ॥
सकल द्रव्य का स्वामी स्वयम्, सृष्टा पालक प्रलयकर ॥१॥
जिसका सुख केवल स्वरूप है, मोक्ष प्रदायक सुखकारी।
सर्वकाल से परे सतत है विद्यमान, भव भय हारी ॥
क्लेशमुक्त सर्वानन्द-कन्द नमन तुम्हें हे परमेश्वर। २॥

आदर्श त्रैतवाद (२७)

राजसिंह भल्ला

कर्तव्य

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्य स एषो ऽन्तश्चरते बहुधा जायमान
ओमित्येव ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः ॥ मुण्डको० २-६

रथ की नाभि मे लगे हुए अरो की भांति जहां नाडियां जुड़ी हुई हैं वहां हृदय मे वह यह आत्मा अनेक विकासो साधनाओ से भीतर प्रकट होता है ऐसे उस आत्मा ओ३म् का सिमरन करो अज्ञान अन्धकार से पार उतरने का यही रास्ता है। तुम्हारा कल्याण हो।

बाधने योग्य, ध्यान योग्य

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यम् तदमृतं
तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ मुण्डको० २-२ २

वह ईश्वर प्रकाशमय है। वह सूक्ष्म पदार्थों से सूक्ष्म है। उसमे सब लोक और लोकवासी निवास करते हैं। वह यह अविनाशी महान् है। वही प्राण, वही वाणी और मन है। वह यह सत्य है, वह अमृत है। वह बाधने योग्य है। उसी मे ध्यान लगाना चाहिए। ऋषि कहते हैं कि हे सोम्य ! इसी मे ध्यान लगाना चाहिए।

उसी एक को जानो

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः तमेवैकं
जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥
मुण्डको० २-२ ५

जिस परमेश्वर मे सौर लोक पृथिवी और आकाश पिरोया हुआ है। तथा जिसमे सब इन्द्रियो के साथ मन पिरोया है। उसी एक अविनाशी ब्रह्म को जानो। दूसरी वाणियां जो भगवान् का वर्णन करती हैं छोड़ दो। वह परमेश्वर अमृत का पुल है।

उसको जानने का अधिकारी

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
मुण्डको ३-२ ३

उस परमात्मा को बहुत पढ़ने पढ़ाने, उपदेश करने अथवा व्याख्यान देने से नहीं जान सकते और न बुद्धि से ही परमात्मा का ज्ञान हो सकता है और न बहुत से शास्त्रों के पढने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने से परमात्मा को जान सकते हैं। जिसको अधिकारी समझकर वह परमात्मा स्वीकार करता है अर्थात् जिसने ज्ञान कर्म उपासना से सम्पूर्ण दोषो को दूर कर दिया है जिसको सिवाय आत्मा के जानने के कोई काम नहीं रह गया है जिसका सिवाय परमात्मा के कोई भरोसा नही है। जिसका सर्वस्व परमात्मा ही है। जिसका दूसरी ओर ध्यान ही नही है। जिसकी बुद्धि परमात्मा के हो ध्यान मे लगी है। जिसको परमात्मा के सिवाय दूसरा विचार सुख का कारण मालूम नही होता है वह परमात्मा के जानने का अधिकारी है। उसको परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं सब साधन अधिकारी बनने के लिए हैं। जब अधिकारी बन जाता है तब परमात्मा उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश कर देता है।

जानने का अधिकारी

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् एतैरुपायैर्यतते
यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ मुण्डको० ३-२-४

जिस व्यक्ति ने ब्रह्मचर्य धारण करके और कर्म और उपासना से आत्मिक बल प्राप्त नहीं किया उस बलहीन मनुष्य को परमात्मा के दर्शन नही हो सकते, जिसने अभिमान मे फसकर आत्म चेतन्य की ओर से लापरवाही की है उसको भी परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते और न कोई ढोंग आडम्बरी तप से परमात्मा को जान सकता है और न वैदिक धर्म के लक्षणो को त्यागकर स्वतत्रता से उसे जान सकता है। यदि नियम पूर्वक ब्रह्मचारी बनकर अज्ञान का नाश करके और परोपकार से मन को शुद्ध करके उन उपायो से जो वेदों में बताए हैं जो साधक पुरुषार्थ करता है उसको परमात्मा अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं अथवा वह ही ब्रह्मधाम मे प्रविष्ट हो सकता है। कहने का मतलब यह है कि परमात्मा के जानने के लिए बहुत बड़ी शक्ति अर्थात् प्रकृति के विषयो से मुकाबला करना पड़ता है। प्रत्येक ओर से विषय आत्मा को अपनी ओर खींचते हैं मन आत्मा को विषयो की ओर ले जाना चाहता है। यदि आत्मा मे बल नही हो तो मन के पीछे लग जाया करता है यदि ब्रह्म की उपासना के कारण आत्मा बलवान है तो प्रकृति के विषयो से हट कर परमात्मा की ओर लग जाया करता है।

परमात्मा की कृपा का प्रसाद है दर्शन

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
कठो० १ २-२३

वह परमात्मा बहुत से व्याख्यान करने से नहीं मिल सकता और न वह बुद्धि से जाना जाता है और न बहुत से ग्रन्थ पढने से जाना जाता है। जिसको अधिकारी जान कर वह परमात्मा अपने स्वरूप का प्रकाश करता है उसी से वह जानने योग्य है। जब तक परमात्मा अपने स्वरूप का प्रकाश न करे तब तक कोई उसको देख नही सकता जैसे जब तक सूर्य अपने स्वरूप का प्रकाश न करे तब तक आंख उसको किसी दूसरे की सहायता से देख नही सकती ऐसे ही जीवात्मा परमात्मा को उसकी सहायता अर्थात् कृपा से ही जान सकता है। अन्य की सहायता से जानना असम्भव है। परमात्मा का दर्शन उसकी कृपा का प्रसाद ही समझना चाहिए। जिस पर उसकी कृपा नही होती उसे उसके दर्शन नहीं होते।

किसे मिल सकता है परमात्मा

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठो० १-२-२४

जिस व्यक्ति का मन दुराचार से हटा नही है। अर्थात् जो दुराचारो मे फसा हुआ है और जो व्यक्ति अशान्त रहता है। जिसको बात-बात मे शंका उत्पन्न होती है और शंका के कारण एक पग भी आगे बढ़ना कठिन है। जिसका मन चचल है और एक क्षण भी स्थिर न रह सकता हो ऐसा व्यक्ति बहुत कहने सुनने से तथा वेद विद्या और सत्य ज्ञान से भी उस परमात्मा को नही जान सकता परमात्मा को जानने के लिए मन का दर्पण शुद्ध और निर्मल होना चाहिए। कोई भीरु, स्वार्थी, मिथ्यावादी, दुराचारी पुरुष परमात्मा के जानने का अधिकारी किसी दशा मे नहीं हो सकता और न ही ऐसे व्यक्ति को परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। वह तर्क से भी नही जाना जाता उसकी प्राप्ति के साधन तो सदाचार, शान्ति, निश्चय श्रद्धा, निष्ठा और मन की स्थिरता है।

किसको मिलता है ईश्वर

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद, सामवेदो अथर्वेद , शिक्षा कल्पो व्याकरण
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥
मोण्डको० १ १-५

उनमे अपरा विद्या—लौकिक विद्या ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद है। ऐसे ही शिक्षा कल्प व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिषशास्त्र भी अपरा विद्या है और परा वह विद्या है जिससे वह अविनाशी आत्मा परमात्मा जाना जाता है। यहां अपरा से न परा तात्पर्य है, व्यवहारिक ज्ञान का नाम अपरा विद्या है और परमार्थिक ज्ञान परा विद्या है कहा है। परा का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ विद्या। वह भगवान् की भक्ति तथा आराधना है। इसी से अमर अविनाशी पद की प्राप्ति होती है।

ब्रह्म को कौन जान सकता है

ओंकार यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत् सः । प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म
तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् । निवर्तन्ते क्रिया
सर्वास्तस्मिन्द्रष्टे परावरे ॥ ध्यान बिन्दो० १४-१५

जो ओ३म् को नही जानता वह ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता। ओ३म् धनुष है आत्म स्वय तीर है ब्रह्म लक्ष्य है। जैसे एक तीर से अन्दाज से निशान लगाते समय तन्मय हो जाता है इसी प्रकार ओ३म् की उपासना में तन्मय हो जाना चाहिए। ओ३म् के अतिरिक्त और कोई सकल्प विकल्प चित्त मे न आने पावे तो फिर जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त हो जाएगा। (क्रमश

वर्णव्यवस्था और मानव जाति

जो जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त स्थिर रहे, अनेक मे एक रूप से प्राप्त हो तथा परमेश्वरकृत हो वह जाति कहलाती है जैसे मनुष्य, गाय, तोता, बिल्ली चूहा आदि अनेक जातिया हैं। ये मनुष्य गाय आदि ईश्वरकृत जातिया जन्म से मृत्यु पर्यन्त वर्तमान जीवन मे जिस योनि मे हैं उसी में बनी रहती हैं। वर्तमान जीवन मे जैसे मनुष्य अपनी जाति परिवर्तित करके गाय, अश्व आदि किसी भी जाति मे सम्मिलित नहीं हो सकता है ऐसे ही अश्व, गाय हाथी आदि भी जीवनपर्यन्त अपनी जाति मे ही बने रहते हैं। जाति परिवर्तन सम्भव नही है। सभी जातिया आकृति से पहचानी जाती हैं, हम किसी को भी देखते ही जान जाते है कि यह मनुष्य गाय अश्व आदि मे से किस जाति मे है। इस आधार पर हम समस्त भमण्डल के व्यक्तियों की मनुष्य जाति सिद्ध होती है। मनुष्यकृत जाट, गूजर, चौहान आदि तथाकथित जातिया सिद्धान्तत जाति कदापि स्वीकार ही नही हो सकती है।

हमारी सम्पूर्ण मानवजाति सृष्टि के प्रारम्भ से ही वर्ण व्यवस्था से बधी रही है। वर्णव्यवस्था का अभिप्राय है वरण करना तथा समाज मे उत्तम कार्यो की सिद्धि के लिए गुण कर्म, स्वभाव के आधार पर ही किसी व्यक्ति को वरण किया जाता है। अब विचार करना चाहिए कि मनुष्य उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिए नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। उस नैमित्तिक ज्ञान को विद्यालय आदि मे प्राप्त करके मनुष्य गुणवान कर्मशील व उत्तम स्वभाव वाला बन जाता है। जब विद्या का पान करके कोई कर्मक्षेत्र मे आता है तभी उसका वरण किया जा सकता है। उससे पहले बाल्यकाल मे योग्यता के बिना किसी भी कार्य के लिए वरण नही किया जा सकता है। विद्यार्थीकाल के उपरान्त युवावस्था मे जो जिस योग्य हो तदनुरूप कार्यो का सम्पादन करना तथा जो अनेक प्रयासो के पश्चात भी दुर्भाग्य से योग्य नहीं बन पाये उन निरक्षर व्यक्तियो से भी रचनात्मक सहयोग का आदान-प्रदान करना समाज के लिए साधक है अत गुणकर्मों के आधार पर ही जो अध्यापन करता है अध्यापक, चिकित्साकर्म करने वाला चिकित्सक, सेना मे रहने वाला सैनिक, घडा आदि पात्रो को बनाने वाला कुम्भकार सेवा कार्य करने वाला सेवक कहलाता है यही वर्ण-व्यवस्था है। इसी प्रकार से समाज मे असख्य कार्य हैं जिन्हें व्यक्ति अपने-अपनी योग्यता के अनुसार चयन करते हैं उन सभी व्यक्तियो का प्रत्येक कर्मानुसार विभाग करके पृथक् पृथक् यदि वर्ण करें तो यह कठिन कार्य है। हा इन अनेक प्रकार के कार्यों का भार ग्रहण करने वाले समस्त व्यक्तियो का ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य व शूद्र सज्ञा के अन्तर्गत अवश्य समावेश हो जाता है।

जो व्यक्ति अध्ययन व अध्यापन तथा अनेक प्रकार के यज्ञ अर्थात् विज्ञान-पूर्वक परोपकार के विभिन्न कार्यो को स्वय करते व अन्य व्यक्तियो से कराते हैं तथा शम, दम तप आदि गुण व पवित्र कर्मो को अपना धर्म समझकर मानवजीवन के लक्ष्य परमेश्वर प्राप्ति हेतु तत्पर हैं वे समस्त बुद्धिमान निर्भ्रान्त व्यक्ति ब्राह्मण कोटि के अन्तर्गत आते हैं। जो सज्जन स्वाध्याय, दान व यज्ञ अर्थात जनहित के कार्यो मे समर्पित रहते हैं और विषय भोग आदि से पृथक् रहकर न्यायाचरण से रक्षा करते हैं वे समस्त वीर क्षत्रिय माने जाते हैं। जो उदारजन स्वाध्याय, उत्तम कार्यों मे दान यज्ञ अर्थात् दूसरो के सुख के लिए प्रयत्नशील रहते हुए खेती व्यापार आदि से उपभोग्य वस्तुओ का उत्पादन करते हैं वे सभी वैश्य कोटि के होते हैं। जो व्यक्ति आलस्य, अल्पबुद्धि आदि के कारण अनेक प्रयास करने के उपरान्त भी किसी प्रकार की योग्यता अर्जित नही कर पाये वे अपने सामर्थ्य के अनुसार सेवा कार्य करते हैं। यद्यपि सभी व्यक्तियो मे इन चारो वर्णो के कुछ कुछ गुण, कर्म होते है परन्तु जिस व्यक्ति मे जिस वर्ण के गुण, कर्म प्रबल हो वह उसी वर्ण मे मान्य होता है।

विद्यार्थी काल के उपरान्त गुण, कर्म व स्वभाव के आधार पर जिसे जो वर्ण मिल गया है यह आवश्यक नही कि वह जीवन पर्यन्त उसी वर्ण मे ही बना रहे। यदि कोई व्यक्ति अपने गुण, कर्मो मे परिवर्तन कर लेता है तो अपने परिवर्तित वर्तमान गुण, कर्मों वाले वर्ण का हो जाता है। ब्राह्मण कोटि का व्यक्ति यदि अपने गुण व कर्म छोड दे तो शूद्रादि किसी भी वर्ण मे हो जाता है एसे ही क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र भी अपना वर्ण परिवर्तन करते हैं जैसे पहले भी अज्ञातकुल से जाबाल ऋषि, क्षत्रिय वर्ण से विश्वामित्र व शूद्र कुल से मातङ्ग ऋषि ब्राह्मण हो गए थे। एक परिवार मे एक पिता के अनेक पुत्र अपने-अपने गुण, कर्म व स्वभाव के आधार पर पृथक् पृथक् वर्ण में भी होते हैं अर्थात वर्णों का आधार गुण, कर्म व स्वभाव हैं जन्म नहीं।

वर्ण व्यवस्था के बिना समाज का कोई कार्य सफल नही हो सकता है इसलिए इस व्यवस्था का पालन जाने-अनजाने ससार का प्रत्येक व्यक्ति करता है। वर्तमान काल मे इस पवित्र वर्ण व्यवस्था को न समझने के कारण और स्वार्थ के वशीभूत हम स्वनिर्मित तथाकथित जाति रूपी जन्ममूलक व्यवस्था से दुःखी हैं। इस तथाकथित जाति व्यवस्था के कारण जन्म से ही किसी को स्वर्णकार बढई, ब्राह्मण वैश्य, गूजर जाट आदि सज्ञा देने से वर्ण व्यवस्था भग हो गई। फलत सामाजिक कृत्रिम भेद बढकर महान् अनर्थ हो रहा है। जन्ममूलक इस व्यवस्था मे न सुख दुःख मे सहभागी होने की भावना है और न ही किसी को आगे बढाने की। हा इसमे किसी के अधिकारो के हनन करने की प्रवृत्ति अवश्य उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत वर्ण व्यवस्था मे परस्पर सुख दुःख मे सहभागी होकर परोपकार करते हुए जन जन का उद्धार करने की भावना होती है। प्रत्येक को अपने से उत्तम वर्ण मे जाने की प्रेरणा होकर अवसर प्राप्त होता है। इसलिए व्यावहारिक एव आवश्यक होने से वर्ण-व्यवस्था ही ग्राह्य है। वर्णव्यवस्था और जन्ममूलक इस दूषित जाति व्यवस्था के अन्तर को समझकर सभी को चाहिए कि परस्पर एक दूसरे को सही परिप्रेक्ष्य मे समझें।

आचार्य विष्णुमित्र आर्य, आदर्शनगर, नजीबाबाद जनपद-बिजनौर (उ०प्र०)

घर फूँक तमाशा–
'धूम्रपान' सावधान ! (२)

डा० एस० के० भटनागर हैल्थ होम, शकरपुर विस्तार, दिल्ली ९२

तम्बाकू मे एक नही 'चौबीस' घातक विष होते हैं। कुछ अनुसन्धानो मे इसमें २०० प्रकार के जहरीले पदार्थ पाए गए हैं तम्बाकू पीने, खाने अथवा सूघने से कोई पोषक तत्व प्राप्त नही होता। तम्बाकू का रस या धुआ शरीर के जिस अग के सम्पर्क मे आता है उस पर अपना विनाशकारी प्रभाव छोड़ता है इसका तीव्र विष रक्त मे मिलकर अनेक रोगो को जन्म देता है। धुए से फेफडो व श्वसन तन्त्र मे कैंसर, तम्बाकू खाने पर मुह मे कैंसर और सूघने से नाक व सायनस कैंसर अधिक होते हैं। फेफडो मे कैंसर निकोटीन से होता है।

इग्लैण्ड के डा० जेम्स एच डोगट के अनुसार एक पौंड तम्बाकू मे ३८० ग्रेन निकोटीन होता है। १ १० ग्रेन निकोटीन से कुत्ता ३ मिनट मे मर जाता है। खालि निकोटीन की एक बूद से काला नाग तुरन्त मर जाता है। खरगोश ३ मिनट मे, बिल्ली या मनुष्य ५ मिनट मे मर जाते हैं। एक सिगार के विष को एक साथ लेने से दो मनुष्यो की जीवन-लीला समाप्त हो सकती है। केवल सिगार के पाइप को चूसने मात्र से अनेक शिशुओ की मृत्यु हो गई है। डा० डब्ल्यू० जे मकाटिन्स के अनुसार प्रत्येक सिगरेट शरीर मे लगभग ५ मि ग्रा विटामिन सी का निरथक कर देती है। एक सिगरेट पीने से १ से ५ मिलीग्राम निकोटीन शरीर मे प्रवेश कर विष-क्रिया प्रारम्भ करता है। अमेरिका के साल्टलेक सिटी के डा ग्रेस के मतानुसार सिगरेट के धुए से निकला तारकोल व निकोटीन फेफडो मे एकत्र होने से कैंसर उत्पन्न होता है।

फुरफुरल एव प्रूसिक एसिड विषो से शरीर मे थकान जडता और उदासीनता आती है। धूम्रपान से पहले चुस्ती फिर सुस्ती आती है जिसे दूर करने के लिए पुन धूम्रपान की इच्छा (हुडक) होती है। यह क्रम आदत मे बदल जाता है। इसका कुप्रभाव सास नली व फेफडो मे सूजन पैदा करता है जिससे गले मे दाने व छाले, पीडा, स्वर मे भारीपन, सूखी खासी हाफनी दमा आदि रोग हो जाते हैं।'

—डा० आर० एन० टंडन

धुए के कण फेफडो मे जलन पैदा करते है इस अनुपयोगी तत्व को शरीर से बाहर जाकर फेंकने के प्रयत्न का नाम ही खासी है। बार बार धूम्रपान से फेफडो की सूजन बढने से खासी और फिर कैंसर तक बिना बुलाए आ जाते हैं श्वास नली प्रदाह (ब्राकाइटिस) ही बढकर तपेदिक (टी बी) का रूप धारण कर लेता है।

धूम्रपान से स्त्रियो का मधुर स्वर व स्निग्धता समाप्त हो जाते हैं। मार्श गैस शरीर की शक्ति क्षीण करके नपुसकता लाती है। कार्बन मोनो आक्साइड से दिल (कार्डीय वैस्क्युलीय रोग दमा मास और आख के रोग होते हैं। खून का पानी तक बनता है। डा० वैस के अनुसार धूम्रपान से रक्त के लाल कणो की सख्या ५८ लाख से घट कर २४ लाख रहने और सफेद कण दुगने होने से सिद्ध होता है कि धूम्रपान से खून का पानी बन जाता है। धूम्रपान रक्त असलियत घटाकर उसे निकम्मा कर देता है। यह हृदय मे रक्त के बहाव मे रुकावट पैदा करता है। यह दिल की धडकन को १५ प्रतिशत बढा देता है जिससे हृदय की कार्यक्षमता कम होती है। इसे ही आधुनिक भाषा मे रक्त कैंसर कहते हैं। (क्रमश)

स्वास्थ्य चर्चा-

पेट के कीड़े

—डाक्टर बी. डी. अग्रवाल

हमारे देश मे ही नहीं बल्कि विश्व के विकसित देशो मे भी पेट रोगो का एक बहुत बडा कारण विभिन्न प्रकार के कीडे हैं जो रोगी की आत मे रहकर भोज्य पदार्थ और खून चूसकर मौजमस्ती करते हुये अपनी सख्या मे वद्धि भी करते रहते है

पेट दर्द के अलावा ये कीडे खून की कमी, खासी पीलिया मिर्गी का दौरा जैसे लक्षण भी उत्पन्न कर देते हैं। कुछ रोगियो का लिवर तथा तिल्ली भी आकार म बहुत बढ जाते हैं तो कुछ रोगियो के पूरे शरीर पर सूजन आ जाती है कुछ रोगियो के शरीर पर खुजली हो जाती है त । त्वचा पर लाल चकत्ते भी पड जाते है। पेट फूल जाता है पेट मे जोर से दर्द उठने के साथ उल्टिया भी होने लगती है।

बालक ही नही बडे भी प्रभावित—आमतौर पर लोगो की यह धारणा रहती है कि पेट मे कीडे केवल बच्चो मे ही रहते हैं लेकिन मैंने शोधकार्य के फलस्वरूप वयस्क व्यक्तियो को भी पेट के कीडो से प्रभावित होते देखा है। रोगियो को इन कीडो से मुक्ति दिलाने के लिये दिन प्रतिदिन शोधकार्यो के फलस्वरूप नई नई ऐसी औषधियो का आविष्कार किया जा रहा है जो कारगर होने के साथ साथ रोगी पर विपरीत प्रभाव न डालें।

कीडो से मिरगी का दौरा भी—मिरगी के दौरे पडने के कारणो मे सिर मे चोट लगना (हैड इन्जरी), मस्तिष्क मे टी बी की गाठ या ट्यूबरकुलोमा तथा ब्रेन ट्यूमर मुख्य है जबकि बहुत से रोगियो मे बिना किसी कारण के ही दौरे पडते रहते हैं। जनवरी मे नई दिल्ली मे सम्पन्न हुये फिजीशियन्स के सम्मेलन मे दिल्ली के डाक्टर बसल ने कई रोगियो के मस्तिष्क सी टी स्कैन की स्टडी करने के बाद जानकारी दी कि पेट का टीनिया सोलियम नामक टेपवर्म कीडे का लारवा रक्तवाहिनी द्वारा मस्तिष्क मे पहुचकर सिस्ट के रूप मे विकसित होकर मिरगी के दौरे के लिये बहुत से रोगियो मे जिम्मेदार होता है। ऐसे कुछ रोगी मैंने भी कानपुर मेडिकल कालेज अस्पताल मे देखे है जिनमे एक नई दवा प्राजीक्वेंटल बहुत उपयोगी पायी गई।

परामर्श के लिये आने वाले रोगियो मे पेट के निम्नलिखित प्रकार के कीडे प्रमुखता से देखे जाते हैं—

थ्रेड वर्म—नामक कीडा पतला सफेद छोटा होता है जो बडी आत मे रहता है। मादा थ्रेड वर्म गुदा के आसपास की त्वचा पर अण्डे देती है, जिसे खुजाने पर ये अण्डे रोगी की अगुली तथा नाखूनो पर लग जाते हैं खाना खाने पर हाथ न धोने पर अथवा नाखून मुह मे देने से ये अण्डे आत मे पहुच कर बार-बार अपनी सख्या बढाते रहते हैं।

गुदाभाग तथा उसके आसपास खुजली, स्वभाव का चिड़चिड़ापन नींद न आना, सोते सोते पेशाब कर देना बच्चेदानी के मुह पर खुजली या उससे गदा पानी आना अथवा मूत्रमार्ग मे सक्रमण इन कीडो के मुख्य लक्षण है। मुख्य दवायें पायरेंटल मेबेंडाजोल एव एलबेंडाजोल है लेकिन इन्हे चिकित्सक के परामर्श से ही लें।

राउन्ड वर्म—या एस्केरिस नामक लगभग आठ इच लम्बा यह गोल कीडा हल्का गुलाबी या सफेद रग का होता है जो रोगी की आत के ऊपरी भाग मे रहता है। ये रोगी के भोज्य पदार्थ को हजम करके उसे कमजोर बनाते रहते हैं।

पेट दर्द उल्टी, वजन कम होते जाना बच्चो की बाढ़ ठीक से न होना आतो मे रुकावट, खांसी सास फूलना, खांसी मे खून आना, पीलिया लिवर मे फोडा या एब्सिस बन जाना एव इसोसिनोफिलिया इन कीडो के मुख्य लक्षण है। थ्रेड वर्म के उपचार मे कारगर दवायें यहा भी उपयोगी है।

हुक वर्म यह कीडा लगभग आधा इच लम्बा सफेद रग का होता है जो मुख्यत गावो के रोगियो मे देखने को मिलता है। हुक वर्म अपने दातो द्वारा रोगी की छोटी आत के ऊपरी भाग (डयोडिनम) की दीवाल से चिपककर रक्त चूसता रहता है।

हुक वर्म द्वारा होने वाली बीमारी का मुख्य लक्षण एनिमिया या खून की कमी है जिसके कारण रोगी कमजोरी और थकावट महसूस करता है। खून की अत्यधिक कमी हो जाने से पूरे शरीर पर सूजन, दिल की धडकन, सास फूलना जैसे लक्षण प्राय मिलते हैं। कुछ रोगी पेट के मध्य ऊपरी भाग मे दर्द की भी शिकायत करते हैं जिससे पेप्टिक अल्सर होने का भ्रम हो सकता है।

इस रोग के उपचार के लिये उपरोक्त औषधियो के अतिरिक्त बीफीनियम लवण भी उपयोगी है। शरीर मे रक्त बढाने वाली दवा (आयरन दवा) तथा प्रोटीन भी बहुत आवश्यक होती है। कभी-कभी रोगी को स्वस्थ व्यक्ति का खून चढाने की भी आवश्यकता होती है। खून की शरीर मे बहुत कमी होने पर रोगी को आराम कराना बहुत जरूरी है। जहा तक सम्भव हो मिट्टी मे नगे पैर न चलें।

अन्य कीडे—फीते के आकार के लम्बे टेपवर्म हैं जो मुख्यत मासाहारी व्यक्तियो मे मिलते हैं। मुख्य दवा निक्लोसिमाइड है जिसे डाक्टर की सलाह से ही लें।

प्रेरक प्रसग—

बम की नकल करने वाले : सरदार भगतसिह

सरदार भगतसिह पढने के शोकीन थे। तरह तरह की पुस्तकें पढते रहते। एक बार उन्होने द्वारिकादास पुस्तकालय के लाइब्ररियन प० राजाराम शास्त्री से बम बनाने की पुस्तक के बारे मे पूछा। शास्त्री जी भगतसिह के अच्छ मित्रो मे से थे। फिलहाल उनके दिमाग मे किसी पुस्तक का ध्यान न आया उन्होने कहा कि वह कुछ दिन बाद ही पुस्तक के बारे मे बता सक गे।

शास्त्री जी ने चार पाच दिन पुस्तके देखी। एक पुस्तक उनके हाथ लगी। म था—इन साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका। उसम बम बनाने को विधि विस्तार से लिखी थी। उन्होंने पुस्तक भगतसिह को थमा दी। भगतसिह ने बम बनाने की विधि ध्यान से पूरी पढी।

चलने लगे तो भगतसिह ने कहा— 'शास्त्री जी मैं यह पुस्तक घर ले जाना चाहता हू। शास्त्री जी ने मना कर दिया कि पुस्तकालय के बाहर पुस्तके ले जाने का नियम नही है।

भगतसिह नियम का सम्मान करते थे। बोल—ठीक है मैं पुस्तक बाहर नही ले जाऊ गा। इतना कहकर पुस्तक रख दी, चले गए।

अगले दिन भगतसिह आए। पुस्तक खोली। बम बनाने की विधि वाला पूरा अध्याय कापी मे लिख लिया।

ऐसी ही छोटी छोटी घटनाए व्यक्ति को महान बनाती है। ऐसे नोजवान भारत मा के सपूत को शत शत बन्दन।

डा० नरेन्द्र कुमार

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 6-7-5-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
व साप्ताहिक "आर्यसन्देश" ९ मई, १९९३

ऋषि दयानन्द ने सन्देश दिया

(पृष्ठ १ का शेष)

जन्म, मृत्यु मानवता समाज ससार आदि के परस्पर सम्बन्धो का ज्ञान भी होना चाहिए। श्री पाटिल ने यह भी चेतावनी दी कि धर्म, जाति, सम्प्रदाय, सस्कृति एव देश के नाम पर मनुष्य को विभाजित करना खतरनाक है। हमे विश्व शान्ति व सदभावना के लिए काम करते रहना चाहिए।

पूव सासद एव भाजपा के राष्ट्रीय मन्त्री श्री विजयकुमार मल्होत्रा ने कहा कि यह दुख की बात है कि आज हमारे ही तथाकथित लेखक कहते हैं कि आर्य बाहर से आये थे तथा गोमास खाते थे। पाठ्य पुस्तको के माध्यम से यह अनगर्ल प्रचार हो रहा है। आज देश पर छाये सास्कृतिक सकट को दूर करने के लिए वेदो व उपनिषदो की शिक्षा पर आचरण करने की नितात जरूरत है।

पूर्व सासद श्री रामचन्द्र विकल ने कहा कि महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज को राष्ट्र की सभी समस्याओ से जोडकर उनके समाधान का मार्ग प्रस्तुत किया था। उत्तर प्रदेश की सुश्री शकुन्तला राय ने कहा कि यदि मातृ शक्ति को दबाया गया तो पुरुष कभी न उठ सकेगा। उन्होने महात्मा हसराज के सन्ध्या, सेवा, स्वाध्याय, स्वदेश व स्वभाषा के पाच सकारो पर अमल करने का अनुरोध किया।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के कुलपति डा० सर्वानन्द आर्य ने कहा कि श्वेतवस्त्रो के महात्मा, हसराज त्याग व तपस्या के कारण जग विख्यात हैं। उन्होने बताया कि महाशय व नमस्ते आय समाज की अद्भुत देन है।

समारोह मे मोरिशस के राजदूत महामान्य आनन्द प्रिय नेणूर ने कहा कि मेरा जन्म आय समाजी परिवार मे हुआ और आर्य समाज के सस्कार मुझे परम्परा से ही मिले हैं। आर्यसमाज ने मोरिशस मे अज्ञान के अधकार को दूर किया है। उन्होने यह भी बताया कि वैदिक पाठशाला के माध्यम से मोरिशस मे उन्होने हिन्दी सीखी थी।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा हिन्दी भाषा के प्रयोगार्थ किए गए कार्य

सभा के महामन्त्री डाक्टर धर्मपाल ने उपराज्यपाल श्री पी० के० दवे दिल्ली, अध्यक्ष, विश्व युवा केन्द्र, चाणक्यपुरी नई दिल्ली, अध्यक्ष, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, श्रम मन्त्री, भारत सरकार नई दिल्ली, राज्य मन्त्री, हरियाणा सरकार, चण्डीगढ, शहरी विकास मन्त्री भारत सरकार, नई दिल्ली, सचिव कार्मिक लोक शिकायत तथा पेंशन मन्त्रालय नई दिल्ली से अनुरोध किया है कि मन्त्रालयों/सस्थानों के काम काज मे हिन्दी का प्रयोग किया जाए। मन्त्रालयो/सस्थानो मे नामपट सकेत पट्ट, नेमप्लेटें, रबड की मोहरें आदि अग्रेजी मे न होकर द्विभाषी होने चाहिए, जिसे आम आदमी आसानी से समझ सके। महामन्त्री ने कहा कि इन सस्थानो में जो भी प्रशिक्षणार्थी प्रशिक्षण लेते हैं उनमे से बहुतो का शैक्षिक स्तर निम्न होता है और अग्रेजी भाषा का ज्ञान उन्हें न के बराबर होता है। जबकि उपरोक्त मन्त्रालयो/सस्थानो मे लगभग सभी सामग्री अग्रेजी भाषा मे ही होता है। डा० धर्मपाल ने अपने पत्र में कहा कि हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है इसलिए उसको और भी महत्व दिया जाना चाहिए।

कार्यक्रम मे डी०वी०ए० प्रबन्ध समिति के प्रधान प्रो० ज्ञान प्रकाश चोपड़ा ने बताया कि गरीब व शोषित परिवार के बच्चों को डी०ए०वी० स्कूलो मे नि शुल्क शिक्षा व वर्दिया दी जाती है। मच सचालन सभामन्त्री श्री रामनाथ सहगल ने किया। अन्त मे जवाहर विद्या मदिर राची के विद्यार्थियो ने गुरुकुल पद्धति पर लघु नाटिका तथा दयानन्द माडल, स्कूल दयानन्द विहार के छात्रो ने 'मानवता की जलती मशाल' नृत्य नाटिका प्रस्तुत की। कायक्रम मे श्री शिवराज पाटिल ने श्री अशोक कौशिक द्वारा सम्पादित आर्य जगत के महात्मा हसराज विशेषाक का भी विमोचन किया।

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन –३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक ३२ रविवार, १६ मई १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६६ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

केरल के स्कूलो मे

शुक्रवार को अवकाश एवं नमाज के लिए ढ़ाई घन्टे की छुट्टी

नई दिल्ली ९ मई। केरल की सभी मुस्लिम शिक्षण सस्थाओ मे रविवार के स्थान पर शुक्रवार को साप्ताहिक अवकाश रखने तथा सभी विद्यालयो मे १२ से २-३० बजे तक नमाज अदा करने के लिए, छुट्टी के राज्य सरकार के निर्णय पर विगत सप्ताह लोक सभा मे चर्चा हुयी। नमाज के समय मे एक घन्टे की वृद्धि की गयी है। जिन विद्यालयो मे मुस्लिम छात्र बहुमत मे है वहा शुक्रवार को छुट्टी रखी जायेगी तथा जिन मुस्लिम स्कूलो मे चाहे मुस्लिम छात्रो का बहुमत न भी हो वहा भी शुक्रवार को ही छुट्टी रखी जायेगी। विपक्ष के सासदो का कहना था कि मुस्लिम समुदाय की ओर ऐसी कोई माग नहीं थी फिर तुष्टीकरण के लिए ऐसा किया गया है। शिक्षामन्त्री ई० टी० मोहम्मद बशीर का कथन है कि ये पुराने आदेश हैं, आदेशो को सख्ती से लागू करवाने के लिए परिपत्र पुन जारी किया गया है। परन्तु अनेक सदस्यो ने कहा ओटापलम उप चुनाव को ध्यान मे रख कर वोटो के लिए ऐसा किया गया है। केरल विश्वविद्यालय के भूतपूव उपकुलपति श्री मथाई का विचार है कि सभी सरकारी स्कूलो मे एक-सा नियम लागू होना चाहिए अन्यथा भारत जैसे देश मे कोई तन्त्र खडा रहना कठिन हो जायेगा और असमजस की स्थिति पैदा हो जायेगी। उल्लेखनीय है कि उपराष्ट्रपति के० आर० नारायणन द्वारा सीट खाली किये जाने के कारण यहा १९ मई को चुनाव हो रहा था परन्तु चुनाव आयोग ने अब वहा निर्वाचन स्थगित कर १९ जुलाई को चुनाव कराने के लिए विज्ञाप्ति जारी की हैं।

कश्मीर, भारत का अभिन्न अंग है: भारत द्वारा

इस्लामी प्रस्ताव की भर्त्सना

नई दिल्ली, १० मई। गत मास कराची मे इस्लामी सम्मेलन सगठन के ५१ देशो की बैठक हुयी। इसमे पाकिस्तान की शह पर कश्मीर पर पारित प्रस्ताव मे भारत पर यह आरोप लगाया है कि भारतीय सुरक्षा बल कश्मीर मे मुसलमानो का उत्पीडन कर मानवाधिकारो का हनन कर रहे हैं। ऐसा तथ्यहीन भ्रामक व एक पक्षीय प्रस्ताव भारत के आन्तरिक मामलो मे दखल है तथा राष्ट्र की सम्प्रभुता मे हस्तक्षेप है। प्रस्ताव मे यह भी सिफारिश की गयी है कि यदि भारत इस बारे मे अपना दृष्टिकोण नही बदलता है तो उसके विरुद्ध सास्कृतिक, वैज्ञानिक व अन्य तरह के आदान प्रदान सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाए जायें।

भारत ने उक्त प्रस्ताव को एक पक्षीय बताते हुये अमान्य करार दिया है और सगठन की भर्त्सना की है। भारत ने कहा है कि इससे तोड-फोड को सरक्षण देने एव भारत के खिलाफ पाकिस्तान द्वारा आतकवाद को जारी रखने मे प्रोत्साहन मिलेगा। आगे यह भी कहा है कि इसे भारत के साथ सगठन देशो के सम्बन्धो पर भी फक पड सकता है। यह जानकारी विदेश राज्य मन्त्री श्री रघुनन्दन लाल भाटिया व श्री सलमान खुर्शीद ने विदेश मत्रालय से जुडी ससदीय सलाहकार समिति के सदस्यो को दी। सासदो ने कहा कि कश्मीर भारत का अभिन्न अग है और इस इस पर किसी समझौते का प्रश्न ही नही उठता हैं। उन्होने यह भी कहा कि इस मामले मे पाकिस्तान से सख्ती से पेश आना चाहिए। उल्लेखनीय है कि यद्यपि भारत मे करोडो मुसलमान रहते है फिर भी उसने भारत के अनुरोध को अस्वीकार कर अपनी गतिविधिया मे भारतीय मुसलमानो को सम्मिलित नही किया। सगठन ने इराक, ईरान, तुर्की आदि देशो मे कुर्दों पर निरन्तर हो रहे अत्याचारो के बारे मे कुछ नही कहा। साथ ही सगठन ने अपने धार्मिक देशो की शिकायतो पर भी कोई ध्यान नही दिया परन्तु भारत के अटूट अग कशमीर के बारे मे प्रस्ताव पारित कर आवश्यक हस्तक्षेप किया है।

मोहन लाल मोहित अभिनन्दन ग्रन्थ

नई दिल्ली लोकसभा अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल ने आय सभा मोरीशस के प्रधान आर्यरत्न श्री मोहन लाल मोहित अभिनन्दन ग्रन्थ का १८ अप्रैल को तालकटोरा इन्डोर स्टेडियम मे विमोचन किया। ग्रन्थ मे भारत व मोरीशस के विद्वानो व नेताओ के लेख एव श्री मोहित द्वारा आय समाज व राष्ट्र के प्रति की गयी सेवाओ पर प्रकाश डाला गया है। कायक्रम मे पूव राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिह, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव, महामन्त्री डा० धर्मपाल, पूर्व सासद श्री रामचन्द विकल एव डा० विजय कुमार मल्होत्रा भारत मे मोरीशस के उच्चायुक्त श्री आनन्द प्रिय नीबूर एव डी ए वी सस्थाओ के अधिकारियो सहित भारी सख्या में आर्य महानुभाव उपस्थित थे। यह विमोचन महात्मा हसराज दिवस में सम्पन्न हुआ।

हिन्दी कम्प्यूटर कोर्स

दिल्ली मे विभिन्न स्थानो पर अग्रेजी भाषा के माध्यम से कम्प्यूटर कोस चल रहे हैं। उत्साही युवा श्री मनीश शर्मा निदेशक, हसराज गुप्ता कम्प्यूटर इस्टीट्यूट आर्य भवन, जोर बाग नई दिल्ली-३ (दूरभाष ४६२५०४२) ने हिन्दी भाषा के माध्यम से कम्प्यूटर कोर्स चलाने का साहसिक कदम उठाया है।

इस पवित्र काय मे हमारी हार्दिक शुभकामनाए।

विमल कान्त शर्मा,
सम्पादक आर्य सन्देश

आर्यों का आदि देश

श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक, अध्यक्ष—वैदिक सस्थान नजीबाबाद (उ० प्र०)

जब कोई जाति किसी दूसरे देश पर अपनी सत्ता स्थापित कर लेती है तो वह अपने शासन को उस देश पर चिरस्थायी करने के लिए प्रमुखतया दो कार्य किया करती है, जिनमे से एक तो शासित देश के इतिहास को बदलने का है और दूसरा है उसकी सस्कृति को समाप्त कर देने का। आर्यावर्त मे अनेक विदेशी जातिया आयी, किन्तु वह सब यहा की सस्कृति मे ऐसी घुलमिल गयी कि आज यह जानना भी नितान्त असम्भव है कि उन नस्लो का कौन है? किन्तु दो जातिया यहा ऐसी आयी कि जो यहा लोगो में एकाकार नही हो सकी, कारण यह है कि वह यहा न तो किन्ही तथ्यो को खोजने आयी थी और न केवल यहा बसने के लिए अपितु वह तो अपने आर्थिक लाभ तथा सास्कृतिक परिवेश को यहा के निवासियो पर थोपने के लिये आयी थी।

उनमे एक तो थे अरब निवासी और दूसरे योरोपवासी। अरबवासियो का एक निश्चित उद्देश्य था और वह था मोहम्मदी मत का प्रचार-प्रसार। इन्होने इसके लिए उचित या अनुचित – जिस समय जैसा ठीक समझा तथा सम्भव हुआ, वही प्रकार अपनाया। यही कारण है कि वह यहा का सस्कृति म नही मिल सके।

दूसरी जाति जो योरोप से आयी, वह अपने साथ मे लायी धन और अपनी धर्म पुस्तक बाइबल। वह यहा आकर व्यापार के माध्यम से जमी और धन के लोभ तथा छल कपट से यहा के निधन तथा अविद्याग्रस्थ लोगो को उसने ईसाई बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार करते करते एक समय वह आया कि वह लोग यहा के शासक बन बैठे और उसके पश्चात् अपने शासन को सुदृढ तथा चिरस्थायी करने के लिये उन्होने भी यहा की सस्कृति तथा इतिहास को मिटाने के मार्ग अपनाये, जिससे कि हम लोग आत्म विस्तृत हो जाये किन्तु उनका ढग मुसलमानो से भिन्न रहा। क्योंकि वह मुसलमानो की अपेक्षा अधिक शिक्षित थे। यही कारण है कि उन्होने शीघ्र ही यह समझ लिया कि किसी जाति को न तो शास्त्रास्त्रों के बल पर मिटाया ही जा सकता है और न सदा सवदा उसके ऊपर शासन ही स्थापित रक्खा जा सकता है अतएव उन्होने अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक सोच-विचार करने के पश्चात् भारतीयो के वास्तविक इतिहास को बदलना प्रारम्भ कर दिया और उसके लिये शिक्षा-पद्धति को माध्यम बनाया।

लार्ड मैकाले की पद्धति लागू कर हमे यह पढाया जाना प्रारम्भ कर दिया कि आर्य इस देश में मध्य एशिया से आये थे आर्यो के आने से पहले यहा जो लोग रहते थे, उनकी हत्याये करते तथा उन्हे लूटते हुए समस्त उत्तर भारत में फैल गए और यहा के उन आदिवासियो को मार कर दक्षिण भारत म भगा दिया तथा मोहन जोदडो और हडप्पा की सभ्यताओ को नष्ट कर दिया। इस स्थापना के द्वारा एक तो आर्यो को विदेशी सिद्ध किया तथा दूसरा कार्य भारत के मूल निवासी आर्यों को आदिवासी तथा विदेशी आक्रमणकारी वर्गो मे विभाजित कर 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति को परिताथ करने का किया। इसका परिणाम यह हुआ कि केवल दो पीढियो मे ही हम यह मानने लग गये कि हम भी मुसलमानो आदि की भाति यहा बाहर से आये हैं।

दूसरा काय करने अर्थात् आय सस्कृति को मिटाने और उसके स्थान पर बाइबिल के ईसाई मत को फैलाने के लिए उन्होने जर्मन अध्यापक प्रो० मैक्समूलर को इग्लैण्ड बुलाकर उससे वेदो का भ्रष्ट भाष्य कराना प्रारम्भ कर दिया, जिससे भारतीयो को अपने मूल के प्रति ही घृणा हो जाय और यह जाति धीरे धीरे ईसाई बन जाय, जिससे भारत मे ब्रिटिश राज्य की जडे दृढ हो जाये।

विदेशियो द्वारा मनगढन्त उस कपोल कल्पित इतिहास को पढाये जाने का ही परिणाम है कि भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने "भारत की खोज" नामक पुस्तक लिखी, जिसके आधार पर आजकल दूरदर्शन पर "भारत एक खोज" नामक सीरियल दिखाया जा रहा है, जिसमे भारत पर आक्रमण कर लूट-मार करत हुए आय लोगो को दिखाया गया है। प्रिय पाठकगण! हमारा यह दृढ विश्वास है कि आय कही बाहर से इस देश मे नही आये अपितु इसी देश के निवासी हैं।

आर्य ही भारत के आदिवासी (मूल निवासी) हैं

अत्यन्त खेद का विषय है कि अग्रेजों के चले जाने के पश्चात् चार दशाब्दी बीत जाने पर भी अभी तक भारतीयो को वही शिक्षा मिल रही है और इतिहास के नाम पर वही कुछ पढना पड रहा है जिसके परिणामस्वरूप इस शिक्षा और इतिहास से अनुप्राणित भारत के वतमान तथा कथित इतिहासवेत्ता अभी भी भारत को आर्यो का आदि देश और आर्यो को भारत के मूल निवासी मानने को तैयार नही। यह लोग इतने कूप मण्डक हो गये हैं कि इनकी यह कूपमण्डूकता दुराग्रह का रूप धारण कर चुकी है। इतना दुराग्रह कि भारतीय पक्ष को सुनने, उसके प्रभाव जान लेने के पश्चात् निरुत्तर होकर भी बिना किसी तर्क और प्रमाण के अपनी बात पर अडे रहते हैं। यह निकृष्ट कोटि की हठवादिता और दुराग्रह है। इस प्रकार यह लोग जान बूझकर स्व इतिहास से अनभिज्ञ रहना चाहते है वही भावी सन्ततियो को भारतीय इतिहास और सस्कृति से अनभिज्ञ रखने के दुष्प्रयास म लिप्त रहकर जाति को पतन और विनाश के गर्त मे धकेलने का पाप कर रह है।

मूल निवासी मानने मे निम्नलिखित प्रमाण हैं

१—हमारा कहना यह है कि आर्य भारत के मूल निवासी हैं। आर्यों के इस देश के मूल निवासी होने के कारण ही इस देश का सबसे पहला नाम आर्यावर्त्त है। यदि आर्य कही बाहर मे यहा आये होते और उनके आने से इस देश का नाम आर्यावर्त होता तो आर्यो के आने से पहले कोई अन्य नाम होना चाहिये था। परन्तु तथ्य यह है कि आर्यावर्त्त स पहले इस देश का कोई दूसरा नाम नही था।

२—समस्त भूगोल मे कोई भूखण्ड ऐसा नही है कि जहा मनुष्य रहते हो और उसका कोई नाम न हो। मनुष्य के रहने की बात छोडिये, यदि किसी एक भूखण्ड का मानव को पता लग जाता है कि जिस पर मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी आदि भी न पाये जाते हो तो वह उसका भी कोई नाम रख लेता है। इसके लिए प्रमाण यह है कि उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव क्षेत्रो मे कोई आबादी न होने पर भी उनके नाम रख लिये गए हैं और गत दो तीन दशाब्दि पूव अमरीका तथा योरोप महाद्वीपो के मध्य उत्तरी ध्रुव की दिशा मे एक सर्वथा हिमाच्छादित भू-भाग मिल गया। वहा पर मनुष्य तो क्या कोई अन्य प्राणी भी नही पाया गया। उसके नितान्त हिमाच्छादित होने के कारण उसका नाम आइस-लैण्ड अर्थात् हिम की भूमि हिम क्षेत्र रख दिया गया। फिर यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि इस भूखण्ड म आर्या से पहले मनुष्यो की एक बडी सख्या निवास करती थी किन्तु इतन पर भी इसका कोई नाम नही था। क्या यह इतिहास और भूगाल दोनो के साथ उन्हे स्वीकार न करने का मिथ्या व्यवहार नही है? तथा क्या यह इतिहास और भूगोल को न समझने की अल्पबुद्धि तथा ऐतिहासिक और भौगोलिक अयोग्यता का प्रमाण नही है।

३—एक और बात यह है कि यह देश आर्यो का आदि देश तो है ही—साथ ही आर्या का केन्द्र भी है। यह इतिहास की सत्यता भी आर्यावर्त्त शब्द मे ही निहित है। आय+आवर्त अर्थात् आर्यो का केन्द्र। इससे यह सिद्ध होता है कि न केवल यह देश आर्यो का आदि देश ही है अपितु आर्यो का केन्द्र भी यही है। इसी भूखण्ड स आय लोग भूगोल के अन्य भागो मे जाकर बसे और कालान्तर मे जलवायु के प्रभाव तथा स्वमूल आर्यावत्त से दूर हो जाने तथा दीघकाल बीतने पर आय परम्परा स विच्छिन्न हो जाने पर विविध जातियो मे विभक्त हो गये।

आर्यों को मूल निवासी न मानने वालो की भ्रान्तियां

वास्तविकता यही है कि भारत आर्यों का आदि देश है और आर्य यहा के मूल निवासी हैं तथा द्रविड, कोल, किरात, शक, यवन, कम्बोज आदि सभी आर्यों के क्षत्रीय वण में स हैं और खान पान आचार-विचार आदि मे भ्रष्ट हो जाने के कारण यह सब लोग अलग-अलग वर्गो मे विभाजित हो गये तथा पृथक्-पृथक् नामो से पुकारे जाने लगे।

किन्तु पश्चिमी दृष्टिकोण के इतिहासज्ञ सिन्धु घाटी की सभ्यता को आर्यों से प्राचीन कालीन बताते हैं। इनका कहना है कि आर्यो ने जाकर सिन्धु सभ्यता को विनष्ट किया। यह भी कहते हैं कि सिन्धु सभ्यता पाच सहस्र वर्ष पुरानी है। स्वर्गीय डा० सम्पूर्णानन्द के अनुसार वेदो का समय अठारह सहस्र वर्ष पुराना है।

(क्रमश)

आर्य विदेशी नहीं, भारत की सभ्यता के अंग थे

—रजन कुमार सिंह

आर्य जाति कहीं बाहर से नहीं आयी, बल्कि यह मूल भारतीय सभ्यता एव सस्कृति का हिस्सा थी। यह मानना है अमेरिकी मानव वैज्ञानिक और पुरातत्ववेत्ता डाक्टर जे० मार्क केनोयर का। विस्कासिन विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान विभाग से जुडे डा० केनोयर फिलहाल हडप्पा मे प्राचीन स्थलो की खुदाई में लगे हुए है।

डा० केनोयर का स्पष्ट मत है कि 'भारोपीय' (इडोयूरोपियन) तथा 'भारतीय आय' (इडोआर्यन) की परिकल्पनाओ के पीछे यूरोपीय विद्वानो का उद्देश्य अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करना था और इसके लिए उन्हे स्थितिया भी अनुकूल मिलीं क्योकि तत्कालीन भारतीय मानस हीन भावना से इतना अधिक ग्रस्त था कि वह स्वय को पश्चिम से किसी न किसी रूप में जोडकर ही आत्म-गौरव महसूस करने लगा था।

दरअसल, इस शताब्दी के तीसरे दशक मे भारतीय अन्वेषणकर्ता श्री डी आर साहनी और आर डी बनर्जी द्वारा क्रमश हडप्पा और मोहन जोदडो की खोज से पहले तक पश्चिमी विद्वान यही कहते आये थे कि बाहर से आये आर्यों ने भारत को सभ्यता से परिचित कराया।

हालांकि हडप्पा, और खासकर मोहन जोदडो की खोज से पश्चिमी विद्वानो का यह दावा ध्वस्त हो गया, फिर भी यही समझा जाता रहा कि आर्य बाहर से आये और उन्होने सिन्धु घाटी के मूल निवासियो को दक्षिण एव पूर्व की ओर खदेड दिया। इसके साथ ही एक अन्य अवधारणा ने जन्म लिया कि आर्य बर्बर थे और हडप्पावासी द्रविड उनके सामने टिक नही पाये क्योंकि आर्यों के पास अश्वो की गति और लोहे की शक्ति थी। जबकि हडप्पा के लोग अब तक इनसे अपरिचित थे।

डा० केनोयर इस पूरी अवधारणा को खारिज करते हुए कहते हैं कि हडप्पा सभ्यता से जुडे विभिन्न स्थलो पर ३१०० वर्ष से भी अधिक पुराने लोहे मिले हैं, जबकि बलुचिस्तान मे सबसे पुराना लोहा लगभग पौने तीन हजार साल पहले का ही पाया गया है। इसी तरह सिन्धु घाटी मे अश्वो के अवशेष प्राप्त हुए हैं जो इस तथ्य को झुठलाते हैं कि हडप्पावासी अश्वो से परिचित नहीं थे।

डा० केनोयर का मानना है कि अनेक धर्मों और जातियो के लोग हडप्पा मे एक साथ रहते थे। 'आर्य' शब्द की अर्थ व्यजना की मदद लेते हुए वे कहते हैं, इन लोगो मे जो सुसभ्य और सुसस्कृत थे, वही 'आर्य' कहे गये और जो दबे और पिछड़े हुए थे वे 'अनार्य'।

सिन्धु घाटी सभ्यता की महत्ता को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं कि प्राचीन नगर सभ्यताओ मे यह एकमात्र है जहा राजकाज के लिए सैन्य शक्ति का सहारा नही लिया गया। मिश्र से लेकर सुमेर तक की प्राचीन सभ्यताओ से ऐसे अनेक अवशेष मिले हैं जिनमें राजा अथवा उसके दूत मारते पीटते हुए दिखाये गये हैं, जबकि ऐसा कोई भी चित्र सिंधु घाटी के किसी भी अवशेष पर नहीं पाया गया।

वैसे डा० केनोयर का मानना है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता केवल सिंधु घाटी मे ही नहीं पनपी, बल्कि सिन्धु घाटी सभ्यता के समानातर एक अन्य सभ्यता घाघरा हाकड़ा घाटी मे भी पनपी। ज्ञातव्य है कि सरस्वती इसी घाघरा की शाखा थी। उन्होने दावा किया कि हरियाणा स्थित राखीगढ़ी तथा पाकिस्तान के गनवेरीवाला आदि क्षेत्रो मे हुए अन्वेषण कार्यो मे इस तथ्य की पुष्टि हुई है, जबकि इन क्षेत्रो मे अभी बहुत काम किया जाना शेष है।

बहरहाल, डा० केनोयर के अनुसार प्रागैतिहासिक भारत मे राजनीति और धर्म अलग अलग नही थे। उनका मत है कि हडप्पा-मोहन जोदडो आदि के शासक अपने रिश्तेदारो के साथ राज काज चलाते थे। यह शासन धर्म के नाम पर होता और धर्म से ही नियन्त्रित होता। शासक परिवार की जनसख्या जब बढ जाती, उनमे से कुछ पचास-साठ आम जनो की टोली के साथ कहीं और जा बसते और वहां अपनी नयी शासन व्यवस्था स्थापित करते। डा० केनोयर के शब्दों मे शासक वर्ग धर्म से एकताबद्ध और सम्बन्ध से विभाजित था।

हडप्पा के साहिवाल जिले मे किये जा रहे अन्वेषण कार्यों की जानकारी देते हुए वे बताते हैं कि यहा के कुछ कब्रगाहो से प्राप्त प्रागैतिहासिक अवशेषो से पता चलता है कि हडप्पाकाल की महलाओ को पुरुषो से श्रेष्ठ नही भी तो उनके बराबर का दर्जा तो अवश्य प्राप्त था। अस्थियो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ये महिलाए कद-काठी मे पुरुषो से किसी तरह कम नही थी। डा० केनोयर बताते हैं कि अस्थियो के टूटे होने पर कभी तो यह तय कर पाना कठिन हो गया कि यह पुरुष की अस्थिया हैं अथवा महिला की।

सबसे रुचिकर बात जो सामने आयी वह यह कि किसी एक कब्रगाह से प्राप्त महिलाओ की हड्डियो मे जहा आनुवशिक समानता मिलती हैं वहीं पुरुषो की हड्डयो मे ऐसा कुछ नहीं मिलता। इसमे स्पष्ट है कि हडप्पा युग मे विवाह के बाद पुरुष ही अपनी पत्नी के घर जाकर रहते थे।

एक अन्य बात जो प्राचीन भारतीय सभ्यता और विश्व की अन्य समकालीन सभ्यताओ से पृथक करती है, वह है—अन्य सभ्यताओ मे जहा किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके स्वर्णाभूषणो आदि को उसके शव के साथ ही दफना दिया जाता था, वहीं हडप्पा मे स्वर्णाभूषणो को एक पीढ़ी अपनी अगली पीढ़ी के लिए विरासत मे छोड जाती। आभूषणो को मन्दिरो मे दान करने अथवा व्यापार मे लगाने की प्रथा भी थी। डा० केनोयर के अनुसार ऐसा इसलिए कहा जा सकता है क्योकि अस्थि-अवशेषो के साथ कहीं भी स्वर्ण आदि नहीं मिले हैं।

अपने अन्वेषण कार्य के बारे मे वे बताते हैं कि हडप्पा पुरातत्व अनुसधान परियोजना' नामक यह कार्य पाकिस्तान के पुरातत्व विभाग के सहयोग से चलाया जा रहा है। अमेरिकी पुरातत्ववेत्ता डा० केनोयर के अलावा न्यूयार्क विश्वविद्यालय की प्रो० रीटा राईट शामिल है। वे इस परियोजना पर १९८६ से ही काम कर रहे हैं और उम्मीद है कि उनका यह कार्य अगले पाच छह सालो तक चलेगा।

(७-५-९३ नवभारत से साभार)

लेखको से निवेदन

— सामयिक लेख, त्यौहारो व पर्वों से सम्बन्धित रचनाए कृपया अक प्रकाशन से एक मास पूर्व भिजवायें।

—आर्य समाजो, आर्य शिक्षण सस्थाओ आदि के उत्सव व समारोह के कार्यक्रमो के समाचार आयोजन के पश्चात् यथाशीघ्र भिजवाने की व्यवस्था करायें।

—सभी रचनायें अथवा प्रकाशनार्थ सामग्री कागज के एक ओर साफ-साफ लिखी अथवा डबल स्पेस मे टाइप की हुई होनी चाहिए।

—पता बदलने अथवा नवीकरण शुल्क भेजते समय ग्राहक सख्या का उल्लेख करते हुए पिन कोड नम्बर भी अवश्य लिखे।

—आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५ रुपये तथा आजीवन शुल्क २५० रुपये है। आजीवन ग्राहक बनने वालो को ५० रुपये मूल्य का वैदिक साहित्य अथवा आर्य सन्देश के पुराने विशेषाक नि शुल्क उपहार स्वरूप दिए जाएगे। स्टाक सीमित है।

—आर्य सन्देश प्रत्येक शुक्रवार को डाक से प्रेषित किया जाता है। १५ दिन तक भी अक न मिलने पर दूसरी प्रति के लिए पत्र अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश के लेखको के कथनो या मतो से सहमत होना आवश्यक नहीं है।

—पाठको के सुझाव व प्रतिक्रिया आमन्त्रित हैं।

कृपया सभी पत्र व्यवहार व ग्राहक शुल्क दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली के नाम भेजें।

—सम्पादक

आदर्श त्रैतवाद (२८)

राजसिंह भल्ला

अमृत्व को कौन प्राप्त करता है

समभूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभय सह ।
विकाशेन मृत्यु तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ।। ईशो० १४

आत्मा को और कारण कायरुपा प्रकृति को जो इस जोडे को एक साथ जानता है—प्रकृति पुरुष का विवेक एक साथ प्राप्त कर लेता है। उभ-परमाथ इकट्ठे सिद्ध करता है तथा आत्म ज्ञान और व्यवहार दोनो को मिलाकर साधना साधता है वह साधन परिवर्तनशीला प्रकृति के विवेक से मृत्यु को पार करके आत्म-ज्ञान से अमृत को प्राप्त कर लेता है। अमर हो जाता है। जीवन-मरण के बन्धन से छूट जाता है।

जो आत्मज्ञानी यह जानता है कि सब परिवर्तन नव पुरातन परिणाम प्रकृति मे ही है आत्मा मे नही हैं वह साधक इस विवेक स नदी पार करने के लिए नौकावत् प्रकृति का उचित प्रयोग करता हुआ मृत्यु नदी को पार करके आत्मज्ञान से अमृत पद को प्राप्त कर लेता है। वह परमानन्द को भोगता है। वह जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है।

मोक्ष का अधिकारी

ऋचो अक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदु ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।

श्वेता ४ ८

ऋचा के जिस अविनाशी परम निराकार भगवान् में सारे देव निवास करते है जो मनुष्य उसको नही जानता वह ऋचा से क्या करेगा उस ऋचा से क्या काम ? परन्तु जो उपासक उस भगवान् को जानते हैं, ध्यानपूर्वक उसकी आराधना करते हैं, उसका स्मरण करते हैं वे भली-भाति मोक्षधाम मे विराजमान होते है।

जीवन सफल होना

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।

केनो० २-५

ऋषि कहते है कि यदि इसी जन्म मे भगवान् को जान लिया तो सत्य है। ठीक है। सफलता है। जीवन सफल हो गया। यदि यहाँ इस जीवन मे न जाना तो महा हानि है। जन्म निष्फल हो गया। फिर पता नही कब मौका मिलेगा। सब भूत प्राणियो मे प्रभु की सत्ता को चिन्तन करके धीर जन इस लोक से मरकर अमृत-मुक्त हो जाते हैं। मनन-चिन्तन द्वारा इसी जन्म मे भगवान् को जाना जाय तो ठीक है। यदि मानव जन्म मे भगवान् को न आराधा तो बड़ी हानि है। महानाश है फिर ऐसा अवसर पाना कठिन है। सारे ससार में परमेश्वर की सत्ता को, नियम को चिन्तन करके बुद्धिमान् मनुष्य इस लोक से मर कर मुक्त हो जाते हैं। आत्मा-परमात्मा का मनन-चिन्तन करना ही परमामृत पद की प्राप्ति का रास्ता है।

सब चाहते हैं

तद्ध तद्वन नाम तद्वनाम त्युपासितव्यम स य एतदेव
वेदाभिहैन सर्वाणिभूतानि सवाञ्छन्ति। केनो० ४-६

यह ब्रह्म निश्चय उसका—उपासक का प्यारा—नाम है, इस कारण उसको प्रिय रूप जानकर आराधित करना चाहिये। वह जो इस प्रिय रूप को इस प्रकार जानता है उसको सब प्राणी प्यार करते हैं, उसे सब जन चाहते हैं। भगवान् प्रिय स्वरूप है वन्दनीय है इससे उसका नाम 'वन' है। वह स्वभाव से आत्मा का प्यारा है। उसका नाम स्मरण मन को प्रिय लगता है। नाम स्मरण मे आत्मा को प्रियता प्राप्त होती है। इस कारण प्रभु को प्रिय स्वरूप जानकर उसकी उपासना करनी चाहिये। जो जन जगदीश्वर को प्रेममय जानकर आराधता है उसको सभी जन चाहते हैं। वह उपासक जनता मे प्यारा हो जाता है।

सातवां अध्याय

ईश्वर प्राप्ति स्थान

परमात्मा कहा मिलता है

हिरण्मये परे कोशे विरज ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्र ज्योतिस्तधदात्मविदो विदु ।। मुण्डको १ २ ६

इस शरीर मे पाच कोष है—अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोष और आनन्दमयकोश। निश्चय जानो कि जो विज्ञानमय कोश से अगला आनन्दमय कोश है उसमे ब्रह्म का दर्शन होता है। इस कोश पर किसी प्रकार का आवरण नही। ससार में जो ब्रह्म को देखते है। वह प्रकृति के आवरण से ढका हुआ है। परन्तु आनन्दमय कोश के भीतर प्रकृति का आवरण नही ऐसा नही अत वहा परमात्मा प्रकृति के आवरण से रहित दिखाई देता है। वह परमात्मा शुद्ध है। वह प्रकाश करने वाले सूर्य, चन्द्र और जीव इत्यादि का भी प्रकाश करने वाला है। उसको वह मनुष्य जानते हैं जो जीवात्मा को जानते हैं। जिसको जीव के तत्त्व का ज्ञान नही उसको परमात्मा का ज्ञान भला कैसे हो सकता है। जो व्यक्ति अपनी आख को नही देख सकता वह आख के सुरमे को कैसे देख सकता है। अत वही व्यक्ति परमात्मा को देख सकते हैं जो पहले जीवात्मा को जानते हैं।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (३)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

पृथिवी आदिक द्रव्य ईश गति-सत्ता बुद्धी के उपकरण,
तारे उसके चरण चिन्ह हैं, पृथ्वी उसका उवल चरण ।।
वसुधा-रवि का जहा सचरण, अन्तरिक्ष है तेरा उदर ।।३।।

दिव्य प्रकाशक सूर्य चन्द्र से द्रव्य रचे निज मस्तक सम।
होकर उनमे व्याप्त, जगत के, सब अगो में रमा स्वयम् ।।
सबका धारण-पोषण करे, नमन् तुम्हे हे परमेश्वर ।।४।।

सूर्य-चन्द्र दो नयन तेरे हैं जिनसे ज्योतित है सब भव।
कल्प-कल्प के आदी में हर बार सजाये हैं नव-नव ।।
अग्नि है तेरे मुख की प्रभा, नमन तुम्हे हे परमेश्वर ।।५।।

अखिल विश्व मे व्याप्त वायु है, परम ब्रह्म का प्राण-अपान।
विश्व-प्रकाशक किरणे उसने, रची स्वयम् के नयन समान ।।
जिनसे देखे सारा जहान, नमन् तुम्हे हे ज्योतीश्वर ।।६।।

दशो दिशाये तुमने रची जहाँ, होते जग के सिद्ध व्यवहार।
सारे जग मे व्याप्त तुम्ही हो, तुम मे सिमटा सब ससार ।।
सकल ज्ञानमय हे इष्टदेव ! नमन तुम्हे हे परमेश्वर ।।७।।

ईश्वरस्तुति प्रार्थना उपासना

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रन्तन्नआ सुव ।।१।। यजु० अ० ३० । म० ३ ।।

हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेकआसीत्।
सदाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।२।।

यजु० अ० १३ । म० ४ ।।

यआत्मदा बलदा यस्य विश्वउपासते प्रशिष यस्य देवा।
यस्य च्छायाऽमृत यस्य मृत्यु कस्मै देवाय-हविषा विधेम ।।३।।

यजु० अ० २५ । म० १३ ।।

(क्रमश)

घर फूँक तमाशा–'धूम्रपान' सावधान! (३)

डा० एस० के० भटनागर, हैल्थ होम, शकरपुर विस्तार, दिल्ली-९२

डा० नित्यानन्द जी गुप्त, लखनऊ के मतानुसार धूम्रपान से रक्त मे कोलोस्ट्रोल की मात्रा अधिक हो जाने पर धमनियो में एथिरोसक्लीरोसस नामक बीमारी, खून मे जमाव, फिर तीव्र दर्द और बुखार होते हैं।

उत्तर प्रदेश के ही डा० भगतराम जी अग्रवाल के अनुसार दिल से सम्बन्धित रक्त देने वाली धमनी कोरोनरी मे खून का जमाव होने की सम्भावना धूम्रपान करने वालो में ७० प्रतिशत अधिक होती है।

तम्बाकू के कोलोडोन विष से सिर चकराता है। नस कमजोर पड जाती हैं। नाडी की गति तेज होने से हृदय कमजोर हो जाता है। रक्ताल्पता मे बुद्धि व स्मरण शक्ति मे शिथिलता आती है। धूम्रपान दिमाग के बारीक तन्तुओ को निस्तेज कर देता है, जिससे विचार-शक्ति एव विवेक नष्ट हो जाते हैं। यह रक्तचाप को १५ अश तक बढा देता है। अधिक उम्र मे धूम्रपान की अधिकता से दिमाग के रक्त की नाडी फटने स पक्षाघात व मृत्यु तक हो सकती है।

तम्बाकू की अमोनिया गैस पाचन-तन्त्र को कमजोर करती है तथा जिगर को बिगाडती है। धूम्रपान से जिगर कमजोर पड जाता है। अत वह पाचन-क्रिया मे पूण सहयोग नही दे पाता। फलस्वरूप भूख कम हो जाती है। कलेजा जलने लगता है। मिचली भी आती है।

पायरोबिन नामक विष से आतो मे खुश्की होने स मल-निष्कासन ठीक नही होगा। फलस्वरूप पेट मे कब्ज व दर्द रहने लगता है। पाचन अगों के बिगडने से अशुद्ध रक्त बनता तथा रक्त बिगड कर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। एजालिन एव साम्ननोजन विषो से भी खून खराब होता है।

कार्बोलिक एसिड विष से स्मरण-शक्ति का ह्रास अनिद्रा और चिड-चिडापन आदि रोग पैदा होते हैं।

फरफेरोल विष से दांत पीले, मैले और कमजोर पड जाते हैं। मुह से बदबू आने लगती है। धूम्रपान करने से नाक मे खुश्की, नजला व जुकाम बना रहने पर घ्राण-शक्ति क्षीण हो जाती है साथ ही चमकीले दात मैले और मुह दुर्गन्धयुक्त हो जाने से पडोसी, पत्नी तथा बच्चे तक घृणा करने लगते हैं।

धूम्रपान का कुप्रभाव श्रवण शक्ति व नेत्र-ज्योति पर भी पडता है। तम्बाकू के प्रभाव ा देखने वाली झिल्ली उखड जाती है, जिसस बीनाई समाप्त हो जाती है।

डा० जेम्स एच डोरगट
एम डी, एफ आर सी एस (आख विशेषज्ञ)

इस बात के अनेक प्रमाण हैं और देश-विदेश के अनेक मुख्य चिकित्सक (जैसे अमरीका के डा० रैग बोडवर्ड, मापाड, इग्लैण्ड के डा० निकल्सन रिचर्ड) ने भी माना है कि धूम्रपान स उत्पन्न रोगो—चक्कर आना, अनिद्रा, उन्माद स्मरण-शक्ति की क्षीणता फाजिल, पागलपन, दृष्टिह्रास, खासी तपेदिक, रक्त-चाप, हृदय दौर्बल्य, पाचन तन्त्र की खराबी, नपुसकता, अल्पायु, अल्सर, गैंगरीन (सडना) तथा मानसिक बीमारी आदि का प्रभाव भावी सन्तान पर भी पडता है।

उपर्युक्त आकडों और तथ्यो से यह भली-भांति विदित होता है कि धूम्र-पान व्यसनी अपने साथ ही घोर अन्याय नही करता अपितु वायुमण्डल को दूषित कर पडौसियों को भी जूठी, जहरीली धुए की दुगन्ध से कष्ट पहुचाता है, जिसे महात्मा तुलसीदास जी ने पाप की सज्ञा दी है —

पर पीडा सम नहिं अघमाई।

पद्मपुराण मे भी धूम्रपान की निन्दा है —

धूम्रपान रक्त विप्र दान कुर्वन्ति ये नरा।
दातारो नरक यान्ति ब्राह्मणी ग्राम शूकरा॥

धूम्रपान करने वाले ब्राह्मण को जो दान देता है वह घोर नरक (दुख) को प्राप्त होता है। वह ब्राह्मण गाव का सुअर बनता है। इस प्रकार सभी विचारशील व्यक्तियो ने धूम्रपान की निन्दा की है।

(क्रमश)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

अधिसूचना

यह सूचित किया जाता है कि शिष्ट परिषद की बैठक दिनांक १४-४-१९९३ मे जस्टिस श्री महावीर सिंह जी को विश्वविद्यालय का परिद्रष्टा (विजिटर) नियुक्त किया गया है, जिसकी सम्पुष्टि शिष्ट परिषद की बैठक १४-४-१९९३ (अपराह्न) मे की गई है। तदनुसार जस्टिस श्री महावीर सिंह जी ने परिदृष्टा (विजिटर) का पदभार १७-४-१९९३ को ग्रहण कर लिया।

डा० जयदेव वेदालंकार, कुलसचिव

श्री जयदेव वेदालंकार नये कुलसचिव

श्री जयदेव वेदालंकार को माम्य कुलपति प्रो० रामप्रसाद जी वेदालंकार के आदेशानुसार कुलसचिव के पद पर नियुक्त किया गया है। श्री भारत भूषण वेदालंकार के पदमुक्त होने के कारण श्री जयदेव वेदालंकार ने कुलसचिव पद का कार्यभार दिनांक १२-४-१९९३ की पूर्वाह्न मे सम्भाल लिया है।

रामप्रसाद वेदालंकार, कुलपति

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार कार्यवाहक कुलपति

एतद्द्वारा सूचित किया जाता है कि विश्वविद्यालय के कुलाधिपति प्रो० शेरसिंह ने विश्वविद्यालय के संविधान द्वारा प्रदत्त अपने अधिकारो का उपयोग करते हुए विश्वविद्यालय के कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार को तात्कालिक प्रभाव से निलम्बित कर दिया है। श्री सुभाष विद्यालंकार के स्थान पर विश्वविद्यालय के उप-कुलपति आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार ने कुलपति पद का कार्यभार कार्यवाहक कुलपति के रूप मे १२-४-१९९३ की पूर्वाह्न मे ग्रहण कर लिया है।

जयदेव कुलसचिव

आर्य लेखक परिषद् का द्वितीय आर्य लेखक सम्मेलन, अलमोड़ा में

डा० भवानीलाल भारतीय की अध्यक्षता में संस्थापित आर्य लेखक परिषद, कोटा का द्वितीय आर्य लेखक सम्मेलन एवं अधिवेशन आर्य समाज अलमोड़ा में २५ से २७ जून ९३ तक वृहद स्तर पर आयोजित किया जा रहा है। कुमाऊ विश्व-विद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा जयदत्त उप्रेती के संयोजकत्व में स्वागत समिति का गठन किया गया है जो अधिवेशन की व्यवस्था को अन्तिम रूप देगी तथा आगत लेखक एवं प्रतिनिधियो के भोजन-निवास आदि की सुविधाए उपलब्ध करायेगी। सभी लेखक बन्धुओ से निवेदन है कि वे आर्य लेखक परिषद के अलमोड़ा सम्मेलन एवं अधिवेशन में अधिक से अधिक सख्या मे पहुच कर प० लेखराम के उस आदेश का परिपालन करे जिसमे कहा गया था कि आर्यसमाज मे तहरीर (लेखन) का काम कभी बन्द नहीं होना चाहिए।

दानी महानुभाव कृपया चैक ड्राफ्ट 'आर्य लेखक सघ' के नाम भेजे अथवा नकद धन, मनी आर्डर डा० रामकृष्ण आर्य कोषाध्यक्ष, आर्य लेखक परिषद ४ भ २७ विज्ञान नगर कोटा (राज०) ३२४००५ के नाम भेजे। सम्मेलन मे भाग लेने वाले इच्छुक लेखक आर्य लेखक परिषद् ४ भ, २७, विज्ञान नगर, कोटा, राज० के पते पत्र व्यवहार या सम्पर्क करे।

सत्यार्थ प्रकाश कवितामृत की जरूरत है

आर्य जगत के विद्वानो, शुभचिन्तको से अपील है कि स्वामी दयानन्द के जीवन के ऊपर शोध कार्य करने मे ५० वर्ष पहले लाहौर से प्रकाशित हुई पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश कवितामृत" (कवि—"आर्य महाकवि जयगोपाल जी") की नितांत आवश्यकता है किसी पुस्तकालय, आर्य शिक्षण संस्थान या किसी स्वाध्याय प्रेमी सज्जन के पास उपरोक्त पुस्तक हो तो सूचना दें, ताकि हम पूरी पुस्तक की फोटो कापी करा सकें। अगर एक दो महीने के लिए पुस्तक दे सके तो हम उसे सही सलामत वापस कर देंगे।

डा स्वामी "अग्निव्रत"

दयानन्द सेवाश्रम मुसाढ़ो, जिला-नालंदा (बिहार) पिन-८०१३०४

सार्वदेशिक आर्य वीरांगना दल का राष्ट्रीय शिविर

कन्या गुरुकुल नरेला मे २७ मई से ५ जून १९९३ तक सार्वदेशिक आर्य वीरांगना दल के राष्ट्रीय शिविर का आयोजन किया जा रहा है जिसमे नवम् कक्षा से अधिक उत्तीर्ण छात्राओ को प्रवेश दिया जायेगा। प्रवेश शुल्क ५० रुपये है। इस शिविर मे आसन-प्राणायाम, कराटे, लाठी, आत्मरक्षा, सन्ध्या-यज्ञ वैदिक सिद्धांत इत्यादि का क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया जायेगा। इच्छुक बहनो को सफेद सलवार, सफेद जम्फर, ब्राउन शूज, सफेद मौजे केसरिया चुन्नी, लाठी, नोट बुक, थाली, लोटा ऋतु अनुकूल बिस्तर साथ लाना होगा। शिविर की अध्यक्षता डा० देवव्रत आचार्य जी करेंगे।

मार्ग—पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन से ११२,१३१,१३३,१०६ नरेला उतारेंगी लेकिन प्राईवेट बस श्रीराम एव बलवन्त वाया प्याऊ मनियारी गुरुकुल के आगे ही उतारेंगी।

सम्पर्क सूत्र—कु० डा० अन्नपूर्णा
गुरुकुल महाविद्यालय नरेला-दिल्ली

चुनाव समाचार

आर्य समाज डा० मुखर्जी नगर (पूर्वी) दिल्ली-९

प्रधान ठाकुर दास सपरा, उप-प्रधान-श्री तेजभान गुलाटी व श्री हरीशचन्द्र मक्कड़, महामन्त्री श्री सुदर्शन सरीन, कोषाध्यक्ष-श्री देवराज नारग, प्रचार मन्त्री श्री अनिल आर्य एव महिला सयोजिका सुश्री परमेश्वरी नारग एव प्रतिभा

—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करने योग्य है।

आर्य महासम्मेलन एवं विशाल यज्ञ

ओरेया, गुढारवास व बचरौली (उ०प्र०) चलो कार्यक्रम

३० ३१ मई एव १ जून तक आय समाज ओरेया दिबियापुर रोड जिला इटावा मे ३ से ५ जून तक आय समाज गुढारवास मगरोल कालयी जिला जालोन मे तथा ७ से ९ जून तक आयसमाज बचरौली सिरवूपुर 'जिला हमीरपुर मे आप सभी सादर आमन्त्रित हैं।

१५ वा वार्षिकोत्सव

स्वामी हरिहरानन्द साधन कक्ष गोवधनपुर अलीगढ (उ प्र०) का १५ वा वार्षिकोत्सव १ से ५ जून ९३ तक घूमधाम से मनाया जा रहा है। उत्सव मे अनेक उच्चकोटि के सन्यासी विद्वानो द्वारा सामवेद परायण यज्ञ भजन उपदेश अध्यात्मिक प्रवचन होग। सभी सादर आमन्त्रित हैं

शोक समाचार

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के पूर्व कुलाधिपति एव प्रधान आय प्रतिनिधि सभा पजाब की सहधमणी श्रीमती राजलक्ष्मी वीरेन्द्र के आकस्मिक देहावसान के उपलक्ष्य में गुरुकुल कागडी की ओर से आयोजित शोक सभा मे एक मिनट का मोन रखकर दिवगत आत्मा को सदगति के लिए और शोकाकुल परिवारजनो को दुख सहन करने की शक्ति धैय और शान्ति प्रदान करने की प्रभु से प्राथना की। शोक सभा की अध्यक्षता मुख्याधिष्ठाता श्री महेन्द्रकुमार जी ने की।

अपील

आय समाज मन्दिर डा० मुखर्जी नगर दिल्ली मे मन्दिर के लिए भूमि क्रय भव्य यज्ञशाला सत्सग हाल पुस्तकालय व वाचनालय नि शुल्क डिस्पेंसरी व व्यायामशाला के निर्माणाथ दानी महानुभावो से दस लाख रुपये की अपील है। समस्त दान क्रास चैक या ड्राफ्ट द्वारा आय समाज मन्दिर मुखर्जी नगर के नाम एन २२ मुखर्जी नगर (बत्रा सिनेमा के पीछ) दिल्ली ९ के पते पर भेज।

आर्य सन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

२ N No 32387/77 Posted at N D P S O on 13-14-5-1993 Licence to post without prepayment Licence No U (C) 139/93

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३

पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसैन्स नं० यू (सी०) १३९/९३

८

साप्ताहिक "आर्यसन्देश" १६ मई १९९३

प्रवेश सूचना

श्रीमद दयानन्द गुरुकुल विद्यापीठ गदपुरी पलवल जिला-फरीदाबाद (हरि०) मे तीसरी कक्षा से आठवी तथा एम० डी० यूनिवर्सिटी की प्राज्ञ विशारद एव प्रभाकर कक्षाओ मे प्रवेश शुरू हो गया।

विद्यापीठ दिल्ली और पलवल के बीच ४५ वें किलोमीटर जी० टी० रोड पर स्थित है।

गुरुकुलीय व्यवस्था, पढाई की सुन्दर व्यवस्था आवासीय व्यवस्था के साथ कमकाण्ड का पूण ज्ञान कराया जाता है। केवल भोजन शुल्क मात्र १०० रुपये मासिक है।

प्रवेशार्थी अतिशीघ्र सम्पर्क स्थापित करें—

सम्पक सूत्र –प्रधानाचाय, श्रीमद दयानन्द गुरुकुल विद्यापीठ गदपुरी पलवल, फरीदाबाद

दयानन्द बाल सदन मे प्रवेश

राज्य द्वारा सर्वश्रेष्ठ घोषित समाज कल्याण सस्था दयानन्द बाल सदन, अजमेर मे ६ वर्ष से ११ वर्ष तक की आयु के अनाथ एव निराश्रित बालक-बालिकाओ के लिए १५ स्थान रिक्त है। वे अभिभावक जिनकी मासिक आय ५०० रु से अधिक न हो व मातृ पितृविहान अथवा पितृविहीन बच्चो हेतु प्रमाण पत्र सहित मन्त्री के नाम २० जून तक आवेदन कर सकते हैं।

मन्त्री—दयानन्द बाल सदन, अजमेर

श्री राजेश्वर जी आर्य डबल गोल्ड मैडलिस्ट बने

आय समाज महर्षि दयानन्द बाजार लुधियाना पजाब के कमठ लग्नशील सुयोग्य युवा विद्वान्, उदीयमान नक्षत्र पुरोहित श्री रामेश्वर जी आर्य ने समाज मे पौरोहित्य कार्य करते हुए ही शास्त्री और आचार्य की परीक्षाए दी। शास्त्री की परीक्षा गुरुनानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर से स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती आचार्य 'श्रीमद् दयानन्द सस्कृत महाविद्यालय दयानन्द मठ दीनानगर के द्वारा दी तथा इस परीक्षा में विश्वविद्यालय मे प्रथम स्थान प्राप्त करके विश्वविद्यालय के कुलपति, पजाब के राज्यपाल से स्वर्णपदक प्राप्त किया। व्याकरण विषय लेकर आचाय की परीक्षा पजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ से १९९२ मे दी और इस परीक्षा मे भी विश्वविद्यालय मे सर्वोत्तम अक प्राप्त करके प्रथम स्थान प्राप्त किया तथा स्वर्णपदक विजेता बनें। श्री राजेश्वर जी आर्य ने न केवल विद्वत्ता के क्षेत्र मे सर्वोत्तम पद ग्रहण किया है, बल्कि वह समाज के पौरोहित्य काय मे भी सभी सस्कारो एव उपदेश आदि मे दक्ष और निपुण हैं। जहा वह अपने लिए कीर्ति यश प्राप्त होंगे वहा आर्य समाज का भी गोरव गरिमा से सिर ऊचा उठेगा। इस प्रकार श्री आर्य ने आर्य समाज, महर्षि दयानन्द बाजार लुधियाना का गोरव बढ़ाया है और वे बधाई के पात्र है।

सेवा मे—

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक ३४ रविवार ६ जून १९९३ विक्रमी सम्वत २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

राष्ट्र रक्षा महायज्ञ सम्पन्न

महाराणा प्रताप के जीवन मूल्य प्रासंगिक हैं

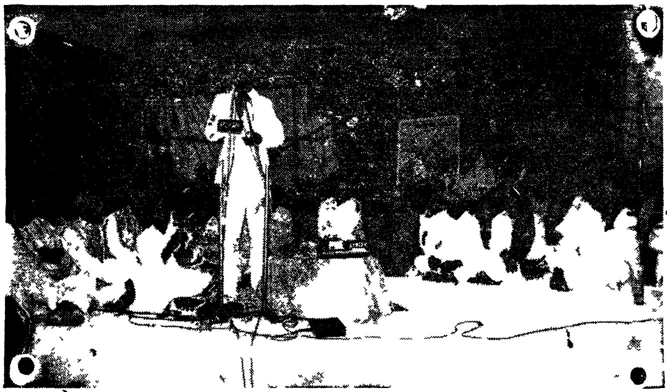
स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

नई दिल्ली २४ मई महाराणा प्रताप के जीवन मूल्य अत्यन्त प्रासंगिक है और उनकी हमें आज बहुत अधिक आवश्यकता है। ये उद्गार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती जी ने महाराणा प्रताप जयन्ती के अवसर पर आयोजित राष्ट्र रक्षा वेद यज्ञ की पूर्णाहुति के अवसर पर व्यक्त किये। कार्यक्रम की अध्यक्षता स्वामी जी ने की। राष्ट्रनायक प्रताप का दो दिवसीय जयन्ती समारोह सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में आयोजित किया गया था। स्वामी जी ने देश में व्याप्त विकट परिस्थितियों और विदेशी खतरों की ओर भी जनता का ध्यान आकृष्ट किया। स्वामी जी ने यह भी बताया कि वर्ष १९९४ में प्रताप जयन्ती समारोह क्रान्तिकारियों की नगरी मेरठ में मनाया जायेगा।

लब्ध प्रतिष्ठित स्वामी दीक्षानन्द जी महाराज ने राष्ट्र कल्पना के लिए ऐसे यज्ञ की महत्ता पर प्रकाश डाला। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा कि महाराणा प्रताप मां भारती के ऐसे महायोद्धा थे जिन्हें राष्ट्र युगों युगों तक आदर व श्रद्धा से स्मरण करता रहेगा। स्वामी तत्वबोधानन्द जी ने कहा कि महाराणा प्रताप का त्याग बलिदान व शौर्य भारतीय इतिहास की एक अनमोल धरोहर है।

इस अवसर पर प्रधान मन्त्री श्री पी० वी० नरसिंह राव द्वारा भेजा गया सन्देश भी पढ़ा गया।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि के प्रधान श्री सूर्यदेव जी ने समारोह में उपस्थित सभी महानुभावों का धन्यवाद करते हुए कार्यक्रम सम्पन्न की घोषणा की।



महाराणा प्रताप जयन्ती समारोह के अवसर पर मुख्य अतिथि महाराणा महेन्द्रसिंह जन सभा को सम्बोधित करते हुए। पीछे बैठे हुए प्रथम पंक्ति में दायें से बाएं आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान सूर्यदेव केन्द्रीय सभा के प्रधान महाशय धर्मपाल चौ० लक्ष्मीचन्द, सभा मन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री हरियाणा के कृषि राज्यमन्त्री श्री बच्चनसिंह आर्य लाला इन्द्रनारायण हरियाणा के मुख्यमन्त्री चौ० भजनलाल सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती, स्वामी सुमेधानन्द सरस्वती हरियाणा के संसद सदस्य धर्मपाल मलिक, और श्री रामजीलाल आर्य और अन्त में सार्वदेशिक सभा के कोषाध्यक्ष श्री ओमप्रकाश गोयल बैठे हुए हैं।

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

आर्यों का आदि देश (२)

श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक अध्यक्ष—वैदिक संस्थान नजीबाबाद (उ० प्र०)

यदि सिन्धु-सभ्यता को पांच सहस्र पुराना मान भी लिया जाय तो भी आर्य-सभ्यता तथाकथित सिन्धु-सभ्यता से तेरह सहस्र पुरानी सिद्ध होती है। दूसरी ओर इस समय ईसवी सन १९९३ मे कलि संवत ५१०० चल रहा है अर्थात महाभारत को जो कि कलियुग के प्रारम्भ से पहले और द्वापर के अन्त मे हुआ था, कम से कम ५१०० वर्ष बीत रहे हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत युद्ध सिन्धु सभ्यता से कम से कम एक शताब्दी पूर्व अवश्य हुआ था। महाभारत आर्य इतिहास है। यह न तो सिन्धु घाटी की सभ्यता का इतिहास है और न द्रविड इतिहास।

सिन्धु घाटी की खुदाई मे जो सील मोहरें मिली है। उनमे से एक सील पर एक वृक्ष का चित्र है। उस वृक्ष पर दो पक्षी चित्रित है। एक उस वृक्ष के फलो को खा रहा है और दूसरा उसे खाते हुए को देख रहा है स्वयं खा नही रहा। इस सील के चित्र का आधार ऋग्वेद का मन्त्र है, जिसमे प्रकृति को वृक्ष मानकर उस पर जीवात्मा को पक्षी रूप मे वर्णित किया है और इस प्रकार यह दिखाया गया है कि जीव प्रकृति के बने हुए पदार्थों को भोगता है और परमात्मा केवल उसका द्रष्टा है। मन्त्र इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(ऋग्वेद १/१६४/२०)

यह सील यह सिद्ध करने को पर्याप्त है कि आर्य-सभ्यता सिन्धु सभ्यता से पुरानी है। यदि यह मान लिया जाय कि सिन्धु घाटी के लोग इस मुहर का प्रयोग करते थे, यह उन्ही की मुहर है तो यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु सभ्यता का उत्तरकालीन रूप मात्र है।

एक और बात ध्यान देने की यह है कि उक्त खुदायी मे शिवलिंग पाये गये हैं। हिन्दुओ (आर्यों) को छोड़कर शिवलिंग पूजा अन्यत्र कही नही होती। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सिन्धु घाटीवासी आर्यों से पृथक कोई अन्य जाति नही थी।

यह भी ध्यान देने की बात है कि वैदिक आर्यों मे मूर्ति-पूजा जैनियो से चली है, इससे पहले आर्य लोग मूर्ति पूजक नही थे। आचार्य शंकर ने अनीश्वरवादी जैनियो की मूर्तियो की ओर से तात्कालिक सर्वसाधारण जनता का ध्यान हटाने और वैदिक धर्म के ईश्वरवाद की ओर लाने के लिए श्री गौरमय लक्ष्मीनारायण की मूर्तियां का प्रचलन कराया था। तत्पश्चात वही विविध मूर्तियो की पूजा के रूप मे प्रचलित होती गयी। स्मरण रहे कि जैनमत केवल २५०० वर्ष का है और शंकराचार्य का प्रादुर्भाव तब हुआ, जब जैन मत बड़े वेग के साथ भारत मे फैल रहा था। सिन्धु घाटी की खुदाई मे शिवलिंग का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि सिन्धु सभ्यता २५०० वर्ष से भी अर्वाचीन ही है, प्राचीन नही। इस प्रकार महाभारत इस तथाकथित सिन्धु सभ्यता के न्यूनाधिक लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है।

डा० फतहसिंह का मत है कि सिन्धु सभ्यता उपनिषद कालीन है। उपनिषदें वेद से बाद की हैं। उपनिषदो मे सबसे पहली ईशोपनिषद थोड़े से रूपान्तर के साथ यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय ही है। इससे भी आर्य सभ्यता सिन्धु सभ्यता से बहुत प्राचीन सिद्ध होती है।

महामहोपाध्याय श्री पंडित सदाशिव शास्त्री के मत मे महाभारत युद्ध के पश्चात भारतीय सभ्यता ह्रासोन्मुख हुयी।' सिन्धु-घाटी से प्राप्त अवशेष इसी ह्रासोन्मुख वैदिक आर्य सभ्यता के चिन्ह हैं।

आधुनिक युग प्रवर्तक तथा उन्नीसवी शताब्दी के अद्वितीय वैदिक विद्वान महर्षि दयानन्द सरस्वती के शब्दो मे महाभारत युद्ध से एक सहस्र वर्ष पूर्व ही भारत मे बिगाड़ प्रारम्भ हो चुका था। इसका अर्थ है कि महर्षि वर्तमान काल से छ सहस्र वर्ष पूर्व ही अर्थात ईसा से कम से कम सवा चार सहस्र ४२५० वर्ष पूर्व आर्य सभ्यता मे विकृति आना स्वीकार करते हैं। यह बात महर्षि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश मे लिखी है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण १८७५ ई० मे प्रकाशित हुआ था। अब १९९३ ई० मे इसे प्रकाशित हुए एक सौ अठारह वर्ष की अवधि बीत रही है। इस प्रमाण से भी आर्य-सभ्यता उक्त तथाकथित सिन्धु सभ्यता से बहुत पुरानी सिद्ध होती है।

महर्षि दयानन्द ने ही सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त मे युधिष्ठिर से यशपाल पर्यन्त ४१५७ वर्ष राज्य करने वाले राजाओं की क्रमबद्ध सूची दी है। यशपाल पृथ्वीराज चौहान की पांचवी पीढ़ी मे वर्णित है। पृथ्वीराज को अब लगभग एक सहस्र वर्ष का काल बीत रहा है। इस प्रकार महाभारत पांच सहस्र वर्ष से अधिक का सिद्ध होता है। रामायणयुद्ध जो महाभारत से पहले हो चुका है, उसे एक करोड़ इक्यासी लाख उन्चास सहस्र तिरानवे वर्ष बीत रहे हैं। इसमे वायु पुराण उत्तरार्द्ध नौवें अध्याय का अड़तीसवां श्लोक प्रमाण स्वरूप नीचे उद्धृत है—

त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्तपसः क्षयात।
रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमीयिवान॥

अर्थात २४वें त्रेता युग मे जब रावण का सामर्थ्य क्षीण हुआ तो वह दशरथ के राम को प्राप्त होकर उनके द्वारा परिवार व बन्धु बान्धवो सहित विनष्ठ हो गया।

लेख का कलेवर अधिक बढ़ाना हमे अभिप्रेत नही है, अन्यथा यदि रामायण से पहले का वर्णन किया जाय तो आदि सृष्टि तक ही आर्य सभ्यता का इतिहास पहुंचेगा। हमारा उद्देश्य इस लेख मे केवल यह सिद्ध करना था कि सिन्धु-सभ्यता यदि कोई थी तो यह अर्वाचीन ही थी और भारत के मूल निवासी आर्य ही हैं, कोई अन्य जाति नहीं। आर्य जाति ही विश्व की सर्वप्रथम सबसे प्राचीन और आदि कालीन मानव जाति है। सिन्धु घाटी की सभ्यता नाम की कोई सभ्यता कभी नहीं थी। कहीं किसी खुदायी मे किसी समय के अवशेष निकल आने से किसी ऐतिहासिक तथ्य की कोई विशेष उपलब्धि नही हो सकती। किसी स्थान विशेष पर किसी बस्ती के खण्डहर कुछ क्षेत्रीय वस्तुएं तथा खण्डहर होने से पूर्व की किसी ऐतिहासिक वस्तु की प्राप्ति का साधन भले ही बन जायें किसी जाति विशेष के इतिहास दर्शन का साधन सिद्ध हो, यह कल्पना मिथ्या है और केवल आर्य जाति को अर्वाचीन तथा भारत मे आक्रान्ता सिद्ध करने और स्वयं को इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान दिलाने के लिये यूरोप निवासियो का कपोल कल्पना पर आधारित इतिहास निर्माण का मिथ्या और असफल प्रयास है।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं अन्य समस्त भारतवासी भी आर्य सन्तान हैं और कालान्तर मे आर्य लोग देशाटन पर्यटन और व्यवसाय आदि की दृष्टि से भूमण्डल के अन्य क्षेत्रों मे गये तथा उनमे से बहुत से लोग वही बस गये। देशकाल की परिस्थितियां से उनके आचार विचार और खानपान मे परिवर्तन हुआ। वही आर्य सन्ताने विविध नामो से पृथक पृथक जातियो के रूप मे विभक्त हो गयी।

अन्त मे आर्य जाति की प्राचीनता के प्रमाण मे हम आर्य परिवारो मे विवाह आदि संस्कारो के अवसरो पर पुरोहितो द्वारा उच्चारण किया जाने वाला संकल्प सूत्र देकर इस लेख को समाप्त करते हैं। यह संकल्प आर्य इतिहास को लगभग दो अरब वर्ष का बताता है जो मानव जाति की आयु का प्राचीनतम इतिहास है।

प्रागैतिहासिक काल की कल्पना करने वाले और आर्य जाति को इतिहास विज्ञान से अनभिज्ञ कहने वाले इतिहास मिटाभात जन इस सूत्र को ध्यान पूर्व पढ़ें और मनन करें तथा यदि उनमे थोड़ी भी नैतिकता है तो अपने दुराग्रह और मिथ्याभिमान को छोड़कर सत्य को स्वीकार करें। आर्य जाति ने आदि सृष्टि से वर्तमान काल तक के अपने इतिहास तथा ऐतिहासिक सूत्र और इतिहास सूत्र को इस संकल्प-सूत्र के रूप मे ग्रथित करके सुरक्षित कर रखा है सूत्र निम्न प्रकार है—

ओ३म तत्सत श्री ब्रह्मणो द्वितीय प्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि प्रथम चरणेऽमुक संवत्सरायनर्तु मास पक्षदिन नक्षत्रलग्न मुहूर्तेऽत्र कृत्य क्रियते।

अर्थ—ओ३म तत सत परमेश्वर का इन शब्दो मे स्मरण करके यह कहा गया है कि ब्रह्मा अर्थात परमात्मा के दूसरे प्रहर मे सृष्टि के अर्द्ध भाग के निकट अट्ठाईसवां कलियुग और उसका प्रथम चरण अर्थात प्रारम्भ है। इसके आगे वर्ष ऋतु, मास, पक्ष दिन नक्षत्र लग्न मुहूर्त का विधान है जो संस्कार के अवसर पर उस काल के अनुसार जोड़ लिया जाता है।

इस सबको गणित की रीति से जो सज्जन जानना चाहें, वह महर्षि स्वामी दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के 'वेदोत्पत्ति विषय' को पढ़कर जान लें। स्थानाभाव से यहां उसका वर्णन नही किया जा रहा है। अलमति विस्तरेण। ●

वेद वेदांग पुरस्कार से ४ जुलाई को सम्मानित होंगे—

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

डा० ज्वलन्तकुमार शास्त्री, अमेठी-२२७४०५

आय समाज साान्ताक्रुज बम्बई ने सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान एव प्रख्यात वैज्ञानिक स्वामी सत्यप्रकाश जी सरस्वती को १९९३ के वेद वेदाग पुरस्कार से सम्मानित करने का निर्णय किया है। स्वामी जी को २५००० रुपए सम्मान राशि रजतट्राफी, अभिनन्दन-पत्र एव शाल एक भव्य समारोह मे ४ जुलाई १९९३ को भेंट कर सम्मानित किया जाएगा।

आय जगत् के लब्धप्रतिष्ठ परिव्राजक, मूर्द्धन्य विद्वान् स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती की विद्वत्ता तथा लेखन कार्य से आर्य जगत् भली भाति सुपरिचित है। आय समाज के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् सैकडो ग्रन्थो के लेखक सस्कृत, हिन्दी, अग्रजी, उर्दू इन ४ भाषाओ मे अव्याहतगति से लिखने वाले स्व० प० गगाप्रसाद उपाध्याय के ज्येष्ठ पुत्र होने का गौरव स्वामी जी को प्राप्त है। स्वामी जी का जन्म जन्माष्टमी के पावन पर्व पर १९०५ ई० मे आर्य समाज मन्दिर बिजनौर मे हुआ। स्वामी जी विनोदपूर्वक कहा करते हैं कि मैं जन्मत आर्य समाजी हू, मेरा जन्म आर्यसमाज मन्दिर मे हुआ है। मेरे जन्म के समय मेरे पिता ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त थे।

स्वामी जी प्रयाग विश्वविद्यालय मे लगभग ४१ वर्षो तक अध्यापन तथा शोध कार्यो के निर्देशक रहे। इनसे पूर्व डी० एस० सी० तक की सर्वोच्च उपाधि भी इसी विश्वविद्यालय से प्राप्त की थी। भारत मे रसायन विज्ञान, ज्यामिति अकगणित, बीजगणित आयुर्वेद तथा पदार्थ विज्ञान का प्राचीन इतिहास प्रामाणिक रूप मे आपने अपने ग्रन्थो मे प्रस्तुत किया है। प्राचीन भारत मे रसायन का विकास, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा आदि शुल्वसूत्राज, प्राचीन मुद्राओ से सम्बन्धित आपके अनेक ग्रन्थ है। अग्निहोत्र, स्वामी दयानन्द के दर्शन उपनिषदो की व्याख्या इस विषय पर स्वामी जी के प्रामाणिक ग्रन्थ अग्रेजी भाषा मे है। अभी-अभी ११ उपनिषदो की अंग्रेजी व्याख्या लिखकर गोविन्दराम हासानन्द को प्रकाशनार्थ दी है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का अग्रेजी मे आधुनिक शैली मे प्रस्तुतीकरण, शास्त्रीय लम्बी भूमिका, अनुक्रमणिका सहित विस्तृत परिश्रम साध्य कार्य स्वामी जी ने सम्पन्न किया है। उनके लेखन तथा प्रचार कार्य का विवरण यहा सक्षेप मे भी प्रस्तुत करना सम्भव नही है। इस वर्ष वेद-वेदाग पुरस्कार से स्वामी जी को सम्मानित करके आर्य समाज सान्ताक्रुज ने श्लाघनीय कार्य किया है। इसके लिए आर्यसमाज सान्ताक्रुज तथा इसके सयोजक कैप्टेन देवरत्न आर्य समस्त आर्य जनता की ओर से धन्यवाद और प्रशसा के पात्र हैं। समस्त आय समाजो को सूचित करते हुए मैं यह लेख समाप्त कर रहा हू कि सम्प्रति स्वामी जी स्वस्थ तो है परन्तु लेखन तथा प्रचार कार्य मे एव कही यातायात गमनादि मे सर्वथा असमर्थ हैं। उनकी सेवा अत्यन्त ही मनोयोग से उनके शिष्य प० दीनानाथ शास्त्री अपने घर पर कर रहे हैं। उनका पता है—

द्वारा—प० दीनानाथ शास्त्री, एच०ए० एल, मुशीगज
अमेठी-२२७४१२ (उ० प्र०)

आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली की विशेष अपील

दिल्ली की सभी आय समाजो के मन्त्री व प्रधानो से अपील है कि आर्य वीर दल दिल्ली के २८ मई से ६ जून रविवार १९९३ तक होने वाले शिविर के लिए जो कि गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ मे हो रहा है इस युवा निर्माण के काय म अधिक से अधिक तन, मन धन से सहयोग करें, नगद या क्रास चैक तथा ड्राफ्ट आय वीर दल दिल्ली के नाम शिविर स्थल पर देकर रसीद प्राप्त कर ले अथवा आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली सावदेशिक सभा मे आर्य वीर दल के कार्यालय पर पहुचा दें।

विशेष ६ जून रविवार प्रात ९ बजे शिविर समापन समारोह मे सभी आय समाज अपनी अपनी आय समाजो से बस या टेम्पो पर झण्डे, बैनर लगा कर अधिक से अधिक सख्या मे पहुच कर आर्य वीरो का मनोबल बढावे तथा समारोह की शोभा बढावे समारोह मे पूर्ण ऋषि लगर की व्यवस्था की गयी है।

—डा० धर्मपाल सभा मन्त्री

आर्य शिक्षण शिविर, हैदराबाद (आ. प्र.) मे—

महाराणा प्रताप जयन्ती तथा प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम (१८५७) दिवस समारोह सम्पन्न

हैदराबाद १६ मई १९९३

सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आन्ध्र प्रदेश सकाय द्वारा गठित आय शिक्षण शिविर मे १० मई १९९३ को प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम (१८५७ दिवस तथा १६ मई १९९३ को महाराणा प्रताप जयन्ती समारोह का आयोजन किया गया।

१० मई १९९३ को राज्य सरकार के शिक्षा म त्री डा० ओ० वी० र ा राव ने उपस्थित जन समूह को सम्बोधित किया। स्वामी आनन्दबोध सरस्वती प्रधान सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा ने समारोह की अध्यक्षता की। श्री वन्देमातरम् रामचन्द्रराव तथा अन्य वक्ताओ न महाराणा प्रताप तथा मगल पाडे, झासी की रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, तात्या टोप आदि प्रथम स्वतन्त्रता सग्राम के वीरो के जीवन पर प्रकाश डाला।

१६ मई १९९३ के समारोह मे आन्ध्र प्रदेश सरकार के प चायत राज्य मन्त्री श्री समर सिन्हा रेड्डी ने अपना भाषण दिया जिसकी अध्यक्षता श्री कान्तिकुमार कोरटकर ने की।

दोनो समारोहो मे शिविर के सचालक श्री के नरसिंह रेड्डी ने अतिथियो का स्वागत किया। शिविर का शुभारम्भ प्रतिदिन प्रातकाल ५ ३० बजे यज्ञ, आसन, प्राणायाम द्वारा होता था। तदनन्तर कश्मीर से आये पण्डित नेत्रपाल शास्त्री के आध्यात्मिक-विद्या पर प्रवचन होते थे।

शिविर के समापन पर १९ तथा २० मई १९९३ को आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल श्री कृष्णकात जी ने प्रशिक्षार्थियो से भेंट की।

—के० नरसिंह रेड्डी
मन्त्री, आन्ध्र प्रदेश आय प्रतिनिधि सभा हैदराबाद



आदर्श त्रैतवाद (२९)

राजसिंह भल्ला

मिलने का स्थान

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

मुण्डको० ३-१-७

वह परमात्मा सबसे बड़ा और प्रकाशस्वरूप है जिसके जानने के लिये किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। उसके रूप का मन में भी विचार नहीं कर सकते क्योंकि उसके गुण अनन्त हैं और महान् हैं। सूक्ष्म प्रकृति और जीव से भी अधिक वह सूक्ष्म है। इसलिये उनके भीतर व्यापक हो रहा है। वह ज्ञानस्वरूप है। अज्ञानी से दूर है। उसे आप काशी या काबे में जाकर नहीं पा सकते। ज्ञानियों के लिए वह इस शरीर के भीतर ही विद्यमान् है। जो मनुष्य अन्तःकरण को शुद्ध करके मन की वृत्तियों को स्थिर करके अहंकार के आवरण से अलग होकर उसको देखना चाहते हैं उनको अपने अन्दर ही मिलता है। सारांश यह है कि भगवान् को ढूंढने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं किन्तु अन्तःकरण में देखने की आवश्यकता है। जो परमात्मा को बाहर ढूंढते हैं उनसे परमात्मा बहुत दूर है और जो अपने हृदय में देखते हैं उनके नितान्त समीप है। बाहर देखने वालों को वह किसी दशा में नहीं मिल सकता और ज्ञान चक्षु से उसे सदा देख सकते हैं।

रहने का स्थान

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ।

मुण्डको० २-२-७

जो सबको जानता है और सबका साक्षी है जिसकी यह महिमा भूमि पर और दिव्य ब्रह्मपुर में—मुक्ति में है वह यह आत्मा हृदयाकाश में विराजमान है। वह मन की भांति इन्द्रियों और देहों का संचालक है। वह प्रकृति में निवास करता है उस भगवान् को हृदय में धारण करके धीरजन अपनी आत्मा में देखते है। वह आनन्दरूप और अमृत है। वह प्रकाशस्वरूप है।

मिलने का स्थान

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

इस भगवान् का प्रकाशमय रूप आंख के लिये नहीं ठहरता है—यह भगवान् आंख का विषय नहीं इसी कारण कोई भी व्यक्ति भगवान् को आंख से नहीं देख सकता। जो उपासक इसे हृदय में स्थित भगवान को श्रद्धा और मन से ऐसे जानते हैं वे मुक्त हो जाते है। वह अध्यात्म प्रकाश नेत्र, कान इन्द्रियातीत है। यह आदित्य वर्ण भगवान् केवल आत्मा जो हृदय में रहता है। मन से जाना जाता है।

ईश्वर हृदय में विराजमान है

सत्यज्यहृदगुहेशानं देवमन्यम् प्रयान्ति ये ते रत्नमभिवाञ्छन्ति
तन्यस्तबाहस्तस्य कौस्तुभम् ॥

जो मनुष्य हृदय रूपी गुहा में विराजमान ईश को छोड़कर दूसरे देवता को ढूंढते फिरते है वे मानो मुट्ठी में पकड़ी हुई मणी को त्याग कर कांच के टुकड़े को इधर-उधर तलाश करते फिरते हैं।

मिलने का स्थान

यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यो मनो न वेद यस्य मनः
शरीरम् यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत ।।

बृहदा० ३-७-२०

साधक को चाहिये कि जो ईश्वर मन के अन्दर अपनी सूक्ष्मता और व्यापकता के कारण निवास कर रहा है जिसको यह मन नहीं जानता परन्तु जिस ईश्वर का यह मन ही शरीर बना हुआ है। इस मन रूपी शरीर में भगवान् का आरोप करके अलंकारिक रूप से इसको शरीरी के रूप में कथन किया गया है। इस मन को भगवान् का मन्दिर या निवास स्थान मानकर उपासना का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें भगवान् को मिलने या प्राप्त करने के लिए साधन को इधर उधर भटकना नहीं पड़ता। वह साधक अपने अन्दर ही भगवान् का साक्षात्कार कर लेता है। यह बताया गया है कि भगवान् इस मन के अन्दर से ही क्रिया कराता है और कार्य में नियोजन का हेतु चेतन होने का कारण होता है। यही तेरा अन्तर्यामि भगवान् है वह ही अमृत रूप है।

निवास स्थान हृदय

तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

कठो० १-२-१२

उस कठिनता से दर्शनीय, प्रत्यन्त गुप्त, सबके अन्तर्यामी हृदय गुफा में रहने वाले, सबके साक्षी और अनादि देव को अध्यात्मयोग अर्थात् भक्ति भाव से मनन करने बुद्धिमान् मनुष्य हर्ष-शोक को छोड़ देता है। अनुकूल-प्राप्ति से हर्ष और इष्ट के वियोग से शोक होता है। अध्यात्म योगी भक्त उन दोनों से ऊपर होता है।

हृदय निवास

द्वौ सुपर्णौ फल शरीरेऽस्मिन् जीवेशाख्यौ सहस्थितौ तयोर्जीव फल
भुक्तते कर्मणो न महेश्वरम् केवल साक्षीरूपेण बिना भोगो महेश्वर ।।

अन्नपूर्णो० ४-३२

मनुष्य के शरीर में अत्यन्त शोभायमान जीवात्मा और ईश्वर हृदय प्रदेश में साथ मिलकर विद्यमान् है। इन दोनों में जीवात्मा ही कर्मफल का भोग करता है। ईश्वर नहीं। केवल साक्षी रूप होकर बिना किसी प्रकार के भोग के वह महेश्वर निवास करता है। क्रमशः

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावों की काव्य व गीतों के माध्यम से व्याख्या (४)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

ईश्वरस्तुति प्रार्थना उपासना

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।४।।

यजु० अ० २३। म० ३।।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।५।।

यजु० अ० ३२। म० ६।।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।६।।

ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १०।।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।। ७।।

य० अ० ३२। म० १०

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम ।। ८ ।।

यजु० अ० ४०। म० १६।।

काव्यार्थ

सकल संसार के स्रष्टा अखिल सुखपुंज परमेश्वर ।
दुरित दुःख दूर कर दे दो, हमें सब भद्रगुण सुखकर । १।।
स्वज्योतित ईश इस सम्पूर्ण जग का एक ही स्वामी ।
सनातन भानु-भू-धर्त्ता, उसी के हम बनें अनुचर ।।२।।

घर फूँक तमाशा–'धूम्रपान' सावधान! (४)

डा० एस० के० भटनागर, हैल्थ होम, शकरपुर विस्तार, दिल्ली-९२

स्वास्थ्य, धन, बुद्धिनाशक और परलोक बिगाडने वाले, पापकर्म (धूम्रपान) से स्वयं बचिये और दूसरों को बचाइये। डा० कृष्णगोपाल के शब्दो मे—

कोई सेवा कर नही सकते, भले ही न करे।
हानिकर सेवा है यह अब इसका करना छोड दे।।

अर्थात् किसी कीमत पर भी विवाह और अन्य उत्सवो मे भी बीडी-सिगरेट-सिगार पेश न करे। यदि कुछ भाई इस कुटेव से छुटकारा पाना चाहते हैं तब निम्न उपाय करे—

१ छोटी हरड (जग हरड) भोजन के बाद चूसने से तम्बाकू की तलब मिटती है।

२ दो-चार दिन फलाहार करे, एनिमा ले, प्राणायाम कर, मानसिक बल बढाय।

३ सौफ और अजवायन को समभाग लकर नीबू के रस मे घोलकर, काला नमक मिलाकर एक रात भर रखे। फिर धीमी आग पर सुखाकर शीशी मे भरकर रख ल। धूम्रपान की इच्छा होने पर यह थोडा-सा मसाला मुह म डाल लिया कर।

युग परिवतनशील होता है। एक समय था जब धूम्रपान उच्चवर्ग, हैसियत और प्रतिष्ठा की वस्तु समझी जाती थी। धूम्रपान को कश फकने वालो को लोग हसरत की निगाह से देखते थे, कि तु समय क चक्र ने पलटा खाया है। जब से विज्ञान के द्वारा नए अनुसधानो ने धूम्रपान स कैसर हृदय रोग, अल्सर तथा मानसिक बीमारियो के रहस्योद्घाटन किए है तब से पश्चिमी देशो के धूम्रपान प्रेमी भी सतक होने लगे है। यो तो पीना-पिलाना जारी है फिर भी विदेशो मे धूम्रपान के प्रति उतनी ललक नही रह गई जितनी कभी हुआ करती थी।

१९५० के दशक में पश्चिमी जर्मनी म प्रतिवष लगभग ९० करोड माक के सिगार तथा चुरूट बिकते थे। १९८५ में मात्र ६० करोड मार्क की बिक्री हुई जबकि इस बीच जनसख्या मे भी वृद्धि हुई। स्पष्ट है कि बिक्री में एक तिहाई की कमी इस बात की परिचायक है कि एक पीढी के अन्तराल में धूम्रपान प्रेमियों की सख्या मे गिरावट आई है। १९६६ मे इस सख्या मे ३३ प्रतिशत कमी आई और केवल ५८ करोड मार्क की बिक्री हुई। सख्या १,६३६ अरब सिगार से घटकर १,५२९ अरब सिगार रह गई है। काश, हम भारतीय भी इन आकडो से कुछ सबक ले पाते। ●

६० परिवारो के २०० ईसाई वैदिक धर्म मे

ग्राम खैरपालि मधुपुर (सम्बलपुर) उडीसा के लगभग साठ परिवारो के २०० से अधिक ईसाई सदस्यो ने वैदिक धम मे प्रवेश किया। उत्कल आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान एव गुरुकुल आमसेना के प्रधानाचार्य स्वामी धर्मानन्द जी महाराज के सहयोग तथा प्रेरणा से ३मई को सपन्न हुए इस शुद्धि समारोह में इन ईसाई सदस्यो ने वैदिक धर्म मे स्वेच्छापूर्वक प्रवेश किया। श्री स्वामी परमानन्द जी ने कायक्रम की अध्यक्षता की। कायक्रम का सचालन सभा मन्त्री श्री पडित विशिकेशव शास्त्री ने किया। इस कार्य मे श्री रुक्मणि देवता का योगदान सराहनीय रहा उनका कहना था कि इस क्षेत्र के लगभग १० हजार ईसाई शुद्ध हो सकते है।

श्री मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार—१९९३

आर्य समाज सान्ताक्रुज बम्बई-५४ अपनी पुरस्कारो की श्रृंखला 'वेद वेदाग पुरस्कार' एव 'वेदोपदेशक पुरस्कार" के पश्चात गत दो वर्ष से तीसरे पुरस्कार श्री 'मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार" का भी आयोजन कर रहा है। गत वर्षों की भाति इस वर्ष भी मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार की प्रविष्टिया आमन्त्रित की जा रही हैं, जिसकी नियमावली अनुसार नाम भेजे जा सकते हैं।

यह पुरस्कार मस्कत निवासी श्री मेघजी भाई नेनसी की स्मृति मे उनके सुपुत्र श्री कनकसिंह मेघजी भाई के आर्थिक सहयोग से प्रारम्भ किया गया है। इस वर्ष यह समारोह ४ जुलाई १९९३ को मनाया जाएगा। आर्य साहित्य के लेखकों को प्रोत्साहित करने के उददेश्य से इस पुरस्कार को प्रारम्भ किया गया है। वेद वेदागो के अतिरिक्त जीवन पर्यन्त आर्य साहित्य के माध्यम से सेवा करने वाले लेखक को इस पुरस्कार से सम्मानित किया जाएगा।

पुरस्कार प्राप्त करने वाले लेखक को १५ हजार की राशि, रजत ट्राफी, अभिनन्दन पत्र एव शाल भेंट किया जाएगा।

नियम—१ जिस विद्वान ने वैदिक साहित्य के द्वारा आर्य समाज की अधिकतम सेवा की हो।

२ प्रकाशित ग्रन्थो का सम्बन्ध आर्य समाज के दर्शन, इतिहास सिद्धात अथवा आर्य महापुरुषो के जीवन आदि से है, इस पुरस्कार की सीमा मे माने जाएगे।

३ ग्रन्थ लेखक को अपनी समस्त रचनाओ की दो दो प्रतिया आर्यसमाज सान्ताक्रुज पश्चिम बम्बई को भेजनी होगी। एक बार ग्रन्थ प्राप्त होने के पश्चात पुन अगले वर्ष भेजने की आवश्यकता नही होगी।

४ सर्वोत्तम ग्रन्थ का चयन एक समिति करेगी जिसका निर्वाचन आर्यसमाज सान्ताक्रुज करेगा। आर्य समाज सांताक्रुज की अन्तरग सभा का निर्णय अन्तिम निर्णय होगा।

५ इस पुरस्कार हेतु लेखक अपने ग्रन्थो की दो दो प्रतिया सयोजक—आर्य साहित्य पुरस्कार समिति आर्यसमाज सांताक्रुज बम्बई-५४ को भेजने की कृपा करें।

विद्वान लेखको के नाम तथा ग्रन्थो की प्रतिया जून ९३ तक भेज दें।

कैप्टिन देवरत्न आर्य

सयोजक—आर्य साहित्य पुरस्कार समिति

महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार १९९३

वैदिक धर्म, वैदिक साहित्य एव आर्य समाज के प्रति समर्पित भाव से की गई श्लाघनीय सेवाओ के फलस्वरूप महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार निधि न्यास, आर्य समाज फुलेरा, जिला जयपुर राजस्थान की ओर से १०,०००) दस हजार रुपये नकद, दयानन्द स्वर्ण/रजत पदक, उत्तरीय, प्रशस्त पत्र तथा अभिनन्दन पत्र-महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार स्वरूप प्रतिवर्ष ऋषि निर्वाण दिवस पर प्रदान किया जाता है। सन १९९३ के महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार के लिए कोई भी आर्य विद्वान स्वय अपना या अन्य आर्य विद्वान का नाम-पूर्ण विवरण तथा कृतियो की नामावली सहित दिनाक ३१-७-१९९३ तक प्रस्तुत कर सकता है।

भवर लाल शर्मा आचार्य, अध्यक्ष

महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार निधि न्यास

आर्य समाज, फुलेरा जिला जयपुर (राज०) ३०३३३८

आर्य समाज राणा प्रताप बाग का वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज राणा प्रताप बाग का ३१ वां वार्षिकोत्सव २५ अप्रैल से २ मई १९९३ तक आर्य समाज मन्दिर मे समारोह पूर्वक मनाया गया। ध्वजारोहण आर्य समाज अशोक विहार के पूर्व प्रधान श्री चमन लाल ने किया। शोभा यात्रा मे स्थानीय आर्यजनो के अतिरिक्त दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती, गुरुकुल खेड़ा खुर्द, केन्द्रीय आर्य युवक परिषद, आर्य वीर दल के ब्रह्मचारियो तथा आर्य बिरला गर्ल्स स्कूल की छात्राओ ने भाग लिया। प्रतिदिन यज्ञ प० धर्मपाल शास्त्री के ब्रह्मत्व मे हुआ तथा प० चुन्नीलाल और श्री गुलाबसिंह राघव के भजनोपदेश हुए। आचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री के वेदोपदेश हुए। शनिवार को महिला सम्मेलन श्रीमती प्रेमशील महेन्द्र की अध्यक्षता मे हुआ। श्रीमती सरला महता, श्रीमती सुशीला झा तथा अन्य बहनो ने अपने विचार प्रस्तुत किए यज्ञ की पूर्णाहुति २ मई को सम्पन्न हुई। इस अवसर पर आर्यसमाज के प्राण श्री जसवन्त राय साही का केन्द्रीय आर्य युवक परिषद की ओर से अभिनन्दन किया गया। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने समारोह की अध्यक्षता की। इस अवसर पर श्री रामचन्द्र विकल, श्री रामनाथ सहगल, डा० शिवकुमार शास्त्री विशिष्ट अतिथि थे। प० प्रेमचन्द श्रीधर ने आशीर्वाद दिया। सभी क्षेत्रीय आर्यसमाजो के प्रतिनिधियो ने श्री साही का अभिनन्दन किया।

गुरुकुल टटसेर जौंती का वार्षिकोत्सव

गुरुकुल टटसेर जौन्ती का वार्षिकोत्सव ७,८,९ मई १९९३ को समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ। श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती जी के ब्रह्मत्व मे प्रतिदिन यज्ञ हुआ और स्वामी वेदमुनि जी के प्रवचन हुए।

—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार अनादि, अनुपम सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करने योग्य है।

श्री वीरेन्द्र की धर्मपत्नी श्रीमती राजलक्ष्मी का निधन

आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब के प्रधान, यशस्वी आर्य नेता सुप्रसिद्ध पत्रकार एव स्वतन्त्रता सेनानी श्री वीरेन्द्र जी की धर्मपत्नी श्रीमती राजलक्ष्मी का निधन २९-४-९३ को जालन्धर मे हो गया। उनकी आयु ७९ वर्ष की थी। उनके दोनो सुपुत्रो श्री ललित मोहन और वीरप्रताप के उद्यमी सम्पादक श्री चन्द्रमोहन को समाज सेवा की भावना उत्तराधिकार मे मिली है।

माता राजलक्ष्मी जी बहुत ही सौम्य स्वभाव की देवी थी। उन्होने स्वतन्त्रता सेनानी पति श्री वीरेन्द्र का हर परिस्थिति मे धैर्यपूर्वक साथ दिया। वे ऋषिकुज पक्का बाग जालन्धर की सदस्या थी।

उनका अन्त्येष्टि सस्कार ३० ४-९३ को किशनपुरा स्थित श्मशान घाट पर हुआ। उनकी स्मृति मे शोक दिवस एव शान्ति यज्ञ १ मई १९९३ को उनके निवास स्थान पर हुआ। शोक सभा मे पजाब, हरियाणा, दिल्ली और सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों से प्राप्त शोक सदेश पढ़े गए तथा विभिन्न क्षेत्रो—आर्यसमाज, सनातन धर्म, सिख, राजनीति के प्रतिनिधियो ने अपने श्रद्धासुमन अर्पित किए।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा तथा आर्य सन्देश परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धाजलि तथा परिवार के प्रति हार्दिक सवेदनाए।

सम्पादक

आर्यसमाज रोहिणी का वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज रोहिणी कैनरा एपाटमेट सेक्टर-१३, दिल्ली-८५ का वार्षिकोत्सव ३० अप्रैल से २ मई १९९३ तक समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। प्रतिदिन यज्ञ एव भजनोपदेश हुए। शनिवार रात्रि मे कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया। रविवार २ मई को पूर्णाहुति के पश्चात डा० धर्मपाल, डा० प्रशान्त कुमार वेदालकार, प्रो० उत्तमचन्द शरर और डा० प्रेमचन्द श्रीधर के व्याख्यान हुए।

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R N No 32387/77 Posted at N D P S O on 3-4-6-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (एल-११०२४/६३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
साप्ताहिक "आर्यसन्देश" ६ जून, १९९३

जस्टिस श्री महावीर सिंह जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के नए परिद्रष्टा बने

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के जस्टिस श्री महावीर सिंह जी नए परिद्रष्टा होंगे। १४ ४ ९३ का सीनेट की बैठक मे यह निणय सर्वसम्मति से लिया गया। बैठक की अध्यक्षता कुलाधिपति प्रो० शेरसिंह जी ने की। नए परिद्रष्टा (विजिटर) महोदय ने १७ ४ ९३ से अपना कायभार सभाल लिया है। १४ सितम्बर १९२० को एलम मुजफ्फर नगर मे जन्मे जस्टिस महावीर सिंह ने लखनऊ विश्व-विद्यालय से अर्थशास्त्र मे एम० ए० किया। विधि शास्त्र मे उन्होने समस्त विश्व विद्यालय मे दूसरा स्थान तथा प्रथम श्रेणी प्राप्त की १९४१ ४२ मे लखनऊ विश्व विद्यालय के सर्वोतम छात्र होने के नात उन्हे स्वण पदक प्रदान किया गया। १९४२ मे जनता वैदिक इण्टर कालेज मे अध्यापक के रूप मे कार्य किया। १९४५ मे उत्तर प्रदेश लोक सेवा आयोग द्वारा मु सिफ चुने गए और १० ५ ४६ को इसी पद पर अपना कार्यभार सम्भाला। इसके बाद १९५३ मे सिविल जज, १९५९ में सिविल सैशन जज १९६८ मे एडीशनल डिस्ट्रिक्ट जज व एडीशनल जज रिवीजन (सेल्स टैक्स, १९७० म डिस्ट्रिक्ट जज और १९७७ म पब्लिक सर्विस ट्रिब्यूनल के जुडिशियल मैम्बर क रूप मे बिना किसी व्यवधान के पदोन्नत हुए। १७ ११-७७ को इलाहाबाद हाईकोट के एडीशनल जज नियुक्त हुए। १५ ११ ७९ को स्थायी जज बनने के बाद १४ ९ १९८२ को सेवानिवृत्त हुए। सेवा निवृत्ति के बाद ८ १० १९८२ को सर्वोच्च न्यायालय मे वरिष्ठ विधिवेत्ता के रूप मे पजीकृत हुए और अब उच्चतम न्यायालय मे ही इसी रूप मे कार्यरत है।

जस्टिस महावीर सिंह ने अनेक महत्वपूर्ण पुस्तको के लेखक होने का गौरव प्राप्त किया है, जो कि न्याय क्षेत्र मे सर्वोच्च कोटि की मानी जाती हैं। न्याय पचायत, सहकारी समिति एक्ट, भारत का सविधान नामक पुस्तको को भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा उनको विधि वाचस्पति की मानद उपाधि से भी विभूषित किया गया है। जस्टिस महावीरसिंह के सम्पर्क मे आने वाला हर व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार करने पर बाध्य हो जाता है कि ये न्यायप्रियता, विधि विज्ञान ज्ञान सम्पन्नता सादगी और गम्भीरता शालीनता मित भाषिता और ईमानदारी के प्रतीक हैं। इन्ही गुणो के कारण जस्टिस महावीर सिंह इस समय सार्वदेशिक आय प्रतिनिधि सभा की न्याय सभा के चेयरमैन भी है।

जस्टिस महावीर सिंह द्वारा कार्यभार सम्भालने पर आय जगत मे और विशेष रूप से गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय मे खुशी की लहर दौड़ गई है। इनके कायभार सभालने पर स्वामी आनन्दबोध सरस्वती प्रो० शेरसिंह, डा० धर्मपाल, श्री सूर्यदेव श्रीमती प्रभात शोभा श्री सोमपाल ससद सदस्य, श्री वेदव्रत शर्मा, प्रो० प्रकाशवीर विद्यालकार, डा० महेशविद्यालकार, श्री सूबेसिंह श्री विजयकुमार आदि ने अपने बधाई स दश भेजे हैं और आशा की है कि नए विजिटर का कुशल नेतृत्व निश्चित रूप से विश्वविद्यालय को एक सही और नई दिशा देगा।

सेवा मे—

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक ३५ रविवार १३ जून १९९३ विक्रमी सम्वत २०५० दयानन्दाब्द १६९ सष्टि सम्वत १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दरभाष : ३१०१५०

विश्व पर्यावरण दिवस पर

यमुना नदी का सफाई कार्यक्रम प्रारम्भ

नई दिल्ली ५ जन। पर्यावरण व वन म त्री श्री कमल नाथ ने आज विश्व पर्यावरण दिवस के अवसर पर,४२३ करोड रुपये की लागत से यमुना नदी की सफाई कायक्रम का उदघाटन किया। यमुना नदी को हरियाणा की २२ उत्तर प्रदेश की १७ तथा दिल्ली की ४२ औद्योगिक ईकाइया प्रदूषित करती हैं। दिल्ली नालो से सबसे अधिक कचरा यमुना मे जाता है। आगामी पाच वर्षों मे दिल्ली उत्तर प्रदेश एव हरियाणा के कई शहरो मे यमुना नदी को इस योजना के अ तगत प्रदूषण रहित बनाया जायेगा। इस योजना के लिए जापान ने ४०३ करोड रुपये का ऋण दिया है और बाकी राशि के द्र व राज्य सरकारो द्वारा उपलब्ध करायी जायेगी।

श्री कमलनाथ ने यह भी कहा कि राष्ट्र की १७ प्रमुख नदिया के २० प्रदूषित भागो की सफाई के लिए शीघ्र ही एक हजार करोड रुपये की योजना भी शुरू की जायेगी।

सोमयज्ञ सम्पन्न

रामलला जहां हैं, वहीं मन्दिर बने

नई दिल्ली ७ जन। सोमयज्ञ के आयोजको ने कहा कि जहा रामलला हैं वहीं शीघ्रातिशीघ्र राम मन्दिर का निर्माण होना चाहिए। यह बात दो दिवसीय सोमयज्ञ की पूर्णाहुति के बाद एक स वाददाता सम्मेलन मे कही गयी।

स्वामी दिव्यान द ने एक स वाददाता सम्मेलन मे कहा कि केन्द्र सरकार को गभगह पर ही राममन्दिर का निर्माण करना चाहिए। साथ ही उ होने मुसलमानो से भी यह अपील की कि वे राष्ट्रहित व देश मे शान्ति स्थापना के लिए विवादित स्थल पर म स्जद बनाने की जिद छोड दें। यदि मुसलमान मस्जिद बनाना ही चाहते हैं तो पचकोशी परिक्रमा से बाहर बनायें। स्वामी दिव्यानन्द जो सोमयज्ञ के प्रमुख आयोजको मे से एक हैं ने कहा कि मुसलमानो की धार्मिक भावनाओ को कुछ स्वार्थी नेताओ ने भडका कर राजनैतिक रूप दे दिया है।

संघ व बजरंग दल पर प्रतिबन्ध रद्द इस्लामिक सेवक संघ पर वैध

नई ि ल्ली ७ जून। राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ व बजर ग दल पर बाहरी ट्रिब्यूनल ने प्रतिब ध रदद कर दिया है जब कि विश्व ि दू परिषद पर लगे प्रतिबन्ध को ठीक ठहराया गया है। दूसरी ओर प्रधानम त्री ने गह म त्रालय को निदश दिये हैं कि इस निणय के विरुद्ध उच्चतम यायालय मे याचिका दायर की जाये। न्यायधीश पी०के० बाहरी ने ३५० पेज मे अपना निणय दिया है। अयोध्या की घटना मैं स घ व बजरग दल का हाथ न सिद्धि किये जाने के कारण ट्रिब्यनल ने यह निणय दिया है। स्मरणीय है कि सन १९४८ व १९७५ में भी सघ पर प्रतिबन्ध लगाया था। आकडो के अनुसार आज देश मे स घ के २९ लाख सदस्य एव ३५ हजार शा ाय हैं।

यायमूर्ति पी० एन० नाग की अध्यक्षता में गठित एक न्यायाधिकरण ने इस्ला मक सेवक सघ पर लगे प्रतिब ध को वैध ठहराया है। इस सगठन पर एक अधिसूचना के अ तगत १० दिसम्बर ९२ को प्रतिबन्ध लगाया गया था।

दिल्ली है सर्वाधिक प्रदूषित महानगर

नई दिल्ली ८ जून। दिल्ली देश का सर्वाधिक प्रदूषित महानगर है। प्रदूषण का मुख्य कारण वाहनो से निकलने वाला धूआ औद्योगिक इकाइया एव दो ताप बिजलीघर हैं। दिल्ली की दो तिहाई वायु वाहनो के धुए से प्रदूषित होती है। अत बढते हुए वाहनो की सख्या पर रोक लगायी जानी चाहिए। सीमा से अधिक कार खानो की स्थापना पर भी रोक लगायी जानी चाहिए। राजधानी का वायु प्रदूषण में दो ताप बिजलीघरो द्वारा २५ हजार टन से ज्यादा सल्फर डाई आक्साइड गव राख का भी बहुत योगदान है। यह निष्कष नभाट द्वारा किये गये सवक्षण से सामने आया है।

उल्लेखनीय है विश्व स्वास्थ्य सगठन के एक सवक्षण ने भी दिल्ली विश्व के बीस सर्वाधिक महानगरो मे एक माना गया है। वायु प्रदूषण से श्वास के रोग तेजी से बढते जा रहे हैं और पर्यावरण विशेषज्ञो ने अनेक बार सरकार को इस बारे मे कायवाही करने की सिफारिश की है।

प्रधान सम्पादक—सूयदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

पश्य देवस्य काव्यम्

-डा० महेश विद्यालंकार

यह सारा ससार प्रभु का सुन्दर काव्य है। इस काव्य के माध्यम से रचयिता का सहज ही बोध किया जा सकता है। सभी धर्मग्रन्थ, वेद, उपनिषद, दर्शन, ऋषि, मुनि, योगी, सन्त विद्वान आदि पुकार-पुकार कर कह रहे हैं वह प्रभु सर्वत्र जड चेतन मे ओत-प्रोत है। उसका अनुभव करने के लिए ज्ञान-चक्षु खोलने की आवश्यकता है। वह सृष्टि विधाता अपने कर्मों से सर्वत्र प्रकट हो रहा है। यह सारी रचना अपने निर्माता की ओर सकेत कर रही है। इस सष्टि के निर्माण और व्यवस्था मे कोई अज्ञात चेतन शक्ति निरन्तर क्रियाशील है। प्रभु ने सृष्टि रचना करके अपना कर्म अल्पज्ञ जीव के सामने रख दिया। किन्तु हम फूल मे, फूल के बनाने वाले को नही देख पा रहे हैं? शरीर मे शरीर के, चलाने वाले को नही अनुभव कर पा रहे हैं।

उस जगन्नियन्ता शिल्पी की ससार मे कैसी-कैसी विचित्र, अद्भुत एव चमत्कारिक नियम और व्यवस्थाए चल रही है कि मानव बुद्धि हैरत मे है। स्वत ही दिन रात हो रहे है। ऋतुए बदल रही है। वृक्षो पर नए पत्ते आ रहे हैं, परन्तु झड रहे हैं। जड चेतन सभी परिवतन के चक्र मे घूम रहे है। वैज्ञानिक कह रहे हैं कि ससार का सबसे बडा आश्चय और चमत्कार है कि पेट रूपी फैक्ट्री मे सब कुछ स्वाभाविक हो रहा है। रोटी रक्त बन रही है। रोटी विचार बन रही है, रोटी वासना बनती हैं, अपने आप सब कुछ रूपान्तरण हो रहा है। शरीर की बनावट,हड्डियो की बनावट व जोड, खून की नालिया, भोजन पचाने के औजार, हृदय मे रुधिर शुद्धि की प्रक्रिया आदि मे प्रभु-सत्ता के प्रमाण मिलते है।

सृष्टि का परिवर्तन ईश्वर इच्छा पर निभर है। उसी सावभौम चेतना के अधीन सूय, चन्द्र, गृह-उपग्रह आदि नियम से उदय और अस्त हो रहे हैं। ये सारा ब्रह्माण्ड बिना किसी सहारे के चल रहा है। खेल मे गेंद गोल से बाहर हो जाती है, किन्तु आकाश मे इतने असख्य तारागण हैं, कभी परस्पर टकराते नजर नही आते हैं। सन्ध्या का प्रत्येक मन्त्र विस्तृत व्यापक परमेश्वर का मानचित्र प्रस्तुत करता है। पूर्व-पश्चिम, उत्तर दक्षिण ऊपर-नीचे सभी ओर उस सुन्दरतम की महफिल सजी है। उसी का चारो ओर नजारा नजर आता है।

ओ३म् उदुत्य जातवेदस देव वहन्ति केतव दृश्य विश्वाय सूयम्॥

पशु-पक्षी, कीट आदि अपनी जीवन यात्रा को चलान के लिए स्वय समर्थ है। उनके जीवन उत्पत्ति व रहन-सहन का प्रकार विचित्र एव आश्चर्य जनक है। पशु पक्षी, जलचर, नभचर कीट आदि की र ग-बिरगी साज सज्जा, खान पान को देखकर किसी सूत्रधार का बोध हो आना स्वाभाविक है मधुमक्खिया पुष्पो मे से मधु किस कारीगरी से खीचती है कि कोई वैज्ञ निक यह सिद्ध नही कर सकता है कि इस फूल का मधु निकाल लिया गया गया है। दूसरे का नही? किस प्रकार मधुमक्खी शहद के छिद्रो को बुद्धिमत्ता से मोम के द्वारा बन्द कर देती है?किसी रेखागणित के विद्वान से पूछो कितना जटिल एव असम्भव काय है। इसलिए इस सत्य को उच्च स्वर से कहा—

पूर्णमद पूणमिद पूर्णात्पूण मुदच्यते।

ब्रह्म पूर्ण है पूर्ण ब्रह्म से प्रकट यह जगत भी पूर्ण है। पूर्ण से ही पूर्ण बनता है। ससार की विलक्षण रचना, जगत मे उत्पन्न प्रत्येक पदाथ से प्रकट हो रही है। वृक्षो, वनस्पतियो और औषधियो पर दृष्टि जाती है तो गणना लघु हो जाती है। कैसे विचित्र ढग से नीबू मे खटटापन, ईख मे मिठास, मिर्च मे कडवाहट, प्रत्येक पौधा भूमि से स्वाद ले रहा है वेद परमात्मा की अदभुत व्यवस्था को देखकर कह रहा है—

याथातथ्योऽर्थान व्यदधात। जो जहा जिसको जब चाहिए स्वत ही पहुच रहा है। मनुष्य शरीर की आन्तरिक रचना इतनी परस्पर सम्बद्ध, इतनी सुन्दर नियमित है कि जिसे देखकर वैज्ञानिक एव ज्ञानी चकित है। शरीर मे क्या-क्या कमाल हो रहे हैं? इनके अन्दर प्रभु ने एक सुन्दर डिस्पेन्सरी लगा दी है, जो निरन्तर स्वच्छता और निरोगता का ध्यान रखती है। शरीर अपनी टूट-फूट तथा रख रखाव की व्यवस्था स्वय कर रहा है। किसी को पता नही है कि अन्दर क्या रहा है? वह शिल्पी आखो की काली पुतली के लिए कहा से मसाला लाता है? दातो के लिए कहा से कठोर वज्र एकत्र करता है? कानो के लिए इतनी कोमल बरीक मशीन कहा से बनवाता है? जिह्वा पर कौन-सा स्वाद का केमीकल लगवाता है? हृदय के पम्प मे कौन से मेक की मशीनरी फिट करता है, जो निरन्तर चल रहा है। हाथो, पैरो के जोडो मे कौन-सी क्वालिटी की ग्रीस देता है, जो निरन्तर गतिशील हो रहे हैं?

जब फूल-पौधो की ओर नजर जाती है जो चित्र विचित्र रग बिरगी छटा धारे अपने निर्माता उस महान कलाकार की ओर सकेत कर रहे हैं। कैसी अनूठी कारीगरी से र ग रूप साज-सज्जा, मधु सुगन्ध, कटाई, छटाई आदि की व्यवस्था की है। प्रत्येक फूल की सुगन्ध अलग है। यह पुष्प-जगत हस-हसकर झूम-झूमकर कह रहा है प्रभु को मुझमे देखो। वह हमारे माध्यम से हस रहा है।

बहुरगी वनस्पति जगत मे इतना वैविध्य एव नानात्व है कि मानव की बुद्धि सीमित हो जाती है। प्रभु का सौन्दर्य दशन मानव चिन्तन से बहुत परे है।

किसी कवि ने सुन्दर कहा है—

हर र ग मे जलवा है तेरी कुदरत का।
जिस फूल को सूघता हू बू तेरी है॥
समाया है जब से नजरो मे तू मेरी।
जिधर देखता हू, उधर तू ही तू है॥

परमात्मा ने सृष्टि युक्ति युक्त बनाई। आख ठीक नाक के ऊपर रखी यदि नाक के नीचे रहती तो बडा कष्ट होता। नाक का सारा मल आखो मे आता रहता। आखे नीचे होती तो देख न पाती। नाक और मुख के बीच बहुत अन्तर हो जाता। मुख से खाने वाले पदाथ को गन्ध-दुर्गन्ध का बोध न हो पाता। प्रत्येक वस्तु को परमात्मा ने यथा स्थान बनाया है।

प्रभु आनन्द स्वरूप है। उनके आनन्द की अनुभूति आत्मा मे होती है। इस अनुभूति तक पहुचने के लिए रह है। मानव प्राणी जगत की कम व्यवस्था को, चित्र विचित्र सृष्टि को चल रह नियमित नियम व्यवस्था को देख नही पा रहा है? यही उसकी आसगति एव विडम्बना है। आज मानव बहिजगत व शरीर के लिए सब कुछ सुख-भोग के साधन जुटा रहा है। अन्तजगत् सूना, खोखला तथा नीरस होता जा रहा है। इसलिए मानव सब कुछ पाकर भी अतृप्त असन्तुष्ट, अभाव एव चिन्ता की ओर बढ रहा है। विज्ञान व भौतिक साधन मन बुद्धि चित्त और आत्मा के लिए कुछ नही दे पा रहे हैं? इसी कारण सवत्र भटकन है। अतृप्ति बढती जा रही है। सहज स्वाभाविक, प्रसन्नता, प्रेम, शान्ति एव आनन्द छूटता जा रहा है। मानव मशीन बनकर दौडा जा रहा है।

वेद शास्त्र, धर्मग्रन्थ सन्त, ऋषि मुनि आदि पुकार-पुकार कर कह रहे है— मानव! यदि तू अपना कल्याण और सुख शान्ति चाहता है तो प्रभु की ओर लौट। उस नियामक की रचना, व्यवस्था, नियम परिवर्तन, सृष्टि विज्ञान आदि का चिन्तन-मनन कर। अपने ज्ञान-चक्षुओ को खोलकर देख वह सवत्र विद्यमान है। उनका सवत्र साम्राज्य है। जिसे तू बाहर खोज रहा है वह तेरे अन्तस् मे हैं। मात्र अज्ञान के पर्दे को हटाना है। उठो! जागो! उस सुन्दरतम देव की रचना को पढो। गुन गुनाओ। जो निरन्तर सवत्र अनन्त सुखो के भण्डार को मुक्त हस्त से बाट रहा है। प्रभु के पात्र बनकर सुख-शान्ति व प्रसन्नता स्वय प्राप्त करो और दूसरो को प्राप्त कराओ। यही प्रभु का अमर सन्देश है।

नामकरण-संस्कार

नई दिल्ली, ६ जून। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि के महामन्त्री डा० धर्मपाल की पौत्री का नामकरण संस्कार आज आर्य समाज मन्दिर हनुमान रोड में सम्पन्न हुआ। समाज मन्दिर के धर्माचार्य डा० वर्णदेव शास्त्री के पुरोहित्य मे हुये इस संस्कार में कैप्टिन विनीत व श्रीमती प्रियदर्शिनी की सुपुत्री का नाम 'दिविता' रखा गया।

इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती जी ने दिविता को आशीर्वाद दिया। प्रख्यात विद्वान एव दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि डा० धर्मपाल मेरे सुयोग्य शिष्य ही नहीं बल्कि श्रेष्ठ समाज के एक श्रेष्ठ व कर्मठ कार्यकर्त्ता भी हैं। पूर्व केन्द्रीय मन्त्री व गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति प्रो० शेरसिंह श्रीमती प्रभात शोभा, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव, दिल्ली आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान महाशय धर्मपाल, सर्वश्री विमल वधावन, मूलचन्द गुप्त, चौधरी लक्ष्मी चन्द, अजय भल्ला डा० प्रशान्त वेदालंकार प्रो० प्रकाशवीर शास्त्री, रामशरण दास आदि गणमान्य आर्य महानुभावो ने भी इस आयोजन में शामिल हो दिविता की दीर्घायु व सुखद भविष्य के लिए आशीर्वाद दिया।

॥ ओ३म् ॥

निमन्त्रण-पत्र

राष्ट्र धर्म व मानवता के सबल रक्षक 'आत्मशुद्धि आश्रम'

बहादुरगढ़ मे ६ जून से आयोजित

निःशुल्क योग एव सस्कृत प्रशिक्षण शिविर

समापन-समारोह

(१३ जून रविवार प्रात ७ से १२ बजे तक)

※ कार्यक्रम ※

प्रात ७ से ९ बजे यज्ञ, ब्रह्मा—श्री आचार्य जैमिनी जी शास्त्री।

९ बजे समापन समारोह अध्यक्ष—श्री प्रि० चन्द्रदेव जी।

मुख्य अतिथि—श्री रामनाथ जी 'सहगल' मत्री प्रादेशिक आर्य प्रति० सभा

आशीर्वाद—श्री स्वामी सुदर्शनाचार्य जी महाराज सिद्धिदाता आश्रम सूरजकुण्ड रोड।

प्रमुख वक्ता—सर्वश्री डा० धर्मपाल जी मत्री आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली। आचार्य सुदर्शन देव जी वेद प्रचार अधिष्ठाता आर्य प्रतिनिधि सभा (हरियाणा), आर्य वीर जी 'भल्ला' फरीदाबाद, आचार्य सूर्यनारायण जी नन्द लोक भाषा प्रचार समिति भारत, श्रीमती कृष्णा चड्ढा मन्त्रिणी स्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली, श्री डा० राजकुमार जी, रोहतक।

विशेष—शिविरार्थियो द्वारा सस्कृत मे नाटक, भाषण, गायन।

१२ बजे ऋषि लगर।

उपरोक्त कार्यक्रम मे आप सपरिवार सादर आमन्त्रित है।

आत्म शुद्धि आश्रम (प० न्यास) बहादुरगढ़-१२४५०७ (हरि०)

—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करने योग्य है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित

वैदिक साहित्य

१	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम, द्वितीय) प्रत्येक		१ ५०
२	नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२ ००
३	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३ ००
४	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४ ००
५	नैतिकशिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५ ००
७	फ्लैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यकाम वर्मा)	२ ००
८	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	,, ,,	२ ००
९	एनोटामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५ ००
१०	आर्यो का आदि देश	,, ,,	२ ००
११	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	,, ,,	२५ ००
१२	दी ओरीजन होम आफ आर्यन्स	,, ,	२ ००
१३	चत्वारो वै वेदा	,, ,,	५ ००
१४	द्वैतसिद्धि	,, ,,	५ ००
१५	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ मे	(डा० धर्मपाल डा० गोयनका)	२० ००
१६	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(डा० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
१७	हसता चल, हसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८	दयानन्द एण्ड दा वेदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
१९	पूजा किसकी ? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२०	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२१	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२२	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकडा
२३	महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी स्मारिका (सन् १९८३)		५ ००
२४	स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अर्धशताब्दी स्मारिका १९८५		५ ००
२५	महर्षि दयानन्द निर्माण शताब्दी स्मारिका १९८५		१० ००
२६	महर्षि दयानन्द निर्वाण विशेषांक		१० ००
२७	ऋषिबोधांक		१० ००
२८	योगीराज श्रीकृष्ण विशेषांक		१० ००
२९	दैनिक यज्ञ पद्धति	(दि० आ० प्र० सभा)	४ ००
३०	हैदराबाद आर्य सत्याग्रह अर्धशती स्मृति अंक	,,	१० ००
३१	धर्मवीर पण्डित लेखराम संयुक्तांक	,	५ ००
३२	स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती	,,	२५ ००
३३	प नथूराम शकर शर्मा शकर'	,	२५ ००
३४	श्रावणी एव श्रीकृष्ण जन्माष्टमी	,,	५ ००
३५	प० चमूपति संयुक्तांक	,	५,००
३६	स्वामी रामेश्वरानन्द सरस्वती		५ ००
३७	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	,	५ ००
३८	प० गणपति शर्मा	,	५ ००
३९	प रामचन्द्र देहलवी	,,	५ ०

नोट उपरोक्त सभी पुस्तको पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तको की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक व्यय पृथक नही लिया जाएगा। कृपया अपना पूरा पता एव नजदीक का रेलवे स्टेशन साफ साफ लिखे।

पुस्तक प्राप्ति स्थान **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१

आदर्श त्रैतवाद (३०)

राजसिंह भल्ला

हृदय स्थान

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट ।
हृदा मनीषा मनसाभि कलृप्तो य एतद्विदुररमृतास्ते भवन्ति ।।
श्वेता० ४-१७

यह ही देव जगत् का रचने वाला है। महान आत्मा है और जनो के हृदयो में सदा प्रविष्ट है, विद्यमान् है। वह प्रभु हृदय स श्रद्धा से बुद्धि से और मन से प्राप्त है। ईश्वर श्रद्धा, बुद्धि और मन स प्राप्त होता है। जो उपासक उस भगवान को जानते हैं वे अमृत हो जाते है।

हृदय निवास

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तो ।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसदान्महिमानमीशम् ।।
श्वेता० ३-२०

इस प्राणी के हृदय मे सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् मे महान् परमेश्वर विद्यमान है। उस कर्मरहित-ज्ञानमय महान् ईश्वर को शोक रहित उपासक भग वान् की कृपा से ही देखता है। अनन्त महिमामय ईश्वर का दर्शन उसकी कृपा से ही प्राप्त होता है।

हृदयो मे निवास

अगुष्ट मात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये सन्निविष्ट ।
हृदा मनीषी मनसाऽभिकलृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।
श्वेता० ३-१३

अगस्थ-अगमात्र का साक्षी परम पुरुष अन्तर्यामी जनो के हृदयो मे सदा प्रविष्ट है, शुद्ध हृदय से और मन से प्राप्त है—प्राप्य होने योग्य है। मनीषी है। जो उपासक यह जानते है वे अमृत हो जाते है।

चित्तस्थ

आदि स संयोग मिमित्त हेतु परस्त्रि कालादकलोऽपि दृष्ट ।
ते विश्वरूपे भवभूतमीड्य देव स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ।।
श्वेता० ६ ५

वह भगवान् सनातन है परमाणुओ और जन्मो के सयोग का निमित्त कारण है। तीन काल से ऊपर है और कला रहित भी जाना गया है। उस अनन्त स्वरूप उत्पत्ति के स्थान, स्तुति योग्य अपने चित्तस्थ देव को पहले आराध कर फिर मनुष्य मुक्त होता है।

हृदय मे निवास

अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्मिहितो गुहायाम् ।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मन ।।
कठो० १ २ २०

इस देहधारी मनुष्य के भीतर हृदय मे सूक्ष्म से सूक्ष्मतम और महान् से महान् आत्मा छिपा हुआ है। उस आत्मा को और आत्मा की महिमा को भगवान् की कृपा से आत्मज्ञानी और शोक रहित भक्त देखता है।

निवास हृदय

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा-ज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य । छान्दो० ३-१४-३

आत्मा का ज्ञाता ऋषि कहता है कि यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर अन्न के दाने से, जौ से, सरसो से, श्यामक से, श्यामक के चावल से सूक्ष्म है। अत्यन्त सूक्ष्म सत्ता है और वह जो मेरा आत्मा हृदय में भीतर स्वशक्ति, स्वरूप तथा ज्ञान से पृथिवी से बडा है। अन्तरिक्ष से बडा है। प्रकाशमय तारा मण्डल से बडा है और सारे लोकों से बडा है। चेतन्य स्वरूप आत्मसत्ता को तुलना जड लोक अनेक अनेक मिलकर भी नही कर सकते।

हृदय निवास

सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर ।
एष मे आत्मान्तर्हृदये एतद् ब्रह्मैतमित प्रेत्यमिसभवितास्मीति ।
यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्य शाण्डिल्य ।।

यह मेरा आत्मा सब कर्म समर्थ है। पूर्ण काम है। सर्वगन्ध ज्ञानवान् है। सर्वरस ज्ञानवान् है। सब इस शरीर को सुप्राप्त है। वाणी रहित है और किसी के आदर से ऊपर है। पर पदार्थ की अपेक्षा नही करता तथा यह मेरे हृदय मे भीतर जो साक्षी रूप आत्मा है यह ब्रह्म है। मैं यहा से मर कर इसी को प्राप्त होऊगा जिस उपासक की आत्मा परमात्मा मे ऐसी श्रद्धा हो, सन्देह तथा शका न हो वह भी इसी ब्रह्म को प्राप्त होगा। यह शाण्डिल्य ऋषि ने कहा था। यह खण्ड शाण्डिल्य का कहा हुआ है। यह चिन्तन द्वारा स्वस्वरूपोपासना है इससे आत्म सत्ता जग जाया करती है।

आठवां अध्याय

ईश्वर प्राप्ति की विधि

आनन्द प्राप्ति की विधि

यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्ण कर्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरजन परम साम्यमुपैति ।।
मुण्डको० ३-१-३

जिस समय मन के मैल को दूर करके और मन को एकाग्र करके साधक उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा को जिसके प्रकाश से सारा जग प्रकाशित हो रहा है और जो सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाला है और जो सबका स्वामी है जिसकी शक्ति से सारे ब्रह्माण्ड का चक्र चल रहा है। चन्द्र सूरज और पृथ्वी को चाल तारो का चक्र, ऋतुओ का परिवर्तन प्रत्येक प्रकार के काय जिस शक्ति मे बन रहे हैं—चल रहे हैं जब उसको देख लेता है तब वह पाप और पुण्य की अभिलाषा और अहकार के मल को धोकर अर्थात किसी प्रकार की इच्छा न रहने से और अन्त करण के पृथक हा जाने मे परब्रह्म जो परमात्मा है, जो सबसे सूक्ष्म और बलवान् है, पूर्ण ज्ञानवान् और दु खो से रहित है उसको प्राप्त करके उसके आनन्द गुण मिल जाने से उसकी समानता को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार वह परमात्मा सत, चित् आनन्द स्वरूप है ऐसे ही जीव भी उसके आनन्द को प्राप्त करके सम्पूर्ण दु खो स छुट जाता है। क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (५)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

काव्यार्थ

वही है आत्म बल दाता, सभी का पूज्य सद्प्रेरक।
उसी का आसरा सुख मूल, है वह मुक्ति का सागर।।
अवज्ञा जो करे उसकी, नही विश्वास उस प्रभु में।
सबल पर है निरा पशु पक्षियो, कृमि आदि स बदतर।।३।।
अचर चर ससृति का जो, निजी निस्सीम शक्ति से।
अकेला है सनातन नृप, मनुज गौ आदि जो भू-पर।।
सभी इन प्राणियो का ऋणदाता वह अधीश्वर है।
उसी जगदीश की अभ्यर्थना मे रत रहो हे नर।।४।।
उसी के तेज मे रवि आदि ज्योतित, अवनि स्थिर है।
वही है मोक्ष का धारक, गगन मे लोक लोकान्तर।।
सृजित करता चलाता नित्य अपनी शक्ति के सम्बल।
नियन्ता ईश की ही भक्ति मे, हम नित रहे तत्पर।।५।।
क्रमशः

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार

नेतराम शर्मा, प्रधान—भारतीय योग संस्थान पूर्वी जिला दिल्ली-११००५१

आंवला

१ आवले के क्वाथ (काढे) से सिर धोये तो रूसी (सीकरी) दूर होती हैं।

२ आंवले के असली तेल की सिर पर मालिश करने से ठडक पडती है और नींद आती है।

३ आवले को नींबू के रस मे पीसकर सिर पर लगाने से सफेद बाल काले हो जाते हैं।

४ आवले की गिरी का चूर्ण शहद तथा मिश्री के साथ लेने से महिलाओं का श्वेत प्रदर समाप्त हो जाता है।

५ पेट का कोई भी रोग हो आवले की मरब्बी बनाकर हफ्ता भर खाने से पेट के बिकार दूर होते हैं।

६ आवला त्रिदोष हर कहलाता है आवले का मुरब्बा कमजोरी दूर कर शक्ति को बढाता है।

७ आवले को रात में पानी मे भिगो प्रात छानकर आंखो में छींट देने से आंखो की ज्योति बढती है।

ईख (गन्ना)

८ खासी का इलाज—गन्ने का रस औटाकर पीने से खांसी दूर होती है।

९ प्लीहा तथा जिगर का इलाज - गन्ने का रस औटाकर उसमे जरा सा कच्चे अदरक का रस, काला नमक और काली मिर्च मिला कर दे तो बढी हुई प्लीहा (तिल्ली) तथा जिगर ठीक हो जाता है।

१० श्वास (दमा) का इलाज—दमे के रोगी को शीरा (राब) देने से आराम मिलता है।

११ उच्च रक्त चाप—इसमे थोडा-थोडा शीरा (राब) पन्द्रह दिन द फिर १५ दिन न दे। इस प्रकार तीन माह मे रोग दूर हो जायेगा।

१२ रक्त विकार की दवा—जिनका खून बिगड गया हो चीनी बन्द कर पुराना गुड ही दूध, लस्सी आदि मे घोलकर दीजिए। विकार सर्वदा दूर हो जायेगा।

१३ अफारे (हवा गोले) का इलाज—खाना खाने के बाद १० ग्राम पुराना गुड खाने से अफारा और हवा गोला आदि उदर विकार दूर होते है।

१४ खासी, उर-क्षत, क्षय का इलाज—प्रतिदिन १ ग्राम सोठ का चूर्ण १ ग्राम काली मिर्च का चूर्ण तथा ५ ग्राम गुड खाने से रोग दूर हो जाता है।

१५ खासी की सस्ती और अचूक गोली—कडाई मे ५०० ग्राम गुड डाल कर मद आच पर रखिये। गुड पिघल जाने पर २५ ग्राम काली मिर्च का बारीक चूर्ण डाल दीजिए। चम्मच से तेजी से चलाते जाइए। जब खूब गाढा हो जाये, तो पानी के चौड बर्तन मे कढाई को रखकर ठडा कीजिए। जमने से पहले ही चने के बराबर गोली बना छाया मे सुखा कर बोतल मे भर लीजिये। इस गोली को मुंह में रखकर देर-देर तक चूसने से खासी जड से चली जायेगी।

१६ छाती का मास फटने का इलाज—५ ग्राम गुड दिन मे तीन बार खाने से छाती के अन्दर फटा हुआ मास भी ठीक हो जाता है। थकावट भी दूर होती है।

१७—हृदय की दुर्बलता, शरीर की शिथिलता का इलाज—१५-२० ग्राम गुड खाना खाने के बाद आराम मिलता है।

१८ सर्दी का प्रकोप दूर करने का इलाज—काले तिल साफ कर, पानी मे धोकर गुड मे लड्डू बना ले। शीतकाल मे, पहाड पर, भारी वर्षा मे या अधिक ठड पडने पर इन लड्डुओं को रोज खाइए। जुकाम, खासी, दमा, ब्रोकाइटिस आदि रोग दूर हो जाते हैं। रोग न होने पर भी खाने से ये रोग नहीं होते हैं।

१९ स्त्री के स्तनो मे दूध का कमी—गन्ने की जड पीसकर काली गाजरो की काजी के साथ पिलाने से स्तनो मे दूध बढ जाता है।

२० पित्त के कारण उल्टियो का इलाज—यदि पित्त बढने से उल्टिया आती हो तो गन्ने का रस शहद मे मिलाकर पिलाये। उल्टिया बन्द हो जायेगी।

२१ पीलिया का इलाज—जौ के सत्तू खाकर ऊपर से २०० से ५०० ग्राम तक गन्ने का रस पीजिए। ५ दिन मे पीलिया रोग दूर हो जायेगा।

२२ गांठदार फोडे का इलाज—बूरा खाड घी मे मिलाकर फोडे पर बांधने से फोडा फूट जायेगा गांठे घुल जायेंगी और सूजन दूर हो जायेगी।

२३ बुढापा दूर करने का इलाज—असमय बुढापा आने पर दांत कमजोर होने पर, मुख पर झुर्रिया पडने पर, बाल सफेद होने पर गर्म दूध में एक चम्मच देसी घी डालकर, मिश्री घोलकर नाश्ते मे रोज ६ माह ले बुढापा दूर हो जायेगा।

२४ खूनी दस्त का इलाज—५ ग्राम पुराने गुड के साथ ५ ग्राम बेलगिरी का चूर्ण ले।

२५ हिचकी का इलाज—पुराना गुड को जल में घोल लीजिए। इस पानी मे सोठ को सिल पर पीस कर, डाल उस पानी की कुछ बूंदे नथनो मे ऊपर से डाले और चूर्ण सूंघने से हिचकी बन्द हो जायेगी।

२६ सिर दर्द की अचूक दवा—पुराना गुड १० ग्राम, काले तिल ६ ग्राम को ताजा दूध के साथ पीसकर मरहम जैसी बना उसे पूरे मस्तक, कनपटियो पर लेप करे कैसा भी सिर दर्द हो मिट जायेगा।

२७ मोटापा दूर करने का इलाज—गन्ने का पुराना सिरका १० से २० ग्राम तक एक गिलास पानी में डालकर रोज पीजिए। लगातार ६ माह पीने से शरीर चुस्त, छरहरा और तेज तर्रार हो जायेगा।

२८ ज्वर की तीव्रता का इलाज—गन्ने के पुराने सिरके मे भीगी पट्टी मस्तक पर रखने से ज्वर का ऊचा तापमान नीचा हो जाता है। पट्टी सूखने पर बदलते रहना चाहिए।

२९ आग से जने का इलाज—सिरके को पानी मे मिलाकर उसकी पट्टी रखने से जला स्थान शान्त हो जाता है और रोगी रोने की जगह हसने लग जाता है।

३० बिगडे जुकाम का इलाज—पुराना गुड १० ग्राम, ताजा दही ५० ग्राम, काली मिर्च का चूर्ण ३ ग्राम मिलाकर प्रातकाल उठते ही खा ले। तीन दिन मे आराम हो जायेगा। आवश्यक समझे तो आधा ग्राम नमक भी डाल सकते हैं।

३१ काच, पत्थर, कांटा चुभने का इलाज—पुराना गुड आग पर पिघला कर गर्म गर्म उस स्थान पर चिपका दे काच कांटा आदि बाहर आ जायेगा।

नोट—गुड का प्रयोग करना शूगर वालो के लिये वर्जित है।

क्रमश

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय मे जस्टिस महावीर सिंह का स्वागत

हरिद्वार, १५ अप्रैल। विश्वविद्यालय के शिक्षक तथा शिक्षकेतर कर्मचारियो ने नए परिद्रष्टा जस्टिस महावीरसिंह के गुरुकुल मे पधारने पर पुरजोर स्वागत किया। कुलसचिव डा० जयदेव वेदालकार ने कार्यक्रम का सचालन किया। कुलाधिपति प्रो० शेरसिंह ने वेद मन्दिर मे आयोजित समारोह मे परिद्रष्टा महोदय का का परिचय दिया और परिद्रष्टा के रूप मे उनके प्रथम आगमन पर स्वागत किया। शिष्ट परिषद के वरिष्ठ सदस्य डा० धर्मपाल और आर्यविद्या सभा के मन्त्री प्रो० प्रकाशवीर विद्यालकार ने भी माल्यार्पण करके स्वागत किया। स्वागत करने वाले अन्य प्रमुख व्यक्तियो मे डा० विष्णुदत्त राकेश डा० बी०डी० जोशी, डा० एस०एल० सिंह, डा० श्रवणकुमार, श्री महेन्द्रकुमार 'लल्लन डा० राजकुमार रावत, डा० एस० एन० सिंह प्रो० वेद प्रकाश तथा श्री हेमन्तकुमार के नाम उल्लेखनीय हैं। इससे पूर्व परिद्रष्टा महोदय ने पुस्तकालय व पुरातत्व सग्रहालय का निरीक्षण किया। स्वागत समारोह मे अपने विचार प्रकट करते हुए जस्टिस महोदय ने कहा कि इस विश्वविद्यालय के निर्माण व उन्नति के लिए सभी का आपसी सहयोग बड़ा जरूरी है। बाद मे जस्टिस महोदय ने गुरुकुल परिसर व गुरुकुल कागडी फार्मेसी का निरीक्षण किया। फार्मेसी के सभी विभागाध्यक्षो ने मालाओ से स्वागत किया और अपने अपने विभाग की रिपोर्ट प्रस्तुत की। प्रो० प्रकाशवीर ने बताया कि फार्मेसी का हर तीसरे मास आय-व्यय विवरण सदस्यो को मीटिंग मे विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है। उन्होने बताया कि फार्मेसी आय विद्या सभा गुरुकुल कागडी' के निर्देशन मे दिन प्रतिदिन उन्नति कर रही है।

आवश्यकता

गुरुकुल कागडी आवासीय विद्यालय हरिद्वार को एक आश्रमाध्यक्ष पांच अधिष्ठाताओ की आवश्यकता है। आयु ३५ वर्ष तक।

आर्य सिद्धान्तों के व्यक्तियो को प्राथमिकता। वेतन योग्यतानुसार। आवास-भोजन निःशुल्क। प्रार्थना पत्र दस रु० के बैंक ड्राफ्ट के साथ १५ जून ९३ तक अधोहस्ताक्षी को भेजें। साक्षात्कार के लिए दिनाक २१ जून ९३ को प्रमाण-पत्र सहित उपस्थित होवें। माग व्यय देय नही होगा।

महेन्द्र कुमार, मुख्याधिष्ठाता

महत्वपूर्ण सूचना

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वैदिक सिद्धातो के ममज्ञ, विद्वान हैं। गम्भीर चिन्तक, यशस्वी लेखक एव कुशल वक्त हैं। वे आयसमाज के गत पचास वर्षों के इतिहास के प्रमाणिक हस्ताक्षर हैं।

स्वामी जी ने कई विषयो पर मानक ग्रन्थो की रचना की है। उन्होने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका तथा सत्याथ प्रकाश का गवेषणात्मक मौलिक भाष्य किया है जिसमे प्रत्येक वाक्य, और सिद्धात की तर्क-प्रमाण व युक्त से व्याख्या की गई है जो कि ऋषि एव वैदिक सिद्धातो को समझने की कुजी हैं।

जिन्हे ऋषि प्यारा है, उन्हे सत्याथ प्रकाश प्राणो से प्यारा होगा, और जिन्हें सत्याथ प्रकाश प्यारा है, उन्हे स्वामी विद्यानन्द सरस्वती द्वारा रचित "सत्यार्थ भास्कर प्यारा होना चाहिए। इसी भाव भावना से यह महत्वपूण ग्रन्थ सत्यार्थ भास्कर प्रत्येक सभा, सगठन, सस्था, शिक्षणालय, समाज मन्दिर और ऋषि भक्तो के पास अवश्य होना चाहिए। इसकी उपयोगिता प्रमाणिता तथा सायकता असदिग्ध है। स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती का यह काय आयजगत के लिए गौरव और सुखद सूचना है।

'सत्याथ भास्कर दो भागो मे छपा है। प्रत्येक भाग लगभग १०००, पृष्ठो मे है। दोनो भागो की कीमत ७०० रुपये है। १५ जून १९९३ तक अग्रिम राशि भजने पर ५०० रुपये मे उपलब्ध होगा।

प्राप्ति स्थान— निवेदक महेश विद्यालकार दिल्ली

१ स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, डी० १४/१६ माडल टाऊन दिल्ली

२ रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ सोनीपत। फोन—७१२९९१२८

प्रवेश-सूचना

प्रथम कक्षा से अष्टम कक्षा तक —

विशेषताए —गगातट सुरम्य वातावरण, विशाल परिसर केन्द्रीय विद्यालय पर आधारित पाठ्यक्रम, छात्रो का सर्वागीण विकास।

१५ रु० मनिआर्डर द्वारा भेजकर प्रवेश नियमावली एव फार्म प्राप्त करें। प्रवेश १ जुलाई ९३ से प्रारम्भ।

महेन्द्र कुमार

मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कागडी हरिद्वार (उ प्र) २४९४०४

वीरांगना पन्ना धाय

मेवाड के इतिहास की एक स्वर्ण गाथा जान लो।
धाय पन्ना कौन थी इस बात को पहचान लो॥
इतिहास के पन्नो मे पन्ना की निराली शान है।
कोई बता दे विश्व में ऐसा कोई बलिदान है॥
अपने जाये लाल का बलिदान पन्ना कर चली।
सग्राम सिंह के बाल का तत्काल रक्षण कर चली॥
मेवाड के इतिहास की जो मान मर्यादा रही।
पन्ना भी सुत बलिदान से आलोक, उसमे भर रही॥
पन्ना तेरे यश मान की कैसे उतारे आरती।
तेरा निरन्तर गान तो है कर रही मा भारती॥
तू यदि उदयसिंह की रक्षा का व्रत नहीं ठानती।
राणा प्रताप वीर को दुनिया यह कैसे मानती॥
भारत की वीर नारियो पन्ना को तुम पहचान लो।
कोई कहीं निर्दोष की हत्या न हो प्रण ठान लो॥
हे प्रभो! इस देश को पन्ना सी देवी दीजिए।
राष्ट्र भक्ति हो यहा यह भावना भर दीजिए॥

—ब्रह्मप्रकाश शास्त्री

आर्यसमाज विवेक विहार का वार्षिकोत्सव

आय समाज विवेक विहार का वार्षिकोत्सव बडी धूम धाम से १३ मई से १६ मई १९९३ तक मनाया गया।

१३ मई से १५ मई प्रति रात्रि ८ ० ३० बजे तक मनोहर भजनोपदेश तथा हृदय ग्राही प्रवचन हुए १६ मई (रविवार) का समापन समारोह प्रात ७ ३० बजे से १ ३० बजे तक सम्प न हुआ। इसमे भजनोपदेशक श्री गलाबसिंह राघव तथा मुख्य वक्ता प्रोफसर उत्तम च द्र शरर डा० शिवकुमार शास्त्री महाम त्री आय केन्द्रीय सभा दिल्ली श्री प्र मच द श्रीधर ।० वीरपा विद्यालकार श्री राजू वैज्ञानिक ने धर्मप्र मियो को म त्र मुग्ध क दिया। जनता का उत्साह देखते ही बनता था। स्वामी स्वरूपान द सरस्वती अधिष्ठात वद प्रचार दिल्ली ने आर्शीवाद दिया तथा डा० धमपाल जी महाम त्रा आय प्रतिनिधि सभा दिल्ली का शुभ कामना स देश पढ़कर सुनाया गया। अ त मे म त्री उषा किरण कथूरिया तथा प्रधान डा० कृष्ण गोपाल सैनी ने जनता तथा कायकर्त्ताओ को सहयोग के लिए धन्यवाद दिया। श्री रूपचन्द्र कथूरिया ने कुशलता पूवक सयोजक तथा म च सचालक का काय किया। ऋषि लगर के साथ हर्षोल्लास पूर्ण वातावरण मे वार्षिकोत्सव सम्प न हुआ।

रूप कथूरिया सयोजक

आयसमाज राजौरी गाडन का चुनाव

आय समाज राजौरी गाडन नई दिल्ली का निर्वाचन १३ ५ ९३ को हुआ जिसमे श्री जगदीश आय प्रधान निर्वाचित हुए तथा उनको आपने अ य अधिकारी व अ तर ग सभा के सदस्य व आयसमाज की अ य सस्थाओ के अधिकारी व सदस्य मनोनीत करने का अधिकार दिया गया। स्त्री आय समाज की प्रधाना श्रीमती राज पा ड प्रधाना चुनी गई तथा उनको अ य अधिकारी व अतर ग सभा के सदस्य मनोनीत करने का अधिकार दिया गया।

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 10 11 6-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३
पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू (सी०) १३९/९३
साप्ताहिक "आर्यसन्देश" १३ जून, १९९३

नारी के बढते चरण—

जयपुर मे कन्याओ का उपनयन संस्कार सम्पन्न

समस्त राजस्थान मे जब आखा तीज पर अबोध बालक बालिकाओ को गोद में बैठा कर लाखो माता पिता विवाह पढ़वा रहे थे, वहा की राजधानी मे प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुपालन मे एक वैदिक श्रेष्ठ परिवार की कन्याओ का यज्ञोपवीत सस्कार राजस्थान के पूव मन्त्री एव लोक शिक्षक (पाक्षिक) जयपुर के सम्पादक पण्डित युगलकिशोर चतुर्वेदी (९० वष) की दो पौत्रियो आयुष्मती स्मृति श्रुति तथा एक पौत्र चि० सौरभ का उपनयन सस्कार पूण वैदिक विधि से दिल्ली के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य रविद त गौतम शास्त्री द्वारा पण्डित ब्रह्मदत्त स्नातक, प० इन्द्रदेव शर्मा तथा स्वामी सोमानन्द सरस्वती के सहयोग से सम्पन्न हुआ। इस प्रकार उनके वेदाध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

इस अवसर पर प्रियवदाजी के मन्दिर का विशाल सभा मण्डप महिलाओ तथा पुरुषो से खचाखच भरा हुआ था। आरम्भ मे ईश्वरोपासना स्वस्ति तथा शाति वाचन के मन्त्रोच्चारण के बाद उपवीत धारण करने वाले तीनों बच्चो को आचाय ने यज्ञोपवीत धारण करवाए और अपने सारगर्भित भाषण में यज्ञोपवीत का महत्व समझाया।

इसके अनन्तर स्वामी सोमानन्द सरस्वती तथा वैद्य मदनलाल शर्मा आयुर्वेदाचार्य ने वैदिक सस्कारो विशेषत यज्ञोपवीत संस्कार की प्रासगिकता पर विस्तार से प्रकाश डाला। यह एक वस्तुत क्रान्तिकारी कदम था। काशी मे दो पण्डितो द्वारा विवाह संस्कार सम्पन्न कराने के फोटो एक राष्ट्रीय अग्रेजी दैनिक मे प्रकाशित होने का हवाला देते हुए प० स्नातक ने बताया कि डरबन (दक्षिण अफ्रिका) मे पौरोहित्यकार्य मे दजनो महिलाओ का योगदान एक अनुकरणीय परम्परा है। अन्त मे आयोजक के रूप मे आगन्तुक महानुभावो को धन्यवाद देते हुए चतुर्वेदी जी ने कहा कि वैदिक धम मे अन्य अनेक गुण व विशेषताए हैं तथा उसमे चारो वर्ण, चारो आश्रम तथा १६ सस्कारो का विशेष महत्व है। उन्होंने खेद व्यक्त किया कि आजकल अन्य सस्कारो की भाति यज्ञोपवीत सास्कार की भी द्विजाति मात्र द्वारा उपेक्षा की जा रही है जिससे हमारी सास्कृति का लोप होने का भय है।

उपनयन संस्कार के अवसर पर बाहर से अनेक विद्वानो, प्रशासको तथा हितैषियो से आर्शीवाद और सन्देश प्राप्त हुए।

सी-४ बी-३३२ बी
जनकपुरी दिल्ली-५८
फोन—५५५४७५२

ब्रह्मदत्त स्नातक
भारतीय सूचना सेवा (रिटा)

सेवा में—

2367 श्री पुस्तकाध्यक्ष
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

सूयदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस पटौदी हाउस, दरियागज नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अक ३६ | रविवार, २० जून १९९३ | विक्रमी सम्वत् २०५० | दयानन्दाब्द १६९ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष ३१०१५०

नन्दनगरी मे वेद प्रचार कार्य

ऋषि दयानन्द ने नारी के सम्मान व उत्थान के लिए अद्भुत कार्य किये

—सूर्यदेव

नई दिल्ली १३ जून। 'हिन्दू धम का सजग प्रहरी आय समाज, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगीराज कृष्ण, गायत्री मा व पावन गगा को भारतीय सस्कृति के प्रतीक मानता है।" ये उद्गार दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने आज नन्दनगरी मे आयोजित एक कायक्रम मे व्यक्त किये। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती द्वारा ७ जून ९३ से बी-५ नन्दनगरी (गुरुतेग बहादुर हस्पताल के सामने) शुरू किये गये इस वेद प्रचार काय का आज विशेष यज्ञ की पूर्णाहुति के साथ समापन हो गया। यह कार्यक्रम, मन्दिर के परिसर मे महत एव स्थानीय निवासियो के सहयोग से भली प्रकार पूर्ण हुआ।

उन्होने आगे कहा कि आजादी से लगभग एक दशक पूव चादनी चौक दिल्ली में शिव मन्दिर की रक्षा एव इसके समथन के लिए आय समाज ने जबरदस्त सत्याग्रह चलाया था।

श्री सूयदेव ने कहा कि जन्म देने वाली माता एक जननी होती है, दूसरी जननी हमारा भारत है। बलि लेने वाली किसी माता को आर्य समाज नही मानता है क्योकि कल्याणकारी माता तो जन्म देती है पालन-पोषण करती है एव रक्षा करती है। श्री सूर्यदेव ने यह भी कहा कि नारी उद्धारक ऋषि दयानन्द ने हमे बताया था कि जहा नारियो का सम्मान होता है वहा देवता बसते है जबकि इससे पूव नारी को पैर की जूती माना जाता था। स्वामी दयान द व आर्य समाज ने स्त्रियो को वेद पढने व यज्ञ का अधिकार दिलाया एव साथही स्त्री शिक्षा व महिला उत्थान के लिए अद्भुत काय किये। उन्होने यह भी बताया कि युगपुरुष दयानन्द ने कुरीतियो के विरूद्ध सघर्ष करते, असत्य के खण्डन एव सत्य के मडन म अपना जीवन तक बलिदान कर दिया।

उन्होने यह भी कहा कि शराब की बुराई राष्ट्रीय अवनति के मूल कारणो मे से है। निधनता के कारण बच्चे भोजन व शिक्षा से वचित रह जाते है परन्तु शराबी व्यक्ति शराब पीकर न केवल अपनी सेहत खराब करता है बल्कि परिवार का भी नाश करता है।

श्री सूयदेव ने कहा कि यज्ञ, भजन, उपदेश व वेद प्रचार का काय इस क्षेत्र मे इसी प्रकार निवासियो के सहयोग से किया जाता रहेगा।

एक सप्ताह तक चले हवन-यज्ञ काय मे स्थानीय लोगो ने श्रद्धापूवक भाग लिया। प्रतिदिन रात्रि को स्वामी स्वरूपानन्द के प्रवचन एव प० चुन्नीलाल एव चन्द्रपाल के मनोहर भजन भी होते रहे। सगीताचार्य श्री गुलाब सिंह राघव का भजनोपदेश कार्यक्रम हुआ। समापन के दिन आय वीर दल के अधिष्ठाता श्री प्रियतम पास रसवत ने भी प्रेरक विचार रखे।

क्षेत्रीय प्रचार कार्य उत्साही कार्यकर्त्ता श्री अशोक कुमार आर्य, श्री बुद्धदेव अत्री, प टीका राम अत्री, श्री नथामल वानप्रस्थी एव लाला गोपाल दास के द्वारा किया जाता रहेगा। कार्यक्रम प्रसाद वितरण एव ऋषि लगर के साथ हर्षोल्लास के वातावरण मे सम्पन्न हुआ। उल्लेखनीय है कि ७ दिन के वेद प्रचार कार्य मे स्थानीय प्रतिष्ठित नागरिको एव माताओ व बहिनो ने भारी सख्या मे सम्मिलित हो कर धर्म लाभ उठाया।

बाल प्रशिक्षण शिविर

बच्चों में राष्ट्रीयता की भावना जागृत की जाये

नई दिल्ली ६ जून। बच्चो के सर्वागीण विकास के लिए आर्य समाज टैगोर गाडन द्वारा सचालित १५ दिन मे चल रहे बाल-शिविर का आज समारोह पूर्वक समापन हुआ।

इस अवसर पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कायक्रम के विशिष्ट अतिथि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव ने कहा कि बच्चे समाज की रीढ एव राष्ट्र के भावी कणधार हैं परन्तु चिन्ता की बात है कि आज बच्चो के उत्थान व विकास के लिए किसी के पास भी समय नही है सरकार तो इस ओर जरा भी ध्यान नही देती है। आज बच्चो को राष्ट्रीयता की भावना, जागृति पैदा करने एव उत्तम सस्कार डालने की महती आवश्यकता है और यह प्रसन्नता की बात है कि आय समाज इस ओर कुछ ध्यान दे रहा है।

उल्लेखनीय है कि इस बाल शिविर मे लगभग ३० बच्चो को सन्ध्या हवन धार्मिक शिक्षा के साथ-२ शारीरिक उन्नति के लिए योगासनादि का भी प्रशिक्षण दिया गया था। विजेता बच्चो को पुरस्कार, साहित्य आदि भेंट कर सम्मानित किया गया। श्री सूयदेव ने इस श्रेष्ठ कार्य के लिए समाज के अधिकारियो, आयोजको आदि को साधुवाद दिया। श्रीमती कृष्णा चड्ढा, डा० गोगना आदि ने इसमे विशेष सहयोग दिया।

प्रधान सम्पादक—सूयदेव | सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

स्वाध्यायान्मा प्रमदः !

—पं० श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक

समावर्तन के समय स्नातक को आचार्य जो उपदेश देता है, उसमे एक वचन है—'स्वाध्यायान्मा प्रमद' अर्थात स्वाध्याय से प्रमाद मत कर ! स्वाध्याय शब्द सु+आ+अध्याय तथा स्व (स्य)+अध्याय, इस तरह दो प्रकार से निष्पन्न होता है । इन दोनो का अर्थ निम्न प्रकार है —

(१) अच्छा अध्ययन अर्थात वेदादि सच्छास्त्रो का अध्ययन ।

(२) अपना अध्ययन अर्थात् आत्मा तथा शरीर आदि के तत्वज्ञान के प्रयत्न ।

ये 'स्वाध्याय' शब्द के यौगिक अर्थ हैं । किन्तु जहा-जहा स्वाध्याय के लिये शास्त्रकारो ने स्वाध्यायोऽध्येतव्य आदेश दिया है, वहा-वहा केवल यौगिक अर्थ अभिप्रेत नही है । 'पकज' आदि शब्दो की तरह वहा विशेषार्थ मे नियत है । 'शतपथ' के अथात स्वाध्याय प्रशसा' नामक ब्राह्मण तथा मीमासको के मीमासानुसार 'स्वाध्याय' पद केवल वेदाध्ययन के लिये ही प्रयुक्त होता है । अत 'स्वाध्यायान्मा प्रमद ' वाक्य का यह विशिष्ट अर्थ हुआ कि वेदाध्ययन मे प्रमाद मत कर' । इसी प्रकार 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम् का अर्थ होगा वेद के अध्ययन और अध्यापन मे प्रमाद मत कर ।'

यहा यह ध्यान मे रखना चाहिए कि ये दोनो आदेश गृहस्थ धर्म मे प्रवेश करने वाले स्नातक के लिये हैं । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक गृहस्थी को वेद के अध्ययन और अध्यापन का आदेश दिया जा रहा है । भगवान मनु गृहस्थ धर्म प्रकरण मे लिखते हैं—

नित्य शास्त्राण्यवक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ।

अर्थात् नित्यप्रति वेद और सत्य शास्त्रो का अवलोकन करना चाहिये ।

तैत्तिरीयोपनिषद् मे एक स्थान मे लिखा है—

तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च, दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।

अर्थात तप, दम, शम, अग्निहोत्र आदि तथा धर्मपूर्वक सन्तानादि की उत्पत्ति करते हुए भी स्वाध्याय और प्रवचन करते रहना चाहिये । स्वाध्याय अर्थात् स्वय अध्ययन और प्रवचन अर्थात् दूसरो को पढाना । इन वाक्यो का तात्पर्य यही है कि वेद का पढ़ना पढ़ाना प्रत्येक अवस्था मे अवश्य करना चाहिए । इसीलिये स्वाध्याय और प्रवचन वाक्य मे पढे गये हैं । इनमे यह भी प्रतीत होता है कि वेद का पढ़ना व पढ़ाना प्रतिदिन का आवश्यक कर्म है ।

स्वाध्याय योग का एक अग है । महर्षि पतजलि ने स्वाध्याय को नियमो के अन्तगत स्वीकार किया है, और स्वाध्याय का फल (योग २।४४) बतलाया है—'स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोग ' अर्थात स्वाध्याय से इष्टदेव परमात्मा की प्राप्ति होती है । महर्षि वेदव्यास ने योगसूत्र (१ २८) की व्याख्या मे लिखा है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमासेत ।
स्वाध्याय-योग-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।

स्वाध्याय (योग से चित्त-वृत्तियो के निरोध की प्राप्ति कर (योग) से चित्त-शक्तियो का निरोध करके (स्वाध्याय) वेद का अध्ययन करें । स्वाध्याय और योग की सम्मिलित शक्ति मे आत्मा में भगवान स्वय प्रकाशित हो जाते हैं । यह है स्वाध्याय का महान फल ।

महर्षि याज्ञवल्क्य 'शतपथ' (११-५-१ ४) के 'स्वाध्याय प्रकरण' मे लिखते है—

यदि ह वाऽभ्यक्तोऽलकृत सुखे शयने शयान स्वाध्यायमधीते आ हैव नखाग्रेभ्यस्तपस्तप्यते य एव विद्वान स्वाध्यायमधीते ।

अर्थात् जो पुरुष अच्छी तरह अलकृत होकर अच्छे पलग पर लेटा हुआ स्वाध्याय करता है, तो मानो वह चोटी से लेकर एडी पयन्त तपस्या कर रहा है । इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ।

कई सज्जन कहते हैं कि वेद के स्वाध्याय म मन नही लगता है । यह रूखा विषय है, सरस नही है । यह कहना बहुत अश मे ठीक है, किन्तु इसमे भी दोष हमारा ही है । सरसता प्रत्येक पुरुष की अपनी रुचि पर निभर होती है । बहुत लोग गणित को शुष्क विषय कहते हैं । किन्तु जो उसके वक्ता हैं, उन्हें वह विषय इतना प्रिय होता है कि उसमे वे अपनी सुध-बुध भी भूल जाते हैं । इससे प्रतीत होता है कि जिस पुरुष की जिस विषय में रुचि है, वह उसके लिए सरस है, अन्य के लिए वह रूक्ष । इस रूक्षता को हटाने का एकमात्र साधन है—निरन्तर अध्ययन । जो पुरुष दो चार दिन पढकर आनन्द उठाना चाहते हैं, उन्हें कभी भी लाभ नही हो सकता । उनके लिए निरन्तर स्वाध्याय की आवश्यकता है । अतएव प्राचीन महर्षियो ने स्वाध्याय को दैनिक कार्य मानकर नैत्यिक पचमहायज्ञ के अन्तगत स्थान दिया है और इसीलिए इसे ससार का सबसे महान तप' कहा है । मनु जी कहते है—

यथा यथा हि पुरुष शास्त्र समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञान चास्य रोचते ।।

पुरुष जैसे जैसे अपना शास्त्राध्ययन बढ़ाता है वैसे वैसे उसका ज्ञान बढता जाता है और उसमे रुचि पैदा होती जाती है तत्काल नही ।

महर्षि दयानन्द न प्रत्येक आय के लिए दस आदेश दिये है जिनका अभिप्राय सदा तदनुसार कम करना होता है । एक सामान्य नियम है —

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ।

"पुरुष जिस बात को अपने मन से मानता है उसे वाणी द्वारा प्रकट करता है, और उसे जैसे वाणी द्वारा प्रकट करता है, वह वैसा ही बन जाता है ।'

अब हमारे सामने प्रश्न आता है कि जिन नियमो को हम आर्यसमाज का सदस्य बनते समय स्वीकार करते हैं, क्या हमारी स्वीकृति हृदय से होती है या दिखावटी ? इसकी कसौटी हमारे नियम ही हो सकते हैं । यदि हमारे कम उन नियमो के अनुसार हैं, तो मानना होगा कि हम उन नियमो को हृदय से मानते हैं । अन्यथा यही कहा जाएगा कि सदस्य बनने के लिए दिखावटी स्वीकारी है । महर्षि दयानन्द ने आय समाज के दस नियम मे तीसरा नियम लिखा है —

"वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है । वेद का पढना-पढाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धम है ।

ऋषि ने वेदो का पढना अर्थात स्वाध्याय पढ़ाना अर्थात् प्रवचन, ये दोनो बातें सगृहीत करते हुए 'सुनना और सुनाना' पद विशेष रूप से रखे हैं । यदि ये पद न रखे होते तो कोई पुरुष यह कह सकता था कि हमे पढना नही आता, किन्तु यहा तो समस्या पहले ने हा हल कर दी गई है । जो पढ नही सकता वह सुन, जो समर्थ हो, उसका भी कर्तव्य है कि वह सुनाये । इस नियम मे 'धम' शब्द कतव्य का वाचक है ।

अब प्रश्न उठता है कि क्या आय समाज के सदस्य इस नियम को हृदय से मान रहे हैं ? स्पष्टतया कहा जा सकता है कि नही ! आयसमाज के सदस्यो मे स्वाध्याय की रुचि ही नही है ।

आज अनेक व्यक्तियो को कहते सुना जाता है कि आजकल समाज मे पूर्व जैसा उत्साह नही रहा । बात मोलह आने सत्य है । पर किसी ने इस बीमारी का निदान भी किया है ? इस बीमारी का कारण है वेद के स्वाध्याय का अभाव । वेद आर्यो का धार्मिक अर्थात कर्तव्य बोधक ग्रन्थ है । वह आय जाति की सस्कृति का आदिस्रोत है केन्द्र है । जब हम इस स्रोत वा केन्द्र से विमुख हो जाते हैं, तभी हममे शिथिलता उत्पन्न होती है । मुसल्मानो मे अपने मत के प्रति कितना उत्साह है । उसका प्रमुख कारण कुरान का प्रतिदिन स्वाध्याय है । हिन्दुओ मे इतनी हीनता और कुरीतिया क्यो उत्पन्न हुई । इसका उत्तर भी यह' है कि उन्होने अपने मूलभूत वेदो को छोडकर साम्प्रदायिक ग्रन्थो और पुराणो को ही अपनाना प्रारम्भ कर दिया । आर्य समाज के प्रारम्भिक आर्यो मे जो महान उत्साह था उसका कारण धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन ही था । स्व० प० श्री क्षेमकरण दास जी को कौन नही जानता ? आपने राजकीय नौकरी से ५५ वष की अवस्था के पश्चात मुक्त होकर सस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया और बडोदा राज्य की तीन वेदो की राजकीय परीक्षाए उत्तीर्ण की । तत्पश्चात उस अथर्ववेद का भाष्य रचा, जिस पर सायण का भी पूर्ण भाष्य उपलब्ध नही होता । अब भी कोई कह सकता

(शेष पृष्ठ ६ पर)

वैदिक विद्वानों से प्रार्थना

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, डी १४/१६ माडल टाउन, दिल्ली

ऋषि दयानन्दकृत संस्कार विधि पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। इनमे प० भीमसेन शर्मा व मास्टर आत्माराम जी तथा प० सत्यव्रत जी कृत संस्कारचन्द्रिकादय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमे संस्कारों के महत्व तथा उनकी उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। परन्तु मेरे विचार में उसके विधि भाग पर जैसा विस्तृत विवेचन अपेक्षित था, वैसा नहीं हो पाया। ऐसे अनेक स्थल हैं जिनका समाधान अपेक्षित है। इसी उद्देश्य स मैं विद्वानो के सहयोग से 'संस्कारभास्कर" की रचना मे प्रवृत्त हो रहा हूं। यहा ऐसे कतिपय समाधेय स्थलो का निर्देश किया जा रहा है। आदरणीय विद्वज्जनो स अनुरोध है कि अपने विचारो से शीघ्र अवगत करके अनुगृहीत करे। जहा तक हो सके, समाधान युक्तिप्रमाण पुर सर होना चाहिए। इन समाधानो का उद्देश्य प्रतिवादी का मुह बन्द करना न होकर बौद्धिक एव शास्त्रीय आधार पर यथासभव ऋषि के मन्तव्यो की दृष्टि करते हुए आत्मसन्तोष लाभ करना है।

गर्भाधान-संस्कार

१ युग्म और अयुग्म रात्रियो मे गर्भाधान होने से पुत्र-पुत्री के शरीर का निर्माण क्यो और कैसे होता है ?

२ वीर्य के अधिक (प्रबल) होने स पुत्र और आतव के अधिक होने से पुत्री के ही शरीर का निर्माण क्यो और कैसे होता है ?

३ यदि लिंग का निर्धारण वीर्य का आर्तव के न्यूनाधिक्य के आधार पर है तो युग्म अयुग्म रात्रियों के साथ उसका समजस्य कैसे होगा। उदाहरणार्थ—युग्म रात्रि मे आर्तव के अधिक होने अथवा अयुग्म रात्रि मे वीर्य के अधिक होने पर सन्तान का क्या लिंग होगा ?

४ दस रात्रियो को ऋतुदान के लिए श्रेष्ठ बताया है। परन्तु हिसाब से प्रथम ४ रात्रियों+११वी व १३वी रात्रिया+अष्टमी और चतुर्दशी+पौणमासी व अमावस्या कुल मिलाकर ९ या १० रात्रिया निषिद्ध होने से शेष केवल ६ या ७ रात्रिया ही बचती हैं।

५ प्रथम ४ रात्रियो का निषिद्ध होना स्पष्ट है। शेष मे से प्रत्येक के निषिद्ध का क्या कारण है ?

६ पुत्र की इच्छा रखने वालो के लिए ६ और पुत्री की इच्छा रखने वालो के लिए ४ रात्रिया क्यो विहित है ?

७ आधुनिक पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान के अनुसार स्त्री के रज में होने वाले ऐक्स कीटाणुओ के साथ पुरुष के शुक्र मे होने वाले एक्स और वाई कीटाणुओं का सयोग होने से क्रमश पुत्र या कन्या का जन्म होना है। इस विषय मे आपका क्या कहना है।

८ गर्भाधान संस्कार के प्रारम्भ म निर्देश है—'पत्नी पति के वाम भाग मे बैठे। पर अन्त मे जाकर लिखा है—वधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए पश्चात्'। वधू पत्नीत्व को और वर पति व को तो सप्तपदी की क्रिया सम्पन्न होने ही प्राप्त कर लेते हैं। फिर यहा ऐसा क्यो कहा गया ? यहा दोनो को वेदी के पश्चिम भाग मे पूर्वाभिमुख बैठने का निर्देश किया है, तब प्रारम्भ मे पति को यथाभीष्ट मुख' क्यो ?

९ गर्भाधान, नामकरण निष्क्रमण संस्कारो मे पत्नी वाम भाग मे क्यो बैठे, जबकि पुसवन और विवाह सहित सबमे दक्षिण मे बैठने का विधान है। प्राय स्त्री को वामागी क्यो कहते है ?

१० बीस आहुतिया देते समय पत्नी द्वारा बार बार दक्षिण हाथ मे पति के दक्षिण स्कन्ध का स्पर्श क्यो।

११ कन्या प्राप्ति की इच्छा वालो के लिए विशेष प्रकार के भोजन का प्रावधान क्यो ? पुत्र प्राप्ति की इच्छा वालो के लिए क्यो नही ?

१२ दो चार गर्भाधान निष्फल होने पर तीसरी बार पुष्य नक्षत्र युक्त ऋतुकाल मे क्यो ?

१३ जीव को पुत्र या पुत्री का शरीर देने मे (प्रसुनेता) परमेश्वर का भी हाथ है या यह पूरी तरह मनुष्य के हाथो मे है। यदि दोनो के हाथ में है तो उसकी सीमा कहा है ? परमात्मा द्वारा लिंग निर्धारण का आधार क्या है ? यदि कर्म इसमे कारण है तो किन कर्मो के फलस्वरूप लड़के या लड़की का जन्म मिलता है।

पुंसवन संस्कार

१ 'यावत् जन्म हुए पश्चात्—सन्तान उत्तम होवे' अस्थान मे प्रतीत होता है। ये वाक्य जातकर्म संस्कार मे यथास्थान होने चाहिए।

२ वटवृक्ष आदि की जटा का प्रयोजन ?

सीमन्तोन्नयन

१ 'मूल आदि पुरुष नक्षत्रो से युक्त चन्द्रमा हो उस दिन' क्यो ?

२ पति के द्वारा पत्नी का शृंगार क्यो ? पति इस कला से अनभिज्ञ होता है। उसके द्वारा किए गए शृंगार से सुसज्जित पत्नी यज्ञ में उपस्थित लोगो के बीच क्या कार्टून सी नही लगेगी ?

असौ' के स्थान पर नदी का नाम किस लिए ?

जातकर्म

१ दस रात्रि तक प्रसूता के सिर की ओर कलश भरके रखने का प्रयोजन?

नामकरण

१ ग्यारवे व एक सौ एकवे दिन क्यो ?

२ तिथि तो व्यवहार मे आती है। जन्मपत्री आदि बनाने को छोड देवता, नक्षत्र तथ नक्षत्र देवता आदि कब किस काम आते है ?

३ नाम के साथ लगे शर्मा, वर्मा आदि पद गुरुकुल मे रहते विद्यार्थियो के जन्म पर आधारित जाति का ही बोध करते रहेगे। इससे ऊच नीच के भेद की प्रतीति भी होगी। दास पद युक्त नाम शूद्र को हीनभावना ग्रस्त रखेगा। विद्याध्ययन की समाप्ति पर आचार्य द्वारा प्रदत्त वर्ण के कारण प्राय सभी के नाम बदलने पडेगे जो २४ वर्ष की अवस्था तक प्रचलित नामो का स्थान लेंगे।

४ प्राचीनकाल मे अनेकानेक प्रतिष्ठित एव महत्वपूर्ण नाम शास्त्रीय निर्देशो के विपरीत मिलते हैं। तदथा कपिल, नारद विदुर, भरत, अगिरा अर्जुन अशोक, रावण, कणाद, गौतम, जनक, वशिष्ठ, मदिवनी, सीता, अनसूया, श्रुतकीर्ति, गगा, रोहिणी, यशोधरा।

निष्क्रमण

शुक्लपक्ष की तृतीया और चौथे मास जिस तिथि मे बालक का जन्म हुआ हो उसी तिथि मे क्यो ?

चूड़ाकर्म

१ उत्तरायण शुक्लपक्ष में क्यो ?

२ निर्दिष्ट पदार्थो मे उल्लिखित गुण भले ही हो, एक एक शरावा भर कर नाई को देने की संस्कार से क्या सगति और उपादेयता ?

३ 'त्र्यायुष' इत्यादि मन्त्र से पीछे के बाल एक बार फिर क्यो काटे जाये?

उपनयन

१ भिन्न-भिन्न वर्णस्थ बालको के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुए व भोजन क्यो?

२ बार-बार जल छुडवाने का हेतु ?

३ हाथ को वस्त्र स ढककर अगो पर स्पर्श क्यो ?

वेदारम्भ

१ हाथो को तथा थोडा सा जल लगा कर मुख का साथ बार स्पर्श क्यों?

२ जानू को भूमि पर टेककर गुरु के सामने बैठे क्यो ?

३ 'एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रखके अपने हाथ से बालक के दोनो हाथो की अगुलियों को पकड़के" क्यों ?

४ मेखला, दण्ड तथा भिक्षा मागने के वाक्य वर्णानुसार भिन्न-भिन्न क्यों?

समावर्तन

उदुम्बर की लकडी से दन्तधावन क्यो ?

(क्रमश)

आदर्श त्रैतवाद (३१)

राजसिंह भल्ला

ध्यान की विधि

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छच्छान्त आत्मनि ॥
कठो० १-३ १३

उस परम पुरुष के ध्यान की विधि बताते हुए ऋषि कहते है कि साधक मन वाणी को भगवान् के नाम मे रोके । फिर उस मन वाणी को अपनी बुद्धि में रोके, अपनी बुद्धि को महान् आत्मा मे स्थिर करे और उस महान् आत्मा को शान्त परमात्मा मे जोडे । परम पुरुष को अपने समीप चिन्तन करे। कर्मेन्द्रियो को विषयो की ओर से रोक कर ज्ञानेन्द्रियो के आधीन करे अर्थात् ज्ञान के विरुद्ध कभी कोई कार्य न करे। पहले देखे फिर आगे चले, पहले जाने तब करे। ज्ञानेन्द्रियो को अहकार के भीतर रोके अर्थात जहा तक अपना अधिकार हो वही तक लेने का विचार करे। दूसरे के हक की वस्तु को लेने का विचार कभी न करे। अहकार को मन के अनुकूल काय करने पर तैयार करे। मन को शान्त स्वरूप परमात्मा की आज्ञा के विपरीत कभी कोई काय न करने दे। जो व्यक्ति इस नियम का पालन करता है वह अपने लक्षित मार्ग पर पहुच जाया करता है। जो इसके विपरीत काय करता है वह अपने जीवन को व्यय मे नष्ट कर लेता है। कर्म सदा ज्ञान के अनुकूल हो और ज्ञान सदा अपने अधिकार के अनुकूल हो और अधिकार सदा आत्मा की आवाज के प्रतिकूल न होकर सदा अनुकूल हो। अथवा मन के विपरीत न हो और मन सदा परमात्मा के नियम में चलने वाला हो यही परमात्मा तक पहुचने का सीधा माग है।

ध्यान की विधि

प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ मुण्डको० २ २ ४

ओकार जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम सब से बडा कहाता है वह धनुष है और आत्मा निश्चय तीर है और जिस लक्ष्य पर बाण लगाना है वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा है। अर्थात् ओ३म के द्वारा आत्मा को परमात्मा मे लगाना है। क्योकि धनुष के द्वारा बाण लक्ष्य पर लगा करता है परन्तु किस प्रकार इस बाण को लगाना चाहिए कि बहुत ही सावधानी के साथ क्योकि लापरवाही स यह बाण नही लग सकता किन्तु आलस्य को त्याग अपने कर्तव्य पर आरूढ होकर ओकार के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा की ओर लगाना चाहिए। जिस प्रकार धनुष से छुटा हुआ बाण सीधा लक्ष्य की ओर जाता है बीच मे इधर-उधर नही जाता इसी प्रकार आत्मा को सीधा परमात्मा की ओर लगाना चाहिए। इधर-उधर नही भटकाना चाहिये। जिसम जसा परमात्मा सत् चित् आनन्द है उसी प्रकार जीव भी आनन्द प्राप्त करके सच्चिदानन्द बन जावे सत् चित् तो आत्मा पहले ही है आनन्द परमात्मा मे नैमित्तिक प्राप्त हुआ अत आत्मा परमात्मा जैसा सच्चिदानन्द बन जाएगा आत्मा परमात्मा तो नही बन सकता उसके गुण उसमे आ सकते हैं। इसे ऐसे भी कह सकते हैं—भगवान् का नाम धनुष है, अभ्यासी साधक का आत्मा बाण है और ब्रह्म वह लक्ष्य कहा है। दुष्ट कमरूप प्रमाद को त्याग कर सावधानी म उसे बेधना चाहिए। लक्ष्य मे बाण की भाति अभ्यासी नाम ध्यान मे तन्मय हो जाव। नाम की ध्वनि मे वृत्ति को जोडे तो लक्ष्य की प्राप्ति—परमात्मा का आनन्द प्राप्त हो जाया करता है।

ध्यान की विधि

धनुर्गृहीत्वौपनिषद महास्त्र शर ह्युपासानिशित सदधीत ।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा लक्ष्य तदेवाक्षर सोम्य विद्धि ।
मुण्डको० २-२-३

उपनिषद् द्वारा वर्णित ब्रह्म विद्या महा अस्त्र रूप धनुष को पकडकर उसमे उपासना रूप तेज तीर लगा। हे सोम्य ! तन्मय चित्त से धनुष को खींच कर उसी अविनाशी लक्ष्य को बीध। उसी भगवान् मे ध्यान लगा ध्यान विषय को बताते हुए ऋषि कहते है कि भगवान् का नाम धनुष है अभ्यासी-साधक भक्त की आत्मा बाण है और ब्रह्म वह लक्ष्य बताया गया है। दुष्ट कर्म रूप प्रमाद को त्याग कर सावधानी से उसे बींधना चाहिए। कक्षा मे बाण की भाति साधक ओ३म् नाम मे तन्मय हो जाय। ओ३म् नाम की ध्वनि मे वृत्ति को जोड देवे।

प्राप्ति का साधन उपासना

ज्ञात्वा देव सर्व पाशापहानि, क्षीणै क्लेशैर्जन्म मृत्यु प्रहाणि ।
तस्याभिध्यानात्तृतीय देह भेदे ॥ श्वेता० १-११

विश्वैश्वय केवल आप्तकाम देव को—परमेश्वर को जानकर सब बन्धन विनाश हो जाता है। अविद्या आदि पाच क्लेशो के क्षीण होने से जन्म और मृत्यु का नाश हो जाता है। उसके ध्यान से परमेश्वर की उपासना से शरीर के पृथक् होने पर परमात्मा रूप तीसरे सकल ऐश्वर्य पद को (केवल) निर्द्वन्द्व पूर्णकाम उपासक प्राप्त होता है। परमात्मा की प्राप्ति का परम साधन उपासना है।

उसको जानने की विधि

एतज्ज्ञेय नित्यमेवात्मसस्थ, नात पर वेदितव्य हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्य प्रेरितार च मत्वा सर्व प्रोक्त त्रिविध ब्रह्मेतत् ॥

यह अविनाशी सकल ऐश्वयपद आत्मा मे स्थित ही जानना चाहिए। परमेश्वर को अन्तर्मुख होकर ही जानना चाहिए। निश्चय इसके अनन्तर जानने योग्य अन्य कुछ भी नही है। भोक्ता-जीवात्मा, भोग्य को-प्रकृति को और सबके प्रेरक ईश्वर को जानकर मुक्त हो जाता है। यह सब तीन प्रकार का ब्रह्म कहा है। आत्मा, परमात्मा और प्रकृति तीनो को ब्रह्म कहा गया है।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावों की काव्य व गीतों के माध्यम से व्याख्या (६)

भगवान दास, स०-सम्पादक 'पालिका समाचार'

जगत्पति ! आप ही हैं व्याप्त, सब उत्पन्न द्रव्यो में ।
हमें दो वस्तुए वाछित, विपुल धन-सम्पदा प्रभुवर ॥६॥
वही है बन्धु हम सबका वही प्रियतम पिता-माता ।
सुत्राता है वही भ्राता, वही है मित्र श्रेयस्कर ॥
प्रभु सर्वज्ञ है स्रष्टा सुपालक-कर्मफल दाता ।
उसी के नाम मे भरपूर, मोक्षानन्द ले द्विजवर ॥७॥
सुयश-पथ पर हमें कर अग्रसर, है ईश-ज्योतिर्मय ।
हमारे कम का प्रतिफल तुम्हारे न्याय निर्भर ॥
कुपथ-भ्रम म बचाओ हे दयामय कर कृपा-दृष्टि ।
विनय हम कर रहे सुख शान्ति की वर्षा करो हम पर ॥८॥
द्यौ शान्तिर न्तरिक्ष॑ शान्ति पृथिवी शान्तिराप शान्तिरोषधय
शान्ति । वनस्पतय शान्तिर्विश्वे देवा शान्तिर्ब्रह्म शान्ति सर्व॑
शान्ति शान्तिरेव शान्ति सा मा शान्तिरेधि ॥ यजु० अ० ३६ म० १७॥

काव्यार्थ

सूर्य चन्द्र की दिव्य ज्योति विज्ञान-ज्ञान सम्पत्ति सारी ।
ईश-भक्ति अनुकम्पा म हो, हमे सदा सब सुखकारी ॥
नभ मे पृथिवी जल औषधियां, वट-वृक्ष वनस्पति कुजरमता ।
विद्वान सभी अरु वेदज्ञान की, सरस अमिय सम पावनता ॥
इनसे इतर जगत भी हम सब के हित रहे सदा सुखमूल ।
सभी पदारथ इस प्रगती के रहे हमारे नित अनुकूल ॥
सब शान्ति से हमे प्रभु, विद्या-विवेक-विज्ञान मिले ।
आरोग्य सकल उत्तम सामग्री, का हमको वरदान मिले ॥
परमपिता जगदीश सकल जग को द दो हितकर सद्गन्ध ।
शान्ति और सुख के साधन दे, दूर भगा दो सब दुर्गन्ध ॥

क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (२)

नेत्रराम शर्मा, प्रधान भारतीय योग संस्थान पूर्वी जिला दिल्ली ११००५१

३२ मिट्टी के बर्तन मे साग-सब्जी पकाना, दूध उबालना चावल खिचडी आदि बनाना स्वास्थ्य वर्धक है। मिट्टी, मल दुर्गन्ध तथा कीटाणुओ को दूर भगाती है। प्रात काल मिट्टी मे नगे पैर चलने से शरीर मे ताजगी और स्फूर्ति आती है।

३३ फोडे का इलाज—बडा तथा कठोर फोडा होने पर जो फूट नही रहा हो गीली मिट्टी का लेप कीजिए, फोडा फूट जायगा और मवाद बाहर निकल जायेगी।

३४ कनफेडे का इलाज—काली मिट्टी का गल पर लेप करने से कनफडे अवश्य दूर हो जाते हैं।

३५ सूजन का इलाज—नदियो या तालाबा का सफेद मिट्टी का लेप करने से सूजन दूर हो जाती है।

३६ पित्ती और खुजली का इलाज —(१) ग्रीष्मकाल मे मुल्तानी मिट्टी का लेप कीजिए। दो घट बाद स्नान कीजिए।

(२) मुल्तानी मिट्टी को बारीक कूटकर दही मे मिलाकर बदन पर लेप कीजिये।

३७ चेहरे पर दाग-धब्बे मिटाने का इलाज—मुल्तानी मिट्टी को पानी मे घोलकर मुह पर उबटन कीजिये।

३८ दातो के कीटाणु मारने का इलाज—खडिया मिट्टी का मजन अकरकरा के चूर्ण के साथ दातों पर मलिये। कीटाणु मर जायेंगे और दात मोतिया जैसे हो जायेगे।

३९ काच (शीशा) खाने का इलाज—गोपी चदन (एक प्रकार की सफेद मिट्टी) का चूर्ण दही के मट्ठा मे पिलाइये।

४० मुह के छालों का इलाज—गोपी चदन घिसकर लगाइए।

४१ सिर दर्द का इलाज—गोपी चदन घिसकर सारे माथे पर गाढा लेप कीजिए।

४२ बच्चों द्वारा मिट्टी खाई का इलाज—मोटा गेरू को घी मे सेककर बारीक पीस ले। इसको एक ग्राम लेकर ८-१० ग्राम मधु मे मिलाकर चटाये।

४३ हिचकी का इलाज—गेरू को आग मे भूनकर पीस कर उसका एक ग्राम चूर्ण १० ग्राम मधु के साथ चाटे।

४४ निरतर कब्ज का इलाज—बारीक कपडे पर पुल्टिस की तरह गीली मिट्टी लपट कर रात भर अपने पेडू पर रखिए। सवेरे मल बधा हुआ तथा खुला सा आयेगा।

४५ सिर दर्द का इलाज—सिर दर्द होने पर मिट्टी की पट्टी माथे पर रखने से सिर दर्द दूर हो जाता है।

४६ बहते फोडे का इलाज—गीली मिट्टी की टिकिया बनाकर फोडे पर चिपका दें।

४७ बिच्छू, बर्र के काटे का इलाज—गीली मिट्टी की पट्टी बाधिए।

४८ घाव का इलाज—किसी प्रकार का घाव हो तो गीली मिट्टी गर्म करके दिन मे एक बार तीन मिनट तक सेक कीजिए। इसके बाद घाव पर, उबाल कर ठडी मिट्टी की पट्टी बाधिए। इस पट्टी को दिन मे ६ बार बदलिए। घाव शीघ्र भर जायगा।

४९ सूजा पडने का इलाज—गीली मिट्टी गर्म करके दिन मे चार बार उसको सेक दीजिए।

५० जले का इलाज—जले पर गीली मिट्टी गर्म करके पट्टी पर लेप कर बाधिए।

५१ ज्वर की तपन का इलाज—गीली मिट्टी की चौडी पट्टी पेट पर बाधिए। इस पट्टी को घटे-घटे बाद बदलते रहिए।

५२ पेचिस का इलाज—पहले ५ मिनट गीली (ठडी) मिट्टी का सेक, फिर पाच मिनट तक गीली (गर्म की हुई) मिट्टी का सेक। दिन मे ३-३ घटे बाद सेक दोहराइये।

५३ एपेंडेसाइटिस का इलाज—यदि अन्त्रपुच्छ में सूजन हो असहीय पीडा हो तो पहले एनीमा से पेट साफ कर। इसके बाद पेट के बाईं तरफ के निचले भाग पर ५ मिनट तक गर्म मिट्टी का सेक करे फिर ५ मिनट तक ठडी मिट्टी का सेक करे। दिन मे चार से ६ बार तक दुहराइये।

५४ दाद का इलाज—गीली मिट्टी गर्म करके ५ मिनट सेक फिर गीली ठडी मिट्टी की पट्टी बाध द। दो-दो घटे बाद इसी क्रिया को दुहराये।

५५ स्तन-शोथ का इलाज—पहले तीन मिनट गीली गर्म मिट्टी का सेक फिर तीन मिनट गीली ठडी मिट्टी का सेक करे स्त्री के स्तन मे सूजन, जलन दूर हो जाती है।

श्वेत कुष्ट पर अनुभूत योग

१ त्रिफला, त्रिकूटा चित्रक नागरमोथा वायबिडिग और बच समान भाग लेकर कूट पीस छान कर रख लो। एक तोला गरम पानी के साथ शाम को खाने से कुष्ट ठीक हो जाता है। समय तीन माह।

२ नीम के पत्तो को जल में उबाल कर स्नान करना।

३ गाय के दूध में तीन ग्राम नीम के पत्तो को पीस कर दो-तीन मास तक सेवन करना।

४ रात मे नीम की छाया के नीचे सोना।

सफेद दाग

१ बासी मट्ठा थोडा बेसन और थोडी हल्दी मिलाकर रोज सफेद दागो मे लगाकर सोना चाहिए और मुह अधेरे नीम के गरम पानी से धो देना चाहिए।

२ प्रतिदिन मट्ठा पीना चाहिए।

३ बावची और मूली के बीज दस-दस ग्राम पीसकर एक छोटा चम्मच हल्दी मिलाकर मट्ठा मे घोलकर उबटन बनाकर दागो पर लेप करना चाहिए। समय दो माह।

छपाकी

१ बीस ग्राम गुड बीस ग्राम अजवायन कूटकर दो मात्रा बना ले। पहली मात्रा दिन मे ताजा मट्ठा के साथ, दूसरी मात्रा साय ताजा पानी के साथ निगल जाये।

२ पाच ग्राम गेरू पीसकर २५ ग्राम शहद के साथ सेवन करे।

क्रमशः

गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय का वार्षिकोत्सव

स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा सस्थापित गुरुकुल कागडी का वार्षिकोत्सव बृहस्पतिवार ८ अप्रैल १९९३ से १४ अप्रैल १९९३ तक समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ। प्रतिदिन प्रात यजुर्वेद पारायण यज्ञ एव प्रवचनादि हुए। हैदराबाद से आए गुरुकुल कागड़ी के स्नातक प० मदनमोहन जी विद्यासागर यज्ञ के ब्रह्मा थे। सपूर्ण कार्य डा० हरिप्रकाश और प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री की व्यवस्था के अन्तर्गत सुचारु रूप से सपन्न हुआ।

रविवार ११ अप्रैल को गुरुकुल कुरुक्षेत्र के आचाय श्री देवव्रत जी के व्याख्यान हुए तथा श्री ओ३मप्रकाश वर्मा श्री तेजपाल जी और श्रीमती आशा रानी के भजनोपदेश हुए। श्री प्रेमचन्द्र शास्त्री और श्री टीकमसिह न व्यवस्था दायित्व-वहन किया।

सोमवार १२ अप्रैल को कुलाधिपति प्रो० शेरसिह जी ने कुल पताका फहराई। मध्यान्होत्तर वेद सम्मेलन मे आचाय रामनाथ जी वेदालकार, भिक्षु दिवस्पुत्र भारती, डा धर्मपाल जी, डा मानसिह प मनोहर विद्यालकार और प्रो रूपकिशोर शास्त्री के व्याख्यान हुए। रात्रि मे श्री विद्यारत्न जी आचार्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर के सयोजन मे प्रश्नमच का मनोहर कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

मगलवार १३ अप्रैल १९९३ को राष्ट्र रक्षा सम्मेलन, सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती की अध्यक्षता मे सपन्न हुआ। डा सच्चिदानन्द शास्त्री, डा धर्मपाल, श्री सुखदेव शास्त्री, श्री राममेहर एडवोकेट और डा जयदेव वेदालकार के व्याख्यान हुए। रात्रि म व्यायाम सम्मेलन प्रो प्रकाशवीर शास्त्री की अध्यक्षता मे सपन्न हुआ। श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती मुख्य अतिथि थे। श्री रणजीतसिह और श्री टीकमसिह ने व्यवस्था दायित्व वहन किया।

बुधवार १४ अप्रैल १९९३ को यजुर्वेद पारायण यज्ञ की पूर्णाहुति तथा वेदारभ सस्कार सपन्न हुए। यज्ञोपरान्त दीक्षान्त समारोह कुलाधिपति प्रो शेरसिह जी की अध्यक्षता मे हुआ। इस अवसर पर कुलपति एव आचार्य रामप्रसाद वेदालकार ने नवस्नातको को उपदेश दिया और ३४५ छात्र-छात्राओ को उपाधि प्रदान की। मच पर शिष्ट परिषद के सदस्य साधु-सन्यासी व पुराने स्नातक काफी सख्या मे उपस्थित थे, जिनमे स्वामी आनन्द बोध सरस्वती, स्वामी ओमानन्द सरस्वती श्री सोमपाल ससद सदस्य, डा धर्मपाल, श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति डा रणजीत सिंह श्री सूबेसिह, डा महेश विद्यालकार डा सत्यवीर विद्यालकार, श्री वेतव्रत शास्त्री डा सोमवीर आयुर्वेदालकार, श्री वेदव्रत शर्मा श्री राजेन्द्र दुर्गा, श्रीमती प्रभात शोभा व श्रीमती सुमेधा विद्यालकृता के नाम प्रमुख है। पुराने स्नातको की ओर से श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति ने और सन्यासियो की ओर से स्वामी ओमानन्द सरस्वती ने नवस्नातको को आशीर्वाद दिया। मुख्य अतिथि श्री राजेश पायलट का भाषण प्रो प्रकाशवीर विद्यालकार ने पढा। मच सचालन कुल सचिव डा जयदेव वेदालकार ने किया।

—महेन्द्रकुमार, मुख्याधिष्ठाता

लेखको से निवेदन

—सामयिक लख, त्योहारो व पर्वों से सम्बन्धित रचनाए कृपया अक प्रकाशन से एक मास पूर्व भिजवायें।

—आर्य समाजो, आर्य शिक्षण सस्थाओ आदि के उत्सव व समारोह के कार्यक्रमो के समाचार आयोजन के पश्चात् यथाशीघ्र भिजवाने की व्यवस्था करायें।

—सभी रचनायें अथवा प्रकाशनार्थ सामग्री कागज के एक ओर साफ साफ लिखी अथवा डबल स्पेस मे टाइप की हुई होनी चाहिए।

—पता बदलने अथवा नवीकरण शुल्क भेजते समय ग्राहक सख्या का उल्लेख करते हुए पिन कोड नम्बर भी अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५ रुपये तथा आजीवन शुल्क २५० रुपय है। आजीवन ग्राहक बनने वालो को ५० रुपये मूल्य का वैदिक साहित्य अथवा आर्य सन्देश के पुराने विशेषाक नि शुल्क उपहार स्वरूप दिए जाएग। स्टाक सीमित है।

—आर्य सन्देश प्रत्येक शुक्रवार को डाक से प्रेषित किया जाता है। १५ दिन तक भी अक न मिलने पर दूसरी प्रति के लिए पत्र अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश के लेखको के कथनो या मतो से सहमत होना आवश्यक नही है।

पाठको के सुझाव प्रतिक्रिया आमत्रित है।

कृपया सभी पत्र व्यवहार व ग्राहक शुल्क दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली के नाम भेजें।

—सम्पादक

स्वाध्यायान्मा प्रमद:

(पृष्ठ २ का शेष)

है कि सस्कृत और वेद कठिन हैं ? ससार मे कठिन कुछ नही है, बस, मन की पूरी लगन चाहिए, फिर तो सब काम पूरे हो जाते हैं।

इसलिए आर्यों का कर्त्तव्य है कि यदि वे स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनसे प्राचीन मनु यज्ञावल्क्य, पतञ्जलि, वेदव्यास आदि के कथनो पर थोडी भी श्रद्धा रखते हो तो वेद उपनिषद, गीता, षडदर्शन आदि उत्तमोत्तम ग्रन्थो का नित्य स्वाध्याय किया करें। जो सज्जन केवल हिन्दी जानते हैं, वे उक्त ऋषियो के ग्रन्थो का हिन्दी के माध्यम (अनुवाद) से स्वाध्याय करें। इससे उन्हे अपनी सस्कृति का ज्ञान होगा एव उसका परिचय होने से उससे प्रेम होगा और उत्साह की वृद्धि होगी। यदि आर्य जाति ससार मे जीवित जाग्रत रहना चाहती है, तो उसे वेद को आगे करके सब कार्य करने होगे। यदि आर्य समाज 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की उक्ति चरितार्थ करना चाहता है तो उसे आचाय द्रोण के शब्दो मे घोषणा करनी होगी—

अग्रतश्चतुरो वेदा पृष्ठत सशर धनु ।
उभाभ्यामपि समर्थोऽस्मि शापापि शरादपि ॥

चारो वेदो को आगे (हृदय मे) तथा पीठ पर शरयुक्त धनुष को धारण करके कहना चाहिए कि मैं शाप और शर-सधान (शास्त्रार्थ तथा शस्त्र-सचालन), दोनो मे समर्थ हू, जिसका जी चाहे, परीक्षा कर ले।

इसके बिना कभी भी कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का लक्ष्य सफल नही हो सकता अत प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य है कि वह प्रतिदिन (चाहे समय थोडा ही लगावें) वेद का स्वाध्याय अवश्य करें।

आर्यसमाज मोतीबाग का वार्षिकोत्सव सम्पन्न

कायक्रम की अध्यक्षता आय प्रादेशिक सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ सहगल ने की। समाराह मे २० आय महानुभावो को भी सम्मानित किया गया। समाज के प्रधान श्री ज्ञानचन्द ने धन्यवाद ज्ञाप्ति किया।

स्थापना दिवस समारोह

नई दिल्ली दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार मण्डल ने प्रधान श्री हरबन्स लाल कोहली की अध्यक्षता मे २५ अप्रॅल को आय समाज स्थापना दिवस श्रद्धापूर्वक मनाया गया। कार्यक्रम मे स्वामी आचाय सत्यान द गुरुकुल केवरपुरा राजस्थान स्वामी सरोत्रानन्द, कन्या गुरुकुल नरेला आय केन्द्रीय सभा दिल्ली मे महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री आदि ने प्ररक विचार रख। सवश्री कृष्ण लाल सूरी एव रामकृष्ण को भी सम्मानित किया गया।

आर्य समाज पोरबन्दर

आय समाज पोरबन्दर गुजरात मे ११९ वा आर्य समाज स्थापना दिवस एव ६९ वा सवत्सर कार्यक्रम २८ माच को उत्साहपूर्वक मनाया गया। प्रमुख गुरुकुल महिला कालेज के प्रिंसीपल श्री देवेन्द्र भाई आचार्य आर्य कन्या गुरुकुल की मुख्य व्यवस्थापिका कु० सुशीला बेन पडित ने राष्ट्रीय एकता को सुदृढ करने हेतु आर्य समाज के सिद्धातो के प्रचार प्रसार पर बल दिया। कार्यक्रम का सचालन श्री मुकेश भाई व्यास ने किया तथा धन्यवाद ज्ञापन श्री लाल जी भाई आय ने किया।

हसराज दिवस

आय समाज गुरुकुल अशोक विहार २ के सगठन मन्त्री श्री राम प्रकाश ने सूचित किया है कि समाज मे २५ अप्रॅल को महात्मा हसराज दिवस के उपलक्ष्य मे विशेष यज्ञ हुआ तथा श्री काशीराम शास्त्री ने हसराज जी के जीवन पर प्रकाश डाला।

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R. N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 17 18 6-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 135/93

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू (सी०) १३९/९३

साप्ताहिक 'आर्यसन्देश' २० जून, १९९३

चुनाव समाचार

आर्यसमाज हेवी इलेक्ट्रिकल्स पिपलानी, भोपाल

अध्यक्ष-श्री धर्मवीर बाधवा उपाध्यक्ष-श्री सुरेन्द्रप्रकाश सेठ, मन्त्री श्री जगदेव बैदा, उपमन्त्री-श्री नरेन्द्रकुमार आर्य, श्री फूलचन्द सूरी, कोषाध्यक्ष श्री विनाद कुमार आर्य एव पुस्तकाध्यक्ष-श्री ईश्वर राव।

आर्यसमाज महर्षि दयानन्द मार्ग, बीकानेर, राजस्थान

प्रधान डा० मनमोहन भाटिया, उपमन्त्री श्री बहादुरमल कच्छावा, श्रीमती डा० कमला भण्डारी एव श्री यशपाल वर्मा, मन्त्री-श्री मनोहरलाल आर्य, उपमन्त्री-श्री भवरलाल आर्य, कोषाध्यक्ष-श्री उदय शकर व्यास, प्रचारमन्त्री-श्री बलवीर सिंह आर्य, एव पुस्तकाध्यक्ष-श्री सोहन लाल अन्सेरी।

आर्यसमाज ग्रेटर कैलाश-२ एव एन्क्लेव-२, नई दिल्ली

प्रधान-श्री रघुनन्दन गुप्त, उपप्रधान-सर्वश्री जयदेव आर्य व विरेन्द्र तलवार, मन्त्री-श्री यशपाल मिगलानी, सयुक्त मन्त्री श्री श्याम बाबू गुप्त एव कोषाध्यक्ष-श्री तेजकुमार टडन।

—आर्य समाज सोनीपत, हरियाणा—प्रधान-श्री बाल किशन, उपप्रधान-श्री सुखलाल, मन्त्री-धर्मसिंह, कोषाध्यक्ष श्री सुभाष।

आर्यसमाज महावीर नगर, नई दिल्ली

प्रधान श्री खेमचन्द उपप्रधान-श्री विशम्भर दास, मन्त्री श्री भीमसैन उपमन्त्री-श्री विजयकुमार, कोषाध्यक्ष श्री विशन दास।

—आर्यसमाज मयूर विहार दिल्ली—प्रधान-श्री आर० एन० चावला उप प्रधान श्रीमती शान्ति देवी डाबर, मन्त्री-श्री पी० के० वलेचा एव कोषाध्यक्ष-श्रीमती पुष्पा राजकुमार।

—आर्य समाज सीहोर भोपाल (म० प्रदेश) अध्यक्ष-श्री ओमप्रकाश आर्य, उपाध्यक्ष-श्री नरेश आर्य, मन्त्री-श्री राजबीर आर्य, कोषाध्यक्ष-श्री रामभरोस आर्य, प्रचारमन्त्री श्री सजीव कुमार आर्य एव सगठन मन्त्री-श्री बलवन्त सिंह आर्य।

आर्य समाज मा्न्द्र अशोक नगर, नई दिल्ली

प्रधान श्री जसबन्त राम ढींगरा उपप्रधान श्री दीनानाथ जी गुलाटी व श्री भीमसैन अरोड़ा, मन्त्री श्री मगतराम आर्य, सहमन्त्री श्री सोनूराम जी प्रचारमन्त्री-श्री चन्द्रपाल आहूजा, कोषाध्यक्ष श्री मिट्ठनलाल।

आर्यसमाज कृष्णपोल बाजार, जयपुर

प्रधान डा० ओमशरण विजय, उपप्रधान सर्वश्री कुन्दन लाल महाजन, प्रि० विजयबिहारी लाल माथुर एव चन्द्रभान, मन्त्री-श्री रामजीलाल सिंघल, उपमन्त्री सर्वश्री नृसिंहप्रसाद पारीक, देवदत्त आर्य एव ओमप्रकाश वर्मा, कोषाध्यक्ष-श्री सूरज नारायण जी गुप्त।

सेवा में--

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अक ३७ रविवार, २७ जून १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

सूरीनाम मे आर्यसमाज का प्रभाव

अद्भुत प्रतिभा के धनी : श्री जगन्नाथ लक्ष्मण

नई दिल्ली, १४ जून । अद्भुत प्रतिभा के धनी श्री जगन्नाथ लक्ष्मण ४ लाख की जनसख्या के देश सूरीनाम की ससद के अध्यक्ष हैं। वहा की जनता लक्ष्मण जी की बजाय उन्हें सभापति के नाम से ही जानती व बुलाती है। ५० वष के राजनैतिक जीवन मे उन्होने प्रधान मन्त्री या राष्ट्रपति के पद को अनेक बार ठुकराया है। परन्तु सूरीनाम मे हर कोई जानता है कि लक्ष्मण जी की इच्छा के बिना कोई भी प्रधानमन्त्री अथवा राष्ट्रपति के पद पर नही रह सकता है, वे गत १५ वष से सभापति के पद पर हैं। श्री लक्ष्मण जी सूरीनाम की सर्वाधिक शक्तिशाली पार्टी वतन हितकारी पार्टी (बी०एच०पी०) के अध्यक्ष भी हैं।

श्री लक्ष्मण पर बचपन से ही आय समाजी सिद्धातो व विचारो का गहरा प्रभाव पडा है। १५ लाख हिन्दुओ मे से लगभग ४० हजार आर्य समाजी हैं जो अत्यन्त सक्रिय हो काय कर रहे हैं। सूरीनाम मे सवत्र आर्यसमाज के भव्य मन्दिर दिखायी देते हैं।

श्री लक्ष्मण ने गत मास भारत यात्रा के दौरान प्रधानमन्त्री श्री नरसिंहराव एव विदेश मन्त्री श्री दिनेश सिंह से भी मुलाकात की थी इस आशय का समाचार राष्ट्रीय सहारा के १४ जून के अक मे प्रकाशित हुआ है।

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती द्वारा

पं० राजगुरु शर्मा वैदिक छात्रावास का उद्घाटन

नई दिल्ली २० जून। सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के पूज्य प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने आज आर्यसमाज मन्दिर महू, म० प्रदेश मे स्व० प० राजगुरु शर्मा वैदिक छात्रावास के भव्य भवन का कर तल ध्वनि के बीच उद्घाटन किया। उल्लेखनीय है कि यह वैदिक छात्रावास सावदेशिक सभा के पूव उपप्रधान प० राजगुरु शर्मा की स्मृति मे स्थापित किया गया है।

कायक्रम का शुभारम्भ प्रात ७-३० बजे एक वृहद यज्ञ के आयोजन से हुआ जिसमे ८० छात्रो ने स्वेच्छा से यज्ञोपवीत ग्रहण किया। ये सभी विद्यार्थी छात्रावास में प्रवेश ले रहे हैं। समारोह मे उपस्थित हजारो नर-नारियो ने वैदिक धर्म की जय, आर्य समाज अमर रहे के गगन भेदी नारो से छात्रो का स्वागत किया।

तत्पश्चात् पूज्य स्वामी आनन्द बोध के नेतृत्व मे एक विशाल व भव्य शोभा यात्रा नगर की प्रमुख सडको से निकाली गयी। खुली जाप मे बैठे स्वामीजी का स्थान-स्थान पर पुष्पमालाओ व पुष्पवर्षा द्वारा अभिनन्दन किया गया। प० राजगुरु जी की स्मृति मे निकाली गयी इस शोभा यात्रा में हजारो नर नारियो ने भाग लिया।

बालको के सर्वांगीण विकास के लिए शुरू की गई योजना के पाठ्यक्रम मे सस्कृत, योग, प्राणायाम, सगीत व्यायाम, सन्ध्या हवन एव राष्ट्रीय विचारो से ओत-प्रोत वैदिक धर्म की शिक्षा प्रदान की जायेगी। ये शिक्षा विद्यालय के सामान्य पाठ्यक्रम के अतिरिक्त दी जायेगी।

उल्लेखनीय है कि सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने इस छात्रावास के लिए ५५०००) रुपये की राशि दान मे देने की घोषणा की, जबकि एक अन्य स्थानीय देवी ने भी पचास हजार की राशी दान में दी।

समारोह में इन्दौर विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री उमरावसिंह व अनेक गण्यमान्य महानुभाव उपस्थित थे।

पद्मश्री डा० कपिलदेव द्विवेदी ४ जुलाई को विदेश यात्रा पर

नई दिल्ली २२ जून। लब्ध प्रतिष्ठ सस्कृत विद्वान एव विश्वभारती अनुसधान परिषद्, ज्ञानपुर के निदेशक पद्मश्री डा कपिलदेव द्विवेदी ६ जुलाई को वेदो के सन्देश का प्रचार करने दिल्ली से न्यूयार्क जा रहे हैं। डा० कपिल देव को अमेरिका, जमनी, इग्लैण्ड आदि विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा वेद एव भारतीय सस्कृति से सम्बन्धित विषयो पर व्याख्यान देने हेतु आमन्त्रित किया गया है। साथ ही आय समाज व अन्य धार्मिक सस्थाओ ने आपके व्याख्यानो का प्रबन्ध किया है। अमेरिका मे तो आप वेद सम्मेलन मे भी विचार रखेंगे।

७४ वर्षीय डा० कपिल देव द्विवेदी ने आज तक ७० से अधिक ग्रन्थो का प्रणनय किया है। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा आपकी ६ से अधिक पुस्तको को पुरस्कृत भी किया जा चुका है। वेदो का सन्देश जन-जन तक पहुचाने के लिए आपने वेदामृत ग्रन्थमाला के १३ भागो की रचना की है। 'द एसेन्स आफ वेदाज' नामक अग्रेजी भाषा मे लिखा ग्रन्थ अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। वेद, सस्कृत व व्याकरण के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान को भारत सरकार ने पद्मश्री से अलकृत कर सम्मानित किया है।

स्मरणीय है कि डा० द्विवेदी इससे पूव आय समाज के सिद्धान्तो एव भारतीय सस्कृति के प्रचार हेतु अनेक बार विदेश यात्रा पर जा चुके हैं। आपने हालैण्ड जर्मनी, अमेरिका, इग्लैण्ड, कनाडा, फ्रास, स्विटजरलैण्ड, मारीशस, केन्या, तजानिया, सूरीनाम, गुयाना इटली आदि अनेक देशो मे जाकर वेद प्रचार का अद्वितीय कार्य किया है। १० भाषाओ के ज्ञाता एव वेदो के उद्भट विद्वान डा० कपिल देव को वैदिक विद्वान के रूप मे लन्दन विश्वविद्यालय, फ्रेंकफर्ट विश्वविद्यालय टोरेन्टो विश्वविद्यालय, यूनिवर्सिटी आफ ईस्टवेस्ट यूनिटी, न्यूयार्क द्वारा भी सम्मानित किया जा चुका है आप सस्कृत भाषा की सरलीकरण पद्धति के उन्नायक हैं।

साहित्य स्थिर निधि

श्री चन्द्रसेन व श्रीमती सन्तोष मल्होत्रा ने अपने माता-पिता श्री मूलचन्द मल्होत्रा एव श्रीमती आज्ञादेवी के नाम से दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत दस हजार रुपये की साहित्य-स्थिर निधि स्थापित की है। परिवार के लिए शुभकामनायें।

—सम्पादक

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव

सहसम्पादक— विमलकान्त शर्मा

संयम का जीवन दुर्लभ सुख का स्रोत

इम नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप ब्रुवे ।
यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृडतु पुलुकामो हिमर्त्यः ।। ऋग० १।१७९।५

वेद इस मन्त्र मे मनुष्य को "पुलुकामी हि मर्त्य" कहा गया है। अर्थात् मनुष्य कामनाओ का पुतला है, यह कामनामय है। इसके हृदय मे कामनाओ के पीछे कामनाए आती रहती है। एक क्षण मे किसी एक वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है तो दूसरे क्षण मे किसी अन्य पदार्थ को पाने की चाह अगाडी होती है। इच्छाओ की यह परम्परा कभी समाप्त नही होती दिन प्रतिदिन क्षण प्रतिक्षण यह बढती ही जाती है। जैसे समुद्र मे बाढ आने के कारण वहा लहरो का तान्ता बध जाता है और शान्त अथाह समुद्र एक दम अशान्त हो जाता है और इस कारण उसमे कोई जहाज आदि का चलना अथवा कोई मछली आदि के पकडने का काम एक दम सब स्थगित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के मानस समुद्र मे इच्छाओ की बाढ-सी आने के कारण यह भी अशान्त हो जाता हैं और अपना सन्तुलन खो बैठता है और कुछ भी जनहितकारी काय करने मे असमर्थ हो जाता है। हमारी हृदय स्थली पर इतनी अत्याधिक इच्छाओ के उठते रहने, नये नये पदाथ प्राप्त सग्रह करके सुखभोग करने की इच्छा परिणाम यह हो जाता है कि मानव इनसे इतना दब जाता है कि इनकी पूर्ति के लिए हर समय चिन्तित रहता है, अविवेकी की तरह इधर उधर हाथ-पाव मारता है और एक प्रकार से इनकी पूर्ति के लिए सर्वदा अशान्त चित्त रहता है, परन्तु पूर्ति न होने के कारण 'तृष्णज मृगम्' अर्थात तृष्णातुर मृग को न्याई पानी की तलाश में मरुस्थल मे कोसो दूर तक भागने पर भी जब पानी नही मिलता तो थककर गिर जाता है और जान से भी हाथ धो बैठता है और हताश हो कहता है।

"त मा व्यन्त्याधयो वृको न तृष्णज विन्त मैं अस्य रोदसी"।
ऋग० १।१०५।६

इस मानव की भी यही दयनीय दशा है।

अत परिश्रम करने पर भी जब इस मानव देहधारी की इच्छाए पूण नही होती तो वह अनुचित प्रकार से इन्हे पूर्ण करने पर बाधित हो जाता है। परन्तु इस पर भी आदमी की सभी इच्छाओ की पूर्ति का होना कदाचित सम्भव नही होता, तो इस कारण इसे बडा दु ख होता है और क्रोध भी आता है। अगर जिस किसी एक आध इच्छा की पूर्ति के कारण कुछ थोडा-बहुत सुख मिलना भी था, वह भी क्षण भगुर होने के कारण प्राय चिन्ता का विषय बन जाता है। अत इस प्रकार आदमी अपने बहुत से दुखो का कारण वह स्वय ही बन जाता है। योगीराज कृष्ण जी ने इस तथ्य की पुष्टि मे गीता मे मे बडे सुन्दर ढग से इस प्रकार कहा है—

उद्धरेदात्मना ऽऽ त्मान नात्मानवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ।। गीता ६।५

कतिपय नीतिकारो ने इन इच्छाओ को "अग्नि" कह कर पुकारा है। जिस प्रकार अग्नि मे ईन्धन डालने से अग्नि शान्त नही होती, अपितु और अधिक प्रचण्ड हो जाती है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य की बहुरगी इच्छाए सासारिक वस्तुओ के सग्रह करने मात्र से कदापि तृप्त नहीं होती बल्कि आग में ईन्धन डालने का कार्य और भी तीव्र हो जाता है। किसी कवि ने बडा सुन्दर कहा है—

हजारो ख्वाईशें ऐसी, कि हर ख्वाहिश पर दम निकले।
बहुत निकले अरमान, मगर फिर भी कम निकले।।

आदि ऋषि मनु जी ने इन इच्छाओ के बारे मे इसी प्रकार का मनोविज्ञान सम्मत बात मानव धर्म शास्त्र मे कही है—

न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णावर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ।। मनु० २।९४

महाभारत मे भोगग्रस्त ययाति राजा की कहानी मानो इसी बात को और भी अच्छे ढग से समझाने के लिए लिखी गई है। अन्त मे ययाति थककर जिस परिणाम पर पहुचा है वह बहुत ही हृदयग्राही है—

यत् पृथिव्या व्रीहियवौ हिरण्य पशव स्त्रिय ।
नालमेकेन तत् सर्वमिति मत्वा शम व्रजेत् ।।

यही नहीं फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान शेख शादी का कहना है कि हविस, तमा बहुत बुरी चीज है जिसका कभी अन्त नहीं होता। दुनियादारी की हविस को वृत्ति को तो सन्तोष सयम शान्त कर सकता है या फिर यह तो हुआ इच्छाओ का वास्तविक स्वरूप। किसी हिन्दी के कवि ने इसको देखकर बडा सुन्दर कहा है--

तृष्णा अग्नि प्रलय की, तृप्त न यह होय ।
सुर, नर, मुनि और र क, सब भस्म करते हैं सोय ।।

अर्थात् कामनाओ की अग्नि नरक की विशाल अग्नि के समान है जो कभी भी ठन्डी नही होती, जो भी इसकी लपेट मे आ जाता है चाहे वह साधारण पुरुष हो, या देवता असुर हो या कोई मुनि राजा हो या फकीर सबको बिना किसी भेद भाव के भस्मीभूत कर डालती है।

जगत विख्यात प्रसिद्ध नीतिकार भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—
भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता, तपो न तप्ता वयमेव तप्ता ।
कालो न यातो वयमेव याता, तृष्णा न जीर्णावयमेव जीर्णा ।।

यही नही, ये कामनाए न केवल इस जीवन मे हमारे विनाश का कारण सिद्ध होती है, अपितु हमारे आग आने वाले जीवन को सुखद बनाने मे बडी बाधक भी होती हैं। कुरान मजीद मे भी एक स्थान पर आता है कि कयामत के दिन जब खुदा नरक की अग्नि से पूछेगा कि क्या तेरी तृप्ति हो गई है, वह भी वही उत्तर देगी "नहीं और लाओ और अधिक लाओ' यही हाल कामना रूपी अग्नि का भी है जो कभी शान्त नही होती। किसी हिन्दी के कवि ने इस भाव को कितनी सुन्दरता से दर्शाया है।

तृष्णा है ठगनी और जीवन का काल।
और-और निसदिन कहे और जीवन करे बेहाल।

अत सिद्ध हुआ कि दुर्भाग्यवश जो लोग भूल से इन कामनाओ का शिकार हो जाते है उनको जीवन भर अशान्त रहना पडता है और बेचारे को कभी भी शांति देवी के दशन नही हो पाते। किसी ने बडा सुन्दर कहा है—

"सच्ची खुशी से रहते हैं सदा वे दूर दूर
उन जिन का विषय भोगो मे होय फसा हुआ"

यद्यपि यह बडे चिन्ता का विषय है, परन्तु क्या इच्छाओ से नितात छुटकारा पाना, कदाचित सम्भव भी है या नही। शरीर की बनावट पर दृष्टिपात करने से पता चलेगा कि भगवान की अदभुत रचना (शरीर) मे इन्द्रियो और मन के रूप मे जो अवयव रखे गये है वह ही वास्तव मे इन इच्छाओ के स्रोत है और यह भी नितान्त सत्य है कि भगवान का इस जगत मे कोई चीज निष्प्रयोजन नही है। अत मनुष्य मे कामनाओ का होना स्वभाविक ही नहीं, अपितु सृष्टि नियम के सस-सर अनुकूल भी है। कामनाओ के बिना पशु समान है और मूर्ख भी कहा जाता है। ससार मे केवल प्रभु का जात क बिना और कोई भी सत्ता कामना रहित नहीं है। वेद मे इसी जगत नियन्ता को कामना रहित कहा है—

'अकामो धीरो अमृत स्वयम्भू'। अथववेद १०।८।४४

अत स्पष्ट है कि मनुष्य कामना के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। जन साधारण की तो बात ही क्या बडे-बडे तपस्वी योगी भी इसका शिकार हुए बिना नहीं रहे। योगदर्शन मे महर्षि पतञ्जलि ने यही बात कही है।

"तच्छिद्रेष प्रत्य यन्त्राणि सस्कारेभ्य" योगदशन ४।२६

वेद मे जीव स्थान स्थान पर परमात्मा से अपनी कामनाओ की पूर्ति के लिए प्रार्थना करता हुआ दीख पडता है—

"अस्माक सन्त्वाशिष सत्य" यजु० २।१०

"यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय स्याम पतयो रयीणाम्। ऋग्वेद १०।१२१।१०
"अस्य स्तोतु मघवन् काममापृण"

इच्छाओ के रहते हुए भी आदमी खुशी से रहे—इस सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध ने एक प्रसग मे कहा है कि "वास्तव मे वही मनुष्य जीवन मे सुख अनुभव कर सकता है जो किसी चीज से लगाव न रखे और अपनी इच्छाओ को नियन्त्रित करके रखें। अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट भोजनो को अत्याधिक मात्रा मे खाने से जहा रोगग्रस्त होने की आशका होती है, वहा उन्हे सर्वत छोडने में भी तो शांति नहीं होती। अत सयम (मर्यादा) से उनका उपभोग करना लाभकारी और शक्ति प्रद होता है, अर्थात् संयम का जीवन।

(शेष पृष्ठ ६ पर)

वैदिक विद्वानों से प्रार्थना (२)

विवाह

१—अग्निमन्दता, बवासीर, मृगी आदि साधारण रोग है। जिस कुल मे किसी भी रोग का एक भी रोगी न हो, ऐसा कुल मिलना कठिन होगा।

२—नाम तो ११वें या १०१वें दिन माता-पिता रख देते हैं। माता पिता की अनजाने मे की गई छोटी-सी भूल के कारण, अन्यान्य गुणो से युक्त होने पर भी नाममात्र के कारण अनेक (करोड) कन्याए आजीवन अविवाहित रहने के लिए विवश हो—यह विवेच्य है। फिर पुरुषो मे इसी दोष क्यो नही माना गया ? कन्या को ही दण्ड क्यो मिले ?

३—"पाद्यम्" मे ब्राह्मण वर्णस्थ पहले बाया और अन्य दाया क्यो धोवें ?

४—मधुपर्क की क्रिया तक घर के भीतर क्यो हो ? वस्त्रो का आदान प्रदान और धारण भी वहीं क्यो न हो ?

५—विवाह सस्कार मे अभयातन होम जमा होम की क्या प्रासगिकता है ?

६—लाजा होम मे भाई के विकल्प मे माता क्यो, जबकि सहोदर भाई के न होने पर चचेरा, मौसेरा और ममेरा भाई धाणी (लाजा) लिये पहले ही बिठा दिये गये हैं। वे किसलिए बिठाये हैं ?

७—लाजा होम के बाद वर द्वारा वधु के केश खोले जाने की अनिवार्यता क्यो?

८—परिक्रमा करते समय वर, वधु मे कौन आगे हो, सस्कार विधि इस विषय मे मौन है। सब अपनी मनमानी करते हैं। इस विषय मे एकरूपता आवश्यक है।

'प्र मे पतियान पन्था कल्पताम्' 'पतिलोक गमेयम्' तथा 'सा मामनुव्रता भव' जैसे वाक्यो से पत्नी के पति की अनुगामिनी होने की ध्वनि निकलती है। इससे वर को आगे चलना चाहिए। सामान्य बुद्धि के अनुसार जैसे सप्तपदी मे प्रतीकात्मक रूप में दोनों साथ-साथ चलते हैं और जीवन भर दोनो से गाड़ी के दो पहियो के समान साथ-साथ चलने की आशा और प्रेरणा की जाती है, वैसे ही दोनो को आगे-पीछे न रह कर परिक्रमाओं में बराबर रहकर साथ-साथ चलना चाहिए, ऐसा मेरा मत है।

९—हृदयस्पर्श-वर-वधु दोनो को निर्देश है कि वे "दक्षिण स्कन्धे पर से अपना दक्षिण हाथ लेके" हृदय का स्पर्श करें" सार्वजनिक रूप मे सकोचवश इस प्रकार आलिंगन न करके सामने से ही साकेतिक स्पर्श ही कराया जाता है। निर्देशानुसार क्रिया करने मे हृदय से पहले स्तन या स्तनो पर से हाथ ले जाकर स्पर्श होगा। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें।

इन प्रश्नो का जो उत्तर आप को सूझे उस पर स्वय ही एक पूरक प्रश्न करके समाधान कर देखें, कहा तक सन्तोषजक है।

उत्तरापेक्षी, (स्वामी) विद्यानन्द सरस्वती
डी-१४/१६ माडल टाऊन, दिल्ली ९

वार्षिक सम्मेलन सम्पन्न

प्राचीन तीर्थ गुरुकुल महाविद्यालय पूठ (पुष्पावती) बहादुरगढ गाजियाबाद उ० प्र० का वार्षिक सम्मेलन १९ से २१ मार्च १९९३ को कुलभूमि मे समारोह पूर्वक मनाया गया। इसका उद्घाटन आचार्य यशपाल सुधाशु जी की अध्यक्षता मे श्री सत्यानन्द आर्य दिल्ली ने ध्वजारोहण के साथ किया। इसका सयोजन डा० श्री शिव कुमार शास्त्री महामन्त्री ने किया।

यज्ञ की पूर्णाहुति पर श्री रामनाथ सहगल ने जनता को सम्बोधित किया, स्वामी वानन्दबोध सरस्वती ने भी अपना आशीर्वाद दिया। स्वामी मुनीश्वरा नन्द-जी का उपदेश प्रभावशाली रहा। ओमप्रकाश वर्मा जी एव जनादन जी के भजन सभी को उत्साहित करने वाले थे।

आचार्य वीरपाल जी द्वारा बांस एवं गले से सरिया मोडना, जन्जीर तोड़ना, एक साथ दो जीप रोकना, धनुर्विद्या का प्रदर्शन क्षेत्र के लिए आश्चर्य जनक रहा। सभा के सचालक आचार्य धर्मपाल जी ने सभी को धन्यवाद दिया।

आदर्श त्रैतवाद (३२)

राजसिंह भल्ला

जानने की विधि—

तिलेषु तैल दधनीव सर्पिराप स्रोत स्वरणीषु चाग्नि ।
रावमात्मात्मीन ग्रहयेतऽसौ, सत्येनैन तपसा योऽनुपश्यति ।।
श्वेता० १-१५

जैसे तिलो मे तेल है, स्रोतो मे—जल वो झरनो मे जल है और आरणियो मे अग्नि है ऐसे ही यह परमात्मा आत्मा मे-अपने आप मे-अपने अन्दर ही ग्रहण किया जाता है अन्तमु खी होकर ध्यान से देखा जाता है, और उस साधक द्वारा जाना जाता है जो इसको सत्य से-आस्तिक बुद्धि से और ब्रह्मचय आदि तप से देखता है ।

प्राप्ति के साधन—

युक्तेन मनसा वय देवस्य सवितु सर्वे स्वर्गाय शक्तया ।। योगो०

जैसे हम युक्त मन से तथा शक्ति से सकल जगत उत्पादक सर्वैश्वर्य सम्पन्न, सर्व प्रेरक, आनन्द प्रद, शुभगुण दाता, प्रभु के उत्पादित मे, आज्ञा मे, प्रेरणा मे रहते हुए स्वर्ग साधक काय के लिए परमात्मा प्रकाश की धारण करते हैं वैसे ही तुम भी करो ।

मोक्ष प्राप्ति की विधि—

मोक्ष द्वारे द्वार पालाश्चत्वार परिकीर्तिता ।
शमो विचार सन्तोषश्चतुर्थ साधु सगम ।। महो० ४२

मोक्ष के चार चौकीदार बताए हैं जो सदा मोक्ष द्वार की रक्षा करते हैं। जिस द्वार मे विशुद्ध अन्त करण विशिष्ट आत्मा का ही प्रवेश होता है ।

पहला द्वारपाल है 'शम' इसका अर्थ है मन बुद्धि की शान्ति जिस अवस्था में इन्द्रिया और उनके विषयो के सम्बन्ध का नितान्त अभाव हो जाय बुद्धि और मन बिल्कुल उदासीन हो जायें यह द्वारपाल काम क्रोध आदि को अन्दर दाखिल नही होने देता । सारी इन्द्रियो का दमन करता रहता है । बुद्धि और चित्त को बिल्कुल शान्त रखता है ।

दूसरा द्वारपाल है विचारा विचार भी बुद्धि का ही धम है । बिना विचारे, बिना निर्णय किए कोई भी कर्म बुद्धि मे नही होने देता । सत्यासत्य, पाप पुण्य धर्मा-धर्म का यथाथ निर्णय करके सत्य, धर्म और पुण्य युक्त कर्म मे प्रवृत्त करता है ।

तीसरा द्वारपाल है 'सन्तोष' सन्तोष सब प्रवृत्तियो को शान्त कर देता है । इसमे सब कामनाए शान्त होती है । यह ज्ञान और वैराग्य को दृढ़ करता है । भोगो और विषयो से निवृत्ति करता है तृष्णा का अभाव करता है । मोक्ष द्वार के अन्दर प्रवेश करा देता है ।

चौथा द्वार पाल है 'साधु सगीत' ब्रह्म ज्ञानी महापुरुषो का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है । पुण्य से ही ऐसा दर्शन प्राप्त होता है । महापुरुषो का दशन तीर्थ समान है । वे तीर्थ रूप ही होते है । इनके सत्सग, उपदेश, सेवा, दशन, सहवास, आशीर्वाद दया विशेष से मनुष्य जन्म जन्मान्तरो के बन्धनो से मुक्त हो जाता है । जिन्होने परमात्मा का साक्षात्कार किया होता है, वे अपने स्वरूप को जानते हैं । आत्मज्ञानी साधु इस लोक के बन्धनो से मुक्त कराते है । इस लोक को सुन्दर, मधुर, सुखद, आनन्द प्रद निभय, पवित्र सफल और मोक्ष दायक बनाते है । परलोक को भी अनन्त सुख, अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्द से युक्त बना देते हैं । यह सच्चे आत्मज्ञानी साधुओ के सत्सग का फल ।

यही सक्षेप मे मोक्ष प्राप्ति की विधि है ।

अज्ञान की निवृत्ति का साधन—

क्षर प्रधानममृताक्षर हर क्षरात्म नावीशते देव एक ।
तस्याभिध्यानाद्यो जनात्तत्वभावाद्, भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्ति ।।
श्वेता० १-१०

परिणाम धर्म वाला क्षर

प्रधान—जगत का उपादन कारण—प्रकृति, दूसरा अमृत, अविनाशी आत्म तत्व तीसरा पापो को हरने वाला हर-ईश्वर ये तीन हैं इनमे एक देव ईश्वर ही प्रकृति और जीवात्म तत्व को शासित करता है-भगवान ही दोनो का ईश्वर है । उस भगवान् के चिन्तन से, योग से—उसमें चित्त जोड़ने से और बार-बार स्मरण जा जाप से अन्त मे सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है । अविद्या की निवृत्ति भगवान के स्वरूप के चिन्तन, आराधन और बार-बार स्मरण रूप परा भक्ति से होती है ।

आत्म दर्शन की विधि—

यावद्यावन्मुनि श्रेष्ठ स्वय सत्यज्यतेऽखिलम् तावत्तावत परा लोक परमात्मैवाव-शिष्यते । यावत्सव न सत्युक्त तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्ववस्तु परित्यागे शेषमभ्येतीति कथ्यते । आत्मावलोकनार्थन्तु तस्मात् सर्व परित्यजेत् । सर्व सन्त्यज्य दूरेण यच्छिष्ट तन्मयो भव ।
अन्नपूर्णो० १-४४-४६

ऋषि कहते हैं कि हे शिष्य जो-जो दिखाई देने वाला पदार्थ है इन सब को त्यागता हुआ चला जाए, अन्त मे जो शेष रहेगा वह परमात्मा ही रहेगा । जब तक सब कुछ त्याग नही किया जाएगा तब तक आत्मा की प्राप्ति नही हो सकती । सब को त्याग देने पर शेष आत्मा ही रह जाता है इसलिए आत्म दशन के लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए । आत्मा के मोक्ष और कल्याण के लिए पृथिवी का भी त्याग कर देना चाहिए ।

मुक्ति का माग कर्मयोग—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। ईशो० २

जगत् मे भगवान को बसा हुआ मानने वाला समपण रूप त्याग युक्त उपासक इस लोक मे सौ वष तक नित्य नैमित्तिक कर्मो को करता हुआ ही जीने की इच्छा को ब्रह्मज्ञानी तत्ववेत्तो कत्तव्य कर्मों का त्याग कभी न करे । वह परहित, परोपकार, परसेवा आदि शुभ कर्मों को करने के लिए ही जीना चाहे । इस प्रकार कर्तव्य परायण शुभ कर्मयोयुक्त पुरुष मे कर्म सस्कार का लेप नहीं लगता । भगवान कर्मो को करने वाला कमशील उपासक कम सस्कार से लिप्त नही होता इससे-कर्मयोग से भिन्न दूसरा बन्धक से छुटने का माग नही है । मुक्ति का एक मात्र मार्ग आस्तिक भाव सहित कर्मयोग है । विश्व मे भगवान को बसा हुआ जानने से शुभ कर्मो का करना ईश्वर के चलाये चक्र को सचालित रखने मे योग देना है । ऐसे व्यक्ति के कर्म भग वान कम ही होते हैं । इस कारण ऐसा ज्ञानवान कर्मयोगी कर्म सस्कारो के बन्धनो से मुक्त ही बना रहता है ।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावो को काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (७)

भगवान दास, 'पालिका समाचार'

(६) यतोयत समीहसे ततो नो अभय कुरु ।
शन्न कुरु प्रजाभ्योऽभय न पशुभ्य ।। यजु० अ० ३६।म० २२।।

स्वार्थ—हे प्रभु तूने निज सृष्टी मे, जितने देश रचाये हैं ।
सभी परस्पर प्रेमभाव से, रहें सदा हरषाये हैं ।।
हमे किसी भी अन्य देश से, भय-शका लवलेश न हो ।
यह और प्रजा-पशु जितने सब, उनसे भी हमको क्लेश न हो ।।
हम सब उनको सुख पहुचायें, उनको भी हमसे ना हो भय ।
आतंकित ना होय परस्पर, मिलजुल करलें सब निर्णय ।।
धर्म-अर्थ अरु काम-मोक्ष ही हम सबका हो लक्ष्य परम ।
अनुकम्पा से शीघ्र आपकी, इन्हें प्राप्त कर पायें हम ।।
मानव जन्म बहुत है दुर्लभ, धर्म आदि जिसका मृदुफल ।
हे अज-अमर दयालु प्रभो ये, हमें मिलें सब सुख अविकल ।।

क्रमशः

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (२)

नेतराम शर्मा प्रधान—भारतीय योग संस्थान पूर्वी जिला, दिल्ली ११००५१

हर्निया (अंड वृद्धि पर)

१ कटेली की ताजा जड की छाल १५ ग्राम काली मिर्च ७ नग पानी के साथ पीस छानकर रोज पीने से बीमारी दूर।

२ गोमूत्र मे ६ ग्राम गूगल ६ ग्राम अण्डीतेल मिलाकर चालीस दिन पीने से रोग दूर।

३ तमाखू के पत्ते को गर्म कर गूगल लगाकर बाधना।

बाझपन दूर करने के उपाय :—

यदि माहवारी खुलकर आये और पुरुष के वीर्य मे दोष न हो, इसके बावजूद गर्भाधान न हो तो इनमे से कोई नुस्खा उपयोग करें।

१ माहवारी हो जाने के पश्चात हाथी दात का बुरादा बारीक पीस कर डेढ ग्राम सुबह व डेढ ग्राम शाम दूध के साथ तीन चार रोज सेवन करें।

२ नागोरी असगध बारीक पीसकर, छानकर महावारी के बाद ३ ग्राम चूर्ण २५० ग्राम दूध के साथ तीन चार रोज।

३ शिवलिंगी का चूर्ण भी कपट छनकर दूध के साथ ३ ग्राम सात दिन।

आतो मे सूजन—

ताजा दही मे जीरा, काली मिर्च और सेंधा नमक रोज पीने से सूजन खत्म।

सतान निग्रह—

१ मासिक धर्म के पश्चात २ तोले करेला का रस रोज लेने से गर्भ नहीं रहता।

२ पुराना गुड २ तोले पानी मे ओटा कर १५ दिन पीने से कभी गर्भ धारण नही होगा।

३ पीपल, वायविडिंग, सुहागा समान भाग लेकर ऋतु के समय ६ माशे जल के साथ ५-६ रोज सेवन से गर्भ कभी धारण नही होगा।

पुत्र पैदा होने का अजमाया हुआ नुस्खा—

मयूर पुच्छ चन्द्रका को गुड मे गोली के रूप मे लपेट कर जब दो मास का गर्भ हो जाये तीसरे मास के पहले हफ्ते मे प्रात काल बछडे वाली गाय के दूध मे निगली हुई तीन गोलिया तीन दिन एक एक शर्तिया लडका पैदा करती है। एक मयूर पख चन्द्रका का एक गोली मे होना आवश्यक है। (यह योग प० परमानन्द वामनौली वालो का परीक्षित है)

छाजन पर अनुभूत योग (धनवन्तरि जनवरी १९५८ से प्राप्त)

१ महुआ पानी मे सडाकर पीसकर, नीम के गर्म पानी से धोकर साफ कर मोटा लेप करें ऊपर असली सिन्दूर बुरक कर पट्टी फिर तीसरी। इस रोग के कीटाणु सूक्ष्म सूत की तार की तरह पटटी के साथ निकलेंगे। रोग जड़ से नष्ट हो जायेगा।

२ हल्दी का गाढ़ा लेप दिन में तीन बार २० दिन तक यदि छाजन से पानी रिसता हो।

३ आक (मदार) के दूध मे पीपल को छान पीस कर मक्खन मे मिलाकर लगाने से भी छाजन ठीक हो जाते हैं।

४ ढाक के बीज बारीक पीस कर खट्टी दही मे मिलाकर कुछ दिन लेप करें

दाद—

१ आक (मदार) के दूध को नीम पानी से धोकर साफ करके लगाना।

खुजली—

१ नीबू का रस, चमेली के तेल मे बराबर मिलाकर लगाने से सूखी खुजली खत्म।

२ आवले का चूर्ण चमेली के तेल मे बराबर मिलाकर लगाना।

३ १० ग्राम नारियल के तेल म कपूर ३ ग्राम मिलाकर शरीर में मालिश करना। साबुन का प्रयोग बन्द। बासी दही मटठा शरीर में लगाकर नहाने से फायदा हो जाता है।

चर्म रोग पर अनुभूत योग—

चौल मोगरा तेल के सेवन करने से सभी प्रकार के चर्म रोग खाज, खुजली चकता, गर्मी, बद, कठमाला, नासूर तथा दाद भी ठीक हो जाते हैं। इसका तेल खाया भी जाता है लगाया भी जाता है।

मुख मे छालो पर अचूक दवा—

१ केला गाय के दही के साथ कुछ दिन सेवन करे।

२ तरबूजा के छिलके को जलाकर राख को जीभ पर मलें।

मुहासे नाशक अनुभूत योग—

१ जायफल और काली मिर्च दोनो को दूध मे घिसकर मुहासे पर लगाना।

२ सरसो के तेल मे थोडा सा नमक डाल नीबू के रस मे घोटकर मुहासे पर मलें। एक दो घण्टे बाद पानी से साफ करे।

३ गेहू का चोकर एक चम्मच फाक कर दूध पीयें और सो जायें। एक सप्ताह में मुहासे गायब।

क्रमश

संयम का जीवन

(पृष्ठ २ का शेष)

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" यजु० ४०।१

का नियम ही शांति और सुख देने वाला होता है। परन्तु अपने चहू ओर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि मानो जैसे हमारे समाज के संयम का 'बांध' ही टूट गया हो और उसमे स्वार्थ, लाभ और दुराचार की बाढ़-सी आ गई हो।

इसके अनेको कारणो मे से मुख्यत एक कारण अपनी प्राचीन वैदिक सभ्यता और संस्कृति के प्राचीन मन्त्रो के प्रति अवहेलना तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रति झुकाव और उसका अन्धानुकरण ही कहा जाता है। परन्तु हमारे धर्म ग्रन्थो मे तो इन्द्रियो का 'असयम' ही उन दोषो का मूल कारण कहा गया है।

'सब दोष मुख्यो यमिन्द्रियाणाम् सयम"

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब और जहा-जहा राजा महा-राजाओ, शासको ने स्वच्छन्दता से अपने इन्द्रिय रूपी घोड़ो को भोगविलास के घने वन में चरने दिया उसी राष्ट्र, समाज, देश का सर्वनाश हो गया। असत्यता से उत्पन्न उनाचार, दुराचार, कष्टाचार आदि कुछ ऐसे सक्रमण रोग हैं जो बहुत जल्दी से सर्वत व्याप्त हो जाते हैं।

नदी वही सुखकारी और कल्याणकारी मानी जाती है जब वह किनारों के अन्दर (मर्यादा मे) रहकर बहती है। परन्तु ज्यू ही वह किनारो से निकल कर बाढ का रूप धारण करती है तो वह सबके विनाश का का रणबन जाती है। अत विषय कामनाओ के विष से बचने के लिए कुछ भोगो का परित्याग करना जरूरी है क्योकि त्याग से ही शांति मिलती है—

"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्"

इसलिये हे मानव यदि तू सुख और सकून (शाति) चाहता है तो अपनी इच्छाओ को कम करके तृष्णा पिशाचनी के फंदे से मुक्त होने का प्रयास कर क्योंकि मन रूपी पक्षी तभी तक तृष्णा वासना रूपी आकाश में उड़ता है जब तक कि वह ज्ञान रूपी बाज पक्षी की झपट मे नहीं आता। सुख और शान्ति के इच्छको को स्वामी रामतीर्थ ने यह उपदेश दिया है।

अर्थात् जहा तक हो सके अपनी इच्छाओ को कम करो।

अत इस अस्त-व्यस्त समय मे देश की आर्थिक स्थिति सतोषजनक न होवे के कारण देश में सर्वत्रव्यापी अशान्ति और बेचैनी के वातावरण मे अपनी इच्छाओ का कम करना ही इस दुर्दशा से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय हैं और अन्य सभी राष्ट्रीय रोगो की भी यही अचूक औषधि है जो रामबाण का काम करेगी।

चमन लाल, अशोक विहार, दिल्ली

गृह माता की आवश्यकता

अजमेर के प्रसिद्ध दयानन्द बाल सदन मे कन्या विभाग के लिए एक गृहमाता की आवश्यकता है जो ३० वर्ष की आयु के साथ शिक्षित तथा बालिकाओ की स्नेह पूर्वक देखभाल कर सके। नि शुल्क निवास, भोजन तथा योग्यतानुसार वेतन देय होगा। पूर्ण विवरण सहित मत्री के नाम शीघ्र आवेदन करें।

देवदत्त तनेजा, मन्त्री
दयानन्द बाल सदन, अजमेर

पुरोहित चाहिए

आर्य समाज जी०टी० रोड, फिरोजपुर छावनी के लिए शीघ्र ही पुरोहित, जो सस्कारादि करने की योग्यता रखता हो चाहिये। वेतन के अतिरिक्त बिजली, पानी, आवास की सुविधा मुफ्त होगी।

द्वारका नाथ, प्रधान
आर्यसमाज मन्दिर, (गु०वि०) जी०टी० रोड, फिरोजपुर छावनी १५२००१

प्रभु भक्त परिषद्

श्री ब्रह्मानन्द जिज्ञासु, आर्य कवि ने सूचित किया है कि आर्य समाज की विचारधारा व वैदिक अध्यात्मवाद के प्रचारार्थ एक प्रभु भक्त परिषद् की स्थापना की गयी है। प्रभु भक्ति द्वारा मानव मात्र मे प्रेम बढाया, वर्ण भेद व साम्प्रदायिकता मिटाकर विश्व शांति स्थापित करना इसका मुख्य उद्देश्य है। सम्पर्क सूत्र —

ब्रह्मानन्द जिज्ञासु, आर्य कवि, आर्यसमाज, मुजफ्फनगर, बिहार

अपूर्व बलिदानी वीरांगना पन्नाधाय

मेवाड़ के इतिहास की एक स्वर्ण गाथा जान लो।
धाय पन्ना कौन थी इस बात को पहचान लो॥
इतिहास के पन्नो मे पन्ना की निराली शान है।
कोई बता दे विश्व में ऐसा कोई बलिदान है॥
अपने जाये लाल का बलिदान पन्ना कर चली।
सग्रामसिंह के बाल का तत्काल रक्षण कर चली॥
मेवाड़ के इतिहास की जो मान मर्यादा रही।
पन्ना भी सुत बलिदान से आलोक उसमें भर रही॥
पन्ना तेरे यश मान की कैसे उतारें आरती।
तेरा निरन्तर मान तो है कर रही मा भारती॥
तू यदि उदयसिंह की रक्षा का व्रत नहीं ठनती।
राणा प्रताप वीर को यह दुनिया कैसे जानती।
भारत की वीर नारियो पन्ना को तुम पहचान लो।
कोई कहीं निर्दोष की हत्या न हो प्रण ठान लो॥
हे प्रभो! इस देश को पन्ना सी देवी दीजिए।
राष्ट्र भक्ति हो यहा यह भावना भर दीजिए॥

रचयिता—ब्रह्मप्रकाश शास्त्री
शास्त्री सदन-११/१२४ पश्चिम आजाद नगर दिल्ली-००५१११

पातञ्जल योग महाविद्यालय का शुभारम्भ

आर्य जगत के युवा दार्शनिक विद्वान आचार्य अर्जुन देव जी वर्णी द्वारा आषाढ़ पूर्णिमा सम्वत् २०५० तदनुसार ३ जुलाई १९९३ से दिल्ली मे क्रियात्मक योग प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरू किया जा रहा है। ३ वर्ष के इस प्रशिक्षण मे मेधावी आर्य युवा विरक्त व आर्ष विद्याजिज्ञासुओ को आर्ष शैली से योग सांख्य न्याय वैशेषिक व वेदान्त दर्शनो का अध्यापन कराया जायेगा।

आजीवन ब्रह्मचर्य के व्रती व योग विद्या मे निष्ठा रखने वाले युवाओ को प्राथमिकता दी जायेगी। वैदिक धर्म के प्रचारार्थ कृत सकल्प योग शास्त्री आचार्य स्नातक स्नातकोत्तर अथवा समकक्ष योग्यता वाले युवाओं के लिए स्वर्णिम अवसर है।

नाम आयु पता शैक्षिक योग्यता आदि के विवरण सहित लिखें अथवा सम्पर्क करें —

आचार्य अर्जुनदेव वर्णी
प्रयाग निकेतन ३१ यू०बी० जवाहर नगर दिल्ली ७ फोन २९१२५४७
आर्ष विद्या गुरुकुल
तपोवन देहरादून उ०प्र० २४८००८

वेद प्रचार ट्रस्ट

आर्यसमाज कालावाली हरियाणा के मन्त्री श्री पवन कुमार आर्य ने सूचित किया है कि वैदिक धर्म के प्रचारार्थ मण्डी कालावाली जिला सिरसा हरियाणा मे एक वेद प्रचार ट्रस्ट की स्थापना की गयी है।

आर्य सन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R N No 32387/77 Posted at N D P S O on 28 6 1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० एल ११०२४ ९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसैन्स नं० यू (सी०) १३९/९३

साप्ताहिक 'आर्यसन्देश २७ जून १९९३

श्री नानकचन्द आर्य नहीं रहे

नई दिल्ली ११ जून आर्य समाज यमुना विहार दिल्ली के सुयोग्य पुरोहित एव वैदिक प्रचारक श्री नानक चन्द आर्य का ८ जून को यमुना विहार स्थित उनके निवास पर स्वर्गवास हो गया। वे ३१ मार्च १९९३ से बीमार चल रहे थे और ८३ वर्ष के थे।

सन १९१० मे जन्मे श्री आर्य विभाजन के बाद तिमारपुर आकर बस गये और भारत सरकार के प्रकाशन विभाग से सेवानिवृत हुये। आर्य समाज तिमारपुर मन्दिर के लिए भूमिक्रम, भवन निर्माण आदि मे विशेष योगदान दिया।

तत्पश्चात् वे यमुना विहार में पुरोहित के रूप मे सेवा करने लगे। श्री आर्य लगभग तीस वर्ष तक दिल्ली विश्वविद्यालय के पास पहाड़ी पर प्रात भ्रमण करने आने वालो का वैदिक प्रवचन देकर वेद प्रचार करते रहे। पिछले कुछ वर्षों से वे प्रतिवर्ष हरिद्वार मे ६ मास तक रहकर प्रचार कार्य करते रहे।

श्री आर्य न केवल एक सुयोग्य पुरोहित एक अच्छे भजनोपदेशक ही थे बल्कि एक कुशल वैदिक प्रचारक भी थे। ११ जून को यमुना विहार आर्य समाज में शांति यज्ञ मे सर्वश्री युधिष्ठर राय सेठ, दानवी चवन, श्रीमती भगवती सेठ आदि विभिन्न समाजो व सस्थाओ के प्रतिनिधियो ने श्री आर्य जी के कृतित्व पर प्रकाश डालते हुये श्रद्धाजलि अर्पित की। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा आर्य सन्देश आर्यसमाज तिमारपुर व अनेक सस्थाओ से प्राप्त शोक सन्देशो मे श्री आर्य जी को चलती फिरती आर्यसमाज बताकर श्रद्धासुमन अर्पित किये गये। वे अपने पीछे परिवार मे एक पुत्र श्री राजकुमार छोड़ गये हैं।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवंगत की आत्मा को शान्ति एव परिजनो को दुख सहने की शक्ति प्रदान करे।

चुनाव समाचार

आर्यसमाज रावत भाटा-कोटा (राजस्थान)

प्रधान श्री महेश, उपप्रधान-श्री दर्शन लाल धीमन, मन्त्री-श्री ओमप्रकाश आर्य, उपमन्त्री-श्री अशोक कुमार कश्यप कोषाध्यक्ष-श्री देवी प्रसाद पाण्डय एव पुस्तकालयाध्यक्ष-श्री गोविन्द शर्मा।

आर्यसमाज कालावाली (हरियाणा)

प्रधान श्री हरीश चन्द्र आर्य मन्त्री-श्री पवन कुमार एव कोषाध्यक्ष डा० खुशीराम।

सुर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/--९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक ३९ रविवार १८ जुलाई १९९३ विक्रमी सम्वत २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक— २५ रुपये आजीवन ५० रुपये विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

२ से ११ अगस्त तक वेद जयन्ती कार्यक्रम धूमधाम से मनायें

विशेष यज्ञ, वेद कथा, शोभा यात्रा व हैदराबाद के बलिदानियों को श्रद्धांजलि दें

नई दिल्ली १० जुलाई। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने राजधानी की समस्त आर्य समाजों व अन्य शिक्षण-संस्थाओं से अपील की है कि वे २ अगस्त से ११ अगस्त १९९३ तक विभिन्न प्रकार के आयोजन द्वारा वेद प्रचार कार्यक्रम समारोह पूर्वक मनायें। इस दौरान वे विशेष यज्ञ प्रवचन वेद कथाओं आदि की व्यवस्था करायें। आर्य समाज मन्दिरो व आर्य संस्थाओं पर ओ३म के नये ध्वज भी लगाये जायें तथा शोभा यात्राय भी निकाली जाय।

श्री सूर्यदेव ने कहा कि २ अगस्त को श्रावणी उपाकर्म (रक्षाबन्धन) के दिन यज्ञ के बाद सभी आर्यजन नये यज्ञोपवीत धारण करें। साथ ही सभी आर्य बन्धु वेद के नियमित स्वाध्याय एव वैदिक विचारधारा के प्रचार प्रसार का भी व्रत ले। उल्लेखनीय है कि इसी पावन दिन सन १९३९ मे हैदराबाद सत्याग्रह के शहीदो का पुण्य स्मरण कर उन्हे श्रद्धांजलि भी अर्पित की जाती है। अत सभी समाजे अपने यहां बलिदानियो की याद मे श्रद्धांजलि कार्यक्रम भी आयोजित करें।

श्री सूर्यदेव ने आगे कहा कि ११ अगस्त को योगीराज श्री कृष्ण जी का जन्मोत्सव है। अत इस दस दिवसीय वेद जयन्ती कार्यक्रम के अन्तिम दिन बुधवार ११ अगस्त को विशेष प्रवचनो के साथ वेद प्रचार का समापन करें। ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द योगीराज कृष्ण जी को एक आप्त पुरुष के रूप मे ही मानते रहे है।

अत सभी आर्य समाज व आर्य बन्धु २ से ११ अगस्त, ९३ तक वेद प्रचार कार्यक्रम हर्षोल्लास के साथ मनायें। इस दौरान बच्चो व छात्र छात्राओ के लिए भी कार्यक्रम आयोजित किये जाने का प्रयास किया जाए। सभी आर्य समाजो व आर्य संस्थाओ से यह भी अनुरोध है कि वे इस वेद जयन्ती कार्यक्रम का प्रचार माध्यम से भी प्रचार करें तथा कार्यक्रम की रिपोर्ट आर्य सन्देश मे भी यथाशीघ्र प्रकाशनार्थ भिजवाने की व्यवस्था करायें।

स्वामी दयानन्द गुजराती थे पर उन्होने सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी मे ही लिखा

— डा० शंकर दयाल शर्मा

नई दिल्ली राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा ने कहा कि हिन्दी को राजभाषा बनाने उसे विकसित करने एव उसके प्रचार प्रसार मे अहिन्दी भाषियो का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है स्वामी दयानन्द गुजराती थे पर उन्होने सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी मे ही लिखा। ये उदगार डा० शर्मा ने २७ जून को राष्ट्रपति भवन मे आयोजित इन्दिरा गांधी राजभाषा पुरस्कार वितरण समारोह के अवसर पर व्यक्त किये।

डा० शर्मा ने आगे कहा कि राजा राममोहन राय ने कलकत्ता से सन १९२६ मे जो 'बंगदूत साप्ताहिक' पत्र निकाला तो उसमे हिन्दी की रचनाओ को भी स्थान दिया था। केशव चन्द्र सेन ने भी सन १ ७५ मे सुलभ समाचार नामक अपने पत्र मे लिखा था कि यदि हिन्दी को भारत वर्ष की भाषा स्वीकार कर लिया जाए तो सरलता से एकता स्थापित हो सकती है। इस प्रकार सुभाष चन्द्र बोस बंगाली थे। लोक मान्य तिलक ने भी राष्ट्रीय स्वाभिमान की दृष्टि से हिन्दी को सम्पर्क भाषा ठहराया था। साथ ही उन्होने स्थान स्थान पर हिन्दी के पाठ शुरू करने के लिए राष्ट्रप्रेमी कार्यकर्ताओं को भी सूचना दी थी। राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्र कवि सुब्रह्मण्यम भारती ने हिन्दी की कक्षाए शुरू की थी।

राष्ट्रपति जी ने आगे कहा कि राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को सुदृढ करने हेतु हिन्दी ने सदैव ही अत्यन्त अहम भूमिका निभायी है। हिन्दी लोगो को जोडने का भी काम करती रही है।

१८ जुलाई को जोधपुर मे होगी

महर्षि दयानन्द स्मृति भवन न्यास की विशेष बैठक

जोधपुर १२ जुलाई। महर्षि दयानन्द स्मृति भवन न्यास की आगामी बैठक सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती की अध्यक्षता मे १ जुलाई १९९३ को जोधपुर मे होगी। इस बैठक मे अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिए जायेंगे। उल्लेखनीय है कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान इस न्यास के पदेन प्रधान है तथा सभी आर्य प्रान्तीय सभाओ के प्रधान न्यास के सदस्य है यह भी स्मरणीय है कि जोधपुर के मियां फैजुल्लाह साहब की कोठी मे ऋषि दयानन्द अपने प्रवास के दौरान ठहरे थे। इसी कोठी मे स्वामी जी को विष दिया गया था। सन १९७२ मे अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के अवसर पर आर्य समाज की मांग पर फैजुल्लाह साहब के पौत्र एव राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री बरकत उल्लाह खां ने यह भवन आर्य समाज को दान मे देने की घोषणा की थी। बाद मे यह भवन आर्य समाज को सौंप दिया गया था। भवन मिलने के बाद ऋषि दयानन्द के बलिदान की स्मृति मे वहां महर्षि दयानन्द स्मृति भवन न्यास का विधिवत गठन किया गया था।

इससे पूर्व केन्द्रीय गृहमन्त्री श्री शंकरराव चव्हाण ने अपने स्वागत भाषण मे कहा कि सरकार यह चाहती है कि राजभाषा हिन्दी का प्रयोग प्रेरणा एव प्रोत्साहन से बढाया जाता रहे परन्तु सभी से यह अपेक्षा की जाती है कि राजभाषा की संविधान सम्बन्धी व्यवस्थाओ का निष्ठापूर्वक एव दृढता से पालन किया जाए।

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

हरिजन पुजारी, वर्ण व्यवस्था और आर्य समाज

आर्य समाज ने गुरुकुलो, विद्यालयो मे अनेक अछूत विद्यार्थियो को पढा लिखाकर पुरोहित बनाया, उनकी विद्वता का देश में बड़ा सम्मान हुआ और बडे-बडे लोगो ने उनके चरण-स्पश किए। किन्तु राजनीतिक खिलाडियो ने हरिजनो के लिए अलग सीटे आरक्षित करके इस खेल को बिगाड दिया। जिन शूद्रो को हमने ब्राह्मण बनाया था वह राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से पुन शूद्र बन गए और अपने को हरिजन कहने लगे।

बिहार के मुख्यमन्त्री श्री लालूप्रसाद यादव ने विधान सभा मे कानून बनाकर हरिजनो को मन्दिरो मे पुजारी बनने का अधिकार दिया। निश्चित रूप से पौराणिक विचारधारा मे विश्वास रखने वाले हिन्दू समाज के घटक इसका विरोध करेगे क्योकि अब तक मन्दिरो मे पुजारी और पुरोहित का काम जन्मना ब्राह्मण कुलोत्पन्न पण्डित ही करते हैं। इस विषय पर गम्भीरता से विचार करन पर इतिहास की अनेक घटनाये सामने आती हैं क्योकि वर्ण व्यवस्था पर अनेक बडे बडे शास्त्राथ हो चुके हैं।

स्वामी दयानन्द के प्रादुर्भाव से पूर्व हिन्दू समाज मे जन्मना वर्ण व्यवस्था का ही समर्थन किया जाता था। इसका कारण यह था कि ५ हजार वर्ष से धर्म की बिगड़ती हुई मर्यादा के कारण ही इस प्रकार के अवैदिक सिद्धान्त हिन्दू जाति ने अपना लिए। लालूप्रसाद यादव का हरिजनो को पुजारी बनाने के पीछे चाहे कोई राजनैतिक स्वार्थ हो यह एक दूसरी बात है किन्तु यह सच्चाई है कि जन्मना वण व्यवस्था को मानकर हिन्दू जाति मे बिखराव आया है, छूतछात, ऊचनीच, भेदभाव यह सब बुराईया जन्मना जातवाद के कारण ही उत्पन्न हुई, जिससे देश की प्रगति को भारी नुकसान हुआ।

देश की आजादी से पहले कुछ मुस्लिम लीगी नेताओ ने यह माग की थी कि ७ करोड अछूतो को हिन्दू और मुसलमानो मे आधा-आधा बाट लिया जाय। महामना मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय और कडे शब्दो मे महात्मा गाधी ने भी इसका विरोध किया था। महात्मा गाधी ने तो इसी माग से प्रभावित होकर अछूतो को हरिजन का नाम दिया था। आर्य समाज के प्रवतक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ६ हजार वष से पूव के आय धम और वेद के शाश्वत सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए वण व्यवस्था को गुण, कम और स्वभाव के आधार पर ही माना। उस समय के पौराणिक पण्डितो ने महर्षि दयानन्द के इस सुधार का भारी विरोध किया और आय समाज के साथ वण व्यवस्था पर अनेक शास्त्राथ भी किय।

हिन्दू सगठन के बड बड नेता भी वर्ण व्यवस्था के मामल मे पौराणिक मागा का ही समथन करते रहे। मुझे याद है कि जब मैं लोकसभा सदस्य चुना गया उस समय सर्व प्रथम जनसघ के लगभग २० सासद लोकसभा मे पहली बार चुनकर आये थे। श्री अटलबिहारी वाजपेयी बलराज मधोक, ओमप्रकाश त्यागी, प्रकाशवीर शास्त्री, प० शिवकुमार शास्त्री और प० रघुवीर शास्त्री जैसे अनेक आर्य समाजी विद्वान भी विभिन्न दलो से चुनकर आये थे।

मुझे याद है जनसघ के उदीयमान सासद श्री कवरलाल गुप्ता के घर पर एक भोज का प्रबन्ध किया गया जिसमे जनसघ समर्थित लोक सभा सदस्यो को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया और मुझे भी विशेष रूप से बुलाया गया और मैं वहा पहुचा। वहा जाकर पता चला कि राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के सरसघ चालक श्री गुरू गोल बलकर जी भोजन से पूव सासदो को सम्बोधित करेंगे। मैने कोठी मे जब प्रवेश किया तो अन्दर जाने पर गुरू गोल बलकर जी ने मुझे विशेष रूप से आगे बुलाया और उन्होने बैठने ही कहा कि प्राचीन काल मे वण व्यवस्था जन्मना ही होती थी। मैंने निवेदन किया कि गुरू जी नहीं वण व्यवस्था तो प्राचीनकाल से ही गुण, कर्म स्वभाव के आधार पर ही मानी गई है। गुरू जी ने वेदमन्त्र—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत'

बोलते हुए मुझसे पूछा कि इसका तात्पर्य क्या है? मैने इसका उत्तर देते हुए कहा कि गुरू जी आपने जो वेद मन्त्र बोला है यह तो उत्तर है इसका प्रश्न आपको इस वेद मन्त्र से पहले के मन्त्र को देखने पर मिलेगा जो निम्न है—

'मुख किमस्यासीत्किम्बाहू किमूरू पादाऽउच्येते।'

इस मन्त्र के देखने से उपरोक्त मन्त्र का अर्थ आपको स्वत समझ मे आ जाएगा। इस प्रश्न स्वरूप मन्त्र मे कहा गया है कि मुख के समान श्रेष्ठ कौन है, भुजबल को धारण करने वाला कौन है घुटनो के काय करने हारे और पाव के समान निचले स्थान के कौन कहे जाते हैं? इस प्रश्न स्वरूप मन्त्र का उत्तर आप द्वारा पूछे ग मन्त्र मे है कि— जो मनुष्य विद्या और शमदमादि उत्तम गुणा मे मुख के तुल्य उत्तम हो वे ब्राह्मण, जो अधिक पराक्रम वाले भुजा के तुल्य कार्यों को सिद्ध करने हारे हो व क्षत्रिय जो व्यापार विद्या म प्रवीण हो वे वैश्य और जो सेवा मे प्रवीण विद्याहीन पगो के समान मूर्खपन आदि सेवा गुण युक्त है वे शूद्र कहने और मानने चाहिए। इस पर मैंने कहा—

प्राचीनतम वैदिक धर्म मे शूद्र उत्पन्न नही होता बनाया जाता है। मैंने कहा गुरू जी महाभारत म एक प्रसग आता है जिसमे प्राचीनकाल की वण व्यवस्था की चर्चा करते हुए कहा गया है—

"न विशेषोऽस्ति वर्णाना सव ब्रह्ममिद जगत

परमात्मा ने सबको ब्राह्मण ही पैदा किया था किन्तु मनुष्यो की प्रबलताओ के कारण जो ब्राह्मण धम का पालन न कर सके वे क्रमश क्षत्रिय वैश्य और शूद्र बने जिसे निम्न प्रकार कहा गया है—

ते द्विजा क्षत्रता गता, ते द्विजा वैश्यता गता, ते द्विजा शूद्रता गता'

गुरू गोलवलकर जी ने पूछा कि आर्य समाज ने कोई ऐसा प्रयोग किया है कि जिसमे जन्मना किसी शूद्र को ब्राह्मण बनाया गया हो। मैंने उत्तर दिया गुरू जी अलीगढ़ के पास काली नदी के किनारे पर स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज का साधु आश्रम है। इस आश्रम ने आय समाज के बडे बडे विद्वान तैयार किए है। इसी आश्रम मे स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज ने एक ऐसा प्रयोग किया कि एक ब्राह्मण के बालक को और एक शूद्र के बालक को दोनो को समान आसन, समान भोजन, समान वस्त्र और समान शिक्षा दी गई, वे दोनो ही आर्य समाज के उच्चकोटि के विद्वान बने एक का नाम था राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री और दूसरे का नाम मुनीश्वर देव शास्त्री था। राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री अनेक राजकुमारो के गुरु बने और सार्वदेशिक सभा के प्रधान बने और मुनीश्वर देव शास्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब के उपदेशक विभाग के सर्वोच्च पद पर विराजमान हुए उन्होने अनेको बडे बडे यज्ञ कराए जिसमे उन्हे ब्रह्मा बनाया गया। आय समाज मे कोई नही जानता कि इन दोनो मे जन्मना कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र था? यह सुनकर गुरू जी ने कहा वण व्यवस्था तो जन्मना ही मानी गइ है इस पर अटलबिहारी वाजपेयी जी भारतीय जनता पार्टी के वरिष्ठ नेता हैं ने चुटकी लेते हुए कहा कि फिर तो गुरू जी बडी गड़बड़ी हो जाएगी। अटलबिहारी वाजपयी आज भी राजनतिक नेता हैं जो सज्जन इसका स्पष्टीकरण चाहे वे उनसे पूछ सकते हैं।

उसके पश्चात जनसघ का एक अधिवेशन बम्बई मे रखा गया जिसमे मुझे भी विशेष रूप स बुलाया गया था किन्तु मै किन्ही कारणो से बम्बई न पहुच सका।

आय समाज ने गुरुकुलो विद्यालयो मे अनेक अछूत विद्यार्थियो को पढा लिखाकर पुरोहित बनाया उनकी विद्वता का देश मे बडा सम्मान हुआ और बडे-बडे लोगो ने उनके चरण स्पश किये। किन्तु राजनीतिक खिलाडियो ने हरिजनो के लिए अलग सीटें आरक्षित करके इस खेल का बिगाड दिया। जिन शूद्रो को हमने ब्राह्मण बनाया था वह राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से पुन शूद्र बन गए और अपने को हरिजन कहने लगे।

आर्य समाज ने जन्मना ब्राह्मणवाद के साथ जो लडाई लडी थी उसमे उसको विजय प्राप्त हुई और छूतछात भेदभाव मिटाने के लिए आर्य समाज ने अनेक बलिदान भी किए। भगत फूलसिंह जी हरिजनो को हरियाणा मे कुओ पर पानी भरने का अधिकार दिलाने के लिए ६० दिन का अनशन किया और इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई तथा जन्मजात के ठेकेदारो को उनके आगे झुकना पडा और भगत फूलसिंह जी के दिल्ली आने पर उनका भव्य स्वागत किया गया। इसी प्रकार जम्मू में हरि-

(शेष पृष्ठ ६ पर)

आर्यसमाज हनुमान रोड का वार्षिकोत्सव

"आयसमाज हनुमान रोड" नई दिल्ली का वार्षिकोत्सव इस वष १ नवम्बर १९९३ से ७ नवम्बर, १९९३ तक बडे समारोह पूवक मनाया जा रहा है। १ नवम्बर से प्रात यजुर्वेद पारायण यज्ञ होगा जिसकी पूर्णाहुति रविवार ७ नवम्बर, १९९३ को होगी तथा रात्रि को ७ ३० से ९ ३० तक प्रवचन तथा मधुर भजन होगे। दिल्ली की समस्त आय समाजो, विशेष कर चादनी चौक एव दक्षिण दिल्ली क्षेत्र की आर्य समाजो स्त्री आय समाजो, गुरुकुल तथा अन्य शिक्षण सस्थाओ, प्रतिष्ठित आर्य बन्धुओ से मेरी प्रार्थना है कि वे उपरोक्त तिथियां अभी से अकित कर लें और इन दिनो अपने यहा अन्य कोई कायक्रम न रखें। इसके लिए मैं व्यक्तिगत रूप से आपका आभारी रहूंगा।

वेदव्रत शर्मा, मन्त्री

एक वर्षीय "नि:शुल्क धर्म शिक्षा" पाठ्यक्रम मे प्रवेश आरम्भ

डी०ए०वी० कालेज प्रबन्धकर्त्री समिति, नई दिल्ली के अन्तगत नैतिक शिक्षा सस्थान मे एक वर्षीय नि शुल्क धर्म शिक्षा पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण देता है। इसमे आवास व्यवस्था नि शुल्क और मासिक छात्रवृति भी दी जाती है। इस वष १० अगस्त से प्रशिक्षण का नव सत्र प्रारम्भ हो रहा है।

जो प्रत्याशी एम० ए० (सस्कृत) शास्त्री, आचाय एव वेदालकार परीक्षा उत्तीण, अग्रेजी का प्रारम्भिक ज्ञान, आय सिद्धातो से ओत-प्रोत, वेद प्रचार की लगन व निष्ठा और सगीत मे रूचि रखते हो तो प्रमाण पत्रो की फोटो स्टेट प्रतिलिपि के साथ साक्षात्कार हेतु अपने आवेदन पत्र के साथ प्रात ११ बजे ५ अगस्त को उक्त पते पर पहुच जाए।

एक वष के सफल प्रशिक्षण के उपरान्त डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल मे कुल मिलाकर २००० रु० प्रतिमाह पर नियुक्ति सुनिश्चित है।

कमवीर शास्त्री
प्राचाय

आर्यो की मोरिशस यात्रा

२६-१० ९३ से हवाई जहाज द्वारा दिल्ली मोरिशस यात्रा शुरु होगी। आने जाने का जहाज का किराया १६३०० रुपये प्रति सवारी है, रहने व भोजन का प्रबन्ध मोरिशस सभा द्वारा। ६००० रु० एडवांस, शेष राशि एक मास मे भेजे। सवारी अपना पासपोर्ट नाम, आयु पिता का नाम आदि विवरण भेजे। बाहर के व्यक्ति ड्राफ्ट सयोजक के नाम भेजे। बाहर से आने वाले २६ १०-९३ को आयसमाज अनारकली, मन्दिर मार्ग या आर्य समाज चूना मण्डी, पहाडगज पहुचे। भोजन सयोजक की ओर से होगा।

सम्पकसूत्र सयोजक

श्री श्याम दास सचदेव,	श्री मालवीय आर्य
मन्त्री, आर्य समाज, चूना मण्डी,	समाज मन्दिर अनारकली
पहाडगज, नई दिल्ली ५५	मन्दिर माग, नई दिल्ली-१
दूरभाष ७५४६१२८	दूरभाष ३४३७१८, ३१२११०

पता मकान न २६१३ भगतसिंह
गली न ६ चूना मण्डी,
पहाडगज, नई दिल्ली-५५
दूरभाष ७३८५०४४ (पी० पी०)

कार्यक्रम

२६-१०-९३ नई दिल्ली से बम्बई, २७-१० बम्बई से मोरिशस, २८-१० से २ ११-९३ तक मोरिशस भ्रमण, २-११-९३ से मोरिशस से बम्बई तथा ३-११-९३ बम्बई से नई दिल्ली।

वैदिक परम्परायें और श्रीराम

परमात्मा अपनी सत्ता से सभी स्थानो मे और तीनो कालो मे विद्यमान है जो कि अपनी शक्ति से अग्नि मे विद्यमान है, जल मे है, वायु मे है, सूय मे है, चन्द्रमा मे है। उस शक्तिशाली सवव्यापक को हमारा बारम्बार प्रणाम, हमारा बारम्बार प्रणाम है। वही रक्षक है, वही सहार करता है जब पृथ्वी पापो से बहुत भारी हो जाती है वह अमर है, नित्य है, सृष्टिकर्ता है।

श्रीराम दिव्यपुरुष थे महामानव थ। उनकी बातचीत म अपनत्व होता था, अपनी जनता की समस्याओ को धैर्य से सुनते थे। समाधान के लिये आपसी विचार विमश द्वारा सुलझते थे।

रामलक्ष्मण आदि चारो भाई नित्य प्रति सन्ध्या उपासना करते थे। जब श्रीराम अपनी माता कौशल्या को मिलने गये, आज्ञा लेने के लिये गये १४ वर्ष बनवास के लिये, उस समय कौशल्या हवन यज्ञ करने मे व्यस्त थी। अग्नि होत्र का पाठ कर रही थी और पूरे प्रसन्नचित अवस्था मे, अच्छे अच्छे वस्त्र धारण किये हुये। ब्राह्मणो ने श्री राम को बताया कि हम भी आपके पीछे दैनिक अग्नि होत्र की सामग्री ला रहे हैं। प्रसग देखिये श्रीराम खुद कितने भक्ति भाव और नित्य नियमी थे कि उन्होने श्री भरत से यह पूछा कि क्या जो आपने अयोध्या मे पुरोहित नियुक्त किया हुआ है जब चित्रकूट मे भरत जी राम को मिलने गये और प्रार्थना करने गये थे कि भईया, (भाई साहब) अयोध्या लौट चलो और राज सभालो परन्तु राम को तो धर्म कम की बात ही आती थी। क्या वह पुरोहित नित्य प्रति अग्नि होत्र करता है और दूसरो को भी क्या विधि पूर्वक यज्ञ करने की रीति बतलाता है। (१६) राजा जनक ने यह खुशी प्रकट करी राजा दशरथ को कि हमारा सम्बन्ध रघुवंशियो से हो रहा है इससे बढ़कर और क्या खुशी हो सकती है। श्रीराम का स्वभाव शास्त्र प्रिय था। किसी का उपकार करके उसे याद रखना उन्हे अच्छा नही लगता था। अस्त्र शस्त्र सीखने के बाद जो समय उन्हे मिलता था, वह मुनियो और पण्डितो के बीच बिताया करते थे। मधुरभाषी तो वह थे ही। जनता उन्हे प्राणो से भी अधिक प्यार करती थी। श्रीराम भी अपनी जनता के लिए प्यार बाटते थे। जनता के बारे मे ही सोचते थे। हालांकि ज्येष्ठ पुत्र के नाते श्रीराम ही राज सिंहासन के बैठने के हकदार थे परन्तु श्री राजा दशरथ अपनी मनमानी न करके अपने सारे मन्त्रियो, मुनियो, को सलाह के लिए सभा बुलाई और अपनी इच्छा व्यक्त की कि राम को राजसिंहासन सौपना चा ता हू आप लोग अपने-अपने सुझाव दीजिये कि मुझ क्या करना चाहिये। श्रीराम कभी भी किसी की निन्दा नही करते थे। घोषणा करवा दी कि कल स्वस्तिवाचन के मन्त्रो से श्रीराम का राज्याभिषेक करवाया जायेगा। श्रीराम ने भगवान से प्रार्थना की कि सब कुशलपूवक हो जाये। यह प्रार्थना श्रीराम ने एक रात पहले की थी।

श्रीराम जी के दोनो पुत्र लव और कुश विद्वान, धार्मिक प्रवृति के थे और साथ मे योद्धा। राम राज्य म सब कुशल थे धन धान्य, सम्पत्ति से सब सम्पन्न थे और खुशहाल थे। श्रीराम अपनी जनता की सेवा के लिए हमेशा उपलब्ध थे। सध्या, उपासना अग्निहोत्र सब करते थे यह श्रीराम अपने देव गुणो करके ही मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए। श्रीराम कहा करते थ कि जहा सामाजिक हितो की रक्षा का प्रश्न हो वहा व्यक्तिगत हितो की बलि देनी चाहिए। यही आय सस्कृति है। इसलिए तो प्रजा के हित के लिए ही काम किया। आदश और अनुकरणीय महापुरुष थे। वैदिक धम का ही पूणतया पालन करते थे। श्रीराम अदभुत व्यक्तित्व के धनी थे तपोनिष्ठ आदशवादी थे। ब्रह्मा ने सृष्टि इसलिए रची ताकि जीव कम कर सकें और ससार मे रक्षा करने का मौका मिले। साथ ही चारो वेदो के ज्ञान भी ४ ऋषियो को देकर भेजा ताकि ससार मे ज्ञान फैले और सब व्यवस्थित ठीक ढग से ससार चलता रहे।

आपने सुना-देखा, पढा होगा कि श्रीराम कैसे हमेशा प्रसन्न रहते थे, और हर हालात मे वह प्रसन्न रहते कभी भी क्रोध नही किया चाहे कोई कितना ही उन्हे कुछ कहे, चाहे कैसी ही विपदा आई हो, वह कभी भी विचलित नही हुये। हमेशा शान्त-भाव से रहते थे। कम बोलते थे। ज्यादा अपनी डींग नहीं मारते थे। ज्यादा वाद विवाद मे नहीं पड़ते थ वह एकदम आज्ञाकारी थे। पिता की आज्ञा को सिर माथे पर रखा, माता की आज्ञा मानी उनको लोगो से अगाध प्रेम था।—नारायण नागपाल

आदर्श त्रैतवाद (३४)

राजसिंह भल्ला

दर्शन का ढंग

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राण पचेधा सविवेश ।
प्राणैश्चित्त सर्वमोत प्रजाना यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ।।
मुण्डको० ३-१-९

उस सूक्ष्म आत्मा को ज्ञानचक्षु से देख सकते हैं। जिस शरीर मे पाच प्राण ठीक प्रकार प्रविष्ट हो रहे हैं। प्राणो से सम्पूर्ण इन्द्रियां और चारो प्रकार के भीतरी यत्र अर्थात् अन्त करण इस प्रकार पिरोये हुए हैं जैसे माला के मनको मे धागा पिरोया होता है। जिस शरीर मे चित्त अथवा अन्त करण सम्पूर्ण दोषो से शुद्ध हो जाते हैं अर्थात् मन के मल, विक्षेप आवरण दोष दूर हो जाते हैं। मन शुद्ध हो जाता है। अहकार की भावना समाप्त हो जाती है। अज्ञान के कारण स्वरूप की विस्मृति तथा अन्य पदार्थों को यथार्थ न जानना किन्तु अन्यथा जानना आदि दोष जब दूर हो जाते है तब वह परमात्मा चित्त मे अपना प्रकाश करते हैं। जब तक अन्त करण पवित्र नहीं होता तब तक परपमात्मा के दर्शन नही होते किन्तु जब चित्त शुद्ध और प्रकाशित होता है तब ही उसमे परमात्मा के दर्शन होते हैं।

उसे देखने का ढंग

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभि ।। कठो० १-३ १२

वह परमात्मा सर्व व्यापक है। सबमे व्याप्त होकर उनका नियमो मे चला रहा है। वह किसी स्थान पर स्थिर नही है। उसे ढूढने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नही। मानव की बुद्धि एक ओर ही काम कर सकती है। मानव अल्पज्ञ है। जब मानव की बुद्धि बाहर के विषयो मे लगी हुई है फिर वह अन्दर के सूक्ष्म पदार्थ को कैसे देख सकती है। जो लोग कहते हैं कि हम परमात्मा को देख नही सकते इसलिए परमात्मा है ही नही। भाई परमात्मा तो है और वह देखा भी जा सकता है परन्तु सूक्ष्म बुद्धि से मेधा बुद्धि से। जैसे जल मे सूक्ष्म कीटाणु केवल दुर्बीन से ही देखे जा सकते हैं इसी प्रकार परमात्मा भी सूक्ष्म बुद्धि से देखा जा सकता है। जिन मनुष्यो की बुद्धि पर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहकार का पर्दा पडा हुआ है। वह उनको नहीं देख सकते नही जान सकते। जो लोग परमात्मा की सत्ता से इन्कार करते हैं वह तो कोरे अन्धे हैं। उनकी आख पर अज्ञानता का पर्दा पडा हुआ है। जो लोग परमात्मा को किसी एक स्थान पर बैठा हुआ समझ कर उसके दर्शनो को जाते है। उसकी खोज मे जाते हैं। वह भी परमात्मा की सत्ता से अनभिज्ञ हैं। परमात्मा तो सर्व व्यापक है उसको देखने के लिए मेधा बुद्धि की आवश्यकता अन्यथा नहीं।

चिन्तन का ढंग

यच्छेद्वाड्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छान्त आत्मनि ।। कठो० १-३ १३

उस परम पुरुष की ध्यान की विधि बताते हुए ऋषि कहते हैं कि साधक मन वाणी को भगवान के नाम मे रोके फिर उस मन वाणी को अपनी बुद्धि मे रोके। अपनी बुद्धि को महान आत्मा मे स्थिर करे और उस महान आत्मा को शान्त परमात्मा मे जोडे। परम पुरुष को अपने समीप चिन्तन करे। कर्मेन्द्रियो को विषयो की ओर से रोक कर ज्ञानेन्द्रियो के आधीन करे अर्थात् ज्ञान के विरुद्ध कभी कोई कार्य न करे। पहले देखे तब आगे चले। पहले जाने फिर करे। ज्ञानेन्द्रियो को अहकार के भीतर रोके अर्थात् जहा तक अपना अधिकार हो वही तक लेने का विचार करे। अहकार को मन के अनुकूल कार्य करने पर तैयार करे। मन को शान्तस्वरूप परमात्मा की आज्ञा के विपरीत कभी कोई कार्य न करने दे। जो व्यक्ति इस नियम का पालन करता है वह अपने लक्षित मार्ग पर—स्थान पर पहुच सकता है। जो इसके विपरीत कार्य करता है वह अपने जीवन को व्यर्थ मे नष्ट करता है। कर्म सदा ज्ञान के अनुकूल हो और अधिकार सदा आत्मा की आवाज के प्रतिकूल न हो अथवा मन के विपरीत न हो और मन सदा परमात्मा के नियम मे चलने वाला हो। यही परमात्मा तक पहुचने का ढंग है।

ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति का ढंग

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभि ।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि । एतद्वैतत् ।।
कठो० १-४-८

जो परमेश्वर जगत् मे ऐसे गुप्त है जैसे दो अरणियो मे आग गुप्त होती है और गर्भणियो से भलि-भाति धारण किया हुआ गर्भ जैसे गुप्त होता है। अरणियो के रगडने से ही आग दिखाई देती है पहले नही ऐसे ही गर्भिणी का बालक भी गुप्त होता है और उत्पन्न होने पर ही दिखाई देता है। इसी प्रकार जो सतोगुणी मनुष्य जिनकी बुद्धि सूक्ष्म और शुद्ध है जिनके कर्म उन्नति की ओर ले जाते हैं उनके नित्य प्रति परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने से उनको ब्रह्म ज्ञान हो जाया करता है।

जानने का ढंग

न सदृशे तिष्ठति रुपमस्य न चक्षुसा पश्यति कश्चनैनम् ।
मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। कठो० १ ६ ९

किसी मनुष्य के नेत्रो के सामने उस परमात्मा का कोई रूप रग दिखाई नही पड़ता इसलिए नेत्रो से कोई व्यक्ति उस परमात्मा को देख नही सकता। क्योकि नेत्र तो उस वस्तु को देख सकते है जिसका कोई रूप हो। किसी रूप से रहित वस्तु को नहीं देख सकते। वह महान् आत्मा हृदय से, बुद्धि से तथा मन से विचारा जाता है, उसका ध्यान, चिन्तन किया जाता है यही उसके जानने का ढग है। जो उसको जान जाते हैं वह मुक्त हो जाते है।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (९)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

शुद्ध करो इसके करुणाकर। हितकर कर्म करे निशि-वासर ।।
सत्य धर्म पर करे विचार ।। ६ ।।
झूठ-त्याग सकल्प बनाकर। वेदो मे विश्वास जगाकर ।।
सत्य अर्थ का करे प्रचार ।। ७ ।।
शुभ सकल्प करे ये हरदम। सयम-नियम- पठन निगमागम ।।
लक्ष्य एक हो पर-उपकार ।। ८ ।।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे ।
छन्दासि जज्ञिरे तस्माद्य जुस्तस्मादजायत ।।
यजु० अ० ३१ । म० ७ ।।

काव्यार्थ—'सत्य है अस्तित्व उसका, क्षय कभी होता नही ।
'चित' सदा चैतन्य, अक्षय ज्ञान का सोता वही ।।
अज्ञानता के बन्धनो से, मुक्त वह निस्पृह अमर,
'आनन्द' है सुखरूप, सबको सुख सदा देता वही ।।१।।
'सत्त चित् आनन्द' है, सर्वत्र ही परिव्याप्त है।
सब जनो का पूज्य उसको, शक्तिया सब प्राप्त हैं।।
ऋग्वेद-यजु-सामादि चारो, उस मखिलेश से,
आचार की शुचि सहिता के, रूप मे अभिजात हैं ।।२।।
इसलिए सब मनुज करलो, वेद पथ का अनुगमन ।
सकल सच्चे ज्ञान के भण्डार हैं ये श्रुति वचन ।।
यह सुनिश्चित ईश, से उद्भूत चारो वेद हैं,
मानवो की शक्त क्षमता से परे इनका रचन ।।३ ।।

क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (३)

नेतराम शर्मा, प्रधान—भारतीय योग संस्थान पूर्वी जिला दिल्ली-११००५१

ब्रोंकाइटिस :—

(१) रात को दस बादाम गिरि, दस मुनक्के भिगोये, अदरक की छोटी गांठ कुतर लें। इन तीनो को पीसकर दो चम्मच शहद मिलाकर चाटा जाये, दिन मे दो बार। कुछ दिन मे ही रोग से छुटकारा।

(२) गाजर, पालक, पात गोभी के ७५ ग्राम रसो मे १०० ग्राम शहद मिलाकर पीने से शर्तिया इलाज। समय १५ दिन।

दमा से श्वास फूलना —

सोमलता का चूर्ण जाडो मे एक ग्राम से तीन ग्राम तक गर्म पानी के साथ सुबह शाम लेना।

बच्चो के लिए :—

मामूली खासी, जुकाम, बुखार हो तो जैतून का तेल छाती पर दस मिनट मलने से सभी रोग दूर। काली खासी या निमोनिया हो तो तारपीन के तेल की पसलियो पर मालिस। प्रतिदिन स्नान से आधा घण्टा पूर्व सरसो के तेल की मालिस कर स्नान कराना चाहिए।

जुकाम खासी —

५ तुलसी के पत्ते ५ काली मिर्च और ५ ग्राम अदरक को एक गिलास पानी मे उबाले। एक चौथाई रह जाये छानकर मिश्री मिलाकर पीना। दिन मे तीन बार खाली पेट। यदि कफ न निकले तो थोडा-सा काला नमक मिलाइये।

सर्वाईकल स्पोंडिलाइटिस :—

शुद्ध कुचला एक या दो रत्ती गर्म दूध के साथ भोजन के पश्चात, सुबह शाम। गर्म नमक की पोटली से सिकाई।

आखो मे लाली तथा आख दर्द :—

गुलाब जल की छोटी शीशी मे मटर के बराबर फिटकिरी डाल लोशन बनाकर फ्रीज मे रखना और आखो मे ड्रोपर से डालना।

मोतियाबिन्द (प्रारम्भिक अवस्था मे —

(१) आवला रस एक चम्मच, शहद मिलाकर रोज पीये।

(२) दस ग्राम प्याज रस, दस ग्राम शहद, दो ग्राम भीमसैनी कपूर मिला शीशी मे रख सलाई से सोते समय लगाना।

बच्चो के चश्मे उतारना —

बादाम गिरी, मोटी सौंफ और मिश्री बराबर-बराबर लेकर मात्रा १० ग्राम दूध के साथ लेने से ३ माह मे चश्मा उतर जाता है।

आखो की रोशनी बढाना :—

गाजर रस पीना, गाजर रस मे शहद मिलाकर पीना, शहद को सलाई से आखो मे लगाना।

(२) गाजर खीर का प्रयोग करना अर्थात साथ गाजर कद्दूकस से कसकर दूध मे उबाल शक्कर डाल ओस में आलीदार ढक्कन से ढककर रखना और रोज सुबह नाश्ते मे खाना। समय तीन माह।

दात दर्द :—

बड का दूध लगाने से दर्द दूर, लौंग का तेल दर्द वाले हिस्से मे लगाने से भी दर्द दूर आक की टहनी जला दात के बीच रखने से भी दर्द दूर।

दात मजन :—

आम के पत्ते छाया मे सुखा कर जलाकर बारीक पीसकर रोज मलने से खून बन्द कर दातो को सफेद करता है।

गर्भाशय की सफाई :—

जगली चौलाई की जड का काढा विशेष रूप से उपयोग करना। किन्तु इसका उपयोग तभी करें जब गर्भपात या प्रसव हो चुका हो।

चोट और मोच—

सूजन आ गई हो, नस पर नस चढ़ गई हो, शिराओ मे टूट-फूट हो गई तो तुरत मैथी के पत्तो को तेल मे भूनिये और दर्द वाले हिस्से पर फैलाकर पुल्टस की तरह बाध दीजिए। पलो मे चैन।

खूनी दस्त —(१) जामुन की गुठली १० ग्राम चूर्ण सुबह शाम मट्ठा साथ।

(२) आम की गुठली १० ग्राम चूर्ण सुबह-शाम मट्ठा के साथ।

(खुराक खिचडी दो भाग मूग दाल, १ भाग चावल)

मासिक रूकावट —

१ जामुन की हरी ताजा छाल १०० ग्राम पानी मे पीस कर छानकर सुबह शाम पीने से माहवारी का खून ज्यादा आने को ठीक करता है। पीने मे कठिनाई हो तो मिश्री मिलाकर पी सकती हो।

२ मेथी, सोया, गाजर, मूली के बराबर-बराबर बीज लेकर पानी मे पीस ५ ५ ग्राम मिश्री मिलाकर १० ग्राम पानी के साथ।

क्रमश

दयानन्द सरस्वती : कुछ प्रेरक घटनाएं

—सत्यवीर सिंह

एक थप्पड मे वेदान्त ज्वर भागा

खन्दोई ग्राम का निवासी छत्रसिंह जो प्रतिदिन स्वामी दयानन्द जी के सत्सग मे आता था। एक दिन स्वामी के पास आकर नमस्कारादि करके वेदात विषय पर वार्तालाप करने लगा। छत्रसिंह ने कहा "आप चाहे जो कहें, परन्तु यह दृश्यमान जगत आकाश पुष्प के सामने मिथ्या है, स्वपन की तरह भ्रम मात्र है, वास्तव में यह है ही नही।" सारे ससार मे केवल ब्रह्म ही है उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।"

स्वामी जी ने आगे बढ़कर छत्रसिंह को एक हल्का सा तमाचा मुख पर लगा दिया। चपत खाते ही वह चौक उठा और कहने लगा 'महाराज विचार न मिलने पर आप जैसे ज्ञानीजन को आवेश मे आकर थप्पड मारना शोभा नही देता।" स्वामी जी ने मन्द मुस्कान सहित कहा "आपके निश्चयानुसार ब्रह्म ही एक वस्तु है, दूसरा कोई भी नही, और जो कुछ दिखाई पडता है वह भी सब मिथ्या है, तो वह आपसे भिन्न दूसरा कौन है जिसने आपके थप्पड लगाया है ? आपको मिथ्या का ज्ञान कैसे हुआ ?"

छत्रसिंह ने यह सुनकर स्वामी जी के चरण पकड लिए और कहा "महाराज! आपने मेरी आखें खोल दी, वास्तव मे हम लोग अनुभव शून्य हैं। केवल थोडाए मनुष्य की तरह वेदान्तवाद की बड-बड करने लग जाते हैं।

वर्ण व्यवस्था और आर्य समाज

(पृष्ठ २ का शेष)

जनो की सार्वजनिक कुओ पर चढने के लिए रोका जाता था उस समय वीर रामचन्द्र जी ने वहा पर सत्याग्रह किया, इस पर जन्मजात के ठेकेदार ब्राह्मणो और राजपूतो ने उनकी हत्या कर दी और वे शहीद हो गये इसी प्रकार की अनेको घटनायें रोपड और गुरुदासपुर मे हुई जिनमे आर्य समाज के सेवको ने अपनी जान की बाजी लगाकर इन पिछडे लोगो को हिन्दू समाज का अभिन्न अग बनाने के लिए बलिदान दिये। यह कहानी बडी लम्बी है जिसका पूर्ण ब्यौरा यहा पर नही दिया जा सकता है।

यहा पर यह बताना भी आवश्यक है कि श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने वोटो के लालच मे लालकिले की प्राचीर से १५ अगस्त के भाषण मे मण्डल कमीशन की रिपोट को स्वीकार करके हिन्दू समाज को दो हिस्सो मे बाटने का प्रयत्न किया।

आय समाज ने जो काम अनेक बलिदान देकर किये थे और उसके विद्वानो ने गुण, कम और स्वभाव के आधार पर वर्ण व्यवस्था पर अनेक शास्त्रार्थ करके धर्म शास्त्रो के आधार पर हिन्दू जाति को एकीकरण करने का जो महान काय किया था उसको वोटो के लोभी राजनीतिज्ञो ने धराशाही कर दिया। यही कारण था कि बाबू जगजीवन राम ने भी गाधी मैदान मे कहा था कि मुझे चाहे गृह मन्त्री बनाओ,

आर्य समाज ने जन्मना ब्राह्मणवाद के साथ जो लडाई लडी थी उसमे उसको विजय प्राप्त हुई और छूत-छात, भेदभाव मिटाने के लिए आर्य समाज ने जो काम अनेक बलिदान देकर किए थे और उनके विद्वानो ने गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर वर्ण व्यवस्था पर अनेक शास्त्रार्थ करके धर्म शास्त्रो के आधार पर हिन्दू जाति का एकीकरण करने का जो महान कार्य किया था उनको वोटों के लोभी राजनीतिज्ञो ने धराशाही कर दिया।

चाहे खाद्य मन्त्री, कृषि मन्त्री बनाओ किन्तु जगजीवन राम तो चमार ही रहेगा। उस समय मैंने जवाब दिया था कि जगजीवन राम यदि आज भी चमार है तो उनके हाथ मे झाडू होना चाहिए। आगे हमने कहा बाबू जगजीवन राम जी को हम सब उच्च कोटि का विद्वान, विधिवेत्ता और योग्य प्रशासक मानते हैं इसी आधार पर उन्हे रक्षा मन्त्री, कृषि मन्त्री और अनेक मन्त्रालय सौंपे गये हैं। जगजीवन राम जी के दिमाग मे भी शायद हरिजनो के वोटो की लालसा थी इसीलिए उन्होने ऐसी बात कही।

श्री लालू प्रसाद यादव ने हरिजनो को जो पुजारी बनाने का निणय किया है आय समाज उसका स्वागत करता है। किन्तु इसका लाभ सबसे पहल भारतीय जनता पार्टी को हुआ। सबसे पहले पटना रेलवे स्टेशन पर जो भव्य हनुमान मन्दिर है वहा पर भाजपा वालो ने हरिजन पुजारी रखने की घोषणा की और इससे पूर्व जब अयोध्या मे राम मन्दिर का शिलान्यास किया गया तो लालकृष्ण आडवाणी और अटल बिहारी वाजपयी ने हरिजन व्यक्ति के हाथ से प्रथम ईट रखाकर कुछ सीमा तक आर्य समाज के सिद्धान्तो का समथन किया है।

हमारा निवेदन है कि हिन्दू जाति मे वण व्यवस्था के नाम पर जो ऊच-नीच, भेदभाव और छुआछूत फैलाई गई है यहा तक दक्षिण भारत मे अब तक शकराचार्य और साधु-सन्त, महात्मा हरिजनो की छाया से डरते हैं जब वे गरीब उनके पैर छूने आते हैं तो वे पीछे हटते हैं यह सब समाप्त होना चाहिए।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक सिद्धान्त के अनुरूप वर्ण व्यवस्था का जो सन्देश हिन्दू जाति को दिया है वही समस्त हिन्दू जाति को स्वीकार करना चाहिए।

—स्वामी आनन्दबोध सरस्वती
प्रधान
सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
नई दिल्ली—११०००२

जूनियर हाईस्कूल का वार्षिकोत्सव सम्पन्न

नई दिल्ली, जूनियर हाई स्कूल अमरोहा का वार्षिकोत्सव १८ मई को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के उपमन्त्री डा० धमपाल की अध्यक्षता मे समारोह पूवक सम्पन्न हुआ। कायक्रम के विशिष्ठ अतिथि थे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव एव मुख्य अतिथि पुलिस अधीक्षक श्री कुमार।

श्री सूयदेव न युगपुरुष महाराणा प्रताप की राष्ट्रीय सेवाओ का उल्लेख करते हुये उन्हें राष्ट्र की आन-बान-शान का प्रतीक बताया। उन्होने आगे कहा कि आय समाज ही ऐसी राष्ट्रीय सस्था है जिसका प्रत्येक सदस्य राष्ट्र की उन्नति एव एकता व अखण्डता को सुदृढ करन को प्रयासशील रहता है।

समारोह मे समाज के प्रधान श्री वीरेन्द्र कुमार ने सवश्री सूयदेव, डा० धमपाल एव श्री कुमार का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया एव उन्हे स्मृति चिह्न भेट कर सम्मानित किया।

डा० धमपाल ने अध्यक्षीय भाषण मे आय समाज द्वारा शिक्षा के क्षेत्र मे किये गये अद्वितीय कार्यो का जिक्र किया तथा स्कूल की मुख्याध्यापिका एव अध्यापिकाओ द्वारा तैयार कराये गये बच्चो के मनोहर सास्कृतिक कायक्रम की भूरि-भूरि प्रशसा की। कायक्रम का मूल स्वर था राष्ट्र-भक्ति एव वैदिक धर्म।

श्री हरीश चन्द्र ने समारोह मे उपस्थित प्रतिष्ठित महानुभावो, विभिन्न सस्थाओ के अधिकारियो एव श्रोताओ का आभार व्यक्त किया।

वेद प्रचार

आर्य वानप्रस्थ आश्रम गुरुकुल तपोभूमि, गुरकुल रोड, बठिडा (पजाब) के श्री ओम प्रकाश वानप्रस्थी ने अप्रैल, ९३ मे यज्ञ, सस्कार, प्रवचन आदि के द्वारा अनेक स्थानो पर वेद प्रचार किया।

चुनाव समाचार

आर्यसमाज, राजौरी गार्डन

प्रधान श्री जगदीश आर्य, उपप्रधान श्री सत्यपाल घई श्री नन्दकिशोर भाटिया श्री सदानन्द मदान, श्री शान्ति स्वरूप सेठी, मन्त्री डा० अशोक नागिया, उपमन्त्री-श्री तिलक राज पुरी, कोषाध्यक्ष-श्री ओ० पी० भाटिया।

स्त्री आर्य समाज राजौरी गार्डन—प्रधाना-श्रीमती राज पाण्डे, मन्त्रिणी शशि आर्या, कोषाध्यक्ष कुशल भाटिया।

—महर्षि दयानन्द पब्लिक स्कूल, आर्य समाज राजौरी गार्डन, नई दिल्ली

१ प्रधान व चेयरमैन श्री जगदीश कुमार आर्य २ प्रबन्धक, मैनेजर, श्री सत्यपाल घई, ३ सैक्रेटरी श्री नन्दकिशोर भाटिया ४ कोषाध्यक्ष श्री कर्मवीर भन्डारी,

—आर्य समाज बाजार सीताराम-श्री राम किशन अग्रवाल-प्रधान, श्री गोपीनाथ गोटे वाले-उपप्रधान, श्री सुरजन सिंह आर्य-उपप्रधान, श्री म्यादर मल गुप्ता-उपप्रधान, श्री बाबूराम आर्य-मन्त्री, श्री फकीर चन्द गोयल-उपमन्त्री, श्री रतन लाल गुप्ता उपमन्त्री, श्री राकेश शर्मा-उपमन्त्री, श्री अरुणा गुप्ता-कोषाध्यक्ष श्री ज्ञानचन्द प्रजापति-पुस्तकाध्यक्ष

—आर्यसमाज, नांगल राया, नई दिल्ली, प्रधान-डा० जयदेव वर्मा, उपप्रधान-श्री जगमाल सिंह यादव, मन्त्री-श्री भगवान दास, उपमन्त्री श्री रोहताश तवर, कोषाध्यक्ष श्री देवदत्त शर्मा, पुस्तकाध्यक्ष-श्री राम दास आर्य।

—आर्य समाज धार, म०प्र०, प० बालकृष्ण चतुर्वेदी-प्रधान, गजानन्द शर्मा-उपप्रधान भगवन्तराय तिवारी-मन्त्री, सुनील खुराना-कोषाध्यक्ष, लोकेश जोशी-उपमन्त्री।

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
No 32387 77 Posted at N D P S O on 15 16 7 1993 Licence to post without prepayment Licence No U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० एल ११०२४ ९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू सी०) १३९ ९३
आर्यसन्देश साप्ताहिक १८ जुलाई १९९३

महाराणा प्रताप जयन्ती समारोह

मेरठ मे ३१ अक्तूबर को होगा

मेरठ २ जून। युग पुरुष महाराणा प्रताप की जयन्ती का दूसरा समारोह मेरठ के जिमखाना मैदान मे ३१ अक्तूबर १९९३ को होगा। यह निर्णय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता मे विगत मास आर्य समाज सदर बाजार मेरठ मे सम्पन्न हुई बैठक मे लिया गया। इसमे पश्चिमी उत्तर प्रदेश की अनेक आर्य समाजो जिला उप प्रतिनिधि सभाओ उ० प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान एव अन्य पदाधिकारियो व कार्यकर्ताओ ने भाग लिया।

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा कि शौर्य के प्रतीक महाराणा प्रताप के जीवन से प्रेरणा लेने एव जन जन मे जागृति उत्पन्न करने के लिए सार्वदेशिक सभा ने जयन्ती समारोह का यह लक्ष्यबद्ध कार्यक्रम बनाया है। ऐसा समाज व राष्ट्र की वर्तमान परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर किया गया है।

इस कार्यक्रम की तैयारी के लिए प० इन्द्रराज जी के संयोजकत्व मे एक सशक्त स्वागत समिति का गठन किया गया है जिसके अध्यक्ष प्रि० माधवसिंह चुने गये है

चुनाव समाचार

स्वमन्त्र चरण आर्यसमाज अपर लगाजोगी ……—प्रधान श्री ज……, कार्यकारी प्रधान—श्री मदनलाल ……, कोषाध्यक्ष श्री केवल कृष्ण कोहली

आर्यसमाज मन्दिर (गणेश बाग) जी० टी० रोड फिरोजपुर छावनी—प्रधान श्री द्वारका नाथ वर्मा उपप्रधान श्री किशोरचन्द छाबड़ा उपप्रधान व कोषाध्यक्ष श्री राजेन्द्र गुप्ता महामन्त्री श्री मनोज आर्य मन्त्री श्री देवराज दत्त मन्त्री एव निरीक्षक श्री जिनेन्द्र ठाकुर।

आर्यसमाज लश्कर ग्वालियर—प्रधान श्री डा० आनन्द मोहन सक्सैना वरिष्ठ उपप्रधान श्री भारत भूषण त्यागी उप प्रधान श्री प्रेम नारायण शर्मा मन्त्री श्री मदन मुरारी सक्सेना उपमन्त्री सर्वश्री शुकदेव सिंह तोमर प्रमोद कुमार त्यागी। कोषाध्यक्ष श्री अभिमन्यु कुमार खल्हर।

आर्य समाज ग्रेटर कैलाश पार्ट II नई दिल्ली का निर्वाचन दि० २ ५ ९३ को सर्वसम्मति से धर्माचार्य श्री राजेन्द्र कुमार शर्मा के निर्देशन मे निम्न प्रकार सम्पन्न हुआ— प्रधान श्री रघुनन्दन गुप्त मन्त्री श्री यशपाल मिगलानी कोषाध्यक्ष श्री तेज कुमार टण्डन।

सार्वदेशिक सभा की ओर से इसके लिए दस हजार रु की सहायता राशि की घोषणा की गई है। दिल्ली पंजाब हरियाणा उत्तर प्रदेश राजस्थान आदि की आर्य समाजे इस समारोह मे भाग लेगी।

सेवा में—

श्री पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस पटौदी हाऊस दरियागंज नई दिल्ली ११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड नई दिल्ली ११०००१ फोन – ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अक ४० रविवार, २५ जुलाई १९९३ विक्रमी सम्वत २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

८८ करोड़ में दो लाख की मातृभाषा अंग्रेजी

नई दिल्ली, १५ जुलाई। लक्षद्वीप मे ८४ प्रतिशत से ज्यादा लोगो की मातृभाषा मलयालीय है। महज तीन लोगो का दावा है कि उनकी मातृभाषा अग्रेजी है। लेकिन इन तीन लोगो की मातभाषा यानी अग्रेजी ही लक्षद्वीप की राजभाषा है।

लक्षद्वीप अपवाद नही है। अडमान निकाबार म १९, मिजोरम मे मे २६, दमण-दीव मे ३०, अरुणाचल प्रदेश मे ५० सिक्किम मे ५४, दादर-नागर हवेली मे ६५, मणिपुर मे ३७, मेघालय मे ७५९ और चण्डीगढ मे ६४१ लोगो का कहना है कि उनकी मातृभाषा अग्रेजी है और इन चन्द लोगो की मातृभाषा ही इन राज्यो सघ शासित प्रदेशो की राजभाषा है इसी तरह देश के १३ राज्यो और सघ शासित प्रदेशो की राजभाषा अग्रेजी बनी हुई है।

दमण दीव, लक्षद्वीप, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम दादर-नागर हवेली आबादी की दृष्टि से भले ही देश की छोटी राजनीतिक इकाइयो हो, लेकिन इनमे भी अग्रेजी की मातृभाषा मानने वाले लोगो की सख्या का प्रतिशत दशमलव के बाद एक शून्य लगाने के बाद ही लिखा जा सकता है। अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, लक्षद्वीप मे तो मात्र ०१ प्रतिशत लोगो की मातृभाषा अग्रेजी है फिर भी इनकी राजभाषा अग्रेजी है।

ये तथ्य देश के भाषाई अल्पसख्यक आयुक्त ने अपनी तीसवी तथा ताजी रिपोट मे दिये हैं।

असम की राजभाषा असमिया के साथ अग्रेजी भी है, हालाकि यहा अग्रेजी को अपनी मातृभाषा मानने वाले अगर हैं भी तो इतने कम हैं कि आयुक्त ने अपनी रिपोट मे इनकी सख्या अलग से बताना तक उचित नही समझा है। रिपोट मे असम मे बोली जाने वाली ४३ भाषाओ और बोलियो का जिक्र है मगर अग्रेजी का फिर भी नही है। इसमे ३२ लोगो की मातृभाषा कश्मीरी का जिक्र है, मगर अग्रेजी का नहीं है, जो कि असम की राजभाषा है। असम मे अग्रेजी की यह स्थिति होने के बावजूद इस राज्य मे ६० फीसदी लोगो की भाषा असमिया और ३२ से भी कम लोगो की मातृभाषा अग्रेजी, दोनो को ही राजभाषा का दर्जा हासिल है।

पूरे भारत मे एक भी राज्य या सघशासित प्रदेश ऐसा नही है जहा अग्रेजी को मातृभाषा मानने वालो की सख्या दशमलव की सीमा रेखा को भी पार कर पाती हो। ८८ करोड की आबादी वाले इस देश मे महज दो लाख लोगो का दावा है कि उनकी मातृभाषा अग्रेजी है। दिलचस्प बात यह है कि यह आकडा इतना भी इसलिए पहुच गया है कि अग्रेजी को राजभाषा न मानने वाले महाराष्ट्र मे १,२६,२२५ लोगो का दावा है कि उनकी मातृभाषा अग्रेजी है। इसके बाद तमिल नाडु (२७,३८२) कर्नाटक (१८,१८१), आध्र (११ ०६६) और पश्चिम बगाल (७,७१८) जैसे राज्य आते हैं इनमे से किसी भी राज्य की राजभाषा कम से कम अधिकारिक रूप से अग्रजी नहीं है।

लक्षद्वीप को छोडकर भारत के किसी भी हिस्से मे हिन्दी को मातृभाषा मानने वाले लोग १३०० करोड़ के बीच हैं। फिर भी अग्रेजी की तरह बेहद कम लोगो की मातृभाषा होकर भी राजभाषा बनने का सुख हिन्दी तथा उर्दू को सिर्फ एक-एक राज्य मे मिला है, हिन्दी बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली के अलावा नगालड की भी राजभाषा है। लेकिन नगालेंड की समस्या यह है कि वहा की प्रमुख भाषा आओ को अपनी मातृभाषा बताने वाले लोग भी महज १३ ८४ प्रतिशत हैं। वहा किसी एक भाषा को बहुसख्यक लोगो की भाषा होने का सौभाग्य प्राप्त नही है। यह बात इस तथ्य से भी उजागर होती है कि आओ के बाद दूसरी बडी भाषाए बाग्ला तथा हिदी है, जो महज क्रमश ३ ५८ तथा ३ २४ प्रतिशत लोगो की मातभाषा है। इसलिए बहुभाषी नगालैंड ने हिन्दी को राजभाषा स्वीकार कर लिया। लेकिन वहा भी हिन्दी सिफ कागजो पर राजभाषा है। वहा भी त्रिभाषा फार्मूले के अतगत शिक्षा मे अग्रेजी को प्रथम भाषा का दर्जा प्राप्त है। हिन्दी को तृतीय भाषा का दर्जा मिला हुआ है। यानी व्यावहारिक नगालेंड की राजभाषा भी अग्रेजी ही है।

इसी तरह जम्मू-कश्मीर मे ५३ ७३ प्रतिशत लोगो की मातृभाषा कश्मीरी है, मगर वहा १२ प्रतिशत लोगो की मातृभाषा उर्दू को राजभाषा का दर्जा प्राप्त है। जम्मू कश्मीर मे उर्दू की अपेक्षा तो डोगरी (२८ ४६ प्रतिशत), हिन्दी (१७ ०३ प्रतिशत), पजाबी (२ ७४ प्रतिशत) तथा लद्दाखी (१ १२१ प्रतिशत) भाषा बोलने वाले लोग ज्यादा हैं।

भाषाई अल्पसख्यको के बारे मे यह रिपोर्ट बताती है कि कोई भी राज्य ऐसा नही है, जहा सिर्फ एक ही भाषा बोली जाती है। केरल मे भी कम से कम ८ ०२ प्रतिशत लोग तो ऐसे हैं ही, जो कि मलयालम के अलावा अन्य भाषाए बोलते हैं। अगर बोलचाल के स्तर पर हिन्दी और उर्दू को एक माने तो उत्तर प्रदेश मे ७ -४२ प्रतिशत लोग एक भाषा बोलते है। (वैसे आकडो के हिसाब से उत्तर प्रदेश मे हिन्दी भाषी ८७ ६८ प्रतिशत तथा ९ ७४ प्रतिशत उर्दू भाषी हैं।) हालाकि उत्तर प्रदेश मे भी भारत की सभी १५ सविधान स्वीकृत भाषाओ को बोलने वाले लोग है।

सविधान स्वीकृत भाषाओ मे सस्कृत भी एक है। दिलचस्प बात यह है कि इस प्राचीन भाषा को अपनी मातृभाषा मानने वाले लोग १६ राज्यो तथा सघशासित प्रदेशो मे हैं हालाकि फिर भी इनकी सख्या कुल २९४६ है। इनमे सबसे ज्यादा (११७४) सस्कृत भाषा लोग बिहार मे हैं। इसके बाद कर्नाटक (५०९), तमिलनाडु (२४४), हरियाणा (१४८), उत्तर प्रदेश (१०७), दिल्ली (९३) राजस्थान (८५), हिमाचल प्रदेश (८१), मध्य प्रदेश (७०), पजाब (६१), पश्चिम बगाल (२२), केरल (२०), गुजरात (१६), जम्मू-कश्मीर (पाच) तथा गोवा (तीन) का नम्बर आता है।

रिपोट के मुताबिक भारत मे सविधान स्वीकृत १५ भाषाओ के अलावा ८० ऐसी भाषाए हैं जिन्हे दस हजार से ज्यादा लोग बोलते हैं। १० हजार से कम मगर आबादी का ० ०६ प्रतिशत लोग जिन भाषाओ, बोलियो को बोलते हैं, उनकी सख्या अनगिनत है। (साभार नवभारत टाइम्स)

ब्रह्मचर्य शिक्षण शिविर सम्पन्न

आर्य वेद प्रचार मण्डल सोनीपत के तत्वावधान मे "आर्य वीर ब्रह्मचर्य शिक्षण शिविर' गुरुकुल यज्ञ तीर्थ गटा के आचार्य श्री विश्वदेव जी की अध्यक्षता तथा चौ० सूरजमल जी आर्य की प्रधानता मे जनता हाई स्कूल गन्नौर के शान्ति निकेतन प्रागण मे ६ जून से १३ जून १९९३ तक सोत्साह पूर्वक सम्पन्न हुआ। श्री राजेश जी आर्य एव श्री महीपाल जी आर्य व्यायाम शिक्षको ने पूर्वक ८२ आर्य वीरो को प्रशिक्षित

(शेष पृष्ठ ३ पर)

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

सामाजिक उन्नति के अग्रदूत—पुरोहित

आचार्य वेद भूषण

वेदो मे मानव समाज की तुलना मानव देह से की गई है। यह कितनी प्यारी कल्पना है। मनुष्य के सामर्थ्य और उसकी मूल प्रवृत्तियो पर हम सूक्ष्मता से विचार करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—मानव समाज की प्रवृत्तियो मूलत चार ही होती है। इन्ही प्रवृत्तियो को हम सामर्थ्य भी कह सकते है।

सृष्टिकर्ता जगदीश्वर ने अपने प्रिय पुत्र मनु को जो सर्वश्रेष्ठ उपहार दिया है वह बुद्धि का ही है जो उसे अन्य सभी प्राणियो से पथक करता व श्रेष्ठता प्रदान करता है। बुद्धि तत्व भौतिक सृष्टि का सर्वाधिक सूक्ष्म तत्व है। सत्, रज और तम इन तीनो का सतुलित सघात महत्तत्व का निर्माण करता है। इसी सूक्ष्म तत्व से मनुष्य की बुद्धि का निर्माण होता है। जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है वह उतनी ही अधिक शक्तिशाली होती है।

ओ३म् इस अक्षर समुदाय मे परमात्मा के जो नवधा स्वरूप हैं उनका दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अद्भुत ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास मे अ उ और म् इन तीनो अक्षरो के तीन तीन भेद दर्शाते हुए उनके अर्थ को स्पष्ट किया है उनमे परमात्मा का जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप है उनकी प्रथम स्थिति प्राज्ञत्व की स्थिति है।

अपनी प्रज्ञा को महत्तत्व से सयुक्त करके ही प्रभु वेद अथवा ज्ञान का प्रकाश मनु को देते हैं। यही शक्ति मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ वरेण्य शक्ति है। प्रकृति का सब सूक्ष्म रूप महत्तत्व है इस प्रकार परमात्मा का भी सब सूक्ष्म प्राज्ञत्व ही है। दोनो का सन्तुलित सीमित समन्वय ही मनुष्य है।

इसका सूक्ष्म सब श्रेष्ठ सामर्थ्य ही प्रज्ञा है अथवा ज्ञान है। इसी सामर्थ्य या शक्ति का नाम ब्रह्म है। अनन्त ज्ञान की सूक्ष्मतम स्थिति का स्वामी होने से ही परमात्मा सर्वशक्तिमान कहाते हैं।

जो मनुष्य परमात्मा को इस ब्राह्मी शक्ति को अपने भीतर धार लेता है वह स्थूल रूप मे ब्रह्मचारी व सूक्ष्म स्थिति मे ब्राह्मण कहाता है ब्रह्मचर्य भौतिक ऊर्जा का प्रधान रूप है तो ब्राह्मण आध्यात्मिक सूक्ष्म ऊर्जा का प्रतीक है।

ज्ञानमयी प्रवृत्ति मनुष्य की सबश्रेष्ठ एव सर्वाधिक बलिष्ठ प्रवृत्ति है। इसी शक्ति के कारण समाज मे ब्राह्मण को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है। इसीलिए वेद स्पष्ट रूप मे उद्बोधित करता है कि—'ब्राह्मणोहस्य मुपासीत। ज्ञान और बुद्धि अध्यात्म प्रधान ऊर्जा है। जो कोई इस ऊर्जा को अर्जित कर लेता है वह समाज का मुख प्रमुख बन जाता है। प्राज्ञत्व ही परमात्मा का ब्रह्म रूप है। इसी प्राज्ञत्व का स्वामी होने से उसे 'बृहस्पति' कहा जाता है।

मनुष्य की दूसरी प्रवृत्ति है या सामर्थ्य है शारीरिक बल। केवल शारीरिक बल असहाय हो जाता है जबकि उसमे ब्रह्म बल का सर्वथा अभाव हो। ऐसा बल पशु कोटि का बल कहाता है। जब भौतिक, शारीरिक बल के साथ आधि दैविक प्रज्ञा का सयोजन हो जाता है तब वह मनु मे क्षात्र बल के रूप मे प्रकाशित होता है।

आधि भौतिक प्रज्ञा के साथ जब देह की शूद्र शक्ति का सयोजन होता है, तब मनुष्य मे धन बल का विकास होता है। इसे ही हम वैश्य कहते है।

इस प्रकार ज्ञान, बल व भौतिक सपदा अर्जुन की त्रिविद्या प्रवृत्ति मानव समाज मे स्वभावत पाई जाती है। ये प्रवृत्तिया धीरे-धीरे मनुष्य की आत्मा मे सस्कार रूप मे जमती चली जाती हैं और प्रबल सस्कारो के वशीभूत मनुष्य निरन्तर उन्नत स्थिति को प्राप्त करता चला जाता है।

बहुत सी आत्मायें पूर्व जन्म के सस्कारो से रहित भोग योनियो से मनुष्य योनि मे आती हैं। उनका बौद्धिक बल क्षीण रहता है। वह मानव उन्नति की दौड मे पिछड जाते हैं, उनके सस्कार इतने दुर्बल होते हैं कि यत्न करने पर भी वे शक्ति व सामर्थ्य की इन तीन प्रवृत्तियो में किसी का भी ठीक ग्रहण नही कर पाते ऐसे जन क्षुद्र कहाते हैं।

पर मनुष्य समाज का यह नैतिक दायित्व है कि वह हर स्त्री-पुरुष को उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने का पूरा-पूरा अवसर प्रदान करे। इसी उद्देश्य से प्राचीन काल में गुरुकुल पद्धति का प्रचलन था। जहा राजा से लेकर रक तक के बालक या बालिकायें सभी तुल्य खान-पान, वस्त्र एव पठन-पाठन के अवसर प्राप्त करते थे। यहां तक कि गुरुकुल के आचार्य ऐसे छात्र-छात्राओ की उन्नति के लिए विशेष यत्न करते थे जो पूर्व जन्म के सस्कार व माता-पिता द्वारा प्राप्त सस्कारो से भी रहित होते हैं।

ऐसे बालक बालिकाओ की पहचान के लिए वे इन्हे यज्ञोपवीत से मुक्त रखते थे कि जिससे इन छात्रो को सरलता से पहचाना जा सके और पहचान कर उनकी उन्नति के लिए आचार्य विशेष ध्यान देते थे। उन्नति के पूरे अवसर व सुविधा प्रदान करने के उपरान्त भी जो अवन्नत ही रह जाते उन्हे मानव समाज के सेवा कार्य मे सयुक्त होने का अवसर दिया जाता। इस प्रकार समाज चार प्रकार के भेद स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाते हैं।

जो शिक्षा के क्षेत्र मे अपनी उत्तम योग्यता के आधार पर कार्यरत होते वे ब्राह्मण, जो शारीरिक शक्ति के साथ-साथ रजोवृत्ति युक्त बुद्धि को धारण कर शासन, न्याय रक्षा का सामर्थ्य सजोते वे क्षत्रिय और जो आधि भौतिक बुद्धि व कुछ शारीरिक शक्ति सम्पन्न हो जाते वे वैश्य और जो पूर्ण प्रयत्न के उपरान्त भी तीनो प्रकार के सामर्थ्य से रहित रह जाते वे शूद्र कहाते थे।

इस प्रकार मनुष्य समाज इन चार अगो से युक्त मानव देह के कारण ही होता है।

योग्यता व क्षमता के आधार पर कार्य का विभाजन मानव उन्नति मे परम सहायक होता है जब तक वास्तविक योग्यता के आधार पर सामाजिक कर्म योजना को स्थिर नही किया जाता तब तक समाज मे स्थिर शान्ति व निरन्तर उन्नति का मार्ग प्रशस्त नही होता।

जब से योग्यता और क्षमता की उपेक्षा कर जन्मगत जातीवाद ने सामाजिक शोषण का उपक्रम आरम्भ किया तभी से समाज मे वर्ण सकरता छा गई। कर्म मे सिद्धि के स्थान पर सर्वत्र असफलता का साक्षात्कार होने लगा और सामाजिक पोषण व ह्रास की गति तीव्र हो चली।

वैदिक मान्यता मे ये चारो वर्ण भी सुख समृद्धि मे समान सहायक है। जैसे मानव देह मे सिर का और पैरो का महत्व समान रूप मे है वैसे ही चाहे ब्राह्मण हो चाहे शूद्र उपयोगिता की दृष्टि से दोनो भी समान महत्व रखते हैं।

क्रमशः

वेद जयन्ती कार्यक्रम जन-सम्पर्क कार्यक्रम के रूप मे मनाये

नई दिल्ली। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने दिल्ली की सभी आर्य समाजो एव आर्य संस्थाओ से अपील की है कि वे २ से ११ अगस्त, १९९३ तक वेद जयन्ती कार्यक्रम धूमधाम से मनाये।

२ अगस्त श्रावणी उपाकर्म (रक्षा बन्धन) को यज्ञ के बाद यज्ञोपवीत धारण करें तथा वैदिक विचारधारा के प्रचार का सकल्प लें। श्रद्धाजलि कार्यक्रम का आयोजन कर सन १९३९ के सत्याग्रह शहीदो का भी पुण्य स्मरण करें।

११ अगस्त को योगीराज श्री कृष्ण जी महाराज का जन्मोत्सव भी श्रद्धापूर्वक मनाया जावे। ये कार्यक्रम आर्य समाज मन्दिरो की चारदीवारी से बाहर मनाये जाने श्रेयकर रहेंगे।

इस बारे मे विशेष अनुरोध है कि यह दस दिवसीय कार्यक्रम जन सम्पर्क कार्यक्रम के रूप मे मनाया जाये। इस दौरान अपने-अपने क्षेत्र के शिक्षाविदो, डाक्टरो व सरकारी अधिकारियो से सम्पर्क कर उन्हें आर्य साहित्य, भेंट किया जाये। आर्य समाज क्या है', पूजा किसकी ?', आनन्द स्वामी की पुस्तकें आदि भेंट की जा सकती हैं। क्षेत्र के प्रभावशाली व सदाचारी व्यक्तियो से सम्पर्क कर उन्हे आर्य समाज से जोडा जाये और आर्य समाज का सदस्य भी बनाया जाए।

इस दौरान स्कूल व कालेज मे छात्र-छात्राओ के लिए प्रतियोगिताओ का आयोजन कर उन्हें पुरस्कृत भी किया जाए।

इन कार्यक्रमो के समाचार दैनिक पत्रो के अतिरिक्त आर्यसन्देश सहित अन्य आर्य पत्र-पत्रिकाओ में भी प्रकाशनार्थ अवश्य भिजवायें।

आर्य वीर दल राजस्थान का प्रांतीय शिविर सम्पन्न

१५ नये स्थानों पर शाखा खोलने का संकल्प

आर्य वीर दल राजस्थान का प्रांतीय शिविर २१ मई से ३० मई तक अलवर जिले में आर्य समाज जखराना की ओर से लगाया गया जिसमें १५ जिलों के ११२ आर्य वीरों ने भाग लिया। प्रांतीय संचालक श्रीमान सत्यवीर आर्य प्रांतीय मन्त्री व शिविर संयोजक श्री सीताराम आर्य 'वैदिक' के नेतृत्व में आर्य वीरों ने शिविर में पूर्ण अनुशासन में रहकर सघन व्यायाम, प्रशिक्षण प्राप्त किया। आर्य वीरों के बौद्धिक आत्मिक नैतिक व चारित्रिक उत्थान के लिए आध्यात्मिक धर्म चर्चा सन्ध्या भजनोपदेश आदि कार्यक्रमों का आयोजन किया। गुरुकुल गौतम नगर दिल्ली के आचार्य हरिदेव जी आर्य, उप प्रतिनिधि सभा अलवर के प्रधान श्री जगदीश प्रसाद आर्य सभा के भजनोपदेशक श्री मंगल देव, प्रांतीय मन्त्री सीताराम ने आर्य वीरों में आर्य समाज व वैदिक विचारधारा को विकसित करने का अथक प्रयास किया आर्य संस्कृति के प्रतीक यज्ञोपवीत को धारण कराने हेतु सामूहिक यज्ञोपवीत संस्कार कराया गया। ३० मई को वैदिक [illegible] गौरव महाराणा प्रताप की जयन्ती मनाई गई।

३० मई रविवार को शिविर समापन के अवसर पर आर्य वीरों ने संगीत की धुन पर व्यायाम, दण्ड-बैठक, आसन, लाठी, भाला जूडो कराटे आदि का भव्य प्रदर्शन किया।

आर्य समाज जखराना के प्रधान श्रीराम आर्य मन्त्री श्रीमान जयप्रकाश जी, श्री रतिराम जी, धावतसिंह जी, जसवन्तसिंह जी सूबेदार, छगाराम जी सेठ, प्रहलाद यादव वैद्य सत्यप्रकाश कम्पाउण्डर विजयपाल आदि महानुभावों ने शिविर के विभिन्न कार्यों के लिए योगदान दिया।

इस वर्ष के दीक्षान्त समारोह में वीरों ने अपने-अपने क्षेत्र में आर्य वीर दल की १५ शाखाएं स्थापित करने का संकल्प किया।

सीताराम आर्य 'वैदिक', प्रान्तीय मन्त्री
आर्य वीर दल राजस्थान, बालाजी चौक, गंगापुरसिटी

लेखकों से निवेदन

—[illegible] रचनाएं [illegible] प्रकाशक [illegible]

—आर्य समाज [illegible] उत्सव व समारोह के कार्यक्रमों के समाचार आयोजन के पश्चात् शीघ्र भेजने की व्यवस्था करें।

—सभी रचनायें अथवा प्रकाशनार्थ सामग्री कागज के एक ओर साफ-साफ लिखी अथवा टंकित रूप में [illegible] होनी चाहिए।

—पता बदलने अथवा नवीकरण शुल्क भेजते समय ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए पिन कोड नम्बर भी अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५ रुपए तथा आजीवन शुल्क २५० रुपए है। आजीवन ग्राहक बनने वालों को ५० रुपये मूल्य का वैदिक साहित्य अथवा आर्य सन्देश के पुराने विशेषांक निःशुल्क उपहार स्वरूप दिए जाएंगे। स्टाक सीमित है।

—आर्य सन्देश प्रत्येक शुक्रवार को डाक से प्रेषित किया जाता है। १५ दिन तक भी अंक न मिलने पर दूसरी प्रति के लिए पत्र अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश के लेखकों के कथनों या मतों से सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पाठकों के सुझाव प्रतिक्रिया आमन्त्रित हैं।

कृपया सभी पत्र व्यवहार व ग्राहक शुल्क दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली के नाम भेजें।

—सम्पादक

दयानन्द सरस्वती : कुछ प्रेरक घटनाएं

—सत्यवीर सिंह

राव कर्ण सिंह का तलवार से वार

जेष्ठ बदी १३ सम्वत १९३५ को स्वामी जी कर्णवास में अपनी पुरातन कुटी में ही आकर ठहरे। उसी मास में गंगा स्नान का मेला था। हजारों नर नारी एकत्रित हुए। उस समय राव कर्णसिंह भी स्नानार्थ आए। कर्णवास में राव की ससुराल भी थी। रात्रि के समय राव के रामलीला हो रही थी। कुछ पण्डित स्वामी जी को भी बुलाने आये। स्वामी जी ने कहा "हम ऐसे कार्यों में भाग नहीं लेते। रासलीला करने वाले अपने महापुरुषों का स्वांग भरते हैं परन्तु अपने अन्दर उनके गुण धारण नहीं करते यह अती लज्जा और शोक की बात है। स्वांग करना मनु स्मृति में दोष वर्णन किया है।"

अगले दिन पण्डितों ने स्वामी जी के कथन को दुहरा कर राव महाशय को भड़काया। वे भी उत्तेजित होकर पण्डितों और अपने नौकरों को साथ ले स्वामी जी के पास आ गये। सायं का समय था। स्वामी जी उपदेश दे रहे थे। राव महाशय क्रोध में आकर स्वामी जी को खरी खोटी सुनाने लगे और उनकी ओर लपके। स्वामी जी ने उन्हें हाथ से धकेल दिया। इससे राव महाशय एक बार तो लुढ़क गये परन्तु फिर सम्भल कर दौगुने क्रोध में, महाराज पर तलवार का वार करने के लिए आगे बढे वे तलवारसेवार करना ही चाहते थे कि स्वामी जी ने झपट कर उनके हाथ से तलवार छीन ली और भूमि के साथ टेक देकर दबाव से उसके दो टुकड़े कर डाले। राव महाशय का मुख पीला पड गया। उस समय स्वामी जी ने कहा "मैं सन्यासी हूं, तुम्हारे किसी अत्याचार से चिढकर तुम्हारा अनिष्ठ नहीं करूंगा। जाओ ईश्वर तुम्हे सुमति प्रदान करे।" महाराज ने तलवार के दोनों टुकडों को दूर फेंक कर राव महाशय को विदा किया।

(पृष्ठ १ का शेष)

किया। आर्यवीरों द्वारा निकाली गई शोभा यात्रा और व्यायाम प्रदर्शन अविस्मरणीय रहा। आचार्य विश्वदेव जी और श्री सत्यपाल जी भजनोपदेशक ने आर्य वीरों के जीवन को उज्वल और पवित्र बनाने हेतु उनका मार्ग दर्शन किया।

इस शिविर की सफलता में पं० किशन चन्द जी कौशिक प्रधानाचार्य का विशेष योगदान रहा। उन्होंने प्रति वर्ष विद्यालय के प्रांगण में शिविर लगाने के लिए आमन्त्रित किया।

यज्ञ भजन, आत्मिक व्यायाम प्रदर्शन दीक्षान्त एवं [illegible] तथा [illegible] के आयोजन सहित समापन समारोह सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ।

आर्यों की मोरिशस यात्रा

२८-१०-९३ से हवाई जहाज द्वारा दिल्ली मोरिशस यात्रा शुरू होगी। [illegible] १९३०० रुपये [illegible] भोजन का प्रबन्ध [illegible]। ६००० रु० [illegible] एक मास में भेजें। सवारी अपना व अपने नाम आयु पिता का नाम आदि विवरण भेजें। बाहर के [illegible] संयोजक के नाम भेजें बाहर से आने वाले २६-१०-९३ को आर्यसमाज अनारकली मन्दिर मार्ग या आर्य समाज चूना मण्डी पहाड़गंज पहुचें। भोजन संयोजक की ओर से होगा।

सम्पर्कसूत्र संयोजक

श्री श्याम दास सचदेव	श्री मालवीय आर्य
मन्त्री, आर्य समाज चूना मण्डी,	समाज मन्दिर अनारकली
पहाडगंज, नई दिल्ली ५५	मन्दिर मार्ग नई दिल्ली-१
दूरभाष ७५४६१२८	दूरभाष ३४३७१८, ३१२११०

पता मकान नं २६१३, भगतसिंह
गली नं ६ चूना मण्डी
पहाडगंज, नई दिल्ली-५५
दूरभाष ७३२५०४४ (पी० पी०)

कार्यक्रम

२६-१०-९३ नई दिल्ली से बम्बई, २७-१० बम्बई से मोरिशस, २८-१० से २-११-९३ तक मोरिशस भ्रमण, २-११-९३ से मोरिशस से बम्बई तथा ३-११-९३ बम्बई से नई दिल्ली।

आदर्श त्रैतवाद (३५)

राजसिंह भल्ला

जानने का ढग

नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते।। कठो० १ ६ १२

शब्द आदि विषय इन्द्रियो से ग्रहण किये जाते हैं और परमेश्वर शब्द आदि विषयो मे से कोई एक नही है जो कि इन्द्रियो से ग्रहण किया जा सके। आस्तिक आस्तिक लोग कहते हैं कि परोक्ष परमात्मा कोई अवश्य है इस इतने बडे जगत का कर्ता कोई है अवश्य क्यो जगत एक कृति है बनावट है, उसके बनाने वाला कोई अवश्य होना चाहिए। जैसे घडे आदि बतनो को देखकर पता लगता है कि इनके बनाने वाला कुम्हार अवश्य होगा। कुम्हार के बिना घडा नही बन सकता जैसे कुम्हार के बिना बर्तन आदि नही बन सकते ऐसे ही यह जगत भी किसी की कृति माननी पडेगी और वह कर्ता परमेश्वर कहलाता है। जो समाधि से जाना जाता है। वह परमात्मा निश्चय न वाणी से, न मन से और न आख स प्राप्त किया जा सकता है यह परमात्मा इनका विषय नही है। आत्मा है ऐसा कहने वाले आस्तिको से ही वह जाना जा सकता है। आत्मा का अनुभव आस्तिक को ही होता है नास्तिक को नही। वह आत्मा वचन अथवा आख का विषय नहीं है अनुभव साधना, सयम के द्वारा ही जाना जा सकता है।

अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये सन्निविष्ट

त स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषिका धैर्येण।

त विद्याच्छुक्रममृत त विद्याच्छुक्रममृतमिति। कठो० १ ६ १७

जीवात्मा को सबसे अधिक प्रिय अपना शरीर है। अनादि काल से इस शरीर मे सुख भोगे और भोगता है। इस कारण इस शरीर से जीव को राग है। यही बन्धन है और ग्रन्थि है। इस अविद्या मे फसा यह जीव शरीर से पृथक् होना नही चाहता और यह शरीर तो सबको छोडना ही पडता है। इस बात को सोचकर यह जीव दुखी होता है। उस ऐसे नाशवान् शरीर के हृदय मे स्थित जीवात्मा को योगाभ्यास आदि साधनो को करके शरीर के बन्धनो से छुडा दे। जिससे फिर शरीर धारण करने की इच्छा करे किन्तु यह जीव इस शरीर से घृणा करे क्योकि यही शरीर तो राग का बन्धन का कारण है। उस अन्तरात्मा को विवेकी पुरुष ऐसे निकाल दे जैसे मूज के पूले से तिनका खीच कर निकाला जाता है। उस आत्मा को तेजोमय और अमृतमय जाने उसे प्रकाशस्वरूप और अविनाशी समझे यही मुक्ति पाने का सीधा रास्ता है।

आत्मबोध का ढग

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।

सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मन।। श्वेता० २ ६

जिस ध्यान अवस्था म अग्नि—आत्म निवास स्थान की ज्योति भली-भाति मथी जाती है तो वह चमचमाकर प्रकट होती है। जिस ध्यान की स्थिति मे वायु प्राण वश मे किया जाता है—प्राण गति सूक्ष्म हो जाती है और जिस स्थिति मे सोम प्रसाद भाव अधिक बढ जाता है उस स्थिति म मन—मननशक्ति आत्मा स्वतत्र होकर प्रकट होता है। ऐसी स्थिति मे ही आत्म सत्ता का बोध होता है। ऐसा अनुभवी साधको का कहना है।

सूर्य लोक की प्राप्ति का ढग

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया, विद्यया आत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयम्-

एततपरायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोध। तदेष श्लोक।।

प्रश्नो० १ १०

जो उत्तर से—ज्ञान से तप से, ब्रह्मचर्य से, श्रद्धा से आत्मा को जानकर यहा से जाते हैं वे सूर्यलोक को प्राप्त होते हैं। तेजोमय धाम धाम को प्राप्त करते हैं वास्तव मे यह आदित्य लोक प्राणो का घर है। वहीं से जीवन शक्ति का अवतरण होता है। यह धाम अमृतमय है—आनन्दधाम है। निर्भय है। यह धाम परम आश्रम है। इस धाम से आत्मा परान्त काल तक लौट कर नहीं आता। यह जन्म मरण की रोक है। इस पर यह श्लोक है।

मृत्यु से बचने का ढग

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिता।

न वेद्य पुरुष वेद यथा मा वो मृत्यु परिव्यथा इति। प्रश्नो० ६-६

रथ की धुरी मे अरो की भाति जिस ईश्वर म सब कलाए ठहरी हुई हैं। उसी जानने योग्य पुरुष को तुम जानो जिससे मृत्यु तुमको पीडित न करे।

उसे देखने का ढग

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्ततस्तु त पश्यते निष्कल ध्यायमान।।

अन्त करण मे दीखने वाला वह ईश्वर आख से ग्रहण किया जाता है। वह न अन्य इन्द्रियो से जाना जाता है—वह इन्द्रियो का विषय नही है। न ही तप से और न कर्मों से जाना जाता है। परन्तु यथार्थ ज्ञान की निर्मलता से, पवित्र बुद्धि युक्त होकर मनुष्य तदनन्तर भगवान का ध्यान करता हुआ उस निराकार को देखता है।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (९)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्

स्कम्भ त ब्रूहि कतम स्विदेव स।।

अथर्व० का० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। (सूत्र ८)। म० २०।।

भावार्थ—सर्वशक्तिमन् परमेश्वर से, ऋक्-यजु-साम-अथर्व हुए।

रूपक अलकार से ये प्रभु अवयव-सम उत्पन्न भये।।

मुख के तुल्य अथर्ववेद है, सामवेद लोमो के सम।

यजुर्वेद है हृदय-तुल्य, ऋग्वेद बनाया प्राणोपम।।

चारो वेद बनाये जिसने, ऐसा कौन नियन्ता है?

सकल जगत् का कर्त्ता धर्त्ता, वह जगदीश अनन्ता है।।

उसे छोडकर जग मे दूजा, कोई और उपास्य नही।

चेतन छोड पूजता जड को, उससे बढ हतभाग्य नही।।

कामधेनु जब घर मे है, बकरी को दुहना नादानी।

परमगग नजदीक बहे, पोखर मे नहाना बेमानी।।

सर्वशक्ति सम्पन्न विधाता, सब देवो का देव महेश।

कर्म-वचन मन सहित अर्चना करो, रहे नहीं क्लेश शेष।।

एव वा अरेऽस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतद्यदृग्वेदो

यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस।। श० का० १४।अ० ५।(ब्रा० ४।क० १०)।

भावार्थ—एक दिवस जब याज्ञवल्क्य ऋषि, कुटिया मध्य प्रवेश किया।

निज पत्नी विदुषी मैत्रेयी, को ऐसे उपदेश दिया—

हे मैत्रेय! नभ आदिक से, महत् व्याप्त कह जग पालक।

ऋक् यजु-साम-अथर्ववेद के लय-विधान का उत्पादक।।

मनुज हृदय से श्वास बाहर आता, फिर भीतर जाता है।

इसी तरह प्रभु सृष्टि-आदि मे, चारो वेद रचाता है।।

पुन प्रलय मे रहे विश्व मे, वेदो का अस्तित्व नही।

बीजाकुरवत् ईश ज्ञान मे, सदा बना रहे भीतर ही।।

अकुर का अस्तित्व बीज मे, रहता पहले से कायम।

वृक्ष रूप मे बढकर भी वह, रहे बीज के अन्तर्तम।।

इसी तरह से वेद ईश के, रहे ज्ञान मे व्याप्त हमेश।

अक्षय है ये नित्य निरवयव, ईश्वर की प्रज्ञा अशेष।।

क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (४)

नेतराम शर्मा, प्रधान— भारतीय योग संस्थान पूर्वी जिला दिल्ली ११००५१

मधु मेह --

१—आमले के रस म नीबू ५ ग्राम थोडा सा शहद मिलाकर (प्रयोग) पीना।

२—करेले का रस १५ ग्राम पानी के साथ पीना, दिन मे तीन बार कुछ हफ्ते मे आराम, करेले की सब्जी, टमाटर, खीरा, ककडी, शलगम, मेंथी, बथुआ, पालक का साग मोसमी, सन्तरा, अनानास, अनार, मोसमी, पपीता, अमरूद। अगूर, चीकू, केला पक्के आम से परहेज/चना, जौ, दूना गेहू की रोटी खाने से भी फायदा।

३—२ १/२ सौ ग्राम मेंथी बीज पीस छानकर, छ सात ग्राम पचास ग्राम पानी मे मिट्टी या चीनी के बतन मे रात मे भिगोये सुबह पीय, सुबह भिगोयें शाम को पीयें, चालीस दिन मे मधुमेह से शर्तिया छुटकारा।

४—जामुन के मौसम मे जामुन खाना जामुन की गुठली का चूण आधा चम्मच सुबह आधा चम्मच शाम ताजा पानी के साथ लेना।

५—चोकर सहित आटे की चपाती पादाना का रायता, कच्चे आम का पन्ना डेरी का दूध, पोस्टमेन का घी लाभकारी।

६—गाजर मे इन्सूलेन तत्व ५० ग्राम गाजर का रस तीस ग्राम पालक का रस सुबह, शाम, दोपहर तीन बार, काम वासना का त्याग।

७—तेज चाल से नगे पैर घास पर चलना लम्बे गहरे श्वास लेना, टमाटर सलाद, भाजी रस पीना १५ दिन मे छुटकारा पाना।

८—शख प्रक्षालन, एनीमा, अर्धमत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोतान, धनुर योग मुद्रा मयूर हलासन करना।

दमा --

१—पीपल के फल छाया मे सुखकर कूट-पीस कर छानकर ६ माशे दूध के साथ गम तासीर वाले घी का प्रयोग।

२—करील की लकडी जलाकर भसम पान मे तीन माशे डाल ४० दिन चबाना।

३—धतूरे के बीज ८ दिन तक एक एक बीज प्रात पानी से निगलें दूसरे हफ्ते दो-दो बीज, तीसरे हफ्ते तीन तीन, प्रति सप्ताह एक एक बीज बढाते जायें, पाचवे हफ्ता ५-५ बीज लेने से पुरान से पुराना दमा मिट जाता है।

४—पुराना गुड, १० ग्राम सरसो का तेल १० ग्राम दोना मिलाकर चाटने से दमा खत्म।

५—मक्खन निकला मठ्ठा जीरा, अजवायन पीसकर बुरक कर पीना।

६—प्याज, शहद एक-एक चम्मच लने से फायदा, अकेला शहद भी दमा दूर करता है।

७—त्रिफला, काली मिच, सोठ, पिपली एक-एक तोला कूट पीस, कपडे मे छान शहद के साथ दिन मे चार बार।

८ लहसुन की दो कलिया दूध म छील कर पकायें, चबा चबा कर खाये ऊपर से दूध पीयें, एक-एक कली रोज बढ़ाते जाये। ग्यारह कलिया हो जाने पर एक-एक घटाना शुरू कर दें, इक्कीस दिन मे दमा का दम टूट जायेगा।

९—शाम को भुने चने चबा गम दूध पीजिये, कफ निकल जायेगा। शहद को गम दूध या पानी म डाल पीने से लाभ।

१० गाजर, शलगम, चुकन्दर का रस पीने से दमा दूर।

११—कुंजल, सूत्रनेति, जल नेति से भी लाभ, कब्ज के लिए एनीमा।

परहेज —

मिठाई, नमकीन, मैदे, बेसन के बने पदार्थ, खटाई तेल, मूला, दही, केला दूध, घी का प्रयोग बन्द। बहुत गम या बहुत ठडा पेय से बचना, नशीली चीजो से बचना, धूल धुए से बचना।

आसन —

पश्चिमोतान, उष्ट्रासन, कोण गोमुख, शशाक और मत्स्यासन एक दिन का उपवास, नींबू, पानी, शहद, दूध मठ्ठा।

६—पेट साफ करने के लिए महीने मे दो एक बार एनीमा।

परहेज —

उत्तेजक पदाथ, तेल, मसाले मास, मछली, अण्डे, कोफी, शराब, पूडी, समोसे

७—नित्य प्रति हींग का प्रयोग, दही, मठठा मे नमक डाल कर पीना।

८—गाजर के रस मे शहद मिलाकर प्रयोग।

९—भुने चने रोज खाना।

बवासीर --

१—अश्विनी मुद्रा का अभ्यास दिन मे कई बार दानी गुदा का सकोचन और प्रसार घोडी की तरह।

२—मूल बन्ध का २० बार अभ्यास।

३—१५-२० दाने सफेद/काली मिच के चबाकर ऊपर से १० ग्राम के लगभग गाय का घी पिघला कर पीना। इस प्रयोग के तीन दिन करने से फिर किसी इलाज की आवश्यकता नही।

४—गणेश क्रिया—तर्जनी अगुली म सरसो का तल लगाकर शौच के बाद गुदा के अन्दर गहराई मे अगुली को गोलाई म घूमाकर मालिस करे।

५—मेरूदण्ड स्नान टब मे लगभग १० मिनट।

६—एनीमा।

७—आसन—पश्चिमोतान जानुसिरा, हल, सर्वाग, सुप्तवज्र मत्स्य, शशाक भुजग, मयूर, पवनमुक्त शवासन।

८—परहेज—गम चीजो का त्याग, तली चीजे, मिच मसाले, शराब, अन्डे चाय कोफी।

९—कुचला पीसकर मिट्टी के तेल मे, मस्सो पर लगाने से मस्से सूख जायेंगे। हरी सब्जी, टमाटर, प्याज, लस्सी का प्रयोग।

हाई ब्लड प्रैसर

१—दाई करवट लेटना।

२—छाछ, नीबू पानी/रसाहर, दही, लौकी, तोरई, टिंडा, पालक, सलाद, उबली सब्जी, तीसरे पहर अगूर, सेब, सतरा, नाशपाती, रात्रि मे हलका भोजन।

३—मट्ठा म बुरा डालकर प्रतिदिन सेवन करना।

४—गाजर का ताजा रस रोज पीना।

५—खान-पान नमक मसाले, शराब, चाय, कोफी, सिगरेट का त्याग।

६—ओस पर नगे पैर चलना।

७—आसन—पश्चिमोतान, सिद्धासन, पदमासन शलभासन, सुप्त बज्रासन, शशाकासन, मत्स्यासन, शवासन।

क्रमश

डा० शशिप्रभा कुमार सम्मानित

मत्रयी कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय मे सस्कृत विभाग मे रीडर एव सस्कृत शोध परिषद (सस्कत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय) की सचिव डा० शशिप्रभा कुमार को राजस्थान सम्कत अकादमी जयपुर द्वारा वष १९९२ ९३ के अखिल भारतीय विदुषी सम्मान भारती मिश्रा पुरस्कार से सम्मानित किया गया है यह सम्मान आपको शोधग्रन्थ वशेषिक दशन म पदाथ निरूपण प्र प्त हुआ है। इस ग्र थ का प्रकाशन वष १९९२ मे दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन विभाग से हुआ है। सम्मान के रूप मे आपको एक प्रमाण प शाल और ११ रुपये का राशि राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति ड० रामेव शर्मा प्रदान की गई। समारोह की अध्यक्षता राजस्थान विधान सभा क अध्यक्ष श्री ह रशकर भाभडा ने की

इसके अतिरिक्त आपके द्वारा सम्पादित एक अ य ग्रन्थ आधु नक परिप्रेक्ष्य मे भारतीय दशन का प्रामणिकता का विगत मास हा सम्पूणान द सस्कत विश्व विद्यालय के कुलपति डा० वी० वकटाचलम क कमलो से लोकापण हुआ है सम्कत शोध परिषद की सचिव के रूप म आप अनेक गोष्ठियो एव कायक्रमो का सयोजन करती रहती हैं। आपके अनक शोधपत्र प्रतिष्ठित पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके हैं।

शराबबन्दी सत्याग्रह का मोर्चा रोहतक मे लगेगा स्वामी ओमानन्द सरस्वती सर्वाधिकारी मनोनीत

आय प्रतिनिधि सभा हरियाणा की अन्तरग बठक प्रो० रतिह जा की अध्यक्षता मे २० जून को रोहतक मे सम्पन्न हुई जिसमे भारी सख्या म कायकर्त्ताओ ने भाग लिया।

पर्याप्त विचार विमश के पश्चात सर्वसम्मति से निश्चय किय गया है कि हरियाणा सरकार से कानून के अनुसार ग्राम पचायतो से शराबबन्दी प्रस्ताव अधिक से अधिक सख्या मे करवाकर सरकार को भेजकर पूण शराबबन्दी लाग करने की पुन माग की जाये। जिलेवार शराबब दी सम्मेलना का आयोजन करके शराबब दी सत्याग्रह का तयारी की जायेगी और अक्तूबर मास से सत्याग्रह का मार्चा लगाया जायेगा। इस उददेश्य हेतु आयसमाज के आन्दोलनो के प्रमख योद्धा स्वामी ओमान द जी सरस्वती को प्रथम सर्वाधिकारी डिक्टेटर तथा स्वामी रतनदेव जी सरस्वती को द्वितीय सर्वाधिकारी सवसम्मति से मनोनीत किया गया है स्वामी ओमान द जी सरस्वती ने आय जनता से अपील करते हुए कहा कि सत्याग्रह म भाग लेने के लिए प्रत्येक आयसमाज कम से कम ११ ११ सत्याग्रही ११ ११ रु प्रति मास हरियाणा के कार्यालय दयानन्दमठ रोहतक मे भेजकर अपना योगदान अवश्य दें।

सभा ने हरियाणा शराबब दी समिति के सयोजक श्री विजयकुमार जी के अचानक अस्वस्थ होने पर चिन्ता प्रकट का और उनके शीघ्र स्वस्थ होने का कामना की है। व पिछले दिनो भयकर गर्मी म दिन रात शराबब दी का काय करत हुए बीमार हो गये हैं। अन्तरग सभा ने शराब के ठेका पर धरने देने के काय म आय समाज के साथ किसान यूनियन तथा सवखाप पचायत के कायकर्त्ता का हार्दिक धन्यवाद किया है

पुरोहित चाहिए

आर्य समाज पखा रोड सी ब्लाक जनकपुरी सी ३ पाक जनकपुरी नई दिल्ली ११००५८ के लिए सुयोग्य अनुभवी पुरोहित चाहिए।

आधुनिक सुविधा युक्त आवास के अतिरिक्त कम से कम एक हजार रुपये मासिक समाज की ओर से दक्षिणा दी जाएगी। यहा शिक्षित समुदाय मे विधि युक्त सस्कार कराने का सम्मान है। पूण विवरण दें। १ नाम २ शक्षिक योग्यता ३ जन्म तिथि ४ पुरोहित प्रशिक्षण अनुभव ५ पिछले तीन वर्षों मे कहा कहा काय किया ६ विवाहित अविवाहित ७ स्थायी पता ८ अन्य विवरण। प्रमाण पत्रो की इलक्ट्रोस्टेट कापियो सहित दस दिन मे प्रार्थनापत्र भजे।

सयोजक
प्रतापसिंह गुप्त

गुरुकुल स० महाविद्यालय शुकताल मु० नगर मे प्रवेश आरम्भ

गगा के पावन तट पर महर्षि दयान द की तपस्थली शुकताल मे। जुलाई ९३ से प्रवेश प्रारम्भ है छात्र को कम से कम कक्षा ५ उत्तीर्ण होना चाहिए। उच्च कक्षा प्रवेश छात्र ने गत मास म व ५ मे ४५ प्रतिशत अक प्राप्त किये हो। आय समाज प्रचारक द ष्ट स पूव तर द णम के प्रात को विशेष वरीयता दी जाए प्रवेश य ग्यता व लिखित परीक्षा के आधार पर ही होगा योग्यता व निधन छात्रो को आवास भोजन आदि की निःशुल्क व्यवस्था होगी। विस्तर साथ लाये

विशष योग्यता छात्रवृत्ति भी दी जायगी।

गुरुकुल मे ... व्याकरण ... म सस्कृत साहित्य ... की शिक्षा दी जाती है।

छात्रावास ... नियमो म रहना अनिवार्य होगा।

नोट—केवल जल ... अन्तर्गत ही प्रवेश होगा

आचाय इन्द्रपाल प्रधानाचाय
गगा सस्कृत महाविद्यालय शुकताल जि० मु०नगर (उ०प्र०)

छात्रवृत्तिया

नव सत्र—जुलाई १९९३ से अप्रल १९९४

श्री वजीरचन्द धर्माथ ट्रस्ट की ओर से नये सत्र के लिए गुरुकलो महा विद्यालयो धार्मिक प्रशिक्षणालयो और अनुसधान सस्थानो के सुयोग्य और सुपात्र छात्र छात्राओ और रचनात्मक परीक्षाओ के परीक्षार्थियो को छात्रवृत्तिया देने का कायक्रम शुरू हो गया है। विद्यार्थियो को चाहिए कि ट्रस्ट द्वारा नियत आवेदन पत्र मगवाकर भरकर ट्रस्ट के अवैतनिक सचिव के नाम निम्न लिखित पते पर भेज। इस सत्र के लिए यह राशि बढ़ाकर ६० ००० रुपये कर दी गई है।

योगेन्द्र नाथ थप्पल आदरी सचिव
श्री वजीरचन्द धर्माथ ट्रस्ट सी २ अमर कालोनी
लाजपत नगर नई दिल्ली २४

आर्यसमाज नया बास का ६३ वॉ वार्षिकोत्सव सम्पन्न

आर्य समाज का वार्षिकोत्सव १३ से २० जून ९३ तक मन्दिर के प्रागण मे बड़े हर्षोल्लास पूवक मनाया गया। आय जगत के प्रसिद्ध विद्वान आचाय विशुद्धानन्द जी यज्ञ के ब्रह्म रहे प्रो रामप्रसाद वेदलकार, श्री उत्तमचन्द जी शरर, डा ज्वलन्त कुमार जी एव श्री ज्ञान प्रकाश शमा के सामाजिक विषया पर प्रेरक व्याख्यान हुए। सत्याथ प्रकाश प्रतियोगिता मे ८० विद्यार्थियो ने भाग लिया और विजेताओ को पुरस्कृत किया गया। डा० ज्वलन्त कुमार जी प्राध्यापक अमेठी को भी सम्मानित किया गया। महिला सम्मेलन मे श्रीमती निमला मिश्रा व श्रीमती मृदुला शर्मा ने सभी श्रोताओ को सुमधुर कविता पाठ व प्रवचनो से आह्लादित किया सगीताचाय श्री गुलाबसिह राघव ने मधुर भजनो द्वारा समा बाध दिया। अन्त मे मत्री श्री धमपाल आर्य ने सभी विद्वानो यजमानो व श्रोताओ का धन्यवाद किया।

प्रवेश सूचना

श्रीमद दयानन्द गुरुकुल सस्कृत महाविद्यालय खेडा खुर्द दिल्ली ८२ मे ६ जुलाई १९९३ से प्रवेश प्रारम्भ हो चुका है। यह गुरुकुल दिल्ली प्रशासन से मान्यता प्राप्त है। यह गुरुकुल प्रकृति के सुरम्य वातावरण मे स्थित है। यहा सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी की प्रथम (८वी) पूवमध्यमा (१०वीं) उत्तरमध्यमा (१२वी) शास्त्री (बी०ए०) पयन्त परीक्षायें दिलायी जाती हैं। सस्कृत के अतिरिक्त अग्रेजी, विज्ञान एव आधुनिक विषयो के शिक्षा की पूरी व्यवस्था है। गुरुकुल का लक्ष्य शिक्षा के साथ साथ वैदिक सस्कृति का प्रचार प्रसार करना है। योग्य निधन एव असहाय छात्रो की आवास पुस्तक दूध भोजन की निशुल्क व्यवस्था है प्रवेश की अन्तिम तिथि १६ अगस्त १९९३ है।

प्रबन्धक आचार्य प० प्रकाशचन्द्र शर्मा

आय सन्देश—दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
N No 32387/77 Posted at N D P S O on 22-23-7-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93
दल्ली पोस्टल रजि० न० डी० एल-११०२४ ६३
पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० य (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश' साप्ताहिक २५ जुलाई, १९९३

ज्ञान-विज्ञान की भाषा सस्कृत का दूरदर्शन पर उपयोग होना चाहिए

--डा० शकर दयाल शर्मा

नइ दिल्ली १० जून। महामहिम ड० शकरदयाल शर्मा ने कहा कि ज्ञान-विज्ञान के अक्षय मडार सस्कृत के लिए दूरदशन जैसे शशक्त व प्रभावशाली माध्यम का उपयोग होना चाहिए। य उद्गार डा० शर्मा ने सस्कृत अकादमी के तत्वावधान मे राष्ट्रपति भवन मे अखिल भारतीय सस्कृत सम्मेलन द्वारा आयोजित त्रिदिवसीय कायक्रम का उदघाटन करते हुए आज व्यक्त किये।

डा० शर्मा ने कहा कि सस्कृत सभी भाषाओ की जननी है और उसके माध्यम से राष्ट्र की अन्य भाषायें सरलता से सीखी जा सकती हैं। उन्होने वैकल्पिक भाषा के रूप मे सस्कृत के सिखाने की आवश्यकता पर भी बल दिया। उन्होने यह भी कहा कि व्यक्ति मे उत्तम सस्कार डालने की सस्कृत मे शक्ति है तथा हमारी सस्कृति के सभी तत्व इसमे सुरक्षित है।

डा० शर्मा ने कहा कि सस्कृत कम्प्यूटर के लिए सर्वाधिक उपयुक्त एव आदर्श भाषा है और पश्चिमी देशो मे आज भी सस्कृत के प्रति बहुत श्रद्धा है। कुछ पश्चिमी देशो ने तो सस्कृत व वैदिक गणित को माध्यमिक स्तर पर पाठयक्रम मे शामिल किया।

डा० शकर दयाल शर्मा जी ने यह भी कहा कि विश्व मे सबके कल्याण के लिए एव विश्व को एक कुटम्ब मानने जैसे महान व आदर्श विचार सस्कृत भाषा की ही देने है। अत उन्होने गर्मियो की छुट्टियो मे सस्कत सिखाने के लिए कक्षायें लगाने की जरूरत पर भी बल दिया।

डा० शर्मा ने यह भी बताया कि सर विलियम जोस सस्कृत को युनानी एव लैटिन भाषा से भी अधिक उत्कृष्ट एव समृद्ध भाषा है। सस्कृत मे हीं ज्योतिष, औषध, धम ग्रन्थो आदि की भी रचना हुयी।

राष्ट्रपति जी ने सस्कृत को मानव जाति के गूढ़ चिन्तन की अनुपम भाषा बताया। चिन्तन की सर्वोत्तम निधिया देव भाषा सस्कत मे ही सुरक्षित है।

राष्टपति जी ने यह भी कहा कि राष्ट्रपिता गांधी जी मे प्रत्येक राष्ट्रवादी व्यक्ति को सस्कृत पढने के बारे म २३ माच, १९४० के अपने हरिजन पत्र मे लिखा था। इसी प्रकार जवाहर लाल नेहरू ने भी सस्कृत को देश की अनमोल धरोहर एव सबसे शक्तिशाली भाषा बताया था।

गुडगाव मे वेद प्रचार

नई दिल्ली आय केन्द्रीय सभा, गुडगाव के तत्वावधान मे २० से ३० जून, १९९३ तक नगर के विभिन्न क्षेत्रो मे यज्ञ प्रवचन वैदिक साहित्य वितरण आदि द्वारा धूमधाम से वेद प्रचार काय किया गया। राजीव नगर पटेल नगर मियावाली कालोनी सुभाष नगर व हाऊसिंग बोर्ड एक्सटेंशन सेक्टर मे नशो व बुराइयो को छोडने तथा आर्यसमाज की विचार धारा का प्रचार किया गया। आर्य समाज राम-नगर के प्रधान श्री राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता मे समापन कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन - ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक ४१ रविवार १ अगस्त १९९३ विक्रमी सम्वत २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत १९७२९४९०९३
मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

आर्यसमाज मन्दिर तिमारपुर मे वेदो मे वनस्पति विज्ञान पर संगोष्ठी

वेदों के अध्ययन के बिना हमारा जीवन अधूरा है

—कुलानन्द भारतीय

नई दिल्ली २५ जुलाई। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली सरकार की संस्कृत अकादमी द्वारा आज आर्य समाज मन्दिर तिमारपुर मे वेदो मे वनस्पति विज्ञान विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमे वेदो के मर्मज्ञ विद्वानो ने वेदो के गहन अध्ययन व अनुसंधान पर विशेष बल दिया।

कार्यक्रम का उदघाटन करते हुए गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलपति डा० धर्मपाल ने कहा कि वेद भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं तथा विश्व साहित्य मे ऋग्वेद को ही प्राचीनतम ग्रन्थ माना गया है। समस्त मूल विद्यायें वेदो में बीज रूप मे विद्यमान हैं। वेद उद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका मे भी कहा है कि वेद मे समस्त विद्यायें हैं।

डा० धर्मपाल ने आगे कहा कि अथर्ववेद मे वनस्पतियो की नामावली प्राप्य है। वनस्पतियो का चिकित्सीय महत्व सभी पद्धतियो मे स्वीकारा गया है। अथर्ववेद के काण्ड ४ के सूक्त १२ मे मे रोहिणी नामक वनस्पति का वर्णन मिलता है। शरीर मे चोट लगी हो अंग जला हो तो इस औषधि से हर अंग पूर्ववत हो जाता है। अथर्ववेद काण्ड २ के सूक्त ४ मे जीङ्गड मणि का उल्लेख है जिसके सेवन से दीर्घायु प्राप्त होती है। इसी प्रकार अथर्ववेद के ४ काण्ड के सूक्त १५/२ मे कहा गया है कि — अपा रसा ओषधीभि सचन्ताम। अर्थात —जल के अन्दर के रस औषधियो के साथ मिल। पिप्पली उन्माद मे रोग की औषधि बतायी गयी है।

दिल्ली के पूर्व कार्यकारी पार्षद श्री कुलानन्द जी भारतीय ने मुख्य अतिथि के रूप मे बोलते हुए कहा कि वेद हमारी प्राचीनतम हैं संस्कृति के आधार और वेदो के अध्ययन के बिना हमारा जीवन अपूर्ण है। वेदो मे धर्म नीति राजनीति अर्थशास्त्र आदि के अतिरिक्त हर प्रकार के ज्ञान विज्ञान का असीम भण्डार है अत वेदो का अध्ययन एवं अनुसंधान अवश्य करते रहना चाहिए। श्री भारतीय ने आगे कहा कि वेदों मे वनस्पतियो का भरपूर उल्लेख है और वृक्षो के बिना हमारा जीवन ही अधूरा हैं। वेदो मे उल्लेखित वनस्पति विज्ञान आज भी प्रासंगिक है और हमे इसे आम जनता तक पहुंचाने का प्रयास करना चाहिए ताकि अधिक से अधिक संख्या में पेड़ पौधे उगाकर पर्यावरण को स्वच्छ बनाने का कार्य किया जा सके।

महान स्वतन्त्रता सेनानी एव पूर्व सांसद श्री रामचन्द्र जी विकल ने विशिष्ट अतिथि के रूप मे बोलते हुये कहा कि अन्न चीनी गुड आदि सभी वस्तुये वनस्पतियो से बनती है जिनका वेदो मे वर्णन मिलता हैं तथा वेदो मे अन्न को प्राण बताया गया है। किसान ही अन्न व वनस्पतियां उगाता है अत वह हमारा अन्न दाता है। (क्रमश)

गुरुकुल कांगडी का कुलपति बनने पर डा. धर्मपाल का सार्वजनिक अभिनन्दन

नई दिल्ली २५ जुलाई। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल का गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलपति का पद भार ग्रहण करने के उपलक्ष्य में आज दिल्ली की समस्त आर्य समाजों, प्रांतीय महिला सभा गुरुकुलो व आर्य शिक्षण संस्थाओ की ओर से भव्य अभिनन्दन किया गया। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध की अध्यक्षता मे यह कार्यक्रम दिल्ली की प्रमुख आर्यसमाज हनुमान रोड मे सम्पन्न हुआ इस स्वागत समारोह मे सुप्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री विद्वान लेखक कुशल वक्ता व प्रशासक डा० धर्मपाल का दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा राजधानी की आर्य समाजो व आर्य संस्थाओ के पदाधिकारियो द्वारा माल्यार्पण व पुष्प गुच्छो से हर्षोल्लास के वातावरण मे हार्दिक अभिनन्दन किया गया। इस अवसर पर डा साहिब की धर्मपत्नी श्रीमती कृष्णा का भी पुष्पमाला द्वारा स्वागत किया गया। मंच संचालन दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने किया।

स्वामी आनन्दबोध जी ने अध्यक्षीय भाषण मे अपने उदगार व्यक्त करते हुए कहा कि डा० धर्मपाल ने दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री के पद पर रहते हुए [illegible] किया है। स्वामी जी ने विस्तार मे बताया कि भूतकाल मे [illegible] कांगडी को [illegible] विद्या के केन्द्र की किस प्रकार [illegible] लिए १२ दिन का अनशन भी रखा था [illegible] के आश्वासन पर ही अनशन समाप्त किया था (क्रमश)

स्व. समर्पणानन्द सरस्वती की ९८वी जयन्ती

तिथि १ अगस्त १९९३ सायं ५ से ९ बजे तक
स्थान हिमाचल भवन मण्डी हाऊस नई दिल्ली
मुख्य अतिथि श्री जी० राम रेड्डी अध्यक्ष विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
अध्यक्ष स्वामी सर्वानन्द जी महाराज

शतपथ ब्राह्मण भाष्य (तृतीय काण्ड एवं
सामवेद भाष्य (उत्तरार्चिक का लोकार्पण
तथा समर्पण संगीत संध्या

दीक्षानन्द सरस्वती
संस्थापक समर्पण शोध संस्थान

सहयोगी महानुभाव

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती स्वामी ओमानन्द सरस्वती स्वामी विवेकानन्द सरस्वती पद्मश्री श्री विनयचन्द्र मौद्गल्य प्रो० शेरसिंह श्री सूर्यदेव श्रीमती कृष्णा चड्ढा डा० धर्मपाल, श्रीमती सरला मेहता महात्मा धर्मपाल डा० शिवकुमार शास्त्री श्री ज्ञान प्रकाश चोपड़ा श्रीमती शकुन्तला आर्या श्री रामनाथ सहगल आचार्य हरिदेव श्री इन्द्रराज, डा० तरुण।

प्रधान सम्पादक सूर्यदेव सहसम्पादक — विमलकान्त शर्मा

सामाजिक उन्नति के अग्रदूत—पुरोहित (२)

आचार्य वेद भूषण

जैसा कि पहले अंक मे दर्शाया जा चुका है कि—मानव समाज की वेदो ने मानव देह से तुलना की है।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहु राजन्य कृत
उरु तदस्य यद्वैश्य पदभ्या शूद्रो अजायत। यजुर्वेद ३१ ११

ज्ञानी जन समाज के मुख के समान है। क्योकि—समस्त ज्ञानेन्द्रियो और बुद्धि का केन्द्र हमारा सिर ही है। इसे प्रमुखता की दृष्टि से ही मुख कहा गया है।

दोनो भुजाओ को क्षत्रिय कहा गया है और पेट को वैश्य की संज्ञा दी है और पैरो को शूद्र कहा है।

पर इस उपमा मे हीनता या शत्रुता की भावना नही है। अपितु पैर देह के आधारभूत अंग है। पैर डगमगाते है तो समाज ही डगमगाने लगता है

यहा तक कि सम्मान देखभाल व गति के क्षेत्र मे प्रगति के लिए मानव देह मे पैरो का ही महत्व है। इसीलिए मानव देह मे पैरो को महत्व प्राप्त है। इन्ही चरणो पर शीश को झुकाया जाता है। पैरो पर माथा टेका जाता है।

जब से समाज ने अपने ही हाथो से अपने पैरो पर कुल्हाडी चलाई तभी से मानव समाज पंगु और अपंग होकर रह गया।

इस सारी स्थिति की जिम्मेदारी ब्राह्मणो पर ही है क्योकि जब देह का प्रमुख या समाज का नेता ही स्वार्थ मे लिप्त हो गया आलसी व हतबुद्धि हो गया तो समाज के विनाश मे फिर सन्देह ही क्या रहा।

ब्राह्मणो मे भी जो कर्म कुशल व श्रेष्ठकर्मी होते हैं वे पुरोहित कहाते हैं। पुरोहित पर ही सामाजिक उन्नति और प्रगति का दायित्व होता है ठीक वैसे ही जैसे रेलगाडी मे इंजिन का महत्व होता है।

आज दुर्भाग्य से समाज का इंजिन या देह मे सिर ही रोग ग्रस्त हो गया है। आवश्यकता है—सिर के चिकित्सा की। इंजिन को दुरुस्त करने की।

सामाजिक नवनिर्माण की प्रक्रिया मे तब तक गति आ नही सकती जब तक पुरोहितो को जागृत न किया जाए।

जर्जर सामाजिक ढाचे को सुधारने और पटरी से उतरी गाडी को फिर से सुपथ पर ला खडा करने के लिए हमे सर्वप्रथम पुरोहितो के निर्माण व उनके सुधार की ओर युद्ध स्तर पर ध्यान देना होगा।

योग्य कुशल पुरोहितो के अभाव मे आर्य समाज की गाडी सुपथ पर भाग नहीं पा रही। समाज पर पैसे का अधिपत्य वैसे ही हो गया है जैसे मनुष्य आज रात दिन खान पीने मौज उडाने मे मग्न है। आवश्यकता से अधिक जब पेट पूजा आरम्भ हो जाती है तब निश्चय ही देह रोगग्रस्त हो जाता है। वैसे ही अब वैश्यो की प्रधानता मे समाज पूर्ण निरोग नहीं रह सकता, लाला लोग केवल बिल्डिंग बना सकते है। पर समाज को उन्नति के पथ पर ले जाने धन के अतिरिक्त प्रबुद्ध बुद्धि की भी अत्यन्त आवश्यकता होती है। आज आर्य समाज के भी नेता वर्ग मे उस बुद्धि का सर्वथा अभाव है जो समाज और राष्ट्र को उन्नति के पथ पर ले जा सकती है। राष्ट्र को या समाज को एक व्यक्ति आगे नहीं ले जा सकता व्यक्ति तो केवल दिशा निर्देश कर सकता है उस दिशा मे समाज को आगे बढाने के लिए एक प्रबुद्ध टीम की आवश्यकता होती है। समाज की इसी टीम की इकाई को हम पुरोहित पंडित, मौलवी पादरी या ग्रन्थि कहते है।

आर्य समाज मे इस टीम के निर्माण की बहुत आवश्यकता है। अच्छे सदाचारी व्यवहारकुशल, तपस्वी, त्यागी पुरोहितो का समूह किसी भी समाज को प्रगति के पथ पर आगे बढा सकता है।

पुरोहित से ही समाज का निर्माण व उन्नति होती है इसीलिए इस ससार के किसी भी क्षेत्र मे चले जायें और मानव समूह को देखें तो पता चलेगा कि—मनुष्यो के प्रत्येक समूह मे पुरोहित अवश्य मिलेगा। पुरोहित समाज की वह इकाई है जो अपनी रीति व सिद्धान्तो के अनुरूप समाज को परिवार को उन्नति के पथ पर बढने की प्रेरणा देती हैं।

वेद तो मनुष्य मात्र को अभिन्न प्राप्ति की प्रेरणा करते हुए सर्व प्रथम पुरोहित शब्द का प्रयोग करता है।

ऋग्वेद के प्रथम मंत्र से यह स्पष्ट है—

ओ३म अग्निमीळे पुरोहित

आज विश्व का मानव समाज टूट रहा है। भोगवाद जिसे हम वाममार्ग भी कह सकते हैं ससार मे तेजी से फैल रहा है। सभोग से समाधि की सिद्धि कराने वाले प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न आचार्यों व धर्म गुरुओ का बाजार गर्म है। नए नए रूप मे पाखण्ड अन्धविश्वास और ... पूजा का बोलबाला है। जीवन के स्वर्णिम लाभप्रद नियमो को तोडा जा रहा है। ऐसा स्थान मे एक मात्र आर्य समाज ही एक ऐसा संगठन है जिसके ... और ... जीवन दर्शन ... मानव जाति को ... है।

किन्तु ... के लिए पहली या व्यवस्था है कि—हम अपने आचरणो से वैदिक ... आर्य समाज ... सिद्ध करे।

... नही करता है। जो पथ प्रदर्शन के ... करता है वह मंत्र ... सिद्धि को देखकर ही अनुकरण करता है। इसलिए ... यत्न ... से आज जनता को एक प्रेरणा देना चाहते है कि—हमे पुरोहितो के निर्माण की ओर सर्वाधिक यत्न करना चाहिए

पुरोहित ही मनुष्य परिवार और समाज के निर्माता होते है। पुरोहित नाम ... का नहीं अपितु ... जीवन मे ... वाले उदीयमान प्रकाश मय दीप का होता है। आज के युग मे ... केवल पौरोहित्य द्वारा अपना जीवन यापन नही कर सकता। अतः ... के क्षेत्र मे कार्य करने वाले अध्यापको व कालेज के प्रवक्ताओ को पौरोहित्य का प्रभावशाली प्रशिक्षण प्राप्त कर पुरोहित के दायित्व को सभालना चाहिए।

इससे जहा उनकी ... बढाता है ... अधिक एक स्वस्थ समाज के निर्माण मे अध्यापको का महत्वपूर्ण ... समाज को सुलभ होगा।

इस वर्ष १५ मई से १५ जून ९३ तक देहरादून के तपोवन आश्रम मे एक मास का पुरोहितो का एव वानप्रस्थियो का प्रशिक्षण शिविर लगाया जा रहा है।

हमारा ... उद्देश्य ... निर्माण की स्वस्थ प्रक्रिया का आरम्भ किया जाए। पौरोहित्य प्रशिक्षण के ... एक आदर्श जीवन पद्धति का प्रशिक्षण भी बहुत महत्व रखते हैं।

इस ... माध्यम से ... जिला स्तर के एव प्रान्तीय स्तर के आर्य सगठनो को प्रोत्साहित करना चाहते है कि ... सख्या मे पौरोहित्य प्रशिक्षण के शिविरो आयोजन हो और हर वर्ष आर्य परिवार के एक सदस्य को कम से कम हमे पौरोहित्य का प्रशिक्षण दे देना चाहिए।

इससे समूचे समाज मे ... का एक जाल सा बिछ जाएगा। हजारो भटकते हुए परिवारो का हम निर्माण कर सकेंगे और वैदिक जीवन पद्धति को ससार भर मे फैला सकेंगे।

आर्य समाज के वार्षिकोत्सव तो केवल प्रेरणा भर देते हैं पर पुरोहित अंगुली पकडकर परिवार को शुद्ध मार्ग पर चला सकता है।

व्यय साध्य वार्षिकोत्सवो की प्रथा को बन्द करके समय समय पर साप्ताहिक मासिक शिविरो के आयोजन हो जिनमे वास्तविक जीवन पद्धति का क्रियात्मिक प्रशिक्षण दिया जाए। न युवको के गृहस्थियो के वानप्रस्थियो के सप्त दिवसीय शिविर आयोजन कर समाज मे नव जागरण का सूत्रपात किया जाए।

इसके साथ ही परिवारो में सभी सस्कारो को सम्पन्न करवाने की प्रेरणा दी जाए तथा दैनिक एव साप्ताहिक पाक्षिक मासिक यज्ञ करवाकर हर परिवार मे यज्ञ पद्धति का क्रियात्मिक प्रशिक्षण किया जाए।

आशा है रचनात्मक कार्य करने के इच्छुक जन इस दिशा मे आगे बढेंगे और परिवार एव समाज निर्माण मे महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करेंगे। इस विश्वास के साथ।

॥ इति ॥

चौधरी भीमसिंह का निधन

नई दिल्ली, आर्यसमाज तिमारपुर के पूर्व प्रधान चौधरी भीमसिंह का १५ जुलाई ९३ को निधन हो गया। वे ८१ वर्ष के थे और कुछ मास से बीमार चल रहे थे।

३ मई, १९१२ को मगोलपुर कलां गाव मे जन्मे चौ० भीमसिंह तीस हजारी कोर्ट से राजस्व अधीक्षक के पद से सेवानिवृत्त होने के बाद आर्य समाज तिमारपुर से जुड़ गए और दिन प्रतिदिन आर्य समाज के कार्यों मे उनकी लग्न बढती रही। अनेक वर्षों तक समाज के प्रधान रह कर उन्होने सेवा की। वे नियमित रूप से स्वाध्याय व सन्ध्या आदि करते थे तथा आर्य समाज के हर कार्यक्रम पर्व व उत्सव मे बढ चढ़कर भाग लेते थे।

चौधरी भीमसिंह की अन्त्येष्टि पूर्ण वैदिक रीति से १५ जुलाई को निगम बोध घाट पर हुई। १८ जुलाई को शान्ति यज्ञ प० राजवीर शास्त्री के ब्रह्मत्व मे हुआ। रटेवड़ा से स्वतन्त्रता सैनानी श्री दाताराम समाज के मन्त्री श्री विमल कांत शर्मा, चौधरी नारायण सिंह आदि ने भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की अनेक संस्थाओ के शोक प्रस्ताव पढ़कर सुनाये गये। चौधरी साहिब के भरे पूरे परिवार मे पुत्र प्रति सिंह व वीरेन्द्र सिंह के अतिरिक्त पाच पुत्रिया है।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवगत आत्मा को शान्ति व सद्गति प्रदान करे तथा परिवार जनो को दुख सहने की शक्ति दे।

आर्य समाज देवनगर नई दिल्ली का ३३वां वार्षिकोत्सव सम्पन्न

आर्य समाज देवनगर का ३३वा वार्षिकोत्सव २६ अप्रैल से २ मई १९९३ तक बडे हर्षोल्लास के साथ आर्य समाज मे मनाया गया। इस सुअवसर पर २६ अप्रैल से २ मई तक यजुर्वेद पारायण यज्ञ आचार्य वेद प्रकाश जी श्रोत्रिय के ब्रह्मत्व मे सम्पन्न हुआ और वेद पाठ गुरुकुल गौतम नगर के ब्रह्मचारियों द्वारा किया गया। इस यज्ञ की पूर्णाहुति २ मई को सम्पन्न हुई। प्रत्येक दिन साय प० सत्यपाल जी मधुर द्वारा भजन तथा आचार्य वेदप्रकाश जी श्रोत्रिय का वेद प्रवचन होता रहा जिसमे अनेको श्रद्धालुओ ने भाग लिया। इस सुअवसर पर २ मई को श्री सूर्यदेव जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली, डा० शिवकुमार जी शास्त्री, महामन्त्री केन्द्रीय सभा नई दिल्ली, स्वामी आनन्दवर्ष जी गुरुकुल शुकताल के ओजस्वी व्याख्यान हुए।

इस वार्षिकोत्सव मे बच्चो मे आर्य संस्कृति की प्रवृति लाने के लिए प्रतियोगिताओ का आयोजन किया गया।

विजेता बच्चो को श्री सूर्यदेव जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली द्वारा पुरस्कार दिए गए। उन्होने सुझाव दिया कि प्रतियोगिताओ मे बाहर के विद्यालयो को भी सम्मलित करना चाहिए, जिससे अधिक से अधिक बच्चो को वैदिक संस्कृति का ज्ञान हो। उत्सव के समापन पर श्री रघुवर दयालु जी प्रधान आर्य समाज देवनगर ने आगन्तुको का उत्सव मे भाग लेने का धन्यवाद दिया।

अन्त मे दोपहर १२ बजे से २ बजे तक ऋषि लंगर की व्यवस्था की गई।

फिर आया रक्षा बन्धन

रामसुफल शास्त्री "विद्यावाचस्पति"

हर वर्षों की भांति अब भी रक्षा बन्धन आया है।
भाई-बहन के अमरप्रेम की याद दिलाने आया है॥

हर बहन, भइया को राखी बाधे पुलकित होकर के।
सजी कलाई देख के बहना हसती है खुशिया भर के॥

हर धागे के तार तार मे ऐसा रग समाया है।
भाई बहन के अमर प्रेम की याद दिलाने आया है॥

इसी तरह भइया खुश होकर फूला नही समाता है।
बहन की रक्षा वास्ते भइया वचन बद्ध हो जाता है॥

कर्ण हमेशा बहन की रक्षा भइया ने फरमाया है।
भाई-बहन के अमर प्रेम की याद दिलाने आया है॥

राखी एक अनोखा कगन कैसा सुन्दर नाता है।
हर एक बहन और भइया के मन को ये हर्षाता है॥

"रामसुफल" के मन को भी ये बाज बहुत ही भाया है।
भाई बहन के अमर प्रेम की याद दिलाने आया है॥

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

प्रवेश सूचना सत्र-१९९३-९४

निम्नांकित पाठ्यक्रमो मे प्रवेश हेतु आवेदन-पत्र आमन्त्रित किये जाते हैं —

१—विद्याविनोद (इण्टर) २—अलंकार (बी० ए०)

३—बी०एस०सी० (गणित, बायो, कम्प्यूटर, दर्शन तथा मनोविज्ञान ग्रुप)

४—एम०ए० वेद, (संस्कृत, दर्शन, हिन्दी, अंग्रेजी, मनोविज्ञान, प्रा० भा० इतिहास संस्कृति एव पुरातत्व तथा योग।

५—एम०एस०सी० (गणित, माइक्रोबायोलोजी, मनोविज्ञान, रसायन तथा भौतिकी।

६—एम०सी०ए० (मास्टर आफ कम्प्यूटर एप्लीकेशन (नया पाठ्यक्रम १९९३-९४ से प्रारम्भ।

७—पी० एच० डी० (वेद, संस्कृत, दर्शन हिन्दी, अंग्रेजी, मनोविज्ञान, प्रा० भा० इतिहास संस्कृति एव पुरातत्व, गणित, वनस्पति, जन्तुविज्ञान, तथा माइक्रोबायोलोजी।

८—योग डिप्लोमा (एक वर्षीय)

९—स्नातकोत्तर डिप्लोमा कम्प्यूटर साइंस एण्ड एप्लीकेशन।

१०—वैदिक यज्ञ विधान कर्मकाण्ड (डिप्लोमा एक वर्षीय)

११—संस्कृत प्रवेश तथा संस्कृत प्रवीण (एक वर्षीय डिप्लोमा)

१२—अंग्रेजी दक्षता (एक वर्षीय डिप्लोमा)

१३—हिन्दी पत्रकारिता डिप्लोमा (एक वर्षीय)

सामान्य सूचना —अलंकार (बी०ए०) मे दिवस छात्र (डे स्कालर) के रूप मे भी प्रवेश हेतु छात्राये प्रिंसीपल, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय ६० राजपुर रोड, देहरादून को अपने आवेदन पत्र भेजें।

२—अनुसूचित जाति/जनजाति के छात्रो को भारत सरकार के नियमानुसार आरक्षण

३—एम०ए० वेद, संस्कृत तथा दर्शन के छात्रो को छात्रवृत्ति उपलब्ध।

४—महिलाओ के लिये विज्ञान विषयो मे नियमित प्रवेश की सुविधा नही है। नियमित/व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप मे महिलायें एम०ए० (योग के अतिरिक्त) सभी विषय तथा एम० एस० सी० (केवल मनोविज्ञान) तथा पी-एच० डी० के लिए (एम० ए०, एम०एस०सी० सभी विषयो) आवेदन पत्र दे सकती हैं।

५—विवरण पत्रिका (प्रास्पेक्टस) तथा आवेदन पत्र २०/०० रु० नकद मूल्य पर कुलसचिव कार्यालय से उपलब्ध होंगे। डाक से मगवाने पर कुलसचिव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के पक्ष मे देय ३०) रु का बैंक ड्राफ्ट भेजे।

आवेदन पत्र प्राप्त होने की अंतिम तिथि (नियमित छात्र)

एम० सी० ए० के अतिरिक्त सभी विषय	३१-८-१९९३
एम० सी० ए०	२०-८-१९९३
पी एच०डी०	३० ९-१९९३

डा० जयदेव वेदालंकार
कुलसचिव

श्रावणी उपाकर्म का वैदिक स्वरूप

डा० महेश विद्यालंकार, शालीमार बाग

उत्सव प्रियता भारत की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। पर्व हमारी भावनात्मक एकता, सामाजिक सगठन और जातीय गौरव के प्रतीक हैं। पर्वों की लम्बी परम्परा मे श्रावणी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक चिन्तन परम्परा के अनुसार इस पर्व का सबध वेदाध्ययन से है। श्रवण नक्षत्र की पूर्णिमा को मनाने के कारण इसे श्रावणी कहते हैं। श्रवण का अर्थ होता है सुनना। वेद उपनिषद सद्ग्रन्थ व धर्म-ग्रन्थो का सुनना और सुनाना श्रावण कर्म कहलाता है। वेदाध्ययन और स्वाध्याय मानव जीवन का प्रमुख कर्त्तव्य बताया गया है। स्वाध्याय का अर्थ होता है आत्म-चिन्तन, तप, ईश्वर, विचार, वेद तथा श्रेष्ठ जीवन निर्माण करने वाली पुस्तको का पढना, पढाना, पढे हुए को अपना बना लेना सभी स्वाध्याय का अर्थ देते हैं। मानव जीवन का लक्ष्य रहा है—अज्ञान को दूर करके ज्ञान प्राप्ति करना और ब्रह्म के परमानन्द मोक्ष को प्राप्त करना। इस उद्देश्य की प्राप्ति स्वाध्याय साधना से होती है अत स्वाध्याय का महत्व अत्यधिक है। इतिहास साक्षी है कि अनेक ऋषि, मुनि, सन्त, विचारक स्वाध्याय के बल से ससार मे अमर हो गए। प्राचीन परम्परा में इसी उद्देश्य को लेकर गुरु नवदीक्षित स्नातको को उपदेश देते थे—

स्वाध्यायान्मा प्रमद

स्वाध्याय कर्म से कभी प्रमाद नहीं होना चाहिए। जो तुमने पढा है उसे जीवन मे दुहराते रहना। सासारिक कार्यों में सलग्न होकर भी कुछ समय स्वाध्याय के लिए अवश्य निकालते रहना। मनु का भी इसी की ओर सकेत है—स्वाध्याये नित्ययुक्त स्यात् चाहे किसी अन्य कर्म मे छुट्टी हो जाय, किन्तु स्वाध्याय मे व्यवधान नहीं आना चाहिए। वह तो नित्य कर्म है। स्वाध्याय से मनुष्य जीवन पवित्र बनता है। स्वाध्याय करने से जीवन पाप से पुण्य की ओर, अधर्म से धर्म की ओर, असत्य से सत्य की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर अग्रसर होता है। स्वाध्याय शील का जीवन सयमित, सन्तुष्ट एव व्यवस्थित होने लगता है। वह रोगो से मुक्त होकर सुख की नींद सोता है। स्वाध्याय से विवेक व आत्मबोध जाग्रत होने लगता है। स्वाध्याय की महिमा अपार है। इसलिए ऋषिवर ने आर्य समाज के तीसरे नियम मे वेद का पढना पढाना और और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म बताया है।

वर्षाऋतु मे वनो और आश्रमो से सन्यासी, वानप्रस्थ, साधक व पितरजन नगरो मे वर्षाकाल व्यतीत करने आ जाते थे। नागरिकजन भी पावस ऋतु मे कार्य-व्यापार से मुक्त होकर, स्वाध्याय, सत्सग और यज्ञ मे समय व्यतीत करते थे। यज्ञ के व्रती बनते थे। यज्ञोपवीत धारण करके व्रत सकल्प लेते थे। पुराने यज्ञोपवीत को बदल कर नया धारण करते थे। भाव यही होता था कि जो व्रत, सकल्प यज्ञमय जीवन जीने के लिए है उनका नवीनीकरण हो जाय। उन्हे दुहराते थे, जिससे भाव-भावना दृढ बनी रहे। ज्ञान चर्चा व धर्म चर्चा का क्रम चलता था। वनो से आए हुए साधक ज्ञानी व तपस्वीजन गृहस्थिओ का धर्मोपदेश से जीवन मार्ग प्रशस्त करते थे। अपने अनुभवो से आध्यात्म तथा परमार्थ की ओर लोगो को प्रेरित करते थे। वर्षा की समाप्ति पर ज्ञानी साधको, सन्तो व पितरो का विदाई समारोह होता था। तब उन्हे उत्तम भोजन करके, साथ के लिए खाद्य सामग्री भेंट मे दी जाती थी, इसी श्रद्धापूर्वक किए हुए कर्म को श्राद्ध कहते थे। आजकल इसका अर्थ उल्टा समझा जाने लगा। मृतक का श्राद्ध तर्क हीन व सिद्धान्त विरुद्ध है। इस प्रकार श्रावणी का मुख्य उद्देश्य होता था घर-घर म वेदपाठ और घर घर मे यज्ञ कर्म इससे व्यक्ति, परिवार सन्तान व समाज मे श्रेष्ठ विचारो, सस्कारो और परम्पराओ का प्रचलन बना रहता था। जीवनो मे भौतिकता और आध्यात्मिकता समन्वय रहता था। जीवन तनाव चिन्ता रोग शोक, ईर्ष्या द्वेष, पाप वासना से बचा रहता था। यह था श्रावणी उपकर्म का वैदिक स्वरूप, जोकि मूलात्मा से भिन्न भिन्न हो गया। मात्र चिह्न रूप मे परम्परा का निर्वाह किया जा रहा है। वह भी आर्य समाज कोई कोई गिरता पडता जैसे तैसे श्रावणी पर यज्ञ और वेद कथा का आयोजन कर लेता है और मन्दिरो में तो यह परम्परा नष्ट ही हो चुकी है। आर्य समाज के ऊपर वेद की रक्षा परम्परा, पठन पाठन और प्रचार-प्रसार का दायित्व है। वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है और कोई नही मानता है। यह आर्य समाज का नियम इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। ऋषि की वेद प्रचार का कार्य ही वसीयत रही है किन्तु आज जो समाजो, सभाओ व सगठनो मे हो रहा है, उसे देखकर हृदय-पीडा से भर जाता है। आर्य समाज भी अपने कार्य से हट और कट रहा है। वह भी दुकानें, स्कूल, बारात घर, सिलाई सेन्टर विवाह केन्द्र और ईंट पत्थर मे उलझ रहा है, वेद प्रचार और वेद की रक्षा न हो सकेगी? आज पुन आर्य जगत के समक्ष चैलेंज और प्रश्न खडा है—की वेदानुद्धरिष्येति? अब वेदो की रक्षा कौन करेगा? कौन पढेगा? कौन पाठक, द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी बनेगा? आर्य जनता को इस ओर गभीरता व बेचैनी से सोचना चाहिए। यही इस श्रावणी पर्व का मूक सन्देश है कि वेद के पठन पाठन के लिए कुछ करो? वेद ज्ञान से, जीवन परिवार एव समाज मन्दिरो को जोडो।

कालान्तर मे भारतीय समाज मे श्रावणी उपकर्म रक्षा बन्धन के नाम से मनाया जाने लगा। प्राचीन काल मे तत्वज्ञ ब्राह्मण वेद की रक्षार्थ क्षत्रियो व वैश्यो के हाथो मे रक्षासूत्र बाधते थे। यज्ञो मे भी यजमानो के हाथो में रक्षा सूत्र बाधे जाते थे जो आज भी विकृत रूप मे घर मे कथा यज्ञ व शुभकर्म होने पर पुरोहित यजमान के हाथ मे बांधते हैं। मध्ययुग मे विदेशी आक्रान्ताओ के भय से भारतीय नारियां अपने सतीत्व की रक्षा हेतु भाईयो तथा बलवान पुरुषो को राखी बाधकर, उनसे अपनी रक्षा की कामना के उपलक्ष पर उत्सव मनाने की परम्परा चल पडी। यह भावनात्मक सबध सच्चे स्नेह का प्रतीक बनकर नारी की रक्षा का कवच सिद्ध हुआ। विश्व के किसी देश मे ऐसा स्नेहपूर्ण भावनात्मक त्योहार नही मनाया जाता है। यहा भाई-बहिन की भावना से और राखी के बन्धन की मर्यादा प्रेरित होकर आजीवन व्रत का निर्वाह करते हैं। चाहे धागे कच्चे हों, पर सबध पक्के बनाये और माने जाते थे किन्तु युग की आंधी व धन की अन्धी दौड उन भावनात्मक सबधो मे भी पैसे की दीवार बना रहे है। जो कि हमारे टूटन, बिखराव एव विषमता का कारण बन रहा है। इस पर्व के साथ कई पौराणिक कथाए भी जुड गई हैं, जो मात्र इस त्योहार की महत्ता सामाजिकता एवं भावनात्मकता को बल देती हैं। समय के प्रबल प्रवाह मे बहुत कुछ छूट, टूट व फूट जाता है यही हमारे पर्वों, सामाजिक जीवन मूल्यो, आदर्शों सस्कारो आदि के साथ हुआ। मूल चेतना टूट गई। वास्तविक स्वरूप और ध्येय भूल गया, मात्र रुढियो की कल्पित घटनाओ की तथा अन्धविश्वासो का निर्वाह हो रहा है। अब इन पर्वों मे न पूर्व जैसा रस है, न मस्ती है, न भाव-भावना है न कोई उत्साह भाव है, न मेलजोल है, न आने की खुशी है। एक दर्द मे व घा आदमी भाग रहा है किसी को समय ही नहीं है कि दो घडी बैठकर इन पर्वो की मस्ती का स्वाद ले। कुछ विचार चिन्तन व भावना जेहन मे उतारे। आदमी मशीन बनकर दौड रहा है, यही आज के मानव की सबसे बड़ी विडम्बना और त्रासदी है।

वैदिक चिन्तन मे प्रत्येक पर्व विशेष उद्देश्य से मनाया जाता है और एक विशेष सन्देश लेकर आता है। यह श्रावणी पर्व भी वेदो के पठन-पाठन व रक्षा के सकल्प को दुहराने का सन्देश लेकर आता है। वेद का चिन्तन प्रेरित करता है कि हम सच्चे अर्थ में मानव बनकर अपने जीवन जगत को सुखी बनाए। वेद ज्ञान प्रभु का कल्याणी वरदान है। इसी ज्ञान मे मानवता सुखी, शान्त व आनन्दित हो सकती है। वेद का चिन्तन प्राणी मात्र के लिए है। आज ससार विचारो के कारण दुखी है। मगलदायक, श्रेष्ठ पवित्र विचारो का सर्वत्र अभाव हो रहा है। वैदिक चिन्तन विचार देता है। जीवन को सुन्दर, पवित्र व श्रेष्ठ बनाने का मार्ग दिखाता है। श्रावणी उपाकर्म इन्ही वैदिक विचारो के प्रचार प्रसार का पर्व है। इसकी महत्ता, उपयोगिता एव सार्थकता तभी है, जब हम सत्सग, स्वाध्याय, साधना, सेवा आदि श्रेष्ठ भावो से जुडें। जीवन को उन्नत बनाए। यही श्रावणी का वैदिक रूप है।

श्री भारद्वाज को मातृ शोक

आर्य जगत के सुप्रसिद्ध लेखक कवि व्याख्याता और कार्यकर्ता श्री देवनारायण भारद्वाज की वयोवृद्ध माता श्रीमती मुन्नी देवी प्रभुदयाल का पचासी वर्ष की आयु मे दिनाक २३ जून १९९३ को अल्प बीमारी के बाद आकस्मिक निधन हो गया है। उनकी अन्त्येष्टि सस्कार पूर्ण वैदिक रीति से राम गगा तट पर किया गया है। दिवगत माता जी का आत्मशान्ति यज्ञ ५ जुलाई १९९३ को किया गया, जिसमें बडी सख्या मे स्त्री-पुरुषो ने उपस्थित होकर श्रद्धांजलि अर्पित की। सभी कार्यक्रम पौराणिकता रहित शुद्ध वैदिक विधि से होने कारण क्षेत्र मे आर्य समाज का प्रभूत प्रचार हुआ है।

परमपिता से प्रार्थना है कि दिवगत आत्मा को शान्ति एव परिवार जनों को दुख सहने की शक्ति दें।

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (५)

नेतराम शर्मा, प्रधान—भारतीय योग संस्थान पूर्वी जिला, दिल्ली-११००५१

लो ब्लड प्रेशर

१ प्रारम्भिक अवस्था में लौकी की खीर खाने से एक हफ्ते में ठीक।

२ १० मिनट बाईं करवट लेटना।

३ रात को भीगोई २०-२५ किशमिश खाने से एक हफ्ते मे ठीक।

४ पुराने रोगी को, एनीमा, कुंजल, वज्रासन, हलासन, सर्वांगासन, योगनिद्रा, श्वासन।

५ अंकुरित अन्न, खजूर, शहद, दूध, मट्ठा का सेवन।

गर्दन व पीठ मे दर्द

ऊंचे तकिया, ढीली चारपाई, फोम के गद्दे, कुशन सीट, गलत ढंग से बैठना, देर तक झुक कर काम करना तथा मानसिक तनाव इसके कारण हैं।

१ पीछे झुकने के आसन करना और आगे झुकने के आसन न करना।

२ अंकुरित अन्न, फल, सादा भोजन से ही चंद दिनो मे ठीक।

३ पीछे कमर मे दर्द १० बार भुजंग आसन से ठीक।

४ दूसरे आसन, कोणासन, उष्ट्रासन, शलभासन, सुप्त वज्रासन, धनुरासन।

५ सरसो या अरंडी के तेल की मालिस रीड पर ऊपर से नीचे की ओर।

६ एनीमा, कुंजल

आहार—चोकर रोटी, सलाद, कच्ची सब्जी फलो का रस, अंकुरित अन्न।

परहेज—चावल, दाल, आलू, मैदा तथा खोये की चीजें।

कमर मे दर्द

खसखस, मिश्री बराबर लेकर पीसकर एक तोला दूध के साथ।

सीने में दर्द

गाजर उबाल रस निकाल शहद के साथ।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (१०)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

यजु० अ० ४०। म० ८।

भावार्थ—विश्वविधाता सर्वव्याप्त सब, भद्रगुणो का है स्वामी।
तिहू लोक के अणु अणु मे वह रमा हुआ अन्तर्यामी॥
सकल जगत् का कर्ता सारी, विद्याओ से है भरपूर।
स्थूल सूक्ष्म-कारण-तीनो, तन के संयोगो से दूर॥
सदा अछेद्य अभेद्य अभय-अज नस नाडी का ना बन्धन।
हाड मास अरुचम-रक्त है संयोगज नश्वर साधन॥
क्लेश-अविद्या-अन्धकार क्षय से है मुक्त परम ईश्वर।
निज स्वभाव से धर्मप्रिय सवज्ञ ज्ञान-आगर कविवर॥
भूत भविष्यत् वर्तमान की घटनाओ का ज्ञाता है।
सबके ऊपर विद्यमान, ना जन्म बन्ध मे आता है॥
आप स्वयम्भू, सबका कारण, स्वय अनादि अनन्ता है।
सर्वशक्तिमय-रक्षक सद्गुणयुक्त सच्चिदानन्दा है॥
सृष्टि-आदि मे सदा प्रजाहित, सत्य धर्म उन्मेष करे।
सकल ज्ञानमय वेदो का, हरबार यही उपदेश करे॥
जब जब होता सृष्टि प्रलय, तब-तब वैदिक विज्ञान गेय।
ईश-ज्ञान मे व्याप्त रहे इसलिए नित्य है यह सदैव॥

क्रमश

आदर्श त्रैतवाद (३६)

वावसिंह भल्ला

तत्व ज्ञान प्राप्ति का ढंग

यावन्न चित्तोपशमो तावत् तत्ववेदनम न। यावन्न वासनानाशस्तावत्
तत्त्वागम कुत॥ यावन्न तत्त्व संप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षय॥

अन्नपूर्णो० ५-८०

जब तक चित्त शान्त नही होता तब तक तत्व ज्ञान नही होता, क्योकि वासनाए (संस्कार) इसे शान्त होकर बैठने नही देती जब तक वासनाओ-संस्कारो का नाश नही होता तब तक आत्म साक्षात्कार और मोक्ष भी नही होता। ये वासनाए संस्कार ही जन्म मरण के हेतु बन हुए हैं। तत्व ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का सही ढंग है।

मुक्ति का केवल साधन

स ब्रह्मा स शिवा, स इन्द्र सोऽक्षर परम स्वराट् स एव विष्णु,
स प्राण, स कालोऽग्नि, स चन्द्रमा, स एव सब यद्भूते यच्च
भाव्यम् सनातनम्॥ कैवल्यो० ८ ६

वह ईश्वर ही ब्रह्मा है। सबसे बडा है। सृष्टि रचना का निमित्त है। वही शिव है, कल्याणकारी है। सहारकर्ता है। वही इन्द्र है, प्रकाशमान है। वह अक्षर नाशरहित ब्रह्म है स्वय प्रकाशमान है। स्वय सम्पूर्ण संसार में शासन करता है। सबको अपने अधिकार मे चलाता है। वही विष्णु रूप मे सबका पालक है पोषक है, रक्षक है। वह प्राण रूप है। अन्तर्यामी होकर प्राण और जीवन का संचार करता है। अपनी चेतन सत्ता के द्वारा पदार्थों को गति प्रदान करता है। वही काल रूप अग्नि है, मृत्यु मे भी व्याप्त होकर विद्यमान हैं। वह ईश्वर ही चन्द्रमा के समान प्रकाशमान है। प्रत्येक प्राणी को प्रकाश प्रदान करता है। वह ईश्वर भूत वर्तमान और भविष्यत् तीनो कालो मे वर्तमान है। काल रूप है। सनातन है। अनादि और अनन्त है। उसको जानकर मनुष्य मृत्यु को लांघ जाता है। उस पर विजय पा लेता है। मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उस ज्ञानी को मौत का भय नही रहता इसके अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा रास्ता नहीं।

आनन्द प्राप्ति का ढंग

समाधी निर्धूतमलस्य चेतसो निवेशतस्यात्मनि यत्सुख भवेत्।
न शक्यते वर्णयितु गिरा तदा स्वयतदन्त करणेन गृह्यते॥

मैत्रेयी० ६ ३४

जिस साधक के साधना के द्वारा अविद्या आदि मल नष्ट हो गये हैं। आत्मस्थ होकर जिसने परमात्मा मे अपने चित्त को लगाया है। उसको परमात्मा के मेल से जो सुख होता है वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती। वाणी उसका बयान करने मे असमर्थ है। यह वाणी का विषय नहीं है। क्योकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्त करण से ग्रहण करता है। आत्मस्थ होकर चित्त को परमात्मा मे लगाकर ही आनन्द प्राप्त का ढंग है।

क्रमश

प्रेरक प्रसग

ब्रह्मचर्य के बल का चमत्कार

एक दिन सरदार विक्रमसिंह सत्संग मे आए हुए थे। उन्होने स्वामी दयानन्द जी से कहा कि सुनते हैं कि ब्रह्मचर्य से मनुष्य महाबली बन जाता है, क्या यह सत्य है? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि ब्रह्मचर्य धारण करने का जो महत्त्व शास्त्रो ने वर्णन किया है वह सत्य है। तब सरदार महाशय बोले कि महाराज! आप भी तो ब्रह्मचारी है! हमे आप मे कोई विशेष बल तो प्रतीत नही होता। उस समय महाराज ने कोई उत्तर नही दिया। सरदार जी बडी देर तक सत्संग मे बैठे रहे। चलते समय जब नमस्कार करके गाडी मे आरूढहुए तब स्वामी जी ने उनकी गाडी को पीछे से पकड लिया। विक्रमसिंह जी ने घोडों को बहुतेरे कोडे लगाये परन्तु वे गाडी को न खीच सके। सरदार जी ने जब पीछे की ओर मुडकर देखा तब स्वामी जी ने गाडी को छोड दिया और कहा कि ब्रह्मचर्य के बल का प्रमाण आपको मिल गया। सरदार जी उनके इस सामर्थ्य पर अति विस्मित हुए। —सत्यवीरसिंह

सांख्य और योगदर्शन पर पत्राचार पाठ्यक्रम प्रारम्भ

जुलाई १९९३ से "सांख्य और योगदर्शन' पर मेघाजी भाई नैनसी प्रकाशन द्वारा पत्राचार पाठ्यक्रम प्रारम्भ हो रहा है। प्रतिमास १६ पृष्ठ की लघु पुस्तिका मे सांख्य और योग दर्शन मे विद्यमान दार्शनिक विषयो का विवेचन किया जायेगा। प्रत्येक अंक के अन्त मे पाच प्रश्न होगे जिनका उत्तर लिखकर संचालक के पास भेजना होगा। सबसे अधिक सही उत्तर देने वाले प्रथम तीन पठनार्थियो को क्रमश २०१ रु०, १५१ रु० व १०१ रुपये के पुरस्कार एव प्रमाणपत्र दिए जायेग। चालीस प्रतिशत सही उत्तर देने वाले पठनार्थियो को प्रमाण पत्र दिया जायेगा। परिणाम जून ९४ मे घोषित किया जायेगा। पुस्तक डाकव्यय-प्रमाणपत्रादि के लिए केवल मात्र २५ रु वार्षिक सदस्यता शुल्क है। सदस्यता शुल्क धनादेश (एम ओ से निम्न पते पर भिजवाकर शीघ्र सदस्यता प्राप्त करें

सोमदेव शास्त्री
डी-३०९ मिल्टन अपार्टमेट आजाद रोड, जुहू कोलिवाडा
बम्बई ४०००४९

वैदिक सत्संग समिति

नई दिल्ली २६ जुलाई। वैदिक सत्संग समिति एव दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा के सयुक्त तत्वावधान मे एच २८ जगपुरा विस्तार नई दिल्ली मे १ जुलाई ९३ से आचार्य हरिदेव व आचार्य विश्वमित्र मेधावी के ब्रह्मत्व मे यजु एव सामवेद पारायण महायज्ञ हो रहा है। पूर्णाहुति १ अगस्त को होगी। दोपहर १२ बजे डा० धर्मपाल कुलपति गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय का अभिनन्दन भी होगा। सभी सादर आमन्त्रित है।

आर्य मित्र बजाज प्रचार मन्त्री

वेद जयन्ती सप्ताह

आर्य समाज हनुमान रोड नई दिल्ली मे २ अगस्त से ११ अगस्त, ९३ तक वेद जयन्ती कार्यक्रम धूमधाम से मना रहा है। प्रतिदिन प्रात यज्ञ तथा रात्रि ७ से ८ बजे तक सुप्रसिद्ध वैदिक डा० महेश विद्यालकार की मनोहर कथा होगी। ८ अगस्त को प्रात ९ से ११ बजे तक सत्याग्रह बलिदान दिवस मनाया जायेगा। ११ अगस्त को पूर्णाहुति के बाद "आर्य सस्कृति के संरक्षक योगीराज श्री कृष्ण विषय पर भाषण प्रतियोगिता एव कार्यक्रम का समापन होगा। सभी सादर आमन्त्रित हैं।

श्री वेदव्रत शर्मा, मन्त्री

आर्यों की मोरिशस यात्रा

२६-१०-९३ से हवाई जहाज द्वारा दिल्ली मोरिशस यात्रा शुरू होगी। आने जाने का जहाज का किराया १६३०० रुपये प्रति सवारी है, रहने व भोजन का प्रबन्ध मोरिशस सभा द्वारा। ६००० रु० एडवास शेष राशि एक मास मे भेंजे। सवारी अपना पासपोर्ट नाम, आयु पिता का नाम आदि विवरण भेंजे। बाहर के व्यक्ति ड्राफ्ट सयोजक के नाम भेंजे। बाहर से आने वाले २६ १०-९३ को आर्यसमाज अनारकली मन्दिर मार्ग या आर्य समाज चूना मण्डी पहाड़गज पहुचे। भोजन सयोजक की ओर से होगा।

सम्पर्कसूत्र सयोजक

श्री श्याम दास सचदेव,	श्री मालवीय आर्य
मन्त्री, आर्य समाज, चूना मण्डी,	समाज मन्दिर अनारकली
पहाड़गंज, नई दिल्ली-५५	मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली-१
दूरभाष ७५४६१२८	दूरभाष ३४३७१८, ३१२११०

पता मकान न २६१३, भगतसिह
गली न ९ चूना मण्डी,
पहाड़गज, नई दिल्ली-५५
दूरभाष ७३८५०४४ (पी० पी०)

कार्यक्रम

२६-१०-९३ नई दिल्ली से बम्बई, २७-१० बम्बई से मोरिशस, २८-१० से २ ११-९३ तक मोरिशस भ्रमण, २-११-९३ से मोरिशस से बम्बई तथा ३-११-९३ बम्बई से नई दिल्ली।

प्रमाणपत्र एवं पुरस्कार वितरण

दिनाक ४ जुलाई १९९३ रविवार को आर्य समाज सान्ताक्रुज बम्बई में "स्वाध्याय पत्राचार पाठ्यक्रम' (९२-९३) के प्रमाण पत्र एव पुरस्कार श्री कनकजी भाई सुपुत्र मेघजी भाई ने वितरित किये। इस शुभ अवसर पर श्री विरेन्द्र सक्सेना कानपुर को सर्वप्रथम श्रीमती निधि अग्रवाल रतलाम को द्वितीय तथा श्री भगवती प्रसाद गुप्ता और दिलीप भाई वेलाणी बम्बई को तृतीय पुरस्कार भी दिये गये।

इस अवसर पर 'सांख्य और योगदर्शन पर पत्राचार पाठ्यक्रम का श्री प्रताप भाई शूरजी भू० पू० प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली ने विमोचन किया। केप्टिन देवरत्न आर्य उप प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि दिल्ली ने पत्राचार पाठ्यक्रम मे सम्मिलित होने के लिए सभी सदस्यो को प्रेरणा दी।

आर्य समाज दीवान हाल मे वेद जयन्ती पर विशेष कार्यक्रम

नई दिल्ली २७ जुलाई। आर्य समाज दीवान हाल मे २ अगस्त ९३ को प्रात ८ बजे आर्य सत्याग्रहियो के सम्मान मे स्वागत समारोह का आयोजन किया जा रहा है। कार्यक्रम सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध जी की अध्यक्षता मे सम्पन्न होगा। समारोह का शुभारम्भ यजुर्वेद पारायण यज्ञ के बाद सामूहिक यज्ञोपवीत से होगा।

३ अगस्त से ११ अगस्त तक आर्यसमाज मन्दिर में रात्रि को सगीताचार्य श्री गुलाबसिंह राघव के भजनोपदेश एव श्याम सुन्दर स्नातक द्वारा वेद कथा होगी। ११ अगस्त को प्रात योगीराज श्री कृष्ण के जन्मदिवस पर विशेष कार्यक्रम होगा। सभी सादर आमन्त्रित हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेद पीठ के तीन वर्ष के लिए चुनाव मे

प्रधान प्रो० शेरसिंह उपप्रधान सवश्री कप्टन देवर न आर्य प्रो० वेद व्यास भगवती प्रसाद गुप्त एव गजान द आय महाम त्री श्री स यान द आय कोषाध्यक्ष व सगठन मन्त्री-श्री के० एल० भाटिया कायकारिणी सदस्य सवश्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती स्वामी सत्यप्रक श स स्वती ० आन द प्रकाश श्री सूयदेव प्रधान दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के एल० राठी फचच आय रा ना सहगल राम नाथ जीता दरबारी लाल डा० वाचस्पति उपाध्याय मोहन लाल मोहित तथा प रोपकारिणी सभा के प्रधा अ य सभा मो शिन के प्रधान च ग्य।

—आय समाज कीर्ति नगर—ना० दया लीखवा म त्री श्री सुर द्र बुद्धिराजा।

मा ाक र र श्र च ा विमल स्वरूप स स ा स री सगीत मा न मन्न

जीवन मे यज्ञ की महत्ता पर गोष्ठी

आर्य समाज श्री निवासपुरी का यज्ञशाला उदघाटन समारोह बडी धूम धाम से सम्पन्न हुआ जीवन मे यज्ञ की महत्ता विषय पर श्री कृष्णलाल सिक्का प्रधान दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा की अध्यक्षता मे गोष्ठी सम्पन्न हुई। सर्वश्री प्रो० रतन सिंह प मेघश्याम वेदालकार बनारसीसिंह सम्पादक युनीवार्ता नरेन्द्र अवस्थी पत्रकार पुरुषोत्तम लाल गुप्ता आदि ने यज्ञ की महत्ता पर प्रकाश डाला। श्री के० के० मेहता भाजपा नेता द्वारा यज्ञशाला का उदघ टन हुआ

दीना नाथ धावडा म त्री
आयसमाज श्रीनिवासपुरी

आगामी कार्यक्रम वार्षिकोत्सव

आर्य समाज बीकानेर गगाय ना अफीग जिला रेवाडी का ११ वा वार्षिक उत्सव २ व २८ म र्च १९ ३ धूमधाम से मनाया जा रहा है



R. N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 29-30-7-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० /एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश" साप्ताहिक १ अगस्त १९९३

चुनाव समाचार

—आर्य कुमार सभा (रजि०) किंग्जवे दिल्ली—प्रधान-धीरज मलिक मन्त्री-उमेश तिवारी, आचार्य ओम सपरा प्रकाशन मन्त्री सौरभ भाटिया, कोषाध्यक्ष-बद्रीदत्त पुस्तकाध्यक्ष-पवीण ग्रोवर।

—आर्य समाज रमेश नगर, नई दिल्ली—प्रधान श्री नन्दलाल जी उपप्रधान श्री भीमसैन गुलाटी जी, श्री मदन लाल जी, मन्त्री-श्री नरेन्द्र आर्य जी उपमन्त्री-श्री हरीश ढींगडा जी एव कोषाध्यक्ष-श्री सायपत्ल नारग जी।

—आर्य समाज मन्दिर (समुदाय भवन) पुष्पाजलि एन्क्लेव, दिल्ली—प्रधान श्री राजकुमार भाटिया, उपप्रधान-सुश्री [illegible] अनोखा मन्त्री-श्री बहोरी लाल [illegible] उप-मन्त्राणी-सुश्री-कमलेश नागिया व उपमन्त्री-श्री लाजपत राय आहूजा, एव कोषाध्यक्ष-श्री एन०डी० मारवाहा।

—आर्य समाज विवेक विहार, दिल्ली-९५—प्रधान-श्री रूपचन्द कपूरिया उपप्रधान-श्री सप्रेम लाल वर्मा एडवोकेट मन्त्री-श्री जगदीश चन्द चानना, उपमन्त्री-श्री सुभाष सैनी, भवन मन्त्री श्री सत्यपाल मल्होत्रा, कोषाध्यक्ष-श्री यशपाल, प्रचार मन्त्री-श्री भगवान दास अरोडा, पुस्तकाध्यक्ष श्रीमती प्रेमलता सिंघल।

—किशनगज (मिल एरिया), दिल्ली—प्रधान-श्रीमती प्रीतम देवी तुली, उप-प्रधान श्री जे० पी० पाठक, उप प्रधाना-श्रीमती शान्ति देवी शर्मा मन्त्री-श्री चमन लाल मदान, उपमन्त्री-श्री प्रेम प्रकाश गुप्ता एव कोषाध्यक्ष-श्री डा० एस०-एस० कामरा।

—आर्य समाज सरस्वती विहार, दिल्ली ३४—प्रधान-श्री सरदारी लाल बजाज उपप्रधान-सवश्री कुवर दयानन्द वर्मा, डा० कृष्ण लाल, विशन दास गम्भीर एव कृष्ण देव, मन्त्री-श्री विनय भूषण गुप्ता उपमन्त्री-श्री प्रवीण अरोडा एव कोषाध्यक्ष श्री गोपी चन्द गोहर।

आर्य समाज दिलशाद गार्डन—सरक्षक-श्री रेमलदास अरोडा, प्रधान श्रीमती कृष्णा शर्मा, मन्त्री-श्री रामचन्द्र कोषाध्यक्ष श्री सुरेश मुरवीजा एव प्रचारमन्त्री-श्री गुलाब सिंह राघव।

– आर्य समाज रोहतास नगर—प्रधान श्री अविनाश चन्द्र [illegible] – श्री जयपाल सिंह [illegible] चोपडा [illegible] सह मन्त्री-श्री राजकुमार, कोषाध्यक्ष श्री ओम प्रकाश रहेजा।

—आर्य समाज सिली गुडी—प्रधान-श्री रतीराम शर्मा, बोहरा, मन्त्री-श्री सुभाष आर्य, कोषाध्यक्ष श्री सुभाष चन्द्र नकी पुरिया।

—आर्य समाज कलकत्ता—प्रधान-श्री सीताराम आर्य, उप-प्रधान श्री लक्ष्मण सिंह श्री यशपाल वेदालकार व श्री छबील दास सैनी, मन्त्री-श्री राजेन्द्रप्रसाद जयसवाल तथा कोषाध्यक्ष-श्री नाथ दास गुप्त।

—आर्य समाज गोसपुरा न० १ ग्वालियर (म०प्र०)—प्रधान-श्री जे० पी० गुप्ता एडवोकेट उप प्रधान मा० किशन सिंह, श्री हरपाल सिंह, मन्त्री-श्री दीपचन्द आर्य, उपमन्त्री-श्री कृष्ण, कोषाध्यक्ष गोपाल सिंह वर्मा, पुस्तकालयाध्यक्ष-श्री वीरेन्द्र कुमार दीक्षित।



सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज नई दिल्ली ११० ०२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन – ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म्
आर्य सन्देश
कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

वर्ष १ अंक ... सन १९९३ विक्रमी सम्वत २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत १९६०८५३०९३
मूल्य ... वार्षिक ... आजीवन ५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

वेद जयन्ती कार्यक्रम ... धूम

हैदराबाद के ... बलिदानियों ने एक नया इतिहास रचा है

स्वामी आनन्द बोध सरस्वती

नई दिल्ली २ अगस्त। राजधानी के ... समाज ... एवं आर्य शिक्षण संस्थाओं में श्रावणी उपाकर्म ... मन्दिरों में हजारों आर्य नर नारियों ने सामूहिक ... धारण किये। सन १९३९ के हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के ... सम्मान एवं श्रद्धांजलि समारोह आयोजित किये ... विशेष यज्ञ तथा रात्रि को वेद कथाओं का आयोजन ... में भी श्रावणी उपाकर्म श्रद्धापूर्वक मनाया गया।

आर्य समाज दीवान हाल ... राजधानी के ... आर्य समाज मन्दिर दीवान हाल में आज प्रातः श्रावणी उपाकर्म एवं सत्याग्रह बलिदान दिवस समारोह सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध जी सरस्वती की अध्यक्षता में श्रद्धापूर्वक मनाया गया। डा० महेन्द्र कुमार शास्त्री एवं श्री नेत्रपाल जी शास्त्री के ब्रह्मत्व में वृहद यजुर्वेदीय यज्ञ सम्पन्न हुआ। सैकड़ों आर्य नर नारियों व ब्रह्मचारियों ने सामूहिक यज्ञोपवीत धारण किया।

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती जी ने हैदराबाद सत्याग्रहियों को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये कहा कि १९३९ में हैदराबाद के निजाम के अत्याचारों एवं अनुचित धार्मिक प्रतिबन्धों के विरोध में हजारों आर्य वीरों ने निजाम की जेलों में भीषण यातनायें सही थी तथा अनेक आर्य महानुभावों ने ... धर्म युद्ध में बलिदान देकर एक नया इतिहास रचा था। उन सभी बलिदानों व सत्याग्रहियों को मैं आदरपूर्वक श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूं जिन्होंने धर्म का मशाल जलाये रखा।

स्वामी जी ने आगे कहा कि आज लोग धर्म को ठीक प्रकार से परिभाषित नहीं कर पा रहे हैं। धर्म सत्य व सनातन है परन्तु मत ... अपूर्ण है उसमें धर्म का केवल कुछ अंश होता है। मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण इस प्रकार बताये हैं धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।

स्वामी आनन्दबोध जी ने आह्वान किया कि आर्य सत्याग्रहियों व शहीदों से प्रेरणा लेकर हमें सत्य सनातन वैदिक धर्म पर चलते हुये वेद प्रचार कार्य में निष्ठापूर्वक योगदान देते रहना चाहिये।

हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के स्वतन्त्रता सेनानी प० ब्रह्मदत्त जी स्नातक सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द जी शास्त्री एवं दीवान हाल आर्य समाज के प्रधान श्री मूलचन्द गुप्त ने भी आर्य सत्याग्रहियों के प्रति भावांजलि अर्पित की।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने इससे पूर्व प० ब्रह्मदत्त स्नातक श्री ...ेश्वर दयाल एवं श्री ...कृष्ण वर्मा सहित कुल २५ आर्य सत्याग्रहियों का शाल ओढ़ा कर एवं पुष्प मालायें पहना कर करतल ध्वनि से स्वागत

(शेष पृष्ठ ७ पर)

स्वा. समर्पणानन्द सरस्वती की ९८वीं स्मृति जयन्ती

वैदिक शिक्षाओं पर चलने से ही आतंकवाद एवं समस्त बुराइयों का उन्मूलन किया जा सकता है

जी. राम-रेड्डी

नई दिल्ली १ अगस्त समर्पण शोध संस्थान ... के तत्वावधान में विद्यावारिधि स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती की ९८वीं स्मृति जयन्ती हिमाचल भवन नई दिल्ली में आर्य जगत के तपोनिष्ठ संन्यासी स्वामी ...नन्द जी महाराज की अध्यक्षता में आज धूमधाम से मनाई गई।

इस अवसर पर समारोह के मुख्य अतिथि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री जी० राम रेड्डी ने समर्पण शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित स्वा समर्पणानन्द कृत शतपथ ब्राह्मण भाष्य (तृतीय काण्ड) एवं श्री प ...मनाथ वेदालंकार कृत 'सामवेद भाष्य (उत्तरार्चिक) का करतल ध्वनि के बीच लोकार्पण किया।

श्री जी० राम रेड्डी ने कार्यक्रम में अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि ऋग्वेद ... के पुस्तकालय का प्राचीनतम ग्रन्थ है। वेद ही विश्व की संस्कृति के उद्गम माने जाते हैं। गुरुकुलों में गुरुओं के मुख से सुनकर शिष्य वेद कण्ठस्थ कर लेते थे और ये श्रुति कहलाये। गुरु-शिष्य परम्परा ने हमारी अमूल्य वैदिक धरोहर को इस प्रकार जीवित रखा। तत्पश्चात निघण्टु ब्राह्मण ग्रन्थ वेदांग आदि की रचना हुई। असीम ज्ञान का भंडार वैदिक साहित्य हमारे गौरव का प्रतीक है।

मध्यकाल में महीधर सायण माधवाचार्य भट्ट भास्कर भारत स्वामी आदि ने वेदों के भाष्य किए। जर्मन में मैक्समूलर लुडविग व आर टी एच ग्रिफ्थ ने भी वेदों के भाष्य किए। भारतीय व विदेशी विद्वानों द्वारा वेदभाष्य का कार्य वेदों की महत्ता को प्रतिपादित करता है

(शेष पृष्ठ ७ पर)

वेद जयन्ती व यज्ञशाला का उद्घाटन

आर्य समाज मन्दिर बी०एन० पूर्वी शालीमार बाग में ६ से १४ अगस्त तक वेद जयन्ती कार्यक्रम के अन्तर्गत प० शिवाकान्त उपाध्याय द्वारा यजुर्वेदीय यज्ञ व रात्रि को वेद कथा का सुन्दर आयोजन किया गया है।

१५ अगस्त को यज्ञ की पूर्णाहुति होगी। यज्ञशाला का उद्घाटन स्वामी विद्यानन्द सरस्वती द्वारा होगा। वैदिक विचारधारा का सन्देश विषय पर वैदिक विचार रखेंगे। शान्ति पुरस्कार भी वितरण होगा। सभी सादर आमन्त्रित हैं।

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक त्रिलोकचन्द शर्मा

योगीराज श्री कृष्ण का आज के मनुष्यो को सन्देश

ऐ मनुष्यो !

तुम पिछले ५ हजारो वर्षो से मेरे जन्म दिवस को श्री कृष्ण जन्माष्टमी के रूप मे मनाकर मुझे स्मरण करते रहे हो और प्रतिदिन तुम मेरे नाम से बनाए मन्दिरो मे जाकर मेरी आराधना करते हो पर मुझे बहुत दुःख पूर्वक लिखना पड़ा रहा है कि इस सबसे मैं प्रसन्न नही हू । यह सच है कि तुम हृदय से मुझे चाहते हो और मेरे आदर्शों और कार्यो को तुम भी जीवन व व्यवहार मे [illegible] लाना चाहते हो पर उससे भी बड़ा सच यह है कि यह केवल तुम्हारी [illegible] है तुम समझते हो कि केवल मुझे स्मरण करने अथवा मेरा नाम लेने ही से सब काम [illegible] हो जायगे जिसे मै [illegible] करना या करवाना चाहता हू । [illegible] तुम्हारी भूल भी नही है तुम्हे पिछली कई शताब्दियो से सिखाया ही यही गया है कि कृष्ण तो भगवान थे और जब ससार मे सकट के बादल घिर कर आते हैं तब तब वे स्वय उत्पन्न हो जाते है ।

यदा यदा हो धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानाम धर्मस्य तदात्मान सजाम्यहम् ।

मेरे मुख से वेद व्यास ने अर्जुन को दिये गीता के ज्ञान के रूप मे उक्त कथन भी कहलवा दिया था मैंने कहा था—हे अर्जुन जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब धर्म के उत्थान के लिए मै उत्पन्न होता हू । पर इसका यह अर्थ नही है जो तुम समझ कर बैठ गये हो । मुझे मालूम है कि अकर्मण्य ब्राह्मणो ने जीवन को सरल और सुगम बनाने के लिए अवतार की कल्पना की और मुझ भी अवतारो की श्रेणी मे लाकर खडा कर दिया । सामान्य मनुष्य यह समझ बैठा कि सासारिक विषमताओ विघ्न बाधाओ और कष्टो को तथा अन्याय उत्पीडन व शोषण को समाप्त करने का सामर्थ्य केवल भगवान के पास है और सामान्य मनुष्य की समाप्ति के लिए कुछ भी नही कर सकता पर यह एक भ्रान्त धारणा है । पहला भ्रम तो यह है कि मैं भगवान था । सच यह है कि मैं भी आपकी तरह सामान्य मनुष्य था । आचार्य सन्दीप ने मेरा निर्माण किया था । मुझे शक्ति सम्पन्न भी बनाया था और मेरा मनोबल भी ऊचा किया था । मुझमे यह वृत्ति जागरित की थी कि मैं जहा भी कही भी अन्याय अत्याचार हो तो उसको साम दाम दण्ड और भेद नीति से समाप्त करने मे जुट जाऊ । उस समय कस की क्रूरता जरासघ की जडता शिशुपाल की शठता और दुर्योधन का दुष्ठता से विश्व त्रस्त था । मुझमे यह [illegible] [illegible] और मैं इन सबको समाप्त करने मे सफल रहा । इसके लिए मुझे अर्जुन का सहयोग भी लेना पडा वह मोहग्रस्त हो गया । उसे अपने कर्तव्य का बोध न रहा तो मैंने उसे गीता का ज्ञान देकर उसे उसका कर्त्तव्य स्मरण करवाया

तुम सब भी मेरे अर्जुन हो । मैं देख रहा हू तुम सभी मोहग्रस्त हो तुम्हे अपना कर्त्तव्य भूल गया है अपनी शक्ति का भी [illegible] नहीं । [illegible] सम्प्रदाय के मोह मे तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थ मे पड कर तुम अन्याय और अत्याचार को समाप्त करने का [illegible] भी नहीं कर रहे हो । आज मैं तुम्हे फिर से गीता का सच्चा ज्ञान स्मरण करवा कर मोह और स्वार्थ से हटकर कर्म करने का उपदेश देता हू ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्म फल हेतुर्भू र्माते सड्गोस्त्वकर्मणि ।

स्मरण रखो ! तुम्हारा केवल कर्म करने का ही अधिकार है । तुम कभी उस किये कर्म के फल पर ध्यान मत दो । तुम किसी अच्छे व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित हो फल की मत देखो । तुम्हारे कर्त्तव्य से जो सष्टि का कल्याण रूपी फल तुम्हे प्राप्त होगा उसकी ओर तुम देख भी नही पा रहे । इसी स्वार्थ बुद्धि के ही कारण तुम अकर्म मे नष्टकर्म मे लीन हो जाते हो उसमे कभी प्रवत्त मत होवो । स्वार्थ के ही कारण तुम केवल अपने तक देखते हो । तुम अपने शरीर को ही अपना सब कुछ समझते हो । हर याद रखें यह शरीर नित्य नहीं है हमेशा रहने वाला नहीं है । यह शरीर तो एक कपडे की तरह है जिसके जीर्ण शीर्ण होने पर मनुष्य इसे बदल कर नया शरीर धारण कर लेता है ।

वासासि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृहणाति नरो पराणि ।

वस्तुत हमारा आत्मा नित्य है यह कभी मरती नही मरता मैंने गीता मे अर्जुन को बताया —

नैन छिदन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावक
नचैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत

इस आत्मा को कोई नही मार सकता । जब तुम्हे यह आत्मज्ञान हो जायेगा तब तुम अभय होकर अपने कर्मो मे प्रवृत्त होगे । तब तुम स्वार्थवश कार्य नही करोगे वरन [illegible] हो कर मेरे समान ही [illegible] काम करोगे ।

आत्म [illegible] होने के [illegible] मनुष्य उदार [illegible] है [illegible] ही भय भीत [illegible] है [illegible] । उसका मनोबल [illegible] हो [illegible] है [illegible] वह [illegible] गीता [illegible] का [illegible] हो जाता है । [illegible] से बचना चाहते हो तो [illegible] को समझना होगा तुम्हे स्थित प्रज्ञ रहकर अपनी इन्द्रियो और मन को अपनी बुद्धि को अपने कर्म को [illegible] मार्ग मे प्रवृत्त करना होगा स्मरण रखो जब तक तुम स्थित प्रज्ञ होकर आत्म कल्याण नही कर लेते तब तक मानव कल्याण के महान कर्म मे भी प्रवृत्त न हो सकोगे ।

आज मनुष्य परेशान है उसकी परेशानी से उसका परिवार समाज और समष्टि सम्पूर्ण राष्ट्र व विश्व ही सकट ग्रस्त हो गया है । इसे सकट से मुक्त करने के लिए कोई कृष्ण अवतार नही लेगा वरन तुम्हे स्वय कृष्ण बनकर अपने कष्टो को दूर करना होगा तुम्ही मे वह शक्ति है उसे पहचानो और विवेक पूर्वक कर्म करो । मेरा कोई रूप तुम्हे प्रेरणा देता तो उसे स्मरण करो । मेरा गीता का ज्ञान तुम्हे प्रेरणा देता है तो उसे स्मरण करो मेरी गीता का ज्ञान तुम्हे ठीक मार्ग दर्शाता है तो उसका मनन करो । मेरा सुदर्शन चक्र यदि तुम्हे अपराधी को नष्ट करने की शक्ति देता है तो उसे धारण करने का प्रयत्न करो ।

मेरा एक रूप है दुष्ट दलन का । मैंने किसी निरपराध को तग नही किया । मैंने केवल उसी का विरोध किया जिसने विश्व मे अन्याय करने का प्रयत्न किया है अन्यायी को मारना हिंसा नही अहिंसा है सब प्राणियो के प्रति अभेद बुद्धि है पर स्वार्थी और [illegible] व्यक्ति के प्रति मैं भेद बुद्धि रखता हू । मैंने सदा उसका विरोध किया है और [illegible] भी उसने दुष्ट कर्म नही छोडा तो मैंने उसे समाप्त किया है [illegible] आज भी [illegible] लोक कल्याण [illegible] रहा हो । मेरा यह रूप तुम्हें भी [illegible] प्रेरणा प्रदान करो । [illegible] दुर्जन है [illegible] पहचानो और उन्हें समाप्त करो ।

[illegible] मुझ योगी [illegible]

[illegible] गीता [illegible] यह सच है कि [illegible] प्रेरणा [illegible] पर [illegible] । [illegible] एक [illegible] शरीर [illegible] का महत्त्व देता है और [illegible] मनुष्य का चिन्तन नही हो [illegible] जीवनलक्ष्य का पूरा नही कर [illegible]

[illegible] भगवान बनाया । [illegible] को जीव कहा जीव [illegible] बना कर प्रस्तुत किया पर यहा लोगो ने उनके [illegible] समझा । भगवान को सर्वशक्तिमान कहकर उसके साथ सभी प्रकार से [illegible] जोड [illegible] ।

वस्तुत मुझे भगवान कहना ही गलत है । मुझे सर्व शक्तिमान मानना ही भूल है । मुझे भगवान समझकर तुम अपने को मुझसे अलग कर लेते हो ।

वस्तुत मैं तुम्हारे ही एक हू । जो तुम हो वही मै हू । यदि तुम इस वास्तविकता को [illegible] लो तो तुममे भी वही बनने की प्रेरणा उत्पन्न होगी जो मै था मैं योगी था तो तुम भी योग को धारण कर सकते हो । मैं शक्ति सम्पन्न था तो केवल अपनी शक्ति को पहचानने मे ही तुम भी अपने को वैसा शक्ति सम्पन्न अनुभव करने लग जाओगे । मैं यदि विवेकी और स्थित प्रज्ञ था वह विवेक और स्थित प्रज्ञता तुममे भी है । उसे पहचानो ।

(शेष पृष्ठ ६ पर

आर्यसमाज मन्दिर तिमारपुर मे वेदो मे वनस्पति विज्ञान पर संगोष्ठी

वेदों के अध्ययन बिना हमारा जीवन अधूरा है

—कुलानन्द भारतीय

(गताङ्क से आगे)

पूर्व निगम पार्षद श्री माहिब सिंह वर्मा ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा कि भारतीय संस्कृति का आधार देववाणी सस्कृत ही है। वेद सस्कृत मे ही हैं और वेदो मे हर प्रकार के ज्ञान के साथ-साथ वनस्पतियो की भी प्रचुर जानकारी है। उन्होने वेद व सस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार तथा प्राचीन मूल्यो की रक्षा पर विशेष बल दिया।

डा० प्रशात वेदालकार ने कहा कि अनन्त ज्ञान के भण्डार वेदो की सस्कृति प्रकृति व वनस्पति की सस्कृति है।

डा० सत्यदेव चौधरी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि वेदो मे हर प्रकार विद्या का सकेत रूप मे उल्लेख है। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त मे कहा गया है कि धरती माता मुझे पुष्ट करे। सोमलता वन ... का भी उल्लेख मिलता है।

डा० निमल त्रिखा ने वैदिक व सस्कृत वाड्मय म वनस्पति विज्ञान चर्मोत्कर्ष पर है। डा० उर्मिल रस्तोगी ने कहा कि वैदिक साहित्य मे वनस्पतियो का मूल्य व महत्व है। वेदो मे तो पर्यावरण की शुद्धि के लिए यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाली समिधाओ के पेडो का उल्लेख है तथा वरुण आदि लकडो के प्रयोग का निषेध हैं। डा० प्रवेश सक्सैना ने कहा कि वेदो मे प्राणवायु के प्रतीक पीपल के महत्व का विशेष उल्लेख किया गया है। डा० कृष्ण लाल डा० लक्ष्मीश्वर झा आदि मूर्धन्य विद्वानो ने भी परिचर्चा मे सारगर्भित विचार प्रकट किये।

सस्कृत अकादमी के सचिव श्री कृष्णचन्द्र मेमवाल जी ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि वेदो मे जीवन के लिए उपयोगी हर ज्ञान-विज्ञान व विद्या का वर्णन मिलता है। वनस्पति शास्त्र का प्रदूषण दूर करने व पर्यावरण शुद्धि मे महत्व-पूर्ण स्थान है। ऐसी सामयिक परिचर्चा के माध्यम से सस्कृत, वेद व पर्यावरण शुद्धि का सन्देश जन जन तक पहुचेगा।

उल्लेखनीय है कि सभी विद्वान वक्ताओ ने सस्कृत के प्रचार प्रसार एव वेदो के सन्देश को आम जनता तक ले जाने मे ऐसी सगोष्ठियो द्वारा अकादमी के प्रयासो तथा परिचर्चा के लिए आर्यसमाज जैसे पवित्र स्थान के चयन के लिए आयोजको की भूरि भूरि प्रशसा की और आशा प्रकट की भविष्य म भी यह क्रम चलता रहेगा।

कार्यक्रम का शुभारम्भ गौतम नगर गुरुकुल के ब्रह्मचारियो के वेदपाठ से हुआ समाज मन्दिर के प्रधान श्री तेजपाल मलिक मन्त्री श्री विमल कात शर्मा, माता श्रीमती गोमती देवी श्री आनन्द प्रकाश श्री कन्हैराम आदि ने अतिथियो का का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। शान्ति पाठ के बाद ऋषि लगर के साथ कार्य-क्रम सम्पन्न हुआ।

गुरुकुल कागड़ी का कुलपति बनने पर डा. धर्मपाल का सार्वजनिक अभिनन्दन

(गताङ्क से आगे)

स्वामी जी ने आगे कहा कि डा० धर्मपाल को जो फूल-मालाये पहनायी गयी है, उनमे हम सबकी शुभ कामनाये हैं। सारा आर्य जगत आपके साथ है। हमे आशा है कि अब गुरुकुल मे एक नया प्रकाश आयेगा। दिल्ली का यह चलता फिरता आर्य समाज बुराई से कभी भी समझौता नही करेगा। डा० धर्मपाल चुनौती का पूरा मुकाबला कर परीक्षा मे खरे उतरेगे।

स्वामी जी ने आगे कहा कि आज प्रमुख कार्य स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित इस गुरुकुल की छवि सुधारने का है। आज गुरुकुल मे प्राचीन ऋषि-मुनियो की आवाज गुजाने देव दयानन्द की विचारधारा के प्रचार-प्रसार एव स्वामी श्रद्धानन्द के सपनो को साकार करने की आवश्यकता है। प्रभु से प्रार्थना है कि डा० धर्मपाल अपने कार्य मे सफल हो और हर तीन वर्ष के कार्यकाल की समाप्ति के बाद पुन उनके कुलपति बनने पर लगातार इसी प्रकार स्वागत करते रहे।

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति एव हरियाणा आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान प्रो० शेरसिंह एव डा० धर्मपाल आर्य समाज के सच्चे सेवक हैं व आर्य समाज के सिद्धातो मे इनकी अटूट आस्था है। हमारी आकाक्षा है कि उनके कार्यकाल मे गुरुकुल की छवि निखरे और वहा वेदो के वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए अकादमी बनाने का काम भी पूरा हो ताकि हम उन्हे अगले ३ वर्ष के लिए पुन कुलपति बनायें।

स्वामी समर्पणानन्द शोध सस्थान के सस्थापक व अध्यक्ष स्वामी दीक्षानन्द जी महाराज ने कहा कि परमात्मा डा० धर्मपाल को ऐसा बल व बुद्धि दे कि गुरुकुल की प्राचीन परम्परा की पुन स्थापना हो और वहा प्राणो का नव सचार हो।

प्रकाशन विभाग के निदेशक पद्मश्री डा० श्यामसिंह शशि ने आशा व्यक्त की कि अब गुरुकुल कांगडी मे वेद प्रचार की प्राण प्रतिष्ठा होगी और हम सबकी शुभकामनायें डा० धर्मपाल का मार्ग प्रशस्त करेंगी।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने कहा कि आर्य समाज एक महान सगठन है और हम मिल जुलकर चलें व काम करें तो कोई ताकत नहीं कि गुरुकुल की छवि में सुधार न हो।

गुरुकुल कागडी आर्य विद्या सभा के महामन्त्री श्री प्रकाशवीर शास्त्री ने विचार व्यक्त किया की कि डा० धर्मपाल यदि विश्वविद्यालय की कमियो को दूर कर सकें और वहा की समस्याओ का निपटान कर सकें तो स्वामी श्रद्धानन्द के प्रति उनका ऋण उतर जायेगा।

डा० मनोहर विद्यालकार ने कहा कि मधुर भाषी व सज्जन व्यक्ति डा० धर्मपाल प्रभु मार्ग प्रशस्त करेंगे।

दिल्ली आर्य प्रातीय महिला सभा की प्रधाना श्रीमती शकुन्तला आर्या ने कहा कि ... रोम रोम प्रसन्न है। महान व्यक्तित्व के धनी डा० धर्मपाल कर्मयोग के साचे मे ढले है।

डा वाचस्पति उपाध्याय ने कहा कि गुरुकुल के पाठयक्रम मे वेदो के अध्ययन को समुचित स्थान मिलेगा ताकि श्रद्धानन्द की तपोस्थली में वैदिक मिशनरी पैदा हो सके।

डा० महेश विद्यालकार ने कहा कि श्रद्धेय स्वामी आनन्द बोध जी एव श्री सूर्यदेव जी के योगदान से यह पद प्राप्त हुआ है अत वे बधाई के पात्र हैं। गुरुकुल की अपनी अलग पहचान है। यहा उपदेशक विद्यालय खोले जायेगे।

श्री राममूर्ति कैला, प्रधान आर्य समाज हनुमान रोड श्री रतन लाल जी सहदेव, स्वामी स्वरूपानन्द जी आदि ने शुभ कामनायें देते हुए आशा व्यक्त की कि डा० धर्मपाल स्वामी श्रद्धानन्द के सपनो का पूरा करने मे सफल होगे।

डा० धर्मपाल ने अपने सम्मान के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहा कि युगपुरुष महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका मे बताया हैं कि ज्ञान-विज्ञान के भण्डार वेदो मे हर प्रकार की विद्यायें बीज व मूल रूप मे विद्यमान हैं। गुरुकुल में वेदो के अध्ययन के समाचार आधुनिक ज्ञान विज्ञान को भी प्रोत्साहन देना होगा। गुरुकुल मे वेदाध्ययन करने वाले छात्रो को विशेष छात्रवृत्ति देने की जरूरत है। आश्रम व्यवस्था के सवर्धन की आवश्यकता है। आप सबकी शुभ कामनायें व सहयोग मेरा मार्ग प्रशस्त करे, यही प्रभु से प्रार्थना है।

समाज के मन्त्री श्री वेदव्रत शर्मा ने सभी आर्य महानुभावो के प्रति आभार व्यक्त किया। शान्ति पाठ के बाद प्रीतिभोज की भी व्यवस्था थी।

संस्कृत भाषा पर छाये विपत्ति के बादल

प्रो० जयदेव आर्य

समस्त संसार के विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि इस समय संसार मे विद्यमान सभी भाषाओ मे संस्कृत प्राचीनतम भाषा है। हम भारतीयो और विशेषकर आर्य समाजियो की तो मान्यता है कि संस्कृत (वैदिक संस्कृत) संसार की आदि भाषा और भारतीय संस्कृति का आधार है और आर्य समाज का भी—इसमे तो कोई सदेह है ही नही। हमारे सभी बडे-बडे नेता इस भाषा की प्रशसा करते करते थकते नहीं, परन्तु वह केवल शब्दजाल मात्र होता है, क्योकि इस भाषा की स्थिति दिनानुदिन बद से बदतर ही होती जाती है—मर्ज बढता ही गया ज्यो-ज्यो दवा की। जैसे-जैसे इस भाषा को महत्व देने की बातें और दावे किये जाते हैं वैसे-वैसे इसकी स्थिति बिगडती जाती है यह अत्यन्त खेदपूर्ण है।

कैसा सम्मान ?

यह हम जो संस्कृत का सम्मान करते हैं वह वैसा सम्मान नही है जैसा किसी बडे शक्ति सम्पन्न व्यक्ति का होता है। यह सम्मान उस बुढिया के सम्मान के तुल्य है जिसके महत्व का गुणगान मंच पर और कथाओ मे तो किया जाता है पर घर मे उसे ठीक ढग से रोटी भी नही दी जाती। वह सम्मान केवल लोक दिखावा है। वह आर्य समाज की मान्यता के अनुसार जीवित का नहीं मरे हुए का श्राद्ध है जो हमसे कुछ विशेष मागने नही आती बस कभी-कभार एक दो ब्राह्मण को कुछ भोजन करवा देने से ही उसको तृप्त मान लिया जाता है। यदि ऐसी बात न होती तो जिस नेहरू ने प्राचीन भारत मे संस्कृत को भारत की एकता की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कडी बताया था उसके और उसके वशजो और अन्य उत्तराधिकारियो के शासन मे संस्कृत के पठन पाठन मे इतनी बाधाए खडी न की जाती। स्व श्री राजीव गाधी एक ऐसे ईसाई को केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड का अध्यक्ष न बनाते, जो संस्कृत को पाठ्यक्रम से बाहर निकलने की घोषणा कर दे और यदि भारत की जनता मे संस्कृत के प्रति सच्ची निष्ठा होती तो वह व्यक्ति या फिर राजीव गाधी अपने पद पर बने न रह पाते। ऐसा अपमानपूर्ण व्यवहार कोई उर्दू या पजाबी से करके तो देखे उसे तभी छठी का दूध याद आ जाएगा। पर संस्कृत के साथ सब चलता है। यह हमारे मृत या अशक्त या निष्ठाहीन होने का प्रमाण है।

संस्कृत की स्थिति

अग्रेजी काल मे उच्चतम प्रतियोगी परीक्षाओ मे एक श्रेण्य (क्लासिक) प्राचीन भाषा के रूप मे संस्कृत का बहुत महत्व था। पर स्वतन्त्रता के बाद इसे वह महत्व नही दिया गया। पाठ्यक्रम मे इसे त्रिभाषा सूत्र मे अवश्य रखा गया, जिसके कारण कई हिन्दी भाषी राज्यो मे इसे स्कूलो मे तृतीय भाषा के रूप मे पढाया जाता रहा विशेषकर उत्तर प्रदेश मे। पर देश की एकता के शत्रु और अल्पसख्यको के मतो के लालची राजनीतिक नेता इसके विरुद्ध लगातार विषवमन करते और षड्यत्र रचते रहे। तमिलनाडु मे इसे ब्राह्मणवाद के साथ अभिन्न मानकर इसका विरोध किया गया और ऐसा ही कुछ महाराष्ट्र मे भी हुआ। ब्राह्मण अब्राह्मण विवाद मे संस्कृत पिस गई। वैसे कुछ लोग मानते हैं कि यदि संविधान निर्माण के समय हिन्दी की बजाय संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयास किया जाता तो इसमे कठिनाई न होती और बाद मे हिन्दी को जो दक्षिण मे विरोध सहन करना पडा वह संस्कृत को सहन न करना पडता, क्योकि तमिल को छोडकर शेष तीनो दक्षिण भाषाओ मे संस्कृत शब्दो का बाहुल्य बहुत है। अस्तु !

पजाब मे खालिस्तान के समर्थको ने पजाबी के नाम पर हिन्दी और संस्कृत दोनो के विरुद्ध युद्ध छेडा और उत्तर प्रदेश आदि मे उर्दू के नाम पर मुसलमानो ने। पूर्वोत्तर मे ईसाई पादरियो के प्रभाव से संस्कृत के अध्ययन अध्यापन मे बाधा उपस्थित हुई। प्रशासन मे अग्रेजी के वर्चस्व के कारण और त्रिभाषा सूत्र मे एक दक्षिण भारतीय भाषा पढने के शोर के कारण भी संस्कृताध्ययन की सम्भावनाए क्षीण हुई। अभी भी ये अनेक खतरे उसी प्रकार विद्यमान हैं और संस्कृत के अध्ययन को चुनौती दे रहे हैं। पाठ्यक्रम मे जब तक संस्कृत की स्थिति दृढ नही हो जाती तब तक यह खतरा बना ही रहेगा। आजीविका के साधनो के दबाव के कारण संस्कृत पठन-पाठन की प्राचीन पाठशाला गुरुकुल पद्धति भी क्षीणता की ओर ही जा रही है। केवल सरकारी अनुदान और जनता के कुछ दान के बल पर ही कोई शिक्षा प्रणाली सफल नहीं हो सकती, जब तक कि अच्छी सम्मान जनक आजीविका और व्यावहारिकता के साथ उसका सम्बन्ध न जुडे।

आर्य समाज का दायित्व

इस सम्बन्ध मे अन्यो की अपेक्षा आर्य समाज का दायित्व कही अधिक है। लन्दन के उस अग्रेजी स्कूल की अनेक बार चर्चा हुई है जिसमे संस्कृत सब अध्यापको और विद्यार्थियो के लिए अनिवार्य है। उस स्कूल की बडी प्रतिष्ठा है, शुल्क भी कम नही और प्रवेश लेने वालो की भी कमी नही। जब अग्रेज लोग ऐसा स्कूल चला सकते है तो यहा हम आर्य समाजी क्यो नही ? हमारे पास तो स्कूलो मे लाखो छात्र है यदि हम उन्हे आरम्भ से ही अग्रेजी की तरह बोलचाल की पद्धति से कुछ संस्कृत भी सिखाए तो शायद संस्कृत के प्रसार मे पर्याप्त सफलता मिल सकती है। यदि एकदम पूर्ण रूप से नही तो कुछ चुने हुए विद्यालयो मे ही यह प्रयोग करके देखा जा सकता है परीक्षा के चक्र मे चाहे हम न पढें, पर व्यावहारिक सवाद प्रणाली द्वारा हम कुछ कुछ संस्कृत ज्ञान बालको को अवश्य करवा सकते हैं। जिन लोगो ने संस्कृत बोलने के अल्पकालिक पाठ्यक्रम सासदो तथा अन्य जनसामान्य के लिए निर्मित किए है वैसे ही पाठ्यक्रम हम अपने विद्यालयो मे सचालित करके देखें और इस विषय के विशेषज्ञो की सेवाए लें साथ ही संस्कृत वाले गुरुकुल एक ओर संस्कृत के स्तर को ऊचा और व्यावहारोन्मुख बनाने का प्रयास करें वहो अपने विद्यार्थियो को स्कूलो की तरह सभी दूसरे विषयो की भी अच्छी शिक्षा देने की व्यवस्था करे। हो सके तो संस्कृत के माध्यम से ही जिससे संस्कृत के अध्ययन को वे अपने भविष्य निर्माण के मार्ग मे बाधा के रूप मे अनुभव न करे। ऐसे विद्यार्थी कालान्तर मे हमारे विद्यालयो में विज्ञान आदि सभी विषयो के भी और धर्म के भी, अध्यापक तथा उपदेशक और प्रचारक के सभी कार्य कर सकेगे। संस्कृत और आर्य समाज दोनो को अप्रासगिक और युग बाह्य होने से बचाने के लिए यह आवश्यक है। जब प्राचीनकाल मे संस्कृत सभी विषयो के अध्यापन का माध्यम थी तो अब हम उसे उन सब लौकिक और व्यावहारिक विषयो से काट कर और केवल धर्मोपदेश का माध्यम बना कर क्या संस्कृत और आर्य समाज दोनो की जडो पर कुठाराघात नही कर रहे हैं ?

पता—फ्लैट २४६,कादम्बरी, १६/६
रोहणी, दिल्ली-११००८५ दूरभाष ७२६३२१३

आर्यो की मोरिशस यात्रा

२६ १० ९३ से हवाई जहाज द्वारा दिल्ली मोरिशस यात्रा शुरू होगी। आने जाने का जहाज का किराया १६३०० रुपये प्रति सवारी है, रहने व भोजन का प्रबन्ध मोरिशस सभा द्वारा। ६००० रु० एडवास, शेष राशि एक मास मे भेजे। सवारी अपना पासपोर्ट नाम, आयु पिता का नाम आदि विवरण भेजें। बाहर के व्यक्ति स्पष्ट सयोजक के नाम भेजें। बाहर से आने वाले २६ १० ९३ को आर्यसमाज अनारकली मन्दिर मार्ग या आर्य समाज चूना मण्डी, पहाडगज पहुचे। भोजन सयोजक की ओर से होगा।

सम्पर्कसूत्र सयोजक

श्री श्याम दास सचदेव	श्री मालवीय आर्य
मन्त्री, आर्य समाज चूना मण्डी,	समाज मन्दिर अनारकली
पहाडगज, नई दिल्ली ५५	मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली-१
दूरभाष ७५४६१२८	दूरभाष ३४३७१८, ३१२११०

पता मकान न २६१३ भगतसिंह
गली न ९ चूना मण्डी,
पहाडगज, नई दिल्ली-५५
दूरभाष ७३८५०४४ (पी० पी०)

कार्यक्रम

२६-१०-९३ नई दिल्ली से बम्बई, २७-१० बम्बई से मोरिशस २-१० से २-११-९३ तक मोरिशस भ्रमण, २-११-९३ से मोरिशस से बम्बई तथा ३-११-९३ बम्बई से दिल्ली।

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (६)

नेतराम शर्मा, प्रधान भारतीय योग संस्थान पूर्वी जिला दिल्ली-११००५१

घुटने मे दर्द

शुद्ध गुग्गल १० ग्राम गुड २० ग्राम मटर के बराबर गोली बना देशी घी के साथ।

सिर दर्द

सोंठ को पीस थोडा गर्म कर माथ पर लेप।

आधुनिक युग मे देखने मे आया है कि परिवार का कोई न कोई सदस्य किसी न किसी बिमारी से ग्रस्त है। हजारो रुपये खर्च करने से भी ठीक नही हो पाते। धनी लोग तो बडे से बडे डा० का इलाज करा सकते हैं पर तु निधन लोगो को आजकल के खर्चीले युग मे इलाज कराना कठिन ही नही परन्तु असम्भव सा हो गया है। अत मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हू कि भारतीय योग सस्थान के माध्यम से आपकी अधिक से अधिक सेवा कर सकू।

छाले

१ जीभ पर छाले हो गये हो तो सूखा धनिया गर्म पानी मे डालकर उबाल लें व ठडा हो जाने पर बिना छाने इस पानी से कुल्ले करे। दो तीन बार के प्रयोग से छाले जाते रहेगे।

२ साबुत धनिया धीरे-धीरे चूसने से भी छालो मे सुधार होता है। तरबूजे के छिलके की राख मलने से छाले दूर हो जाते है।

थकान

१ बहुत थकावट महसूस हो रही हो तो गुनगुने पानी मे एक गिलास मे दो चम्मच शहद डालकर पी लें। यह ग्लूकोस का काम करेगा।

२ गुनगुने पानी मे शहद मिलाकर पीने से थकान दूर होती है।

३ पैरो मे थकान दूर करने के लिए उन्हें नमक मिले गुनगुने पानी मे कुछ देर डुबोकर बैठ जाए।

४ हल्दी, सेंधा नमक को सरसो के तेल मे मिलाकर दातो मे मजन की तरह रगडने से पायरिया व अन्य शिकायतें धीरे-धीरे दूर हो जाती हैं।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (११)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

य मा न जात परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापति प्रजया सरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
यजु० अ ८। म० ३६॥

काव्यार्थ

परमब्रह्म से श्रेष्ठ वस्तु जगतीभर मे कुछ और नही।
अखिल विश्व मे व्याप्त जगत का, पालक एक अधीश्वर ही॥
जिसने अग्नि-सूर्य बिजली की, तीन ज्योतिया जगहित ही।
रचकर की सयुक्त, प्रकाशित होती जिनमे सकल मही॥
जिसका नाम कला सोलह सम्यक् दृष्टी आकाश प्राण।
श्रद्धा-वायु अग्नि जल पृथ्वी इन्द्रिय-बल तप अन्न ज्ञान॥
दृश्य-अदृश्य पदार्थ नाम सब मतत कर्म वेदार्थ भान।
ये हैं सोलह कला ईश की वेद लक्ष्य है ब्रह्म ध्यान॥
प्रभु उपदेश रूपी वेदो के कर्म-उपासन ज्ञान विधी।
तीनो से द्विलोक व्यवहारो के फल की हो प्राप्त निधी॥
और यथावत परहित के ही काम करे सारे मानव।
पुरुषारथ ही मनुज-देह के धारण करने का फल नव॥

क्रमश

आदर्श त्रैतवाद (३७)

राजसिंह भल्ला

कर्मयोग ही मुक्ति का मार्ग है

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। ईशा० २

जगत मे भगवान को बसा हुआ सब व्यापक मानने वाला समर्पण रूप त्यागपूर्वक उपासक इस लोक मे सौ वर्षों तक नित्य नैमित्तिक कर्मों को करता हुआ जीने की इच्छा करे—ब्रह्म ज्ञानी तत्त्ववेता कर्तव्य कर्मों का त्याग कभी न करें। परहित परोपकार पर सेवा आदि शुभ कृत्यो को करने के लिए ही जीना चाहिए। इस प्रकार कर्त्तव्य कर्म परायण शुभ कर्मयोग युक्त पुरुष मे कर्म सस्कार का लेप नही लगता। भागवत कर्मों को करने वाला कर्मशील उपासक कर्म सस्कार मे लिप्त नही होता इससे कर्मयोग से अलावा दूसरा मुक्ति का मार्ग नहीं है। मुक्ति का एक मात्र मार्ग आस्तिक भाव सहित कर्मयोग ही है। विश्व म भगवान को व्यापक मानने से, जानने से शुभ कर्मों को करना, ईश्वर के चलाये चक्र को सुचालित रखने मे योग देना है। ऐसे व्यक्ति के कर्म भागवत कर्म ही होते हैं। इस कारण ऐसा ज्ञानी कर्म योगी कर्म सस्कारो के बन्धनो से निर्लिप्त ही रहता है।

आनन्दमय होने का ढग

यदिद किञ्च जगत्सर्व प्राण एजति नि सृतम।
महद्भय वज्रमुद्यत य एतद्विदुर मृतास्ते भवन्ति॥ कठो० ६ २

जो कुछ यह सारा फैला हुआ जगत है वह प्राण रूप है। जीवन तथा सर्वाधार ब्रह्म मे क्रियावान् हो रहा है। वह ब्रह्म महान भय है। अटल नियम है और उठा हुआ वज्र है। न्यायशील है। जो व्यक्ति ब्रह्म को सबका जीवन नियन्ता और न्यायकारी जानते हैं वे अमृत हैं—आनन्दमय हो जाते हैं।

क्रमश

प्रेरक प्रसग

मैं मनुष्यो को कैद कराने नही, किन्तु छुड़ाने आया हूं

अनूपशहर म स्वामी जी का सत्सग हो रहा था। एक मनुष्य ने विनयपूर्वक नमस्कार करके महाराज को एक पान दिया। उन्होने पान को सहज स्वभाव मे मुख मे रख लिया परन्तु उसका रस लेते ही वे जान गये कि यह विष युक्त है। उन्होने उस नीच पामर को कुछ नही कहा और स्वय गगा पार चले गये देर तक वस्ती और न्योली कर्म करके फिर अपने आसन पर आ विराजे। स्वामी जी को विष देने का भेद किसी प्रकार तहसीलदार सय्यद मोहम्मद को भी ज्ञात हो गया। वे स्वामी जी के बहुत श्रद्धावान थे। उन्होने उस पापी पामर को पकड कर मगवाया और बन्दीगृह में डाल दिया। तत्पश्चात स्वामी जी के दर्शनार्थ चल दिये। मार्ग मे उनके मन मे विचार आते थे कि मैंने आज स्वामी जी के शत्रु को दण्ड देकर उनका बदला लिया है इसलिए स्वामी जी खुश होकर मुझे आशीर्वाद देंगे। स्वामी जी को इस घटना की जानकारी मिली। तहसीलदार के निकट आ जाने पर जब स्वामी जी ने उसे देखकर दृष्टि हटा ली और बोलना तक बन्द कर दिया तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही। बडी प्रार्थना से तहसीलदार महाशय ने स्वामी जी से उनकी अप्रसन्नता का कारण पूछा। स्वामी जी ने कहा, मैने सुना है कि मेरे लिए आप आपने एक मनुष्य को कैद मे डाल दिया है, परन्तु मैं मनुष्यो को कैद मे डालने नही किन्तु कैद से छुडवाने आया हू। यदि दुष्ट अपनी दुष्टता को नही छोडते तो हम क्यो अपनी श्रेष्ठता का परित्याग करें?' ये शब्द सुनकर तहसीलदार आश्चर्य चकित हो गया। उसने आज तक ऐसा क्षमादान एव शान्त स्वभाव का पुरुष दूसरा नहीं देखा था। वह महाराज को हाथ जोडकर नमस्कार करके चला गया। उसने जाते ही उस कैद किये व्यक्ति को स्वतन्त्र कर दिया।

—सत्यवीरसिंह

हैदराबाद के आर्य बलिदानी

(पृष्ठ १ का शेष)

किया । श्री सूयदेव ने सत्याग्रहियो व बलिदानियो के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुये कहा कि वे जातिया मिट जाती हैं जो अपने शहीदो का स्मरण नहीं करती एव अपने पर्वों को श्रद्धापूर्वक नही मनाती । मैं सभी सत्याग्रहियो को नमन करता हू आपसे अनुरोध है कि आय शहीदो से प्ररणा लकर समाज व राष्ट्रहित मे आय समाज का सगठित कर स्वय आय बनते हुए विश्व को आय बनाने के लिए काय करते रहे ।

१ दिन के वेद जयन्ती कायक्रम के उपलक्ष्य मे आय समाज मन्दिर मे सगीता चाय श्री गुल ब सिंह राघव के भजनोपदेश एव प० श्याम सुन्दर स्नातक के वेद प्रवचन होने रहे । १ अगस्त को पूर्णाहुति होगी एव योगीराज श्री कृष्ण जन्मोत्सव मनाया जायेगा ।

आय समाज हनुमान रोड मे वेदजयन्ती का दिवसीय १० समारोह डा० कर्णदेव शास्त्री के ब्रह्मत्व म यजुर्वेद पारायण यज्ञ से आज शुरू हुआ। रघमल आर्य कन्या विद्यालय का अध्यापिकाओ छात्रो एव आय नर नारियो ने यज्ञोपवीत का परिवतन किया । डा० कणदेव ने श्रावणी उपाकर्म व रक्षाब धन के महत्व पर प्रकाश डाला ।

रात्रि को प्रख्यात वैदिक विद्वान डा० महेश विद्यालकार की मनोहर वेद कथा एव श्री मनोहर लाल ऋषि व साथियो के सगीत का सैकडो महानुभावो ने लाभ उठाया ।

८ अगस्त को समाज मन्दिर मे आय सत्याग्रह बलिदान दिवस मनाया जायेगा तथा ११ अगस्त को पूर्णाहुति के बाद श्री कृष्ण पर भाषण प्रतियोगिता एव वैदिक विद्वानो क प्रवचन होगे ।

आय समाज तिमारपुर म प राजवीर शास्त्री के ब्रह्मत्व मे विशेष यज्ञ के बाद श्रद्धालु नर नारिया न ज उ धारण किये । शास्त्री जी ने रक्षाब धन व श्रावणी उपाकम वेदाध्ययन का मह व प्रतिपादित किया । हैदराबाद सत्याग्रहियो को भी भावाजलि दी गयी रात्रि से सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान प० अशोक विद्यालकार की वेद कथा मे वेद मन्त्रो की व्याख्या होती रही । ८ अगस्त को श्री कष्ण पर भाषण व निबन्ध प्रतियोगिता तथा अन्तिम दिन ११ अगस्त को यज्ञ की पूर्णाहुति व पुरस्कार वितरण होगा ।

आय समाज नागल राय म २ अगस्त को श्रावणी पव धूमधाम से मनाय गया। इससे पूव २७ जुलाई से लगातार वेद जयन्ती सप्ताह उत्साहपूवक मनाया गया । प्रतिदिन रात्रि को आचाय रामनिवास जी विद्यार्थी व श्री यज्ञमुनि वानप्रस्थी की वेद होती रही । श्री सहदेव बेधडक के मधुर भजनोपदेशो ने भी समा बाध दिया। रात्रि ११ बजे तक चलने वाले कायक्रम मे ५०० तक उपस्थिति रही ।

आय समाज ग्रेटर कैलाश म ३ अगस्त से १० दिन का वेद जयन्ती कायक्रम आचाय राम किशोर शास्त्री खुरजा निवासी एव प० वेद कुमार वेदालकार के ब्रह्मत्व अथववेद पारायण यज्ञ से शुरू हुआ । श्रावणी पव भी मनाया गया । ३ अगस्त से नर नर वेद कथा आचाय रामकिशोर शास्त्री जी द्वारा होनी रही । श्री श्यामवीर राघव व श्री दिनेश के मधुर भजन भी होते रहे । ११ अगस्त को श्री कृष्ण जन्माष्टमी मनायी जाये ।।

आय समाज कीर्ति नगर मे भी २ अगस्त को श्रावणी पव मनाया गया । डा० वीरपाल के ब्रह्मत्व म न सामवेद महायज्ञ तथा रात्रि को वेद कथा का भी सुन्दर आयोजन किया गया । ८ अगस्त को गाजियाबाद के आय युवको का सगीत तथा ११ अगस्त को श्री कृष्ण जन्मोत्सव मनाया जायेगा ।

पृष्ठ २ का शेष)

यदि तुम मुझसे सचमुच प्रेम करते हो तो तुम्हें मेरे जैसा बनना होगा । यदि तम अब भी प्रतिवष जन्माष्टमी का पव इतने ही उत्साह और लगन से मनाना चाहते ह तो मेरी बात सुनना होगी । तुम अपने गुणो से महान बन जाओ । गुणी बनने के लिए स्वाथ और अहम का लबादा तुम्हे उतारना होगा ।

इस जन्माष्टमी पर मेरा यही सन्देश है । भारत मा इसी प्रतीक्षा मे है कि कब कोई व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर मानवता का कल्याण करे मुझे विश्वास है कि तुम मेरी आवाज सुनोगे और मानवता के कल्याण मे लग जाओगे

वैदिक शिक्षाओ पर चलने

(प्रथम पृष्ठ का शेष)

१९ वी शताब्दी मे वेदो के मर्मज्ञ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वद यजुर्वेद आदि के अनुपम भाष्य किये उन्होने वेद मन्त्रो के आधार पर बताया कि शुद्र व नारी सहित सभी को वेद पढने का अधिकार है । स्वामी जी ने एक ईश्वर की आराधना की बात कही और समाज सुधार के क्षेत्र मे भी क्रान्तिकारी काम किए । आय समाज के मूधन्य वैदिक विद्वानो को महर्षि के पद चिह्नो पर चलते हुये वेदो की ज्योति जलाये रखा है ।

वेद आज भी प्रासगिक हैं । अहिंसा सत्य योग सदभावना त्याग राष्ट्रभक्ति विश्व शान्ति आदि की वैदिक शिक्षायें समस्त मानव जाति के कल्याण व उत्थान का सदेश देती है । आज वेद के आदेशो पर चलने से ही विश्व मे याप्त

शेष पृष्ठ ८ पर)

वदिक शिक्षाओ पर चलने

(पष्ठ ६ का शेष)

आतकवाद भ्रष्टाचार कालाबजारी तस्करी अपहरण बलात्कार लूटमार व हत्यायें तथा युद्ध रोका जा सकता है। ... क्ष ... भी वेद व मनुस्मृति का बहुत महत्व है।

स्वामी सर्वा... द ... ने ... अध्य ... विचार व्यक्त करते हुए कहा कि धम ही मनु... का ... वन का ... है ... वद ज्ञान एव सत्य ही सच्चा धम है और ... है धम व मजहब दो अलग तत्व ... मजहब ... धम सना तन व पूण है। वद ... अध्ययन व मनन ... जी ने कहा कि सस्कृत का ... सकता है।

समपण शोध स... की गतिविधियो का परिचय ... है और मूल... ने धम के मूल को जानक ... पर चल का आह्वान किया। स्वामी ... ने शतपथ ब्राह्मण को वदो का ... बनाया।

गुरुकुल प्रभात आश्रम मेरठ के आचाय स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा कि पूज्य गुरु स्वामी समपणानन्द (श्री बुद्धदेव विद्यालकार ने कहा था कि वेदो को समझने के लिए अलकार शास्त्र का ज्ञान जरूरी है। दयानन्द का काय वेद का काय है और हमे ऋषि के माग पर चलना चाहिए।

कायक्रम का शुभा रम्भ प्रभात आश्रम के छा ... द्वारा वदिक मगलाचरण से हुआ ... कायक्रम का कुशल म च स चालन श्रीमती प्रभात श ... ने किया। गुरुकुल का डी के कुल ... कहा कि वदो का अ य भाषाओ म अनुवाद ... पहुच या जाना चाहिए और इसके लिये विश्व वद्यालय अनुदान आयोग को सहायता देनी चाहिए ... दिल्ली आय प्र त नधि सभा के ... धान ... सूयदेव जी ... सर्वान द ... गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के कुल ... रेड्डी व अन्य अतिथियो का पुष्पहारो द्वारा स्वागत किया।

गा ... विद्यालय के उपाचाय श्री महादेव गो० देशपाण्डे एव श्री प ... नालाल पीयष के निर्देशन म स्वामी समपणान द जी के गीतो पर आधारित समपण गीत ... का भी आयोजन किया गया।

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

5 0 8 1993 Licence to post without prepayment Licence /93

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी) ११०२४ ९३ — पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू मी० १३९ ९३

आर्यसन्देश साप्ताहिक — अगस्त १९९३

श्री कृष्ण युग नायक थे

प० नन्दलाल निर्भय सिद्धान्तशास्त्री

प्रथम पोट कहो ... दावा ...)

हम धर्म का पाठ पढ़ने ... अष्टमी ... ई है।
श्रीकृष्ण की महिमा स्वामी दयानन्द ने गाई है।।

वैदिक पथ को भूल गई थी सुनो मुना दुनिया सारी
आपा धापी मची हुई थी व्याकुल थे नर नारी।
खाओ पीओ मौज उड़ाओ कहते थे भ्रष्टाचारी।
भेद भाव औ ऊँच नीच की फैल गई थी बीमारी।।

पढ़ो महाभारत को जिसमे लिखी कहानी ... ई है।
श्रीकृष्ण की महिमा स्वामी दयानन्द ने गाई है

जरासंध शिशुपाल कंस से करते थे अत्याचार यहाँ।
देता था चहु ओर सुनाई जग मे हाहाकार यहाँ।
ऋषियो मुनियो को आतंकित करते थे गद्दार यहाँ।
सज्जन छुपते फिरते थे थी दुष्टो की भरमार यहाँ।।

सत्यार्थ प्रकाश पढ़ो यह बात स्पष्ट दर्शाई है।
श्रीकृष्ण की महिमा स्वामी दयानन्द ने गाई है।।

श्रीकृष्ण ने ... नियम ... उठाए थे।
... म ... थे।
... थे।
म ... थे।

... युधिष्ठिर ... समझ न ... है।
श्रीकृष्ण की महिमा ... दयानन्द ने गाई है।।

जीवन ... से ... सहायक थे।
... श्रीकृष्ण चन्द्र युग नायक थे।
... ने ... योगी को भोगी बना दिया।
... मान करते है भारी पाप किया।

... पहना कर नचा ... शर्म शमाई है।
श्रीकृष्ण की महिमा ... ने गाई है।।

यदि श्रीकृष्ण की बातो को यह दुनिया आज मान जाए।
... रहे ... पर स्वर्ग उतर आए।
जागो ... नर नारी वैदिक पथको तुम अपनाओ।
... निज नाम अमर तुम कर जाओ।

जो ... के लिए ... उनकी हो रही बडाई है।
श्रीकृष्ण की महिमा स्वामी दयानन्द ने गाई है।



सेवा में—

2367 श्री पुस्तकाध्यक्ष
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस पटौदी हाउस दरियागंज नई दिल्ली ११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५ हनुमान रोड नई दिल्ली ११०००१ फोन ३३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एन ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अक ४३ रविवार, १५ अगस्त १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

भोपाल के मिशनरी स्कूल मे

राष्ट्रगान गाने पर तीन विद्यार्थी निष्कासित

नई दिल्ली आप माने या न माने देश मे आज भी ऐसे स्कूल हैं जहा ४६ वर्षों की आजादी के बाद भी 'जन-गण मन' राष्ट्रगान गाने की अनुमति नही है। मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल मे ईसाई मिशनरी एक कैम्पियन स्कूल है जहा १२ वी कक्षा के तीन छात्रो—कपिल चड्ढा, नदीम और राधे को स्कूल से केवल इसलिए निष्कासित किया गया कि उन्होने प्राथना सभा के बाद राष्ट्रगान गाने का साहसपूण कार्य किया था। यह घटना २२ जुलाई की है। नगर की सबसे अधिक सम्पन्न बस्ती अरेरा मे स्थित इस स्कूल मे प्रभु ईशु की प्राथना तो सभी छात्रो के लिए अनिवार्य है परन्तु राष्ट्र के गौरव के प्रतीक 'जन गण मन' को गाने की अनुमति नही है। मामला भोपाल के कलेक्टर के पास पहुचा परन्तु वे कोई भी कारवाई न कर पाये। कलेक्टर का कहना था कि ऐसा कोई कानून नहीं हैं जिसके अन्तगत किसी व्यक्ति या सगठन को 'राष्ट्रगान' गाने के लिए बाध्य किया जा सके।

विद्यालय के छात्रो ने राष्ट्रगान गाये जाने के लिए प्रिंसीपल का नियमानुसार एक आवेदन पत्र दिया था परन्तु जब वह अस्वीकृत हो गया तो उन्होने राष्ट्रगान गाने का यह साहसपूण काय किया। आश्चय की बात है कि कानून की आड मे यह खेल खेला जा रहा है। जिस स्कूल मे राष्ट्रगान पर प्रतिबन्ध हो और छात्रो को जन गण मन गाने पर इस प्रकार प्रताडित किया जाता हो, वहा बच्चो को क्या सस्कार मिलते हैं और उनकी सोच कैसी होगी इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। कहा जाता है कि केरल के स्कूल में भी इस प्रकार की घटना हो चुकी है। उल्लेखनीय है कि इस आशय का समाचार राजधानी से प्रकाशित राष्ट्रीय सहारा के २५ जुलाई के अक मे छपा है।

आर्यसमाज हनुमान रोड मे हैदराबाद सत्याग्रह विजय दिवस

वे जातियां मिट जाती हैं जो अपने शहीदों को स्मरण नहीं करती

नई दिल्ली, ८ अगस्त। आय समाज हनुमान रोड मे वेद जयन्ती कार्यक्रम के अन्तर्गत आज हैदराबाद आय सत्याग्रह के बलिदानियो को भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की गयी तथा आर्य सत्याग्रहियो का भव्य अभिनदन किया गया। उल्लेखनीय है कि निजाम हैदराबाद द्वारा लगाये गये धार्मिक प्रतिबधो के विरोध मे १ जनवरी १९३९ से शुरू हुए आन्दोलन के आय सत्याग्रहियो को निजाम द्वारा घुटने टेकने के बाद जेलो से रिहा करने के आदेश दिये थे। इस आन्दोलन मे २८ सत्याग्रही शहीद हुये थे।

समारोह मे सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री, प० ब्रह्मदत्त स्नातक एव श्री अमरनाथ जी को समाज के प्रधान श्री राममूर्ति कैला ने शाल ओढाकर, माल्यापण एव सम्मान राशि भेंट कर सम्मानित किया। समाज के उपप्रधान श्री खैराती लाल भाटिया एव श्री हसराज ने भी पुष्पहारो द्वारा स्वागत किया। स्मरणीय है कि तीनो ही महानुभावो ने हैदराबाद के आय सत्याग्रह मे भाग लिया था और उन्हे अन्य सत्याग्रियो के समान स्वतन्त्रता सैनानी पेंशन मिल रही है। इस अवसर पर डा० सच्चिदानन्द जी ने आन्दोलन के दौरान निजाम सरकार द्वारा दी गई यातनाओ का रोमाचकारी विवरण प्रस्तुत किया। आपके परिवार के १२ व्यक्तियो ने निजाम के विरुद्ध सत्याग्रह व आजादी की लडाई मे भाग लिया था और ब्रह्मचारी दयानन्द नामक आपका एक भाई इस धर्मयुद्ध मे शहीद भी हुआ था। शास्त्री जी ने बताया कि लोगो ने उन्हे कहा कि आप तो काग्रेसी हैं, इस आन्दोलन मे भाग क्यो ले रहे हैं। इस पर उन्होने कहा कि मैं पहले आर्य समाजी हू फिर कुछ और।

प्रख्यात पत्रकार व लेखक प० ब्रह्मदत्त जी स्नातक ने इस अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि पहले तो महात्मा गाधी, जवाहर लाल नेहरू और

(शेष पृष्ठ ८ पर)

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक मे

एम. फिल. कोर्स बन्द नहीं होगा

नई दिल्ली, ९ अगस्त। महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक मे एम फिल की कक्षायें बन्द न करने का निणय लिया गया है। यह फैसला कुलपति ओ० पी० चौधरी की अध्यक्षता मे ७ अगस्त को सम्पन्न हुई शक्षणिक परिषद की बैठक मे लिया गया। उल्लेखनीय है कि दो मास पूव हरयाणा सरकार के आदेश पर विश्वविद्यालय में कक्षायें बन्द करने का निर्णय लिया गया था। कायकारी परिषद के अनुरोध पर पुनर्विचार के बाद शैक्षिक परिषद ने अपना पुराना निणय बदल लिया।

जौधपुर न्यास भवन मे दयानन्द अध्ययन केन्द्र की स्थापना

नई दिल्ली। सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती की अध्यक्षता मे १९ जुलाई को महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मृति भवन न्यास की अन्तरग की बैठक सम्पन्न हुई। सर्वसम्मति निम्न निर्णय लिए गए—

(१) दयानन्द अध्ययन केन्द्र की स्थापना के लिए डा० भवानी लाल भारतीय श्री फतहसिह जी भागव, डा० श्रद्धा चौहान एव डा० दयानन्द की चार सदस्यो की एक समिति का गठन किया गया है। सयोजक डा० भारतीय जी है।

(२) न्यास भवन के ऊपर के हाल मे दयानन्द चित्रावली' बनाने का भी निर्णय लिया गया है। इस बारे मे स्वामी आनन्दबोध जी ने परामश दिया कि अत्यन्त कुशल कारीगरो से इसका निणय कराया जाये चाहे समय व धन अधिक लगे।

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव

सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

संस्कृत का पुनरुद्धार : महर्षि दयानन्द का महान संकल्प

डा० प्रशान्त वेदालकार

संस्कृत के विरोध मे सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि यह एक अप्रचलित भाषा है और इसका आज कुछ भी महत्व नही है इसी कारण त्रिभाषा सूत्र और नयी शिक्षण नीति मे संस्कृत की सर्वथा उपेक्षा की गयी है। पर यह धारणा संस्कृत के महत्व को न समझने के कारण है। दयानन्द का मत था कि संस्कृत का महत्व अनेक दृष्टियो से है, विशेष रूप से इसमे विद्यमान आध्यात्मिक विद्या से सुख लाभ लेने के लिए इसका अध्ययन आवश्यक है। स्वामी विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त दयानन्द सवप्रथम आगरा पहुचे। वहा सुन्दरलाल उनके शिष्य बने। एक दिन सुन्दर लाल ने स्वामी जी से निवेदन किया कि 'संस्कृत भाषा तो मृत मानी जाती है, कही व्यवहार मे नही आती, तो आपने इस पर इतना परिश्रम क्यो किया ?' स्वामी जी ने उत्तर दिया— 'इससे अपना परलोक सुधारेंगे।' स्पष्टत दयानन्द का सकेत संस्कृत मे विद्यमान अध्यात्म विद्या की ओर था।

किन्तु दयानन्द संस्कृत का महत्व केवल उसमे विद्यमान अध्यात्म विद्या के ही कारण नही मानते थे। उनके मत मे अनेक भौतिक विद्वानो की दृष्टि से भी संस्कृत का महत्व किसी भाषा से कम नही है। विशेष रूप से प्राचीन भारत के ज्ञान के किसी भी क्षेत्र का अध्ययन करने के लिए संस्कृत का अध्ययन आवश्यक है। इसके लिए दयानन्द ने दाराशिकोह का उदाहरण दिया है। दाराशिकोह का यह निश्चय था कि जैसी पूर्ण विद्या संस्कृत है वैसी किसी भाषा मे नही है। वे उपनिषदो के भाषातर मे लिखते हैं कि मैंने अरबी आदि बहुत सी भाषाए पढी परन्तु मेरे मन का सन्देह छूटकर आनन्द न हुआ, जब संस्कृत पढी और सुनी तब नि सन्देह मुझको बड़ा आनन्द हुआ। (सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास, पृ० २७६)

इसके अतिरिक्त भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत का महत्व ससार की प्रत्येक भाषा के लिए है। अलीगढ़ मे मुसलमानो से बातचीत के समय दयानन्द ने कहा है कि संस्कृत भाषा एक स्वाभाविक और ईश्वरप्रदत्त भाषा है। इसके स्वरो को लीजिए इनकी ध्वनि सब देशो मे पाई जाती है। सब प्रचलित भाषाओ मे इसी की अक्षरमाला नैसर्गिक है। छोटा बच्चा भी अ, इ, उ का उच्चारण बिना सिखाये करने लग जाता है। क, ख आदि व्यजनो का उच्चारण भी ऐसा ही सुगम और स्वाभाविक है जो भाषा स्वाभाविक ध्वनि के अक्षरो से बनी है वही भाषा स्वाभाविक और आदिम होनी चाहिए। ईश्वरीय आदेश उसी भाषा मे होने उचित है।

६ सितम्बर, १८७२ को एक तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट मिस्टर एच०डब्लू० अलेग्जेण्डर से स्वामी जी का मिलना हुआ। स्वामी जी ने उनसे संस्कृत मे सम्भाषण किया, जिसे रजनी बाबू अनुवाद करके समझाते जाते थे। मजिस्ट्रेट स्वामी जी के कथन को बहुत ध्यान से सुनता था। उसने स्वामी जी से संस्कृत बोलने का कारण पूछा तो उन्होने कहा कि भारतवर्ष मे द्रविड प्रभृति अनेक भाषाए बोली जाती हैं। तब मैं किस भाषा मे बोलू ? इसके अतिरिक्त संस्कृत सारे हिन्दुओ की भाषा है, और समस्त भाषाओ का मूल है। अत संस्कृत बोलना ही अच्छा है।

संस्कृत का प्रचार

दयानन्द ने संस्कृत भाषा के उक्त महत्व के कारण उसका प्रचार व प्रसार करना अपना एक कर्त्तव्य निश्चित किया था। संस्कृत की कितनी आवश्यकता अनुभव करते थे, यह उनके एक विज्ञापन से पता चलता है। दयानन्द ने लिखा—'आर्यावर्त देश का राजा इगरेज बहादुर से यह मेरा विज्ञापन है कि संस्कृत विद्या को ऋषि मुनियो की रीति से प्रवृत्त करायें। इससे राजा और प्रजा को अनन्त सुख-लाभ होगा और जितने आर्यावर्तवासी सज्जन लोग हैं, उनसे भी मेरा यह कहना है कि इससे इस सनातन संस्कृत विद्या का उद्धार अवश्य करें। इससे अत्यन्त आनन्द होगा। और जो यह संस्कृत विद्या लुप्त हो जाएगी तो सब मनुष्यो की बहुत हानि होगी। इसमें कुछ सन्देह नही।'

दयानन्द जहा भी जाते वहीं संस्कृत का प्रचार करते और स्वय लोगो को संस्कृत सिखाते। आगरा मे दयानन्द ने संस्कृत के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि यदि कोई अन्य पुरुष भी स्वकल्याण करना चाहे तो सहायता देने के लिए उद्यत हू। उन्हीं की प्रेरणा से प० सुन्दरलाल और प० बालमुकन्द ने अष्टाध्यायी का अध्ययन आरम्भ किया था। लाहोर में उन्होंने संस्कृत के महत्व पर प्रकाश डाला तो प्राय सभी सभासद संस्कृत पढ़ने लग गए थे। स्वामी जी के पास बहुत से लोग अध्ययन करने आया करते थे। उनके सारगर्भित उपदेशो को सुनकर अनेको लोगो के हृदय मे संस्कृत भाषा सीखने के लिए उत्साह उत्पन्न हुआ। दयानन्द को जब भी अवसर मिला उन्होंने स्वय अनेक लोगो को संस्कृत पढानी आरम्भ कर दी।

संस्कृत पाठशालाये

महर्षि दयानन्द ने जहा कुछ व्यक्तियो को संस्कृत पढने की प्रेरणा दी, वहा पाठशाला आदि खोलकर भी संस्कृत का विकास किया। सन् १८७८ मे अपने एक विज्ञापन मे उन्होने लिखा कि जैसा आर्यावर्तवासी आर्य लोग आर्य समाजो के सभासद करते और कराना चाहते हैं कि संस्कृत विद्या के जानने वाले स्वदेशियो की बढती अभिलाषा, परोपकारक निष्कपट होकर सबको सत्यविद्या देने की इच्छा युक्त, धार्मिक विद्वानो की उपदेशक मडली और वेदादि सत्य-शास्त्रो के पढने के लिए पाठशाला चाहते हैं।

१६ मार्च १८७९ को दीनापुर (दानापुर) के आर्य समाज के मन्त्री को लिखा कि मुझे यह सुन कर बहुत प्रसन्नता हुई कि आप आर्य संस्कृत पाठशाला खोलने का यत्न कर रहे हैं।

महर्षि दयानन्द के ही प्रयत्नो से फर्रुखाबाद मे पाठशाला आरम्भ हुई थी, उसमे भी दयानन्द संस्कृत की शिक्षा पर ही विशेष बल देना चाहते थे। २३ मई १८८१ को सेठ निर्भयराम को एक पत्र मे उन्होने लिखा —'आप लोगो की पाठशाला मे आर्यभाषा संस्कृत का प्रचार बहुत कम और अन्य भाषाए अग्रेजी, उर्दू व फारसी अधिक पढाई जाती है। इससे यह अभीष्ट जिसके लिए यह शाला खोली गई है सिद्ध होता नही दीखता, वरन आपका यह हजारो मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल होता भासता है। हमने कभी परीक्षा के कागजात व आज तक की परीक्षा का फल कुछ नही देखा। आप लोग देखते हैं कि बहुत काल से आर्यावर्त मे संस्कृत का अभाव हो रहा है। वरन संस्कृत रूपी मातृभाषा की जगह अग्रेजी लोगो की मातृभाषा हो चली है। अग्रेजी का प्रचार तो जगह जगह सम्राट की ओर जिनकी यह मातृभाषा है, भी भली प्रकार हो रहा है। अब इसकी वृद्धि मे हमको इतनी आवश्यकता नही दीखती और न सम्राट के समान कुछ कर सकते हैं। हा, हमारी अति प्राचीन मातृभाषा संस्कृत जिसका सहायक वर्तमान मे कोई नहीं है। यही व्यवस्था देखकर संस्कृत के प्रचारार्थ आप लोगो ने यह पाठशाला स्थापित की है। तो यह भी उचित कर्तव्य अवश्य है कि सर्दैव पूर्व इष्ट की सिद्धि पर दृष्टि रखी जावे।"

१२ मई १८८१ को लाला कालीचरण ने श्री रामचरण को लिखा-इस (फर्रुखाबाद की) पाठशाला मे अधिक करके संस्कृत की उन्नति पर ध्यान रहना चाहिए। कुछ दिनो के बाद उन्होने फर्रुखाबाद पाठशाला के लिए दुर्गाप्रसाद जी को फिर लिखा— जहा तक बन सके पाठशाला के उद्देश्य पर कि संस्कृत की उन्नति होनी चाहिए, सो इस पर अच्छी प्रकार ध्यान रहे। १७ जून १८८१ को दुर्गाप्रसाद जी को फिर लिखा—पाठशाला मे संस्कृत का काम ठीक ठीक होना चाहिए जैसे मिशन स्कूल मे लडके अपनी अन्य स्वार्थ सिद्धि के लिए बाइबिल सुन लेते हैं और कुछ ध्यान नहीं देते वैसे संस्कृत सुन लिया तो क्या लाभ होगा ? इस पाठशाला मे मुख्य संस्कृत जो मातृभाषा है, उसकी वृद्धि होनी चाहिए। फारसी का होना कुछ आवश्यक नही केवल संस्कृत और अग्रेजी दो ही का पठन पाठन होना आवश्यक है।

दिसम्बर १८८२ को बाबू दुर्गाप्रसाद जी को पत्र लिखकर पूछा कि पाठशाला मे संस्कृत पढकर कितने विद्यार्थी समर्थ हुए, अथवा फारसी में ही व्यय धन जाता है, सो लिखो, जो व्यर्थ ही हो तो क्यो पाठशाला रखी जाए। २५ अप्रैल १८८३ को लिखा —'इससे विदित होता है कि तुम्हारी पाठशाला में अलिफ, बे और कैट, रैट की भरमार है जो कि आर्य समाजो का विशेष कर्तव्य नहीं।'

इन सब पत्रो से महर्षि में संस्कृत की प्रचार की ललक सूचित होती है। कलकत्ते में प्रसन्न कुमार ठाकुर ने मूला-जोड़े में एक संस्कृत कालेज स्थापित किया था। स्वामी जी ने वहा जाकर प्रस्ताव किया कि केवल इसका नाम ही संस्कृत न हो, प्रत्युत इसमे संस्कृत की शिक्षा भी होनी चाहिए।

(क्रमश)

फुलवाणी के १८५ ईसाई वैदिक धर्म मे

कजामेडी (फुलवाणी) उत्कल आर्य प्रतिनिधि सभा प्रचारक श्री नारायण प्रधान की प्रेरणा से वहा भव्य महायज्ञ एव पुर्नमिलन समारोह २-३ जुलाई को रखा गया। श्री स्वामी धर्मानन्द जी के 'स्वागत के लिए स्थानीय जनता एव उस क्षेत्र के आर्य बन्धु भारी सख्या मे उपस्थित थे। ग्राम मे भव्य शोभायात्रा का आयोजन किया गया।

२-३ जुलाई को महायज्ञ एव शुद्धि कायक्रम मे लोगो ने श्रद्धापूवक् भारी सख्या मे भाग लिया तथा यज्ञोपवीत ग्रहण किया। इसी अवसर पर ५५ परिवारो के १८५ ईसाईयो ने श्रद्धापूवक यज्ञ मे आहुति देकर वैदिक धम ग्रहण किया। कार्यक्रम का सचालन सभा मन्त्री श्री विशिकेसन शास्त्री ने किया। इस अवसर पर श्री स्वामी धर्मानन्द जी ने दीक्षित लोगो को आशीर्वाद दिया। श्री वीरेन्द्र कुमार एम०ए०, श्री नारायण, श्री दाशरथि प्रधान आदि का प्रभावशाली उपदेश हुआ।

स्वामी व्रतानन्द सरस्वती, गुरुकुल आमसेना

चारो वेदो का पारायण

वेद सप्ताह के उपलक्ष्य मे ८ श्रीराम रोड, सिविल लाइन्स, दिल्ली मे १८ अगस्त से २९ अगस्त तक चारो वेदो का पारायण होगा। वेद पाठ प्रतिदिन प्रात ८ ३० से साय ५ बजे तक तथा २९ अगस्त को पूर्णाहुति प्रात ९ से ११-३० बजे तक होगी। ऋषि लगर १२ बजे। सभी सादर आमन्त्रित हैं।

सच्चे समाजसेवी सत्यपाल भसीन नही रहे

सच्चे समाज सेवी एव भूतपूव मन्त्री सत्यआवा आय कन्या महाविद्यालय, करोलबाग का २० जून को निधन हो गया। वे ८९ वष के थे। १० अगस्त, १९०६ को सरगोधा (पजाब) मे जन्मे श्री भसीन एक प्रतिभाशाली छात्र थे। १९२७ मे रेलवे सेवा मे आये और सेवा निवृत्ति के बाद सारा समय समाज सेवा मे लगा दिया। ५ फरवरी १९७६ को आपने वसन्त पचमी के पव पर सतआवा आर्य समाज मार्ग की आधार शिक्षा रखी और भवन निर्माण मे भरपूर सहयोग दिया। आप अनेक सभाओ व सस्थाओ मे जुडे थे।

अस्पृश्यता दूर करने के लिए आपने कई प्रीतिभोज रखवाये तथा पारिवारिक सत्सग करवाये। २२ जून को सम्पन्न हुए शान्ति यज्ञ मे सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री स्वा आनन्दबोध सरस्वती, श्री केदार नाथसाहनी आदि ने भावाभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

आदर्श त्रैतवाद (३८)

राजसिंह भल्ला

नवा अध्याय

ईश्वर भक्ति का फल

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एक रूप बहुधा य करोति ।
तमात्मस्थं योऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।
कठो० १ ५ १२

उपरोक्त मंत्र वह श्रुति है जो सब मतो को एक करके परमात्मा की पूजा मे लगाती है जो युक्तिपूर्वक अद्वैतवाद का उपदेश करती है। ससारिक मतो मे अनेक विषमताए है। उन सबको दूर करके श्रुति एक करती है। पहला झगडा—ईश्वर है या नही (२) ईश्वर एक है व अनेक ३) ईश्वर कहा है (४ कर्मो का फल किस प्रकार देता है (५) ससार को किस चीज से बनाया (६) जीव ब्रह्म का भेद (७, अनादि पदार्थ कितने हैं और (८) मुक्ति किस प्रकार होती है। इन सारे विवादो का श्रुति ने उत्तर दे दिया है। पहले कहा है जगतकर्ता ईश्वर एक है इससे आस्तिक नास्तिको का झगडा खतम हो गया - ईश्वर है और वह एक है दूसरा सब व्यापक होने से वह एक है सर्वव्यापक दो नही हो सकते वह आत्मा की भाति सबके भीतर है।

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (१२)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन्प्रजापति परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ।
य० अ० १४।म० ३१ ।।

काव्यार्थ

तेतिस कोटि देवता जग मे व्यवहारिक कहलाते हैं।
वेद मन्त्र कहने व्याख्यायें, ब्राह्मण ग्रन्थ बताते हैं।।
आठ बसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य महीने हैं।
एक प्रजापति एक इन्द्र प्रभु ने विधिवत रच दीने हैं।।१।।
आठ बसु हैं—अग्नि, पथ्वी, वायु जो बहती है सवत्र।
अन्तरिक्ष द्यो सूर्य, चन्द्रमा, सबके सब जितने नक्षत्र।।
बसु इसलिये हैं ये इनमे सभी वस्तुए करती वास।
इनमे वे सामान जहा मानव कर सकते हैं निवास।।२।।
ग्यारह रुद्र प्राण दश तन मे-प्राण, अपान, समान, व्यान।
कृकल, कूम, अरु, नाग धनजय देवदत्त, पुनि है उदान।।
ग्यारहवा है जीव आत्मा जब ये तन से करें प्रयाण।
मरने पर सम्बन्धी करते रुदन इसी से रुद्र महान।।३।।
सूरज नाम महीने बारह, सूरज इनका है कारण।
सबकी आयु क्षीण करते रहते हैं ये प्रतिपल प्रति क्षण।।
इन्द्र नाम है बिजली का, उत्तम सुख-विद्या का साधन।
यज्ञ प्रजापति, वायु जल शुद्धी से करता जग पालन।।४।।
यज्ञरूप हैं पशु सारे ये जन-जीवन के साधन हैं।
अपने अपने दिव्य गुणो से, तेतिस देव महाधन हैं।।
ये बसु आदिक देव सभी हैं ईश ज्योति से ही ज्योतित।
सीमित इनकी शक्ति, प्रभु है सर्वशक्तिमय नित्य अमित।।५।।
इनसे इतर और भी तो हैं पाच देवता गरिमामय।
मात-पिता, आचार्य, अतिथि-ये चार स-तन परिशुद्ध हृदय।।
पचम है परब्रह्म निरवयव, केवल एक उपास्य वही।
बाकी चार सन्तन की सेवा, तर्पण, श्राद्ध करें सब ही।।६।।

क्रमशः

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (७)

नेतराम शर्मा, प्रधान —भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला दिल्ली-११००५१

आखो की बीमारियो का घरेलू इलाज

१ मोतियाबिन्द प्याज का रस १० ग्राम असली शहद १० ग्राम भीम सैनी कपूर २ ग्राम इन तीनो चीजो को अच्छी तरह मिला कर शीशी मे भर लें रात को सोते समय सलाई मे आखो मे लगाने से मोतियाबिन्द का असर रुक जाता है।

२ नीम की निबौली (फल) का गूदा बारीक पीस कर शहद मिलाकर आखो मे लगाने मे मोतिय बिन्द बिना आपरेशन कट जाता है।

३ गाय का ताजा मूत्र प्रतिदिन लगाने से मोतियाबिन्द आदि सभी आखो के रोग दूर हो जाते है।

४ दुखती आखे २०० ग्राम गुलाब जल में ५ ग्राम फिटकरी पीस कर शीशी मे रख ड्रोपर से दो-तीन बून्द आखो म डालने से रोग दूर हो जाते हैं।

क्रमश

प्रेरक प्रसग

ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास का प्रभाव

माघ का महीना था एक दिन, प्रात काल शीत वायु बह रही थी। स्वामी जी महाराज स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर पद्मासन लगाए कुटिया के बाहर बैठे थे। उपदेश सुनने वालो के तन कापते थे, नाक से आख से पानी बह रहा था। हाथ पाव शून्य हुए जाते थे। स्वामी जी उपदेश मे सलग्न थे। बाणो की तरह आर-पार करने वाली वायु शरीर का स्पर्श कर रही थी, पर वे अटल थे-अकम्प थे। इस सहनशीलता को देखकर सभी श्रोतागण आश्चर्य मग्न थे।

उस समय ठाकुर गोपालसिंह जी ने हाथ जोडकर पूछा —'भगवन घोर शीतपात के कारण हम सबके दातो से दात बज रहे हैं। परन्तु आप पर शीत का कोई प्रभाव दिखाई नही देता इसका क्या कारण है?' स्वामी जी मुस्कराकर कहा कि 'ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही इसका कारण है।' उसने कहा, 'तो हम कैसे जाने?' उस समय स्वामी जी ने अपने हाथो के अगूठे घुटनो पर रख कर ऐसे दबाये कि तत्काल ही उनके माथे पर पसीने की बूदे चमकने लगी। गालो से पसीना टप टप टपक पडा। इतनी अधिक शीत मे पसीना आना दर्शको के लिए कल्पनातीत दृश्य था।

एक रात स्वामी जी गंगा के किनारे आसन लगाए बैठे थे। शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा आकाश शोभा बढा रहा था। ऐसे समय मे बदायू के कलेक्टर अपने किसी योरोपीय मित्र सहित आखेट के लिए गंगा तीर पर फिर रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि उस स्थान पर जा पडी जहा, स्वामी दयानन्द योगारूढ आसीन थे। वे साथी सहित समीप जा पहुचे। कलेक्टर महाशय ने विनयपूर्वक कहा, "हमे बडा आश्चर्य है कि इतना शीत पड रहा है नदी का किनारा है, रात्रि का समय है और आप शीतल रेती पर केवल एक लगोट लगाये मग्न बैठे हैं! क्या आपको पाला नही लगता?" स्वामी जी उत्तर देने ही लगे थे कि कलेक्टर महाशय का साथी बीच मे बोल उठा, हृष्ट पुष्ट मनुष्य हैं, खाने को अच्छे माल मिलते होगे, इसी पाला क्यो लगे?' स्वामी जी ने हस कर कहा, "हम दाल-चपाती के खाने वाले क्या माल खायेंगे? बहुत बल लगाया तो कुछ दूध पी लिया। परन्तु आप मास-अण्डे आदि पौष्टिक पदार्थ खाते हैं और शराब भी पीते हैं, इसलिए यदि माल खाकर शीत सहा जाता तो कपड़े उतार कर आइए और थोडी देर मेरे साथ बैठिये।" इस पर वह लज्जित हो गया और विषय बदल कर कहने लगा "अच्छा तो बताइये आपको शीत क्यो नही लगता?" उत्तर मे महाराज ने कहा इसका कारण तो अभ्यास है। आपका मुख सदा नग्न रहता है, इसलिए आपको उसे ढापने की आवश्यकता इस समय भी प्रतीत नहीं होती। कलेक्टर महाशय ने सकेत करके साथी को बहुत बोलने से रोक दिया और वे स्वामी जी को नमस्कार करके चले गये। —सत्यवीरसिंह

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

भारत भूमि पर प्रचलित सभी मत मतान्तर अपने मूल वैदिक धर्म का ही विघटित रूप लिये हुए हैं। यह सभी समुदाय चाहे वे मूल वैदिक हो, पौराणिक हो, जैन, बौद्ध सिख हो अथवा नवसृजित अन्य कोई मत ही क्यो न हो। सभी मतवादी अपनी आम बोलचाल की भाषा मे संस्कार शब्द का प्रयोग करते हैं। निर्धारित संस्कारो की एक शृंखला को अपनाने के कारण उस समुदाय की एक निश्चित प्रवृति बन जाती है इसी को संस्कृति कहते है एक सुधरी हुई परिष्कृत कार्य प्रणाली के द्वारा अथवा परिमार्जित विधि सम्पन्न भाषा या वाणी द्वारा मानव को सुसंस्कृत किया जाता है वह भाषा बोली संस्कृत कहलाती है। जैसे कोई पुस्तक प्रकाशित होकर पाठको के हाथ मे आती है तो उसे संस्करण कहते हैं। इसी प्रकार संस्कारो अथवा शुभ संस्कारो के द्वारा निर्मित मानव समुदाय भी इस सृष्टि के सफल संस्करण होते है। जैसे संस्करण के रूप मे प्रसारित वह पुस्तक विचारो मे भ्रान्ति शान्ति या क्रांति कुछ भी कर सकती है वैसे ही मानव रूपी संस्करण भी इन विचारो की भूमि पर सृष्टि की कृति विकृति सुकृति के मूर्तिमान स्तम्भ सिद्ध हो सकते है। यह सभी कुछ संस्कारो पर ही निर्भर है। तो आइये संस्कार' के सम्बन्ध मे कुछ चर्चा करें।

संस्कार की परिभाषा

जिससे किसी वस्तु के रूप मे परिवर्तन हो जाता है उसे संस्कार कहते हैं। इस परिभाषा को कुछ इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है कि जिससे किसी वस्तु के रूप मे परिवर्तन होकर वह अधिक आकर्षक व उपयोगी हो जाये वह संस्कार है। जड वस्तुओ के लिए तो यही परिभाषा पर्याप्त है किन्तु चेतन जगत के लिये हमे इस पर कुछ अधिक विचार करना होगा, जिससे किसी के बाह्य रूप मे परिवर्तन हो या न हो, उसके आन्तरिक रूप या चरित्र मे परिवर्तन हो जाये, उसे संस्कार कहते है। चेतना जगत स्पष्ट रूप से दो वर्गों मे विभाजित दिखाई पडता है। एक वर्ग केवल भोगयोनि के अन्तर्गत है और दूसरा वर्ग भोग एवं कर्म योनि के समन्वित रूप मे होता है। प्रथम वर्ग मे मानव योनियो को छोडकर शेष सभी योनिया, पशु-पक्षी, कृमि, कीट पतंग, वृक्ष आदि की होती हैं, जबकि दूसरे वर्ग मे केवल मानव योनि होती हैं। प्रथम वर्ग के आन्तरिक परिवर्तन की अधिक सम्भावना नहीं होती, क्योकि उसके जीवन यापन के समस्त कार्य-कलाप उनके कर्म फलानुसार से निर्धारित सीमित एवं स्वाभाविक होते हैं।

दूसरे वर्ग की मानव योनि जो भोग के साथ साथ नवीन कर्म करने मे भी स्वतन्त्र होती है उसे संस्कारो के द्वारा आन्तरिक रूप से प्रभावित करके उसके चरित्र या क्रिया कलाप मे परिवर्तन लाया जा सकता है।

वैसे तो संस्कार अधोगामी अथवा ऊर्ध्वगामी दोनो ही गतियो के लिए उत्तरदायी होते है किन्तु संस्कार का प्रयोजन तो मनुष्य को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी करना होता है। अस्तु संस्कार की सर्वाधिक सटीक परिभाषा महर्षि दयानन्द द्वारा हमे दी गई है जिससे शरीर मन और आत्मा उत्तम हो वही संस्कार है। जैसे जल को स्वतन्त्र रूप से छोड देने पर वह स्वत नीचे को ही बहता रहता है, किन्तु उसे ऊपर चढाने के लिये किसी उपक्रम या उपकरण की सहायता लेनी पडती है, वैसे ही मानव को भी स्वच्छन्द छोड देने पर वह अधोमुखी होकर पशुवत हो जाता है और उसके पशुत्व को हटाकर उसमे मनुष्यत्व या देवत्व का समावेश करने के लिये संस्कारो का सहारा लेना पडता है।

संस्कार के स्वरूप

चण्डीगढ मे किसी साधारण कर्मचारी टेकचन्द ने एक गार्डन बनाया। उन्होने कूडा-करकट के रूप मे घूरे पर व्यर्थ पडी वस्तुओ मे एक विशेष आकर्षण उत्पन्न कर दिया। वक्षों की टहनियो पत्थरो, प्लेटो के टुकडो या अन्यान्य व्यर्थ वस्तुओ मे किसी पूर्ति या चित्र की कल्पना करके उसे काट छाट कर दर्शनीय बना दिया। इसके लिए उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई और बडे देशो मे इस कार्य के लिए आमन्त्रित किया गया और पुरस्कार प्रदान किये। जड वस्तुओ को तोड-तराश कर उसे नये रूप में ढाल दिया गया। यही उसका संस्कार है। क्रमश

पाद टिप्पणी

श्री जयदेव आर्य

महर्षि दयानन्द और उनके गुरु स्वा विरजानन्द जी के जीवन के क्रान्तिकारी पक्ष की पुष्टि मे अनेक सबल प्रमाण उपलब्ध है जो सिद्ध करते हैं कि उनका १८५७ की क्रान्ति के साथ भी अवश्य ही गहरा सम्बन्ध रहा था। हम यहा उन सब प्रमाणो को शृंखलाबद्ध एवं संक्षिप्त रूप मे उपस्थित किए देते है जिससे किसी परिणाम पर शीघ्र पहुचने मे सुविधा हो।

स्वामी विरजानन्द का जीवन आरम्भ मे ही क्रान्तिकारी रहा था, इसकी पुष्टि मे निम्न हेतु है—

१ उनका यौवन सन १८१४ मे उस समय ब्रज मे बीत रहा था जबकि अंग्रेजो ने उस प्रदेश की स्वाधीनता को समाप्त कर उस पर अपना अधिकार जमा लिया। यह बात स्वा विरजानन्द के लिए असह्य थी। अत हम देखते है कि सन् १८१५ ४० तक हाथरस मुरसान अलीगढ करौली, ग्वालियर भरतपुर अलवर एवं जयपुर के जितने भी पुराने जागीरदारो, राजाओ या सरदारो ने अंग्रेजो से साहसपूर्ण टक्कर ली वे सबके सब विरजानन्द से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे और उनमे से कुछ ने स्वा विरजानन्द से ही राजधर्म की शिक्षा ग्रहण की थी। अत मानना चाहिए कि इन सब संघर्षों मे स्वा विरजानन्द की विशेष रुचि थी।

२ नवम्बर १९५९ मे मथुरा मे सम्पन्न हुई दयानन्द दीक्षा शताब्दी के अवसर पर प० युधिष्ठिर जी 'मीमासक को स्वा विरजानन्द जी के एक शिष्य प० नवनीत जी द्वारा लिखित उन विषयक एक कविता उपलब्ध हुई थी जिसे प जी ने 'वेदवाणी' मासिक बनारस मे प्रकाशित करवाया था। यह प नवनीत जी ऋषि दयानन्द के आगमन से पूर्व ही तीन वर्ष तक स्वा विरजानन्द मे पढ चुके थे। इस कविता की दो पंक्तियां विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं, जो उनके क्रान्तिकारी स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं—

सम्प्रदायवाद वेदविहित विवर्जित पै,
सासन विदेशिन को नाशन प्रचण्डी नै।
गोरे के ग्वारी ही उद्दण्ड मै उठाय दण्ड,
चण्ड हूँ प्रतिज्ञा करी, प्रज्ञाचक्षु दण्डी नै॥

क्रमश

आर्यों की मोरिशस यात्रा

२६-१० ९३ से हवाई जहाज द्वारा दिल्ली मोरिशस यात्रा शुरू होगी। आने जाने का जहाज का किराया १६३०० रुपये प्रति सवारी है, रहने व भोजन का प्रबंध मोरिशस सभा द्वारा। ५००० रु० एडवांस, शेष राशि एक मास मे भेजे। सवारी अपना पासपोर्ट नाम, आयु पिता का नाम आदि विवरण भेजे। बाहर के व्यक्ति ड्राफ्ट संयोजक के नाम भेजे। बाहर से आने वाले २६ १०-९३ को आर्यसमाज अनारकली मन्दिर मार्ग या आर्य समाज चूना मण्डी पहाडगंज पहुचे। भोजन संयोजक की ओर से होगा।

सम्पर्कसूत्र संयोजक

श्री शाम दास सचदेव,	श्री मालवीय आर्य
मन्त्री, आर्य समाज, चूना मण्डी,	समाज मन्दिर अनारकली
पहाडगंज, नई दिल्ली-५५	मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली-१
दूरभाष ७५४६१२८	दूरभाष ३४३७१८ ३१२११०

पता मकान न २६१३, भगतसिंह
गली न ९ चूना मण्डी,
पहाडगंज, नई दिल्ली-५५
दूरभाष ७३८५०४४ (पी० पी०)

कार्यक्रम

२६ १०-९३ नई दिल्ली से बम्बई, २७-१० बम्बई से मोरिशस २८-१० से २-११-९३ तक मोरिशस भ्रमण, २-११-९३ से मोरिशस से बम्बई तथा ३-११-९३ बम्बई से दिल्ली।

डा. श्रीराम आर्य (एटा) तृतीय मेघजी आर्य साहित्य पुरस्कार से सम्मानित

आर्य समाज सान्ताक्रूज (पा०) में ४ जुलाई को मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार समारोह सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। एटा के डा० श्री राम आर्य को मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार से सम्मानित किया गया। अस्वस्थता के कारण वे स्वयं इस समारोह में उपस्थित न हो सके। इस अवसर पर डा० श्रीराम आर्य को रुपये १५,००१) (पन्द्रह हजार एक) की राशि, चांदी की भव्य ट्राफी, शाल एवं श्रीफल भेंट किया गया, जिसे एटा के ही आचार्य डा० वागीश जी स्वयं कासगज (एटा) जाकर डा० श्री राम आर्य से भेंट करेंगे।

इसी अवसर पर गुरुकुल सूपा के स्नातक श्री जगदीशचन्द्र सालवी को रुपये ११००) (ग्यारह हजार रुपये) की राशि, शाल, श्रीफल एवं चांदी की थाली से सम्मानित किया गया। स्वर्गीय मेघजी भाई (मस्कत निवासी) की स्मृति में शुरू किए गए इस आर्य साहित्य पुरस्कार की शुरूआत सन् १९९१ से हुई थी। प्रथम पुरस्कार डा० राजेन्द्र जिज्ञासु एवं द्वितीय पुरस्कार माननीय डा० भवानी लाल भारतीय को प्राप्त हो चुका है।

समारोह के अवसर पर १ से ४ जुलाई १९९३ तक प्रतिदिन प्रातः ७ से ९ बजे तक सामवेद यज्ञ का आयोजन किया गया। श्री कनकसिंह भाई इस यज्ञ में मुख्य यजमान थे। ४ जुलाई को यज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न हुई। यज्ञ के ब्रह्मा महात्मा आर्य भिक्षु जी (ज्वालापुर) एवं आचार्य डा० सोमदेव शास्त्री थे। रात्रि १ से ३ जुलाई तक आर्य भिक्षु जी के सारगर्भित प्रवचन हुए। ४ जुलाई के मुख्य समारोह के अध्यक्ष महात्मा आर्य भिक्षु थे तथा मुख्य अतिथि माटुंगा आर्य समाज के श्री भगवती प्रसाद गुप्ता थे। सेठ प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास भी उपस्थित थे। वक्ताओं में श्री कैप्टन देवरत्न आर्य, डा० सोमदेव शास्त्री एवं डा० वागीश आर्य ने अपने विचार व्यक्त किये।

समारोह के प्रारम्भ में स्वर्गीय मेघजी भाई की स्मृति में दिए गए रुपये १,५०,०००) के सात्विक दान से शिला लेख का उद्घाटन उनके सुपुत्र श्री कनकसिंह मेघजी भाई के कर कमलों से हुआ। श्री कनकसिंह भाई ने अपने स्वर्गीय पिता की स्मृति में यज्ञशाला के लिए दान स्वरूप यह राशि दी है।

इसी अवसर पर आर्य समाज सान्ताक्रूज के उपप्रधान श्री आर० के० सहगल जी ने रुपये १,००,००० (एक लाख रुपये) की राशि प्रधान, श्री रामचन्द्र आर्य को, श्रीमती लीलावती महाशय (धर्मपत्नी श्री महाशय चमन लाल की ओर से भेंट की) श्रीमती लीलावती महाशय की इच्छा है कि इस राशि के ब्याज से आर्य जगत की उन विदुषी आर्य महिलाओं का प्रतिवर्ष सम्मान किया जाए, जिन्होंने अपना अमूल्य जीवन वैदिक सिद्धान्तों एवं आर्य समाज के प्रचार व प्रसार के लिए समर्पित किया है।

आर्य समाज के मन्त्री श्री संगीत शर्मा ने संयोजन किया।

अध्यक्षीय विवेचन महात्मा आर्य भिक्षु ने किया। अन्त में प्रधान श्रीरामचन्द्र आर्य ने सभी को धन्यवाद किया।

नौवाँ वार्षिकोत्सव

आर्य समाज सफदरजंग एन्क्लेव, बी-२ ब्लाक (निकट मदर डेरी) नई दिल्ली का ९वां वार्षिकोत्सव ७ से ११ अगस्त, ९३ तक मनाया जा रहा है। रात्रि ९ से १० बजे तक प्रख्यात वैदिक विद्वान डा० महेश विद्यालंकार की कथा होगी। ११ अगस्त को जन्माष्टमी पर्व पर डा० श्यामसिंह शशि, श्री सूर्यदेव जी, जस्टिस राजेन्द्र नाथ मित्तल, आचार्य विद्यादेव, डा० शशी प्रभा कुमार आदि अपने विचार रखेंगे।

गुरुकुल करतारपुर में गुरु विरजानन्द दिवस सम्पन्न

गुरुकुल करतारपुर में ३ जुलाई ९३ को गुरुविरजानन्द दिवस (गुरु पूर्णिमा) पर्व बड़े समारोह पूर्वक मनाया गया। बड़े बृहद् डा० नरेश कुमार आचार्य के ब्रह्मत्व में सम्पन्न हुआ मुख्य यजमान स्मारक ट्रस्ट के प्रधान पं० हरिवंश लाल शर्मा सपत्नीक, सरहिन्द के श्री प्यारे लाल सूद तथा श्रीमती सुधा धर्मपत्नी श्री कमल चौधरी ससद सदस्य लोक सभा होशियारपुर थे। आचार्य श्री राम प्रसाद वेदालंकार ने ध्वजारोहण किया तथा जनता को ओम् ध्वज के महत्व पर संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित विचार दिये।

गुरु विरजानन्द सम्मेलन के अध्यक्ष गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति आचार्य राम प्रसाद वेदालंकार मुख्य अतिथि श्री सत्यानन्द मुंजाल हीरो साईकिल लुधियाना तथा उद्घाटन कर्त्ता श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने विचार रखे।

सम्मेलन में सरहिन्द से पधारे श्री प्यारे लाल सूद ने १५,००० रुपये की राशि का पे आर्डर ट्रस्ट के प्रधान पं० हरिवंश लाल शर्मा को ट्रस्ट के लिए भेंट किया। कपूरथला के श्री हरिसिंह आहलूवालिया ने सूचित किया कि कपूरथला की वयोवृद्धा महिला श्रीमती प्रकाशवती आहलुवालिया ने वसीयत की है कि उनकी सम्पत्ति में से उनके मरणोपरान्त इस ट्रस्ट को ३०,००० हजार रुपये की राशि दे दी जाएगी।

सुखदेव राज शास्त्री, उपाचार्य/अधिष्ठाता
श्री गुरु विरजानन्द गुरुकुल, करतारपुर

संस्कृत पढने वाले छात्रो की सख्या घट रही है

नई दिल्ली। दिल्ली विश्वविद्यालय मे सस्कृत पढने वाले छात्रो की सख्या कम हो रही है। २६ कालेजो मे बी० ए० (सस्कृत) पढाई जाती है और प्रत्येक मे १५ से ३० तक छात्र हैं। सस्कृत मे प्रवेश के लिए जारी की गई तीसरी सूची के अनुसार न्यूनतम प्रवेश अक सीमा ४५ प्रतिशत तक गिर गई है। अभी तक रिकाड है कि इतने कम अक प्राप्तकर्त्ता को विश्वविद्यालय मे किसी अन्य विषय मे प्रवेश नही मिला है। सस्कृत मे शोध करके शिक्षण के क्षेत्र मे आने वाले छात्रा की सख्या इसलिए भी कम होती है क्योकि सान मे विश्वविद्यालय मे नौकरिया बहुत कम होती है। एक बात और है। बहुत से छात्र सस्कृत मे प्रवेश लेकर बाद मे अन्य विषय ले लेते हैं। इस आशय का समाचार नवभारत टाइम्स मे छपा है।

आवश्यकता है

आदश नर्सरी विद्यालय तिमारपुर दिल्ली ५४ मे आवश्यकता है —

(१) लिपिक एव अध्यापिका	पद एक	स्नातक
(२) नसरी अध्यापिका	पद दो	१०+२ उत्तीण एव नसरी प्रशिक्षित

वाछित प्रमाण पत्रो सहित २३ अगस्त ९३ तक आवेदन पत्र पहुच जाने चाहिए।

तेजपाल सिंह मलिक
प्रधान—आर्य समाज तिमारपुर दिल्ली ५४



आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R.N No 32387/77 Posted at N.D P S O on 12-13-8-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (G) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश" साप्ताहिक १५ अगस्त १९९३

वे जातियां मिट जाती हैं

(पृष्ठ १ का शेष)

मौलाना आजाद जैसे राष्टीय नेताओ ने इसका समथन नहीं किया परन्तु बाद मे इस अभूतपूर्व अहिंसक शान्तिपूर्ण व अनुशासित सत्याग्रह की भूरि भूरि प्रशसा की। सभवत अगस्त, १९४२ को भारत छोड़ो आन्दोलन की प्रेरणा भी इसी आर्य सत्याग्रह आन्दोलन से ही ली गई थी। उन्होने कहा वास्तव मे इसे हैदराबाद आर्य विजय दिवस के रूप मे मनाना चाहिए।

श्री अमर नाथ जी ने कहा कि मैं काग्रेसी था। आयसमाज मे मेरा विश्वास नही पर हैदराबाद आन्दोलन मे भाग लेने पर जेल मे भेज दिया गया। मैं जेल से भागने की योजना बना रहा था परन्तु वहा एक स्वामी जी से अत्यन्त प्रभावित हुआ और साढ़े तीन मास जेल में बन्द रहा। बाद मे मैं पक्का आर्य समाजी बन गया।

समाज के मन्त्री श्री वेदव्रत शर्मा ने धन्यवाद देते हुए कहा कि वे जातिया मिट जाती हैं जो अपने शहीदो का स्मरण नहीं करती तथा वे संस्कृतिया भी मिट जाती हैं जहा पर्व नही मनाये जाते हैं। अत प्रत्येक समाज मन्दिर मे प्रतिवष ऐसे आयोजन किये जाने चाहिए।

इससे पूर्व समारोह का शुभारम्भ प्रात यज्ञ एव श्री मनोहर लाल ऋषि के मधुर भजनो से हुआ।

मनुर्भव

विधाता ने तुझ मानव बना जग मे पठाया है।
न हिन्दू बनाया है न मुस्लिम ही बनाया है॥
न था तू पादरी मुल्ला न पण्डित वैश्य और क्षत्री।
न था तू जाट गूजर न था कायस्थ न था खत्री॥
तेरा जब गर्भ के अन्दर सही नकशा बनाया है॥१॥
न कोई रखा अन्तर बनावट एक जैसी की।
चरण, कर, नेत्र कानो की बनावट एक जैसी की॥
मनुज की एक जाती की न सूरत को मिलाया है॥२॥
जन्म से एक हम सब किन्तु कर्मों से बदल जाते।
सभी नौमास रहते गर्भ अन्दर कष्ट अति पाते॥
सुरासुर राम व रावण भी इससे बच न पाया है॥३॥
करम जैसा करे मानव वह राघव देखता ईश्वर।
पढ़ो विख्यात रामायण कि डाकू चोर रतना कर॥
सुकर्मों से वही ऋषि बाल्मीक उत्तम कहाया है॥४॥
विधाता ने तुझे मानव बना जग में पठाया है॥

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागज नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन – ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अंक ४४ रविवार २२ अगस्त १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

आर्य समाज मन्दिरो मे वेदजयन्ती का व्यापक आयोजन

श्रावणी पर्व, वेद पारायण यज्ञ, वेद कथायें, हैदराबाद सत्याग्रह कार्यक्रम व श्रीकृष्ण जन्मोत्सव सोल्लास सम्पन्न

नई दिल्ली ११ अगस्त। देश के आर्य समाज मन्दिरो व आर्य संस्थाओ मे वेद जयन्ती समारोह अत्यन्त उत्साह व श्रद्धापूर्वक मनाया जा रहा है। अधिकाश मन्दिरो मे २ अगस्त से ११ अगस्त ९३ तक कार्यक्रम आयोजित किए गए परन्तु जुलाई, ९३ के अन्तिम सप्ताह से प्रारम्भ हुये कार्यक्रम अगस्त तक चलते रहेगे। इसके अन्तर्गत श्रावणी पर्व पर सामूहिक यज्ञोपवीत धारण करना, हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के बलिदानियो की पुण्य-स्मृति मे श्रद्धाजलि व स्वतन्त्रता सैनानियो का सम्मान किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद पारायण यज्ञ, वेद प्रवचन व वेद कथाओ के आयोजन से सारा भारत वेदमय हो गया है। श्री कृष्ण जन्माष्टमी पर विशेष व्याख्यान व बच्चो के लिए प्रतियोगिताओ का भी आयोजन किया गया। देश की राजधानी दिल्ली मे तो ये सभी कार्यक्रम अत्यन्त धूमधाम व श्रद्धापूर्वक मनाये है।

आर्यसमाज दीवान हाल —राजधानी की प्रमुख आर्यसमाज दिवान हाल मे योगिराज श्री कृष्ण जन्माष्टमी कार्यक्रम सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध जी की अध्यक्षता मे मनाया गया स्वामी जी ने इस अवसर पर अपने उदगार व्यक्त करते हुए कहा कि श्री कृष्ण एक आप्त पुरुष थे एव धर्म की राजनीति के प्रतीक थे। स्वामी जी ने श्री कृष्ण के उज्जवल व पवित्र जीवन से प्रेरणा लेने का आह्वान किया।

कार्यक्रम के मुख्य अतिथि गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के परिदृष्टा (विजिटर) न्यायमूर्ति श्री महावीरसिंह का दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव, गुरुकुल कागडी के कुलपति डा० धर्मपाल एव विभिन्न आर्यसमाजो के पदाधिकारियो ने माल्यापण द्वारा भव्य अभिनन्दन किया, उन्होने जन समूह को सम्बोधित

(शेष पृष्ठ ३ पर)

आर्यसमाज मन्दिर बी.एन. पूर्वी शालीमार बाग मे भव्य यज्ञशाला का उद्घाटन

राष्ट्र रक्षा यज्ञ में श्रद्धापूर्वक आहूतियां देते रहें

नई दिल्ली। यज्ञ सर्वश्रेष्ठ कार्य है एव वेद ही सच्चा धर्म है तथा वेद मार्ग पर चल कर ही विश्व मे सच्ची शांति स्थापित की जा सकती है। ये उदगार स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने आज आर्य समाज मन्दिर बी० एन० पूर्वी शालीमार बाग दिल्ली-५२ की नवनिर्मित भव्य यज्ञशाला के उदघाटन के अवसर पर व्यक्त किये।

समारोह मे वैदिक विचारधारा का सन्देश नामक विषय पर अनेक विद्वानो ने अपने सारगर्भित विचार प्रस्तुत किये।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के उपकुलपति आचार्य रामप्रसाद जी वेदालकार ने अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि जिस व्यवहार की हम दूसरो से अपेक्षा करते हैं वही व्यवहार हमे उनके साथ करना चाहिए। हमें अपने दर्शन (दृष्टि) को सुदर्शन, चिन्तन को सुचिन्तन, श्रवण को सुश्रवण मे बदलना चाहिए ताकि हमें सच्चा सुख प्राप्त हो। यज्ञ जैसे श्रेष्ठ कर्म करते हुए ओमध्वज लेकर आगे बढते रहें यही वैदिक विचारधारा का सन्देश हैं।

कार्यक्रम में आचार्य वेदालकार जी को शान्ति पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार मनीष आर्य एव रविन्द्र आर्य की ओर से दिया गया।

इसी अवसर पर प० इन्द्रराज जी मेरठ को भी जिन्दल परिवार की ओर से सम्मानित किया गया। अस्वस्थता के कारण वे आज स्वय पुरस्कार ग्रहण न कर पाये।

दिल्ली विश्वविद्यालय के सस्कृत विभागाध्यक्ष एव लब्ध प्रतिष्ठ वैदिक विद्वान डा० वाचस्पति जी उपाध्याय ने अपने मार्मिक उदगार व्यक्त करते हुए कहा कि मनुष्य की सभी कामनाओ मे मूल सकल्प होता है और जब यह सकल्प यज्ञमय बन जाता है तो पूर्ण हो जाता है और यह मणि काचन सयोग ही है कि यज्ञशाला के निर्माण का सकल्प पूरा होने के बाद आज स्वतन्त्रता दिवस के पावन पर्व पर इसका उद्घाटन सम्पन्न हुआ। डा० वाचस्पति जी ने आगे कहा कि जिस प्रकार रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद आदि ने स्वतन्त्रता के यज्ञ मे अपने प्राणो की आहूति दी थी, इसी प्रकार हमे राष्ट्र निर्माण व राष्ट्र रक्षा यज्ञ मे निरन्तर श्रद्धापूर्वक आहूतिया देते रहना चाहिए। राष्ट्र की एकता के लिए आज हमे प्राणवान सरकार चाहिए।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान एव प्रख्यात आर्य नेता श्री सूर्यदेव ने सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख भाग्भवेत ।। ही वैदिक विचारधारा का सच्चा सन्देश है। आर्य समाज भी मानव मात्र के सुख शान्ति व कल्याण का मार्ग दिखाता है। शुद्ध आचार, शुद्ध विचार व शुद्ध आहार तथा शुद्ध जीवन जी कर ही हम सुख शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। श्री सूर्यदेव जी ने अपने किस्म की अनोखी व सुन्दर यज्ञशाला के निर्माण के लिए समाज के अधिकारियो को बधाई दी।

दर्शनाचार्य प्रो० रत्नसिंह ने कहा कि आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्य को ही सच्चा वैदिक धर्म परिभाषित किया है और उन्होने

(शेष पृष्ठ ७ पर)

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव

सहसम्पादक - विमलकान्त शर्मा

संस्कृत का पुनरुद्धार : महर्षि दयानन्द का महान संकल्प (२)

डा० प्रशान्त वेदालकार

उन्होने भारतीय ही नही वरन् विदेशियो को भी सस्कृत सीखने की प्रेरणा दी। २६ मार्च १८७९ के एक पत्र मे उन्होने लिखा—अमरीका वालो से अति प्रेम से हमारा नमस्कार कहना और उनसे कुशलता पूछना कि लाहौर आदि से समाज मे आप लोगो के लिए तैयारी कर चुके हैं। वहा कब तक जायेंगे और उन्होने सस्कृत पढना आरम्भ किया है या नही ?' ३० जून १८७९ को श्याम जी कृष्ण वर्मा को आक्सफोर्ड मे दयानन्द ने पत्र लिखा और पूछा— सस्कृत विद्या का वहा कैसा प्रचार है ? और आर्य समाज के बाबत वे लोग क्या कहते हैं ?' ८ अक्तूबर १८८० को एच० पी० मैडम ब्लैवत्स्की को उन्होने लिखा—'प्रथम सस्कृत पढने, शिक्षा लेने, सोसायटी को आर्य समाज की शाखा करार देने आदि के लिए लिखा था, और वे चिट्ठिया छप कर सर्वत्र प्रसिद्ध भी है और जो मैंने वहा पत्र भेजे थे उनकी नकल भी मेरे पास उपस्थित है।'

विद्या का मूल

दयानन्द की निश्चित मान्यता थी कि भारत विश्व को सस्कृत मे निहित ज्ञान के रूप मे बहुत कुछ दे सकता है। सत्यार्थ प्रकाश मे वे लिखते हैं कि जितनी विद्या भूगोल मे फैली है वह सब आर्यावर्त देश से मिश्र वालो, उनसे यूनानी, उनसे रोम और उनसे यूरोप देश उनसे अमेरिका आदि देशो मे फैली है। अब तक जितना प्रचार सस्कृत विद्या का आर्यावर्त देश मे है उतना किसी अन्य देश मे नही। जो लोग कहते हैं कि जर्मनी देश मे सस्कृत विद्या का बहुत प्रचार है और जितनी सस्कृत मैक्समूलर साहब पढे हैं उतनी कोई नहीं पढा। यह बात मात्र कहने की है, क्योकि -

यस्मिन् देशे द्रुमो नास्ति एरण्डोऽपि द्रुमायते।

अर्थात जिस देश मे कोई वृक्ष नहीं होता उस देश मे एरण्ड ही को बडा वृक्ष मान लेते हैं।

वैसे ही यूरोप देश में सस्कृत विद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगो और मैक्समूलर साहब ने थोडा सा पढा, वही उस देश के लिए अधिक है। परन्तु आर्यावर्त देश की ओर देखें तो उनकी बहुत न्यून गणना है, क्योकि मैंने जर्मनी देश के निवासी एक प्रिंसिपल के पत्र से जाना कि जर्मनी देश मे सस्कृत चिट्ठी का अर्थ करने वाले भी बहुत कम हैं। (सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास, पृ० २७५ ७६)।
आदि लिखकर दयानन्द ने वस्तुत उन लोगो को सावधान करने की कोशिश की जिन्होने सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का ठेकेदार पश्चिम को मान लिया था और यहा तक कि सस्कृत मे भी अपने को जर्मनी से पिछडा हुआ मानने लगे थे। आज भी यह दुर्भाग्य की बात है कि किसी विदेशी विश्वविद्यालय से प्राप्त सस्कृत उपाधि को भारतीय विश्वविद्यालय की तुलना मे अधिक महत्व दिया जाता है। किसी विदेशी विद्वान द्वारा सस्कृत विषय पर विदेशी भाषा मे लिखी पुस्तक को अधिक महत्व दिया जाता है। महर्षि दयानन्द ने इस कुबुद्धि से बचने के लिए आज से सौ वर्ष पूर्व ही सावधान किया था। वे लिखते है कि मैक्समूलर साहब के सस्कृत साहित्य और थोडा सी वेद की व्याख्या देखकर मुझको विदित होता है कि मैक्समूलर साहब ने इधर-उधर आर्यावर्तीय लोगो द्वारा की हुई टीका देखकर कुछ-कुछ यथा-तथा लिखा है। जैसे कि—

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुष चरन्त परितस्थुष।
रोचन्ते रोचना दिवि।

इस मन्त्र का अर्थ घोडा किया है इससे तो सायणाचार्य ने सूर्य अर्थ किया है सो अच्छा है। परन्तु इसका ठीक अर्थ परमात्मा है, सो मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका मे देख लीजिए। उसमे इस मन्त्र का अर्थ यथार्थ किया है, इतने से जान लीजिए कि जर्मनी देश और मैक्समूलर साहब मे सस्कृत विद्या का कितना पाण्डित्य है। (सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास, पृ० २७६) वस्तुत पश्चिमी ज्ञान के प्रति अन्ध भक्ति यहा तक कि सस्कृत व वैदिक ज्ञान के विषय मे भी उन्ही को प्रमाण मानने की गलत प्रवृत्ति पर रोक लगाने के लिए दयानन्द को यह सब स्पष्ट बातें लिखनी पडी थी।

सरल सस्कृत का प्रयोग

दयानन्द का मत था कि प्रयोग मे अत्यन्त सरल सस्कृत आनी चाहिए सस्कृत प्रकाण्ड पडित होते हुए भी जन सामान्य तक अपने विचार पहुचाने के लिए वे स्वय अत्यन्त सरल सस्कृत का प्रयोग किया करते थे। यह उल्लेखनीय है कि सन् १८७२ से पहले वे सस्कृत मे ही भाषण दिया करते थे। पर उनकी सस्कृत समझने मे किसी को कठिनाई नही होती थी।

सन् १८७२ मे कलकत्ता मे श्री केशवचन्द सेन ने अपने आवास पर स्वामी जी का व्याख्यान कराना निश्चित किया। अग्रेजी और बगला मे विज्ञापन बांटे गये। नियत समय पर सहस्रो नर-नारी एकत्रित हो गए। उस समय कलकत्ते के प्राय सभी गणमान्य सज्जन वहा उपस्थित थे। यद्यपि व्याख्यान सस्कृत भाषा मे था परन्तु दयानन्द की कथन शैली इतनी सरल थी कि उनका कथन सर्वसाधारण की समझ मे आ जाता था।

सन् १८७४ मे भरुच मे वकील जैठालाल जी ने स्वामी जी से कहा—'आपकी सस्कृत अति सुगम होती है। पडितो जैसी जटिल भाषा मैंने आपसे नही सुनी। दूसरे, जब आप पडितो से शास्त्रार्थ करते हैं तब भी उनका मुख आप केवल युक्तियो और प्रमाणो से ही बन्द करते है। पडित लोग एक-एक शब्द पर ही सारा-सारा दिन बिता देते हैं। वैसा आप भी क्यो नही करते ?' दयानन्द ने उत्तर दिया—'मैं सुगम सस्कृत इसलिए बोलता हू कि सुनने वालो को समझने मे सुगमता हो। मेरा उद्देश्य जनता को समझाना है, न कि अपना पाडित्य छाटना। परन्तु यह भी निश्चय रखिए कि सुगम भाषा बोलने की रीति किसी भाषा के अल्पज्ञान से नही प्राप्त हुआ करती। सच तो यह है कि भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने पर ही व्यक्ति सरल भाषा बोल सकता है।'

अहमदाबाद मे तो एक शास्त्री ने यहा तक कह दिया 'महात्मा जी, केवल भवति वचति मात्र से काम न चलेगा। आज आपको दक्षिणी पडितो से पाला पडा है कोई शास्त्रीय महत्व दिखाना होगा। प्रतिपक्षियो की प्रबल प्रेरणा पर अपनी प्रकृति के प्रतिकूल होते हुए भी दयानन्द ने अप्रसिद्ध शब्दपूर्ण समास बहुल व अनेकार्थ बोधक ऐसी जटिल सस्कृत बोलनी आरम्भ की कि प्रतिवादी देखते रह गए। वे दयानन्द की धाराप्रवाह सस्कृत के वाक्यो को समझ ही न सके। इस प्रकार स्पष्ट है कि कठिन सस्कृत बोल सकने पर भी दयानन्द सरल सस्कृत का ही व्यवहार जन-सामान्य के लिए आवश्यक समझते थे।

१५ दिसम्बर १८७२ को दयानन्द कलकत्ता गये। उनकी सस्कृत के सम्बन्ध मे पताका पत्रिका के सम्पादक ने लिखा था 'हमने जब पहले पहल स्वामी जी की वक्तता सुनी तो हमने एक नई न बात देखी कि सस्कृत भाषा मे भी ऐसी सरल मधुर वक्तृता हो सकती है। वह ऐसी सरलतम सस्कृत मे व्याख्यान देने लगे कि सस्कृत से जो अनजान था वह भी उनके व्याख्यान को समझने लगा।' इसी प्रकार धर्मतत्व ने मार्च के अक मे दयानन्द सरस्वती शीर्षक देकर इस प्रकार लिखा था—'यह एक दिग्गज पडित है। यह हिन्दू शास्त्र विशारद है। सस्कृत भाषा इनके अधीन है। विशेषकर इनकी सस्कृत भाषा इतनी प्राजल अतिमधुर और सरल है कि सस्कृत से अनभिज्ञ पुरुष भी उसे अनायास बहुत कुछ समझ सकते हैं।''

दयानन्द ने २० अगस्त १८७६ को वेदभाष्य बनाना आरम्भ किया। तब उनके एक विज्ञापन से यह भी प्रकट होता है कि वे सरल भाषा के पक्ष मे थे। उस विज्ञापन मे उन्होने लिखा ''यह भाष्य सस्कृत और आर्य भाषा जो कि काशी प्रयाग आदि मध्यदेश की है। इन दोनो भाषाओ मे बनाया जाता है। इसमे सस्कृत भाषा भी सुगम रीति की लिखी जाती है और वैसी आर्य भाषा भी सुगम लिखी जाती है। सस्कृत ऐसी सरल है कि जिनकी साधारण सस्कृत को पढने वाला भी वेदो का अर्थ समझ ले। तथा भाषा को पढने वाला भी सहज मे समझ लेगा। इससे दयानन्द का सरल भाषा रखने का उद्देश्य और अधिक प्रकट हो जाता है।

मोनियर विलियम्स प्रभावित

स्वामी जी ने अपने परमशिष्य श्याम जी कृष्ण वर्मा को सस्कृत मे एक पत्र लिखा। श्याम जी कृष्ण वर्मा ने वह चिट्ठी प्रो० मोनियर विलियम्स को दिखाई।

शेष पृष्ठ ६ पर।

श्रावणी पर्व, श्री कृष्ण जन्मोत्सव सोल्लास सम्पन्न

(पृष्ठ १ का शेष)

करते हुये कहा कि आर्य समाज ने श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषों के पावन जीवन को सही अर्थों में प्रस्तुत किया है। श्री कृष्ण क्रान्ति के दूत थे और उच्च कोटि के योगीराज भी थे। आज योग को अपनाये बिना आर्य समाज सफल नहीं हो सकता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० वाचस्पति जी उपाध्याय ने कहा कि आज देश में क्रान्ति व उत्थान के लिए श्री कृष्ण के पाचजन्य एव सुदर्शन चक्र की जरूरत है। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने कहा कि शिवा, धर्म ज्ञान, के प्रतीक योगीराज श्री कृष्ण के पदचिह्नों पर चलकर ही हम उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि दे सकते हैं श्री सूर्यदेव, प० श्याम सुन्दर जी स्नातक, प० मित्रपाल जी शास्त्री, प० महेन्द्र कुमार आदि ने भी प्रेरक विचारों द्वारा युवकों को श्री कृष्ण के आदर्शों पर चलने का आह्वान किया।

२ अगस्त से प० महेन्द्र कुमार शास्त्री के ब्रह्मत्व में प्रारम्भ हुये यजुर्वेद पारायण यज्ञ की पूर्णाहुति पर अनेक गणमान्य लोगों ने श्रद्धापूर्वक आहुतियां दी। प्रतिदिन रात्रि को प० श्याम सुन्दर स्नातक के वेद प्रवचन एव संगीताचार्य श्री गुलाबसिंह राघव के मनोहर भजन होते रहे। ९ अगस्त को श्रावणी उपाकर्म व हैदराबाद सत्याग्रह बलिदान दिवस भी मनाया गया था।

उल्लेखनीय दस दिवसीय भव्य कार्यक्रम का कुशल सयोजन एव सचालन श्री श्री सूर्यदेव जी ने किया। समाज के प्रधान श्री मूलचन्द गुप्ता ने भी समारोह को सफल बनाने में सराहनीय योगदान दिया।

आर्य समाज हनुमान रोड, नई दिल्ली —में वेद जयन्ती कार्यक्रम के अन्तर्गत ११ अगस्त को श्री कृष्ण जन्माष्टमी महोत्सव सासद श्री भूपिन्द्र सिंह हुड्डा की अध्यक्षता में मनाया गया। शिक्षा एव संस्कृति उपमन्त्री कुमारी शैलजा ने इस अवसर पर 'आर्य सस्कृति के संरक्षक योगिराज श्री कृष्ण विषय पर आयोजित भाषण प्रतियोगिता के विजेता को पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया। रघु आर्य कन्या स्कूल की कु० प्रीति २५१ रु० का प्रथम, कुलाची हंसराज की छात्रा कु० मेघना भारद्वाज को १५१ रु का द्वितीय तथा आर्य कन्या गुरुकुल नरेला की कु० विजय आर्या को १०१ रु० का तृतीय पुरस्कार प्रदान किया गया। प्रत्येक प्रतियोगी को वैदिक साहित्य आदि भी भेंट किया गया।

कु० शैलजा ने पुरस्कृत छात्राओं को बधाई देते हुये कहा कि आर्य समाज ने न केवल आजादी की लडाई में महत्वपूर्ण योगदान दिया और सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के लिए सराहनीय कार्य किया बल्कि शिक्षा के प्रचार प्रसार, विशेषकर नारी शिक्षा के लिए अद्वितीय कार्य किया है। असली भारत गाव में बसता है, अत आर्य समाज को दूर-दराज के क्षेत्रों में जाकर भी शिक्षा का प्रचार तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने का भी प्रयास करना चाहिए।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री आनन्दबोध जी सरस्वती ने यज्ञ की महत्ता पर प्रकाश डाला एव आशीर्वाद देते योगीराज श्री कृष्ण के पावन जीवन से प्रेरणा लेने का आह्वान किया। सासद श्री हुड्डा ने कहा कि हमें श्री कृष्ण के चित्र की नहीं बल्कि चरित्र की पूजा करनी चाहिए। समाज के प्रधान श्री राममूर्ति कैला, उपप्रधान श्री रतन लाल सहदेव हसराज चोपडा सयोजक श्री खैरायती लाल आदि ने अतिथियों का स्वागत किया। समाज के युवा कर्मठ मन्त्री श्री वेदव्रत शर्मा ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

इससे पूर्व आज प्रात २ अगस्त से डा० रणदेव शास्त्री के ब्रह्मत्व में चल रहे यजुर्वेद पारायण यज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न हुई। प्रतिदिन रात्रि वैदिक विद्वान डा मनोहर लाल ऋषि एव प्रात स्वामी स्वरूपानन्द जी सरस्वती के भजन होते रहे। ८ अगस्त को हैदराबाद आर्य सत्याग्रह दिवस पर स्वतन्त्रता सेनानियों का भी सम्मानित किया गया था।

आर्य समाज तिमारपुर, दिल्ली —२ अगस्त से प्रारम्भ हुये दस दिन के वेद जयन्ती समारोह के अन्तिम दिन ११ अगस्त को श्री कृष्ण जन्मोत्सव के अवसर पर समाज के प्रधान श्री तेजपाल मलिक ने "योगीराज श्रीकृष्ण' विषय पर निबन्ध व भाषण प्रतियोगिता के विजेताओं को पदक व वैदिक साहित्य भेंट कर पुरस्कृत किया। भाषण प्रतियोगिता विजेता है —बिरला आर्य कन्या स्कूल, कमला नगर की कु० मजु, राजकीय उ० स्कूल तिमारपुर के पवन त्रिपाठी एव आर्य पब्लिक स्कूल तिमारपुर की कु मोनिया तथा निबन्ध में कु० मजु व आर्य पब्लिक माडल स्कूल की कु० पूजा किराड अन्य १२ प्रतियोगियों को भी प्रोत्साहन दिया गया। समाज के मन्त्री श्री विमल कात शर्मा ने कहा कि सत्य व धर्म के सन्देश वाहक धर्म एवं अत्याचार व अन्याय के विरुद्ध सघर्ष के प्रतीक योगीराज कृष्ण के आदर्श जीवन से प्रेरणा लेकर ही हमे सच्चे अर्थों में जन्माष्टमी मना सकते हैं।

इस पूर्व समाज के पुरोहित प० राजवीर शास्त्री के ब्रह्मत्व मे २ अगस्त शुरू हुये विशेष यज्ञ की पूर्णाहुति म नर-नारियों न श्रद्धापूर्वक आहुतियां दी। रात्रि को प्रतिदिन वैदिक विद्वान श्री विद्यालकार एव डा० सत्य काम की मनोहर वेद कथा होती रही। कोषाध्यक्ष श्री आनन्द प्रकाश गुप्ता ने सारे कार्यक्रम मे विशेष सहयोग दिया।

आर्य समाज मन्दिर बी० एन० पूर्वी शालीमार बाग—मे ६ से १५ अगस्त तक वेद सप्ताह कार्यक्रम धूमधाम से मनाया गया। प शिवाकान्त उपाध्याय के ब्रह्मत्व मे यजुर्वेदीय यज्ञ एव रात्रि को वेद कथा होती रही है। श्री श्यामवीर राघव के मनोहर भजन हुए। कार्यक्रम के सयोजक प० दयानन्द नागर थे।

उल्लेखनीय है कि १५ अगस्त को भव्य यज्ञशाला का भी उद्घाटन सम्पन्न हुआ।

आर्य समाज सफदरजग एन्क्लेव, नई दिल्ली मे ११ अगस्त को श्री कृष्ण जन्माष्टमी कार्यक्रम भी उत्साहपूर्वक मनाया गया। ७ अगस्त से शुरू हुये यज्ञ की पूर्णाहुति के बाद समाज के सरक्षक न्यायमूर्ति राजेन्द्र नाथ मित्तल ने ध्वजारोहण किया। 'योगीराज श्री कृष्ण का वैदिक स्वरूप विषय पर पद्मश्री डा० श्यामसिंह शशि, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के कुलपति डा० धर्मपाल, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव, डा शशि कुमार, प्रादेशिक सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ सहगल, आचार्य विद्यादेव, डा महेश विद्यालकार आदि ने प्रेरक विचार प्रस्तुत किये। इस अवसर पर कु पूनम शर्मा, डा सोनिका सोनी एव श्री मिश्रा को भी आर्य समाज की श्रेष्ठ सेवाओ के लिए सम्मानित किया गया। समाज के प्रधान श्री एच एच रवेर एव मन्त्री श्री सूरज प्रकाश मलिक ने सक्रिय हो कार्यक्रम सफल बनाया। ५ दिन के इस नौवे वार्षिकोत्सव पर रात्रि को डा महेश विद्यालकार की वेद कथा होती रही।

आर्यसमाज नागल राय— मे वेद कथा के उपलक्ष्य मे २७ जुलाई से २ अगस्त तक आचार्य रामनिवास के ब्रह्मत्व मे व्रत यज्ञ तथा रात्रि को वेद कथा तथा महेन्द्र बेनडक क मधुर भजन हुए। ९ अगस्त को श्रावणी पर्व मनाया गया।

आर्य समाज खिचड़ीपुर कालोनी, दिल्ली-९१ मे १२ अगस्त से १७ अगस्त तक वेद प्रचार सप्ताह के अतर्गत पूज्य महात्मा राम किशोर के ब्रह्मत्व में चतुर्वेदशतकीय गायत्री महायज्ञ सम्पन्न हुआ। रात्रि को आर्य भजनोपदेशक श्री गायत्री महायज्ञ सम्पन्न हुआ। रात्रि को आर्य भजनोपदेशक श्री तुलसीराम के भजन एव आर्य विद्वानो व सन्यासियो के वेद प्रवचन होत रहे।

आर्यसमाज देव नगर नई दिल्ली मे २ से ८ अगस्त तक के वेद सप्ताह कार्यक्रम मे प० चुन्नी लाल एव श्री चन्द्रपाल आर्य ढोलक वादक के भजनोपदेश हुए।

आर्यसमाज मयूर विहार फेज २ —मे ३१ जुलाई व १ अगस्त को श्रावणी उपाकर्म पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती द्वारा वेद प्रचार किया गया। सी ब्लाक मार्किट के पास पार्क मे विशेष यज्ञ एव प० चुन्नी लाल के भजनोपदेशक एव प० चन्द्रपाल का संगीत हुआ। स्वामी जी श्रावणी पर्व व रक्षा बन्धन के महत्व पर प्रकाश डाला।

आर्य समाज मोती बाग, नई दिल्ली—मे ११ अगस्त को श्री कृष्ण जन्मोत्सव से मनाया गया। प चुन्नी लाल भजनोपदेशक मण्डली ने मधुर सगीत कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

आर्य समाज कशवपुरम—मे योगीराज श्री कृष्ण का जन्मदिन श्रद्धापूर्वक मनाया गया। रात्रि ७ से ८ बजे तक स्वामी स्वरूपानन्द का श्री कृष्ण के जीवन पर पर प्रभावशाली व्याख्यान व सगीत कार्यक्रम हुआ।

आर्यसमाज सीताराम बाजार, दिल्ली—मे २ से ११ अगस्त, तक ऋग्वेदीय वृहद यज्ञ आचार्य प्रकाशचन्द जी शास्त्री के ब्रह्मत्व मे सम्पन्न हुआ। श्रावणी पर्व

(शेष पृष्ठ ६ पर)

आदर्श त्रैतवाद (२९)

राजसिंह भल्ला

सर्व व्यापक होने से यह सर्वज्ञ है सब के कर्मों को जानता है और तदनुसार कर्मों का फल देता है। वह प्रकृति से जगत् को बनाता है। जीव और ब्रह्म मे भेद है। ईश्वर सर्व व्यापक होने से जीव के अन्दर भी है। सर्वज्ञ है। जीव अल्पज्ञ है। जीव एक देशी है ब्रह्म सर्व व्यापक है। ईश्वर जीव प्रकृति तीन पदार्थ अनादि है एक देखने वाला जीवात्मा जिसको मत्र मे धीर कहा गया है। दूसरा जिसको देखता है अर्थात् प्रकृति तीसरे जिसको उसके भीतर देखना है परमात्मा। इस प्रकार ईश्वर जीव प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि हैं। जो ईश्वर को इस सारे जगत मे व्यापक अर्थात अनन्त सबका अन्तर्यामी कर्मों का फल दाता प्रकृति से जगत् के रचयिता जीव ब्रह्म का भेद तीन पदार्थ अनादि मानते हैं उन्हीं की मुक्ति होती है अन्य की नही।

मोह और शोक का नाश

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत

तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत । ईश ७

जिस अवस्था अथवा परमेश्वर स्वरूप मे ज्ञानी मनुष्य को सब भूत प्राणी आत्मा ही हो गए अर्थात् जिस ज्ञानी उपासक को सब भूतो में आत्म तत्त्व ही प्रतीत होने लगा उस ब्राह्मी स्थिति मे एकत्व को-अखण्ड परमात्मा को देखने वाले को मोह और शोक कहा। प्रिय वस्तु मे ममता जन्य मोह और वियोग जन्य शोक हुआ करता है। आत्मवेत्ता को जब सब देहो मे आत्म भाव दीखने लगे तो उस अवस्था मे उसके बन्धु-बान्धव मे मोह नहीं रहता और न ही ईष्ट वियोग मे शोक होता है। आत्म ज्ञानी मोह और शोक के सागर को पार कर जाता है। वह सबसे समदृष्टि रखता है।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (१३)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

तमीशान जगतस्तस्थुषस्पति धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।

पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्ध स्वस्तये ॥

ऋ० अ० १।अ० ६।व १५। म० ५ ॥

काव्यार्थ

(ध्वनि—दिल के अरमा)

जगत रचकर तुम उसी मे रम रहे।

ईश बल से ग्रह गगन मे थम रहे ॥

जड व चेतन दो तरह का जगत है,

भूप ! उसको पालते हर दम रहे ॥१॥

ज्ञान अरु आनन्द नित देता हमे,

निज सुरक्षा की विनय कर हम रहे ॥२॥

सब सुखो, धन-सम्पदा मे वृद्धि कर,

मन वचन-तन से सबल सक्षम रहे ॥३॥

हो सुखी ससार सारा हर तरह,

अमल निश्छल सकल हों ना गम रहें ॥४॥

जय-पराजय मे नहीं सुख-दुख हो,

हानि-लाभो में सदा हम सम रहें ॥५॥

क्रमशः

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (८)

नेतराम शर्मा प्रधान - भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला दिल्ली ११००५१

५ धुध, जाला, रोह काला सुरमा (कोरा) ५० ग्राम, प्याज रस ४०० ग्राम कपूर २ ग्राम इन चीजो को साफ सुथरे धुले खरल मे डाल कर लगातार खरल करें। जब सूख जाए तो सुरमा बारीक कपडे मे छान कर शीशी मे भर लें। इसके प्रयोग से धुन्ध, जाला और रोहे दूर हो जाते हैं और नयनो की ज्योति बढती है।

६ पिसा त्रिफला रात्रि को पानी मे भिगो सुबह छान कर आखो मे छींटे मारने से भी आखो की ज्योति बढती है जितनी बार मुह धोये उतनी बार ही ठण्डे पानी के छीटे अवश्य आखो पर दें। रोशनी रहेगी।

७ बारहसीगे के सीग को माता के दूध मे घिस कर लगाने से कई साल पुरानी फूली भी कट जाती है।

८ एक गिलास गाजर के रस मे दो चम्मच असली शहद डालकर पीने से भी रोशनी बढती है।

९ रात्री मे गाजर कद्दूकस से कस कर दूध मे उबालकर ढककर डाल ओस मे रख दें प्रात नास्ते मे रोज लें तो भी आखो मे काफी ज्योति का विकास होगा।

१० बादाम, मोटी सौंप और मिश्री बराबर-बराबर लेकर पीस कर एक चम्मच दूध के साथ प्रति दिन लेने से बच्चो के चश्मे दूर हो जाते हैं। समय तीन माह।

११ सतावर का चूर्ण १ चम्मच दूध के साथ लेने से बडो के भी चश्मे हट जाते हैं समय ३ माह।

१२ सून नेति और जल नेति से भी चश्मे उतर जाते हैं।

परहेज—मैंदा, चीनी, धुले चावल सफेद, खीर, उबला आलू, हलुवा, भारी चिकनाई वाले पदार्थ, चाय, काफी शराब, गोलिया, टाफिया चाकलेट, अचार मुरब्बे, मीट इलाज के दौरान छोड दीजिए।

सलाद फलो का सेवन हरी सब्जी, गाजर मूली, पनीर, बादाम लाभदायक।

पाचन-सबधी रोगो का इलाज

१३ बच्चो के हरे-पीले दस्त - शीत ऋतु मे जायफल को माता अपने दूध मे घिस कर चटायें दस्त फौरन बन्द हो जायेंगे।

१४ बच्चे की कब्ज तोडने की दवा अमलतास की फली के अन्दर एक काली टिकिया लेकर उसे मा के या गाय के दूध मे घोल कर पिलाने से बच्चे की कब्ज दूर हो जाती है। मल निकल जाने से वह रोना बन्द कर देगा और चैन से सो जायेगा।

१५ बच्चों के पेट दर्द का इलाज—अजवायन १० ग्राम, काला नमक ढाई ग्राम, हीग असली ४ ग्राम तीनो को महीन पीस कर और कपडे मे छान कर शीशी मे रख लें। प्रात साय आधा ग्राम एक बडा चम्मच गर्म जल से दें। दर्द दूर हो जायेगा।

क्रमश

प्रेरक प्रसग

सत्संग एक सुकोमल शय्या है

सवत १९३५ के चैत्र मास मे स्वामी जी लाहोर पधारे। वहा प्रतिदिन उपदेशो से जनता को तृप्त किया करते थे एक दिन एक प्रेमी जन ने पूछा—"भगवन ! इसका क्या कारण है कि जहा नाच होता है, राग रग होता है, हास-विलास होता है वहा तो सारी-सारी रात बैठे बीत जाती है और नीद नही आती, परन्तु जहा जहा सत्सग हो धर्मोपदेश हो, वहा लोग थोडी देर मे ही ऊघने लग जाते हैं।" स्वामी जी ने कहा - 'सत्सग एक सुकोमल शय्या है जिसके कारण मनुष्य के मन मे सुख व्याप्त हो जाता है और उसे नींद आने लगती है। यदि उस पर नींद न आये तो और कहा आये ? राग रग, नाच गीतादि मनुष्य के मन मे उत्तेजना पैदा करते हैं। वह एक काटो का बिछौना है, उस पर किसी को भी निद्रा नहीं आयेगी।"

सत्यवीरसिंह

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

मिट्टी को मोडकर चाक पर घुमाकर कारीगर उसे कलश का रूप दे देता है। कच्चे कलश पर रेखा चित्र बनाकर कलाकार उसे और आकषक बना देता है। घड़ा पक जाने पर उस पर कोई आकृति बनाना सम्भव नहीं है, क्योकि तब वह टूट भले सकता है, किन्तु आकृति को स्वीकार नही कर सकता' सस्कार मानव को भी इसी प्रकार प्रभावित करते हैं। एक निश्चित अपक्व आयु तक उन पर प्रभाव होता है, किन्तु पक्व या प्रौढ हो जाने पर वे आत्म हत्या तक के लिए तैयार हो जाते है, किन्तु सस्कारो को स्वीकार नहीं करते हैं। यह स्थिति तब होती है, जब किसी योजनानुसार कोई माता पिता, आचाय सन्तान को सस्कारित करना चाहते हैं, इसके विपरीत सन्तान या प्रौढ मानव भी जब स्वेच्छा से सस्कारो को स्वीकार करना चाहते है, तो वे इन्हें जीवन भर कभी भी ग्रहण कर सकते हैं।

सामान्यत सस्कारो का प्रभाव एकदम नही होना है वे धीरे-धीरे अपना स्थान बनाते हैं। कोमल रस्सी भी अपनी रगड से कुए की पक्की मुडेर पर लकीर बना देती है। पत्थर की घडोंची पर भी निरन्तर रखे जाने वाले मिटटी के घडे भी गढ्ढे बना देते हैं। इस प्रकार सस्कार भी अपना प्रभाव धीरे-धीरे छोडते जाते हैं और कालान्तर मे उनका विशाल रूप सामने आ जाता है। जिस पात्र मे हवन सामग्री या घृत रख कर यज्ञ की आहुतिया दी जाती हैं। इन पदार्थों के समाप्त हो जाने के बाद भी पात्रो मे इनकी उपस्थिति गन्ध के रूप मे रहती है। अन्य अनेक ऐसे पदार्थ हैं जो प्रत्यक्षत समाप्त होने के बाद भी अपने गन्धाश के रूप मे अवशिष्ट रह जाते हैं। थोडी सी हींग दाल मे छौंक लगाते समय स्वय जल भुनकर समाप्त हो जाती है किन्तु पतीली की सम्पूर्ण दाल को अपनी सुगध से सस्कारित कर जाती है। इसी प्रकार जीवन मे किये जाने वाला प्रत्येक कम अपने लौकिक परिणाम को भुगत जाने के बाद भी समाप्त होते होते मानव मस्तिक मे एक हल्की सी रेखा छोड जाता है। यही रेखांकन ही सस्कार के स्वरूप को निर्धारित कर देता है और जन्म-जन्मान्तर तक जीवन के साथ रहता है।

जैसे हम भोजन करते हैं। उसमे अनेक प्रकार के तत्त्व होते हैं वे उदर में अलग अलग नही रहते हैं उन सबका अन्तिम परिणाम होता है—शरीर का निर्माण। वैसे ही जब हम काय करते हैं व कर्म भी फल भोगे जाने तक अलग अलग बैठे नही रहते। उन कर्मों से तत्काल उनका फल सस्कार बन जाता है। शरीर बन जाने के बाद उस भोजन से हमे नहीं उलझना पडता है जो हमने खाया था, इसी प्रकार सस्कार बन जाने के बाद हमे उन कर्मों से नही उलझना पडता है जो हमने किये थे। ये सस्कार ही कार्यों का लेखा बन जाते हैं।

(३) सस्कार के प्रकार— सस्कार के समग्र स्वरूप पर ध्यान देने पर इनको हम चार प्रकार से वर्गीकृत करते हैं—

क—कायकृत सस्कार

ख—वशानुगत सस्कार

ग—विधिवत सस्कार

घ—ससर्गगत सस्कार

(क) कर्मकृत सस्कार – जन्म-जन्मान्तर मे मनुष्य जैसा कर्म करता है उनका लौकिक भोग भोगते हुये—उनका फल सस्कार के रूप मे उनके मस्तिक मे अकित हो जाता है जो जन्म-जन्मान्तर तक उसके साथ रहता है। बैंक मे जैसे एक खाता खोल दिया जाता है उसमे धन जमा भी होता जाता है और निकलता भी रहता है और यही क्रम अनवरत चलता रहता है।

(ख) वशानुगत सस्कार—माता पिता के रज वीर्य के माध्यम से कुछ-कुछ सस्कार सन्तान को प्राप्त होते हैं, जो उसकी पिछली कई पीढियो के सकलित अश के रूप मे आते हैं। यह आवश्यक नही कि माता पिता के समस्त गुण या संस्कार ज्यो के त्यो सन्तान मे आ जायें। कभी इनसे पूर्व पीढियो के सस्कार अधिक प्रभावी होते हैं और कभी उचित अवसर या परिस्थितिया न मिलने से वे सस्कार दबे भी रह जाते हैं, किन्तु अनुकूल स्थिति मे वे आगे कभी भी अकुरित हो सकते हैं।

क्रमश

पाद टिप्पणी

श्री जयदेव आर्य

सम्भव है, ये पक्तिया उसी समय के किसी प्रसग से सम्बद्ध हो और उनका किसी गोरे से सामना हो गया हो। इन पक्तियो मे स्वा जी अपनी चोटी खोलकर नन्दवश के विनाश की प्रतिज्ञा करते हुए महामुनि चाणक्य के रूप मे हमारी आखों के सामने खडे हुए प्रतीत होते हैं। सवखाप पचायत के विवरण मे एक मुस्लिम लेखक द्वारा स्वा विरजानन्द के एक महती क्रान्तिकारियो की जनसभा मे भाषण का उल्लेख भी बडा रोचक व विचित्र है।

३ स्वामी जी को राजाओ का विलासी जीवन सवथा असह्य था। वह अलवर नरेश के साथ इस शत पर गए, कि नरेश नियमित रूप से प्रतिदिन तीन घण्टे तक स्वा जी से पढा करेंगे। नरेश ने इस नियम मे जिस दिन सर्वप्रथम व्यवधान डाला उससे अगले दिन स्वा जी को अलवर से अपना आसन उठाने से नरेश की कोई भी अनुनय विनय विरत न कर सकी यह था उनका स्वाभिमान। निश्चय ही ऐसे स्वाभिमानी व्यक्ति अपने शिष्यो को भी अग्रेजो के मुकाबले मे डट जाने के लिए सन्नद्ध कर सकते थे। ऋषि दयानन्द से भी अपनी दक्षिणा मे उन्होने सवप्रथम जो माग की, वह थी 'देश का उपकार', 'देश का उपकार करो। सत् शास्त्रो का उद्धार करो ।" देखो लेखराम कृत दयानन्द जीवन चरित्र।

४ उन्होने देश मे वैदिक धम की स्थापना के माध्यम से देश की एकता का सम्पादन करने के महान् उद्देश्य को लेकर एक बार आगरे मे उपस्थित हो जयपुराधीश महाराजा रामसिह के समक्ष एक 'सार्वभौमिक सभा' की स्थापना करने का प्रस्ताव रखा था, पर लाख रुपए के व्यय का अनुमान था। इसमे भारत के सभी पण्डितो, धर्माचार्यों तथा राजाओ को निमन्त्रित करने का सुझाव था। अन्त में महाराजा के पूण उत्सुक होते हुए भी उनके मन्त्रियो तथा पण्डितो की असहमति के कारण उन्हें यह विचार छोडना पडा। इसके पश्चात् उन्होने कुछ अन्य राजाओ से और सुना जाता है कि महारानी विक्टोरिया से भी, इस सभा के विषय मे निवेदन किया पर सफलता न मिली (देखो दयानन्द चरित्र देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय के प्रथम सस्करण का भाषानुवाद जुलाई १९१२, तृतीय परिच्छेद पृ १२३ अनुवादक बा घासीराम) ठीक इसी प्रकार के काय का प्रयास पुन ऋषि दयानन्द ने सन् १८७७ के दिल्ली दरबार के समय किया जो दुर्भाग्यवश इसी असफलता का शिकार बनकर रह गया। इन घटनाओ से इन दोनो ऋषियो की देशभक्ति की भावना प्रमाणित है।

क्रमश

आर्यों की मोरिशस यात्रा

२६ १० ९३ से हवाई जहाज द्वारा दिल्ली मोरिशस यात्रा शुरू होगी। आने जाने का जहाज का किराया १६३०० रुपये प्रति सवारी है, रहने व भोजन का प्रबन्ध मोरिशस सभा द्वारा। ६००० रु० एडवास, शेष राशि एक मास मे भेंजे। सवारी अपना पासपोट, नाम, आयु पिता का नाम आदि विवरण भेंजे। बाहर के व्यक्ति ड्राफ्ट सयोजक के नाम भेंजे। बाहर से आने वाले २६ १०-९३ को आर्यसमाज अनारकली, मन्दिर मार्ग या आर्य समाज चूना मण्डी, पहाड़गज पहुचे। भोजन सयोजक की ओर से होगा।

सम्पकसूत्र सयोजक

श्री शाम दास सचदेव	श्री मालवीय आर्य
मन्त्री, आय समाज, चूना मण्डी,	समाज मन्दिर अनारकली
पहाडगज, नई दिल्ली-५५	मन्दिर माग, नई दिल्ली-१
दूरभाष ७५४६१२८	दूरभाष ३४३७१८, ३१२११०

पता मकान न २६१३ भगतसिह
गली न ९ चूना मण्डी,
पहाडगज, नई दिल्ली-५५
दूरभाष ७३८५०४४ (पी० पी०)

कायक्रम

२६ १०-९३ नई दिल्ली से बम्बई, २७-१० बम्बई से मोरिशस २ १० से २ ११-९३ तक मोरिशस भ्रमण, २-११-९३ से मोरिशस से बम्बई तथा ३-११-९३ बम्बई से दिल्ली।

आर्य समाजो के अधिकारियों की सेवा मे नम्र निवेदन

आदरणीय महोदय, सादर नमस्ते।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से आपको एक परिपत्र दिनाक २-४ ९३ को भेजा गया था, जिसमे आपसे अनुरोध किया गया था कि आप अपनी आर्य समाज का वार्षिक विवरण दिनाक १५ मई १९९३ तक अवश्य सभा कार्यालय को भिजवा दे,ताकि उसे सभा की वार्षिक रिपोर्ट मे सम्मिलित किया जा सके। साथ ही यह भी प्रार्थना की गयी थी कि आप आगामी वर्ष के लिए वार्षिक साधारण सभा की बैठक विधानानुसार आर्यसमाज के नियमो उपनियमो के अनुसार ३१ मई १९९३ तक अवश्य आयोजित कर ले तथा आगामी वर्ष के लिए अधिकारियो, आर्य वीर दल के लिए अधिष्ठाता का तथा दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए प्रतिनिधियो का निर्वाचन यदि गत वर्ष न किया हो, तो कर ले। आपकी आर्यसमाज की ओर से प्रथम दस सभासदो पर एक और प्रत्येक अतिरिक्त बीस सभासदो पर एक प्रतिनिधि निर्वाचित किया जा सकता है जिसकी आयु २५ वर्ष से कम न हो और जो पिछले दो वर्षों से समाज का सभासद रहा हो।

आशा है आपने सभी औपचारिकताये पूरी कर ली होगी। अत आप

१— १ अप्रैल १९९२ से ३१ मार्च १९९३ तक का वार्षिक विवरण यज्ञ, सस्कार शुद्धिया, अन्तर्जातीय विवाह, दिन के समय साधारण रीति एव बिना दहेज कराये गये विवाहो का तथा समारोहो का विवरण। गत वर्ष आपकी आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव कब आयोजित किया गया, उसकी तिथिया तथा रिपोर्ट। समाज के अधीन चल रही सस्थाओ, विद्यालयो, चिकित्सालय पुस्तकालय, सेवा समिति, आर्य वीर दल आदि का विवरण।

२— सदस्यो की सूची उनके निवास के पतो तथा मासिक चन्दे के विवरण सहित।

३— सदस्यता शुल्क का दशाश, वेदप्रचार राशि और आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५/-रुपए अथवा आजीवन सदस्यता शुल्क २५१/-रुपये। सभा कार्यालय १५ हनुमान रोड मे यथाशीघ्र भिजवाने की व्यवस्था कराये।

आशा है कि आप यथा शीघ्र सारी औपचारिकताये पूरी कर भिजवाने का कष्ट करेगे और सभा को सुचारू रूप से चलाने मे सहयोग करेगे। धन्यवाद सहित,

भवदीय
(डा० धर्मपाल) महामन्त्री

संस्कृत का पुनरुद्धार

(पृष्ठ २ का शेष)

जिसकी सरल, सुबोध और ललित सस्कृत को देखकर वह इतने मोहित हुए कि उन्होने अग्रेजी अनुवाद एथिनियम नाम के पत्र के २३ अक्तूबर सन् १८८० के अक मे प्रकाशित कराया और उस चिट्ठी को आदश मानते हुए लिखा कि 'सस्कृत भाषा अभी तक आर्यावर्त के पत्र व्यवहार और दैनिक बोलचाल की भाषा है। आर्यावर्त भर मे शिक्षित मनुष्यो के बीच म यही भाषा विचार विनिमय का माध्यम है। आर्यावर्त मे लगभग २०० भाषाए बोली जाती है। यदि यह माध्यम न होता तो एक प्रान्त के मनुष्य से बातचीत करने मे अत्यन्त कठिनाई होती। ऐसी दशा मे जो लोग यह कहते हैं कि सस्कृत भाषा अप्रयुक्त और अवनत दशा मे है, वह भूल करते हैं।'

महर्षि दयानन्द के सस्कृत सम्बन्धी विचारो को जानने के बाद हम यह कह सकते है कि हमे विशेषत उनके अनुयायियो को राष्ट्र मे सस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार को अपना एक मुख्य काय समझना चाहिए। आर्य समाज को इसके लिए अनेक रचनात्मक आन्दोलन चलाने होगे। इस समय देश मे जितने भी सस्कृत की उच्च उपाधि प्राप्त नवयुवक और नवयुवतिया हैं उनके लिए काय की एक सशक्त योजना बनानी होगी। साथ हो भारत सरकार की नयी शिक्षा नीति मे सस्कृत को स्थान दिलाने के लिए हमे कुछ आन्दोलन भी चलाने होगे।

पता-५/२ रूपनगर दिल्ली-७

श्रीकृष्ण जन्मोत्सव सम्पन्न

(पृष्ठ १ का शेष)

एव श्री कृष्ण जन्माष्टमी मनायी गयी। रात्रि प्रतिदिन श्री महेन्द्र कुमार शास्त्री, प० शिवाकान्त उपाध्याय, स्वामी जीवानन्द सरस्वती की वेद कथा एव प० हरिदत्त के भजनोपदेश हुये।

वेद प्रचार मण्डल पश्चिमी क्षेत्र, दिल्ली—के तत्वावधान मे आर्य समाज सुन्दर विहार (बाह्य रिंग रोड) नई दिल्ली मे १५ अगस्त को धार्मिक महासम्मेलन कार्यक्रम के अधीन श्री कृष्ण जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया गया। 'आर्य समाज की दृष्टि मे श्री कृष्ण' पर अनेक विद्वानो ने सुन्दर विचार रखे। कार्यक्रम में धार्मिक पुस्तके भी वितरित की गयी।

आर्य समाज कीर्ति नगर नई दिल्ली—मे डा वीरपाल के ब्रह्मत्व मे सामवेद यज्ञ व वेद कथा हुई। ९ से ११ अगस्त तक समारोह मे अनेक रोचक कार्यक्रम एव ११ अगस्त को श्री कृष्ण जन्म पर आर्य समाज का सन्देश विषय पर विद्वानो ने विचार रखे। १० अगस्त को महिला सम्मेलन हुआ।

आर्य समाज सरोजिनी नगर (विनय नगर)—मे २ से ४ अगस्त तक वेद जयन्ती कार्यक्रम मे आचार्य रामानन्द जी शास्त्री के ब्रह्मत्व मे सामवेद पारायण यज्ञ हुआ। गुरुकुल गौतम नगर के ब्रह्मचारी वेदपाठी थे। ३ अगस्त को सरोजिनी नगर स्कूल मे गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के कुलपति डा० धर्मपाल का भव्य स्वागत किया गया। श्री रतनलाल सहदेव न अध्यक्षता की तथा मन्त्री श्री आत्मदेव ने सचालन किया। ११ अगस्त को श्री कृष्ण जन्माष्टमी श्रद्धापूवक मनाई गई।

आर्य समाज ग्रेटर कैलाश—मे २ से ११ अगस्त तक वेद प्रचार कार्यक्रम के अ तर्गत आचार्य रामकिशोर जी की कथा एव सगीतज्ञ श्री श्यामवीर राघव के भजन तथा आर्य विद्वानो के प्रवचन हुये।

आर्य समाज अशोक विहार फज I मे १४ अगस्त को श्री कृष्ण जन्माष्टमी मनायी गयी।

सिविल लाइन्स मे वेद सप्ताह—कार्यक्रम के अधीन श्री अर्जुनदेव खन्ना के निवास ८ श्रीराम रोड सिविल लाइन्ज में १८ से २९ अगस्त तक चारो वेदों का पारायण यज्ञ होगा। अप राह्न ३ से ५ तक भजन व उपदेश होगे।

गाव महमूदपुर तिगाव (बल्लभगढ) मे ११ से १५ अगस्त तक वेद प्रचार कार्यक्रम का आयोजन किया गया।

आर्य समाज सान्ताक्रूज बम्बई- मे २ अगस्त को श्रावणी पर्व तथा ११ अगस्त को श्री कृष्ण जन्माष्टमी कार्यक्रम उत्साह व श्रद्धापूर्वक मनाया गया।

आर्य अनाथालय फिरो पुर छावनी (पजाब)—मे २ अगस्त को श्रावणी पर्व मनाया गया।

आर्य समाज स्वामी दयानन्द बाजार लुधियाना—मे २ से ११ अगस्त तक वेद कथा, श्रावणी पर्व व श्री कृष्ण जन्माष्टमी समारोह पूवक मनाये गये।

आर्य समाज नवा शहर जालन्धर)—मे १ से ११ अगस्त तक वेद सप्ताह कार्यक्रम मे वेद प्रवचन व सत्सग कार्यक्रम हुये।

आर्य समाज मोगा—मे २ से ११ अगस्त तक वेद सप्ताह समारोह के अन्तर्गत यज्ञ, वेद कथा व श्री कृष्ण जन्माष्टमी पर्व धूमधाम से मनाया गया।

राष्ट्र रक्षा यज्ञ मे श्रद्धापूर्वक आहूतियां

(पृष्ठ १ का शेष

आर्य समाज के पाच नियमो में भी सत्य का ही प्रतिपादन किया है । अत सत्याचरण करना ही हमारा धमधर्म है । को राजनीति से अलग नही किया जा सकता है ।

इस आर्य समाज सस्थापक सदस्य एव गुरुकल कागडी विश्वविद्यालय के कुलपति डा० धर्मपाल ने कहा कि श्रष्ठ कम ही यज्ञ है और यज्ञ ही सच्चा धम है। उन्होने कहा कि राजधानी के सुदूर क्षत्रो को वभिन्न आय ममाजो के पदाधिकारियो आर्य महानुभावो ने पधार कर इस समारोह की शोभा को बढाया और हम धन्य हुये । उन्होने सभी विद्वान वक्ताओ व दानी महानुभावों का भी आभार व्यक्त किया।

वैदिक प्रवक्ता डा० महेश विद्यालकार ने कायक्रम का कुशल सचालन करते हुए कहा कि मनुष्य को ससार से भागना नहीं चाहिए वरन् निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए । हमें त्यागपूर्वक जीवन जीना चाहिए । जीवन को भली प्रकार जीने के लिए अच्छे विचारो की जरूरत होती है और वैदिक चिन्तन ही हमे अच्छे विचार देता है और जीने का सच्चा माग बताता है ।

कायक्रम मे दिल्ली विश्वविद्यालय के पूव सस्कृत विभागाध्यक्ष डा० सत्यव्रत जो आचाय कमवीर शास्त्री एव अन्य अतिथियो का भी माल्यापण द्वारा शानदार स्वागत किया गया ।

छ दिवसीय यजुर्वेदीय यज्ञ की पूर्णाहुति के बाद आज प्रात समाज के प्रधान प० परमानन्द नागर ने ध्वजारोहण किया एव सुप्रसिद्ध सगीताचार्य श्री गुलाबसिंह राघव ने जयति ओ३म् ध्वज व्योम विहारी ओ३म् ध्वज गीत गायन किया । शान्ति पाठ व ऋषि लगर के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ ।

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R.N No 32387/77 Posted at N D P S O on 19-20-8-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल ११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश' साप्ताहिक २२ अगस्त, १९९३

पं. जगतराम आर्य का निधन



महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त आय समाज के सिपाही हिन्दी सेवी और देशभक्त प० जगतराम आर्य जी का निधन बुधवार ४ अगस्त १९९३ को हो गया।

जगतराम जी आर्य समाज मन्दिर बच्छो वाली लाहौर आर्य समाज मन्दिर दीवान हाल, आर्य समाज मन्दिर गांधीनगर और आर्य समाज मन्दिर प्रीत विहार दिल्ली के कमठ एव सक्रिय सदस्य रहे। आर्य जी ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध मे दो प्रतिज्ञाओ का पालन किया। पहला—हिन्दी मे निमन्त्रण पत्र स्वीकार करना। दूसरा जीवन के उत्तरार्द्ध मे किसी सामाजिक व धार्मिक सस्था का कोई भी पद ग्रहण न करना।

जगतराम जी ने अब से २५ वर्ष पहले 'किताबघर नाम से प्रकाशन का काय आरम्भ किया था। इस प्रकाशन गृह मे हिन्दी की पुस्तके छपने लगी जिनमे देश भक्ति और नैतिक शिक्षा विषय का समावेश था। प्रकाशन के साथ साथ आर्य जी यदा कदा बच्चो के लिए उपयोगी पुस्तकें भी लिखते रहे। अन्तिम दिनो मे उनकी कुछ हस्तलिखित पक्तिया पढने को मिली जो कि इस प्रकार हैं— आर्य समाज एक ऐसी धार्मिक और सामाजिक सस्था है जो सच्चे अर्थों मे मानव का कल्याण तथा देश मे सुख शाति और समृद्धि ला सकती है। प्रत्येक नर नारी को महर्षि के बताए माग पर चलकर आर्य समाज का कार्य करना चाहिए। इससे अपना समाज का और राष्ट्र का भला होगा।' श्री जगत राम जी की स्मृति मे १४ अगस्त को एक शोक सभा का आयोजन किया गया जिसमें नगर के अनेको प्रतिष्ठित व्यक्तियो ने भाग लेकर उनको भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

जन्म १६ दिसम्बर १९१०। —सम्पादक

स्वामी गणपत राय का निधन

आर्य अनाथालय पटौदी हाउस नई दिल्ली २ के आजीवन ब्रह्मचारी स्वामी गणपतराय का ८० वर्ष की आयु मे १५ अगस्त १९९३ को निधन हो गया है। वह पुरानी पीढी के आर्य समाजी थे। दिल्ली नगर निगम सेवा से अवकाश प्राप्त पैशन धारी थे। सार्वदेशिक प्रकाशन लि० स्वामी जी के निधन पर गहरा दुख प्रकट करते हुए दिवगत आत्मा की सद्गति के लिए प्राथना करता है।

सेवा में—

श्री पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ० प्र०)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन – ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अक ४५ | रविवार २९ अगस्त १९९३ | विक्रमी सम्वत २०५० | दयानन्दाब्द १६९ | सृष्टि सम्वत १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष ३१०१५०

आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली राज्य के चुनाव मे

महात्मा धर्मपाल प्रधान व डा० शिवकुमार शास्त्री महामन्त्री निर्वाचित

नई दिल्ली, २२ अगस्त। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोधजी सरस्वती की अध्यक्षता मे आज आर्यसमाज हनुमान रोड मे आर्य केन्द्रीय सभा,दिल्ली राज्य के चुनाव सम्पन्न हुए वार्षिक चुनाव मे महा० धर्मपाल सर्व सम्मति से प्रधान निर्वाचित हुए। महात्मा जी के नाम का प्रस्ताव श्रीराजसिंह भल्ला व समर्थन श्री रामशरण दास, श्री बलदेव राज एव अन्य अनेक महानुभावो ने किया। कार्यकारिणी के गठन के पूर्ण अधिकार भी प्रदान किए गए। महात्मा धर्मपाल ने महामन्त्री पद के लिए डा० शिवकुमार शास्त्री के नाम की घोषणा की। प्रख्यात दानी एव अनेक सस्थाओ से जुड़े सुप्रसिद्ध समाज सेवी महात्मा धर्मपाल तथा डा० शिवकुमार शास्त्री के निर्वाचन पर उपस्थित सदस्यो ने करतल ध्वनि द्वारा जोरदार स्वागत किया।

शान्तिपूर्ण निर्वाचन के लिए बधाई देते हुए स्वामी आनन्द बोध जी सरस्वती ने कहा कि आज अमेरिका, पाकिस्तान बगला देश आदि द्वारा देश की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा किया जा रहा है। अत सभी आर्य जनो को राष्ट्र की एकता व अखण्डता को सुदृढ करने का सकल्प दोहराते हुए हर प्रकार के बलिदान के लिए तैयार रहना चाहिए।

स्वामी जी ने विदेशी सस्कृति के आक्रमण के फलस्वरूप शराब व मासाहार के बढ़ते हुए प्रचलन पर भी चिन्ता व्यक्त की। उन्होने गोहत्या व मद्यपान के विरुद्ध भी जागरूक होकर कार्य करने का आह्वान किया। स्वामी जी ने कहा कि शाकाहार स्वास्थ्य के लिए बेहतर है, इसे अपनाकर ही हम निरोग व दीर्घायु हो सकते हैं। उन्होने कहा कि ऋषि दयानन्द ने हम सब पर, विशेषकर नारी जाति पर, अनेक उपकार किए हैं अत सभी को अनुशासित व सगठित होकर इस ऋण से उऋण होने का प्रयास करना चाहिए।

इससे पूर्व डा० शिव कुमार शास्त्री ने वर्ष १९९२-९३ का वार्षिक विवरण पढकर सुनाया जो सम्पुष्ट हुआ। शान्ति पाठ व ऋषिलगर से कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग मे

आई०ए०एस० के छात्रों के लिए निःशुल्क संस्कृत कक्षाएं व प्रौढ़ों के लिए वेद शिक्षण व्यवस्था की जायेगी

डा० वाचस्पति उपाध्याय

नई दिल्ली भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई०ए०एस०) की परीक्षाओ की तैयारी करने वाले छात्रो के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय सस्कृत विभाग मे नि शुल्क कक्षायें लगायी जायेंगी स्नातक स्तर पर सभाषण शिक्षण योजना शुरू की जाएगी तथा प्रौढ़ो के लिए वेद शिक्षण कक्षायें भी आरम्भ की जायेंगी। यह घोषणा प्रख्यात सस्कृतविद् एव दिल्ली विश्वविद्यालय के सस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० डा० वाचस्पति जी उपाध्याय ने हसराज कालेज मे २ अगस्त ९३ को सस्कृत दिवस पर आयोजित एक विचार गोष्ठी मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे सस्कृत विभाग द्वारा उठाए जा रहे रचनात्मक कार्यक्रमो की जानकारी देते हुए की।

डा० वाचस्पति ने आगे कहा कि सस्कृत केवल उद्धरण की भाषा नही है, यह स्वय में एक विचार सरणि है जबकि भारतीय राजनेताओ द्वारा इसका प्रयोग उद्धरणों के रूप में किया गया है।

इस विचार गोष्ठी का शुभारम्भ दिल्ली सस्कृत अकादमी के सचिव श्री श्रीकृष्ण जी सेमवाल ने 'संस्कृत के प्रचार प्रसार में सस्थाओ की भूमिका'' विषय पर बोलते हुये की। उन्होने कहा कि सस्कृत केवल ब्राह्मणो की भाषा नहीं है और सस्कृत के दो विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थो की रचना भी अब्राह्मणो ने की है। श्री सेमवाल ने सस्कृत मे नए-नए विषयो मे चिन्तन व शोध कार्य पर बल देते हुए कहा कि सस्कृत मे रोजगार के भी अवसर हैं बशर्ते कोई इसे निष्ठापूर्वक अपनाए।

एन०सी०ई० आर०टी० मे सस्कृत विभागाध्यक्ष डा० कमल कान्त मिश्र ने सन् १९८९ की तरह सस्कृत प्रेमियो को पुन सामूहिक प्रयास कर सरकार पर दबाव बनाकर न्यायालय मे लम्बित निर्णय को सस्कृत के हित मे कराने की माग की। डा० मिश्र राष्ट्रीय शिक्षा नीति में सस्कृत की स्थिति पर बोल रहे थे।

सस्कृत सेवक सघ के महामन्त्री श्री अनिल कुमार गुप्त ने अपने स्वागत

(शेष पृष्ठ ८ पर)

राजधानी दिल्ली एव देश के विभिन्न भागो से वेद जयन्ती मनाये जाने के समाचार निरन्तर प्राप्त हो रहे है। इस अक मे प्रस्तुत है समाचारो की अगली किस्त।

—सम्पादक

उपनिषदों में मानवता के सिद्धान्त

डा० ईश्वर भारद्वाज गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय

भारतवर्ष विश्वगुरु के पद पर आसीन रहा है। समस्त विदेशी शक्तिया भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का प्रयास करने के पश्चात् भी सफल नही हो पाई अपितु स्वय ही उसमे रच पच गई। इसका मूल कारण हमारे पूर्वज ऋषियो द्वारा दिया गया मानवता का सन्देश है। यह सन्देश वेदो उपनिषदो के माध्यम से आज भी इस धर्म भूमि मे मानवता के उत्कृष्ट आदर्शो की स्थापना करके पाश्चात्य देशो को अपनी ओर निहारने के लिये बाध्य कर रहा है। इसी के कारण हमारा अस्तित्व है —

यूनान मिश्र रोमा सब मिट गए जहा से,
बाकी मगर है अब तक नामो निशा हमारा।

भारतीय तत्त्वज्ञान की अपार राशि उपनिषदो मे मानवीय मूल्यो को सतत जीवन्त रखा गया है। तत्त्वज्ञान तो है ही मानव हितार्थ। तत्त्वज्ञान की प्रधानता के कारण उपनिषदो को पलायनवादी व नैराश्यवादी तक कह डाला है किन्तु यह धारणा उपनिषदो के गहन अध्ययन के पश्चात निर्मूल सिद्ध होती है क्योकि उपनिषदें तो शतवर्षों तक कर्म करते हुए जीने का सन्देश देती हैं। तत्त्वज्ञान प्राप्त कोई भी व्यक्ति "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के भाव को प्राप्त होने के पश्चात् क्या किसी का अनिष्ट कर सकता है? करना तो दूर वह सोच भी नहीं सकता। पुरुष जैसी प्रभु की सर्वोत्कृष्ट रचना के साथ अशुभाचरण करने से क्या उसके प्रभु के प्रति यह अशुभाचरण नही होगा? कोई अपने प्रभु के साथ कैसे अशुभाचरण करेगा? प्रभु तो मनुष्य मे सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त होकर स्थित हो गये है।' अत यह शरीर तो प्रभु का निवास होने के कारण पवित्र और रक्षणीय हो गया है। अत प्रभु-प्राप्ति का तो यह साधन समझना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि शरीर से आसक्त हो जाए। शरीर को नाशवान् समझ कर तत्त्ववेत्ता इसमे आसक्त नहीं होता।

इसी कारण उपनिषदो मे लौकिक अभ्युदय एव पारलौकिक नि श्रेयस दोनो को ही समान रूप से प्राप्तव्य कहा है। दोनो ही मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। किन्तु नि श्रेयस ही कल्याणकारी है। प्रेय सहज प्रिय है, आकर्षक हैं, अत उस मार्ग पर आना स्वाभाविक है किन्तु श्रेयमार्ग पर चलना तो असिधार व्रत के समान दुष्कर कहा गया है। उपनिषदो में बार-बार प्रयत्नपूर्वक वासना-सरित् को शुभ मार्ग पर चलाने का आदेश किया गया है। किन्तु तत्त्वज्ञान के बिना यह सम्भव नही है। तत्त्वज्ञान के लिए विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानना आवश्यक है, तभी वह मृत्यु को पार करके अमरत्व को प्राप्त कर सकता है अन्यथा अन्धे द्वारा अन्धो को भटकाने के सदृश विनाश को प्राप्त होगा। अत उपनिषदो मे श्रेय व प्रेय दोनो मार्गों के महत्त्व को प्रतिपादित करके मानव के कल्याण का मार्ग प्रस्तुत किया है।

उपनिषदो ने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि यह सम्पूर्ण जगत् प्रभु से ओत-प्रोत है। अत उसमे जो भी कुछ है, वह उसी का है। उसका त्यागपूर्वक भोग करो, ममत्व बुद्धि न रखो व लालच मत करो। दूसरो की सम्पत्ति को लेने से जो विद्वेष की भावना उत्पन्न होती है, वह ससार मे अशान्ति का कारण है। दूसरो की सम्पत्ति हडपने के कारण घर, गाव, शहर प्रदेश, देश और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विवाद होते हैं। विश्वयुद्ध इसी की देन है।

यदि मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे के सिद्धान्तानुसार कार्य किया जाए तथा सबको अपने सदृश समझें तो निश्चय ही विवाद की स्थिति नहीं आएगी। परस्पर घृणा व विद्वेष नहीं होगा। जब दोनो में भेद नहीं होगा तो फिर किससे मोह और किससे द्वेष? यह तो अविद्या के कारण है। यदि अविद्या की ग्रन्थि नष्ट हो गई तो सबमे साम्यभाव आ जाता है और मनुष्य आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द की स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह सर्प की केंचुली के सदृश इस शरीर की चिन्ता नहीं करता। अत शरीर की सुख-सुविधा हेतु किसी को भी पीड़ा न पहुचाने की भावना आ जाती है। स्वय कष्ट सहकर भी वह दूसरों के कष्ट हरने का प्रयास करता है। 'अहिंसा' का भाव प्रतिष्ठित होने के कारण उसमें वैरभाव का पूर्णतया निरोध हो जाता है। अहिंसादि यमों तथा शौचादि नियमो का पालन करते हुए वह विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत प्रोत हो जाता है। मिलकर चलने, बोलने, समान विचार और समान हृदय होने की घोषणा के अनुरूप उसका चरित्र हो जाता है।

उपनिषदो मे सत्य, तप, श्रद्धा, दान आर्जव, अहिंसादि को मानव जीवन के लिए अत्यन्तावश्यक बताया है। केनोपनिषद् मे तप, दम व कर्म को ब्रह्म जिज्ञासु के लिए अनिवार्य बताया है। 'सत्यं वद' तथा 'सत्यमेव जयति' के उपदेशो का उद्देश्य सत्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना है। अनृतवादी का समूल नाश होता है यह चेतावनी देकर सत्य की महत्ता का प्रतिपादन किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् तो लोकोपकारार्थ दम, दान और दया के सिद्धान्त को अपनाने की प्रेरणा देता है।

उपनिषदो की यह डिण्डिम घोषणा है कि पुण्यकर्मों से पुण्यलोक तथा अशुभ कर्मों से अशुभ लोक की प्राप्ति होती है। अत शुभ कर्म करके शुभ लोक की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। शुभ कर्मों का मापदण्ड क्या है? जो कर्म किसी को कष्ट न पहुचाए वे शुभ कर्म हैं। यदि परस्पर ऐसा व्यवहार किया जाएगा तो निश्चित रूपेण मानवता को किसी प्रकार का भय नही रहेगा। समस्त पृथिवी से दु खो का नाश हो जाएगा। ससार विश्वबन्धुत्व की भावना मे बध जाएगा। सुख समृद्धि से पूर्ण होकर यह विश्व सही रूप मे मानवता का मूल्याकन कर सकेगा। फिर भला प्रतिदिन सुनाई पडने वाला भीषण युद्धो की स्थिति कैसे आ पाएगी? मानवता के उपनिषदो मे अनुस्यूत यही सिद्धान्त आज हमे युद्ध की विभीषिका से बचा सकते हैं। हथियारो की होड में दौड रहा यह विश्व इन सिद्धान्तो का पालन करके भयावह त्रासदी के चगुल से मुक्त हो सकता है।

आज आवश्यकता है इस बात की कि मनुष्य के लिए केवल स्वार्थो की पूर्ति को त्यागकर इन सिद्धान्तो के उच्चादर्शों की स्थापना करें। इन भयानक क्षणो मे उपनिषद् हमे आत्मघाती प्रवृत्ति को त्याग कर जीने की प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। यही कारण है कि आज भी पाश्चात्य देश टकटकी बाध कर भारत की ओर निहार रहे हैं। हम भारतवासियो का यह कर्त्तव्य बनता है कि निज राष्ट्र का गौरव स्थापित करें।

लेखको से निवेदन

—सामयिक लेख, त्यौहारो व पर्वों से सम्बन्धित रचनाए कृपया अक प्रकाशन से एक मास पूर्व भिजवायें।

—आर्य समाजो, आर्य शिक्षण सस्थाओ आदि के उत्सव व समारोह के कार्यक्रमो के समाचार आयोजन के पश्चात् यथाशीघ्र भिजवाने की व्यवस्था करायें।

—सभी रचनायें अथवा प्रकाशनार्थ सामग्री कागज के एक ओर साफ-साफ लिखी अथवा डब्ल स्पेस मे टाइप की हुई होनी चाहिए।

—पता बदलने अथवा नवीकरण शुल्क भेजते समय ग्राहक सख्या का उल्लेख करते हुए पिन कोड नम्बर भी अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५ रुपये तथा आजीवन शुल्क २५० रुपये है। आजीवन ग्राहक बनने वालो को ५० रुपये मूल्य का वैदिक साहित्य अथवा आर्य सन्देश के पुराने विशेषाक नि शुल्क उपहार स्वरूप दिए जाएगे। स्टाक सीमित है।

—आर्य सन्देश प्रत्येक शुक्रवार को डाक से प्रेषित किया जाता है। १५ दिन तक भी अक न मिलने पर दूसरी प्रति के लिए पत्र अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश के लेखको के कथनो या मतो से सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पाठकों के सुझाव प्रतिक्रिया आमन्त्रित हैं।

कृपया सभी पत्र व्यवहार व ग्राहक शुल्क दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली के नाम भेजें।

—सम्पादक

आर्य समाजों में विवाहों के प्रस्तावित नियम

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग बैठक दिनांक २८ फरवरी १९९३ में आर्य समाजों में कराये जा रहे विवाहों का विषय प्रस्तुत हुआ था। इस विषय पर कई सदस्यों ने अपनी चिन्ता प्रकट की और यह निर्णय हुआ कि समस्त आर्य समाजों में विवाह संस्कारों के लिए कुछ नियम लागू किए जाने चाहिए। कई आर्य समाजों में वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध बेमेल विवाह कराए जाने के कई प्रकरणों पर भी इस बैठक में चर्चा हुई। जैसे ५० वर्ष के व्यक्ति का विवाह २२ वर्ष की कन्या से कराया जाना।

अन्तरंग सदस्यों के विचार से इन नियमों का निर्धारण करने के लिए एक ५ सदस्यीय उप समिति गठित की गई जिसमें मेरे अतिरिक्त सर्वश्री महावीर सिंह, सोमनाथ मरवाह, जयनारायण अरुण तथा सूर्यदेव जी सदस्य थे। इन सदस्यों ने विचारोपरान्त आर्य समाजों द्वारा वैदिक विवाह हेतु आवश्यक नियमों का एक प्रारूप तैयार किया है। जो कि निम्न प्रकार हैं—

नियम

१—वर कन्या दोनों के पृथक पृथक प्रार्थना पत्र जिन पर एक दूसरे की स्वीकृति के हस्ताक्षर होंगे।

२—दोनों प्रार्थना पत्रों पर दो सम्भ्रान्त व्यक्तियों, आर्य समाज के सभासदों द्वारा संस्तुति।

३—आयु प्रमाण पत्र (हाई स्कूल की सनद) आयु सीमा कन्या १८ वर्ष, वर २१ वर्ष। अशिक्षित होने की स्थिति में सी० एम० ओ० मुख्य चिकित्सा अधिकारी का आयु प्रमाण पत्र)।

४—शपथ पत्र (बयान ए हल्फी) जिसमें नाम वल्दियत पता, आयु शिक्षा वर्तमान अवस्था विवरण (विवाहित अविवाहित विधुर, विधवा तलाकशुदा आदि) मानसिक स्थिति स्वस्थ, परस्पर रिश्ता (यदि कोई है) निषिद्ध नातेदारी, सपिण्ड-सगोत्र न होने की आस्था, विरुद्ध कोई पुलिस रिपोर्ट या कोर्ट केस न होने की आत्म स्वीकृति, लालच, दबाव धमकी आदि न होकर स्वेच्छा से विवाह की स्वीकारी तथा बेमेल विवाह न होने का प्रमाण हो।

५—विधर्मी की स्थिति में शुद्धि प्रमाण पत्र तथा नए नामों की घोषणा।

६—वर एवं कन्या के दो दो फोटो ग्राफ (एक-प्रार्थना पत्र पर तथा एक-एक समाज के रिकार्ड के लिए)।

७—तीन गवाहों के हस्ताक्षर (विवाह के साक्षी के रूप में मित्र या सम्बन्धी)।

८—नोटिस बोर्ड पर सूचना।

९—माता-पिता को २० दिन का समय देकर सूचना तथा सहमति के लिए पत्र आर्य समाज द्वारा लिखा जाए।

१०—माता पिता की असहमति होने पर उनके कारणों पर वैदिक सिद्धान्त-अनुकूल निर्णय आर्य समाज के प्रधान मन्त्री अथवा विशेष नियुक्त विद्वान द्वारा लिया जाए।

यदि असहमति जन्म-गत जातिवाद के कारण या अमीरी-गरीबी के कारण हो, परन्तु वर और कन्या की योग्यता लगभग समान हो तो उसकी परवाह किए बिना विवाह कराया जा सकता है।

यदि असहमति बेमेल विवाह जैसे आयु का अन्तर बहुत अधिक होना या किसी प्रकार का चरित्र दोष आदि के कारण हो तो ऐसे विवाहों को नहीं कराया जाए।

११—समाज के पत्राचार-एजेण्डा, कार्यवाही पत्रिका तथा प्रमाण पत्र जिस पर प्रधान मन्त्री तथा पुरोहित के हस्ताक्षर तथा वर कन्या के हस्ताक्षर विधिवत रजिस्टर के रूप में सुरक्षित रखे जायें।

इन नियमों को आगामी अन्तरंग सभा में अन्तिम स्वीकृति हेतु प्रस्तुत किया जायेगा। यदि आर्य विद्वान पुरोहित अथवा सदस्य इनमें किसी प्रकार के संशोधन का सुझाव देना चाहते हो तो शीघ्रातिशीघ्र सार्वदेशिक सभा के कार्यालय में भिजवा दिए जायें।

—विमल वधावन एडवोकेट
संयोजक

पुस्तक समीक्षा

एकता के सूत्रधार : श्रद्धानन्द

लेखक	डा० धर्मपाल
प्रकाशक	वैदिक अनुसंधान संस्थान आर्यसमाज दीवान हाल दिल्ली
मूल्य	१५ रुपए पृष्ठ संख्या ७६

अब तक स्वामी श्रद्धानन्द जी पर जो भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें स्वामी जी महाराज का सर्वांगीण इतनी विश्लेषण गहनता और स्पष्टता के साथ नहीं हो पाया था तथा लगता था कि कहीं न कहीं कुछ न कुछ छूट गया है। मगर डा० धर्मपाल जी की आलोच्य पुस्तक 'एकता के सूत्रधार श्रद्धानन्द' एक अपवाद के रूप में ही सामने आई है। इस पुस्तक में बहुत ही सुन्दर ढंग से स्वामी जी महाराज के जन्म और वंश परिचय बाल्यकाल और शिक्षा आर्य समाज गुरुकुल कांगड़ी, राजनैतिक जीवन एकता के सूत्र तथा घंटाघर पर सिंहनाद आदि विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत ऐसा विशद विवेचन किया गया है कि उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का ओज तेज स्वतः ही पाठक की व्यक्तिगत अनुभूति का अभिन्न अंग बन जाता है। सम्यक्-कित ढंग से स्वामी जी महाराज के जीवन चरित का यह प्रयास अत्यधिक सराहनीय है। कुछ ऐसे प्रसंग भी उद्घाटित हुए हैं जो अपने आप में अछूते हैं। मात्र ७६ पृष्ठों की इस पुस्तक के अध्ययन से पाठक को लगता है मानो स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं जिससे वह अछूता रह गया हो। इस प्रकार गागर में सागर वाली उक्ति इस पुस्तक पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। सहज, सरल और प्रवाहमयी शैली में शब्दों को भावक विन्यास करते हुए लेखक बेकार के विस्तार से बचकर पाठक को आगे बढ़ाता चला जाता है। कहीं कहीं थोड़ी बहुत प्रूफ की अशुद्धियों तो हैं मगर सुन्दर छपाई और आकर्षक आवरण अपनी उत्कृष्टता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। माननीय श्री मूलचन्द गुप्त जी ने "श्रद्धा के शब्द" में जिन ऐतिहासिक एवं सामाजिक तथ्यों को उद्घाटित किया है उससे पुस्तक की गरिमा और भी अधिक बढ़ जाती है। लेखक द्वारा छः पृष्ठों की भूमिका एक ऐसी नींव के रूप में परिलक्षित होती है जिसमें स्वामी जी महाराज के आगे वर्णित समूचे जीवन क्रम की साधकता स्पष्ट हो जाती है। भूमिका में स्वामी जी द्वारा प्रशस्त जिन चार बातों का उल्लेख किया है वे स्वयं उनके जीवन का अभिन्न अंग थीं यथा - आर्य लोगों का आचरण उत्तम हो, हिन्दू मुसलमान की साधक एकता, स्वदेशी सदाचार पूर्ण शिक्षा और अछूतों को मातृभूमि के प्रेम जल से शुद्धि (अन्त) में उपसंहार के रूप में पुनः लेखक ने अब तक वर्णित समूची घटनाओं को इस प्रकार सिद्ध हस्तता के के साथ क्रम से उकेरा है कि स्वामी श्रद्धानन्द 'एकता के सूत्रधार' के रूप में स्वतः ही हमारे समक्ष उभर कर आ जाते हैं। एक ऐसे सूत्रधार जिनके उपदेश केवल भारतवर्ष नहीं बल्कि समूचे विश्व की मानवता को एक सूत्र में पिरोकर धरती पर स्वर्ग का साम्राज्य स्थापित करने में पूर्णतया सक्षम हैं। इतनी अच्छी पुस्तक देने के लिए लेखक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं तथा इस पुस्तक का सर्वत्र स्वागत किया जाना चाहिए।

भगवान देव 'चैतन्य'

आदर्श त्रैतवाद (४०)

राजसिंह भल्ला

जीवन सफल होना

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।
भूतेषुभूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्याम्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।
केन २ ५

यदि इसी जन्म मे ब्रह्म को जान लिया तो सत्य है सफलता है। यदि यहां न जाना तो महा हानि है। जन्म निष्फल है। सब भूत प्रणियो मे प्रभु की सत्ता को चिन्तन करके धीर जन इस लोक से मर अमृत मुक्त हो जाते है। मनन चिन्तन द्वारा इसी जन्म मे भगवान् को जान लिया तो ठीक है। यदि मानव ने इस जन्म मे भगवान् की आराधना न की तो बड़ी हानि है, महानाश है। फिर ऐसा अवसर पाना कठिन है। सारे ससार मे ईश्वर की सत्ता को, नियम को चिन्तन करके बुद्धिमान् मनुष्य इस लोक से मर कर मुक्त हो जाते हैं। आत्मा परमात्मा को मनन चिन्तन करना ही परमामृत पद की प्राप्ति का पथ है।

जो आत्मा को जानता है वह अमर हो जाता है

परमेवाक्षर प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहित शुभ्रमक्षर वेदयते ।
यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञ सर्वो भवति तदेष श्लोक ।। प्रश्नो ४ १०

निश्चय से जो मनुष्य उस छायारहित, अशरीर कायारहित, रगरहित, ज्योतिमय, अक्षर साक्षी आत्मा को जानता है वह मनुष्य परम ही साक्षी-शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है और हे सोम्य ! वह सवज्ञ और सब-अखण्ड हो जाता है—पूर्ण ज्ञानी और अमर बन जाता है। इस पर यह श्लोक है। उस नाश रहित को जान लेना सबको जान लेना है इसी कारण सर्वज्ञ कहलाता है।

जो आत्मा को जानता है वह पूर्ण हो जाता है

विज्ञानात्मा सह देवश्च सर्वै प्राणा भूतानि सप्रतिष्ठन्ते यत्र ।
तदक्षर वेदयते यस्तु सोम्य ! स सवज्ञ सवमेवाविवेशेति ।।
प्रश्नो ४-११

जिस अवस्था मे, सवसाक्षी मे सर्वदेवो—इन्द्रियों के साथ बुद्धिगत आत्मा शान्त हो जाता है और जहा सब प्राण तथा पाचो भूत शान्त हो जाते हैं हे प्यारे ! जो मनुष्य उस अविनाशी आत्मा को जानता है वह सर्वज्ञ है वह सब मे, सब भेदो में प्रवेश कर लेता है। उस मे अपूर्णता नही रहती। व्यवहार के शान्त होने पर आत्मा की अवस्था होती है उसी का नाम परमात्मा अथवा साक्षी है। इस मत्र से पता लगता है कि सबसे उच्च ब्रह्म विद्या है। जो मनुष्य इस विद्या को जान जाते हैं वे सर्वज्ञ कहलाते हैं। क्योकि ज्ञान का सबसे श्रेष्ठ फल इनको प्राप्त होता है। ज्ञान का आशय केवल तीन बातो के जानने से प्राप्त होता है। (१) मैं क्या हू (२) मुझ को क्या उपयोगी है (३) क्या हानिकारक है। वास्तव मे जो व्यक्ति अपनी सत्ता को जानता है उसी को हानि-लाभ का ज्ञान होता है अत अपनी सत्ता के जानने से ही मनुष्य ईश्वर को जान पाता है और ईश्वर को जान लेन के पश्चात् कुछ जानना शेष नही रहता वह पूर्ण ज्ञानी हो जाता है।

ओंकार ध्यान से कामना पूर्ति

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम ! पर चापर च ब्रह्म यदोंकार ।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति । प्रश्नो ५-२

ऋषि कहते हैं कि जगत् मे दो प्रकार की वासना है दूसरी इससे कम सासारिक सुख की कामना है। अत जो ओंकार का नियम पूर्वक जीवन पयन्त ध्यान करता है उसकी जिस प्रकार की इच्छा हो वह पूरी हो जाती है। अर्थात् जो ज्ञानी पुरुष है वह जिस विचार से ब्रह्म की उपासना करता है उसमे सफल होता है। उसको पुनर्जन्म की आवश्यकता नहीं होती किन्तु इस जन्म मे ही सब सुखो को पा लेता है।

क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (९)

नेतराम शर्मा प्रधान—भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला दिल्ली ११००५१

१६ पेट के कीडो की दवा नारगी के सूखे छिलके १० ग्राम वायविडग १० ग्राम दोनो को बारीक पीसकर चूण बना लें बच्चे को डेढ़ ग्राम चूर्ण खिलाकर ऊपर से गर्म पानी पिला दें। पेट के कीडे बिलकुल मर जायेंगे। बेल का रस पीने से भी कीडे नष्ट हो जाते है।

१७ एक अखरोट की गिरी खिलाकर ऊपर से गुनगुना दूध पिला दें प्रात -काल उसके पेट के कीडे मल के साथ बाहर निकल जायेंगे। खुराक से पहले गुड खिला दें।

१८ बच्चे का बिस्तर पर मूत्र करने का इलाज—अखरोट की एक गिरी, ५ ग्राम किसमिस खिला दें। एक हफ्ता भर या१० दिन मे रोग दूर हो जायेगा।

१९ कब्ज का नुस्खा—सनाय की पत्ती २० ग्राम, सौंफ ५० ग्राम, मिश्री १०० ग्राम तीनो चीजे बारीक पीसकर चूण शीशी मे रख ले। रात को ७ ग्राम लेकर बच्चे को दूध से खिला दें। कच्चे बेल, फल का गूदा या इसका शर्बत पीने से भी कब्ज दूर हो जाती है।

२० सूखा रोग का इलाज—हरी गिलोय के रस मे बच्चे का फ्राक या झबला रगकर और सुखा कर बच्चे को पहनाये कुछ ही दिनो मे सूखा रोग दूर हो जायेगा और वह हृष्ट पुष्ट हो जायेगा। क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (१४)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पचमो न षष्ठ सप्तमो नाप्युच्यते ।।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। तमिद निगत सह स एष एक-एक वृदेक एव ।।
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।। अथर्व० कां० १३। मनु ४ म० १६-१८, २० २१ ।।

काव्यार्थ

जग रचता, पालन लय करता, जग का एक अधीश्वर है।
वेद ज्ञान का सूय ही, करता उदय मही पर है।।
केवल ईश्वर एक दूसरा-तीजा चौथा ना पचम,
षष्ठ सप्त अष्टम नोवा अरु ना कोई अन्यत्र दशम,
अद्वितीय है एकमात्र वह सवशक्तिय सर्वोत्तम,
नही दूसरी अन्य शक्ति है उसके तुल्य परम अनुपम,
वही मूल है इस सृष्टी का एकम एक अधीश्वर है ।।१।।
एक अक है मूल गणित का, इसका महत्त्व वृहत्तर है,
इक से नौ तक क्रमिक गणन से क्रमश नौ तक उत्तर है,
एक अक पर शून्य लगे, बनता दस अक अनन्तर है
शून्य हटाने पर रहता केवल इक अक दहत्तर है,
सबसे छोटा लगता है सर्वाधिक महत्व निरन्तर है ।।२।।
सत्य एक सद्ज्ञान एक परब्रह्म एक सम्पूर्ण वही,
सत चित आनन्द, एकरस, सब जग मे परिपूर्ण वही,
सभी लोक निज बल से रच, देता उनको गति चूर्ण वही,
सारी दुनिया दुख-सुख मिश्रित, एकमात्र सुखपूर्ण वही,
नही सहायता उसे अपेक्षित, सर्वशक्तिमय ईश्वर है ।।३।।
सृष्टि प्रलय जब हो जाती, तब शेष रहे निश्शेष प्रभु,
सृष्टि शून्य हो जाती लेकिन, बचा रहेगा एक प्रभु,
दो या अधिक अगर होवें लड लड मर जाय अनेक प्रभु,
शासन एक, विधान एक तो भूप मान्य है एक प्रभु,
सत्य-न्याय-सद्गुण मण्डित, वह एक वेद वागीश्वर है ।।४।।

क्रमश

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

(ग) विधिवत संस्कार—कर्मकृत एवं वंशानुगत दोनो प्रकार के संस्कारो की पृष्ठभूमि को समझते हुए वैदिक मनीषियो ने अपने अनुसन्धान के आधार पर संस्कारो की एक ऐसी पद्धति का आविष्कार किया है जिसको अपना कर मन वांछित सन्तान के निर्माण का प्रयास किया जा सकता है। अधिकांश में यह प्रयास आशानुकूल होता है और यदा कदा उसके कर्मगत एवं वंशानुगत संस्कार उसके मार्ग मे आकर खड़े हो जाते हैं और अभिलषित लक्ष्य मे बाधक बन जाते हैं। हम बनाना कुछ चाहते हैं और वह बन कुछ जाता है। इतना होने पर भी संस्कार पद्धति का अनुसरण सदैव लाभदायक रहता है क्योंकि वह किसी न किसी प्रकार से सन्तान के मानस को प्रभावित करता है और तुरन्त काम न आये तो भी भविष्य मे कभी भी उसके आचरण को मोड़ दे सकता है। इस पद्धति मे सर्वत्र प्रचलित १६ संस्कारो की गणना की जा सकती है।

(घ) ससर्गगत संस्कार—जन्म जन्मान्तर के कर्म, वंशक्रम और पद्धति से निर्मित संस्कार श्रृंखला के जिस पर्यावरण में हम रहते हैं। उसकी प्रभाव लीला का भी हमे सामना करना पड़ता है। इसमे वातावरण एवं व्यक्ति दोनो की ही सक्रियता सम्मिलित है। उक्त तीनो संस्कारो का सार संकलन शुभ शान्त होने पर भी कोई व्यक्ति किसी मादक सेवी के सम्पर्क में आकर मद्यपायी हो जाता है और अपने समस्त निर्माण का विध्वंस कर बैठता है। इसी प्रकार वह किसी ऐसे पर्यावरण मे रहने लगता है जहां आवास भोजन व्यवहार अनुकूल प्राप्त नही होता है अथवा अत्यन्त ग्रीष्म या शीत ऋतु असहाय पीड़ा तक हो जाता है तो इससे न केवल शरीर ही प्रभावित होता है, किन्तु यह सब उसके मानस तक को झकझोर देता है।

(४) शरीर मे संस्कारो का संकलन एवं संचरण—संस्कारो का प्रश्न कर्म के प्रश्न से भिन्न नही है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है हम जो भी कर्म करते हैं अथवा उसका अनुभव प्राप्त करते हैं। प्रत्येक ही हमारे मस्तिष्क में एक सूक्ष्म रेखांकन छोड़ जाता है। यह रेखांकन ही संस्कार है। इन रेखांकनो या संस्कारो से हमारे आगे आने वाले कर्म या अनुभव प्रभावित होते रहते है। वैज्ञानिक जगत ने बड़े उत्तम उदाहरण इस दिशा मे हमे प्रदान कर दिये हैं चलचित्र यह बी०डी०ओ० अथवा टेपरिकार्डर पर कोई चित्र या संवाद हम सुनते हैं। यह सब हमे एक पतली पटिटका के माध्यम से देखने सुनने को मिलता है। इस पट्टिका (टेप) पर हम दृश्य ध्वनि अंकन कर देते है और यन्त्र पर स्थापित कर देते हैं और यन्त्र परिकचन के द्वारा वह दृश्य व ध्वनि हमे दिखाई व सुनाई पड़ने लगती है। पट्टिका या टेप कोरा लीजिये अथवा अंकन युक्त लीजिये—ऊपरी दृष्टि से आप कोई अन्तर नही कर सकते हैं क्योकि यह अंकन इतना सूक्ष्म होता है कि हमारी आंखो की देखने की क्षमता से बाहर है। ठीक इसी प्रकार हमारे मस्तिष्क मे में हमारे हर कार्य का लेखा अंकित होता रहता है और हर कर्म के मगत जाने तक वह संस्कार के रूप मे हमारे मस्तिक मे बैठा रहता है।

कोई मतवादी कहते है कि मनुष्य के कन्धे पर दो दूत बैठे रहते हैं जो अपनी एक एक बही मे पृथक पृथक अच्छे बुरे कर्म लिखते रहते है। हमारे पौराणिक भाई कहते हैं कि धर्मराज महाराज के लिपिक चित्रगुप्त अपनी बही मे यह लेखन का कार्य करते रहते हैं। मृत्यु के बाद उस मनुष्य को धर्मराज के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और उसके कर्मों का चिट्ठा उसके सामने खोला जाता है और उसी के अनुरूप उसे स्वर्ग या नरक मिलता है। अथवा यों कह कि उसे पुनर्जन्म मिलता है वह अपने कृत कर्म के प्रारब्धानुसार दण्ड या पुरस्कार पाता रहता है। वास्तव मे यह कार्य चित्र गुप्त नही करते हैं प्रत्युत जीवात्मा के गुप्त चित्र करते हैं जो कि उसके मस्तिष्क पटल पर टेप पट्टिका की भांति अंकित होते रहते हैं।

इस प्रकार हमारे शरीर मे मस्तिष्क के सूक्ष्म धरातल पर संस्कारो का संकलन होता रहता है जो जीवन मे तो प्रभावी बने रहते हैं प्रत्युत मृत्यु पर्यन्त भी अपनी क्रियाशीलता बनाये रहते हैं। मरते समय जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर से प्रस्थान करती है।

क्रमश

पाद टिप्पणी

श्री जयदेव आर्य

५ स्वा विरजानन्द ने अनार्ष ग्रन्थो का अध्यापन सन् ५७ के बाद बन्द किया पर क्यो? इस विषय मे श्री पृथ्वी सिंह मेहता का कथन है कि वह १८५७ की क्रान्ति की असफलता के सन्दर्भ मे भारत के पतन का कारण इन ग्रन्थो को समझकर इनका विरोध करने लगे जबकि आर्य समाज का इतिहास प्रथम भाग मे प० इन्द्रविद्यावाचस्पति के अनुसार एक पड़ोसी दक्षिणी पण्डित के मुख से अष्टाध्यायी का पाठ सुनकर उसकी सरलता एवं स्पष्टता पर मुग्ध हो जाना ही आर्ष ग्रन्थो के प्रति उनके झुकाव का हेतु बना (पृ० ५१)। इनमे कौन सा दृष्टिकोण ठीक है—यह ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषण के योग्य है।

अनेक बार स्वा विरजानन्द का ऋषि दयानन्द से निपट एकान्त मे वार्तालाप होता था जिसमे आने की अन्य किसी को आज्ञा नही थी। इन गोष्ठियो का विषय निश्चय ही सामान्य ज्ञान चर्चा के अतिरिक्त कुछ अन्य ही होता होगा अन्यथा दूसरे शिष्यो पर प्रतिबन्ध की आवश्यकता न थी। इन्ही विचार गोष्ठियो मे व्यक्त हुई दयानन्द की भावनाओ का लाभ उठाकर उन्हे देशोद्धार करने की दक्षिणा मांगने का साहस हुआ होगा अन्यथा बिना किसी आधार के सहसा ही इतनी बड़ी मांग कर बैठना अविवेकपूर्ण पग होता। इसके साथ ही देशोपकार के उपायो पर और देश की तात्कालिक स्थिति पर भी विद्याध्ययन काल मे ही विचार करना सम्भव और आवश्यक था न कि गुरुदक्षिणा के विदाई के अवसर पर। पुन हम १८६३ के इस विदाई के अवसर के स्वल्पकाल पश्चात् ही ऋषि को सन् ६६ मे अजमेर मे कर्नल ब्रुक्स जैसे उच्चपदस्थ अधिकारियो से गोरक्षा जैसे महत्वपूर्ण और स्वराज्य आन्दोलन के अगभूत प्रश्न पर विचार विमर्श करते हुए पाते हैं। उधर प्रारम्भ के चार पांच वर्ष मे ऋषि के अपना कोई स्पष्ट कार्यक्रम न बना सकने के कारण स्वा विरजानन्द सन्देश वाहको द्वारा बार बार तकाजा करते तथा निराशा तक प्रकट करने लगे थे। इससे स्पष्ट है कि स्वा जी ऋषि से तत्काल ही किसी क्रान्तिकारी कार्यक्रम के अपनाए जाने की अपेक्षा रखते थे, जो उन्हें पूर्ण होती दिखलाई न दी अत मानना चाहिए कि उनके मध्य इन एकान्त वार्तालापो के समय ही ऐसी अनेक योजनाओ पर गम्भीर विचार विमर्श चलता रहा होगा। ये सब तथ्य स्वा जी के क्रान्तिकारी जीवन की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं।

क्रमश

आर्यों की मोरिशस यात्रा

२६-१०-९३ से हवाई जहाज द्वारा दिल्ली मोरिशस यात्रा शुरू होगी। आने जाने का जहाज का किराया १६३०० रुपये प्रति सवारी है, रहने व भोजन का प्रबन्ध मोरिशस सभा द्वारा। ६००० रु० एडवांस शेष राशि एक मास मे भेंजे। सवारी अपना पासपोर्ट नाम, आयु पिता का नाम आदि विवरण भेंजे। बाहर के व्यक्ति ड्राफ्ट संयोजक के नाम भेंजे। बाहर से आने वाले २६ १०-९३ को आर्यसमाज अनारकली मन्दिर मार्ग या आर्य समाज चूना मण्डी पहाड़गंज पहुंचे। भोजन संयोजक की ओर से होगा।

सम्पर्कसूत्र संयोजक

श्री शाम दास सचदेव	श्री मालवीय आर्य
मन्त्री, आर्य समाज, चूना मण्डी,	आर्य समाज मन्दिर अनारकली
पहाड़गंज, नई दिल्ली-५५	मन्दिर मार्ग नई दिल्ली १
दूरभाष ७५४६१२८	दूरभाष ३४३७१८, ३१२११०

पता मकान न २६१३, भगतसिंह
गली न ९ चूना मण्डी,
पहाड़गंज, नई दिल्ली ५५
दूरभाष ७३८५०४४ (पी० पी०)

कार्यक्रम

२६-१०-९३ नई दिल्ली से बम्बई, २७-१० बम्बई से मोरिशस २८ १० से २-११-९३ तक मोरिशस भ्रमण, २-११-९३ से मोरिशस से बम्बई तथा ३-११ ९३ बम्बई से दिल्ली।

वेद जयन्ती कार्यक्रमों की धूम

आय समाज गजोरी गाडन, नई दिल्ली—मे १६ से २२ अगस्त ९३, तक वेद प्रचार सप्ताह उत्साह व श्रद्धापूवक मनाया गया। समाज के सुयोग्य विद्वान पुरोहित के ब्रह्मत्व मे यजुर्वेदीय पारायण प्रारम्भ हुआ और २२ अगस्त को पूर्णाहुति मे सैकडो श्रद्धालुओ ने आहुति दी।

दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव न इस अवसर पर अपने उदगार व्यक्त करते हुए कहा कि यह प्रसन्नता की बात है कि इस आयोजन मे आय महिलाओ ने उत्साहपूवक भाग लिया है। अन महिला समाज से सहयोग लकर न केवल सगठन को सुदृढ करना चाहिए अपितु वेद प्रचार कार्य को तीव्र गति से आगे बढाना चाहिए। चिन्ता की बात है कि आज भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी मद्यपान जैसी बुराइया समाज व राष्ट्र को खा रही हैं। अत सभी आयजनो को इस वेद प्रचार आयोजन के अवसर पर इन कुरीतियो के उन्मूलन के लिए सकल्प लेना चाहिए। श्री सूयदेव ने आगे कहा कि नैतिक व धार्मिक शिक्षा के भाव से भी ये बुराइया तेजी से बढ रही हैं अत हमे वेद प्रचार के काम मे तेजी लानी चाहिए।

समारोह मे गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलपति डा० धर्मपाल दिल्ली विश्वविद्यालय के सस्कृत विभागाध्यक्ष डा० वाचस्पति जी उपाध्याय सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान डा० महेश जी विद्यालकार ने भी वेदो की प्रासगिकता के महत्व पर प्रकाश डालते हुए वेद शिक्षाओ को आचरण मे लाने का आह्वान किया। सगीताचार्य श्री गुलाब सिह राघव ने भजनो से सभी को मन्त्र मुग्ध कर दिया।

—आय समाज मन्दिर शकरपुर दिल्ली—मे वेद प्रचार सप्ताह के अन्तगत दिनाक ८ ८ ९३ से ११ ८ ९३ तक वेद प्रचार का कायक्रम तथा योगिराज श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर्व समारोह पूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर प्रतिदिन प्रात ७ बजे से वृहद् यज्ञ एव श्री पतराम त्यागी का वेदो से सम्बन्धित ओजस्वी प्रवचन होता रहा। मुख्य कार्यक्रम ११ अगस्त को श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर्व के रूप मे सम्पन्न हुआ। प्रात ९ बजे वृहद यज्ञ की पूर्णाहुति आय जगत के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य ओमवीर शास्त्री जी के ब्रह्मत्व मे सम्पन्न हुई। आचार्य ओमवीर शास्त्री जी ने श्रीकृष्ण के प्रति आय समाज के दृष्टिकोण को अत्यन्त सारगर्भित भाषा मे स्पष्ट किया इस अवसर पर श्री पुष्किन अरोडा के भजनो की श्रोताओ ने मुक्त कण्ठ से प्रशसा की। समारोह मे आर्य समाज के वयोवृद्ध सरक्षक श्री नारायणदास खन्ना तथा श्री ओम प्रकाश कौशिक का आय समाज के प्रति उनकी सेवाओ को ध्यान मे रखते हुए पुष्प मालाओ से सम्मान किया गया। इस अवसर पर अन्य वक्ताओ ने योगेश्वर श्रीकृष्ण के चरित्र से प्रेरणा लेने का आह्वान किया। कायक्रम की अध्यक्षता श्री दामोदर आय ने की तथा सचालन आय समाज के उप प्रधान श्री ओम प्रकाश रुहिल ने किया। कार्यक्रम को सफल बनाने मे श्री मिश्री लाल प्रधान श्री रामनिवास कश्यप उपमन्त्री तथा श्री बृज वल्लभ कोषाध्यक्ष तथा श्री नन्द कुमार वर्मा ने सराहनीय योगदान प्रदान किया।

—आय समाज सरस्वती विहार दिल्ली मे ९ से १५ अगस्त, ९३ तक प्रतिदिन रात्रि को क्षेत्र के विभिन्न आय महानुभावो के निवास पर हवन यज्ञ, भजन व वेद कथा का सुन्दर आयोजन किया गया। पातजल योग महाविद्यालय जवाहर नगर के अधिष्ठाता आचार्य अर्जुन देव जी द्वारा दशनो पर कथा हुई। ११ अगस्त को समाज मन्दिर मे श्री कृष्ण जन्माष्टमी का आयोजन किया गया। १५ अगस्त को स्वतन्त्रता दिवस एव हिन्दी दिवस कायक्रम मे समाज के प्रधान श्री पन्सारी लाल द्वारा ध्वजारोहण किया गया। डा० रघुवीर वेदालकार डा० कृष्ण लाल आदि ने व्यवहार मे राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रयोग के बारे मे प्रेरक विचार प्रस्तुत किए।

—वेद मन्दिर आय समाज ब्रह्मपुरी दिल्ली-५३—मे २ से १० अगस्त ९३ तक वेद जयन्ती कायक्रम हर्षोल्लास से मनायी गयी। इस दौरान श्रावणी उपाकर्म रक्षा बन्धन पव व श्रीकृष्ण जन्माष्टमी धूमधाम से मनायी गयी। वेदिक विद्वानो के मनोहर भजन व सुन्दर वेद प्रवचन हुए।

—गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार—महान शिक्षा शास्त्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज द्वारा स्थापित गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय मे २ अगस्त को श्रावणी उपाकम समारोह पूवक मनाया गया। डा० महावीर सिंह ने पत्र के महत्व गुरुकुल की श्रेष्ठ परम्परा की उपयोगिता पर ब्रह्मचारियो का प्रेरक उद्बोधन द्वारा मार्ग दर्शन किया। प० जनेश्वर पाल ने ब्रह्मचर्य की महत्ता पर प्रकाश डाला। समारोह मे सहायक मुख्याधिष्ठाता महेन्द्र कुमार शास्त्री ने इस पव का राष्ट्र रक्षा पव की सज्ञा दी।

—आर्य समाज नूहीन मेवात—मे १० अगस्त को श्री कृष्ण जन्माष्टमी पव वैदिक धम सेवा समिति मेवात के महामन्त्री प० नन्द लाल निभय की अध्यक्षता मे धूमधाम से मनाया गया। इस अवसर पर प निभय समाज के उप प्रधान श्री सोहन लाल आय मन्त्री श्री नारायण सिंह आय उपमन्त्री श्री ब्रह्मदेव आय आदि ने योगीराज श्री कृष्ण के आदर्श जीवन से प्रेरणा लेने का आह्वान किया

आय समाज मोगा—रक्षा बन्धन वेद सप्ताह व जन्माष्टमी पव भी श्रद्धा व उत्साहपूर्वक मनाये गए। श्री कृष्ण लाल सूरी ने ओ३म् ध्वजारोहण किया तथा स्वामी सच्चिदानन्द जी के ब्रह्मत्व मे ११ अगस्त के यजुर्वेदीय यज्ञ सम्पन्न हुआ। आय कन्या स्कूल के प्रबन्धक ने महर्षि दयानन्द प्रतियोगिता के विजेता छात्रो को पुरस्कृत किया तथा प्रिंसीपल जी के० के० गुप्ता ने शिक्षक श्री गोविन्द लाल को

शेष पेज ८ पर

आई.ए.एस. के छात्रो के लिए नि.शुल्क

पृष्ठ १ का शेष

भाषण मे सविधान के अनुसूची मे स्वीकृत होने के बावजूद भी सस्कृत भाषा के बहिष्कार किए जाने की नीति का विरोध किया। इन्द्रप्रस्थ कालज की ब० उपाचार्य जगदीश ... सस्कृत मे अन्य अनुशासनो के विषयो की सख्या न घटाने ... की आचार्य श्रीमती शशि प्रभा गोयल ने ... के प्रति नहीं निष्ठा के अभाव का प्रश्न उठाया उन्होंने सस्कृत के अधिक प्रचार प्रसार के लिए दूरदर्शन पर पाच मिनट का स्लाट निर्धारित करने सस्कृत कायक्रमो को प्राइम टाइम देने तथा विषय वस्तु को आधुनिक बनाने पर बल दिया।

अकबर को महाराणा प्रताप की तुलना मे महान बनाने का दुस्साहस

धर्मनिरपेक्षता की ओट मे इतिहास को तोड-मरोड कर प्रस्तुत किया जा रहा है। राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोड की नौवी कक्षा की सामाजिक ज्ञान की पाठय पुस्तक मे छोटा सिद्ध करने हेतु जहा अकबर महान के पाठ मे अकबर के बारे मे तीन पृष्ठ दिए गए हैं वहीं महाराणा प्रताप और उनके वशजो को सिफ आठ दस पक्तियों मे दिया गया है। छल-कपट की नीति व सैन्य बल से राष्ट्र के स्वाभिमान को कुचलने वाला, हिन्दुओ की बहु बेटियो को जलील करने और मीना बाजार लगाने वाला अकबर कैसे महान हो गया, सवर्ण शील योद्धा अकबर की छलकपट व साम्राज्यवादी नीतियो का प्रबल विरोध करने वाला महाराणा प्रताप आन-शान मान के लिए लडने वाला महान देश भक्त व स्वतन्त्रता सग्राम का महान प्रेरक था।

राष्ट्रवादी संगठनो को केन्द्र व राज्य सरकारो को सही इतिहास भावी पीढी के सन्मुख रखने के लिए बाधित करना चाहिए। मानवीय मूल्यो की दृष्टि से भी प्रताप का व्यक्तित्व अकबर की तुलना मे अधिक महान था।

डाक्टर धर्मपाल का अभिनन्दन

दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा व वैदिक सत्सग समिति के सयुक्त तत्वावधान मे १ जुलाई ९३ से चल रहे यज्ञ व वेदकथा का समापन समारोह १ अगस्त को श्री कृष्ण लाल सिक्का की अध्यक्षता मे हुआ। डा० महेश विद्यालकार, श्रीमती शकुन्तला आर्या के श्रावणी पर्व की महत्ता पर सारगर्भित प्रवचन हुए। पूज्य स्वामी आनन्द-बोध जी की पुस्तक मा' जिस का प्रकाशन श्रीमती कान्ता सिक्का ने किया। उसका विमोचन श्री नरेन्द्र अवस्थी 'पत्रकार ने करते हुए गायत्री मन्त्र की महिमा का उल्लेख किया। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल का गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलपति पद ग्रहण करने पर अभिनन्दन किया गया। नई व दक्षिण दिल्ली के विभिन्न आय समाजो के पदाधिकारियो ने उन्हे फूल मालाओ से लाद दिया। उनके कार्यों की प्रशसा की गई।

नरेन्द्र अवस्थी
प्रचार मन्त्री आर्य समाज श्रीनिवासपुरी नई दिल्ली ६५

आय सन्देश—दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

N No 32387/77 Posted at N D P.S.O on 26 27 8 1993 Licence to post without prepayment Licence No. U (C) 13 /93

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल ११०२४/६३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/६३

"आर्यसन्देश साप्ताहिक २९ अगस्त १९९३

वेद जयन्ती के कार्यक्रम

(पष्ठ ६ का शेष

सम्मानित किया। विद्वानो ने श्री कष्ण के जीवन से प्र रणा लेने का अनुरोध किया। समाज प्रधान श्री हरबस लाल भूषण ने ध यवाद दिया।

आय समाज महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार लुधियाना का वेद सप्ताह श्रावणी उपाकम का कायक्रम प्रथम ८ अगस्त तक रखा गया महर्षि दयानन्द स्मारक उपदेशक महाविद्यालय टकारा तथा पूव मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार से पधारे आचाय धमवीर जी विद्या लकार ने लगातार वेदो का स देश दिया।

१ अगस्त को वेद सप्ताह का कायक्रम प्रारम्भ हुआ। हवन यज्ञ के बाद श्री र मप्यारे लाल जी नारग ने भक्ति पूण भजन प्रस्तुत किया। तत्पश्चात आय समाज के कोषाध्यक्ष श्री श्रवणकुमार जी आय ने सुन्दर एव सरल शब्दो मे सत्याथ प्रकाश पर विचार रखे। आचाय धमवीर जी ने बड़ रोचक ढग से वेदा के मह्त्व पर प्रकाश डाला। म च सचालन समाज के महाम त्री श्री महेन्द्र प्रताप जी अ य ने किया।

२ से ७ अगस्त तक प्रतिदिन स ध्या हवन भजन और प्रवचन का कायक्रम चलता रहा। महाशय ज्ञानच द जी आय श्री देवराज जी आय श्रीमती जनकरानी जी आर्या श्री श्रवण कुमार जी आय दिल्ली से पधारे श्री लक्ष्मन जी तथा फरीदाबाद से आए डा० बी० पी० सूद आ द ने वेद महिमा और महर्षि दयान द गुणगान के रूप मे विचार प्रस्तुत किया।

८ अगस्त को वेद सप्ताह के यज्ञायज्ञ की पूर्ण आहुति सम्पन्न हुई। इस अवसर पर आय गर्ल्ज सीनियर सकण्डरी स्कूल की छात्राओ ने तथा आर्य माडल स्कूल क बच्चो ने और किदवईनगर आय समाज की भजनमण्डली ने महर्षि महिमा राष्ट्र महिमा के भजनो और गीतो का जनता जर्नादन रसास्वादन कराया।

आय समाज महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना—मे भी योगीराज श्री कष्ण ज माष्टमी ९ से ११ अगस्त तक मनायी गयी। हवन यज्ञ आय समाज के सुयोग्य पुरोहित आचाय श्री राजेश्वर जी शास्त्री प्रभाकर एम०ए (डबल गोल्ड मडलिस्ट) ने सम्प न करवाया। जनकरानी जी आर्य श्री महाशय ज्ञानच द जी आय श्री श्रवणकुमार जी आय तथा आय समाज के प्रधान श्री रणबीर भाटिया ने श्री कष्ण का जीवन चारत्र पर विचार प्रस्तुत किए।

—आय समाज जवाहर नगर लुधियाना—मे १० अगस्त को पुरोहित प० बाल क ष्ण जी के ब्रह्मत्व मे यज्ञ के उपरात आचाय धर्मवीर जी वेदालकार (ज्वालापुर आश्रम) ने कहा कि श्री कष्ण जी ने धर्म व सत्य की रक्षा के लिए नीति से काम लिया। श्री कृष्ण कुमार बत्रा ने योगीराज श्री कृष्ण पर सुन्दर गीत व भजन प्रस्तुत किए।

—आय समाज म दर सागरूर—मे १६ से २२ अगस्त तक वेद प्रचार सप्ताह धमधाम से मनाया गया। इसमे यज्ञ हवन भजन व आय जगत के उच्चकोटि के विद्वानो के वेद प्रवचल हुए।

आय अनाथालय फिरोजपर छावनी पजाब) मे २ अगस्त को श्रावणी महोत्सव एव रक्षा ब धन का योहार श्रद्धापूर्वक मनाया। इस अवसर शिक्षण सस्थाओ द्वारा अनेक र ग र ग कायक्रम प्रस्तुत किए गये।

सेवा में--

श्री पु तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगडी वि व द्यालय
ह द्वार (उ प्र)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्र स पटौदी हाउस दरियागंज नई दिल्ली ११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड नई दिल्ली ११०००१ फोन – ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६ अंक ४७ | रविवार १२ सितम्बर १९९३ | विक्रमी सम्वत् २०५० | दयानन्दाब्द १६९ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९४

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपय | आजीवन २५० रुपय | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

शिक्षक दिवस की पूर्व संध्या पर

आर्य विद्वानों, धर्माचार्यों, पुरोहितों व उपदेशकों का सम्मान :

संगठन को छवि धूमिल करने वाले छद्मवेशधारी विघटनकारी तत्वो की भर्त्सना

नई दिल्ली ४ सितम्बर। दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव की अध्यक्षता में आज शिक्षक दिवस की पूर्व स ध्या पर आर्य समाज दीवान हाल मे राजधानी की आर्य समाजो व आय सस्थाओ के धर्माचार्यों आय विद्वानो पुरोहितो, उपदेशकों एव भजनोपदेशको का सम्मान किया गया। इस अवसर पर आय समाज के सैद्धांतिक पक्ष को स्पष्ट रूप से दर्शाने के लिए विचार गोष्ठा का भी आयोजन किया गया।

गोष्ठी मे विचारों मे आदान प्रदान से यह बात उभर कर आयी कि देश कि वर्तमान नाजुक परिस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए आर्य विद्वानो, पुरोहितो आदि को अपने प्रवचनो व वेद प्रचार के दौरान आर्य समाज के सैद्धातिक पक्ष को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करना चाहिए और धर्मवीर लेखराम स्वामी श्रद्धानन्द प० लोकनाथ तर्क वाचस्पति आदि त्यागी एव सेवानिष्ठ महापुरुषो का आदर्श सम्मुख रखते हुए निष्ठापूर्वक वेद प्रचार कार्य मे लगे रहना चाहिए। साथ ही यह सुझाव भी प्रस्तुत किये गये कि आर्य समाजो व आर्य सस्थाओ के अधिकारियो, सदस्यो आदि को विद्वानों व पुरोहितो का भी हर प्रकार से आदर सत्कार करना चाहिए।

सभा द्वारा सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित कर उन लोगो की भी कडी भर्त्सना की गयी जो आर्य समाज जैसे पवित्र सगठन को बदनाम करने व तोडने के कुकृत्य कर रहे हैं तथा झूठी मन गढन्त और बेबुनियाद बातो द्वारा आय समाज के सर्वोच्च सगठन सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा एव इसके प्रधान के विरुद्ध आधार हीन व भ्रामक कुप्रचार कर रहे हैं।

आर्य विद्वान डा० महेश विद्यालकार ने गोष्ठी का शुभारम्भ करते हुए कहा कि धर्माचार्यों विद्वानो पुरोहितो आदि को प्रवचनो व व्याख्यानो के दौरान वैदिक सिद्धातो का ही प्रचार-प्रसार करना चाहिए। उन्होने आगे कहा कि आर्य समाज ने अपनी अलग पहचान कायम की है और उसे बनाये रखना चाहिए। श्री नन्द किशोर भाटिया ने सुझाव दिया कि दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा द्वारा सभी समाजो को इस आशय का एक परिपत्र भेजा जाना चाहिए कि चौथा क्रिया व रस्म पगडी के दौरान दिवगत महानुभावो के चित्रो पर आय समाज मन्दिरो मे फूलमालाये न चढ़ायी जाये और न ही धूप अगरबत्ती जलायी जाए। डा० प्रेमचन्द श्रीधर जी का कहना था कि वक्ताओ को प्रवचन व भाषणो के दौरान राजनैतिक मुद्दो पर चर्चा करने की अपेक्षा वेद म त्रो की ही व्याख्या करनी चाहिए। श्री मेघश्याम जी ने परामर्श दिया कि आय समाज म दिरो मे धर्माचार्यों की सेवाओ की सुरक्षा की व्यवस्था की जाए। श्री भूटानी जी का विचार था कि सभी को सिद्धातो की रक्षा करनी चाहिए तथा धनाढ्य लोगो को विशेष रियायत नहीं देनी चाहिए। श्री वेदपाल ने कहा कि विद्वानो तथा पुरोहितो की एसी पृथक पृथक बैठक आयोजित की जानी चाहिए।

दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द जी ने विचार व्यक्त किया कि उपदेशको को राम, कृष्ण अवतार आदि अवैदिक बातो का खण्डन करते रहना चाहिए और आर्य सिद्धातो का जोरदार प्रचार करना चाहिए। प० महेन्द्र कुमार शास्त्री ने सुझाव दिया कि आर्य समाज की स्टेज पर

(शेष पृष्ठ ६ पर)

संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिए आर्य समाज दीवान हाल द्वारा

महर्षि दयानन्द संस्कृत छात्रवृत्तियों के लिए आवेदन पत्र आमन्त्रित

नई दिल्ली २९ अगस्त। दिल्ली की प्रमुख आर्य समाज मन्दिर दीवान हाल द्वारा लाल किला मैदान में आयोजित १०८वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर 'संस्कृति-रक्षा-सम्मेलन' मे महर्षि दयानन्द सस्कृत छात्रवृत्तिया देने की घोषणा की गयी थी। इसी सदर्भ में समाज की आज सम्पन्न हुई अन्तरग की बैठक मे निम्न-लिखित छात्रवृत्तियां प्रदान करने की विस्तृत रूपरेखा स्वीकृत की गयी—

(क) दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत अध्ययनरत बी० ए० (आनर्स) प्रथम वर्ष के ५ छात्र तथा ५ छात्राओ को तीन वर्ष तक १००-१०० रु० प्रतिमास की छात्रवत्ति प्रदान की जायेगी। छात्रवृत्ति के लिए ग्राह्यता इस प्रकार है—

१ बी ए (आनर्स) प्रथम वर्ष के विद्यार्थी को उसकी पूर्व परीक्षा (अर्थात् कक्षा-१२) मे संस्कृत विषय में न्यूनतम ८० प्रतिशत अक होने चाहियें।

२ विद्यार्थी के परिवार की वार्षिक आय ३६००० रुपये से अधिक न हो।

३ यदि आवेदक ५ छात्र व ५ छात्राओ से अधिक होगे, तो लिखित परीक्षा आयोजित की जायेगी।

४ बी ए (आनर्स) द्वितीय तथा तृतीय वर्ष की छात्रवृत्तियो के लिए छात्र-वृत्ति पाने वाले विद्यार्थियो की पूर्व-परीक्षाओ की योग्यता ही मुख्य आधार होगी।

५ आर्य समाज दीवान हाल की कार्यकारिणी-अन्तरग सभा का निर्णय अन्तिम एव सर्वमान्य होगा।

(ख) सम्पूर्ण भारतवर्ष में चल रहे आर्ष गुरुकुलो (महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्वीकृत आर्ष शिक्षा पद्धति के अनुरूप) मे अध्ययनरत शास्त्री, विद्याभास्कर, वेदालकार, विद्यालंकार-प्रथम वर्ष के ५ छात्र तथा ५ छात्राओं को तीन वर्षों तक १००) रुपये प्रतिमाह की छात्रवृत्ति दी जायेगी। छात्रवृत्ति के लिए ग्राह्यता निम्नलिखित होगी—

(शेष पृष्ठ ८ पर)

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव

सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

हिन्दी के प्रयोग में संकोच कैसा ?

श्री रवि सचदेव 'घायल' अबोहर

देश को आजाद हुए इतने वर्ष बीत चुकने के बाद भी मुझे इस विषय पर निबन्ध लिखना पड़ रहा है कि हिन्दी के प्रयोग में संकोच कैसा ? इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि हिन्दी के प्रयोग में संकोच है। संकोच कैसा ? आओ इस बात का विश्लेषण करें। एक बैंक के प्रबन्धक से चर्चा के दौरान यह तथ्य सामने आया कि कार्यालय आदेश तो हिन्दी में हो ही नहीं सकता पूछने पर कहने लगे कि कई शब्दों की हिन्दी नहीं मालूम। एक अन्य कार्यालय में एक दिन चर्चा हो रही थी कि वहां भी एक विशेष फार्म को तो हिन्दी में भरा ही नहीं जा सकता क्योंकि उसमें दिये जाने वाले आंकड़ों के तकनीकी शब्द सभी अंग्रेजी के हैं। एक बीमा कम्पनी में बहस का मुख्य विषय है कि उनके तो अधिकतर कार्य टंकण के होते हैं और प्रचुर मात्रा में हिन्दी के टंकण यन्त्रों तथा टंककों का अभाव होने से टंकण कार्य मुख्यतः अंग्रेजी में ही सम्भव है। कृषि मन्त्रालय के एक कार्यालय में जब प्रबन्धक से बात हुई तो उनकी समस्या है कि एक विशेष विवरणी के फार्म ही हिन्दी में उपलब्ध न हो तो हम क्या करें। रेलवे के अधीक्षक से चर्चा हुई तो वे कहने लगे कि कार्य संहिता दण्ड संहिता में जब हिन्दी के पठन की प्रामाणिकता ही प्राप्त नहीं तो विवादास्पद मामलों में अंग्रेजी के पठन को ही सही माना जाएगा। अतः हिन्दी तो स्वयमेव ही निरर्थक हो गई। एक अन्य कार्यालय का स्टाफ अपना कार्य हिन्दी में इसलिये नहीं कर पाता क्योंकि उनके प्रबन्धक दक्षिण से हैं जिन्हें हिन्दी समझ ही नहीं आती तो दूसरे कार्यालय के प्रबन्धक सिक्ख सम्प्रदाय से हैं जिन्हें हिन्दी से चिढ़ है। और स्टाफ कहता है कि हम जल में रहकर मगरमच्छ से बैर नहीं करना। एक कार्यालय के कर्मचारियों का अनुभव है कि उच्चाधिकारियों को अगर कोई पत्र हिन्दी में लिखा जाए तो चाहे कितने भी अनुस्मारक भेज दिए जाएं महीनों तक उसका उत्तर नहीं आता। कुछ कर्मचारियों को सहायक सामग्री तकनीकी शब्दावली लघु रूप (तकनीकी शब्दों के) टिप्पण वाक्यांशों की सहायक पुस्तकों का अभाव हिन्दी में काम करने की बाधा है। पिछले कुछ वर्षों से इस प्रकार से विभिन्न लोगों से मिलने तथा विभिन्न कार्यालयों के सर्वेक्षण से जो बात सामने आई हैं उनसे स्थिति स्वतः इस प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी के प्रयोग में संकोच का मुख्य कारण है—मानसिकता अन्यथा उपयुक्त शब्दों का न मिलना एक विशेष फार्म हिन्दी में भरा ही नहीं जा सकना (जबकि हम कहते हैं असम्भव नाम का शब्द केवल मूर्खों के शब्द कोश में होता है) फार्मों का हिन्दी में उपलब्ध न होना तथा अंग्रेजी में छपे फार्मों में हिन्दी के स्थान भरने में संकोच सहायक सामग्री का अभाव, हिन्दी का आचार संहिता अथवा कार्य संहिता की प्रामाणिकता न मिलना—ये सब ऐसे कारण हैं जिन्हें सॉलिड (Solid) कारण नहीं कहा जा सकता। यहां पर ठोस कारण न लिखकर मैंने सॉलिड कारण एक विशेष प्रयोजन से लिखा है।

मेरा अपना यह मत है कि जिस व्यक्ति ने अपने प्राथमिक स्तर तक भी हिन्दी में पढ़ाई की है उसे हिन्दी में काम करने में मूलभूत कोई कठिनाई नहीं हो सकती। अगर किसी कार्यालय में कर्मचारी को यह दिक्कत है कि उसे हिन्दी के शब्द नहीं मालूम जबकि अंग्रेजी में तो उसे काम करने का पूरा अभ्यास है तो मेरा उससे नम्र निवेदन है कि जब वह कार्यालय में नया नया नौकरी पर आया था तो उसे अंग्रेजी के शब्द भी मालूम नहीं थे उदाहरणतः बैंकों की ही बात करें। एक नए कर्मचारी को डी डी एस सी टर्म लोन शार्ट क्रेडिट डिस्काउंट प्रोटेस्टिड बिल आदि का नहीं पता होता। इनके बारे में तो धीरे धीरे ही पता लगता है। अनेक वर्षों की सेवा के बाद भी किसी विशेष काउंटर अथवा सीट के दैनिक प्रयोग के शब्दों का भी हमें तब तक पता नहीं चलेगा जब तक कि हम उस काउंटर अथवा सीट पर काम नहीं कर चुकेंगे। जब बिल्कुल वैसी ही समस्या आज हमें हिन्दी में कार्य करने में आ रही है जो अंग्रेजी में कार्य आरम्भ करते समय आई थी तो संकोच कैसा ? यदि फार्म अंग्रेजी में है (यद्यपि आज यह स्थिति नहीं। अधिकांश फार्म द्विभाषिक आ चुके हैं) तो क्या हुआ उसमें रिक्त स्थान हिन्दी में भरने से संकोच कैसा ? यदि आपको उपयुक्त शब्द नहीं मिलते तो अंग्रेजी का शब्द भी/ही आप देवनागरी अर्थात हिन्दी में क्यों नहीं लिख देते ? संकोच कैसा ?

एक और बात जो मुख्य हमारे मन में बसी हुई है कि हर किसी को हिन्दी समझ में आए यह जरूरी तो नहीं इसीलिए हम अंग्रेजी में लिखते हैं। परन्तु यह क्या जरूरी है कि अंग्रेजी सबको समझ आ ही जाएगी हां यह बात अवश्य है कि (आज के परिवेश को देखते हुए) प्रत्येक कर्मचारी थोड़ी बहुत अंग्रेजी पढ़ सकता है समझ सकता है। और यदि नहीं भी समझ सकता तो उसे समझने का ढोंग अवश्य करना पड़ता है। अन्यथा उसे नौकरी ही न मिली होती क्योंकि अतीत में ऐसा था जबकि अब वह स्थिति नहीं है।) परन्तु इससे वास्तविकता को नहीं झुठलाया जा सकता कि हमारे कार्यालयों में काम करने वाले अनेक अधिकारियों का भी अंग्रेजी का ज्ञान केवल न के बराबर है कर्मचारियों की तो बात ही अलग है। किसी पत्र को अंग्रेजी में लिखने अथवा अंग्रेजी में लिखे पत्र को समझने के लिए अधिकांश अधिकारियों को दिमाग पर काफी जोर लगाना पड़ता है। मेरे पास अनेकों उच्चाधिकारियों से प्राप्त पत्रों के नमूने मौजूद हैं जिनमें अनेक भाषा अथवा अक्षरों (Sp ll ng) की त्रुटियां हैं। जब उच्चाधिकारियों की यह दशा है तो सामान्य कर्मचारियों का अंग्रेजी का ज्ञान किस स्तर का होगा ? इसका अन्दाजा सहज से ही लगाया जा सकता है। दूसरी ओर हिन्दी में काम करना कितना सरल है तथा कितने अधिक लोग हिन्दी में काम करना जानते हैं या चाहते हैं यह अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि जब से C A LL B की परीक्षाओं का माध्यम हिन्दी भी हो गया है पास प्रतिशत में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। अतः जो बात मूलतः सही है वही सिद्ध है। तो फिर अंग्रेजी को महत्व क्यों ? और हिन्दी के प्रयोग में संकोच कैसा ?

एक उपहासजनक सत्य है कि हम हिन्दी में काम इसलिए नहीं चाहते क्योंकि अभी तक हमें हिन्दी में कार्य करने का अभ्यास नहीं। अतः समय अधिक लगता है परन्तु अंग्रेजी में काम करते हुए हम दुगना समय भी लगाते हैं तथा दुगनी मेहनत भी करते हैं वो क्यों नहीं यह बिल्कुल सत्य है। अधिकांश लोग सोचते तो हिन्दी में हैं और लिखते उसका अंग्रेजी में रूपान्तरण हैं। यह दो बार दिमाग खपाने वाला काम क्या समय और दिमाग की फिजूल खर्ची नहीं और दूसरी बात यह है कि अंग्रेजी में की गई ट्रांसलेशन की भाषा मूल चिन्तन से अधिक सुन्दर कदापि हो ही नहीं सकती। दूसरी बात एक यह भी है कि हिन्दी से अंग्रेजी Tr n at on अक्सर अधिक लम्बा भी होता है। तो क्या यह समय और कागज की बर्बादी नहीं। यदि हां तो क्यों हम अंग्रेजी के मोहजाल में फंसे हुए हैं। हिन्दी के प्रयोग में संकोच कैसा ? केवल मानसिकता का। तो आओ मानसिकता में हिन्दी लाएं —

हिन्दी की बिन्दी माथे पर लगी नहीं,
ऐसा लगता अभी गुलामी भगी नहीं,
हिन्दी हिन्दुस्तान नहीं अपनाएगा,
तो क्या अरब उसे सिर पर बिठलाएगा।

फादर कामिल बुल्के ने भी तो कहा था कि अंग्रेजी इस देश में दासी अथवा अतिथि के रूप में तो रह सकती है। बहूरानी के रूप में नहीं।

अतः यदि आप चाहते हैं सम्मान,
अपनी भाषा को दो मान।
क्योंकि हिन्दी विस्तार हमारा
हिन्दी ही संसार हमारा
हिन्दी है जन-जन की आशा
हिन्दी भारत की भाषा।

हिन्दी पूजा मां की पूजा, इस समान न कोई दूजा।

जिस दिन भारत के सभी कार्यालयों तथा प्रतिष्ठानों में काम भारत की अपनी भाषा हिन्दी में होने लगेगा वह दिन भारत की स्वतन्त्रता का प्रथम गौरव का दिन होगा तभी तो मैं कहता हूं कि

(शेष पृष्ठ ५ पर)

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा विद्यार्य सभा का गठन

आर्यजन ध्यान दें !

आर्य समाज की सहस्त्रो शिक्षण सस्थाओ मे पढ़ने वाले छात्र छात्राए आर्य-समाज तथा राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। इन छात्र-छात्राओ की शिक्षा दीक्षा और उनमे वैदिक विचारधारा के अनुसार नैतिक मूल्यो के प्रति निष्ठा पैदा करना तथा उनका चारित्रिक विकास करना हम आर्यों की जिम्मेदारी है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा गठित विद्यार्य सभा, इस महत्वपूर्ण कार्य में अपनी सस्थाओं को सहयोग देती है ताकि हमारी सस्थाए शिक्षा के क्षेत्र में अपने उच्चस्तरीय आदर्श को बनाए रखें।

इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सार्वदेशिक विद्यार्य सभा ने निश्चय किया है कि सभी प्रतिनिधि सभाओ, प्रादेशिक सभा तथा आर्य समाजो से निवेदन किया जाये कि वे अपने से सम्बन्धित शिक्षण सस्थाओ का विवरण नीचे दिए गये प्रारूप के अनुसार १५.१०.९३ तक सार्वदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के कार्यालय में भिजवाने की कृपा करें। शिक्षण सस्थाए, गुरुकुल विद्यालय तथा महाविद्यालय अपना विवरण सीधे भी सार्वदेशिक सभा के पते पर भेज सकते हैं।

—डा० सच्चिदानन्द शास्त्री मन्त्री
सार्वदेशिक सभा, दिल्ली

प्रारूप

१ सस्था का नाम
२ स्थाई पता
मण्डल राज्य
३ सस्था का आरम्भ कब हुआ ?
४ सस्था किस पद्धति पर चल रही है ?
प्राचीन गुरुकुल पद्धति/वर्तमान राजकीय
५ क्या आवासीय है अथवा नहीं ?
६ क्या छात्रो/छात्राओ के लिए सहशिक्षा है ?
७ कौन-सी कक्षा तक शिक्षा सुविधाए उपलब्ध हैं ?
८ विभिन्न स्तरो पर शिक्षा का माध्यम क्या है ?
९ किसी बोर्ड/विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है ?
१० सरकारी अनुदान लेती है अथवा नहीं ?
११ विद्यालय को चलाने वाली समिति का नाम ?
१२ क्या समिति स्वतन्त्र है, अथवा किसी आर्य समाज के अन्तर्गत है ?
१३ सम्बन्धित आय समाज का पता
१४ प्रबन्धक/व्यवस्थापक का नाम पता फोन न०
१५ समिति के अधिकारी तथा सदस्य—
१६ सस्था की भूमि का क्षेत्रफल—
(क) कुल कमरे कच्चे पक्के
(ख) पुस्तकालय कुल पुस्तकें
(ग) प्रयोगशालाएं
(घ) खेल का मैदान
१७ क्या छात्रो के लिए चिकित्सा व्यवस्था है ?
१८ प्रधानाचार्य का नाम/योग्यता/पता/फोन न०
१९ अध्यापकों/अध्यापिकाओ की कुल स०
(क) अन्य कर्मचारियो की सख्या
(ख) चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियो की सख्या
२०—सस्था का वार्षिक आय व्यय आय व्यय

आय	व्यय
(क) फीस	(क) वेतन पर व्यय
(ख) सरकारी अनुदान	(ख) अन्य व्यय
(ग) समिति द्वारा अनुदान	
कुल	कुल

२१ क्या धर्म शिक्षा पढ़ाने की व्यवस्था है ?
और क्या परीक्षा भी होती है ?
२२ कोई समस्या अथवा अन्य कोई विवरण—

आर्य समाज के प्रधान के हस्ताक्षर— प्रबन्धक के हस्ताक्षर
(यदि आर्य समाज के अन्तर्गत है) (मोहर सहित)

सत्यार्थ प्रकाश की परीक्षाये दें

आर्य युवक परिषद् (पजी) द्वारा गत ३१ वर्षों से अखिल भारतीय स्तर पर "सत्यार्थ प्रकाश" की परीक्षाओं का आयोजन किया जा रहा है। इस भाति इस वर्ष भी २६ सितम्बर, ९३ को सत्यार्थ रत्न, सत्यार्थ भूषण, सत्यार्थ विशारद व सत्यार्थ शास्त्री की परीक्षायें हो रही हैं। आर्य बन्धुओं से अनुरोध है कि स्वय तो परीक्षाओ में बठे और अन्यो को अधिक से अधिक सख्या मे बैठने की प्रेरणा दें। विस्तृत जानकारी हेतु सम्पर्क करे —

चमन लाल एम०ए० सत्यार्थ प्रकाश-परीक्षा मन्त्री
एच-६४, अशोक विहार, दिल्ली-५२

सम्पादक के नाम पत्र

नगे नाच दिखाये जाने के विरुद्ध कानूनी मोर्चा बनाये

सिनेमा के पर्दे पर महिलाओ के नगे नाच व बलात्कार के दृश्य दिखाना एक प्रकार का फैशन हो गया है। आश्चय है कि लोग परिवारजनो के साथ किस प्रकार यह सब देखते हैं और स्वय महिलाये भी किस प्रकार यह सब सहन करती हैं। अत महिला सगठनों को सेंसर बोड के सामने ये कुकृत्य बन्द करने की आवाज उठानी चाहिये। इस सम्बन्ध मे मेरी अपील है कि ऐसी दृश्यो को दिखाने जाने के विरुद्ध एक कानूनी मोर्चा बनाया जाए। कानूनी विशेषज्ञो की सहायता भी मिल सकती है।

राजकुमार भाटिया, एडवोकेट, पुष्पाजलि एन्क्लेव, दिल्ली

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय में

ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन के साथ कम्प्यूटर प्रशिक्षण व्यवस्था

गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में प्रथम कक्षा से स्नातकोत्तर तक विभिन्न विषयो मे अध्ययन/अध्यापन की व्यवस्था है। यहा पर वेद दर्शन, भारतीय सस्कृति एव इतिहास के अध्ययन के साथ-साथ माइक्रोबायलाजी तथा कम्प्यूटर एप्लीकेशन जैसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की गई है।

यहा पर स्वच्छ एव प्राकृतिक वातावरण मे गुरुकुल परम्परा के अनुसार आश्रम व्यवस्था भी उपलब्ध है। ब्रह्मचारियो के लिए आश्रम मे आधुनिक प्रणाली के भोजनालय की शौचालय एव स्नानागार भी सुविधा है।

महाविद्यालय स्तर पर कम्प्यूटर प्रशिक्षण की व्यवस्था पहले से ही है। इस वर्ष यह व्यवस्था कक्षा ८ से कक्षा १२ तक के छात्रो के लिए भी कर दी गई है। इस समय विद्यालय विभाग के ब्रह्मचर्य आश्रम मे २०० छात्र रह रहे हैं। अभिभावको की माग पर तथा कम्प्यूटर प्रशिक्षण व्यवस्था की नयी सुविधा को देखते हुए प्रवेश की अन्तिम तिथि को बढ़ाकर ३० सितम्बर १९९३ कर दिया गया है। अपने बच्चो को इस वैदिक सस्था मे प्रवेश कराने के इच्छुक अभिभावको से निवेदन है कि मुख्य अध्यापक, गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय (विद्यालय विभाग) हरिद्वार से सम्पर्क करें।

सूर्यदेव	प्रकाशवीर विद्यालकार	डा० धर्मपाल	प० महेन्द्र कुमार
प्रधान	मन्त्री	कुलपति	सहायक मुख्याधिष्ठाता
आर्य विद्या सभा	आर्य विद्या सभा	एव मुख्याधिष्ठाता	

गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार उ० प्र०

आदर्श त्रैतवाद (४२)

राजसिंह भल्ला

अपनी मृत्यु से बचने का कोई यत्र नहीं बना पाए और बना भी नहीं पाएगे। ससार भर में कोई ऐसा राजा-महाराज, सेठ-साहुकार, वैज्ञानिक मे हमने नहीं सुना जिसे अपनी मौत का भय न हो। सबके साथ अगरक्षक रहते है। जिस विज्ञान से मारना तो सरल हो परन्तु बचाने का कोई यत्र न मिले तो मृत्यु का भय तो बना ही रहेगा। इसलिए ज्ञानी लोग तो ब्रह्म को जानना चाहते हैं जिसे जानकर मृत्यु का भय नही रहता अर्थात् जानने योग्य केवल ब्रह्म ही हैं। क्योंकि इसका ज्ञान होने से सबका ज्ञान होना सम्भव है। अन्य किसी ज्ञान से उसका ईश्वर को ज्ञान हो नहीं सकता अत एक ब्रह्म ही जानने योग्य है। उसे जानकर मृत्यु का भय नही रहता।

उसे प्राप्त कर अभय हो जाता है

यद्व तत्सुकृतम्। रसो वै स। रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।
को ह्येवान्याक्त प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।
एष ह्येवानन्दयति। यद ह्यवैष एतस्मिन् दृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते-
ऽनिलयनेऽभय प्रतिष्ठा विन्दते अथ सोऽभय गतो भवति।

ब्रह्मवल्ली तैत्तरीयो० ७ अनुवाक

ऋषि कहते हैं निश्चय यह भगवान् पुण्य रूप है। वह ही रस है। परम पवित्र परमात्मा ही सुख तथा सार स्वरूप है। यह उपास सुख स्वरूप तथा सार-स्वरूप भगवान् को पाकर ही आनन्दवान हो जाता है। जो यह आकाश अर्थात् सर्वाधार ईश्वर सुख स्वरूप न हो तो कौन सांस ले सकता है। भगवान की सत्ता के बिना जीना और सास लेना भी असम्भव है। यह भगवान ही सबको जीवित और सुखी रखता है। आनन्दमय बनाता है। जिस समय यह उपासक इस अदृश्य मे—निराकार मे, शरीर रहित मे, अनिर्वचनीय मे और पराश्रय रहित परमेश्वर में अभय की स्थिति को पा लेता है तब वह भगवान का भक्त अभय हो जाता है। उसे ससार मे किसी का डर नही रहता वह साधक आत्मज्ञान के कारण निर्भय हो जाता है। डर दूसरे से होता है वह सब मे एकत्व की भावना रखता है। सब मे उसी को देखता है। द्वैत की भावना समाप्त होने पर डर किस का।

कामना पूर्ति

आपयिता ह वै कामना भवति य एतदेव
विद्वानक्षरमुदगीथम् उपास्ते। छान्दो० १-१-७

जो उपासक ओ३म् नाम की महिमा को जानता हुआ इस अक्षर उदगीथ की उपासना करता है, भगवान के ओ३म नाम को जपता है, निश्चय वह कामनाओ को प्राप्त करने वाला हो जाता है। उसकी सब कामनाए पूर्ण हो जाती हैं। भगवान के नाम की महिमा को जानकर ज्ञानपूर्वक सच्ची धारण से और उपनिषद के परमार्थ से जो कर्म किया जाता है, उसका सस्कार प्रबल होता है और फल भी अति उत्तम होता है।

सब विरोध दूर हो जाते है

एवं यथाश्मानमारवणमृत्वा विध्वसत एव हैव स विध्वसते य
एव विदि पाप कामयते यश्चेनमीमदासति। स एषोऽश्माखण ॥

छान्दो १-२ ८

जैसे पत्थर से टकराकर मिट्टी का डला चकनाचूर हो जाता है। ऐसे ही वह नष्ट हो जाता है जो इस प्रकार नियम पूर्वक ओ३म् नाम की उपासना करने वाले की अनिष्ट कामना करता है। जो इस उपासक को हनन करना चाहता है। क्योंकि वह उपासक अभेद्य शिला है। ओ३म नाम की उपासना करने वाले के सब विरोध दूर हो जाते हैं। यह भगवान की उपासना का फल है।

क्रमशः

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (१२)

नेतराम शर्मा, प्रधान—भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला, दिल्ली-११००५१

२५ पागलपन—इलाहाबादी मीठें अमरूद २०० ग्राम दिन के भोजन के बाद और २०० ग्राम शाम ४ बजे नमक, काली मिर्च, नीबू के साथ। समय ४० दिन रोग दूर।

२६ गठिया (सर्वांग बात)—अमरूद के पत्तो को कूटकर लुगदी बना गठिया की सूजन पर लेप कर दें सूजन दूर हो जायेगी।

२७ कांच निकलना—गुदा को अगुली से अन्दर कर ऊपर से अमरूद के पत्तो की पुल्टिस बाध दी जाए तो गुदा ठीक हो जायेगी। काच निकलना बन्द हो जायेगा।

२८ बवासीर की दवा—रात को दो सूखे अजीर पानी में भिगोकर चाद की चादनी मे रख सुबह खाकर ऊपर से ताजा गाय, भैंस का कच्चा दूध पीयें एक सप्ताह मे बवासीर का नाम नहीं रहेगा।

२९ कच्चे पपीते का रस मस्सो पर लगातार लगाए और प्रतिदिन दोपहर के समय ५०० ग्राम पक्का पपीता फल खायें मस्से दूर हो जायेंगे और बवासीर मिट जायेगी। मस्सो को अपने मूत्र से भी धोने से लाभ।

३० सरसो के तेल को अगुली पर लपेट गुदा मे रोज मालिस से बवासीर दूर।

परहेज—कोई भी गर्म चीज न खाये, लाल मिर्च, चाय, काफी, शराब, अण्डे, मीट, चावल, आलू, अरबी, तेल खटाई आदि।

पेट की सफाई के लिए हरी सब्जियों का प्रयोग। कुजल, न्योली, एनिमा अग्निसार उड्डियान बद।

३१ श्वेत कुष्ठ की दवा—अजीर के पत्तों की लुगदी सफेद स्थान पर ४० दिन बांधें, इसके बाद ४० दिन तक अजीर का दूध सफेद स्थान पर लगायें।

पीलिया का शर्तिया इलाज—मीठें कधार अनार का रस। प्याला भर लोहे के बर्तन में रात को छत पर रख दीजिये। प्रात उसमें मिश्री (कुजा) घोल लें। १५ दिन पीने से पीलिया बिल्कुल दूर। मूली कच्ची खाने से इसका रस पीने तथा पत्तो के खाने से भी एक हफ्ते में पीलिया दूर।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावों की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (१६)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

दृने दृ७ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

य० अ० ३६।म० १८॥

काव्यार्थ—हमारे कष्ट होवें नष्ट, प्रभु ऐसी कृपा कर दो।
मिटें सब बैर आपस के, सभी मे भावना भर दो॥

परस्पर प्रेम अरु सद्भाव भरदो मन-वचन-तन मे,
सर्वहित स्वार्थ निज छोडें, यही सबको शिवम् वर दो॥१॥

हमारे सत्य सुख शुभ गुण बढ़ें नित विश्व के स्वामी,
सभी को मित्रवत् समझें, हमे वह विशद अन्तर दो॥२॥

सकल जीवो के सुख-दुखो, व हानी-लाभ को समझें,
प्रभु हम आत्मवत्, ऐसा हृदय व्यापक समुन्दर दो॥३॥

रहें हम मित्रवत् सारे सदाचारी धरम-पालक
करें हम कर्म श्रेयस्कर, हमे सामर्थ्य ईश्वर दो॥४॥

क्रमश

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

(६) नवयुग निर्माण के सूत्र-संस्कार

उपरिलिखित विवरण से स्पष्ट हो चुका है कि मानव के निर्माण में संस्कारों का महत्व ही नहीं एक मात्र अपरिहार्यता होती है। इतना ही नहीं संस्कारो के द्वारा सम्पूर्ण युग को बदला जा सकता है। एक तथ्य दर्पण की भांति हमारे सामने उजागर हो रहा है। वह यह है कि जहां कहीं आतंक, डाका लूट बलात्कार तथा हत्या के अपराध होते हैं, वहा-वहा जो अपराधी पकडे जाते हैं उनकी आयु २० से ३० वष के मध्य ही होती है। क्या कभी हमने विचार किया है ऐसा क्यो है। ऐसा इसलिये है कि सम्पूर्ण देश या विश्व मे दूरदशन आकाशवाणी या चलचित्र प्रदर्शन होता है। यह सभी अधिकांशत अपराधजनक दृश्य ही प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास आदि लिखे जाते हैं वे भी अधिकाश अपराधपूर्ण कथानक प्रस्तुत करते हैं। अब तो सत्य कथाओ की भरमार हो रही है। बाल मन पर इन सबका प्रभाव पडना स्वाभाविक है।

यही नही ब्ल्यू फिल्म, डिश ऐण्टीना और न जाने कितने प्रकार से इन साधनो का विस्तार हो गया है। इन सबके द्वारा दिखाये जाने वाले दृश्यो का नव पीढी पर संस्कार पडता है और वह वैसी बनती चली जाती है, जिस माध्यम से पीढ़ी मे बिगाड़ आया है। उसी माध्यम से पीढियो को सुधारा भी जा सकता है। इसके लिये दो दशको की प्रतीक्षा करनी पड सकती है। जैसे हिटलर ने अपने अनुकूल अनुगामी बनाने के लिये बीस वर्ष मे नव पीढ़ी का रूपान्तरण कर दिया था आज भोग-विलास के चक्र मे पडकर हम अपना सर्वनाश करते चले जा रहे हैं।

कल, कारखाने, विज्ञान के आविष्कारो के उपहार बहुखण्डीय भवन, पंच सितारा होटल, बाध सेतु सभी कुछ निर्मित हो रहे हैं। विश्व विद्यालय, महाविद्यालय, केन्द्रीय विद्यालय आदि आदि स्थापित हो रहे हैं। किन्तु इनमे से धर्म निरपेक्षता की आड़ मे नैतिक शिक्षा और नैतिकता को तिरोहित किया जा रहा है। फलस्वरूप सब कुछ बन रहा है। किन्तु इन सबका उपभोग करने वाले मानव का निर्माण न होकर उसके स्थान पर अमानव पशु या राक्षस बनते जा रहे हैं।

बिना किसी भेदभाव के यदि हमे सच्चे मानव का निर्माण को वरियता देनी है तो संस्कार विधि का सहारा लेना पडता है। जिसमे १६ संस्कार के सोपान समाहित हैं इनमे से ३ संस्कार बालक के जन्मपूर्ण के हैं जिनको गर्भाधान, पुंसवन एव सीमन्तोन्नयन कहते हैं। जन्म के बाद समाज गमन से पूव ३ संस्कार सूचीबद्ध हैं—यथा जात कर्म, नामकरण, निष्क्रमण। विद्यालय जाने से पूर्व अन्नप्राशन, चूडाकर्म कर्णवेध संस्कार होते हैं।

विद्यालय से लौटकर गृहाशुभ प्रवेश से पूव ३ संस्कार किये जाते हैं जो उपनयन, वेदारम्भ और समवर्तन संस्कार कहलाते है। इसके उपरान्त युवा से वृद्धावस्था तक ४ संस्कार किये जाते हैं। जिन्हे विवाह (गृहाश्रम) वानप्रस्थ एव सन्यास संस्कार कहते हैं। इस प्रकार जीवन मे १५ संस्कार पूर्ण करने के बाद मृत्यु हो जाने पर अन्तेष्टि कार्य कर दिया जाता है।

नाम तो इसे भी १६वें संस्कार का ही दिया जाता है। क्योंकि इसमे भी मृतक की आत्मा की सद्गति के लिए प्रभु से प्रार्थना के साथ साथ उसके शव का ससम्मान अग्नि संस्कार किया जाता है और इस विधि मे उस मृतक से सम्बधित जीवात्मा का संस्कार भी आन्दोलित-प्रभावित होकर शुभ गति की ओर स्वयं प्रमाण करने लगते हैं। क्योकि इस समय जीवात्मा के अच्छे कार्य व गुण स्मृति पटल पर आने लगते हैं। आगे की पंक्तियों मे इन संस्कारो के सार भूत तथ्यो पर विचार किया जायेगा।

क्रमश

पाद टिप्पणी

श्री जयदेव आर्य

(५) नर्मदा का यह तट सामरिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण था और उत्तर भारत, महाराष्ट्र तथा दक्षिण का सन्धिस्थल होने के कारण क्रान्तिकारियों तथा अंग्रेजो, दोनों की दृष्टि का केन्द्र था। १८५८-५९ मे युद्ध की विफलता निश्चित हो जाने पर तात्या टोपे का लक्ष्य एक बार उस क्षेत्र मे पहुचना था अंग्रेज उसे वहां जाने से रोकने को चिन्तित थे (देखिए 'हमारा राजस्थान' मे तात्या के संघर्षों का वर्णन)। १८५७ की क्रान्ति का सन्देश दक्षिण तक समस्त देश में पहुचाने के लिए अनेक साधु तथा साधु वेशधारी गुप्तचर संलग्न थे - यह बात सर्वमान्य है ही। (देखिए सावरकर कृत '१८५७ के स्वातन्त्र्य समर' का 'गुप्त संगठन'।)

(६) और इसी समय मे दयानन्द ने दक्षिण मे गंगासागर और रामेश्वरम् तक की पदयात्रा की होगी, क्योकि, ऐसा अवसर उनके बाद के जीवन मे कभी नहीं आया। रामेश्वरम् तक पैदल घूमने की बात उन्होंने १८८० मे मेरठ मे अपने कुछ भक्तो को बताई थी, जो ऋषि के सभी जीवन चरित्रो मे अंकित है। अत ऐसे अशान्तिपूर्ण क्षेत्र मे घूमने का प्रयोजन क्रांतिकारी गतिविधियो मे भाग लेने के अतिरिक्त और क्या समझा जा सकता है, और विशेषकर तब जब वह उस समय की गतिविधियों के विषय मे मौन ही साधे रखना उचित समझते हैं। क्रांति के पूर्ण विफल हो जाने पर वह १८५९ के अन्त मे मथुरा पहुचते हैं।

(७) भारत के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जयचन्द विद्यालंकार का स्पष्ट मत है, कि स्वा० दयानन्द सरस्वती के १८५७ के स्वाधीनता युद्ध मे भाग लेने के यथेष्ट प्रमाण हैं, परन्तु ऋषि 'धोधोपन्त नाना के महल मे रहकर क्रांतियज्ञ का आयोजन करते रहे'—इस कथन के स्थान पर 'वह नाना साहिब से सम्पर्क स्थापित कर क्रांतिकार्य मे लगे रहे' ऐसा कहना चाहिए। (देखिए—सार्वदेशिक मासिक मार्च १९५१ पृ० ३३ पर सम्पादकीय वक्तव्य)।

क्रमश

हिन्दी के प्रयोग मे संकोच कैसा ?

(पृष्ठ २ का शेष)

हिन्दी भाषा का सम्मान हर हिन्दुस्तानी की शान है और डाक्टर सत्येन्द्र बोस ने भी तभी यह कहा था कि 'अपनी भाषा के बिना कोई भी राष्ट्र पगु है। पराई भाषा की बैसाखी उसे आगे बढाने में सदा असमर्थ रहती है" और फिर आज के बदलते परिवेश मे तो हिन्दी का प्रयोग विवशता नहीं आवश्यकता है।

इसलिये—हे भारत के मानवी भारतवासियो! आओ, कुछ होश करें, संकोच को त्यागें, क्योकि किसी काम मे कोई शर्म अथवा संकोच का औचित्य ही नही उसमे संकोच कैसा। अन्त मे मैं यही लिखना कहना व प्रचारित करना चाहूगा कि—

हिन्दी बोलें, लिखें पढें, हिन्दी का सम्मान करें
हिन्दी का मस्तक उन्नत कर, हिन्दी का गौरव गान करें,
हिन्द के हम और हिन्दी अपने राष्ट्र की राष्ट्र भाषा है,
सर्वप्रथम हम हिन्दुस्तानी, यह इसकी परिभाषा है,
जन गण मन को एक सूत्र मे, यही पिरोने वाली है,
अखिल विश्व को एक मच पर हिन्दी लाने वाली है।

आओ, संकोच त्यागो हिन्दी अपनाओ, मत शरमाओ, क्योकि हिन्दी हमारी मातृभाषा है हिन्दी देश की गंगा है। आओ, सब मिलकर पुकारें।

जय हिन्द-जय हिन्दी
जय भारत जय भारती
—हमारा अभियान-हिन्दी मे काम

आर्य विद्वानों, का सम्मान

(पृष्ठ १ का शेष)

सन्यासी व उपदेशको को सबसे ऊचा स्थान दिया जाना चाहिए । पुरोहितो को घर-घर सम्पर्क कर अपने यजमानो की सख्या बढ़ानी चाहिए । उपदेशको को यज्ञ के द्वारा आर्य जनो की श्रद्धा की भावना मे वृद्धि करनी चाहिए । उन्होने आगे कहा कि सगठन को विघटित करने का प्रयास करने वालो की निन्दा की जानी चाहिए । श्रीमती सावित्री शर्मा ने आर्य समाज के सत्सगो में कम होती उपस्थिति पर चिन्ता व्यक्त की और कहा कि नयी पीढ़ी को आकर्षित करने के उपाये अपनाने चाहिए ।

आचार्य हरिदेव जी ने कहा कि जिस प्रकार आर्य समाज के त्यागी तपस्वी व बलिदानी उपदेशको व विद्वानो ने तन, मन व धन की आहुतियां देकर वेद प्रचार कार्य को आगे बढाया है उसी प्रकार आज धर्माचार्यो व पुरोहितो को आर्य समाज की सेवा कर ऋषि ऋण से उऋण होने का प्रयास करना चाहिए ।

श्रीमती राजपाण्डे ने सुझाव दिया कि आर्य समाज के कार्यक्रमो से युवा वर्ग को किस प्रकार जोडा जाए इस सम्बन्ध मे अलग से ऐसी ही एक विचार गोष्ठी आयोजित की जाए ।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० धर्मपाल ने उदगार व्यक्त करते हुए कहा कि धर्माचार्यों व पुरोहितो के पद सम्मान व श्रद्धा के पद हैं और कुछ भी ऐसा नही करना चाहिए जिससे उनमे असुरक्षा की भावना पैदा हो । हमे सिद्धातों के अनुसार ही कार्य करना चाहिए तथा अधिकारियों की अलग से बैठक बुलानी चाहिए ।

इस अवसर पर निम्न प्रस्ताव पारित हुआ —

आर्यसमाज मे छद्मवेशधारी व विघटनकारी तत्वों से सावधान

दिल्ली की आर्य समाजो व आर्य सस्थाओ के धर्माचार्यों व आर्य विद्वानो, पुरोहितो, उपदेशको, भजनोपदेशको की यह सभा सर्वसम्मति से पारित प्रस्ताव द्वारा उन लोगो की कड़ी भर्त्सना करती है जो आर्य समाज जैसे पवित्र सगठन को बदनाम करने व तोडने के कुकृत्य कर रहे हैं तथा झूठी, मनगढन्त और बेबुनियाद बातो द्वारा आर्य समाज के सर्वोच्च सगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा एव इसके प्रधान के विरुद्ध आधारहीन, भ्रामक कुप्रचारकर रहे हैं । आगे यह भी पारित हुआ कि सगठन के हितो के विरुद्ध कार्य करने वाले ऐसे तत्वो से आर्य जन किसी भी प्रकार का सहयोग न करे तथा आयसमाज मे छद्मवेशधारी व विघटनकारी तत्वो से सावधान रहे । यह सभा आर्य समाज की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, जिसका कार्यालय महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली २ में स्थित है के पूज्य प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के नेतृत्व मे पूर्ण आस्था व विश्वास व्यक्त करती है और पूज्य स्वामी जी को ही जो इसके सर्वसम्मति से निर्वाचित प्रधान हैं, को इसका प्रधान मानती है ।"

श्री सूर्यदेव ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा कि आर्य समाज के सैद्धातिक पक्ष को मजबूत करने व त्याग भाव से कार्य करने के सम्बन्ध सौहादपूर्ण वातावरण मे जो आपने विचार प्रस्तुत किए, इसके लिए मेरी हार्दिक बधाई । सकारात्मक सुझावो पर चिन्तन कर हम उन्हे पूरा कराने का प्रयास करेंगे । हमे आर्य सिद्धातो से किसी भी कीमत पर समझौता नहीं करना चाहिए तथा राष्ट्र हित मे सगठन को सुदृढ़ करने के लिए हर प्रकार का सहयोग देते रहना चाहिए । ●

वार्षिकोत्सव सम्पन्न

नई दिल्ली, वैदिक धर्मार्थ चिकित्सालय, खिचड़ीपुर, दिल्ली का वार्षिकोत्सव २९ अगस्त को दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती की अध्यक्षता मे धमधाम से मनाया गया । आचार्य अभयदेव, गुरुकुल मुजफ्फनगर के ब्रह्मत्व मे यज्ञ हुआ जिसमे सैकड़ो श्रद्धालुओ ने भाग लिया । इस अवसर पर श्री चन्द्रपाल आर्य, प० नन्द लाल निर्भय, सिद्धान्त शास्त्री, महामन्त्री, वैदिक धर्म सेवा समिति, मेवात आदि ने अपने ओजस्वी व प्रेरक भजनोपदेशों द्वारा जनसमुदाय को सम्बोधित किया । शान्ति पाठ व प्रीतिभोज के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ ।

वेदालंकार के छात्रो के लिए छात्रवृत्तियां

आर्य विद्या सभा, गुरुकुल कागड़ी हरिद्वार के आर्य समाज, हनुमान रोड, नई दिल्ली में २१ अगस्त १९९३ को सम्पन्न हुए त्रैवार्षिक साधारण अधिवेशन मे यह निर्णय लिया गया है कि गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में वेदालकार कक्षा के प्रथम वर्ष मे प्रवेश लेने वाले छात्रो को ५००) की मासिक छात्रवृत्ति आर्य विद्या सभा की ओर से दी जायेगी । आर्य समाज के सिद्धातो में निष्ठा रखने वाले तथा वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार की भावना वाले तथा संस्कृत विषय लेकर इन्टरमीडिएट अथवा समकक्ष परीक्षा उच्च श्रेणी मे उत्तीर्ण छात्रो को यह छात्रवृत्ति दी जायेगी । ऐसे सुयोग्य छात्रों को वेदालकार करने के पश्चात समुचित वेतनमान में धर्माचार्य धर्मशिक्षक अथवा उपदेशक आदि पदो पर नियुक्त किया जायेगा । छात्रों की संख्या अधिक होने पर एक-एक इसी प्रकार की छात्रवृत्ति दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा की ओर से भी दी जायेगी ।

छात्रवृत्ति के लिए अर्हता प्राप्त छात्रों से निवेदन है कि वे अपने आवेदन पत्र आचार्य रामप्रसाद वेदालकार, अध्यक्ष वेद विभाग एव उपकुलपति, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के नाम भेजें तथा उनकी सस्तुति पर ही ये छात्रवृत्ति दी जायेगी ।

सूर्यदेव	प्रकाशवीर विद्यालकार	डा० धर्मपाल	प० महेन्द्र कुमार
प्रधान	मन्त्री	कुलपति एव	सहायक मुख्याधिष्ठाता
आर्य विद्या सभा	आर्य विद्या सभा	मुख्याधिष्ठाता	

गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार उ० प्र०

"सत्यार्थ प्रकाश"—पढ़ें, परीक्षाए वें व लाभान्वित हो

ऋषिवर दयानन्द ने हजारों आर्य व अनाष ग्रन्थो के अध्ययन के पश्चात मानव की सर्वा ङ्गीण उन्नति के लिए अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की रचना की थी। इस ग्रन्थ के पठन पाठन से जहा धर्म का सच्चा स्वरूप विदित होता है और नाना मतान्तरों की वेद विरुद्ध मा यताओ का पता लगत है यहा अन्ध विश्वासो से भी छूटने का सही रास्ता दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए दि्ल्ली को इस आर्य युवक परिषद (पजी) ने प्रतिवष की भाति इस वष भी २६ सितम्बर ९३ को अखिल भारतीय स्तर पर सत्यार्थ प्रकाश सम्बन्धी चार परीक्षाओ का आयोजन किया है परीक्षाए —सत्याथ रत्न स याथ भूषण सत्याथ विशारद व सत्याथ शास्त्री। यह आयोजन गत ३१ वष से किया जा रहा है।

आप से अनुरोध है कि इन परीक्षाओ मे अधि से अधिक सख्या मे परीक्षार्थियो को बैठाने की प्र रणा देकर नई पीढी का र ष्ट्रप्र मी धर्मावलम्बी और देश के सुयोग्य नागरिक बनने का अवस प्रदान कर।

बिस्तृत जानकारी के लिए सम्पक कर—

चमन लाल एम ए० सत्याथ प्रकाश परीक्षा मन्त्री
एच ६४ अशोक विहार दिल्ली ५२

सस्कृत ज्ञान यज्ञ का सफल सोल्लास समापन

नई दिल्ली। आय समाज साकेत मे ५ से १४ जुलाई १९९३ तक संस्कृत सम्भाषण शिविर का आयोजन किया गया। अखिल भारतीय सस्कृत प्रचार सभा के प्रधान प्रो० जयशकर जी ने प्रत्यक्ष पद्धति (डिमास्ट्रटिव टेक्नीक) पर आधारित इस शिविर मे प्रतिदिन २ घ टे प्रभाव पूण पाठयक्रम द्वारा मात्र दस दिन मे सस्कृत मे वार्त्तालाप और सम्भाषण की क्षमता का सृजन किया। समापन समारोह मे साकेत के प्रसिद्ध समाज सेवी श्री लखीराम कटारिया श्री कृष्णलाल वाही श्री अजु नदेव जी उपस्थित थे। श्री सत्यदेवशर्मा प्रधान आ यसमाज साकेत ने समारोह की अध्यक्षता की। मुख्य अतिथि श्री कृष्ण लाल कोहली ने सस्कृत दीप प्रज्जलित किया। प्रोफसर जयशकर झा ने कायवाही का सस्कृत म सुन्दर सचालन किया। श्री राजेन्द्र पाल मन्त्री आय समाज साकेत ने प्रथमबार सस्कृत मे स्वागत भाषण दिया। माता विद्यावती जी का भी प्रथम सस्कृत भाषण सुबोध और प्रभावशाली था। छ वर्षीय बालक नीरज ने सस्कृत मे श्रोताओ का अभिवादन और धन्यवाद करके सबको चमत्कत किया भविष्य मे इस प्रकार के उपयोगी शिविरो के आयोजन के लिए आर्य समाज साकेत से सम्पक किया जा सकता है

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R.N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 9-10 9-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसैन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश" साप्ताहिक १२ सितम्बर १९९३

महर्षि दयानन्द संस्कृत छात्रवृत्तियों

(पृष्ठ १ का शेष)

१ प्रथम वर्ष के विद्यार्थी के, उसकी पूर्व परीक्षा (अर्थात कक्षा-१२, विद्या-विनोद उत्तर-मध्यमा अथवा समकक्ष) में संस्कृत विषय मे न्यूनतम ८० प्रतिशत अक होने चाहियें।

२ विद्यार्थी के परिवार की वार्षिक आय ३६००० रुपयो से अधिक न हो।

३ यदि आवेदक ५ छात्र व ५ छात्राओ से अधिक होगे, तो लिखित परीक्षा आयोजित की जायेंगी।

४ द्वितीय एव तृतीय वष की छात्रवृत्तियो के लिए छात्रवृत्ति पाने वाले विद्यार्थियो की पूर्व परीक्षाओ मे प्राप्त योग्यता ही मुख्य आधार होगी।

५ आर्य समाज दीवानहाल दिल्ली की कार्यकारिणी-अन्तरग सभा का निर्णय अन्तिम तथा सर्वमान्य होगा।

इस प्रकार इस योजना के लागू होने से वर्ष १९९३ ९४ मे २४,००० रु अगले वष ४८,००० रु तथा तत्पश्चात प्रति वर्ष ७२,००० रु संस्कृत छात्रवृत्तियों के लिए व्यय किये जाते रहेंगे।

आर्य समाज दीवान हाल के युवा प्रधान श्री मूलचन्द गुप्त एव दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने दीवान हाल समाज के सदस्यो द्वारा रचनात्मक कार्यों के प्रति प्रदर्शित उदारता के लिए हार्दिक धन्यवाद व्यक्त किया। इस सदर्भ मे स वदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती, विधिवेत्ता श्री सोमनाथ मरवाह, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलपति डा० धर्मपाल ने अपने सन्देशो में आर्य समाज दीवानहाल द्वारा संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए दी जाने वाली इन छात्रवृत्तियों को दीवान के रचनात्मक कार्यों में सर्वोत्तम-कार्य की सज्ञा दी है और उन्होने यह आशा भी व्यक्त की कि भविष्य मे इसी प्रकार के अन्य रचनात्मक कार्य प्रारम्भ कर वैदिक साहित्य के पठन पाठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी जायेंगी।

समाज के प्रधान श्री मूलचन्द गुप्त ने दिल्ली विश्वविद्यालय व उसके अन्तर्गत सभी कालेजो तथा देश के आष पद्धति से शिक्षा प्रदान करने वाले सभी गुरुकुलों के प्राचार्यों आचार्यों से अनुरोध किया है कि वे अपने-अपने कालेजो गुरुकुलों के पात्र विद्यार्थियो के आवेदन पत्र वाछित विवरण व प्रमाणपत्रो सहित अग्रसारित कर १५ अक्तूबर, १९९३ तक मन्त्री, आय समाज, दीवान हाल, चादनी चौक (ल किले के सामने) दिल्ली ६ के पते पर भिजवाने की व्यवस्था कराकर देववाणी संस्कृत के प्रचार-प्रसार मे सहयोग प्रदान करें।

सेवा में--

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अंक ४६ | रविवार, २६ सितम्बर १९९३ | विक्रमी सम्वत् २०५० | दयानन्दाब्द १६९ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष ३१०१५०

ऐतिहासिक आर्यसमाज मन्दिर दीवान हाल मे विशाल जन सभा

हिन्दी को प्रतिष्ठा दिलाने में जेल जाने से भी पीछे नहीं रहूंगा

—ज्ञानी जैलसिंह

आर्यसमाज अंग्रेजी हटाने के हर आन्दोलन में अग्रणी भूमिका निभायेगा

—स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

नई दिल्ली १५ सितम्बर। "अंग्रेजी की अनिवार्यता को समाप्त करने और हिन्दी को उचित प्रतिष्ठा दिलाने के लिए यदि जेल जाने की भी नौबत आये तो मैं पीछे नहीं हटूंगा।" ये उद्गार पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने आज शाम चांदनी चौक के ऐतिहासिक दीवान हाल आर्य समाज मन्दिर मे एक विशाल जन सभा को सम्बोधित करते हुए व्यक्त किये। यह कार्यक्रम अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन के तत्वावधान में राजघाट पर दो दिवसीय धरने के बाद आयोजित किया गया था। इस समारोह का उद्घाटन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने किया।

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने कहा कि आर्य समाज अंग्रेजी की प्रभुता के विरुद्ध एक आन्दोलन चलायेगी। सभी दुकानदारो व अन्य प्रतिष्ठानो से अंग्रेजी के नामपट्ट हटाने के लिए अनुरोध किया जायेगा और फिर भी यदि ऐसा बोर्ड दिखायी दे तो उस पर काला रंग पोत दिया जायेगा। स्वामी जी ने आगे घोषणा की कि आर्य समाज भारतीय भाषाओ के प्रचार प्रसार के लिए हर आन्दोलन मे अग्रणी होकर काम करेगा।

कार्यक्रम मे पूर्व राष्ट्रपति ने देश के मतदाताओ से अपील की कि जो राजनेता राजकार्य एव शिक्षा मे अंग्रेजी की अनिवार्यता का समर्थन करते हैं, उन्हे अगले चुनाव मे हरा दें। केवल उन्हीं मतदाताओ का समर्थन किया जाए जो भारतीय भाषाओं के पक्के समर्थक हो। केवल उन्हे ही वोट दे जो भारतीय भाषाओ का सम्मान का वायदा करें। उन्होने कहा कि चुनाव मे नेता जब वोट मागने जाता है तो वह जनता की भाषा मे बात करता है, परन्तु सत्ता मे आते ही वह अंग्रेजी मे बोलने लगता है। जनता को इस प्रवृति के विरुद्ध जोरदार आवाज उठानी चाहिए।

श्री जैलसिंह ने भाषाओ की आजादी को स्वराज्य से जुड़ा हुआ प्रश्न बताया। उन्होने दुःख व्यक्त किया कि पब्लिक स्कूलों मे अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जा रही है। इससे हमारे बच्चे देवी देवताओ के शुद्ध नाम लेना तक भूल गये हैं और यह शिक्षा हमारी सस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर रही है।

पूर्व राष्ट्रपति ने कहा कि नेतागण कुर्सी पर आते ही भाषा के रथ (अंग्रेजी) पर सवार हो जाता है, जिसे ९० करोड़ की आबादी में २ प्रति से अधिक लोग नही समझते हैं परन्तु अब वे दिन लद गए जब इस दो प्रतिशित की भाषा (अंग्रेजी) को ९८ प्रतिशत पर लाद दिया जाए।

ज्ञानी जैल सिंह ने कहा कि यदि आजादी के तुरन्त बाद ही महात्मा गाधी की सलाह मान कर हिन्दी को पूरी तरह से सरकारी काम काज की भाषा बना दिया जाता तो आज यह कठिन स्थिति पैदा न होती।

श्री ज्ञानी जी ने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि अपनी शान व कीमत बढ़ाने के लिए हम अपने बच्चों पर जुल्म कर रहे हैं जो क्षमायोग्य नहीं है क्योकि शिक्षा व नौकरी में अंग्रेजी की अनिवार्यता जारी है।

समारोह की अध्यक्षता अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन के अध्यक्ष श्री जगदीश वैदिक ने की और सभा का सचालन लब्ध प्रतिष्ठ पत्रकार डा० वेद प्रताप वैदिक ने किया। श्री वैदिक ने कहा कि अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन को हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि सभी समुदायों एव सभी राजनैतिक दलो का समर्थन प्राप्त है।

९२ वर्षीय वयोवृद्ध पत्रकार श्री युगल किशोर चतुर्वेदी ने 'करो या मरो' की भावना से अंग्रेजी का वर्चस्व समाप्त करने के लिए एक आन्दोलन चलाने की भावना लाने की अपील की।

भाजपा के नेता श्री केदार नाथ साहनी ने कहा कि जिस दिन यूनियन जैक उतरा था उसी दिन भारतीय भाषाओ का ध्वज बुलन्द हो जाना चाहिए था। आजादी प्राप्त करने के बाद भी मानसिक रूप से हम आज गुलाम हैं। हमे अपनी सस्कृति बचाने के लिए हिन्दी को उचित महत्व देना होगा।

पूर्व सूचना मन्त्री श्री एच०के०एल० भगत ने कहा कि वे अंग्रेजी की अनिवार्यता समाप्त करने का समर्थन करते हैं तथा अंग्रेजी को ऐच्छिक विषय के रूप मे पढ़ाया जाना चाहिए। हिन्दी आम जनता की भाषा है और इसे अधिक दिनो तक दबा कर नही रखा जा सकता है।

बिहार के कृषि मन्त्री श्री रामजीवन सिंह ने कहा कि भारतीय भाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाए बिना विज्ञान व प्रौद्योगिकी का पूर्ण विकास सम्भव नही है। अंग्रेजी को आज तकनीकी शिक्षा के लिए अनिवार्य बताया जाता है परन्तु हमारे देश मे तो आर्यभट्ट जैसे वैज्ञानिक तब पैदा हुए थे जब अंग्रेजी का नामो निशान भी नही था। उन्होने कहा कि सम्पर्क के लिए अंग्रेजी की अनिवार्यता का तर्क भी अर्थहीन है क्योकि ह्वेन साग व कोलम्बस जैसे लोगो ने तो विश्व के अनेक देशो का भ्रमण अंग्रेजी को बिना जाने किया था। इसी प्रकार बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अंग्रेजी की जरूरत नही पड़ी।

इस अवसर पर लखनऊ के पूर्व महापौर श्री दाऊजी गुप्त, बिहार के मन्त्री श्री विजयकृष्ण आदि ने भी सभा को सम्बोधित किया।

मन्त्री, राजनैतिज्ञ, व अधिकारी अपनी भाषा में बोले व काम करे

—राव

नई दिल्ली, १७ सितम्बर। प्रधान मन्त्री श्री पी०वी० नरसिंह राव ने कहा कि हिन्दी एव भारतीय भाषाओ के विकास के लिए मन्त्रियो, राजनीतिज्ञो व अधिकारियो को अपनी भाषा मे काम करने व बोलने की अधिकाधिक आदत डालनी चाहिए। उन्होने स्वीकारा कि अफसरशाही के कारण ही आज हिन्दी व भारतीय

(शेष पृष्ठ ८ पर)

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव | सहसम्पादक – विमलकान्त शर्मा

हिन्दी की स्थापना के लिए सोच में बदलाव जरूरी

डा० नारायण दत्त पालीवाल

देश को स्वतन्त्र हुए ४६ साल हो जाने के बाद भी हिन्दी एव अन्य भारतीय भाषाओ के मामले मे पता नहीं हमारी सोच क्या हो गयी है ? आज भी अग्रेजी का वर्चस्व ज्यो का त्यों बने होने के बावजूद हम अपनी ही भाषाओं के प्रति उदासीन बने हुए हैं। केवल २ प्रतिशत अग्रेजीपरस्तो का देश की ६८ प्रतिशत जनता पर भाषायी अधिपत्य नजर आता है। हिन्दी बेचारी एक प्रकार से षड्यन्त्र का शिकार हो गयी है। कहने को हिन्दी राजभाषा भी कहलाती है। एक समय था जब हिन्दी जनमानस के सवाद, परस्पर आदान प्रदान एव अभिव्यक्ति का माध्यम थी। हमारी सास्कृतिक विरासत की सहवाहिका के रूप में हिन्दी सदैव परस्पर जोडने वाली भाषा व एकता की कडी रही है।

इसलिए हिन्दी से जुड़ा हुआ प्रश्न हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान, हमारी पहचान और अस्मिता से जुडा हुआ है। देश मे अपनी सरकार है। अपना सविधान है। हमारे संविधान की व्यवस्था, नियमो अधिनिमो, अधिसूचनाओं, संकल्पों और आदेशों के द्वारा हिन्दी राजभाषा घोषित की गयी है। परन्तु व्यवहार मे अग्रेजी का ही बोलबाला होता है। उसी के प्रयोग में हमें गौरव का अनुभव होता है। भारतीय भाषाओ के महत्व को और अपने भाषायी स्वाभिमान को हम ताक पर रख बैठे हैं। इस स्थिति के लिए हम सभी उत्तरदायी हैं। आज स्थिति यह है कि प्रशासनिक क्षेत्र हो या अध्ययन अध्यापन का क्षेत्र, न्यायिक मामले हो, या जन-सामान्य के कार्य अग्रेजी के के बिना हमारा काम ही नही चलता। डाक्टरी, इजीनियरी, वाणिज्य-व्यवसाय, निजी कारोबार व्यापार और पारस्परिक आदान-प्रदान के क्षेत्र में सर्वत्र अग्रेजी की ही पूजा होती है। अपनी भाषाओ के प्रयोग के मामले मे हम वाणीविहीन से प्रतीत होते हैं। इस मानसिकता से उबरने के लिए पहल कौन करे ? हम सब परिस्थितिजन्य विवशताओ से ग्रस्त हैं। राजनीतिक स्तर पर सत्ता, कुर्सी और वोट की विवशता है प्रशासनिक स्तर पर अधिकार और वर्चस्व व उच्च अधिकारियो की प्रतिष्ठा का झूठा मोह बाधक है। अदालतो में कानूनो की भाषा की उलझन के साथ-साथ वकीलो की व्यावसायिक मजबूरी है जहा अग्रेजी का रौब सीधे उनकी आय से जुडा हुआ है।

अध्ययन-अध्यापन का क्षत्र सीध रोजगार से सम्बद्ध है। अत अभिभावको का अग्रेजी मोह बच्चो को पब्लिक स्कूलो की सस्कृति से जोडने के लिए विवश है। प्रतियोगी परीक्षाओ मे अग्रेजी की अनिवार्यता ने ऐसा वातावरण बना दिया है कि भारतीय भाषाए स्वय उपेक्षित हो गयी हैं। यह अनिवार्यता केवल २ प्रतिशत लोगो को लाभ पहुचाने का षडयन्त्र है। लगभग ७५ प्रतिशत ग्रामीण जनता के लिए अग्रेजी क अध्ययन अध्यापन की जैसी व्यवस्था है उसे सभी जानते हैं। फिर भी हम समान अवसरो का दावा करते हैं। ज्ञान विज्ञान एव तकनीकी उन्नति की दुहाई देकर विश्व के साथ वैज्ञानिक उन्नति की दौड का बहाना लेकर हम कृषि चिकित्सा इजीनियरिंग औद्योगिक एव वाणिज्य व्यवसाय क क्षत्र मे भी अग्रेजो की पतवार क सारे ही ...नार लगान की मानसिकता अपनाते हुए क्षेत्र मे हमारी सोच इतनी पगु हो गयी है कि हमारे लिए अग्रेजो की बैसाखी के बिना आगे बढना कठिन हो गया है।

देश मे लगभग ४२ प्रतिशत लोगो की मातृभाषा हिन्दी है। लगभग ६० प्रतिशत लोग इसे पढ लिख और बोल सकते हैं। मामूली ज्ञान रखन वालो की सख्या लगभग १५ से २० प्रतिशत होगी। हा दक्षिण और पूर्व म कुछ कठिनाई है। परन्तु देखा जाए तो वहा भी हिन्दी का विरोध नहीं है।

हमारी परम्परा तो यह रही है कि हिन्दी के अखिल भारतीय स्वरूप को समृद्ध करने मे उन लोगो ने अधिक योगदान किया है जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। आज यह प्रश्न विचारणीय है कि हम हिन्दी भाषी लोग और स्वय हिन्दी भाषी राज्य अग्रेजी से क्यो चिपके हैं। बिहार में ८० प्रतिशत राजस्थान मे ९१ प्रतिशत मध्य प्रदेश मे ८४ प्रतिशत हरियाणा मे ८९ प्रतिशत, उत्तर प्रदेश मे ९३ प्रतिशत दिल्ली मे ७६ प्रतिशत और चण्डीगढ में ५७ प्रतिशत हिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी की उपेक्षा क्यो ? यदि इन क्षेत्रो मे ही हिन्दी सरकारी काम काज तथा अन्य क्षेत्रो मे अपना ली जाए तो देश के बडे भू भाग मे हिन्दी स्थापित हो जाएगी।

उक्त राज्यो मे से कई ने अलग-अलग सरकारो के समय कई बार हिन्दी मे ही काम करने की घोषणाए की है। परन्तु यह सब पहलू का राजनीतिक रग ही सिद्ध हुआ है। यदि ये राज्य मात्र घोषणा के स्थान पर हिन्दी को ईमानदारी के साथ कार्य व्यवहार की भाषा बना दें तो हिन्दी जन जन के द्वार तक पहुचेगी, सरकार और जन-सामान्य के बीच प्रशासनिक तथा न्यायिक मामलो, सरकार की आर्थिक सामाजिक नीतियों और विकास योजनाओं के कार्यान्वयन के साथ-साथ पठन पाठन, अध्ययन अध्यापन एव पारस्परिक आदान प्रदान सवाद और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में हिन्दी का वर्चस्व बढ़ेगा। इससे राष्ट्रीय चेतना के विकास तथा जन-तात्रिक मूल्यो की स्थापना भी हमारी भाषायी संस्कृति परम्परा एव सोच के अनुकूल होगी। इससे हिन्दीतर क्षेत्रो को और भी अधिक प्रेरणा मिलेगी जो हिन्दी की सेवा और प्रचार प्रसार के कार्य मे हमसे अधिक जागरूक हैं।

आज स्थिति यह है कि प्रशासनिक क्षेत्र हो या अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र, न्यायिक मामले हो, या जनसामान्य के कार्य अंग्रेजी के बिना हमारा काम ही नहीं चलता। डाक्टरी, इंजीनियरी वाणिज्य-व्यवसाय, निजी कारोबार, व्यापार और पारस्परिक आदान-प्रदान के क्षेत्र मे सर्वत्र अंग्रेजी की ही पूजा होती है।

हिन्दी के प्रचार प्रसार के लिए करोड़ो रुपये खर्च किये जा रहे हैं। कई योजनाए बनायी गयी हैं। मत्रालयों में हिन्दी अनुभाग स्थापित किये हैं। शब्दावली निर्धारित की गयी है। चरणबद्ध कार्यक्रम बनाये गये हैं। अनेक प्रकार की सस्थाए हैं। सरकारी साहित्य का रूपातर किया गया है। सलाहकार समितिया हैं। परन्तु अभी तक केवल सतही सफलता मिली है। हिन्दी प्रशासिक क्षेत्रों और सरकारी क्षेत्रों मे केवल अनुवाद की भाषा बनकर रह गयी हैं। हिन्दी कक्षो एव हिन्दी के कार्य से सम्बद्ध अधिकारियो व कर्मचारियो का ही उत्तरदायित्व न हो तब तक हिन्दी का केवल अनुवादी स्वरूप ही सामने रहेगा। इससे छुटकारा पाकर मूल रूप से हिन्दी को आधुनिक रूप देने की आवश्यकता है। आज अग्रेजी के कारण केवल हिन्दी पिछड़ रही हैं। राज्यो मे भी अपनी भाषाओ मे काम नहीं हो रहा है।

हिन्दी को पूरी तरह अपनाने की दिशा मे हमे कभी इसे सक्षम बनाने का बहाना कभी लम्बे समय से चली आ रही परिपाटी को धीरे-धीरे बदलने की बात, कभी अल्पसख्यको की कठिनाई, कभी दक्षिण और पूर्वी क्षेत्रो से सम्पर्क की बात, कभी कानूनी तकनीकी वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र की बात, कभी माध्यम परिवतन से सम्बद्ध कठिनाई का बहाना असमजस की स्थिति मे डाले हुए है। हमारी भाषाए इस देश की माटी से और सस्कृत की सुगध से जुड़ी हैं। हमारी सोच में भारत और भारतीयता के प्रति सम्मान की भावना जुड़नी चाहिए। अत हिन्दी के लिए न आदेश निर्देश की आवश्यकता है न उपदेसको की। आवश्यकता है इसे मन से जोडने की। अब समय आ गया है जबकि भारतीय भाषाओ की बडी बड़ी गद्दियो पर आसीन पीठो पर विराजमान तथा मठाधीशो संस्कृत मे विश्वास रखने वाले महानुभाव गिरिवरो गठबन्धनो और पुरस्कारो की होड़ वाली सस्कृति से ऊपर उठकर हिन्दी और भारतीय भाषाओ के लिए उनके गौरव की रक्षा करने मे सक्रिय एवं उपयोगी भूमिका निभाए राजनीतिक कणधारो को भी चाहिए कि वे शासन-सत्ता के सकीर्ण गलियारे से निकलकर राष्ट्रीय सोच की दिशा बदलने मे सहायक हो। भारतीय भाषाओ का सम्मान देश के गौरव की रक्षा करना है। आइए, अपनी सोच को एक नवीन भाषायी सस्कृति के विकास के लिए नयी दिशा दें।

जीवात्मा के अस्तित्व में प्रमाण

श्रीमती देवी शास्त्री वेदाचार्य एम. ए.

आज हम अपने अस्तित्व के प्रमाण अर्थात जीवात्मा के अस्तित्व के विषय पर कुछ लिखना चाहते हैं यह तो सबको अच्छी प्रकार विदित है ही कि ससार में दो प्रकार की सृष्टि है एक जड तथा दूसरी चेतन, ऐसा कोई भी मनुष्य न होगा जो चेतन को न मानता हो अब विवाद इस बात का है कि चेतन शक्ति जड तत्वों के सयोग शक्ति से बनी उत्पन्न होती है या वह एक भिन्न शक्ति है यदि हम मान लें कि यह शक्ति तत्वो से भिन्न उत्पन्न होती है अथवा यह शक्ति भिन्न तत्वो मे से या सयोग से उत्पन्न होती है यदि यह मान लें कि भिन्न तत्वो मे है तो उस दशा में कोई भी वस्तु जड नही हो सकती क्योकि चेतन तत्व का गुण हो गया यदि यह कहा जाये कि मूल भूतो मे तो उनमे यह शक्ति नहीं परन्तु संयोग से उत्पन्न होती है, तो उस दशा में अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पडेगी जो सर्वांश मे असम्भव तथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है महात्मा कपिल जी भी साख्य शास्त्र मे लिखते हैं कि—

"न भूता चैतन्य प्रत्येका दृष्टे साहत्येऽपि च साहत्येऽपिच । सा० ५।१२९

अर्थ—अलग अलग भूतो में चेतनता नहीं देखते इसलिए उनके मिलाप से चेतनता उत्पन्न नहीं हो सकती और सयोग से चेतनता हो नहीं सकती। महात्मा कपिल जी इस पर एक और प्रमाण देते हैं।

अस्त्यात्मा नास्तित्व साधना भावात् ।। सा० ६ । ५

मैं समझती हूँ कि इस प्रकार समय अनुभव होने से आत्मा का होना तो अच्छी प्रकार विदित होता है और उसके अनास्तित्व करने के लिए साधक प्रमाणो का अभाव विदित होता है इसलिए आत्मा का होना सत्य है।

'देहादि व्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् सा० ६ १

वह आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न धर्म वाले हैं शरीर परिणामी है और आत्मा अपरिणामी है यह अनुमान और शास्त्रो के प्रमाणो से भी सिद्ध है। और आत्मा का अपरिणामी होना तो सदैव जावे हुए विषय का ज्ञाता होने से विदित होता है जिस प्रकार आख का विषय रूप है शब्द नहीं। इसी प्रकार पुरुष का विषय बुद्धि की वृत्ति को साक्षात करता है।

'षष्ठी व्यपदेशादपि" सा० ६ । ३ ।।

और इस मन से भी कि यह मेरा शरीर है और यह मेरी बुद्धि है मेरा मन कहीं गया हुआ था विदित होता है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शरीर यह सब भिन्न भिन्न वस्तुए हैं।

महात्मा कपिल जी ने इस बात का प्रमाण दिया है कि यदि चेतन तत्व का गुण है तो कभी सुषुप्ति और मरण का होना सिद्ध न होगा क्योंकि गुण कभी अपने गुणी से भिन्न नहीं हो सकता महात्मा गौतम ने भी बहुत सी युक्तिया दी हैं कि आत्मा है।

"दर्शन स्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात् ॥ न्याय द० ३ । १ । १

जिस वस्तु को आख से देखा उसको स्पर्श अर्थात त्वचा से स्पश किया कहते हैं कि जिसको मैंने आखो से देखा था उसको स्पश करके देख लिया इससे विदित होता है कि इन्द्रियो के विषयो को मानने वाला जीवात्मा है।

तद् व्यवस्थाना देवात्म सद्भावाद प्रतिषेध । न्याय० ३। १। ३

यदि एक इन्द्रिय सम्पूर्ण विषयो का ज्ञान कराने वाली होती तो इस विषय में चेतन जीवात्मा की आवश्यकता न होती परन्तु जब एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषयों का अनुभव नहीं करती तो किस प्रकार एक के ज्ञान का दूसरे को बोध हो सकता है इसलिए सम्पूर्ण विषयो के ग्रहण करने वाला जीवात्मा अवश्य है। इन्द्रियो का अपने नियत विषय को छोड़कर दूसरे का काम न करना ही इसका प्रमाण है।

अब यह बात विचारणीय है कि देहादि सघात से भिन्न जो आत्मा सिद्ध हुआ है वह नित्य है या अनित्य विद्यमान वस्तु नित्य या अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है आत्मा की सत्ता सिद्ध होने पर भी वह नित्य अथवा अनित्य यह सन्देह अवशिष्ट रहता है। देह से पृथक होने से पहले आत्मा की स्थिति, जिन हेतुओ से उसे सिद्ध किया उन्हीं से सिद्ध हो गई। अब देह के नष्ट होने पर भी आत्मा विद्यमान रहती है पहले अभ्यास की स्मृति के लगाव से उत्पन्न हुए को हर्ष, भय शोक की प्राप्ति होने से आत्मा नित्य है।

उपरियुक्त युक्तियो से जीव का शरीर से भिन्न और अभौतिक होना अच्छी प्रकार ज्ञात होता है मृत्यु और निद्रा का होना इस बात को सिद्ध करता है कि शरीर से आत्मा भिन्न हैं क्योकि यदि शरीर को चेतन मानें तो भूतो का कार्य होने से उसके कारण को चेतन मानना पडेगा और भूतो के चेतन होने से घट, पट आदि सब चेतन हो जायेंगे इस समय जड और चेतन का भेद सर्वांश मे नहीं रहेगा क्योकि अब तो जड को भोज्य और चेतन को भोक्ता माना जाता है और फिर ज्ञेय और ज्ञाता का ज्ञान भी नहीं रहेगा क्योकि सब ही चेतन है और चेतन द्रष्टा होता — दृश्य नहीं होता है। अत सभी प्रमाणो से सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है।

कैलाशनाथ सिंह, अग्निवेश, इन्द्रवेश के तथाकथित संगठन विरोधी षडयन्त्रों की भर्त्सना

आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली का प्रस्ताव

दिनाक ४-९-१९९३

आज आर्यसमाज दीवानहाल दिल्ली मे आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के अन्तरग सदस्यों, प्रतिष्ठित सदस्यो, आर्य समाजों, स्त्री आर्य समाजो तथा गुरुकुलो के अधिकारियो, आर्य विद्वानो, उपदेशकों की एक विशेष बैठक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली की ओर से की गई। बैठक की अध्यक्षता आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान श्री सूर्यदेव जी ने की। बैठक मे निम्न प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।

प्रस्ताव

आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के कार्यकारिणी सदस्यो,आर्य समाजो व शिक्षण सस्थाओ के अधिकारियो, विद्वानो तथा उपदेशको की यह बैठक सर्वसम्मति से श्री कैलाशनाथसिंह, स्वामी इन्द्रवेश और अग्निवेश और उनके तथाकथित साथियो द्वारा आर्य समाज के सगठन को छिन्न-भिन्न करने की कोशिश की कडी निन्दा करती है। उन्होंने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का चुनाव करने और उसके प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती को हटाकर श्री कैलाशनाथसिह को प्रधान चुने जाने की मिथ्या घोषणा करके निन्दनीय कार्य किया है। आर्य समाज से वर्षों पूर्व भ्रष्टाचार के आरोपो मे निष्कासित इस प्रकार के स्वार्थी लोगो की किसी भी प्रकार के प्रयास की सम्पूर्ण आर्य जगत द्वारा कडी भर्त्सना की जावे। यह सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा जो एक रजिस्टर्ड सस्था है और पूर्ण रूप से वैधानिक है तथा उसके वर्तमान प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के प्रति पूर्ण निष्ठा प्रकट करती है।

[सूयदेव
प्रधान

आदर्श त्रैतवाद (४४)

राजसिंह भल्ला

सारे बन्धन कट जाते है

यदा आत्म तत्वेन तु ब्रह्म तत्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत् ।
अज ध्रुव सर्वतत्त्वै विशुद्ध, ज्ञात्वा देव मुच्यते सवपाशै ॥

श्वेता २-१५

जब साधक साधना की स्थिति मे दीप की उपमा से—जैसे दीपक से अन्य पदाथ देखे जाते है ऐसे आत्म तत्व से—अपने आत्मा से परमात्मा को साधक देखता है तब अजन्मा, निश्चल, सर्व तत्वो से शुद्ध—परम पतिम देव को जान कर उपासक सब बन्धनो से मुक्त हो जाता है। जब अपनी आत्मा से परमात्मा के दर्शन होते हैं तो सारे बन्धन टूट जाते हैं।

उसे जानकर बन्धनो से मुक्ति

घृतात्पर मण्डमिवाति सूक्ष्म ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैक परिवेष्टितारे ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशे ॥

श्वेता ४-१६

घृत से अति सूक्ष्म, मण्ड की भान्ति—रस सार की भान्ति अति सूक्ष्म सर्व भूतो मे गूढ शिव को जानकर तथा विश्व के अद्वितीय नियन्ता देव को जानकर उपासक सब बन्धनो से छूट जाता है। भगवान की सूक्ष्मतम सत्ता का और सर्वशक्ति मत्ता का ज्ञान हो जाने से कर्मों को सारे पाश कर जाते है। यहा मण्ड उस तत्व के लिये आया है जो सब रसो मे सार रूप है। तत्व रूप मे विद्यमान रहता है।

मृत्यु से छुटकारा

य एव काले भुवनस्य गोप्ता, विश्वाधिप सवभूतेषु गूढ ।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मषयो देवताश्च, तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशाश्छिनति ॥

श्वेता ४-१५

जो भगवान समय मे—सर्वकाल मे जगत का रक्षक है, विश्व का रक्षक है जगत का ईश्वर है। सर्व प्राणियो में गूढ है—अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है और जिसमें ब्रह्मऋषि तथा देवता प्रेमयोग से युक्त हैं। उसको ही जानकर उपासक मृत्यु के बन्धन का छेदन कर देता है। अमर हो जाता है आवागमन के चक्र से छूट जाता है।

भक्ति का फल

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा, सदा जनाना हृदये सन्निविष्ट ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एत द्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

श्वेता ४ १७

वह देव ही जगत के रचने वाला है महान आत्मा है और सदा जनो के हृदय मे प्रविष्ट है—विद्यमान है। यह भगवान हृदय से श्रद्धा से, बुद्धि से और मन से प्राप्त है। ईश्वर श्रद्धा, बुद्धि और मनन से प्राप्त होता है। जो उपासक जन इस भगवान को जानते हैं वे अमृत (अमर) हो जाते हैं।

उसे जानकर बन्धनो से मुक्ति

अनाद्यनन्त कलिलस्य मध्ये, विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ॥

श्वेता० ५ १३

ससार के बीच अनादि अनन्त विश्व के रचयिता, अनेक रूप विश्व मे ओत प्रोत देव, भगवान को जानकर उपासक सारे बन्धनो से मुक्त हो जाता है।

उसे जानकर अमर हो जाते है

भावग्राह्यमनीडाख्य भावाभावकर शिवम् ।
कलासर्गकर देवे ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ श्वेता० ५-१४

भावना से गृहण करने योग्य, अशरीर उत्पत्ति प्रलय के कर्ता कलाओ के रचने वाले मगलस्वरूप देव को जो उपासक जानते हैं वे तन को त्याग देते है। वे अमर हो जाते हैं।

क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (१४)

नेतराम शर्मा, प्रधान—भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला, दिल्ली-११००५१

४२ वीर्य स्तम्भन की दवा—आम की मजरी (बौर) को छाया में सुखा कर उसका चूर्ण ३ ग्राम फाकें और ऊपर से दूध पी लें। इससे वीर्य गाढा हो जायेगा, काम शक्ति बढेगी तथा स्तम्भन होगा।

४३ सुजाक की दवा—आम के वृक्ष के छिलके का रस ५० ग्राम, चूने का पानी ४० ग्राम। इसे मिला कर एक दो चम्मच प्रात साय पीजिए। ऊपर से ताजा दूध पीजिए। रोग दूर होगा।

४४ पका कलमी आम या अन्य तथा मेगो शेक, खून बनाने वाला, थकावट दूर करने वाला घाव जल्दी भरने वाला, मास बढाने वाला, बल दायक तपेदिक को दूर करने वाला है लेकिन शुगर वालो को हानिकारक है।

केला

४५ खासी की अचूक दवा—केले का शर्बत खासी दूर करने की अच्छी दवा है। अमेरिका मे खासी के लिए इसे सबसे अच्छा उपाय समझा जाता है।

४६ पेचिस का इलाज—दो पके केले लेकर उसके गूदे गुड नमक या दही मिलाकर खाने से दो दिन मे पेचिस दूर हो जाती है।

४७ श्वास (दमे) का इलाज—बिना छिलका उतारे कम पके केले में चाकू से गढा बना लें। उस गढे मे जरा सा नमक तथा काली मिर्च का चूर्ण भर कर उसे रात भर चादनी मे पडा रहने दें। सवेरे उस केले को आग पर भून कर खाने से दमे मे आराम पहुचता है।

४८ प्रदर रोग का इलाज—प्रतिदिन सवेरे शाम। केला ५ ग्राम शुद्ध घी के साथ खायें। ५-६ दिन प्रदर रोग दूर हो जायेगा।

४९ आग से जलने का उपाय—जो स्थान आग से जल गया हो, उस पर केले का गूदा फेंट कर कपडे के टुकडे पर मरहम की तरह बिछा कर चिपका दें। फौरन ठडक पड जायेगी।

५० बहु मूत्र का इलाज—केला पका हुआ। बदद बिदारी कद चूर्ण २ ग्राम, शतावरी चूण २ ग्राम, इन्हें खाकर ऊपर से दूध पी लें दो दिन मे बहुमूत्र ठीक हो जायेगा।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (१८)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता ।
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ अथर्व० का० १२।अनु० ५।म० १, २

काव्यार्थ—ईश्वर ने पुरुषार्थ धर्मपालन हित वेद-विधान किया।
ज्ञानवान बन ज्ञानवृद्धि का मानव को आह्वान किया ॥
ब्रह्म, वेद अरु सत्य धर्म आचरण करें सारे मानव।
शुभगुण-मण्डित हो प्रभु भगती का आचमन करें आसव।
अष्ट प्रमाणो से सच की सब, करें परीक्षा पुनि नव नव।
तदनुरूप व्यवहार करें तो, मिले विश्व का सब वैभव।
सतोषी, श्रद्धावानो को, सुख का सब सामान दिया ॥१॥
सीता सौम्यता शान्ति और श्री का सब पहनें आभूषण।
कीर्ति तेज यश की सौरभ से, होय सुगन्धित जग पूरण।
द्वेष ईर्ष्या परपीडन के, सारे मिट जायें दूषण।
सत्य अहिंसा त्यागभाव का, उदय हृदय में हो पूषण।
हे भगवान! दास को तूने, निज-यशगान प्रदान किया ॥२॥

क्रमश

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

ऐतरेय उपनिषद ने स्पष्ट किया है कि जीवात्मा पहले पिता के शरीर मे प्रवेश करता है फिर माता के गर्भ मे। दम्पत्ति कैसी सन्तान चाहते हैं। उसका लक्ष्य उन्हें निर्धारित करना चाहिए। एक सन्त किसी परिवार में अतिथि के रूप मे ठहरे हुए थे। अन्दर दम्पति मे विवाद चल रहा था कि हम अपने पुत्र को अभियन्ता बनायेंगे—पत्नी कह रही थी कि हम अपने पुत्र को डाक्टर बनायेंगे। देर तक विवाद जब शान्त नहीं हुआ, तो सन्त ने पति पत्नी दोनो को अपने पास बुलाया और कहा आप लोग जिसे इंजीनियर अथवा डाक्टर बनाना चाहते हैं, जरा उस पुत्र को बुला पूछ तो लीजिए कि वह क्या चाहता है। दोनो ने एक स्वर मे उत्तर दिया, अभी तो उसका जन्म ही नही हुआ है। बात हसी की लगती है, किन्तु यह वास्तविकता है कि हम कैसी सन्तान चाहते हैं। उसका न केवल लक्ष्य निर्धारण करते हैं। प्रत्युत गर्भाधान से पूर्व ही उसका पर्यावरण भी विनिर्मित करते हैं। खान पान, रहन सहन, सोच विचार सभी कुछ उसी के अनुरूप करना होता है। इसके लिए नया कुछ भी नहीं करना पड़ता है प्रत्युत निर्धन एव धनी सभी अपनी स्थिति के अनुरूप जैसा पहले करते हैं—उसी को अपने लक्ष्य के अनुसार व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है।

गर्भाधान सस्कार का महत्व—इस सस्कार के द्वारा न केवल मन वांछित मानव कर्म का निर्माण किया जा सकता है, प्रत्युत पीढियो को भी बदला जा सकता है। आज कुसस्कार जो गर्भकाल से ही माताओ के माध्यम से फिर जन्मकाल से परिवार समाज के माध्यम से बालको को दिए जाते हैं—वे अश्लील जासूसी उपन्यास, सत्य-कथा चलचित्र दूरदर्शन के फूहड़ दृश्य एव विज्ञापनो की देन है उन्ही के वशीभूत नई सन्तति का निर्माण होता है। आज सडक मोटर रेलगाडी तथा अन्य स्थानो पर जो अपहरण, बलात्कार, हत्या, लूट, डकैती के समाचार सुनने को मिलते हैं, उनमे अधिकाशत २० से ३० वर्ष की आयु के नवयुवा सम्मिलित पाये जाते हैं। वे ऐसे क्यो बने—इस अवधि मे उनको दिए गए कुसस्कारो के कारण वे ऐसे बन गए। यदि किन्ही कुसस्कारो को योजनाबद्ध विधि से सुसस्कारो मे बदल दिया जाय, तो इन कुपुत्रो का स्थान सुपुत्र ले सकते हैं। यह पीढी श्रेष्ठ और सुन्दर हो सकती है।

सम्पूर्ण वातावरण का प्रभाव माता के मन व मस्तिष्क पर पडता है और माता के शरीर मन और मस्तिष्क का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर निश्चित रूपेण पडता है। अष्टावक्र के विषय मे प्रसिद्ध है कि उन्होने गर्भ स्थिति मे ही वेदान्त को जान लिया था। रानी मन्दालसा ने अपने रहन-सहन के जो गीत गाये, उनका सार था, शुद्धोसि बुद्धोसि निरजनोमि, ससारमाय परिवर्जितोमि—ऐ मेरे प्रिय पुत्र तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरजन है ससार की माया से अलिप्त है—इन्हीं सस्कारो से प्रेरित उनकी आ० सन्तान ब्रह्मर्षि बन कर जगल को चली गई। जब पति ने मदालसा से कहा यदि यही स्थिति रही तो वश कैसे चलेगा। पति के सकेत पर मदालसा ने सस्कारो की प्रवृति को बदल दिया और नवा पुत्र सर्वगुण सम्पन्न क्षत्रिय हुआ। चक्रव्यूह की विद्या अभिमन्यु ने गर्भावस्था मे सीख ली थी। भारतीय स्वातन्त्र्य इतिहास पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि राष्ट्रपिता महात्मा गाधी नेता जी सुभाष बोस,महर्षि अरविन्द आदि ने पिता की प्रेरणा से विदेश भ्रमण इसलिए किया था कि वे परतन्त्र भारत के प्रशासनतन्त्र के अग बने किन्तु माताओ के सस्कारो व परिस्थितियो ने उन्हें स्वातन्त्र्य सग्राम के योद्धा एव नायक बना दिया। नैपोलियन के विषय में प्रचलित है कि जब वह माता के गर्भ मे था, तब उसकी माता सैनाओ की परेड देखने मे मगन रहती थी। सैनिको की परेड उनके गीत उसे मन भाते थे। जिनके कारण ही नैपोलियन एक योद्धा के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।

संस्कार का वैज्ञानिक आधार—प्रत्येक प्राणी का शरीर दो प्रकार के कोष्ठो से निर्मित है एक—शारीरिक कोष्ठ दो—उत्पादक कोष्ठ शारीरिक कोष्ठों से प्राणी अग प्रत्येक का निर्माण होता है। ये कोष्ठ शरीर की करने के बाद मर जाते हैं। परन्तु इन नश्वर शारीरिक कोष्ठों से बने शरीर के भीतर अविनश्वर कोष्ठ रहते हैं। यह अविनश्वर कोष्ठ ही उत्पादक कोष्ठ कहलाते हैं।

क्रमश

पाद टिप्पणी

श्री जयदेव आर्य

प० रामनारायण जी इस विषय मे अपने सस्मरण स्वय भी शीघ्र प्रकट करने का विचार कर रहे हैं। (देखो 'सार्वदेशिक' मासिक जुलाई १९५१ मे श्री पृथ्वीसिंह जी विद्यालकार का स्वामी दयानन्द और १८५७ की क्रान्ति चेष्टा' नामक लेख पृ० २०४)

कुछ वर्ष पूर्व टकारा ट्रस्ट ने श्री वर्मा की सामग्री की खोज करवाने का निर्णय लिया था—पता नही उसके सम्बन्ध मे क्या प्रगति हुई और साथ ही श्री प० रामनारायण जी ने 'सरस्वती' अथवा अन्य किसी पत्रिका मे अपने सस्मरण प्रकाशित करवाये अथवा नही ? ये दोनो ही बातें अनुसधान की अपेक्षा रखती हैं। मुझे अस्पष्ट सा स्मरण आता है, कि शायद केन्द्रीय शिक्षामन्त्री श्री भक्तदर्शन के समय इस सामग्री को भारत सरकार द्वारा प्राप्त करने के प्रयास का आश्वासन लोकसभा मे दिया गया था। फिर क्या हुआ पता नही।

१० लेखक द्वारा निर्दिष्ट ऋषि द्वारा नाना धोधो पन्त पेशवा को सुरक्षित रखने के लिए मोरवी के सामन्त के नाम दिए गए पत्र के किसी सेठ के पास होने की जनश्रुति यदि सत्य हो, तो यह विषय सर्वथा स्पष्ट हो सकता है। तात्या टोपे को अग्रेजो ने फासी लगा दी थी, पर फासी लगने वाला व्यक्ति तात्या ही था, या उनका कोई सहयोगी, यह एक विवादास्पद विषय है।

श्री निवास बाला जी हर्डीकर ने अपनी पुस्तक तात्या टोपे मे तात्या नाम से उनके किसी अनुचर के फासी चढने का प्रतिपादन किया है। उन्होने पृ० २०१ पर रानी झासी के सैनिक अफसर लालू बक्षी, जिन्हे अग्रेजो ने फासी लगा दी थी, के भाई माधवमल्हार बक्षी से फासी की घटना के पश्चात् तात्या के १८६३ मे बद्रीनारायण तथा इसके पश्चात् गिरनार तथा साकुर (गुजरात) मे मिलने का उल्लेख किया है। पुन पृ० २१८-१९ पर १९०९ मे तात्या की काठियावाड़ मे हुई मृत्यु का उल्लेख है। यह सर्वथा सम्भव है, कि नाना ने भी इसी क्षेत्र मे कहीं अज्ञातवास किया हो और स्वा दयानन्द ने उन्हे उस सामन्त के नाम कोई पत्र दे दिया हो कि मैं एक गुजराती साधु हू जो आपके आसपास का ही रहने वाला हू। आप इस व्यक्ति को अपने पास रख लें आदि-२। वस्तुस्थिति जो भी हो, पर, इस सम्बन्ध मे अभी खोज का प्रयास किया जाना आवश्यक है। —सम्पादक

लेखकों से निवेदन

—सामयिक लेख, त्यौहारो व पर्वों से सम्बन्धित रचनाए कृपया अक प्रकाशन से एक मास पूर्व भिजवायें।

—आर्य समाजो, आर्य शिक्षण सस्थाओ आदि के उत्सव व समारोह के कार्यक्रमो के समाचार आयोजन के पश्चात् यथाशीघ्र भिजवाने की व्यवस्था करायें।

—सभी रचनायें अथवा प्रकाशनार्थ सामग्री कागज के एक ओर साफ-साफ लिखी अथवा डबल स्पेस मे टाइप की हुई होनी चाहिए।

—पता बदलने अथवा नवीकरण शुल्क भेजते समय ग्राहक सख्या का उल्लेख करते हुए पिन कोड नम्बर भी अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५ रुपये तथा आजीवन शुल्क २५० रुपये है। आजीवन ग्राहक बनने वालो को ५० रुपये मूल्य का वैदिक साहित्य अथवा आर्य सन्देश के पुराने विशेषाक नि शुल्क उपहार स्वरूप दिए जाएगे। स्टाक सीमित है।

—आर्य सन्देश प्रत्येक शुक्रवार को डाक से प्रेषित किया जाता है। १५ दिन तक भी अक न मिलने पर दूसरी प्रति के लिए पत्र अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश के लेखको के कथनो या मतो से सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पाठको के सुझाव प्रतिक्रिया आमन्त्रित हैं।

कृपया सभी पत्र व्यवहार व ग्राहक शुल्क दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली के नाम भेजें।

—सम्पादक

सामाजिक कुरीतियों एवं राजनैतिक भ्रष्टाचार के उन्मूलन के लिए कार्य करे

सूर्यदेव

नई दिल्ली, ९ सितम्बर। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की 'राजार्य सभा' की बैठक सभा प्रधान श्री सूर्यदेव की अध्यक्षता मे ९ सित ९३ को १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली मे सम्पन्न हुयी। जिसमे सयोजक प्रि० श्री जगदेव जी, श्री महेन्द्र पाल आर्य, श्री गोपाल आदि भी उपस्थित थे।

इस अवसर पर श्री सूयदेव ने कहा कि देश मे बढती सामाजिक कुरीतियो एव राजनैतिक भ्रष्टाचार के उन्मूलन के लिए आर्य जनो को और सक्रिय होकर कार्य करना चाहिए। राष्ट्र की ज्वलन्त समस्याओ पर आर्यजनो को चिन्तन कर समाधान के लिए सहयोग देते रहना चाहिए।

आगामी कार्यक्रम

आर्य समाज अनारकली, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली

६९ वा वार्षिकोत्सव १५ से २१ नवम्बर, ९३ तक समारोह पूर्वक मनाया जा रहा है। इस दौरान आचार्य कमवीर शास्त्री के ब्रह्मत्व मे यज्ञ, प० यशपाल सुधाशु के वेद प्रवचन, प० ओम प्रकाश वर्मा के भजन, दयानन्द बाल मेला, स्त्री समाज उत्सव, आदि युवक महासम्मेनन, पुरस्कार वितरण आदि कार्यक्रम होगे। आप सबकी उपस्थिति प्रार्थनीय है।

रामनाथ सहगल, मन्त्री

आर्य समाज गाँधी नगर, दिल्ली

१८ वें वार्षिकोत्सव का समापन २६-९-९३ को होगा। प्रात यज्ञ की पूर्णाहुति के बाद सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव, वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द, प० खुशीराम शर्मा आदि के उद्बोधन एव श्री गुलाबसिंह राघव के मधुर भजन होगे।

ज्ञान गगा मेला

इन्द्रा पार्क एव कैलाशपुरी के आर्य सज्जनो द्वारा १ से ३ अक्तूबर, ९३ तक ज्ञान गगा मेला आर्य समाज पार्क, नई दिल्ली-४५ मे धूम धाम से मनाया जा रहा है। इस अवसर पर आर्योत्कर्ष वाचनालय के सचालक श्री गगा चरण आर्य द्वारा एक भव्य प्रदर्शनी का आयोजन किया जायेगा। 'आर्यत्व की रक्षा एव पोषण विषय पर गोष्ठी ३ अक्तूबर ९३ को दोपहर ३ से ५ बजे तक की जायेगी। सभी सादर आमन्त्रित हैं। वेद प्रकाश आर्य, मन्त्री, आर्य समाज, इन्द्रा पार्क

प्रयाण-गीत, मातृभूमि

शस्य श्यामला धरित्री, आज है पुकारती,
सूय चन्द्र, तारे आदि, सब उतारें आरती।
विश्व भार शीश पर, लिए हुए हैं आज यह,
सह्य शक्ति है "अमित", मूक हैं न कुछ कह।
पूण स्वाभिमान युक्त, पूण आन-बान है,
देखो, इसकी यश-भरी महा महान शान है।
शौय, धैय शूरता, भरी हृदय मे है अमर,
वायु कितनी ही चले, मगर धरा अडिग, निडर।
धान्य, स्वर्ण, आदि देती है, सभी को सर्वश,
कोटिश परोपकार, मातृभूमि के सदा।
जोतता किसान हल से, तो न करती आह भी,
लोक की है जीविका, नहीं तनिक कराह भी।
आज देश बन्धुओ! सहर्ष ये शपथ गहो,
प्राण चाहे जाए पर, न इसका बाल बाका हो।
एक मन में भाव हो, विचार हो न स्वार्थ का,
मातृभूमि जय, सदैव ध्यान हो परार्थ का।

सुकवि—सुशील कुमार 'अमित' कक्षा विद्याभास्कर-२
निर्देशक—डा सत्यव्रत शर्मा अजेय'
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (हरिद्वार)

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित वैदिक साहित्य

१	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम, द्वितीय) प्रत्येक		१ ५०
२	नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२ ००
३	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३ ००
४	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४ ००
५	नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५ ००
७	फ्लैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यकाम वर्मा)	२ ००
८	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	,, ,,	२ ००
९	एनोटामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५ ००
१०	आर्यो का आदि देश	,, ,,	२ ००
११	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	,, ,,	२५ ००
१२	दी ओरीजन होम आफ आयन्स	,, ,,	२ ००
१३	चत्वारो वै वेदा	,, ,,	५ ००
१४	द्वैतसिद्धि	,, ,,	५ ००
१५	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ मे	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	२० ००
१६	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(डा० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
१७	हसता चल, हसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८	दयानन्द एण्ड दा वेदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
१९	पूजा किसकी ? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२०	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२१	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२२	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकडा
२३	महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी स्मारिका (सन् १९८३)		५ ००
२४	स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अर्धशताब्दी स्मारिका १९८५		५ ००
२५	महर्षि दयानन्द निर्माण शताब्दी स्मारिका १९८५		१० ००
२६	महर्षि दयानन्द निर्वाण विशेषाक		१० ००
२७	ऋषिबोधाक		१० ००
२८	योगीराज श्रीकृष्ण विशेषांक		१० ००
२९	दैनिक यज्ञ पद्धति	(दि० आ० प्र० सभा)	४ ००
३०	हैदराबाद आर्य सत्याग्रह अर्धशती स्मृति अक	"	१० ००
३१	धर्मवीर पडित लेखराम सयुक्ताक	"	५ ००
३२	स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती	"	२५ ००
३३	प० नाथूराम शकर शर्मा 'शकर'	"	२५ ००
३४	श्रावणी एव श्रीकृष्ण जन्माष्टमी	"	५ ००
३५	प० चमूपति सयुक्ताक	"	५,००
३६	स्वामी रामेश्वर नन्द सरस्वती	"	५ ००
३७,	स्वामी दशनानन्द सरस्वती	"	५ ००
३८	प० गणपति शर्मा	"	५ ००
३९	प० रामचन्द्र देहलवी	"	५ ००

नोट उपरोक्त सभी पुस्तको पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तको की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक व्यय पृथक नही लिया जाएगा। कृपया अपना पूरा पता एव नजदीक का रेलवे स्टेशन साफ-साफ लिखे।

पुस्तक प्राप्ति स्थान **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**
१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१

मेरठ मे महाराणा प्रताप जयन्ती समारोह

३०-३१ अक्टूबर १९९३ को होगा

क्रान्तिकारियो की महानगरी मेरठ में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के तत्वावधान में महान देशभक्त महाराणा प्रताप जयन्ती समारोह का दूसरा चरण आगामी ३०-३१ अक्टूबर १९९३को विमलामा मैदान में सम्पन्न होगा। समारोह की अध्यक्षता सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती करेंगे। मुख्य अतिथि होंगे केन्द्रीय कृषि मन्त्री डा० बलराम जाखड। भारी सख्या मे पधारकर समारोह को सफल बनावें।

—डा० सच्चिदानन्द शास्त्रीमन्त्री, सार्वदेशिक आ० प्र० सभा

आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा, दयानन्द-मठ, रोहतक

हरयाणा के माथे से शराब का कलक मिटाने के लिए २ अक्तूबर को राजघाट (दिल्ली) चलो

अखिल भारतीय नशाबन्दी परिषद आय प्रतिनिधि सभा हरयाणा व दिल्ली ने मिलकर कार्यक्रम बनाया हैं कि गांधी एव शास्त्री जय ती के अवसर पर आगामी २ अक्तूबर को प्रात ९ बजे राजघाट (दिल्ली) पर हजारो की सख्या मे कायकर्ता इकटठ होकर शराब के विरुद्ध अनशन पर बठेंगे। उसके बाद उसी दिन भारत के राष्ट्रपति को एक ज्ञापन देते हुए माग की जायेगी कि सारे हरयाणा प्रदेश मे तत्काल प्रभाव से पूण शराबबन्दी लागू की जाये। सभा के इस प्रयास मे आयसमाज गुरुकुलो एव आर्यशिक्षण सस्थाओ के साथ साथ भारतीय किसान यूनियन स्वतन्त्रता सेनानियों विद्यार्थी सगठनो महिला सांस्कृतिक सगठव सर्वोदय कार्यकर्ताओ अध्यापक वग व अन्य स्वयसेवी सस्थाओ से भी सहयोग देने का अनुरोध किया गया है। इस अवसर हरयाणा के साथ साथ उत्तर व दक्षिण भारत के कई राज्यों से भी बडी सख्या मे शराबबन्दी कार्यकर्ता राजघाट पहुचगे।

अत अनुरोध है कि बडी सख्या में अपने साथियो को लेकर २ अक्तूबर को प्रात ९ बजे राजघाट (दिल्ली) पहुचकर शराबबन्दी के इस महान यज्ञ मे अपनी आहुति दें और शराब के विरुद्ध एक सगठित शक्ति का परिचय द। विभिन्न आय समाज अपने अपने ज थो के साथ कपड़ के बनर भी लायें जिस पर उनके समाज का नाम लिखा हो।

निवेदक

स्वा ओमानन्द सरस्ती	प्रो शेरसिह	सूबेसिह	विजयकुमार
प्रथम सर्वाधिकारी	प्रधान	मन्त्री	संयोजक
शराबबन्दी आदोलन	आय प्रतिनिधि सभा हरयाणा		हर० शराबबंदी समिति

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No. 32387/77 Posted at N D P S O on 23 24 9 1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (एल ११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश" साप्ताहिक २६ सितम्बर १९९३

मन्त्री, राजनैतिज्ञ व अधिकारी अपनी भाषा मे बोले व काम करे

(पृष्ठ १ का शेष)

भाषाओ क प्रयोग नहीं बढ़ पाया है। अधिकारी वर्ग को इसके लिए अपनी मनोवृति मे बदलाव लाना होगा। श्री राव 'अंग्रेजी हटाओ व भारतीय भाषाए लाओ सम्मेलन में हिन्दी दिवस के अवसर पर राजघाट आए प्रतिनिधियों के शिष्ट मण्डल से आज अपने निवास पर नाश्ते के समय बोल रहे थे। श्री राव ने कहा कि जब हम हिन्दी व भारतीय भाषाओ को अपने देश मे महत्व देंगे तभी विदेशो में भी इनका सम्मान बढ़गा।

यह पहला अवसर है जब किसी प्रधानमन्त्री ने हिन्दी व भारतीय भाषाओ के प्रचार प्रसार मे कार्यरत लोगो से लगभग एक घण्टे तक अपने निवास पर खुलकर बातचीत की हो। इस शिष्ट मण्डल का नेतृत्व भाषा के सम्पादक डा० वेद प्रताप वैदिक ने किया। शिष्टमण्डल मे अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री जगदीश प्रसाद वैदिक के अतिरिक्त मारीशस के मन्त्री राजनारायण गति व श्री धनदेव बहादुर वरिष्ठ पत्रकार आलोक मेहता, हिन्दी कवि डा० गगाप्रसाद विमल, पूर्व केन्द्रीय मन्त्री श्री वी० पी० मौर्य सुश्री निर्मला देश पाण्डे आदि शामिल थे।

श्री राव ने आगे कहा कि सयुक्त राष्ट्र सघ में भारतीय नेताओं व प्रतिनिधियो द्वारा हिन्दी का प्रयोग बढाया जा सकता है। शिष्ट मण्डल के सदस्य डा० दाऊ जी गुप्त ने सुझाव दिया कि सयुक्त राष्ट्र में हिन्दी को मान्यता दिलाने मे भारत सरकार को अपेक्षित कदम उठाने चाहिए। श्री राव ने हिन्दी एव भारतीय भाषाओं में मूल रूप से समाचार सकलन व प्रेषण के लिए एक बडी राष्ट्रीय समाचार सवाद समिति के गठन के महत्व पर भी बल दिया और कहा कि सरकार इसके लिए हर सम्भव सहयोग देने को तैयार है। श्री राव के समक्ष यह भी तर्क दिया गया कि जैसे सघ लोक सेवा आयोग अथवा न्यायालय सरकारी बजट प्रावधानों के बावजूद स्वतन्त्र रह सकते हैं उसी प्रकार भाषायी एजेंसी भी स्वतन्त्र रूप से समाचार प्रस्तुत कर सकती हैं।

श्री राव ने दक्षिण में हिन्दी के प्रचार प्रसार के लिए हो रहे कार्यों की भी सराहना की। शिष्ट मण्डल मे केरल से आये प्रो० फिलिप एव मुहम्मद मेत्तर ने इस प्रवृत्ति पर अफसोस जाहिर किया कि हमारे यहा उत्तर भारत के आने वाले नेता अंग्रेजी मे भाषण देते हैं जबकि केरलवासी हिन्दी जानते हैं।

—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

—ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

सेवा में—

श्री पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगडी विश्व विद्यालय
हरिद्वार (उ०प्र०)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अंक ५० रविवार, ३ अक्तूबर १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३
मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा

कैलाशनाथसिंह, अग्निवेश व इन्द्रवेश पर प्रतिधिनित्व करने पर प्रतिबन्ध

नई दिल्ली, १८ सितम्बर। दिल्ली उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री पी एन नाग ने कैलाशनाथ सिंह, अग्निवेश तथा इन्द्रवेश पर सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के निर्वाचित प्रतिनिधियो के रूप मे प्रतिनिधित्व करने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया है। अदालत ने तीनो को नोटिस जारी कर २९ अक्टूबर को न्यायालय मे पेश होने तथा अपना उत्तर दाखिल करने को कहा है। यह अन्तरिम आदेश अदालत ने सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा द्वारा नियुक्त वरिष्ठ अधिवक्ताओ सवश्री रामफल बसल व सोमनाथ मरवाह तथा उनके कनिष्ठ अधिवक्ताओ—श्री अशोक मरवाह व श्री एस०एन० गुप्ता की दलीलो के बाद दिया। उल्लेखनीय है कि ३१ अगस्त के एक दैनिक समाचार पत्र मे इन लोगो द्वारा सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा को भगकर प्रो० कैलाशनाथसिंह को समानान्तर सावदेशिक प्रतिनिधि सभा का प्रधान बनाने की घोषणा के समाचार प्रकाशन के बाद यह याचिका दायर का गयी थी।

सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा द्वारा सर्वश्री कैलाशनाथ, अग्निवेश व इन्द्रवेश के विरुद्ध एक वैकल्पिक सावदेशिक सभा के गठन को असवैधानिक करने हेतु सभा के उप प्रधान व वरिष्ठ अधिवक्ता श्री सोमनाथ मरवाह तथा श्री रामफल बसल ने दिल्ली उच्च न्यायालय के न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री पी०एन० नाग के समक्ष याचिका प्रस्तुत करते हुए कहा कि समस्त प्रतिपक्षी आर्य समाज की प्राथमिक सदस्यता से कई वर्ष पूव ही निष्कासित किये जा चुके हैं, अत उन्हे किसी भी रूप मे सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा (जिसके प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती एव महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री हैं) के समानान्तर इसी नाम से सभा गठन का कोई अधिकार नही है, जबकि ३१ अगस्त को एक दैनिक मे प्रकाशित समाचार के अनुसार इन्होने सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा को भगकर कलाशनाथसिंह को प्रधान बनाने की घोषणा की है।

याचिका मे आगे कहा गया है कि सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा सोसायटी एक्ट १८६० के अन्तर्गत एक रजिस्टड सस्था है जो विश्व की समस्त आय समाजो व प्रातीय सभाओ के माध्यम से प्रतिनिधित्व करती है। सभाका चुनाव ३ वर्ष बाद होता है, गत चुनाव १९९१ मे हुआ था ओर अगला चुनाव १९९४ मे होगा। इस बीच किसी भी प्रकार से नयी कायकारिणी का गठन न केवल असवैधानिक है अपितु आय समाज से निष्कासित व्यक्तियो अर्थात बाहरी तत्वो द्वारा ऐसा किया जाना भी अपराध है।

नई दिल्ली २६ सितम्बर। परम दानवीर स्व० लाला दीवानचन्द जी का १०९ वा जन्मदिवस राजधानी के प्रमुख आर्य समाज मन्दिर दीवान हाल में आज समारोहपूर्वक मनाया गया। कायक्रम मे लाला दीवानचन्द जी के व्यक्तित्व व कृतित्व का स्मरण कर श्रद्धासुमन अर्पित किए गये।

निष्काम देशभक्त लाला दीवान चन्द के जीवन से प्रेरणा लेने का संकल्प लें

—श्री सूर्यदेव

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव ने इस अवसर पर अपनी भावाजलि अर्पित करते हुए कहा कि आय समाज दीवान हाल लाला दीवान चन्द जी की धवल कीर्ति का यशस्तम्भ है। यह गौरव की बात है कि इसी दीवान हाल से अनेक राष्ट्रीय आन्दोलनो का सचालन होता रहा है। लाला जी के सात्विक दान से निर्मित अनेक धार्मिक, शैक्षिक व सामाजिक सस्थायें उनकी कीर्ति का यशोगान कर रही हैं। अटल निश्चय के धनी व निष्काम देशभक्त लाला दीवान चन्द जी के जीवन से प्रेरणा लेकर हमे आर्य समाज के सिद्धातो एव गतिविधियो के प्रचार-प्रसार का सकल्प लेना चाहिए।

सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान डा० महेश चन्द्र विद्यालकार ने लाला दीवान चन्द जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए बताया कि दिल्ली आगमन पर आर्य समाज दीवान हाल में मुझे एक वर्ष तक आश्रय दिया था, अत मैं उनका ऋणी हू। उन्होने यज्ञ व दान की महिमा पर प्रकाश डालते हुए कहा कि लाला जी समस्त विश्व को एक कुटुम्ब मानकर मानवमात्र की निष्काम सेवा करते थे।

आय अनाथालय पटोदी हाऊस के अधिष्ठाता प० महेन्द्र कुमार शास्त्री ने कहा कि ससार मे दानी तो बहुत हुए हैं परन्तु ऐसे दानी बिरले हुए हैं जिन्होने अपनी वसीयत से लगभग सारी की सारी सम्पत्ति दान मे दे दी हो। उन्होने अपनी सम्पत्ति आर्य समाज व अनेक सस्थाओ को दान मे देकर एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होने बताया कि लाला जी सन्ध्या, हवन, व्यायाम आदि सब कुछ एक सद्गृहस्थ की भाति करते थे। वे धन को तो सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक व राष्ट्रीय उन्नति का एक साधन मात्र मानते थे। वस्तुत वे सच्चे अर्थों मे एक योगी थे।

कार्यक्रम का शुभारम्भ प्रात यज्ञ से हुआ। इस अवसर पर दिल्ली की विभिन्न आय समाजो व सस्थाओ के प्रतिष्ठित अधिकारी एव आय कन्या सी० सैकेण्डरी स्कूल चावडी बाजार की छात्राए एव आर्य बाल गृह के ब्रह्मचारी भी भारी सख्या मे उपस्थित थे।

आयसमाज दीवान हाल के प्रधान श्री मूलचन्द गुप्त ने सभी महानुभावो के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहा कि आय समाज के लिए जीवन देने वाले परम दानवीर एव आदश महापुरुष के जीवन से प्रेरणा लेकर ही हम उन्हे सच्ची श्रद्धाजलि दे सकते है।

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

नर के उत्पादक कोष्ठ को वीर्यकण तथा स्त्री के उत्पादक कोष्ठों को रजकण कहते हैं। ये उत्पादक कोष्ठ रज तथा वीर्य के रूप मे सन्तान से सन्तान अर्थात पुत्र-पुत्री, पौत्र पौत्री, प्रपौत्र, प्रपौत्री मे उस प्राणी के मर जाने के बाद भी निरतर बने रहते हैं।

नर के उत्पादक कोष्ठ वीयकण निकलकर स्त्री के गर्भाशय मे प्रवेश कर उसके उत्पादक कोष्ठ रजकण से मिल जाते हैं और एक नये प्राणी को ज म देते हैं। उत्पादक कोष्ठो मे जो उत्पादक तत्व रहता हैं वही माता पिता के गुणा को सन्तान में ले जाने का आधार है। इसमे एक कठोर सी गाठ होती है। जिसे न्यूक्लिअस कहते हैं, जिसमे अति सूक्ष्म रेशे से लगे रहते है। इन रेशो को प्रयोगशाला मे रगा जा सकता है। यह रग पकड सकते हैं, इसलिए इन्हे वर्ण सूत्र कहते हैं। इन वर्ण सूत्रो की रचना भी छोटे छोटे सूक्ष्म कणो से मिलकर होती है, जिन्हें वाहकाण् कहते है। यही वाहकाण् सन्तान की ऊचाई, लम्बाई, गोरा-काला रग, नेत्र आदि अग की बनावट तथा अन्यान्य गुणो के वाहक होते हैं। एक वाहकाण् मे एक ही गुण रह सकता है—दो गुण नहीं रह सकते हैं। एक उत्पादक कोष्ठ के उत्पादक तत्व मे विद्यमान न्यूक्लिअस मे २४ वर्ण सूत्र होते हैं। प्रत्येक वर्णसूत्र मे कई सौ वाहकाण् रहते हैं, जो पृथक-पृथक एक-एक गुण के लिए उत्तरदाई होते हैं। इसी प्रकार वशानुक्रम में सन्तान की समस्त शारीरिक एव मानसिक रचना का आधार वाहकाण्—वाहकाण् का आधार वर्णसूत्र—वर्णसूत्र का आधार कोष्ठनाभि—कोष्ठ नाभि का आधार रज, वीर्य युग-युगान्तर बनता चला आता है। जैसा कि स्पष्ट हो चुका है कि प्राणी की शारीरिक एव मानसिक रचना का आधार वाहकाण् है। यहा पर यह भी स्पष्ट करना सम्यक होगा कि प्राणी की शारीरिक एव मानसिक अवस्था मे लम्बी प्रक्रियाओ के उपरान्त उसके वाहकाण्ओ को प्रभावित करती हैं।

लगभग एक अरब, ९७ करोड़ वर्ष पूर्व से मानव इस सृष्टि पर उत्पन्न होता चला आ रहा है। इतनी लम्बी अवधि के बाद इस सदी मे वैज्ञानिक निरन्तर अनुसन्धान के बाद इन वाहकाण्ओ को प्रति स्थापित करने की प्रविधि विकसित कर पाया है, वह भी इतनी सरल नही, जो सामान्य प्रचलन मे आ सके, जबकि हमारे वैदिक ऋषि मुनि, मनीषियो ने सभ्यता के प्रथम सोपान मे ही बिना किसी शल्य क्रिया किये प्राणी के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक पर्यावरण द्वारा इन वाहकाण्ओ को प्रभावित कर मन वाछित सन्तान को प्राप्त करने का उद्देश्य प्राप्त कर लिया था। इसीलिए गोत्रादिक की अवधारणा स्थापित की थी और विशेष परिस्थितियो मे नियोग का सहारा भी लिया था। इस कथन की पुष्टि मे यह कहना पर्याप्त होगा कि वैज्ञानिक वाहकाण् प्रतिस्थापन प्रणाली से वृक्ष, वनस्पति एव पशु-पक्षियो की प्रजातिया विकसित करने की सफलता तो दिखाई देती है क्योकि इनका शारीरिक एव मानसिक सगठन स्थिर है, किन्तु मानव के सम्बन्ध मे ऐसी किसी सफलता के लक्षण दिखाई नही देत है। इसके विपरीत ऋषि मुनि प्रणीत सिद्धातो की सफलता के रूप हमे सवत्र सुलभ प्रतीत होते है। देखो हमने उनके सिद्धातो के विपरीत वातावरण का सृजन कर लिया है। इसीलिए सिद्धात विहीन सन्तति सवत्र दृष्टिगोचर हो रही है। इसी विपरीत को रीति मे बदल देने पर अनुकूल प्रजा पुत्र की वशवेलि बढ सकती है। इसी सम्पूर्ण प्रक्रिया के सार को सस्कार कहते हैं। जुडवा बच्चो को जब एक से पर्यावरण मे रक्खा गया, तब भी उनमे एक दूसरे से भिन्नता पाई गई जुडवा बच्चो को जब भिन्न-भिन्न पर्यावरण मे रक्खा गया, तब उनमे समानता पाई गई, भिन्न-भिन्न वश के बच्चो को जब पोषणगृहो मे रखा गया तब वे अपने माता पिता के वशानुक्रमण से अधिक ऊपर नहीं उठ सके—किन्तु दूसरे परीक्षणो के अन्तर्गत उनमें आशातीत परिवतन हुआ। इन सभी परीक्षणो ने वश पर्यावरण के साथ-साथ सन्तान के पूर्व जन्म के सस्कारो की ओर भी सकेत किया है। निष्कर्ष यह कि वैज्ञानिको द्वारा किए गए सभी परीक्षणों की परिणाम भिन्नता की निराशा को माता-पिता का वशानुक्रमण, पालन का पर्यावरण एव पूर्वकृत जन्मजन्मान्तर के कर्मफल के समन्वय वाली सस्कार विधि आशा मे बदल देती है।

क्रमश

कौन कहे हम आर्य नहीं हैं

रचयिता—स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती

जीते माता पिता से झगड़ा मर जायें गगा पहुचाना।
स्वर्ग धाम की राह बताना गगाजी मे हाड बहाना॥
तेरहवी मे लड्डू पूडी मालपुआ करके हरषाना।
अपना ऊचा नाम करावें घर पर आकर विप्र जिमाना॥
मृतक श्राध करना धरना यह कोई शुभ काय नही हैं।
कौन कहे हम आर्य नही हैं॥१॥

श्री कृष्णचन्द्र योगी की पतनी श्रीमती रुकमणि बतलाई।
कुछ कहते हैं बृषभान लली राधा उनके सग मे बिहाई॥
हम योगीराज श्री कृष्णचन्द्र को योगीराज बताते हैं।
कुछ माखन चोर चोर कहकर उनकी हसी उडाते हैं॥
छलिया चोर कृष्ण को कहने वाला कहो अनार्य नही हैं।
कौन कहे हम आय नहीं हैं॥२॥

श्री रामचन्द्र पुरुषोत्तम का हम दिल से आदर करते हैं।
उनके जीवन की गाथा पढ करके खरे उतरते हैं।
कुछ मूर्ती राम की गढ़ करके मन्दिर के बीच बिठाते हैं।
जनता पर पुजवाते हैं और स्वय चढावा खाते हैं॥
जड पूजा करने वाला कहदो पाखण्डा चार्य नही हैं।
कौन कहे हम आर्य नहीं हैं॥३॥

जगत रचयिता परम पिता वह चर्म चक्षु से दृष्टि न आता।
सारे जग का पालन करता सबका रक्षक एक विधाता॥
निराकार निर्विकार प्रभु अजर अमर अजन्मा कहलाता।
उस प्रभु की प्रतिमा रख करके मन्दिर बनाके भोग लगाना।
जड प्रतिमा को भोग लगाना यह कोई अनिवार्य नही हैं।
कौन कहे हम आर्य नही हैं॥४॥

कुछ शेरो वाली माता का खूब जागरण करते देखे।
मदिरा मास करें भक्षण नही घृणित कम से डरते देखे॥
जिसने शेरो को जन्म दिया उसकी भूल गये गाथा।
सच समझो यह शेरो वाली जननी माता भारत माता॥
वे मूर्ती बनाकर ढोग रचाते यह कार्य हमे शिरोधार्य नही है।
कौन कहे हम आर्य नहीं हैं।५॥

इस शेरो वाली माता ने राणा प्रताप को जन्म दिया।
भीमार्जुन शेर शिवाजी ने समरागण मे गजब किया॥
नेताजी सुभाष बोस ने परतन्त्रता की नींव हिलाई।
भगतसिंह बिस्मिल शेरो से अग्रेजी सैना दहलाई॥
अब देश धम पर मिट जायें कोई धर्माचार्य नही हैं।
कौन कहे हम आय नही है।६॥

बजरग बली हनुमान वीर श्रीराम का आज्ञाकारी था।
भारत माता शेरो वाली का शेर वह बलधारी था॥
वे बन्दर उसे बताते हैं, पीछे को पूछ लगाते हैं।
उस महान पुरुष ब्रह्मचारी का स्वाग बना हरषाते हैं॥
जो करे कलकित महापुरुषो को उससा कोई दुराचार्य नहीं हैं।
कौन कहे हम आर्य नही हैं॥७॥

नाम भुलाकर परमेश्वर का करे अन्य का जाप कोई।
मानव तन पा वृथा गमाया करे अनेक न पाप कोई॥
जैसी करनी वैसी भरणी दुनियां सारी कहती आई।
कहे स्वरूपानन्द सत्य का मार्ग महा सुखदाई॥
करनी का फल मिले क्षमा करता है यमाचार्य नहीं हैं।
कौन कहे हम आर्य नहीं हैं॥८॥

दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा दिये गए अन्तरिम आदेश की सत्य प्रतिलिपि

IN THE HIGH COURT OF DELHI AT NEW DELHI

SUIT No 2092/1993

Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha & Ors, Plaintiffs

Versus

Shri Kailash Nath Singh Yadav and others Defendants

17-9 1993 Present Mr R P Bansal and Mr S N Marwaha, Senior Advocate with S N Gupta for the Plaintiffs

S No 2092/93

Let the plaint be registered as a suit

Issue summons to the defendants by Registered AD Post, ordinary process and Dasti for 29th Oct 1993

I A 8126/93

Since the matter is urgent and if, notice of the application is given to the Opposite party at this stage the very purpose of grant of interim injunction would be defeated Therefore, interim injunction is garnted in the following terms

Notice for 29th October, 1993

In themeantime, defendants are restrained from representing or proclaiming themselves as Elected Office bearers of Plaintiff No 1

Provision of order 39 Rule 3 be complied with Dasti as well

Sd/--P N Nag, J

17-9-1993

TRUE COPY

सम्पादक के नाम पत्र

अण्डा खाने से जीव हत्या होती है

"अण्डो की उपयोगिता, चयन और सुरक्षा" दिनाक १०-७-९३ को दैनिक पजाब केसरी मे रेखा सक्सेना द्वारा लिखा लेख पढ़ा। लेखिका ने अण्डो की पैरवी करने मे बहुत कुछ गलत लिख दिया। लेखिका का यह मानना कि अण्डे भ्रूणहीन होते हैं।

अनिशेचित अण्डे को खाने मे जीव हत्या नहीं होती यह उनकी कोरी कल्पना हैं, अनिशेचित अण्डो मे क्रोमोसोम होते है। क्रोमोसोम की सख्या निशेचित अण्डो की आधी होती है। क्रोमोसोम केवल जीवो मे ही पाए जाते है अतएव निशेचित अण्डो को खाना जीव हत्या है।

लेखिका का यह लिखना कि अण्डो मे प्रोटीन की सर्वाधिक मात्रा होती है। आई सी एम आर की हैल्थ बुलेटिन सख्या २३ के अनुसार अण्डो मे प्रोटीन केवल १३ ग्राम प्रति होती है जबकि दालो मे २४ ग्राम प्रति और सोयाबीन मे ४४ ग्राम प्रति प्रोटीन होती है मूगफली मे ३२ ग्राम प्रति० प्रोटीन होती है अण्डो की प्रोटीन न केवल कम बल्कि महगी भी होती है। अण्डे की एक ग्राम प्रोटीन का मूल्य २० पैसा जबकि दाल की प्रोटीन का मूल्य ५ पैसा होता है।

लेखिका के अनुसार अण्डो में सभी पौष्टिक तत्व होते हैं परन्तु उन्हें पता नहीं कि अण्डो मे विटामिटन सी' नहीं होता है।

लेखिका ने यह भी दर्शाया कि भारतवर्ष मे अण्डो की खपत अधिक हो रही है, परन्तु लेखिका को यह ज्ञात नहीं है कि अमेरिका और इग्लेंड में अण्डो की खपत कम हो रही है इसका कारण अण्डो को हृदय रोग, लकवे की बीमारी का प्रमुख कारण समझा जाना है वहा के चिकित्सक लोगो को सप्ताह मे केवल एक या दो अण्डे से अधिक अण्डा न खाने की शिक्षा दे रहे हैं। भारतवर्ष मे तो उल्टा मार्ग पकड़ने का फैशन सा बन रहा है। यह कोई समझ की बात नहीं।

अण्डों में १५,०० छिद्र रन्ध्र होते हैं जिनके द्वारा जीवाणु अन्दर पहुचकर अण्डो को खराब कर देते है इन रन्ध्रो के द्वारा सालमोनेला स्टेफाइलोकोकस नाम के जीवाणु अन्दर पहुचकर अण्डें खाने वालो मे हैजा और मियादी बुखार उत्पन्न कर देते हैं इग्लेंड मे अण्डो को खाने वालो को हैजा की बीमारी हो गई थी वहा के स्वास्थ्य मन्त्रालय ने अण्डे न खाने की सलाह दी थी।

अण्डो का पीला भाग मानो हृदय रोगियो के लिए विष का काय करता है। यह पीला भाग कोलेस्ट्रोल से सतृप्त होता हैं जो हृदय की नलियो को बन्द कर देता है, सभी चिकित्सालयो मे अण्डो को स्वास्थ्य का शत्रु समझा जाता है।

अण्डो मे हरापन फग्गल इन्फैक्सन का सूचक माना जाता है। इसके खाने से मृत्यु का टिकट आसानी से मिल सकता है।

अण्डा खाना स्वास्थ्य के लिए उपयोगी नही है अण्डा खाने से पहले यह सोच ले कि जो अण्डा आप खा रहे है सड़ा हुआ तो नहीं है, इसका पता लगाना टेढी खीर है २४ से ४८ घण्टे तक सेवन नही किया तो समझो अण्डा सड़ा हुआ है। अण्डो पर एक्सपायर डेट नहीं होती। यदि लेखिका अण्डो को जन मानस को खाने की शिक्षा देती है तो कृपया यह तो बतलाने का कष्ट करें कि अण्डो पर एक्सपायर डेट क्यो नहीं होती ?

गगा शरण आर्य,
सदस्य आर्य युवा विकास परिषद दिल्ली
आर्योत्कर्ष वाचनालय
सचालक—चरित्र निर्माण-मण्डल
सैनी मोहल्ला-ग्राम शाहबाद मोहम्मदपुर, नई दिल्ली-४५

आदर्श त्रैतवाद (४५)

राजसिंह भल्ला

शास्वत सुख की प्राप्ति

एकोवशी निष्क्रियाणा बहूनमिक बीज बहुधा य करोति ।
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरा, तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम् ।।

श्वेता ६-१२

जो सबको वश में करने वाला एक अखण्ड ईश्वर, अनेक निष्क्रयजड़ भूतो के प्रकृति रूप एक बीजकारण को बहुत प्रकार करता है। नाना रूपो मे प्रकट करता है। जो धीर जन उस आत्मस्थ भगवान् को देखते हैं उनका निरन्तर रहने वाला सुख है। दूसरो का सदा रहने वाला सुख नही है।

मुक्त हो जाता है

आरम्भ कर्माणि गुणान्वितानि, भावाश्च सर्वान्विनियोजयेद्य ।
तेषामभावे कृत कर्मनाश कर्मक्षये योति स तत्त्वतोऽन्य ।।

श्वेता ६-४

जो मनुष्य तीन गुण युक्त कर्मों को आरम्भ करके सब भावो से भगवान मे लगावें, भगवान का ध्यान करे तो उन गुणों का अभाव हो जाने पर किये हुए कर्मों का नाश हो जाता है। कर्म क्षय होने पर वह उपासक परमार्थ से मुक्त हो जाता है। वह मुक्त भाव को प्राप्त हो जाता है।

आराधना द्वारा मुक्ति

आदि स सयोग निमित्तहेतु, परस्त्रि परसत्रिकालादकलोऽपि दृष्ट.।
त विश्वरूप भवभूतमीड्य देव, स्वाचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ।।

श्वेता ६-५

वह भगवान सनातन है। परमाणुओ और अन्यों के सयोग का निमित्त कारण है। तीन काल से ऊपर है—काल का बन्धन उस पर नहीं है और कला रहित भी माना जाता है उस अनन्त स्वरूप उत्पत्ति के स्थान स्तुति योग्य, अपने चित्तस्थ देव को पहले आराध कर फिर मनुष्य मुक्त हो जाता है।

उसे जानकर मुक्त हो जाता है

स वृक्षकालाकृतिभि परोऽन्यो यस्मात्प्रपच परिवततेऽयम् ।
धर्मावह पापनुद भगेश ज्ञात्वाऽऽअस्थममृत विश्वधाम ।।

श्वेता ६-६

जिससे यह पाच भूतो का विकाररूप प्रपच बना हुआ है वह भगवान स सार रूप वृक्ष की काल आकृतियो से भिन्न है और उत्कृष्ट है। उस धर्म के प्रवर्तक पाप नाशक ऐश्वय के ईश्वर, अमृत, सर्वाश्रय और आत्मस्थ देव को जानकर उपासक मुक्त हो जाता है।

उसे जानकर मुक्त हो जाता हैं

नित्यो नित्याना चेतनश्चेतनानामेकोबुह्वना यो विदधाति कामान् ।
तत्कारण सांख्ययोगाधिगम्य ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैं ।।

श्वेता ६ १३

जो अनन्त नित्य चेतनो का—आत्माओ का नित्य चेतन एक ईश्वर है और कामनाओं को पूर्ण करता है। उस सांख्य तथा योग से प्राप्त होने योग्य जगत के निमित्त कारण परमेश्वर को जानकर उपासक बन्धनो से मुक्त हो जाता है।

भगवान का ज्ञान मोक्ष प्राप्ति

एको हसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले सन्निविष्ट ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ।। श्वेता ६-१५

इस पृथिवी आदि भवन के बीच विद्यमान एक सर्वज्ञ ईश्वर है। वह ही ज्योति है और जल मे प्रविष्ट है। उपासक उसको ही जानकर मृत्यु को (अति इति) अति क्रमण कर जाता है। मुक्ति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है। भगवान का ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है।

क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (१५)

नेतराम शर्मा, प्रधान—भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला दिल्ली-११००५१

५१ पीलिया का इलाज—बिना छीले एक केले के ऊपर भीगा हुआ चूना लगा दें। सवेरे इसे छील कर खालें। प्रतिदिन ऐसा करने से १ से ३ सप्ताह के अन्दर पीलिया दूर हो जायेगा।

५२ सुजाक की दवा—कच्चे केले काटकर धूप मे सुखा लें। पीस कर आटा बना, देसी शक्कर मिला खाकर ऊपर से दही की लस्सी पी ले। दो हफ्ते मे आराम। अगर इसके साथ केले के आटे की ही रोटी खायें तो जल्दी आराम।

५३ बाझपन का इलाज—केले के पेड के नीचे गिरी ६-७ कोमल बाझ फलिया लेकर इनमें इतनी ही सख्या मे शिवलिंगी के बीज पीस लें। बाझ स्त्री मासिक धर्म के बाद खा लें तो दो महीने मे ही गर्भ ठहर जायेगा।

५४ रक्त स्राव का इलाज—किसी महिला की मूत्रेंद्रि से रक्त निकलता हो तो केले की जडो का रस पियें। रक्त स्राव बद हो जायेगा।

५५ दिमागी शक्ति—२-३ अखरोट की गिरी और १-२ चम्मच शहद मिला कर प्रात खूब चबा-चबाकर खाने से दिमागी ताकत बढ़ती है।

५६ हृदय की कमजोरी—सौंफ का १ चम्मच चूर्ण थोड़े शहद में मिलाकर चाटने से हृदय की दुर्बलता दूर होती है और रक्त शुद्ध होता है।

५७ कफ प्रकोप—अदरक के रस में बराबर मात्रा में शहद मिलाकर चाटने से कफ खासी दूर हो जाती है।

५८ श्वास प्रकोप—अदरक रस पिसी काली मिर्च, शहद मिला कर चाटने से दमा के रोगी को आराम और श्वास प्रकोप मे कमी होती है।

५९ मोटापे का इलाज—प्रात काल १ गिलास ताजा पानी में २-३ चम्मच शहद घोलकर शोच जाने से पहले धीरे धीरे शरीर की चर्बी कम होने लगती है। समय—३ माह।

६० दुबलेपन का इलाज—एक गिलास दूध में सिर्फ २-३ चम्मच शहद इच्छानुसार डाल कर रात को सोने से आधा घटा पहले पीने से दुबलापन दूर।

क्रमशः

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (१९)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

ब्रह्म च क्षत्र च राष्ट्र च विशश्च त्विषिश्च
यशश्चे वचश्च द्रविण च ।। अथर्व० कां० १२।अनु० ५।म० ८ ।।

काव्यार्थ—

ज्ञान-कर्म जिनके उत्तम हैं ब्राह्मण वर्ण पुनीत सुजन ।
करें प्रसार ज्ञान का जग मे, विद्या उनका पावन धन ।।
क्षत्रिय हों रणधीर वीर, निर्भय सेना के सचालक।
दुष्ट-नियन्त्रक, सज्जन-रक्षक, सत्पुरुष सभा के उन्नायक ।।
राज-प्रजा हों सुखी निरन्तर, उत्तम गुण की खान बनें।
न्याय मिले सबको हितकर, सत्ता का सुखद विधान बने ।।
वैश्यजनो को व्यापारादिक, व्यवहारों का ज्ञान मिले।
सकल विश्व में करें पर्यटन, सब जग को धन-धान्य मिले ।।
सत्यगुणो की बढती हो जग, मे यश-कीर्ति निरन्तर हो।
श्रेष्ठ ज्ञान विस्तार हेतु सन्तति-शिक्षा सुन्दर-तर हो ।।
अलभ्य पदार्थ प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ धर्म अनुसार करें।
प्राप्त द्रव्य की रक्षा हो, रक्षित का पुन प्रसार करें ।।
सत्य-ज्ञान-विस्तार-कार्य में, अर्जित धन का हो उपयोग।
चतु पुरुषार्थ से धन-वैभव, सुख के साथ बढावें लोग ।।

क्रमशः

बोगस सार्वदेशिक सभा के गठन पर

संगठन विरोधी तत्वों की देशव्यापी निन्दा

नई दिल्ली। कैलाशनाथसिंह अग्निवेश व इन्द्रवेश द्वारा संगठन विरोधी बोगस सार्वदेशिक सभा के गठन के विरोध मे देश की विभिन्न आर्य प्रतिनिधियो सभाओ द्वारा कडी भर्त्सना के निन्दा प्रस्ताव पारित किये गये हैं। कुछेक प्रस्तावों का विवरण प्रस्तुत है —

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब के साधारण अधिवेशन ५ सितम्बर १९९३ मे सर्वसम्मति से पारित प्रस्ताव की प्रतिलिपि

श्री अश्विनी कुमार जी शर्मा एडवोकेट ने बताया कि कैलाशनाथ जी, श्री धर्मेन्द्र सिंह और श्री प्रो० रत्नसिंह जी आदि ने एक तथाकथित सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम से गठित की है। जो बिल्कुल अवैध है और ऐसा उन्होने आर्यसमाज को क्षति पहुचाने के लिए किया है। श्री शर्मा जो ने आगे बताया कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा महर्षि दयानन्द भवन आसफ अली रोड नई दिल्ली में स्थित है, जिसके प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती हैं और यह सभा ही वैध है। श्री कैलाशनाथसिंह को आर्यसमाज से छ वर्ष के लिए निष्कासित किया हुआ है। श्री स्वामी अग्निवेश जी और श्री स्वामी इन्द्रवेश जी भी आर्य समाज से निष्कासित हैं। उन्होने कहा कि कैलाशनाथ आदि ने जो तथाकथित सार्वदेशिक सभा बनाई है उसकी हमे घोर निन्दा करनी चाहिये।

श्री योगेन्द्रपाल जी सेठ, श्री आशानन्द जी आर्य, श्री सरदारी लाल जी आर्य ने भी इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए श्री अश्विनी कुमार शर्मा एडवोकेट के प्रस्ताव का समर्थन किया।

विचार विमर्श के पश्चात निश्चय हुआ कि आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब (रजि०) गुरुदत्त भवन चौक, किशनपुरा, जालन्धर उसी सावदेशिक सभा को मानती है जिसके प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती हैं और जिसका रजिस्टर्ड कार्यालय महर्षि दयानन्द भवन, आसफ अली रोड नई दिल्ली मे स्थित है। इसके साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि श्री कैलाशनाथ आदि द्वारा जो तथाकथित सावदेशिक सभा बनाई गई है उसके विरुद्ध सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली व उसके प्रधान स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती उनके विरुद्ध उचित कार्यवाही करें ताकि ऐसे तत्व आर्यसमाज को कोई हानि न पहुचा सकें।

अश्विनी कुमार
सभा-मन्त्री

आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली

नई दिल्ली १२ सितम्बर।

आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली की अन्तरग सभा आज आर्य समाज करोल बाग के सत्सग भवन मे सम्पन्न हुई। इसकी अध्यक्षता महात्मा धर्मपाल जी ने की। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का परिचय तथा बैठक का सचालन महामन्त्री श्री शिवकुमार शास्त्री ने किया।

अन्तरग सभा ने आर्य समाज से निष्कासित कैलाशनाथ सिंह तथा अग्निवेश आदि की सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम से एक बोगस सगठन खडा करने के लिए तीव्र आलोचना करते हुए निम्न प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किया।

प्रस्ताव

"यह सभा वर्तमान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा जिसका कार्यालय ३/५ आसफ अली रोड, महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली में स्थित है और जिसके प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती एवं मन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री हैं, में पूर्ण आस्था एव विश्वास व्यक्त करती है, क्योंकि इस सभा की कार्यकारिणी पूर्णतया वैधानिक तरीके से पिछले वार्षिक साधारण अधिवेशन दिनांक २६-१०-९१ को गठित की गई थी। कैलाशनाथसिंह, अग्निवेश और इनके कुछ साथियो द्वारा समानान्तर सार्वदेशिक सभा गठित करने का दुष्प्रयत्न कानूनी दृष्टि से अपराध है तथा धार्मिक दृष्टि से महापाप है।

आर्य केन्द्रीय सभा इन स्वार्थी तत्वो की विघटनात्मक गतिविधियो से पूर्णत अवगत है, अत दिल्ली की आर्य जनता से इस प्रस्ताव के माध्यम से अपील की जाती है कि ऐसे गैर आर्य समाजी तत्वो का डटकर मुकाबला करें।

—विमल वधावन
उपप्रधान

आर्य प्रतिनिधि सभा उ०प्र०

आर्य प्रतिनिधि सभा उ०प्र० के अधिकारियो की आपात बैठक श्री कैलाश नाथसिंह द्वारा अपने आपको सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का तथाकथित प्रधान घोषित करने की तीव्र भत्सना करती है।

श्री कैलाशनाथसिंह यादव आर्य प्रतिनिधि सभा, उ० प्र० की अ तर ग सभा दिनाक १५ ४-८४ प्रस्ताव सख्या ९ (अ) के द्वारा आर्य समाज से निष्कासित किये गये थे। इस निर्णय को रजिस्ट्रार फर्म्स चिट्स एण्ड सोसाइटीज ने भी स्वीकार किया था। अत श्री कैलाशनाथसिंह यादव का आर्य समाज से सम्बन्ध नहीं है।

आर्य समाज के विरुद्ध श्री कैलाशनाथ सिंह असामाजिक तत्वो के साथ मिलकर षडयन्त्र कर रहे हैं, जिसके लिए यह बैठक सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली से इनके विरुद्ध दण्डात्मक कार्यवाही करने की पुरजोर माग करती है।

अधिकारियो की यह बैठक सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के नेतृत्व मे अपनी पूर्ण आस्था और निष्ठा व्यक्त करती है तथा विश्वास दिलाती हैं कि आर्य प्रतिनिधि सभा स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के प्रत्येक आदेश को प्राणप्रण से पूर्ण करने हेतु सदैव कटिबद्ध है।

दिनांक १३-९-१९९३

मनमोहन तिवारी
मन्त्री

आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल

आर्य प्रतिनिधि सभा बगाल के अन्तर्गत प्रान्तीय आर्य समाजो की एक सयुक्त बैठक आर्य समाज कलकत्ता १९ विधान सरणी मे, सभा प्रधान श्री बटुकृष्ण वमन की अध्यक्षता में मध्याह्न १ बजे हुई, जिसमे प्रो० कैलाशनाथ सिंह, स्वामी इन्द्रवेश, स्वामी अग्निवेश एव उनके तथाकथित सहयोगियों द्वारा आर्यसमाज सगठन को छिन्न भिन्न करने की साजिशो की भर्त्सना की गई, उनके द्वारा दिये गये बयान की निन्दा की गई उन लोगो ने जिस घटिया उपाय से सावदेशिक सभा पर कब्जा करने की योजना बनाई वह निन्दनीय है। अत उनके कुकृत्यो की घोर निन्दा करते हुए आज की यह सभा सवसम्मति से प्रस्ताव पास करती है और ऐसे लोगो को आर्य समाजो के सगठनो में प्रवेश के लिए निषेध करने का आग्रह करती है, इसके साथ ही सावदेशिक सभा के सवैधानिक निर्वाचित प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती एव अन्तर ग सभा मे अपनी पूण आस्था व्यक्त करती है।

आनन्द कुमार आर्य
सभा-मन्त्री

आर्य प्रतिनिधि सभा हि०प्र०

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा समस्त देश व विदेश की आर्य सभाओ का केन्द्रीय सगठन है, अत सर्वोच्च सस्था है, इसका प्रधान कार्यालय महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली में है। सम्प्रति श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती इस संगठन के प्रधान एव श्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री महामन्त्री हैं। इसका अपना सविधान है जिसके अनुसार इस सस्था के पदाधिकारी एवं कार्य कर्त्ताओ का निर्वाचन होता है।

यह हास्यास्पद ही नहीं अपितु निन्दा योग्य है कि कुछ व्यक्तियों ने किसी आर्य समाज मन्दिर में भी नहीं अपितु किसी पीर स्थान में बैठ कर

(शेष पृष्ठ ६ पर)

देशव्यापी निन्दा

(पृष्ठ ५ का शेष)

नई सार्वदेशिक सभा का गठन कर दिया साथ ही यह भी घोषित कर दिया कि उन्होंने श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती को निकाल दिया है।

यह आर्य समाज के सर्वोच्च संगठन को छिन्न-भिन्न करने की एक कुचाल है। आर्यों को इस कुचाल से सावधान रहना चाहिए। अनुशासन हीनता की यह पराकाष्ठा है। किसी को प्रधान बनने का शौक है तो वह विधिवत ढंग से प्रवेश कर सकता है, किन्तु अनुशासन तोड़ देना, संवैधानिक तरीकों को समाप्त कर देना आपत्तिजनक है।

आर्य प्रतिनिधि सभा हि० प्र० इन कुछ व्यक्तियों के इस संगठन को क्षति पहुंचाने वाले कृत्य की कड़े शब्दों में निन्दा करती है।

स्वामी सुमेधानन्द

आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा

कार्यकारिणी बैठक दिनांक २३-९-९३

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अधीनस्थ आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा आर्य समाज से निष्कासित कुछ व्यक्तियों की संगठन विरोधी गतिविधियों की कड़ी निन्दा करती है। ये वही व्यक्ति हैं जिन्हें कुछ वर्ष पूर्व भ्रष्टाचार तथा अनुशासनहीनता के कारण आर्य समाज से निष्कासित किया गया था। इनके द्वारा एक नई संस्था का गठन करना, जिसमें देश या विदेश की किसी भी आर्य समाज का कोई भी प्रमाणित प्रतिनिधि नहीं है केवल जनता को, विशेषकर आर्य समाजियों को गुमराह करने की एक चाल है।

आन्ध्रप्रदेश की उस तथाकथित प्रतिनिधि सभा का, जिसके सहयोग से एक दूसरी बोगस सभा का गठन किया गया है, कोई अस्तित्व ही नहीं है। क्यों कि उसने आर्य संस्थाओं के संविधान की धारा १६ तथा (प्रान्तीय सभा संविधान सम्बन्धी) उपनियम की धारा १० का उल्लंघन किया है। इस सभा का स्वयं को संवैधानिक तथा अधिकृत सिद्ध करने के प्रयत्न की उसके अपने ही सदस्यों ने भर्त्सना की है। यह बोगस संस्था किसी का भी प्रतिनिधित्व नहीं करती।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की आन्ध्र प्रदेश इकाई जन साधारण से तथा विशेषकर आर्य समाजी बन्धुओं से प्रार्थना करती है कि वे कुछ स्वार्थी तत्वों की विघटनकारी गतिविधियों से सावधान रहें और उनके झूठे दुष्प्रचार का विश्वास न करें।

(क्रान्ति कुमार कोरटकर)—प्रधान

शराबबन्दी हेतु २ अक्टूबर को राजघाट दिल्ली में उपवास

आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा, दयानन्द मठ रोहतक के तत्त्वावधान में महात्मा गांधी तथा श्री लालबहादुर शास्त्री के जन्म दिवस पर २ अक्टूबर ९३ को राजघाट दिल्ली में हरियाणा, दिल्ली, उ०प्र०, कर्नाटक, राजस्थान आन्ध्र प्र तमिलनाडु गुजरात आदि प्रदेशों के शराब बन्दी तथा आर्य समाज के कार्यकर्ताओं की ओर से उपवास किया जायेगा। विचार गोष्ठी के बाद राष्ट्रपति महोदय को शराबबन्दी लागू करवाने की मांग करने के लिये ज्ञापन दिया जायेगा अत अधिक से अधिक संख्या में पहुंच कर आयोजन को सफल बनायें तथा समस्त आर्य जन तन, मन, धन से सहयोग दें।

'जलते गांधी के सिद्धान्त'

प० राधेश्याम 'आर्य' विद्यावाचस्पति
मुसाफिरखाना, सुलतानपुर (उ०प्र०)

गांधी के भारत में जलते, गांधी के ही हैं सिद्धान्त।
सत्यधर्म की इस धरती पर, सत्यधर्म होता आक्रान्त॥

गांधी जी का त्याग तपस्वी, जीवन दूर हुआ हमसे।
स्वार्थान्ध हो गए सभी हम, बने असुर, हम हैं, वैसे॥

प्रेम दया के भाव तिरोहित, हुए राष्ट्र की धरती पर।
राष्ट्र प्रेम भी लुप्त हो रहा, आवे क्यों भारत भू पर॥

स्वतन्त्रता के लिए हमें था, गांधी ने तैयार किया।
ओज तेज साहस का वैभव, बापू जी ने हमें दिया॥

नैतिकता का पाठ पढ़ाया, तथा सिखाया सत्य अहिंसा।
लेकिन लुप्त हुए हम सब हैं, अनाचार में बढ़ती हिंसा॥

हे युग मानव! कैसे तुमको, श्रद्धांजलि हम करें समर्पित?
आज हमारा सारा जीवन अपने ही स्वार्थों पर अर्पित॥

मार्ग हमारा अहे महात्मन! करो प्रदर्शित तथा प्रकाशित।
तेरे जीवन से जीवन लें, बढ़ें सुपथ पर हम प्रत्याशित॥

धर्म को राजनीति से पृथक नहीं किया जा सकता

—डा० भवानीलाल भारतीय

जोधपुर १२ सितम्बर-जिस प्रकार धर्म को जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता उसी प्रकार मनुष्य मात्र की प्राण शक्ति के तुल्य धर्म को जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता। पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द पीठ के सेवा निवृत्त प्रोफेसर तथा प्रसिद्ध विद्वान डा भवानीलाल भारतीय ने आर्यसमाज सरदारपुरा में वृहत् जन-समूह को सम्बोधित करते हुए धर्म को वस्तु, व्यक्ति तथा पदार्थ का अनिवार्य धर्म बताया। वेद, उपनिषद्, दर्शन मनुस्मृति तथा रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के अनेक उद्धरण देकर वक्ता ने बताया कि जिस प्रकार अग्नि से दाहक तत्त्व को पृथक नहीं किया जा सकता उसी प्रकार मनुष्य को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। उन्होंने स्पष्ट किया कि धर्म का कोई पर्यायवाची अथवा समानार्थक शब्द देश-विदेश की किसी भाषा में उपलब्ध नहीं होता। अत जो लोग धर्म को किसी मत, सम्प्रदाय, पन्थ या मजहब का पर्याय बता कर उसे राजनीति से अलग करना चाहते हैं, क्या वे राजनीति को अधर्म अन्याय और असत्य मूलक बनाना चाहते हैं। चाणक्य के सूत्रों को उदधृत करते हुए डा० भारतीय ने कहा कि सुख का मूल धर्म है तो धर्म का मूल राज्य है। धर्मात्मा शासक की प्रजा भी धर्मात्मा होगी। सभा की अध्यक्षता डा० राजेन्द्र प्रसाद माथुर ने की और आर्यसमाज के मन्त्री श्री सुखदेव गोयल ने वक्ताओं के प्रति आभार व्यक्त किया। इसके अतिरिक्त डा० रामसिंह सोलंकी ने भी अपने विचार प्रकट किये।

डा. देवव्रत आचार्य के सम्मान मे गोष्ठी

जोधपुर २३ अगस्त। आर्यवीर भारतीय संस्कृति और प्राचीन परम्परा की रक्षा के लिये आगे आयें। यह आह्वान आर्यसमाज सरदारपुरा में आयोजित विचार गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए वैदिक विद्वान डा० भवानीलाल भारतीय ने प्रकट किए। सार्वदेशिक आर्यवीर दल के प्रधान संचालक डा० देवव्रत आचार्य के सम्मान में आयोजित इस गोष्ठी में विभिन्न वक्ताओं ने आर्य वीर दल के कार्य की समीक्षा की। आर्यसमाज सरदारपुरा के मन्त्री श्री सुखदेव गोयल ने व अन्य सभी आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं ने आगन्तुक अतिथि का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। मन्त्री श्री सुखदेव गोयल ने १९४६-४७ के उन दिनों का स्मरण कराया जब जोधपुर नगर के आर्य वीरों ने देश विभाजन की पीड़ा जनक परिस्थितियों में शरणार्थियों की सेवा की थी। गोष्ठी में जोधपुर नगर की विभिन्न आर्य समाजों के अतिरिक्त सूरसागर, पीपाड़ सिटी रातानाडा, शास्त्रीनगर आदि के कार्यकर्ता भी उपस्थित थे। आचार्य देवव्रत ने आर्य वीर दल के संगठन को अधिक शक्तिशाली बनाने की प्रेरणा दी।

आर्य समाज गांधी नगर का ३८ वा वार्षिकोत्सव

कुरीतियों के उन्मूलन, समाज व राष्ट्र की उन्नति के लिए संगठन को सुदृढ करे : सूर्यदेव

नई दिल्ली, २६ सितम्बर। आर्य समाज गाधी नगर, दिल्ली के ३८ वें वार्षिकोत्सव के समापन दिवस पर आज दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने समाज परिसर मे नि शुल्क आर्य धर्मार्थ होम्योपैथिक औषधालय का उद्‌घाटन किया।

इस अवसर पर अपने उदगार व्यक्त करते हुए श्री सूयदेव ने कहा कि आर्य समाज ही मात्र सत्य सनातन वैदिक धर्म जो सर्वे भवन्तु सुखिन अर्थात सभी सुखी हो ससार सबकी मगल कामना करता है। इसीलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है एक नियम भी बनाया था धृति क्षमा दमोऽस्ते सच्चे धम के दस लक्षण बताता है और शेष सब मजहब हैं।

श्री सूर्यदेव ने आगे कहा कि ऋषि दयानन्द ने देश को गुलाम बनाने वाली मूर्ति पूजा का सदैव खण्डन किया था और सारा जीवन पाखण्डो व कुरीतियो से सघर्ष करते रहे परन्तु आज कुछ विद्वान महिलाओ से पैर छुआ कर गुरुडम को बढावा दे रहे हैं। आय समाज राम व कृष्ण के चित्र की नही अपितु उनके चरित्र की पूजा कर अपना आचरण तदनुकूल बनाने का सन्देश देता हैं। स्वामी दयानन्द ने श्री कृष्ण को आप्त पुरुष बताया है जबकि पौराणिक भाई उन्हें माखन चोर एव गोपियो के वस्त्र चोर कह कर बदनाम करते है। अत सभी आर्य बन्धुओ को सजग होकर आर्य समाज के सिद्धातो का प्रचार व प्रसार का सकल्प लेना चाहिए।

श्री सूयदेव ने युवको को नैतिक शिक्षा दिये जाने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होने आगे कहा कि समाज व राष्ट्र की उन्नति के लिए आज सभी आर्य जनो को सगठन को सुदढ करना चाहिए। (शेष पृष्ठ ८ पर)

आर्य सन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No. 32387/77 Posted at N D P S O on 1-10-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश" साप्ताहिक ३ अक्तूबर १९९३

संगठन को सुदृढ़ करे

(पृष्ठ ७ का शेष)

कार्यक्रम मे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती ने मूर्ति पूजा व कब्र पूजा के विरुद्ध सघर्ष करने का आह्वान किया। प० खुशीराम शर्मा ने कहा कि वास्तव मे वार्षिकोत्सव आर्य समाज के आत्मनिरीक्षण पर्व होता है और हमे यह विचारना चाहिए कि एक वर्ष के दौरान हमने आर्य समाज की उन्नति एव वेद प्रचार के लिए क्या किया है।

कार्यक्रम मे आज प्रात २० सितम्बर से चल रहे यजुर्वेद पारायण यज्ञ की पूर्णाहुति मे सैकड़ो आर्य जनो ने श्रद्धापूर्वक आहुति दी। सगीताचार्य श्री गुलाबसिंह राघव, श्री आशानन्द जी एव आर्य पुत्री पाठशाला की सगीत अध्यापिका श्रीमती मिथलेश के मनोहर भजनो ने समा बाध दिया। सस्कृत श्लोक व ईश्वर भक्ति के गीतो के विजेता बच्चो को स्कूल प्रधाना श्रीमती ईश्वरी देवी धवन ने पुरस्कार वितरित किय। प्रतिदिन रात्रि प० वेद प्रकाश श्रोत्रिय एव गुरुकुल वृन्दावन के पूर्वकुलपति श्री विशुद्धानन्द की मनोहर वेदकथा होती रही है। वेणु नेत्र अनुसन्धान केन्द्र के तत्वावधान मे आयोजित कार्यक्रम मे श्री शिव शकर गुप्ता ने पचास व्यक्तियो से नेत्रदान के शपथ पत्र भी भरवाय। समाज के मन्त्री श्री ओम प्रकाश आर्य गुप्ता ने मच सचालन तथा प्रधान श्री महेन्द्रपाल वर्मा ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

भजन मण्डली चाहिए

(गायक व ढोलक वादक)

आवश्यकता है एक अनुभवी आर्य भजन मण्डली की जो भजनोपदेश के माध्यम से देहात व शहर दोनो स्थानो पर प्रचार कर सके तथा यज्ञ आदि कर्मकाण्ड कराने में भी दक्ष हो। वेतन कार्य एव योग्यता अनुसार पूर्ण विवरण सहित आवेदन करें अथवा सम्पर्क करें।

ओम प्रकाश चुटानी
महामन्त्री, आर्य केन्द्रीय सभा, गुडगाव

आगामी कार्यक्रम

आर्य समाज बिरला लाइन्स, दिल्ली

आर्य समाज बिरला लाइन्स का वार्षिकोत्सव ४ से १० अक्तूबर ९३ तक धूमधाम से मनाया जा रहा है। श्री रमेश चन्द्र जी शास्त्री के ब्रह्मत्व में प्रात ६-३० से ८ बजे तक अथर्ववेद पारायण यज्ञ तथा रात्रि को श्री प्रकाशचन्द्र जी शास्त्री की मनोहर वेद कथा होगी। सभी सादर आमन्त्रित हैं।

प्रेषक जयकृष्ण आर्य

सेवा में—

सुर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४)–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अंक ५१ रविवार, १० अक्तूबर १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

अर्द्धशताब्दी के तांडवकारी भूकम्प मे

महाराष्ट्र में ३५ हजार से अधिक मरे व हजारों घायल

एक हाइड्रोजन बम्ब जितनी ऊर्जा विसर्जित

अरबो रुपए की सम्पत्ति नष्ट

सेना द्वारा युद्ध स्तर पर बचाव कार्य

प्रधान मन्त्री द्वारा कोष से ५० करोड़ की सहायता

नई दिल्ली ५ अक्तूबर। दक्षिण पूव महाराष्ट्र मे ३० सितम्बर के तडके आये विनाशकारी भूकम्प मे ३५ हजार से अधिक लोगो की मृत्यु हो गयी, हजारो घायलो की हालत नाजुक है और अरबो रुपये की सम्पत्ति नष्ट हो गयी। रिक्टर पैमाने पर इसकी तीव्रता ६ मापी गयी। अर्द्ध शताब्दी के इस भयानकतम भूकम्प में ६० हजार लोगो के मरने की आशका है। भूगर्भ वैज्ञानिको के अनुसार इस तांडवकारी भूकम्प से एक हाइड्रोजन बम्ब जितनी ऊर्जा का विसजन हुआ है।

सेना की ११५ टकडियों व अर्द्ध सैनिक बलो द्वारा युद्ध स्तर पर चलाये जा रहे बचाव व राहत कार्यों के दौरान अब तक हजारो घायलो को मलवे से निकाल कर हस्पतालो में भर्ती कराया जा चुका है। सेना के २५ चिकित्सा दल सेवा काय मे लगे हैं।

महामारी से बचने के लिए सामूहिक अन्त्येष्टि द्वारा शवो को जलाया गया। गाव के गाव मरघट मे परिवर्तित हो गये और लाशें धू धूकर जलती रही। बचाव कर्मियो ने २१ हजार से अधिक शवो को निकालकर उनका दाह सस्कार किया है।

लातूर, उस्मानाबाद आदि क्षेत्रो के ७२ से अधिक गाव अत्याधिक प्रभावित हुए हैं, सेना द्वारा २५ से अधिक गावो का मलवा साफ किया जा चुका है और मलवे के नीचे अभी हजारो शवो के दबे होने का अनुमान है।

इस विनाश लीला से सारा राष्ट्र स्तब्ध है। भूकम्प से हुयी इस तबाही को देखते हुए सभी सरकारी समारोह व भोज एक सप्ताह तक स्थगित कर दिये गये।

सेना के हेलीकाप्टरो द्वारा ४५ टन खाद्य सामग्री व दवाओ के पैकेट पहुचाये गये हैं अस्थायी आवासो का प्रबन्ध कर सामूहिक रसोईघर बनाये गये हैं। प्रभावित लोगो को खाद्य सामग्री भी दी जा रही है।

रेलवे द्वारा राहत सामग्री नि शुल्क भेजने की व्यवस्था की गयी है और सरकार द्वारा राहत राशि पर कोई आय कर न लगाने की घोषणा की गयी है।

प्रधानमन्त्री श्री नरसिंह राव ने ४ अक्तूबर को भूकम्प पीडित क्षेत्रो का दौरा किया। लोक सभाध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल व लोक सभा मे विपक्ष के नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी भी प्रधानमन्त्री के साथ थे। प्रधानमन्त्री ने कोष से तत्काल ५० करोड की आर्थिक सहायता देने की घोषणा की और कहा कि धन की कमी के कारण पुनर्वास कार्यों मे कोई ढील नही आने दी जायेगी।

देश के अन्य राज्यो एव अनेक सरकारी व गैर सरकारी सगठनो द्वारा भी भूकम्प पीडितो के लिए ५ से ५० लाख रुपये तक की सहायता की घोषणा की गयी है।

सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा भी ५ लाख, दस हजार डालर की सहायता की पेश कश को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है। ब्रिटेन ने ८ लाख पौंड की सहायता की घोषणा की है। अन्य देशो से भी सहायता एव विमानो द्वारा राहत सामग्री व दवायें पहुचनी शुरू हो गयी हैं। मलवे से दबे शवो को निकालने के लिए फ्रास के 'कोसी' सगठन से चार खोजी कुत्ते भी आ गये हैं।

सेना के चिकित्सादल एव राहत काय मे लगे स्वास्थ्य सगठन प्रभावित क्षेत्रो को महामारी से बचाने के प्रयास मे लगे है। दूसरी ओर विनाशलीला को देखने आ रहे लोगो की भीड को नियन्त्रित करने के भी व्यापक प्रबन्ध किये गये हैं।

आर्यसमाज द्वारा भूकम्प पीड़ितों की सहायता की अपील

आर्यसमाजे एवं आर्य अपनी श्रेष्ठ परंपरा के अनुरूप दिल खोलकर दान दे व मदद करे

नई दिल्ली, ६ अक्तूबर। राजधानी की आय समाजो के सर्वोच्च सगठन "दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा' ने आज एक विशेष बैठक मे महाराष्ट्र में ३० सितम्बर को आये भूकम्प मे मरे ३५ हजार से अधिक व्यक्तियो के प्रति दो मिनट का मौन रखकर श्रद्धाजलि अर्पित की। मृतको व पीडित परिवार जनो के प्रति भी सवेदना व्यक्त की सभा द्वारा यह भी निणय लिया गया कि अपनी श्रष्ठ परम्परा के अनुरूप आय समाज इस विनाशकारी प्राकृतिक आपदा एव राष्ट्रीय सकट की घडी मे भूकम्प पीडितो की आगे बढ़ कर धन, वस्त्र, कम्बल दवाओ आदि से हर सम्भव

(शेष पृष्ठ ६ पर)

आर्य समाज लातूर के मन्त्री से प्राप्त तार के अनुसार भूकम्पग्रस्त क्षेत्र मे आर्य समाज सबसे पहले पहुचा।

आर्थिक सहायता व सहयोग के लिए सम्पर्क करें .--

मन्त्री, आर्य समाज रामनगर लातूर-४३१५३१

दूरभाष ४२३०

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव

सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

वैदिक धर्म

(एक संक्षिप्त परिचय)

--श्री ज्ञानेश्वरार्य, दर्शनयोग महाविद्यालय सागपुर-साबरकांठा (गुजरात)

वैदिक धर्म का आधार चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) हैं। इनमे मानवोपयोगी समस्त ज्ञान विज्ञान मूलरूप मे विद्यमान है। इसके अतिरिक्त वेदो की व्याख्या के ऋषिकृत ग्रन्थ (४ ब्राह्मण, ४ उपवेद, ६ दर्शन, १० उपनिषद तथा ६ वेदाग) भी वैदिक धम का विस्तार से परिज्ञान कराते हैं।

१—वैदिक धर्म ससार के सब मतो और सम्प्रदायो से अधिक प्राचीन है। यह सृष्टि के प्रारम्भ से है।

२—ससार भर के अन्य मत, पन्थ किसी पीर, पैगम्बर, मसीहा, गुरू, महात्मा आदि के द्वारा चलाये हुए हैं, किन्तु वैदिक धर्म ईश्वरीय है किसी मनुष्य का चलाया हुआ नहीं है।

३—वैदिक धर्म मे एक, निराकार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, न्यायकारी, ईश्वर को ही पूज्य = उपास्य माना जाता है, उसी की उपासना की जाती है, अन्य देवी देवताओ की नही।

४—ईश्वर अवतार नही लेता अर्थात कभी भी शरीर धारण नहीं करता।

५—जीव और ईश्वर (= ब्रह्म) एक नही है, बल्कि दोनो अलग-अलग हैं, और प्रकृति इन दोनो से अलग तीसरी वस्तु है। ये तीनो अनादि हैं।

६—वैदिक धर्म के सब सिद्धान्त सृष्टिक्रम के नियमों के अनुकूल हैं तथा वैज्ञानिक हैं। जबकि अन्य मतो के बहुत से सिद्धात विज्ञान की कसोटी पर खरे नहीं उतरते।

७—हरिद्वार, काशी, मथुरा आदि तीर्थ नहीं हैं तीर्थ तो विद्या का अध्ययन, यम-नियमो का पालन, योगाभ्यास, सत्सग आदि हैं, जिससे मनुष्य दु ख से तैर जाता है।

८—भूत, प्रेत, डाकिन आदि के प्रचलित स्वरूप को वैदिक धर्म मे स्वीकार नही किया जाता है यह सब कल्पना मात्र है तथा मिथ्या है।

९—स्वग और नरक किसी स्थान विशेष में नहीं होते। जहा सुख है वहा स्वर्ग है और जहा दु ख होता है वहा नरक है।

१०—स्वर्ग के कोई अलग से देवता नही होते। माता-पिता, गुरू विद्वान तथा पृथ्वी, जल अग्नि, वायु आदि ही स्वग के देवता होते हैं।

११—राम, कृष्ण, शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि महापुरुष थे। न ईश्वर थे और न ईश्वर के अवतार थे।

१२—जो मनुष्य जैसा शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसको वैसा ही सुख या दु खफल अवश्य मिलता है। ईश्वर किसी भी मनुष्य के पाप को किसी भी परिस्थिति मे क्षमा नहीं करता है।

१३—मनुष्य मात्र को वेद पढने का अधिकार है, चाहे वह स्त्री हो या शूद्र।

१४—कर्म के आधार पर मानव समाज को चार भागो मे बाटा जाता है जिन्हें चार वण भी कहते हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र।

१५—व्यक्तिगत जीवन को भी चार भागो मे बाटा गया है, इन्हें चार आश्रम भी कहते हैं। २५ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्याश्रम, ५० वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम, ७५ वष की अवस्था तक वानप्रस्थाश्रम और इसके आगे सन्यासाश्रम माना गया है।

१६—जन्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं होता, अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मण आदि कहलाते हैं। चाहे वे किसी के भी घर मे उत्पन्न हुए हो।

१७—भगी चमार आदि कोई भी मनुष्य जाति या जन्म के कारण अछूत नहीं होता। जो गन्दा है वह अछूत है, चाहे वह जन्म से ब्राह्मण हो या अन्य कोई।

१८—वैदिक धर्म पुनजन्म को मानता है। अच्छे कर्म अधिक करने पर अगले जन्म में मनुष्य का शरीर और बुरे कर्म अधिक करने पर पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि का शरीर मिलता है।

१९—गगा यमुना आदि नदियो मे स्नान करने से पाप नहीं छूटते। वेद के अनुसार उत्तम कर्म करने से व्यक्ति भविष्य मे पाप करने से बच सकता है, किन्तु किए हुए पापों के फल से नहीं बच सकता।

२०—पच महायज्ञ करना प्रत्येक वैदिक धर्मी के लिए आवश्यक है -१ ब्रह्म यज्ञ (ईश्वर की उपासना करना), २ देवयज्ञ (हवन करना), ३ पितृयज्ञ (माता, पिता, सास, ससुर आदि की सेवा करना), ४ बलिवैश्वदेवयज्ञ (गाय, कुत्ता, चिड़िया, चीटी आदि तथा विधवा, अनाथ, विकलाग आदि को भोजन देना) ५ अतिथियज्ञ (विद्वान, सन्यासी, उपदेशक आदि से उपदे। ग्रहण करना और उनकी सेवा सत्कार आदि करना)।

२१—जीवित माता, पिता, गुरु, विद्वान आदि की सेवा करना ही श्राद्ध कहलाता है। मृत पितरों के नाम पर ब्राह्मणो को दिया हुआ भोजन वस्त्र धनादि मृत पितरो को नही मिलता।

२२—मनुष्य के शरीर मन तथा आत्मा को सुसस्कारी (= उत्तम) बनाने के लिए नामकरण, यज्ञोपवीत इत्यादि १६ सस्कारों का करना कर्त्तव्य है।

२३—मूर्तिपूजा छुआछूत, जाति पाति, जादू टोना, डोरा, धागा, ताबीज, शकुन, जन्मपत्री, फलित ज्योतिष, हस्तरेखा, नवग्रह पूजा, अन्धविश्वास, बलि-प्रथा, सतीप्रथा, मासाहार मद्यपान, बहुविवाह आदि बातो का वैदिक धर्म मे निषेध है।

२४—वेद के अनुसार जब मनुष्य सत्य ज्ञान को प्राप्त करके, निष्काम भाव से शुभ कर्मों को करता है और शुद्ध उपासना से ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड लेता है तब उसकी अविद्या (राग द्वेष आदि की वासनाए) समाप्त हो जाती हैं, तभी जीव की मुक्ति होती है। मुक्ति मे जीव सब दु खो से छूटकर केवल आन द का ही भोग करके फिर लौट कर मनुष्य जन्म लेता है।

२५—वैदिक धर्मी मिलने पर परस्पर नमस्ते' शब्द बोलकर अभिवादन करते हैं।

२६—वेद मे परमेश्वर के अनेक नामों का निर्देश किया गया है, जिनमें मुख्य नाम 'ओ३म्' है।

विशेष —उपयु क्त सिद्धानो से सम्बन्धित विशेष जानकारी के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखित सत्याथ प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, सस्कार विधि आदि ग्रन्थो का स्वाध्याय करें।

अग्रेजी के कारण भारतीय सस्कृति नष्ट हो रही है

डा० विजयेन्द्र स्नातक

स्व० डा० प्रह्लाद कुमार की दिल्ली विश्वविद्यालय मे ४८वीं जयन्ती प्रतिवष की भाति इस वष भी वेद सगोष्ठी के रूप में मनायी गई। मुख्य अतिथि डा० सरोजनी महिषी ने कहा कि बिना सस्कृत वेद के भारतीय ज्ञान को नही समझा जा सकता और सस्कृत ही भारत की सभी भाषाओ को निकट ला सकती है। मुख्य वक्ता निरुक्त व व्याकरण के प्रकाण्ड प० शिवनारायण शास्त्री ने वैदिक वाङमय मे भाषा चिन्तन विषय पर अपने शोधपूण निबन्ध मे बताया कि वैदिक ऋषियो ने वाक् का सूक्ष्म अध्ययन किया था।

सगोष्ठी की अध्यक्षता करते हुये डा० विजयेन्द्र स्नातक ने कहा कि सस्कृत का सम्बन्ध भारतीय सस्कृति से है। उनका कहना था कि अग्रेजी भाषा के कारण भारत की सस्कृति नष्ट हो रही है हमे सस्कृत के साथ सभी भारतीय भाषाओं की उन्नति पर बल देना होगा। प्रतिवष की भाति इस वष भी एम० ए० (वेद विकल्प) के छात्रो को समिति की ओर से छात्र-वृत्तियां भी प्रदान की गयी। स्नातक समिति के अध्यक्ष डा० सत्यदेव चौधरी ने बताया कि डा० प्रह्लाद आज से १६ वर्ष पूर्व ३२ वर्ष की अल्पायु में ही दिवगत हो गए थे और उन्होंने वेद तथा सस्कृत का अभूतपूर्व कार्य किया था। सगोष्ठी का सचालन डा० कृष्णलाल ने किया।

विभिन्न सभाओं द्वारा पारित निन्दा प्रस्ताव

नई दिल्ली, आर्य समाज से निष्कासित कैलाशनाथसिंह, अग्निवेश व इन्द्रवेश द्वारा की गई सगठन विरोधी कार्यवाहियो की विभिन्न सभाओ द्वारा निन्दा की गई है। प्रस्तुत है कुछेक प्रस्तावो का विवरण —

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान की अन्तरग सभा की बैठक दि० १९-९-९३ मे सर्वसम्मति से पारित प्रस्ताव

सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महर्षि दयानन्द भवन, आसफअली रोड, नई दिल्ली से प्राप्त पत्र दिनाक ३ ९ ९३ तथा विभिन्न समाचार पत्रो मे प्रकाशित इस आशय के समाचारो पर सभा ने विचार किया कि कुछ लोगो ने दिल्ली मे दि० २९-८-९३ को एकत्रित होकर स्वय को सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा घोषित करते हुए लखनऊ निवासी श्री कैलाश नाथ सिंह को उक्त तथाकथित सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा का प्रधान निर्वाचित करके एव सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महर्षि दयानन्द भवन, आसफ अली रोड नई दिल्ली के वैध एव सवसम्मत निर्वाचित प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती को प्रधान पद से हटाये जाने की घोषणा की है।

इस सभा का सर्वसम्मत मत एव निणय है कि उपर्युक्त दि० २९-८-९३ को श्री कैलाशनाथ सिंह को सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा का प्रधान बनाये जाने एव उक्त सभा के वतमान प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती को उनके पद से हटाये जाने सम्बन्धित उक्त घोषणा सवथा अवैध एव अनधिकृत प्रयास है, और यह सभा ऐसे प्रयास की निन्दा करती है। यह सभा यह भी घोषणा करती है कि उक्त कार्यवाही जिन लोगो ने एकत्रित होकर स्वय को विभिन्न सभाओ के प्रतिनिधि घोषित करते हुए की थी, वे न तो किसी वैध आर्य प्रतिनिधि सभा के अथवा सावदेशिक सभा के प्रतिनिधि हैं, ना ही उक्त जनो को स्वय को सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नामाकित करने अथवा सार्वदेशिक आय प्रतिनिधि सभा नाम से किसी प्रकार का समानान्तर सगठन घोषित करने का कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त था। यह सारा प्रयास आर्य समाजो को भ्रमित करने के उद्देश्य से किया गया है अत सर्वथा निन्दनीय है।

अन्त मे यह सभा यह भी घोषणा करती है कि आय प्रतिनिधि सभा राजस्थान हर प्रकार से वैध सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, जिसके प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती है तथा जिसका कार्यालय महर्षि दयानन्द भवन, आसफअली रोड, नई दिल्ली मे है, उसी के साथ है और उसी की इकाई है। इस सभा की ओर से अन्यथा किसी प्रकार की कैसी भी घोषणा करने वाले किसी व्यक्ति के विरुद्ध अनुशासन की कायवाही करने के लिए यह सभा बाध्य होगी। अत राजस्थान राज्य के समस्त आर्यसमाजो के अधिकारियों एव सदस्यो को सूचित एव सावधान किया जाता है कि किसी भी प्रकार के भ्रामक प्रचार तथा गतिविधि के प्रति सजग रहे।

सुमेधानन्द सरस्वती
मन्त्री
आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान

बिहार राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा

सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली-११०००२ की स्थापना सन्त साधकों वैदिक विद्वानो तथा आय नेताओ ने देश-विदेश मे आर्य समाज के प्रचार-प्रसार के लिए १९०८ ई० मे की थी। इस सभा का वर्तमान कार्यालय महर्षि दयानन्द भवन रामलीला मैदान, नई दिल्ली-२ मे स्थित है। सभा प्रारम्भ से ही देश विदेश मे आर्य समाज के प्रचार तथा वैदिक साहित्य के प्रकाशनार्थ प्रयत्नशील रही है।

यह सभा सरकार द्वारा विधिवत् निबधित तथा आय ससार की सर्व शिरोमणि एव सवमान्य है। इस सभा का निर्वाचन नियमावली के अनुसार विभिन्न राज्यों तथा विदेश के प्रतिनिधियो द्वारा होता रहा है। दो वर्ष पूर्व श्री सर्वसम्मति से करतल ध्वनि के साथ पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती सार्वदेशिक सभा के प्रधान पद पर प्रतिष्ठित किए गये।

उपर्युक्त परिस्थिति मे आर्य समाज की कीर्ति, ख्याति तथा प्रतिष्ठा की ज्योति को आखो से ओझल करने के लिए आय समाज से निष्कासित, पद-लोलुप, दिग्भ्रमित तथा उसकी छवि को धूमिल करने के लिए श्री कैलाश नाथ सिंह, श्री अग्निवेश तथा इन्द्रवेश आदि व्यक्तियो ने ३१-८-९३ को टेबुलटोक द्वारा श्री कैलाशनाथ सिंह को 'सावदेशिक सभा का तथाकथित प्रधान घोषित कर दिया है। यह कार्य इन लोगो का अत्यन्त अवैधानिक, हास्यास्पद, घृणित तथा अमर्यादित षडयन्त्र है।

ऐसे असामाजिक तत्वो को ज्ञात होना चाहिए कि आज देश विदेश में प्रतिदिन परिवतन शील परिस्थितियो मे पूज्य स्वामी जी ही पथ प्रदर्शन के लिए एक मात्र सम्बल दिखलाई पडते हैं। सर्वत्र आर्य समाज की वैजयन्ती को फहराने में इनसे बढ कर दूसरा कोई दिखलाई नही पड़ता है। ऐसे गगनचुम्बी हिमालय सदृष्य व्यक्तित्व से टक्कर लेना दिवा स्वप्न है। प्रचण्ड सूर्य की तप्त किरणो को चादर से ढका नही जा सकता।

अत बिहार राज्य आय प्रतिनिधि सभा श्री मुनीश्वरानन्द भवन, नया टोला पटना ८०००४ उपर्युक्त जाली सगठन का घोर विरोध तथा क्षोभ प्रकट करती है। सावदेशिक सभा के तप पूत सिद्ध साधक पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती जी तथा उनके महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री मे अविचल आस्था, श्रद्धा तथा भक्ति प्रकट करती है और निवेदन करती है कि ऐसे असामाजिक तत्वो पर वैधानिक कार्यवाही करने की कृपा करेंगे। सभा इसके लिए सब प्रकार से आप के साथ है।

भवदीय
भूपनारायण शास्त्री (प्रधान)

आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा

इस सभा को कुछ समाचार पत्रो में यह समाचार पढ कर आश्चर्य हुआ कि आयसमाज की शिरोमणी सार्वदेशिक आय प्रतिनिधि सभा द्वारा आर्य-समाज से अनुशासनहीनता के कारण पूर्व निष्कासित इन्द्रवेश, अग्निवेश, आदित्यवेश तथा श्री कैलाशनाथसिंह आदि ने आर्यसमाज के नियमो की अनदेखी करके सावदेशिक सभा के नाम का अवैध चुनाव किया है सावदेशिक सभा का चुनाव नियमानुसार प्रदेशो की आय प्रान्तीय सभाओ के चुने हुए प्रति-निधियो द्वारा होता है। हरयाणा सभा के किसी भी प्रतिनिधि को सावदेशिक सभा के चुनाव की सूचनादि नहीं भेजी गई। अत इन्होने सावदेशिक सभा के नाम का जो चुनाव करने का षड्यन्त्र रचा है, यह अवैध है। हमारी सभा उनकी इस कार्यवाही की घोर निन्दा करती है। हमारी सभा सावदेशिक सभा से सम्बन्धित है और सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती को प्रधान तथा श्री सच्चिदानन्द शास्त्री को मन्त्री विधिवत निर्वा-चित अधिकारी मानती है। अत इनकी कथित चुनाव प्रक्रिया कानूनी तौर पर अमान्य है और इस प्रकार की गतिविधिया आर्यसमाज के हित मे नहीं है।

सुबेसिंह सभामन्त्री

चुनाव समाचार

—आय समाज राणा प्रताप बाग—प्रधान—श्री जसवन्त राय साहो, उपप्रधान-श्री ओमप्रकाश आर्य, श्री धर्मदेव जगातो, मन्त्री श्री रमेश डाबर, उपमन्त्री-श्री राकेश सखूजा, प्रचारमन्त्री—श्री बलबीर पवरेजा, कोषाध्यक्ष श्री देवराज तनेजा, पुस्तकाध्यक्ष-श्रीमती विमला गुलाटी।

—आय समाज श्रद्धानन्द पुरम गुडगाव-प्रधान-श्री वेदप्रकाश सिक्का उपप्रधान श्री बलदेवराज हुडेला, मत्री—श्री राजपाल आय प्रचारमन्त्री-श्री सुरेन्द्र डाबर, उपमन्त्री-श्री यशपाल धींगडा, कोषाध्यक्ष बासुदेव गावा, पुस्तकालयाध्यक्ष श्री यशदत्त आर्य।

आदर्श त्रैतवाद (४६)

राजसिंह भल्ला

भगवान का ज्ञान मोक्ष प्राप्ति

एको हसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले सन्निविष्ट ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

श्वेता ६ १५

इस पृथिवी आदि भवन के बीच विद्यमान एक सवज्ञ ईश्वर है। वह ही ज्योति है और जल मे प्रविष्ट है। उपासक उसको ही जानकर मृत्यु को (अति इति) अति क्रमण कर जाता है। मुक्ति के लिये दूसरा माग नहीं है। भगवान का ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है।

दुखो का अन्त उसे जान कर

यदा चर्मवत आकाश वेष्टयिष्यन्ति ।
मानवा तदा देवमाविज्ञाय दु खस्यान्तो भविष्यति ॥

श्वेता ६-२०

जब उपासक मनुष्य आकाश को—निराकार भगवान को देह पर जैसे त्वचा लिप्टी हुई है वैसे ही लपेट लेगा—सब ओर से उसके आश्रय में हो जाएगा। तब देव को मलिभाति जानकर उसके दु ख का अन्त हो जाएगा, इसके अलावा दूसरा रास्ता नहीं है। उसे जान कर ही दु खो का अन्त हो सकता है।

भक्ति का फल अनन्त की प्राप्ति

यत्राय पुरुषो म्रियते किमेन न जहातीति ? नामेति अनन्त
वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोक जयति ।

बृहदा० ३-२ १२

यह पूछे जाने पर कि जब यह मनुष्य मरता है तो क्या चीज इसे नही छोडती याज्ञवल्कय ने कहा कि जब यह ज्ञानी मनुष्य मरता है तो नाम ध्यान—परमेश्वर के नाम का जाप-ध्यान इसे नही छोडता। इसको नही त्यागता। इन्द्रिया और प्राण तो वही लय हो जाते हैं। परन्तु नाम सिमरन—नाम जाप परलोक मे भी साथ जाता है। निश्चय से नाम अनन्त है। नाम की महिमा अनन्त है। विश्व देव भी अनन्त है। लोक शक्तिया भी अनन्त है। वह भगवान का भक्त उस नाम चिन्तन से असख्य लोको को लाघ कर नाश रहित—न अनन्त वाले धाम को ही प्राप्त होता है। भगवान का सहारा सदा बना रहता है और निश्चय से अ त मे अनन्त धाम तक पहुचा देता है।

पाप रहित मल रहित हो जाता है

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात पदवित्त विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । तस्मादेवविच्छान्तो दान्त उपरतिस्ततिक्षु समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येव आत्मान पश्यति सवमात्मान पश्यति । नैन पाप्मा तपति सर्वं पाप्मान तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति । एष ब्रह्मलोक सम्राडेन प्रापितोऽसीति होवा च याज्ञवल्क्य । सोऽह भगवते विदेहान्ददामि मा चापि सहे दास्यायेति । बृहदा० ४ ४ २३

यह भाव ऋचा द्वारा भी कहा गया है—ब्राह्मण की यह ऊपर वर्णित महिमा नित्य है—विनाश रहित है। यह कर्म से नही बढती न छोटी होती है। मनुष्य उस महिमा की ही पदवितस्थान ज्ञाता होवे। उसको जान कर आत्मा फिर पाप कर्म से लिप्त नहीं होता। इसलिये ऐसा जानने वाला शान्त, जितेन्द्रिय पाप रहित तितिक्ष—सहनशील सयमी होकर अपने आत्मा मे ही अपने आत्मा को देखता है और फिर अखण्ड आत्मा को देखता है। इसको फिर पाप नही लगता यह सारे पाप सागर को तर जाता है। इसको पाप नही तपाता किन्तु यह सारे पाप को तपाता है—पाप को भस्म कर देता है। यह पाप रहित, मल रहित और सशय रहित हो जाता है। अन्त मे याज्ञवल्क्य ने कहा हे! राजन! यह मोक्ष पद है इसको तू प्राप्त हो गया है। यह सुनकर राजा जनक ने कहा वह मैं भगवान को सारा विदेह देश देता हू और साथ में अपने आपको भी सेवा के लिए समर्पित करता हू। क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (१६)

नेतराम शर्मा, प्रधान—भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला दिल्ली-११००५१

७१ पेचिस—अधपके बेल की गिरी (गूदे) को पानी मे उबाल, शहद के साथ खाने से लाभ होता है।

७२ गर्भवती के वमन का इलाज—२० ग्राम बेलगिरी को चावल के मांड के साथ पीसकर मिश्री मिलाकर दिन मे दो बार।

७३ दात निकलते बच्चो के दस्तो का इलाज—बेलगिरी का चूर्ण १० ग्राम, १५० ग्राम पानी मे पका जब २० ग्राम बाकी रह जाये तब उसे छान कर ५ ग्राम शहद मिला कर चटा दें। दिन मे तीन बार, दस्त बन्द और दात आसानी से निकलेंगे।

७४ खून के दस्त को अचूक इलाज—बेलगिरी १ भाग, धनिया १ भाग पीस कर, मिश्री भाग, तीनो को बारीक पीस कर प्रात -साय रोगी को ५ ग्राम ताजा पानी के साथ खिलायें। बहुत जल्द आराम।

७५ कब्ज का इलाज—कच्चे बेल-फल का गूदा खाने या इसका शर्बत पीने से कब्ज दूर होती है।

७६ रक्तहीनता (एनीमिया) का इलाज—बेलगिरी का चूर्ण ५ ग्राम चीनी मिले दूध के साथ दिन में चार बार खाये।

७७ बहुमूत्र का इलाज—१० ग्राम बेलगिरी, ५ ग्राम कुटी सोंठ, ४०० ग्राम पानी मे काढा बना आठवा भाग रह जाने पर यह काढ़ा ५ ग्राम दिन मे दो बार रोगी को खिलायें।

७८ बेलगिरी १० ग्राम, नाग केसर १० ग्राम, रसौत १० ग्राम, सबको बारीक पीस कर ५ ग्राम चूण चावल के माड के साथ, रक्त प्रदर, श्वेत प्रदर दूर।

सैकड़ो रोगो का एक इलाज नीम

७९ बदहजमी के कारण खट्टी डकार, सिर दर्द, जी मिचलाना, नीम की निमोली खाइये जठराग्नि तेज, भूख लगने लगेगी।

८० नीम के पाच बीजो की गिरी पीस कर पानी के साथ दिन में तीन बार दस्त लगने की पुरानी बीमारी भी दूर।

८१ पानी मे शुद्ध तेल १० बूद डालकर दिन में ६ बार, तीन माह में दमे का दम निकल जाता है।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो के भावों की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (२०)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यू ढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता
लोको निधनम् ॥ अथव० का० १२।अनु ५।म० ३ ॥

काव्याथ—

जो हिस्से मे आया है उस पर सन्तोष करो भ्राता ।
दूजों के सग अमृत-सा, सुन्दर व्यवहार करो भ्राता ॥
जिनका सत्य व्यवहार उन्हीं पर सारा जग विश्वास करे,
सच पर चलने वाला ही स्वादिष्ट सुखद फल पा जाता ॥१॥
विद्वानों से शिक्षा लेकर, निज रक्षा करलो प्यारे,
मनुज आदि सब जीवों के, तुम बन जाओ रक्षक त्राता ॥२॥
यज्ञ व्याप्त है परमेश्वर सम, सकल जगत उपकारक है,
अश्वमेध अरु शिल्पज्ञान का, लाभ प्रसारो जग भ्राता ॥३॥
जब तक जीओ सत्य कर्म पुरुषार्थ सदा करते जाओ,
करो नहीं आलस्य प्रभु से, जोडो तुम अपना नाता ॥४॥

क्रमशः

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

सन्तति सृजन के लिए सुश्रुत महाराज ने एक सूत्र प्रस्तुत किया है—

ध्रुव चतुर्णा सान्निध्यात् गर्भा स्याद्विधिपूर्वक ।
ऋतु क्षेजाम्बु वीजाना सयोगात् अकरो यथा ।।

अर्थात् जैसे ऋतु, क्षेत्र, अम्बु, बीज इन चार के विधिपूवक मिलने से अकुर उत्पन्न होता है, वैसे ही स्त्री पुरुष के ऋतु क्षेत्र अम्बु ओर बीज के विधिपूर्वक सयोग से सन्तान का जन्म होता है।

ऋतु—गर्मी, वर्षा, सर्दी आदि वष की ऋतुए होती हैं। इनके अनुसार ही वृक्ष, वनस्पति, पशु-पक्षी फलते-फूलते और सन्तति देते हैं। सबकी ऋतुए निश्चित हैं। इन विवेकहीन प्राणियो को प्रभु ने एक व्यवस्था विशेष से बाँध दिया, किन्तु मनुष्य को विवेक देकर स्वतन्त्र छोड दिया है। वर्ष की ऋतुओ का प्रभाव मनुष्य शरीर पर भी पडता है, किन्तु एक विशेष ऋतु हर मास स्त्री के जीवन मे आती है, जब वह रजस्वला होती है, साथ ही पुरुष के दैनिक जीवन में जो हर्ष-विषाद आते हैं—उन सब को ध्यान में रख कर विवेकपूर्वक गर्भाधान करने से उत्तम सन्तान होती है।

क्षेत्र—क्षेत्र या खेत कोई अधिक उपजाऊ कोई कम उपजाऊ होता है। स्त्री के गर्भाशय की खेत से तुलना की गई है। ऋतु के रक्त स्राव से वह शुद्ध हो जाता है और स्वस्थ दशा मे गर्भाधान समय सीमा मे करने से श्रेष्ठ सतान की आशा की जाती है।

अम्बु – अम्बु जल को कहते हैं। जिस प्रकार फसल के अकुरण हेतु खेत मे पानी दिया जाता है, उसी प्रकार गभगत बीज की वृद्धि के लिए किसी जल की आवश्यकता है वह जल ऋतु स्राव मे होने वाला रक्त है। जब गर्भ स्थिर हो जाता है तो रक्त स्राव भी रुक जाता है और वही वृक्ष बनस्पति के लिए जैसे जल कार्य करता है—वैसे भ्रूण के लिए अम्बु काय करने लगता है। उपनिषद के अनुसार "अन्नमयो हि सोम्य मन"—जैसा खाये अन्न वैसा बने मन—जिसका सन्तान पर प्रभाव पडता है। इसीलिए इस अवधि मे गर्भिणी को सात्विक भोजन लेने का परामर्श दिया गया है।

बीज—जैसा कि पशु, पक्षी, वृक्ष वनस्पति मे है, सन्तानोत्पत्ति मे चौथी वस्तु बीज है। पुरुष का बीज अडकोशो और स्त्री का डिम्ब ग्रन्थियो से उत्पन्न होता है, जिसे क्रमश वीर्य एव रज कहते हैं। एक बार के वीय स्राव मे चालिस करोड के लगभग शुक्राणु प्रवाहित हो जाते हैं। जिनमे से कोई एक शुक्राणु का अण्डाणु से सम्पर्क होने से भ्रूण का निर्माण होता है। अण्डकोश, डिम्बकोश गर्भस्थ भ्रूण के आठवे मास तक पेट मे रहते है। नवे मास या जन्म के बाद वे अडकोशो की थैली में उतर जाते हैं।

ओज—अडकोश एव डिम्बकोश की ग्रन्थियो से दो प्रकार के स्राव होते है। एक स्राव—बहि स्राव कहलाता है जो जीवाणुओ के रूप मे स्त्री के गर्भाशय में जाकर सन्तान को उत्पन्न करता है या बाहर बह जाता है। दूसरा स्राव अन्त स्राव कहलाता है जो शरीर में सीधा रिसता रहता है, जिससे शरीर मे तेज ओज कान्ति झलकती है इसे वर्तमान विज्ञान की भाषा मे (हारमोन्स) कहते हैं। प्राणियो का जीवन मुख्यतया इन्हीं हारमोन्स पर आधारित है। यदि स्त्री प्रसग द्वारा बहि स्राव की मात्रा अधिक होती तो अन्त स्राव हारमोन्स कम होगा। फलत. तेज, ओज, क्रान्ति की कमी हो जायेगी। इस अन्त स्राव में बाधा न पडने देना ही ब्रह्मचर्य है। अन्त स्राव तो बाल्यकाल से आरम्भ हो जाता है, जब कि बाह्य स्राव युवावस्था में ही समव होता है।

सामग्री-प्रतीक प्रक्रिया – वर्तमान योगवादी सस्कृति या विकृति कहे, न मैथुन को मनोरजन का माध्यम बना रक्खा है। चल चित्र, दूरदशन के नाटक, उपन्यासो के विषय, सत्य कथाओ, समाचार पत्रो के बलात्कारी समाचार तथा विज्ञापन मनुष्य के मनोरजन के मार्ग बनते हैं, जिनकी अन्तिम परिणति मादकता एव मैथुन मे होती है। गर्भ धारण से बचने के लिए कृत्रिम निरोधो के प्रयोग करके भी मैथुन का मार्ग प्रशस्त किया जाता है और वीर्य स्खलन को शरीर की कोई हानि न बताकार थूक, कफ आदि के समान बताकर उसके निकल जाने पर कोई असाधारण बात नहीं मानी जाती है।

क्रमश

पाप के अन्न का दुष्परिणाम

आनन्द स्वामी

पूज्य महात्मा हसराज जी एक बार हरिद्वार के मोहन आश्रम मे ठहरे हुए थे। एक वानप्रस्थी उनके पास ही एक कमरे मे रहता था। एक दिन वानप्रस्थी महात्मा जी के पास आया और जोर-जोर से रोने लगा। महात्मा जी ने पूछा—'क्या हुआ आपको ?"

वह बोला—'मैं लुट गया, महात्मा जी! मेरी उम्र-भर की कमाई नष्ट हो गई!'

महात्मा जी बहुत घबराए। पूछने पर पता लगा कि वह वानप्रस्थी पिछले कई वर्षों से ईश्वर-भक्ति के मार्ग पर चलता हुआ ध्यान और उपासना की सीढ़ी तक पहुच चुका था। रात्रि के समय अपने कमरे में बैठ जाता वह। भगवान का ध्यान करता ईश्वर की शीतल ज्योति उसे दिखाई देती। उसमे आनन्द से मस्त होकर वह घटो बैठा रहता। परन्तु कल रात उसके साथ एक अद्भुत घटना घटी। रोते हुए उसने कहा—'मैं ध्यान मे बैठा महात्मा जी, तो ऐसा प्रतीत हुआ कि रोशनी में लाल दुपट्टे वाली एक नोजवान लडकी खडी है। मैंने घबराकर आखें खोल दीं। समझा कुछ भूल हो गई है।—फिर प्राणायाम किया, फिर ध्यान से ज्योति को देखा, परन्तु वह लड़की अब भी वहीं थी। मैं उसे जानता नही, परन्तु बार-बार मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती है। मैंने बार-बार मुह-हाथ धोकर प्राणायाम करने का प्रयत्न किया है। बार-बार उसे हटाने का प्रयत्न किया है परन्तु रोशनी में उसके अतिरिक्त कुछ मुझे दिखाई नहीं देता। मेरी तो उम्र-भर की कमाई लुट गई! मैं तो कहीं का न रहा! पता नहीं मुझे क्या हो गया ?' वह कहता जाता था और रोते जाता था।

महात्मा जी ने पूछा—'किसी बुरे आदमी की सगत मे तो नहीं बैठे ? कोई बुरी पुस्तक तो नही पढी ?'

उसने कहा—ऐसा कुछ नही किया मैंने।'

महात्मा जी ने कहा—'कल तुम आश्रम से बाहर तो गए होगे ?'

वह बोला—'गया था, एक भण्डारे में। एक सेठ साहब आये हैं। उन्होंने भण्डारा किया था वहा खाना खाने गया था।'

महात्मा जी ने कहा—'जाकर पता लगाओ—वह सेठ कोन है और उसने भण्डारा क्यो किया था ?'

वानप्रस्थी गया। पता लगाकर उसने बताया कि सेठ एक शहर का रहने वाला है। वहा उसने अपनी नोजवान बेटी एक बूढे के पास दस हजार रुपए में बेच दिया था। दो हजार रुपया लेकर वह हरिद्वार आया है कि पाप का प्रायश्चित करने के लिए भण्डारा कर दे।

महात्मा जी ने इस बात को सुनकर कहा—'यह वही नौजवान लड़की है, जो तुम्हे दिखाई देती है। तुमने जो कुछ खाया वह पुण्य भाव से दिया हुआ दान नही था, पाप की कमाई का एक भाग है—उस हतभाग्य लडकी का मूल्य। जब तक वह अन्न तुम्हारे शरीर से नहीं निकलेगा, तब तक उस दुखी लडकी का दिखाई देना बन्द न होगा।'

यह है पाप का अन्न खाने का परिणाम! इससे आत्मा गिरती है। आगे बढता हुआ मनुष्य पीछे गिरता है।

सहायता की अपील

(पृष्ठ १ का शेष)

सहायता करेगा। बैठक मे उपस्थित विभिन्न आर्य समाजो के प्रतिनिधियो ने अपनी ओर एव अपनी-२ समाजो की ओर से धन राशी देने की घोषणा की जिसकी सूची आगामी अक मे प्रकाशित की जायेगी।

अत दिल्ली की समस्त आर्य समाजो, आर्य शिक्षण सस्थाओ, आर्य सस्थाओ से अनुरोध हैं कि वे भूकम्प पीडितों के लिए दिल खोल कर दान दें तथा नकद राशि, ड्राफ्ट, मनीआर्डर, चैक, वस्त्र, कम्बल आदि 'दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१ को यथाशीघ्र भिजवाने की व्यवस्था कराये। अधिक जानकारी के लिए दूरभाष ३१०१५०, सभा कार्यालय मे सम्पर्क करें। एकत्रित सारी दान राशी एव सामग्री सभा द्वारा सार्वदेशिक आय प्रतिनिधि सभा के माध्यम से पीड़ितो को भिजवाये जायेगी, दी गयी दान राशी एव सामग्री के बदले रसीद अवश्य प्राप्त करे। दान राशी आयकर से मुक्त है। प्राप्त जानकारी के अनुसार दिल्ली की आय समाजो एव आर्य सस्थाओ ने अपने-अपने क्षेत्रो मे राहत कोष के लिए राशी एव सामग्री इक्ट्ठी करनी शुरू कर दी है।

दिल्ली आर्य अनाथालय ने भूकम्प पीडित क्षेत्रो के एक सौ अनाथ बच्चो को अपनाने के लिए प्रधानमन्त्री एव महाराष्ट्र के मुख्यमन्त्री को तार द्वारा सन्देश भी भेजा है।

शास्त्री कक्षा मे पढ़ने वाले एक हरिजन छात्र के जीवन की रक्षा करें

सभी दानी महानुभावो से हमारी अपील है कि आर्य गुरुकुल ऐरवा कटरा (इटावा) मे नि शुल्क विद्या अध्ययन करने वाले एक छात्र जो शास्त्री कक्षा प्रथम खण्ड मे है तथा जो सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठ कर चुका है जिसका नाम हरेन्द्र कुमार विद्यार्थी है यक्ष्मा रोग से पीडित होकर घर चला आया है।

गुरुकुल ने इस छात्र के पीछे हजारो रुपये खर्च किये परन्तु रोग मे सुधार न होने के कारण इसे घर भेजना पड़ा, परिवार के लोग मजदूरी करके अपनी परवरिश करते हैं। कर्ज एव उधार से कुछ पैसे लाकर इस रोगी का इलाज राजयक्ष्मा केन्द्र पटना एव मेडिकल अस्पताल मे कराया, अब यह छात्र स्वास्थ्यलाभ कर रहा है। वर्तमान मे इसे १२ रुपये की दवा नित्य खानी पडती है तथा पूर्ण स्वस्थ होने के लिए इसे ९ माह तक दवा खानी चाहिए। अर्थाभाव के कारण अब इसे दवा नहीं मिल पा रही है।

अत मैं आर्य जगत के दानी बन्धुओ से अपील करता हू कि इस छात्र की जीवन रक्षा में आर्थिक सहयोग करें।

दान की राशि भेजने का पता—
ब्रह्मचारी हरेन्द्र कुमार विद्यार्थी
पिता—श्री जानकी रविदास
मु०पो० मुसाढी जि० आलदा
(बिहार राज्य) ८०१३०४

स्वामी अग्निव्रत
दयानन्द सेवाश्रम मुसाढ़ी
नालन्दा(बिहार) ८०१३०४

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित वैदिक साहित्य

१	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम द्वितीय) प्रत्येक		१ ५०
२	नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२ ००
३	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३ ००
४	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४ ००
५	नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५ ००
७	फ्लैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यकाम वर्मा)	२ ००
८	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	,, ,,	२ ००
९	एनोटामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५ ००
१०	आर्यों का आदि देश	,, ,,	२ ००
११	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	,, ,,	२५ ००
१२	दी ओरीजन होम आफ आर्यन्स	,, ,,	० ००
१३	चत्वारो वै वेदा	,, ,,	५ ००
१४	द्वैतसिद्धि	,, ,,	५ ००
१५	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ मे	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	२० ००
१६	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(डा० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
१७	हसता चल, हसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८	दयानन्द एण्ड दा वैदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
१९	पूजा किसकी ? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२०	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२१	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२२	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकडा
२३	महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी स्मारिका (सन् १९८३)		५ ००
२४	स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अर्धशताब्दी स्मारिका १९८५		५ ००
२५	महर्षि दयानन्द निर्माण शताब्दी स्मारिका १९८५		१० ००
२६	महर्षि दयानन्द निर्वाण विशेषाक		१० ००
२७	ऋषिबोधाक		१० ००
२८	योगीराज श्रीकृष्ण विशेषाक		१० ००
२९	दैनिक यज्ञ पद्धति	(दि० आ० प्र० सभा)	४ ००
३०	हैदराबाद आर्य सत्याग्रह अर्धशती स्मृति अक	,,	१० ००
३१	धर्मवीर पडित लेखराम सयुक्ताक	,,	५ ००
३२	स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती	,,	२५ ००
३३	प० नाथूराम शकर शर्मा 'शकर'	,,	२५ ००
३४	श्रावणी एव श्रीकृष्ण जन्माष्टमी	,,	५ ००
३५	प० चमूपति सयुक्ताक	,,	५,००
३६	स्वामी रामेश्वर नन्द सरस्वती	,,	५ ००
३७,	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	,,	५ ००
३८	प० गणपति शर्मा	,,	५ ००
३९	प० रामचन्द्र देहलवी	,,	५ ००

नोट उपरोक्त सभी पुस्तको पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तको की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक-व्यय पृथक नहीं लिया जाएगा। कृपया अपना पूरा पता एव नजदीक का रेलवे स्टेशन साफ-साफ लिखे।

पुस्तक प्राप्ति स्थान **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**
१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१

वेदाचार्य विनायक भट्ट घैसास गुरुजी अमृत महोत्सव

दुनिया के अनेक विश्वविद्यालयो मे वेदों का अध्ययन हो रहा है

डा० शकर दयाल शर्मा

नई दिल्ली। डा० शकर दयाल शर्मा ने कहा कि भारत मे वैदिक विद्वानो द्वारा हजारो वर्षों से वेदो के वाचन की बदौलत ही उनकी पहचान सुरक्षित होती आई है। ये उद्गार राष्ट्रपति जी ने पूणे मे अगस्त, ९३ वैदिक विद्वान विनायक भट्ट घैसास गुरु जी के ७५वें जन्मोत्सव के अवसर पर गुरु जी को सम्मानित करते हुए कहे। बाल गधर्व रग मन्दिर मे आयोजित कार्यक्रम मे डा० शर्मा ने वेदाचार्य विनायक भट्ट घैसास गुरु जी अमृत महोत्सव समिति की ओर से उन्हें ७५ हजार की सम्मान राशि प्रदान कर सम्मानित किया।

डा० शर्मा ने आगे कहा कि आज यद्यपि दुनिया भर मे कई विश्वविद्यालयो मे वेदो का अध्ययन अध्यापन हो रहा है तथापि केवल भारत में ही इसके वाचन की परम्परा है।

महाराष्ट्र के राज्यपाल श्री पी० सी० अलेक्जेंडर ने इस अवसर पर वेदो को आध्यात्मिकता का स्रोत बताते हुए कहा कि आध्यात्मिक आयाम ही हिन्दू धर्म का मूल है, अत ऐसे सस्थानो की आज आवश्यकता है जो देश की परम्परायें अक्षुण्ण रखने के महती कार्य में लगे हो। कार्यक्रम मे इससे पूर्व भाजपा सासद श्री अन्ना जोशी ने राष्ट्रपति का अभिनन्दन किया।

गुजरात मे गोवंश की हत्या पर रोक से

आर्य जगत मे हर्ष की लहर

नई दिल्ली सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने गुजरात के मुख्यमन्त्री श्री चिमनभाई पटेल को गोवश के करल को रोकने हेतु अध्यादेश जारी करने पर एक बधाई सन्देश भेजा है। इसमे समस्त आर्य जगत की ओर से शुभकामनायें दी हैं। अध्यादेश पर राष्ट्रपति की मन्जूरी प्राप्त हो चुकी है। इस सम्बन्ध मे स्वामी जी ने भारत सरकार व अन्य राज्य सरकारो से भी जोरदार अपील की है कि वे गुजरात सरकार के समान अध्यादेश जारी कराकर गोवश की रक्षा करें ताकि योगिराज श्री कृष्ण राष्ट्रपिता महात्मा गांधी व युगपुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती के स्वप्न साकार हो सके।

उल्लेखनीय है गुजरात सरकार का अध्यादेश २३ सितम्बर ९३ से लागू हो गया है। इसके अनुसार गो व इसकी नस्ल की हत्या पर पूर्ण पाबन्दी लगा दी गयी है। इसमें गाय के बछड़े एव बैल भी शामिल हैं। श्री चिमन भाई पटेल ने बताया कि बम्बई में पशुओं पर अत्याचार रोकने के लिए १९५४ के कानून के अनुसार पहले १६ वर्ष से अधिक आयु के बैलों का वध करने की अनुमति थी परन्तु अब इस पर भी पाबन्दी लगा दी गयी है।

यह जानकारी श्री पटेल ने एक सवाददाता सम्मेलन मे दी। उन्होने यह भी बताया कि मुस्लिम वर्ग के एक शिष्टमण्डल ने इस अध्यादेश का विरोध किया था परन्तु उन्हें यह बता दिया गया है कि यह पाबन्दी सिर्फ गोवश की हत्या पर ही लागू है न कि अन्य जानवरो पर इस समाचार से समस्त आर्य जगत में खुशी की लहर फैल गयी हैं।

ऋषि भक्त चौ० बिशनदत्त बजाज दिवगत

नई दिल्ली। आर्य समाज पटेल नगर न दि के आजीवन सदस्य एव रामपुर समाज के पूर्व प्रधान चौ० बिशनदत्त बजाज का साढे ८७ वर्ष की आयु में ३ सितम्बर ९३ को स्वर्गवास हो गया। पचकुइया रोड श्मशान घाट नई दिल्ली पर पूर्ण वैदिक रीति से दाहसस्कार हुआ अन्त्येष्टि में विभिन्न आर्यसमाजो के प्रतिनिधियो ने उन्हे अन्तिम श्रद्धाजलि अर्पित की। आर्य समाज पटेल नगर के सभागार मे ६ सितम्बर को शान्ति यज्ञ व श्रद्धाजलि सभा मे श्री बजाज की सेवाओ का स्मरण कर उन्हें भावाजलि अर्पित की गयी। परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवगत की आत्मा को शान्ति व सद्गति तथा परिवारजनों को दुःख सहने की शक्ति प्रदान करे।



श्री वीरेन्द्र जी सर्वसम्मति से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान निर्वाचित

५ सितम्बर १९९३ को आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब के कार्यालय जालन्धर में सभा के वार्षिक साधारण अधिवेशन में श्री वीरेन्द्र जी को सर्वसम्मति से प्रधान निर्वाचित किया गया। शेष पदाधिकारियो आदि को मनोनीत करने का उन्हें अधिकार दिया गया जिसके अनुसार उन्होने ये अधिकारी मनोनीत किये। श्री ब्रह्मदत्त शर्मा-वरिष्ठ उप प्रधान, श्री हरबन्सलाल शर्मा, श्रीमती कमला आर्या श्री सरदारी लाल आर्य रत्न उप प्रधान श्री अश्विनी कुमार शर्मा महामन्त्री, श्री आशानन्द आर्य, श्री राधे श्याम मोहिल श्री राम रत्न महाजन श्री जयदेव मन्त्री, श्री योगेन्द्र पाल सेठ कोषाध्यक्ष श्री रणवीर जी भाटिया-अधिष्ठाता वेद प्रचार श्री प्रिंसीपल अश्विनी कुमार शर्मा रजिस्ट्रार आर्य विद्या परिषद श्री मनोहर लाल आर्य अधिष्ठाता आर्य वीर दल और प्रो० स्वतन्त्र कुमार अधिष्ठाता साहित्य विभाग।

इनके अतिरिक्त अन्तरग सदस्य तथा दूसरी समितियो का भी गठन किया गया।

धर्मदेव आर्य
सभा कार्यालयाध्यक्ष

आर्य समाज के नियम

—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

—ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

आर्य सन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R.N. No 32387/77 Posted at N D P S O on 7 8 10-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९३
पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश" साप्ताहिक
१० अक्तूबर १९९३

स्व० पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार की बरसी

आर्य समाज ग्रेटर कैलाश १ मे स्व० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालकार के दिवगत होने के एक वर्ष बाद २ सितम्बर ९१ को उनका पवित्र स्मरण किया गया। प० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालकार ने ४३ ग्रन्थ लिख थे जिनमे वेद भारतीय सस्कृति भारत का आध्यात्मिक चिन्तन समाजशास्त्र के साथ होमियोपैथी आदि विषयो पर गहन चिन्तन था। अद्भुत विद्वान पूज्य प० जी का भारतीय ज्ञान के अतिरिक्त पाश्चात्य मनोविज्ञान व दर्शनो का भी उनका गहन अध्ययन था। प० जी स्वतन्त्रता सेनानी राज्य सभा के सदस्य गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के कुलपति तथा परिदृष्टा भी रहे। सम्पूर्ण आयु गुरुकुल की उन्नति मे प्रयासशील रहे। उनके कृतित्व से आर्य समाज का मस्तक ऊ चा हुआ।

वे दृढ निश्चय के धनी थे उन्हे नमुचि कहा गया जिमे ठीक समझते थे उसे करके छोडते थे तथा जो उनको उपयुक्त प्रतीत नही होता था उसे हटाकर रहते थे। उन्होने ९५ वर्ष का लम्बा जीवन अत्यन्त भव्य तरीके से जीया था।

सभा को प्रो० वेदव्रत जी श्री मनोहर विद्यालकार, डा० प्रशान्त वेदालकार श्री अजय भल्ला ने सम्बोधित किया। सभा की अध्यक्षता गुरुकुल कागडी के पूर्व कुलपति श्री सुभाष विद्यालकार ने की। सभा का सचालन डा० वेद कुमार ने किया।

राष्ट्र भाषा के बिना हम अपंग हैं

नई दिल्ली। मित्र सगम पत्रिका गाधी भवन, अतराष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा व योग सस्थान के सयुक्त तत्वाधान मे विनोबा जयन्ती पर एक विशाल समारोह मे बोलते हुए पूर्व केन्द्रीय मन्त्री प्रो० शेरसिह ने कहा कि गाधी और विनोबा जो ने जो रास्ता हमे दिखाया था, उसकी आज घोर उपेक्षा हो रही है। बिना सत्य, अहिंसा, स्वावलम्बन और स्वदेशी के हम सच्चे स्वराज्य को नही पा सकते। गाधी भवन दिल्ली विश्वविद्यालय सभागार मे आयोजित इस कार्यक्रम मे श्री झुनझुन वाला, डा० रामप्रसाद मिश्र गाधी भवन के निदेशक डा० रामेश्वर मिश्र, योग सस्थान के डा एन०एस० अधिकारी, डा० चन्द्र भूषणसिह आदि ने भी अपने विचार रखे।

हिन्दी दिवस के अवसर पर सस्था के सस्थापक व पत्रिका के सपादक श्री प्रेम वोहरा ने कहा कि राष्ट्र भाषा के बिना हम अपग और मूक हैं। हमारा मारा होना चाहिए हम भारतीयो पर अग्रेजी थोपना हमारी क्षमता को नष्ट करना है। हमे अब अपनी ही भाषा चाहिए, मातृभाषा और राष्ट्र भाषा दोनो।'

ओम सपरा, साहित्य सचिव मित्रसगम पजी

सेवा में--

२३४८ श्री व्यवसायाध्यक्ष जी
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
गुरुकुल फार्मेसी हरिद्वार (उ०प्र०)

सुर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड नई दिल्ली ११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (एल ११०२४/-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १६, अंक ५२ रविवार, १७ अक्तूबर १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९४

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

चुनावी चकाचौंध मे भी आर्यसमाज ने भूकम्प पीड़ितों को नहीं भुलाया

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा भूकम्प पीड़ितों को एक लाख रुपए की सहायता

नई दिल्ली, १० अक्तूबर। दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने महाराष्ट्र व पडोसी राज्यो में भूकम्प पीडितो की मदद के लिए एक लाख रुपये की सहायता राशी देने की घोषणा की है। उन्होने आय समाज दीवान हाल मे १० अक्तूबर को हुई एक बैठक मे यह जानकारी दी बैठक की अध्यक्षता सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने की। उल्लेखनीय है कि ३० सितम्बर के तडके महाराष्ट्र मे आये विनाशकारी भूकम्प मे ३५ हजार व्यक्ति मारे गये, हजारो घायल हुये तथा लाखो बेघर हो गये। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की ३ अक्तूबर को हुई बैठक मे भूकम्प पीडितो की सहायता करने का निर्णय लिया जा चुका है।

अत राजधानी दिल्ली की समस्त आर्य समाजो, स्त्री समाजो, आर्य शिक्षण सस्थाओ, आर्य कार्यकर्त्ताओ, दानी महानुभावों आदि से अनुरोध है कि वे इस भयकर विपत्ति के समय घर से बेघर हुए भाई बहिनो तथा अनाथ बच्चो के पुनर्वास के लिए दिल खोलकर सहायता करे। इस कार्य निमित्त अधिक से अधिक सहायता राशि चैक, बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर, नकद एव आटा, दाल-चावल आदि खाद्य तथा कपडे कम्बल आदि इकट्ठी करके सभा कार्यालय—"दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१" को यथाशीघ्र भिजवा दे ताकि सभी एकत्रित राशि व सामग्री उन पीडित भाई बहनो तक पहुचायी जा सके। अधिक जानकारी के लिए सभा कार्यालय मे दूरभाष न० ३१०१५० पर सम्पर्क करें।

आप सहायता राशि खाद्य सामग्री आदि निम्न राहत केन्द्रो मे भी भिजवा सकते हैं —

(१) आर्य समाज मन्दिर दीवान हाल, चादनी चौक दिल्ली ६

(२) आर्य समाज मन्दिर हनुमान रोड, नई दिल्ली १

(३) आर्य समाज मन्दिर करोल बाग, नई दिल्ली-५

(४) आर्य समाज मन्दिर राजौरी गार्डन नई दिल्ली २७

आर्य समाज अपने जन्मकाल से ही ऐसी प्राकृतिक विपत्तियो के समय हर प्रकार आगे बढकर सदैव सहायता करता आया है और हमे आप सबका समय समय पर सहयोग प्राप्त होता रहा है। आशा है कि इस बार भी आप अधिक से अधिक सहायता व सहयोग प्रदान करेंगे।

दानदाताओ की सूची

आर्य समाज दीवान हाल	२१०००) रुपये
आय समाज हनुमान रोड, नई दिल्ली	११०००) "
आर्य समाज करोल बाग, नई दिल्ली	११०००) '
आर्य समाज नागलराया	५०००) "
श्रीमती ईश्वरी देवी धवन, शाहदरा	५०००) "
आर्य पुत्री पाठशाला, गाधी नगर, दिल्ली	५०००) "
विशम्बर नाथ भाटिया, कृष्ण नगर	५०००) "
रत्नदेवी कन्या सी० सै० स्कूल, कृष्ण नगर, दिल्ली	२५००) "
बैजनाथ आय कन्या सी सै स्कूल, अनाज मण्डी शाहदरा	२५००) "
आय समाज विवेक विहार	११२५) "
श्री राममूर्ति कैला	११००) "
आय समाज विनयनगर, न दि	११००) '
रत्नचन्द आय पब्लिक स्कूल विनय नगर, न दि	११००) "
आय समाज तिमारपुर, दिल्ली	१००१) '
आर्य समाज नवीन कृष्ण नगर, शाहदरा	१०००) "
श्री रोशनलाल गुप्ता निर्माण विहार	५००) '
श्री तिलकराज चोपड़ा, विकासपुरी	५००) "
डा० बत्रा जनकपुरी	२५१) "
श्री नेत्रराम शर्मा	२५०) "

क्रमश

ऋषि निर्वाणोत्सव श्रद्धापूर्वक मनाये। —सूर्यदेव

समाज मन्दिरो मे रात्रि को दीपमाला करें : निर्धनो मे मोमबत्तियाँ बाटे बच्चों के लिए प्रतियोगितायें आयोजित करें

नई दिल्ली, १३ अक्तूबर। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने राजधानी की सभी आर्य समाजो, स्त्री समाजो, आर्य सस्थाओ व आर्य शिक्षण संस्थाओं से अपील की है कि वे युगपुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती का ११०वा निर्वाणोत्सव दीपावली के आस-पास की सुविधाजनक तिथियो मे श्रद्धापूर्वक मनायें।

क्रांतिकारी सगठन आर्य समाज के सस्थापक ऋषि दयानन्द स्वराज्य के सर्व प्रथम उद्घोषक थे। स्वभाषा, स्वभूषा, स्वसस्कृति के प्रबल समर्थक भी थे। नारी-उद्धारक दयानन्द ने नारी शिक्षा, नारी को वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान करते हुये उसकी प्राचीन गरिमा को पुन प्रतिष्ठित किया था। सत्य के प्रचारक स्वामी जी ने सारी आयु कुरीतियो, पाखडो व आडम्बरो से सघर्ष करते हुये सत्य की स्थापना के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। विश्व के उपकार व कल्याण के लिए वेदों के मार्ग पर चलने का सन्देश दिया। उन्होने सस्कृत को सस्कृति का आधार एव जन-जन की भाषा हिन्दी को राष्ट्रीय एकता का मूल मन्त्र बताया।

ऐसी बहुमुखी प्रतिभा के धनी महर्षि दयानन्द का निर्वाणोत्सव सोल्लासपूर्वक मनाना हम सबका पावन कर्त्तव्य है। १३ नवम्बर, दीपावली को सायकाल समाज मन्दिरो में श्रद्धापूर्वक यज्ञ कर दीपमाला करें। झुग्गी-झोपडी कालोनियो, निर्धन वर्ग के भाईयों मे भी मोमबत्तियो के पैकेट वितरित करें ताकि उनके घरो मे भी खुशियो का उजाला हो सके।

समाज राष्ट्र व मानव मात्र के लिए स्वामी दयानन्द द्वारा की गयी सेवाओ का स्मरण कर उन्हें श्रद्धाजलि अर्पित की जाये। बच्चो व छात्रों के लिए स्वामी जी से सम्बन्धित निबन्ध, वाद विवाद भाषण आदि प्रतियोगितायें आयोजित कर विजेताओ को भी निर्वाणोत्सव कार्यक्रम मे पुरस्कृत किया जाये।

निर्वाणोत्सव कार्यक्रम आयोजन की सूचना तथा सम्पन्न हुए समारोह का समाचार अपने पत्र आर्य सन्देश मे यथाशीघ्र प्रकाशनार्थ भिजवाने की व्यवस्था कराये।

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

धर्म को कहां कहां से बहिष्कृत करोगें ?

डा० भवानी लाल भारतीय

कई शब्द ऐसे होते हैं जिनका पर्यायवाची शब्द अन्य भाषाओ मे कठिनाई से ही मिलता है, यह नहीं भी मिलता। सस्कृत का धम एक ऐसा ही शब्द है। इसका ठीक ठीक अभिप्राय व्यक्त करने वाला कोई शब्द अन्य भाषाओ मे है ही नही। इम लिए प्राय अधिकाश भारतीय भाषाओ ने तो इसे अपने शब्द भण्डार मे यथावत् स्वीकार कर लिया है। हिन्दी, बगला, गुजराती, मराठी, पजाबी, उडीया सिंधी तथा असमिया मे धर्म शब्द इसी रूप मे प्रयुक्त होता है। मत, पथ, सम्प्रदाय, महजब रिलीजन आदि शब्द उस अथ को देने मे सवथा अममथ हैं जो "धम" के व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ मे हमे प्राप्त होता है। इसीलिए धम की परिभाषा को पूणतया वैज्ञानिक बताते हुए कहा गया—वस्तु स्वभावो धम अर्थात किसी वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। वस्तु के साथ व्यक्ति, पदार्थ, भौतिक शक्ति आदि को भी लिया जा सकता है। अग्नि का धम है जलाना। यदि आज के राजनीतिज्ञो को आग्रह मानकर अग्नि धर्म निरपेक्ष हो जाये तो हमारा चूल्हा बूझ जायेगा, हमारे कारखानो की भट्टिया शान्त हो जायेंगी। जल का धम उसकी श्रवणशीलता एव प्रवाह है। यदि वह अपने इस धर्म से स्वय को पृथक् कर ले तो वह और कुछ भले हो जाये, जल नही रहेगा। इसी प्रकार वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी जड़ पदार्थ अपने-अपने धम (स्वभाव) के अनुसार अपना कार्य करते हैं।

जो बात जड़ पदार्थो के अगभूत धर्म के लिए कही जाती है वही मानवजाति पर भी लागू होती है। विद्यार्थी का धम यदि अध्ययन हैं तो शिक्षक का धम अध्यापन। व्यावसायी का धर्म वाणिज्य-व्यावसाय हैं तो सैनिक का धम देश की रक्षा। यदि ये सभी लोग आज के शासको के आग्रह को मानकर धम निरपेक्ष हो जाये तो छात्र पढना बन्द क रदेगा और अध्यापक शिक्षा दान से हाथ खीच लेगा ऐसी अराजक स्थिति मे समाज का क्या होगा, यह सोचने की तकलीफ हमारे राजनैतिक नेता नहीं करते। वस्तुत धर्म निरपेक्ष शब्द अपने आप मे भ्रामक तथा वदतो व्याघात युक्त है। कोई व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ धर्म निरपेक्ष होते ही अस्तित्व खो बैठेगा। अपनी जलाने की शक्ति को खोकर आग नही रहेगी इसी प्रकार मानव भी अपने धर्म से विमुख होकर जानवर भले ही बन जाये, वह मनुष्य तो हरगिज नही रहेगा। इसलिए नीतिकार को कहना पडा धर्मेण हीन पशुभि समान।

यह बात नही कि लोग इस तथ्य से परिचित नही है। समझदार लोग जानते हैं कि धर्म जैसे उदात्त, महान भावो से युक्त तथा व्यापक अथ देने वाले शब्द का किसी अन्य भाषा मे पर्याय तलाश करना धूल मे फूल उगाने के तुल्य है। लगभग २ वष पूर्व दूरदशन पर राम नवमी के अवसर पर हिन्दी और अग्रेजी मे समाचार प्रसारित किये गये तो पहले हिन्दी समाचार वाचक ने कहा—"राम धम के साक्षात प्रतिमान थे। धम मानो उनमे मूर्तिमान हो गया था।" उसका यह कथन वाल्मीकि के "रामो विग्रहवान् धम' का प्राय अनुवाद ही था। जब यही अभिप्राय व्यक्त करने का अवसर अग्रेजी समाचार वाचक को मिला तो उसके सामने समस्या थी कि वह धम का अग्रेजी रूपान्तरण कैसे करे। क्या वह यह कहे कि 'राम वाज दि एम्बोडिमैंट आफ रिलीजन'। किन्तु ऐसा कहने से तो बात बनती नही। जो अभिप्राय या भाव धम शब्द के प्रयोग से व्यक्त होता है वह 'रिलीजन' से तो कथमपि प्रकट नही होता। फलत उसने अत्यन्त बुद्धिमता के साथ यही कहा 'रामवाज दि एम्बोडिमैंट आफ धम'। इसी उदाहरण से सिद्ध होता है कि जो राजनीतिज्ञ धम और रिलीजन का घालमेल करते हैं वे तथ्य से कोसो दूर हैं तथा आत्मवचना पूर्ण छल ही उन्हें अभीष्ट हैं।

आइये देखें कि धर्म जैसे उदात्त तत्व को सस्कृत के प्रचीन साहित्य मे क्या कुछ कहा और कैसे लिखा गया है। ससार के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद मे धर्म का प्रयोग बहुवचन 'धर्मा" के रूप मे मिलता है। ऋग्वेदीय विष्णु सुक्त मे आये त्रीणि पदानिविचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य। अतो धर्माणि धारयन्" (२२/१७ मन्त्र का भाव यह है कि विश्व का अन्तयामी परमात्मा विष्णु, त्रिविध पदार्थों और व्यवहारों का विधान करता है इसी कारण सब पदार्थ अपने अपने धर्मों को धारण कर स्वकर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

महाभारत में धर्म को धारण सयुक्त कहा—अर्थात् जो व्यक्ति, वस्तु और पदार्थ जिन तत्वो, गुणो, विशेषताओं के आधार पर अपना अस्तित्व रखता है वे ही उसके धर्म हैं।

धारणाधर्ममित्याहुधर्मो धारयतेप्रजा।
य स्याद धारणसयुक्त सर्व धर्म इति स्मृत।

इसी के आधार पर आगे चलकर "यतोधर्मस्ततोजय" जैसी उक्तिया प्रचलित हुई क्योंकि स्वकर्तव्यनिष्ठ तथा स्वधम का आचरण करने वाला व्यक्ति निश्चय ही ससार सग्राम मे विजय प्राप्त करता है। गीता के उपदेष्टा ने धर्म को मानवी कर्तव्य के अथ मे लेकर कहा— स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह" स्वकर्तव्य पालन करते हुए मर जाना श्रेयस्कर है किन्तु अपने कर्तव्य कर्म को विस्मृत कर अन्य के धम को स्वीकार कर लेना हानिकर है। इस उक्ति को लौकिक और व्यावहारिक दृष्टि से समझने का प्रयत्न करें तो यही कहना होगा कि प्रत्येक व्यक्ति स्वकर्तव्य तथा व्यवसाय आदि को करता हुआ ही श्रेय को प्राप्त करता है। विपरीत कर्तव्यो का आचरण करने से उसे दुख और कष्ट ही मिलेंगे।

स्मृतियो मे मनुस्मृति का महत्व सर्वोपरि है। मनु जैसे सार्वभौम विधानकार ने "धम" को लेकर बहुविध उदात्त विचार व्यक्त किये है। एक ओर यदि वे धृति क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी (बुद्धि) विद्या, सत्य और अक्रोध के रूप मे दशलक्षणात्मक धर्म का निरूपण करते हैं तो अन्यत्र शास्त्रो से भिन्न अपनी आत्मा की साक्षी के अनुकूल (स्वस्यच प्रियमात्मन) आचरण को धर्म का लक्षण बताते हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि मनु का कहा आत्मा को प्रिय लगने का अर्थ आज की राजनीतिक शब्दावली को "आत्मा की आवाज" नही है।

आज के परमाणु विज्ञान से अत्यन्त निकटता रखने वाले वैशेषिक दर्शन के प्रणेता आचार्य कणाद ने अभ्युदय और निश्रेयस (इह लौकिक उन्नति और पारलौकिक कल्याण) की सिद्धि को धम कहा तो विगत शताब्दी से वैदिक विद्वान, दयानन्द सरस्वती ने पक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त, ईश्वराज्ञा वेदो से अविरुद्ध कर्तव्यो को धर्म ठहराया। आधुनिक युग मे धर्म और राजनीति को अविभाज्य मानने वाले तथा साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधनो की पवित्रता पर जोर देने वाले महात्मा गाधी ने सत्य और अहिंसा को धम का अनिवार्य तत्व घोषित किया। हमारी परम्परा मे धम का साक्षात्कार करने वालो को ऋषि कहकर पुकारा गया—साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवु।

इस देश की धरती पर उत्पन्न जिन महापुरुषो मनीषियो और चिन्तकों ने धम का साक्षात्कार किया था, वे इस शब्द मे निहित अथ गौरव, इसकी व्याप्ति तथा इसके सार्वभौम स्वरूप से भली भाति परिचित थे। राम, कृष्ण, व्यास, वाल्मीकि चाणक्य शकर और दयानन्द आदि तत्वद्रष्टाओ ने यह घोषणा की कि धर्म के माग पर चलने से ही मनुष्य का कल्याण है अन्यथा उसका विनाश निश्चित है। महाभारत के युद्ध मे अधम को वृद्धि पाता देखकर महामति कृष्ण द्वैपायन को अपना हाथ उठाकर यह घोषणा करनी पडी कि धम से ही अथ और काम की प्राप्ति है। उन्हे खेद के साथ कहना पड़ा कि ऐसे कल्प वृक्ष के तुल्य धर्म का सेवन (परिपालन) करने से आज का प्राणी सकोच कर रहा है। और उनकी आवाज बहरे कानो मे पड रही है —

ऊर्ध्व बाहुर्विरोम्यैष न च कश्चित श्रृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म कि न सेव्यते॥

तथ्य तो यह है कि उसी युग मे धर्म का लोप होना आरम्भ हुआ और धर्म तथा अधम के यथार्थ को जानने का दावा करने वाला दुर्योधन भी अपने अधर्माचरण का दायित्व स्वय न लेकर अपने हृदय में स्थित किसी अज्ञात देव को उसके लिए जिम्मेदार ठहराने की धृष्टता करने लगा—

जानामि धर्म न च मे प्रवृत्ति जानाम्यधर्म न च मे निवृत्ति।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

किन्तु दुर्योधन का यह कथन आत्मप्रवचना तथा स्वय को धोखा देने से भिन्न नहीं था।

आज धर्म को राजनीति से पृथक् करने की दुहाई दी जाती है किन्तु क्या धर्म से भिन्न राजनीति मनुष्य के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगी? मनु ने तो शासकों को कर्तव्य विवेचन मूलक सातवें अध्याय के आरम्भ में ही "राजधर्म" शब्द का प्रयोग किया है—

(शेष पृष्ठ ८ पर)

श्री शंकराचार्य का ढुलमुलवाद

डा० प्रज्ञादेवी, वाराणसी-१०

ब्रह्मज्ञान के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप का बोध एव आध्यात्मिक ज्ञान पिपासा को शान्त करने हेतु 'वेदान्त दशन" एक अनमोल ग्रन्थ है। त्रैतवाद=ईश्वर, जीव, प्रकृति के स्पष्ट प्रतिपादक इस ग्रन्थरत्न के सरल ब्रह्ममीमांसाविषयक सूत्रो का स्वाध्याय करते हुये चित्त प्रसन्न हो जाता है। ऋषियो ने उलझनें एव सन्देह निवृत्ति हेतु ही शास्त्र-रचनायें की हैं अत उन्हें उसी रूप में पढ़ने से तद्विषयक मन की भ्रान्ति दूर होने से चित्तप्रसाद स्वाभाविक ही है, किन्तु बीच के काल मे इन ऋषिप्रणीत ग्रन्थो की टीका टिप्पणिया एव भाष्यों की भरमार होने लगी और वे इस प्रकार के लिखे जाने लगे कि इन भाष्यों के कारण मूल सूत्रो में लिखे ऋषियो के भाव ही तिरोहित हो चले। यद्यपि ऐसा प्राय सभी ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों मे हुआ किन्तु ससार मे सम्भवत जो दुर्दशा "वेदान्त दर्शन" के सूत्रो की श्री शकराचार्य सदृश भाष्यकारो ने की है इसका दूसरा उदाहरण देखने को नहीं मिलेगा। वेदान्त दशन=ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारो में प्रसिद्ध स्थान शकराचार्य जी को प्राप्त है जिन्होने त्रैतवाद के स्थान पर स्वकल्पित अद्वैतपरक "अह ब्रह्मास्मि आदि वाक्यो की व्याख्यायें करके लोगो को व्यापक उलझन मे डाल दिया। श्री शकराचार्य जी ने स्वमनसा अध्यास अध्यारोप, माया, सोपाधिक ब्रह्म, निरुपाधिक ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्म आदि शब्द जाल रचकर यह सिद्ध किया कि जो हमारा शरीर या ससार है वह अध्यास=मिथ्या ज्ञान मात्र है, वस्तुत जगत् झूठा है जीव परमेश्वर का टुकडा है जो हमारे शरीर मे माया अविद्या से ग्रस्त सोपाधिक ब्रह्म के रूप में है। माया के हटने पर हम भी शुद्ध निरूपाधिक ब्रह्म हो जायेंगे। ईश्वर जगत् का निमित्त एव उपादान कारण दोनो है इत्यादि ।

श्री शकराचार्य जी की सम्पूर्ण तपस्या उपर्युक्त वेद विरुद्ध इन्ही झूठी मान्यताओ को सिद्ध करने में लग गई। लोक-व्यवहार मे जिस प्रकार एक कही हुई झूठी बात कहीं खुल न जाए तो उसे बचाने के लिए और पचास झूठ बोलने पड जाते हैं उसी प्रकार शकराचार्य जी को अपने वेद विरुद्ध झूठे अद्वैतवाद को स्थापित करने के लिए बहुत से पैंतरे खेलने पडे फिर भी वे सत्य को झासा देने में असमर्थ हो गए और दबे स्वर से सत्य को कहना ही पड़ा जिसके कुछ उदाहरण यहा प्रस्तुत हैं—

१ श्री शकराचार्यजी का मान्य सिद्धान्त है कि "जीवो ब्रह्मैव नाप" अर्थात् जीव और ब्रह्म मे अविद्या कल्पित भेद है वास्तविक नही। अविद्या अर्थात् माया के हट जाने पर जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। इस विषय में शंकराचाय जी के वेदान्त-भाष्य की टीका "भामती" मे कहा है—

सत्य परमार्थतोऽभेदेऽपि अविद्यारोपि त भेदमुपाश्रित्य लब्धृलब्धव्यभाव उपपद्यते। जीवो ह्यविद्यया परब्रह्मणो भिन्नो दर्शित।" (वे०द० १-१-१७) अर्थात् वस्तुत जीव और ब्रह्म में अविद्यारोपित ही भेद है (वास्तविक नही) जिसे मानकर लब्धा=परमात्मा को प्राप्त करने वाला जीव एव लब्धव्य=प्राप्तव्य परमेश्वर यह भेद बनता है। जीव को अविद्या के कारण ही परमात्मा से भिन्न दर्शाया गया है अन्यथा जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं यह श्री शकराचार्य जी "विकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात्" (वे०द० २ ३-१७) कहकर स्वीकार करते हैं। तात्पर्य हुआ कि नवीन वेदान्तियो का अविद्योपाधि रहित ब्रह्म लब्धव्य है तथा अविद्यारोपित देहादि को प्राप्त ब्रह्म लब्धा है। बस यही भेद दोनो का है वस्तुत भेद नहीं है। यह भेद अविद्या के हट जाने पर समाप्त हो जाता है।

अब प्रश्न है कि अविद्या के हटते ही जब जीव शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव वाला ब्रह्म हो जाता है तो परमात्मा मे एकाकार हुए उस ब्रह्म (वस्तुत जीव) का पूर्ण सामर्थ्य ब्रह्म वाला ही हो जाना चाहिए क्योकि इनमें परस्पर भेद तो रहा ही नहीं। श्री शकराचार्य जी ब्रह्म के सामर्थ्य के विषय में स्वय कहते हैं कि - "तद् ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारण वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते" (वे०द० १-१-४) अर्थात् ब्रह्म ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् तथा जगत् की उत्पत्ति स्थिति एव प्रलय का कारण है ये वेदान्त शास्त्र बताते है। इसलिए ब्रह्म हो जाने पर यही सामर्थ्य जीव का भी हो जाना चाहिए क्योंकि वह शंकराचार्य जी के अनुसार ब्रह्म जो हो गया किन्तु यह क्या ! अपनी सारी मान्यताओं को ताक में रखकर "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" (४-४-१७) इस वेदान्त सूत्र के भाष्य में शकराचार्य जी स्पष्ट मान रहे हैं कि सृष्टि की रचना जैसा गूढ कार्य मुक्त जीव=निरूपाधिक ब्रह्म भी नहीं कर पाता यह केवल परमेश्वर का कार्य है। वे लिखते हैं—

"समनस्कत्वादेव चैतेषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्राय कस्यचित् सहाराभिप्राय इत्येव विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्। अथ कस्यचित् सकल्पमन्वन्यस्य सकल्प इत्यविरोध समर्थ्येत। तत परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेव इतरेषामिति व्यवतिष्ठते।" (वे०द० ४-४-१७)

अर्थात् यदि समान सामर्थ्य रखने वाले कई (मुक्त) जीव सृष्टि रचना करने लगें तो कोई सृष्टि की स्थिति चाहेगा तो कोई प्रलय इस प्रकार परस्पर विरोध मुक्त हुए ब्रह्म में होगा अत यह सृष्टि रचना परमेश्वर के ही सकल्प शक्ति से होती है न कि मुक्त जीव से।

अब विचार यह है कि निरूपाधिक ब्रह्म एव सोपाधिक ब्रह्म ये दो भेद तो अविद्या हटने से पूर्व तकके हैं। जहा अविद्या हटी वहीं जीव शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला ब्रह्म जब हो गया तो फिर उस मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म जो अद्वैतावस्था को प्राप्त हो गया उसके द्वारा सृष्टि रचना क्यो नही हो सकती, यदि नहीं हो सकती जिसे आप मान रहे हैं तो सर्वशक्तिमान् और असर्वशक्तिमान् के रूप मे भेद तो यहा भी बना रहा फिर अद्वैत कहा हुआ जिसका प्रतिपादन आप सारे शास्त्र मे महता डिमडिम घोष के साथ कर रहे हैं ? जीवात्मा और परमात्मा दो चेतन सत्तायें पृथक् पृथक् मुक्त हो या बद्ध हर अवस्था में हैं यह सच्चाई आपके मुह से निकल ही गई।

२. श्री शंकराचाय जी के अद्वैत मत मे जीव को परमेश्वर का अश स्वीकार किया गया है। माया के हट जाने पर जब यह ब्रह्म मे ही लीन हो जाता है तो जीव और ब्रह्म का भेद नहीं रहता। अब इस झूठी अंशअंशिभाव की मान्यता को भी शकराचार्य जी सम्पूर्ण शास्त्र मे चला नहीं पाये तो वेदान्त दर्शन के अशाधिकरण में कह ही बैठे—

"अश इवाशो नहि निरवयवस्य मुख्योऽश सम्भवति। कस्मात् पुनर्निरवयत्वात् स एव न भवति ? नानाव्यपदेशात्।" (वे०द० २ ३-४३)

अर्थात् जीव परमेश्वर के निरवयव होने के कारण परमेश्वर का मुख्य रूप से अश (टुकडा) नही है किन्तु अश के समान है क्योकि जीवो का नानात्व पाया जाता है।

यहा जीव और ब्रह्म के अश अशिभाव के खण्डन मे प्रबल तर्क एव युक्तिया होते हुए भी केवल एक ही बात रखी जाती है कि जब जीव परमेश्वर का अश है तो उसमे सर्वज्ञतादि गुण ईश्वर वाले हर अवस्था मे होने चाहिए पर वह ईश्वर का टुकडा होकर भी अल्पज्ञ कैसे बन गया। देहादि को प्राप्त ब्रह्म के टुकड़े जीव को अविद्योपाधि=माया क्यो लग गई। जब वह जीव अश अज्ञान उपाधि वाला बन गया तो ईश्वर को क्यो यह उपाधि नहीं लगी, वह क्यो सर्वज्ञत्वादि गुणविशिष्ट बना रहा। इस प्रकार प्रकारान्तर से जीव और ब्रह्म दो अनादि चेतन सत्तायें हैं यह सत्य बात हुई। यहा पूर्वापर विचार करने से पता लगता है कि श्री शकराचार्य जी लाख प्रयत्न करके वेदान्त दशन के भाष्य के पूर्व विषद "अध्यासविचार" लिखकर भी न जगत् को झूठा सिद्ध कर पाये हैं न जीव ब्रह्म का अभेद=अभिन्ननिमित्तोपादान सिद्ध कर पाये हैं बल्कि "न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्त शास्त्रफलसम्बन्धोपपत्ते" (वे०द०शा० भाष्य २-३-१६) आदि उनके वचन जीव और ब्रह्म की पृथक्ता ही सिद्ध करते हैं।

३ शकराचार्य जी के अद्वैतवाद का तृतीय मत है कि यह सारा ससार झूठा है स्वप्न के समान। माण्डूक्योपनिषद् की—

अन्त स्थानात्तु भेदाना तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने सवृतत्वेन भिद्यते॥ (२-४)

इस गौडपादीय कारिका के भाष्य मे श्री शकराचार्य जी "बाह्य जगत् स्वप्न के सदृश हैं" इस विषय मे लिखते हैं"—

"जाग्रद्दृश्याना भावाना वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतु। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्त।" (गौडपादीय कारिका शा० भा० २-४)

अर्थात् जागृत अवस्था में देखी गई चीजें स्वप्न के समान झूठी हैं क्योंकि

(शेष पृष्ठ ५ पर)

आदर्श त्रैतवाद (४७)

राजसिंह भल्ला

योगी रोग आदि व्याधियों को जीत लेता है

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु, प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम् ।।

श्वेता० २-१२

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आकाश मे—पाच भूतात्मक योग सिद्धि के उदय होने पर और प्रवृत्त होने पर उस योगाग्निमय शरीर को प्राप्त हुए को न रोग है न जरा है और न मृत्यु है । पाच भूतो के वशीकार से योगी रोग आदि को जीत लेता है ।

योग साधना का पहला परिणाम

लघुत्वमारोग्य, नीरोगता वर्णप्रसाद स्वरसौष्ठव च ।
गन्ध शुभो मूत्र पुरिष मल्य योगप्रवृति प्रथमां वदन्ति ।।

श्वेता २ १३

देह का हलकापन, निरोगता, निलोभपन, मुख आदि का वर्ण प्रसाद—वाणी मे मिठास और स्वर का कोमलपन, शुभगन्ध और मूत्र पुरीष अल्प यह पहली योग प्रवृति—योग परिणाम योगी कहते हैं ।

शोक रहित हो जाता है

यथैव बिम्ब मृदयोपलिप्त तेजोमय भ्राजते तत्सुधातम् ।
तद्वाऽऽत्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही एक कृतार्थो भवति वीतशोक ।।

श्वेता० २-१४

जैसे मिट्टी से लिया स्वर्ण पिण्ड भली प्रकार धोया हुआ वह तेजोमय चमकता है वैसे ही योग द्वारा निर्मल किये हुए आत्म तत्व को अच्छी प्रकार देखकर आत्मा विद्वंन्द, कृतार्थ और शोक रहित हो जाती है । यह साधना का फल है ।

सर्व बन्धनो से मुक्त हो जाता है

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत् ।
अज ध्रुव सर्व तत्त्वैर्विशुद्ध ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्व पाशैं ।

श्वेता० २-१५

जब समाधि मे दीप की उपमा से—जैसे दीपक से अन्य पदार्थ देखे जाते हैं ऐसे आत्मतत्व से शुद्ध—परम पवित्र देव को जानकर उपासक सर्वबन्धनो से मुक्त हो जाता है । जब अपने आत्मा से परमात्मा के दर्शन होते हैं तो सारे बन्धन टूट जाते है ।

काल चक्र मे पडा रहता है

न सापराय प्रतिभातिबाल प्रमाधन्त वित्तमोहेन मूढम् ।
अय लोको नास्ति परम् इति मानी पुन पुनर्वशमापद्यते मे ।।

कठो० १-२-६

जो प्रमादी —विषय विलास में आसक्त है, धर्म के मोह से मूढ है अर्थात् अर्थ कामना मे आत्मा को भी भूल बैठा है ऐसे मूर्ख को परलोक —मुक्ति नही मिलती नही जान पडती । यही लोक है, परलोक नहीं है ऐसा मानने वाला बार बार मेरे वश मे पड़ता है । आत्म-विश्वास हीन जन काल चक्र में ही पडा रहता है ।

सुख मिलता है वह वर्णनातीत है

समाधि निर्धूत मलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुख भवेत्
न शक्यते वर्णयितु गिरा तदा स्वय अन्त करणेन गृह्यते ।।

मैत्रेयी० ६ ३४

जिस साधक के समाधि योग से अविद्या आदि मल नष्ट हो गए हैं, जिसने आत्मस्थ होकर परमात्मा मे चित्त को लगाया है । उसको परमात्मा के योग से जो सुख मिलता है वह वाणी से बताया नहीं जा सकता वाणी उसका वर्णन करने में असमर्थ है क्योकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तकरण में स्वयं गृहण करता है ।

क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (१७)

नेतराम शर्मा, प्रधान —भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला, दिल्ली-११००५१

८२ बवासीर—नीम के अन्दर वाली छाल ३ ग्राम, गुड ५ ग्राम पीस कर गोली बनाकर निगलें । खून रोकने के लिए ४ ५ निमौली रोज खायें । ५ ५ बूद तेल पानी के साथ पीयें । यही तेल मस्सो पर लगायें बवासीर दूर ।

८३ रात रोग—कच्ची तीन चार निमौली तोडकर सलाई घुमा कर आंखों मे आजने से रोग दूर ।

८४ नीम दातुन करने से दात साफ तथा पारिया रोग दूर ।

८५ नीम के नरम पत्ते प्रात खाने से खून की शुद्धि होती है ।

१—श्वेत कुष्ठ पर अनुभूत योग—

(१) त्रिफला, त्रिकुटा, चित्रक नागरमोथा बायबिडिंग और बच समान भाग लेकर कूट-पीस छानकर रख लो । एक तोला गरम पानी के साथ शाम को खाने से कुष्ठ ठीक हो जाता है समय तीन माह ।

(२) नीम के पत्तो को जल मे उबाल कर स्नान करना ।

(३) गाय के दूध मे तीन ग्राम नीम के पत्तो को पीस कर दो तीन मास तक सेवन करना ।

(४) रात मे नीम की छाया के नीचे सोना ।

२—सफेद दाग—

(१) बासी मट्ठा थोडा बेसन और थोडी हल्दी मिलाकर रोज सफेद दागों मे लगाकर सोना चाहिए और मुह अधेरे नीम के गरम पानी से धो देना चाहिए ।

(२) प्रतिदिन मट्ठा पीना चाहिए ।

क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावो की काव्य व गीतों के माध्यम से व्याख्या (२१)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

आयुश्च रूप च नाम च कीत्तिश्च ।
प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्र च ।।
पयश्च रसश्चान्न चान्नाद्य च ऋत च सत्य ।
चेष्ट च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ।। अथर्व० का० १२।अनु० ५।मं० ९-१० ।।

काव्यार्थ—

बल-तेज बढ़े, भोजन-आच्छादन, नियमित ऋतु अनुसार करो ।
पर-उपकार कार्य हित अपनी, दीर्घ आयु विस्तार करो ।।
विषय वासना-विरत रहो, सुन्दर वस्त्रो से आभूषित ।
सदाचार से बनो लोकप्रिय अन्य पुरुष भी हो प्रेरित ।।

शुभगुण धारण हेतु प्रभू यश श्रवण और उपदेश करो ।
प्राणायाम योग से तन के, रोग सभी अवरोध करो ।।
पुनि प्रत्यक्षनुमान आदि के, अष्ट प्रमाणो का विज्ञान ।
बने कसौटी सत्य-शोध की, उस पर चलो, बढ़े सम्मान ।।

दुग्ध-मिष्ट जल-औषधि-घी का, वैद्यक विधि से कर शोधन ।
इसी रीति से धान-अन्न का शोधन कर, पुनि कर भोजन ।।
परमब्रह्म की कर उपासना, हो मन-वचन-कर्म यकसा ।
पर उपकार यज्ञ कर प्रतिदिन, सुखमय हो संसार बसा ।।

सब निज सन्तति और प्रजा को, सुन्दर शिक्षा दिया करें ।
सुख-सम्पन्न सभी होवें, प्रभु-भक्ति-मधुर-रस पिया करें ।।
हाथी-अश्व आदि पशुओ को, शिक्षा दे साधें प्रतिदिन ।
इनसे लें उपयोग यथोचित, आवें नहीं कभी दुर्दिन ।।

क्रमशः

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

किन्तु हर मुक्त भोगी शक्ति का ह्रास अनुभव कर लेता है। इसीलिए वीर्य की रक्षा और कम से कम पतन की प्रेरणा वैदिक सस्कृति सदैव से देती चली आई है। गर्भाधान सस्कार सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से पति-पत्नी जिस रात्रि में प्रथमबार विषय लिप्त होते हैं—उससे पूर्व के दिन मे यह सस्कार किया जाता है। हर सस्कार की भाति, इसमे भी सम्बन्धियो व मित्रो को आमन्त्रित कर यज्ञ किया जाता है। सामान्य हवन-सामग्री तथा घृ [illegible] के अतिरिक्त इसमे कुछ विशेष वस्तुओ से आहुतिया दी जाती हैं। घी-दूध, शक्कर को भात मे मिला कर ६ आहुति दी जाती हैं। ९ मंत्रो से घृत एव मोहन भोग। (मिष्टान) मिलाकर आहुतिया दी जाती हैं। प्रथम ६ मन्त्रो से अपने बाहर-भीतर व्यापक अग्नि को प्रभु का प्रतीक मानकर उससे शुद्धता एव शक्ति की प्रेरणार्थ प्रार्थना की जाती है। अगले नौ मन्त्रो में प्रकृति प्राणियो के उदाहरण सामने रखते हुए और उनसे शिक्षा ग्रहण करते हुए गर्भ स्थापना की चेष्टात्मक प्राथना की जाती है। सस्कार के अन्तगत घृत की २० आहुतिया दी जाती हैं, जिनमे अग्नि वायु चन्द्र सूर्य एव देवसमूह के प्रथम पचक से 'पापी लक्ष्मी तनू' इस मेरी स्त्री के शरीर पर यदि कोई अधर्माचरण से प्राप्त धन सम्पत्ति या आभूषण हो तो उसे दूर करो, द्वितीय पचक से "पतिघ्नी तनू"—अर्थात पत्नी सौभाग्यवती बने रहे—वह बिधवा न होने पाये, तृतीय पचक से पत्नी सन्तानहीन न होने पाये, चतुर्थ पचक से "अपसव्या तनू'—अर्थात स्त्री, पति के प्रतिकूल न चलने की प्रभु, देवताओ से प्राथना की जाती है। हर मंत्र के साथ प्रायश्चित की भावना जुडी रहती है अर्थात इन इष्टियो से अपने चित्त को शु[illegible] करना होता है। यज्ञ शेष स्रुवा के शेष रहे घृत को आगे रक्खे उदक पात्र मे रखते गए हो उससे स्त्री स्नानागार मे मर्दन करके स्नान करे। वधू वर के वामगता में उपस्थित होकर यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा करके दोनो सूर्य का दर्शन करें और छ मन्त्रो का पाठ भी करते जायें इन मन्त्रो की बातें बड़ी उत्साहवधक हैं। १—सतान ऐसी हो जो हजारो में एक कही जा सके। २—सन्तान प्रतिदिन बढ़ती-बढ़ती सौ वर्ष तक जीने वाली हो। ३—उसकी सूर्य लोक, अन्तरिक्ष लोक एव पृथ्वी लोक के सभी उपद्रवो से रक्षा हो। ४—प्रभू वन-पर्वत, सृष्टि के सभी पदार्थ सन्तान के नेत्र तुल्य हो जायें ताकि सृष्टि के हर पदाथ मे वह ईश्वर का दर्शन एव आभार मानें। ५—हमारी व सन्तान की आखे ऐसी हो—जो सृष्टि की सही समीक्षा कर सकें। ६—हम व सन्तान सूर्य के सुन्दर रूप को देखें, जिससे सृष्टि के सभी श्रेष्ठ व निकृष्ट रूप बनते हैं। निर्माण एव ध्वस दोनो की समझ विकसित कर सकें।

केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री छोटी इलायची मिश्रित दूध रात्रि मे पान करने की शास्त्रोक्ति है। दो ऋतुकाल व्यर्थ जाने पर प्रथम प्रसूता गाय के दूध का २ माशे दही और जौ के दानो को सेक-पीसकर २ माशे मिलाकर पत्नी द्वारा प्राशन करने से सफलता होती है। सन्तति उत्पन्न तो हो ही रही है, प्रत्युत उत्तम सन्तति के निर्माण के लिए इस सस्कार की उपादेयता असदिग्ध है।

२—पुंसवन सस्कार

गर्भ निश्चय हो जाने पर माता-पिता का आकषण सन्तान की सभावनाओं की ओर हो जाता है। कम से कम प्रथम सन्तान के समय तो ऐसा होता ही है, जबकि अब परिवार नियोजन विज्ञापन व प्रचार ने आगे की सन्तानो के लिए चिन्ता का वातावरण बना दिया है। हर कोई अपनी सन्तान को अपनी कल्पनाओ के अनुसार उत्पन्न हुआ देखना चाहता है। जब तक सन्तान मा के गर्भ मे वास करती है, तब तक उसके तन-मन को माता पिता अपनी इच्छानुसार ढाल सकते हैं। प्रभु-प्रकृति ने यह अधिकार मा के हाथ मे दे दिया है कि वह उसको जैसा चाहे वैसा बनाये। सन्तान उत्पन्न होने के बाद जब बिगड़ जाती है तो माता पिता खिन्न होकर सारे दोष अपनी सन्तान पर मढ़ते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि खिलौने को साचे में ढालते समय जब उन्होने ध्यान ही नहीं दिया और बाद मे वह कुरूप रह गया तो दोष किसका है।

क्रमश

—सब से प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।
—सब मनुष्यो को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने मे परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम मे सब स्वतन्त्र रहें।

श्री शंकराचार्य का ढुलमुलवाद

(पृष्ठ ३ का शेष)

वे दिखाई देती हैं? क्या गजब तक है। क्या ससार में जो जो चीजें दिखाई देती है वे सब झूठी होती हैं। तब तो शंकराचार्य जी आप भी जब सशरीर दृश्यमान थे तो आप भी झूठे एव आपकी मान्यता भी महाझूठी हो गई। अब हमे यहा देखना ये है कि श्री शकराचाय जी अपनी इस मान्यता को अपने ही भाष्यो मे कहा तक चला पाये हैं सो देख लीजिये—

"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (२-२-२९) इस वेदान्त दर्शन के सूत्र का भाष्य करते हुये श्री शकराचार्य जी पुन करवट ले लेते है अर्थात् अपनी ही मान्यता को अपने आप खण्डित करते हुये लिखते हैं —

"न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्य हि भवति स्वप्नजागरितयो, किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूम। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्ध वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो, निद्राग्लान तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति" (वे०द०शा०भा० २ २ २९)

अर्थात् 'स्वप्न मे जो मिथ्या प्रतीति होती है वसी प्रतीति जागृत अवस्था की नहीं होती क्योकि स्वप्न और जागृत अवस्था मे वधर्म्य है। जिस वस्तु को हम स्वप्नावस्था मे देखते हैं जागृत अवस्था मे उसे वैसा नहीं पाते। हमने स्वप्न में किसी महापुरुष के दर्शन किये पर आख खुलने पर देखा कि वह नहीं हैं इससे पता चलता है कि स्वप्नावस्था के पदार्थ यथार्थ नहीं किन्तु जागृत अवस्था में देखी हुई बात सत्य है।' इस प्रकार महात्मा शकराचार्य जी यहा तो सत्य का गला न घोट पाये, अपनी ही मान्यता को खण्डित करते हुये कह ही बैठे कि यह दृश्यमान जगत् स्वप्न के समान झूठा नहीं सत्य है।

वस्तुत सत्य ब्रह्म के द्वारा रचा हुआ यह जगत् झूठा भी कैसे सकता है? यह प्रवाह से नित्य भी है और सत्य भी है।

इस प्रकार इन कुछ उदाहरणो के द्वारा देखा जाये तो जिस अद्वैत मत की स्थापना श्री शकराचार्य जी ने जी तोड़ परिश्रम करके की है वह उनका अद्वैतवाद न होकर मात्र ढुलमुलवाद है क्योंकि अपनी मान्यताओं पर वह स्वय स्थिर नहीं रह पाये हैं। रेत की दीवार पर महल कभी नहीं खड़े हो सकते। झूठ झूठ रहेगा, उसमे सच्चाई फूट कर रहेगी अत शकराचार्य जी को वेदोक्त सत्यता, न चाहकर भी यत्र तत्र दबे मन से स्वीकार करनी ही पड़ी है। आश्चर्य है कि आज ये नवीन वेदान्तियो के चेले सब कुछ झूठ जब मानते हैं तो मन्दिरो मे घण्टे घड़ियाल क्यो बजाते हैं वह सब भी तो झूठ है। जब श्री शकराचार्य जी अपनी दशश्लोकी में स्पष्ट कहते हैं कि—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि।
अनात्माश्रयाहं ममाध्यासहानात् तदेकोऽवशिष्ट शिव केवलोऽहम्॥

(द्र० श्री शकरग्रन्थावलि, दशश्लोकी)

अर्थात् 'न चारो वर्ण हैं न वर्णाश्रमो के कोई आचार धर्म हैं न धारणा ध्यान योगादि ही हैं सब कुछ अध्यास है इसके हटते ही हम केवल शिव—ब्रह्म हैं।" इस प्रकार इन अद्वैतवादियो के अनुसार तो किसी भी श्रेष्ठाचार का कोई महत्त्व है ही नही फिर क्यो सन्यासी बनकर ससार को ये लोग ठग रहे हैं। ये सब तो इनकी अजब लीलायें ही हैं।

सर्वांगीण विकास में बाल सभाएं उपयोगी

प्रिंसिपल रणजीतसिंह

बालको की शारीरिक, बौद्धिक, शैक्षिक व सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षक सस्थाओ मे बाल सभाऐ उपयोगी हैं।

उपरोक्त विचार निरीक्षण काल मे सभा गुरुकुल कांगडी हरिद्वार के उद्घाटन समारोह सम्बोधन मे आर्य विद्या सभा, गुरुकुल कागडी के वरिष्ठ उपाध्यक्ष प्रि० रणजीतसिंह ने अध्यक्ष के रूप मे कहे। ब्रह्मचारियों द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक कार्यक्रम को सहारा।

मुख्य अतिथि आर्य विद्या सभा गुरुकुल के मन्त्री प्रो० प्रकाशवीर "विद्यालकार" ने कहा कि इस प्रकार की व्यवस्था से बालको मे आत्म विश्वास आता है। छुपी प्रतिभाओ को प्रस्फुटित होने का अवसर मिलता है। वक्तृत्व कला को विकसित करने के लिए इस प्रकार के आयोजन की आवश्यकता पर बल एव प्रेरणा दी।

सभा उपमन्त्री प० वेदव्रत शर्मा ने बालकों के अनुशासन व्यवस्था की प्रशसा की। गुरुकुल कागडी से अनेक तरह से जुडी आर्य विद्या सभा की प्रतिष्ठित सदस्या आर्य विदुषी श्रीमती प्रभात शोभा पण्डिता ने देश की धरोहर राष्ट्र के भविष्य बालको के चरित्र निर्माण मे सुव्यवस्थित तथा अनुशासन जीवन निर्माण मे गुरुकुल की उपयोगिता पर बल देते हुए बच्चों से शिक्षा प्राप्त करने के अतिरिक्त अनेक कार्य-क्रम मे उत्साह से भाग लेने की अपील की।

कुलपति एव मुख्याधिष्ठाता डा० धर्मपाल जी ने कहा कि ब्रह्मचारियो को गुरुकुलीय वातावरण-पद्धति से व्यवहारिक ज्ञान देने के प्रयासो के लिए कृत सकल्पित है। ब्रह्मचारियो की विशेष पहचान बनाने के लिए सभी अवसर प्रदान करना उनका विशेष लक्ष्य है।

मुख्याध्यापक डा० दीनानाथ तथा बाल सभा अधिकारियो ने ब्रह्मचारी टीकाराम अध्यक्ष, रोहताश कुमार मन्त्री, आशुतोष सयोजक तथा अभयकुमार सेनापति ने अतिथियो का माल्यार्पण कर स्वागत किया। शिक्षक आयोजन सर्वश्री प्रेमचन्द्र, टीकमसिंह एव प्रकाशवीरसिंह के मार्गदर्शन मे सम्पन्न हुआ।

सहायक मुख्याधिष्ठाता प० महेन्द्र कुमार ने सभा मन्त्री जी द्वारा वक्तृत्व कला प्रोत्साहन हेतु अपने पिता स्वर्गीय प० धर्मपाल विद्यालकार की स्मृति मे एक चलविजयोपहार देने की घोषणा करते हुए, सभी अतिथियो का धन्यवाद किया।

स्वामी सच्चिदानन्द शास्त्री का निधन

स्वामी सच्चिदानन्द शास्त्री अमृतसरी का १९ सितम्बर, ९३ को निधन हो गया और उसी दिन उनका अन्त्येष्टि सस्कार सम्पन्न हुआ। आर्य युवा विकास परिषद के उपाध्यक्ष श्री प० श्याम प्रकाश आर्य एव प्रतिष्ठित महानुभावो ने स्वामी जी की हिन्दी और आर्य समाज के प्रति की गयी सेवाओ का स्मरण कर उन्हे भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

श्री प्रेम प्रकाश आर्य नहीं रहे

नई दिल्ली। आर्य समाज निर्माण विहार, नई दिल्ली के मन्त्री श्री प्रेम प्रकाश आर्य का २६ सितम्बर को आकस्मात निधन हो गया। वे ५४ वर्ष के थे। ३० सितम्बर को समाज मन्दिर मे शान्ति यज्ञ श्री दिनेश शास्त्री के ब्रह्मत्व मे सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर शोक सभा मे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य के उपप्रधान श्री विम्शबर नाथ भाटिया, दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा के महामन्त्री श्री पुरुषोत्तम लाल गुप्ता एव यमुनापार की अनेक समाजो के अधिकारियो ने भी श्री प्रेमचन्द आर्य द्वारा आर्य समाज के प्रति की गयी निष्ठापूर्ण सेवाओ का स्मरण कर उन्हे श्रद्धाजलि अर्पित की। निर्माण विहार समाज की उन्होने ११ वर्ष तक मन्त्री के रूप मे उल्लेखनीय सेवा की। परमपिता प्रभु से प्रार्थना है कि दिवगत की आत्मा को शांति व परिवार जनो को दारूण दु ख सहने की शक्ति दें।

गुरुकुल कांगडी के बढ़ते चरण

यज्ञ परोपकार का आधार है

—प० प्रकाशवीर विद्यालकार

मानव कल्याण के लिए रचनात्मक कार्य का सकल्प लेना और उसे पूर्ण करना ही यज्ञ का वास्तविक रूप है। परोपकार का आधार है। ये उद्गार अनेक वर्षों से उपेक्षित, असामाजिकता के ग्रस्त आर्य समाज मन्दिर गुरुकुल कागडी मुक्ति तथा जीर्णोद्धार के बाद पुन यज्ञ साप्ताहिक सत्सग का शुभारम्भ करते हुए आर्य विद्या सभा गुरुकुल कागडी के मन्त्री प० प्रकाशवीर "विद्यालकार" ने व्यक्त किये। आर्य समाज मन्दिर गुरुकुल कागडी को वेद की ज्योति जलाए रखने की स्थिति में पुन पहुचाने के लिए कुलपति डा० धर्मपाल जी तथा सहायक मुख्याधिष्ठाता महेन्द्र कुमार की सराहना की गयी।

गुरुकुल कागडी की रक्षार्थ एक जुट होकर असामाजिक अनार्यत्व पूर्ण कार्यों का डटकर मुकाबला करने हेतु श्री विद्यालकार जी ने आवाहन किया। भारत भ्रमण पर आये हुए लगभग ५० वर्षों से अमेरिका निवासी भारतीय श्री इन्द्रप्रसाद जी ने कहा कि विदेशो मे अनुभव किया जा रहा है कि मानवतावादी वैदिकता भारतीय ही लोक कल्याणकारी है, और यज्ञ का प्रचार प्रसार हो रहा है। भौतिकतावादी चमक-दमक मे भारतीयत्व ही शान्ति का एक रास्ता अनुभव किया जा रहा है। इसीलिए अब भारत की ओर विदेशो का झुकाव बढ रहा है।

उपमन्त्री प० वेदव्रत शर्मा ने आर्य समाज को पुनर्जीवन देने के कार्य को सराहा।

कुलपति डा० धर्मपाल जी ने इस शुभ अवसर पर सभी का स्वागत करते हुए आर्य समाज की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए जीवन की सार्थकता ही वेदानुसार जीवन व्यवस्थित करना बताया। कुलपति जी ने कहा कि गुरुकुल कांगडी के कर्मचारियो को यज्ञ साप्ताहिक सत्सग के लिए पुन अवसर देने हेतु सहायक मुख्याधिष्ठाता महेन्द्र कुमार साधुवाद के पात्र हैं।

सहायक मुख्याधिष्ठाता महेन्द्र कुमार ने दिया। यज्ञ के रचनात्मक स्वरूप के प्रकाश मे १ जुलाई से नये कुलपति एव मुख्याधिष्ठाता डा० धर्मपाल जी के निर्देशन के किये गए वृक्षारोपण, परिसर सुन्दरीकरण व्यवस्था, सदभाव, सहयोग ब्रह्मचारियो के लिए आवश्यक सुविधाऐ शिक्षा स्तर सुधार के लिए किये गए कार्यों का सक्षिप्त विवरण देते हुए प्रत्येक रविवार को प्रात ८-३० बजे से यज्ञ-सत्सग मे भाग लेने हेतु सभी से अपील की।

लेखकों से निवेदन

—सामयिक लेख, त्योहारो व पर्वों से सम्बन्धित रचनाए कृपया अक प्रकाशन से एक मास पूर्व भिजवायें।

—आर्य समाजो, आर्य शिक्षण सस्थाओ आदि के उत्सव व समारोह के कार्यक्रमो के समाचार आयोजन के पश्चात् यथाशीघ्र भिजवाने की व्यवस्था करायें।

—सभी रचनायें अथवा प्रकाशनार्थ सामग्री कागज के एक ओर साफ-साफ लिखी अथवा डबल स्पेस मे टाइप की हुई होनी चाहिए।

—पता बदलने अथवा नवीकरण शुल्क भेजते समय ग्राहक सख्या का उल्लेख करते हुए पिन कोड नम्बर भी अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५ रुपये तथा आजीवन शुल्क २५० रुपये है। आजीवन ग्राहक बनने वालो को ५० रुपये मूल्य का वैदिक साहित्य अथवा आर्य सन्देश के पुराने विशेषाक नि शुल्क उपहार स्वरूप दिए जाएगे। स्टाक सीमित है।

—आर्य सन्देश प्रत्येक शुक्रवार को डाक से प्रेषित किया जाता है। १५ दिन तक भी अक न मिलने पर दूसरी प्रति के लिए पत्र अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश के लेखको के कथनों या मतों से सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पाठको के सुझाव प्रतिक्रिया आमंत्रित हैं।

कृपया सभी पत्र व्यवहार व ग्राहक शुल्क दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली के नाम भेजें।

—सम्पादक

पं० क्षितीश वेदालंकार स्मृति न्यास

दिवगत प० क्षितीश वेदालकार की पुण्य स्मृति मे उनके द्वारा अपनाए गए कार्यक्षत्रो मे कायरत और उभरती प्रतिभाओ को सम्मानित एव विकसित करने के लिए उपर्युक्त नाम से एक धर्माथ न्यास की स्थापना की गई है। न्यास के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं

(क) बिना किसी लाभ की दृष्टि के सस्कृत भाषा व साहित्य पत्रकारिता पर्यटन विज्ञान एव अन्य सामान्य ज्ञान की शिक्षा की प्रगति हेतु सस्थाओ की स्थापना उनका सचालन पोषण आदि करना। ख) शिक्षा और प्रशिक्षण को प्रोत्साहित करने के लिए किन्ही सस्थाओ या व्यक्तियो को विशेषत विद्वान उपदेशको सस्कृत पठन पाठन मे सलग्न छात्राओ पत्रकारो को सहयोग राशि छात्रवत्ति सम्मान राशि या चन्दा आदि देना। (ग) साहित्यिक सास्कृतिक सामाजिक नतिक आध्यात्मिक वैज्ञानिक अथवा शक्षणिक ज्ञान एव मूल्यो को स्थापित करने वाली पस्तक पत्रिकाओ प्रपत्रो आदि का प्रकाशन एव लागत से कम या समान मूल्य पर वितरण। (घ सामान्य जनता के उपयोग एव कल्याण हेतु किसी भी अन्य उददेश्य को अपनाना जिसमे वयक्तिक लाभ हेतु किसी प्रकार की गतिविधि सम्मिलित न हो।

न्यास के कायकलाप का शुभारम्भ प० क्षितीश वेदालकार की प्रथम पुण्यतिथि (२४ दिसम्बर १९९३) पर अनेक गुरुकुलो के छात्रो की विभिन्न विषयो पर प्रतियोगिताओ से किया जा रहा है। यह आयोजन स्व आचार्य श्री राजेन्द्र नाथ शास्त्री द्वारा स्थापित श्रीमद दयानन्द वेद विद्यालय गुरुकुल गौतम नगर नई दिल्ली मे होगा।

न्यास के उद्देश्य की पूर्ति के लिए न्यास के कायकलापो मे आपका आर्थिक एव अन्य सहयोग प्रार्थनीय है

सम्पर्क सूत्र न्यास कार्यालय

डी ८१ गुलमोहर पाक नई दिल्ली ४९ दूरभाष ६६२५६८

श्री प्रकाश चन्द गुप्त को पत्नी शोक

नई दिल्ली। श्री प्रकाश चन्द गप्त एडवोकेट की धमपत्नी श्रीमती प्रेमलता गप्त का २३ सितम्बर ९३ को निधन हो गया। वे ६४ वष की थी और कुछ समय से बीमार चल रही थी।

उसी दिन लोधी रोड श्मशान घाट पर उनका अन्त्येष्टि सस्कार किया गया और भारी सख्या मे उपस्थित महानुभावो ने उन्हे अन्तिम श्रद्धाजलि अर्पित की। २३ सितम्बर को आय समाज ग्रटर कलाश १ मे शान्ति यज्ञ एव शोक सभा मे विभिन्न सस्थाओ एव आय समाजो क प्रतिष्ठित नर नारियो ने श्रीमती गुप्ता को भावभीनी श्रद्धाजलि दी। प रमपिता परमात्मा से प्राथना है कि वे दिवगत की आत्मा को शान्ति एव परिवार जनो को दुख सहने की शान्ति प्रदान कर



छात्र राष्ट्र रक्षार्थ संकल्प ले

गुरुकुल कागडी ब्रह्मचर्याश्रम मे बाल सभा द्वारा आयोजित गुरु विरजानन्द दिवस पर सम्बोधित करते हुए सहायक मख्याधिष्ठाता प० महेन्द्रकुमार ने कहा कि यदि गुरु विरजानन्द के आचार्यत्व मे महर्षि दयानन्द ने विद्याध्ययन न किया होता तो वदिकता का पुनउद्धार होकर भारत अशिक्षा अन्धविश्वास पाखण्ड गुरुडम शोषण दासता के अन्धकार से न उभर पाता। आज पुन भारत राष्ट्र की स्वाधीनता सास्कृतिक धरोहर को नष्ट कर अखण्डता को चनौती दिये जाने का कुचक्र चलाया जा रहा है। छात्रो को शिक्षित होकर योग्य प्रतिभाशाली निष्ठावान चरित्रवान एव राष्ट्रभक्त नागरिक बनकर राष्ट्र रक्षाथ सकल्प लेना चाहिए।

आयोजन अध्यक्ष श्री जनेश्वरपाल शास्त्री ने ब्रह्मचारियो को गरुविरजानन्द और उनके परम भक्तशिष्य महर्षि दयानन्द के प्रेरक प्रसग से लाभान्वित किया। सेनापति ब्रह्मचारी अभय कुमार ने धन्यवाद दिया।

चुनाव समाचार

आय समाज मुलतान) देव नगर नई दिल्ली प्रधान श्री बृजनन्दन प्रकाश उप प्रधान रघवर दयाल व श्री ज० व० वाली मन्त्री श्री मृज मोहन शर्मा तथा कोषाध्यक्ष श्री अशोक कुमार गुप्ता।

—आय समाज कमपुरा न० दिल्ली प्रधान-श्री हरिनारायण गप्ता उप प्रधान श्री करणसिंह आर्य व श्री मदन लाल रोहिल्ला मन्त्री श्री यशपत राय गुप्त उपमन्त्री श्री राम किशोर, प्रचार मन्त्री श्री सोहन लाल कथूरिया एव कोषाध्यक्ष-श्री शिवनन्दन लाल।

—सब काम धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

आर्य सन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R.N No. 32387/77 Posted at N D P S O on 14 15 10-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/93
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश" साप्ताहिक १७ अक्तूबर १९९३

धर्म को कहां कहां से बहिष्कृत करोगे ?

(पृष्ठ २ का शेष)

राजधर्मान प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृप ।
सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा'। ७।१

अर्थात राजा कैसा होता है या बनाया जाता है और इन्ही राजधर्मों का पालन कर वह परम सिद्धि को कैसे प्राप्त करता है, यह सारा विषय आगे वर्णन किया जायेगा। खेद है कि आचार्य, मनु शुक्र कामन्दक, बृहस्पति, चाणक्य आदि राजनीति प्रणेताओ के तात्विक आदर्शों और उपदेशो को भुलाकर आज की छल छिद्र पूर्ण राजनीति करने वाले व्यवसायी एवम् स्वार्थी राजनीतिज्ञो ने राजनीति को उस धर्म से पृथक करने का बीडा उठाया है जिसके बारे मे आचार्य कौटिल्य ने कहा था— सुखस्य मूल धर्म और धर्मस्य मूल राज्य ।

अर्थात यदि मनुष्य को सुख अभीष्ट है तो उसकी प्राप्ति धर्म से ही सम्भव है और उस धर्म की संस्थाव है।

कैसी विडम्बना है कि आज के राजनीतिज्ञ धर्म, मत, पन्थ और मजहब के अन्तर को नहीं समझते। और यदि वे समझते भी हैं तो जानबूझकर धर्म निरपेक्ष जैसे परस्पर विरुद्ध आशय देने वाले कृत्रिम शब्द को गढ कर उसको प्रचारित कर रहे हैं। वस्तुत कोई शासक या सरकार पन्थ निरपेक्ष तो हो सकती है किन्तु धर्म निरपेक्ष नहीं। हमारे देश मे जैन बौद्ध, आस्तिक, नास्तिक आदि अनेक मत हैं, कबीर, नानक, दादू आदि द्वारा प्रवर्तित नाना पन्थ भी हैं। पारसी, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि विभिन्न मजहब भी हैं किन्तु इनके अनुयायियो द्वारा यह कभी नहीं कहा गया कि उनकी मजहबी मान्यताओ को लेकर शासन चलाया जाये। हमारे देश का शासन (कुछ काल को छोडकर) सदा ही पन्थ निरपेक्ष रहा है। इस देश में विभिन्न मत पन्थो के अनुयायी सदा से रहते आये हैं किन्तु शासको ने मात्र मत, पन्थ के आधार पर उनसे कभी भेदभाव पूर्ण व्यवहार नहीं किया। हमारे यहां धार्मिक, दार्शनिक और अन्य प्रकार की मान्यताओं को लेकर शास्त्रार्थ, तर्क वितर्क तथा विवाद होते रहे किन्तु इस देश के पन्थ निरपेक्ष शासन ने उनके इस बुद्धि विकास मे कभी बाधा नही पहुचाई। उपासनागत विभिन्नताओ तथा मजहबी आधार पर भेदभाव करने की नीति को न आज के शासको ने ही प्रवर्तित किया और इसीलिए एक विशिष्ट प्रकार की आस्था वालो को बहुमत और भिन्न प्रकार की पूजा उपासना करने वालो को अल्पमत घोषित कर दिया गया। जबकि तथ्य यह है कि करोड़ों की सख्या वाले सामी मजहबों के मानने वाले ये लोग अल्पमत कैसे हो गये, क्योंकि भारतीय संविधान ने तो उन्हें स्वतन्त्र नागरिक रूप मे स्वीकार किया है और एक प्रबुद्ध भारतीय के रूप मे वे अपनी उन्नति करने के समस्त अधिकार प्राप्त कर चुके हैं। धर्म निरपेक्षता और अल्पमत बहुमत के आधार पर राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति सीमातीत क्षुद्रता तथा घोर स्वार्थपरता है।

८/४२३, नन्दनवन, जोधपुर-८

सेवा में—

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन –३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४)–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १७, अंक ३ रविवार, २४ अक्तूबर १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

आर्यसमाज राजौरी गार्डन मे भूकंप पीड़ितों की सहायतार्थ

सूर्यदेव को २६००० रु० की थैली भेंट

नई दिल्ली, १७ अक्तूबर। आज आय समाज मोती नगर मे आयोजित एक समारोह मे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूयदेव को करतल ध्वनि के बीच महाराष्ट्र के भूकम्प पीडितो की सहायताथ २६ हजार की थैली भेंट की गयी।

इस अवसर पर अपने उद्‌गार व्यक्त करने हुये श्री सूयदेव ने कहा कि चाहे पजाब या कश्मीर के विस्थापित हो या गढवाल के भूकम्प पीडित अथवा अकाल या बाढ पीडित हो, आय समाज ने सदैव आगे बढकर सभी की सहायता की है। आर्य समाज राजोरी गाडन का यह सहायता काय सराहनीय एव अनुकरणीय है और समाज के सभी अधिकारी व सदस्य बधाई के पात्र हैं।

श्री सूयदेव ने आगे कहा कि आय समाज ने भारतीय भाषाओ के विकास एव अग्रेजी को हटाने, मद्य निषेध तथा गोवश की रक्षा के लिए भी सर्वथा सघष किया है। अत सभी आर्यजनो का यह पावन कत्तव्य है कि इस त्रि सूत्रीय कार्यक्रम के लिए भी सक्रिय होकर कार्य करते रहें।

इससे पूर्व राजोरी गार्डन आय समाज के प्रधान श्री जगदीश आर्य, मन्त्री प्रि० नीलम मित्र, श्री नन्दकिशोर भाटिया, श्रीमती राज पाण्डे प्रधाना, स्त्री समाज, श्रीमती शशि, मन्त्राणि, स्त्री समाज, श्रीमती राम चमेली, श्री सत्यपाल चढ्ढ आदि ने श्री सूयदेव का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। कायक्रम में अनेक प्रतिष्ठित महानुभाव भी उपस्थित थे।

युवा समाज व राष्ट्र उत्थान में सहयोग दें

—सूर्यदेव

नई दिल्ली, १७ अक्तूबर। आय युवा विकास परिषद, पालम कालोनी, नई दिल्ली के तत्वावधान में आज व्यायाम, जुडो-कराटे योग आदि का एक समारोह में भव्य प्रदर्शन किया गया। कायक्रम की अध्यक्षता गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलपति डा० धर्मपाल ने की।

इस अवसर पर कायक्रम के मुख्य अतिथि दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने कहा कि समाज व राष्ट्र के उत्थान मे युवा शक्ति ने सदैव महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। युवाओ को भूकम्प जैसी प्राकृतिक आपदाओ के पीड़ितो की सहायता के लिए हर सभव प्रयास करने चाहिए। श्री सूयदेव न युवाओ को सचेत किया कि वे राजनैतिज्ञो के बहकावे मे न आये। उन्होने परिषद् द्वारा किए जा रहे कार्यों की भी सराहना की।

डा० धर्मपाल ने कहा कि ससार का उपकार करना आर्य समाज का उद्देश्य है। सबकी शारीरिक, मानसिक, अध्यात्मिक उन्नति करना इसका लक्ष्य है। अत युवाओ को क्रातिकारी आन्दोलन आर्य समाज से जुड कर मानवमात्र के उत्थान के लिए कार्य करना चाहिए।

कार्यक्रम का उद्‌घाटन श्री डोगरा जी ने ध्वजारोहण से किया। सचालन श्री कृष्ण माधव भिक्षु ने किया। आर्य समाज पालम कालोनी के प्रधान श्री भागमल ने कार्यक्रम को सफल बनाने में सक्रिय सहयोग दिया तथा डा० जसबीर आर्य ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

महाराष्ट्र के भूकम्प पीड़ितों की सहायता कीजिए

३० सितम्बर को महाराष्ट्र मे आये विनाशकारी भूकम्प पीडितो की सहायता के लिए अपनी श्रेष्ठ परम्परा के अनुरूप उदारतापूर्वक दान दीजिए। नकद/मनी-आडर/रेखाकित बैंक द्वारा दान राशि अथवा खाद्य सामग्री, वस्त्र, कम्बल, दवाइया आदि दिल्ली आय प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१ के पते पर भिजवायें। आय समाज दीवान हाल, आर्य समाज हनुमान रोड, आर्य समाज करोल बाग अथवा आय समाज राजौरी गाडन मे भी दान राशि या सामग्री भिजवा सकते हैं।

दानदाताओ की सूची

पूर्वयोग	७५९२७)	रुपए
आर्य समाज राजोरी गाडन, नई दिल्ली	२६०००)	"
आर्य समाज रोहतास नगर, दिल्ली	२२०००)	"
रतनदेवी आर्य कन्या उच्चतम विद्यालय, कृष्णनगर दिल्ली	६०००)	"
आय समाज, कस्तूरबा नगर, डिफेंस कालोनी, नई दिल्ली	५०००)	"
रतनदेवी स्कूल का नसरीविग, कृष्णनगर दिल्ली	४०००)	'
आय समाज मन्दिर, रघुबरपुरा, दिल्ली	२१००)	
आर्य समाज विक्रमनगर, नई दिल्ली	१७२५)	"
आर्य समाज तिलकनगर, मध्ये दयानन्द आदश विद्यालय तिलक नगर, नई दिल्ली	११०१)	"
श्री आर०पी० गुप्ता, भारतीय योग सस्थान, कृष्णनगर, दिल्ली	१००१)	"
श्री गोविन्दराम, भारतीय योग सस्थान, ,, ,,	१०००)	"
आय समाज तिलकनगर, नई दिल्ली	५००)	"
आर्य समाज (मुल्तान) देव नगर, नई दिल्ली	५००)	"
श्री एस०के० रुस्तगी भारतीय योग सस्थान, कृष्णनगर, दिल्ली	२५०)	"
आय समाज सुन्दर विहार, नई दिल्ली	२००)	"
श्री करतार सिंह, भारतीय योग सस्थान कृष्ण नगर दिल्ली	१०१)	"
आर्य समाज नागल राय	१००)	"
श्री कृष्णकुमार, भारतीय योग सस्थान, कृष्ण नगर दिल्ली	१००)	"
श्री एम एल खन्ना, " " " "	५२)	"
श्री बाबू लाल ,, " , ,	५१)	"
श्रीमती लीलावती " " " "	५१)	"

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव

सहसम्पादक—विमलकान्त शर्मा

मानव देह की वास्तविकता एवं उसका सदुपयोग

सृष्टिकर्ता की व्यवस्था के अनुसार जीव मिट्टी के बने घर (शरीर) मे निवास करता है—

'मोषु वरूणा मृत्मय राजन्नह गमम्" । ऋग्० ७।८९।१

यह मानव देह न केवल मिट्टी का बना घर है अपितु नाशवान और क्षण-भगुर भी है । त्याई चन्चल है न जाने कब वृक्ष से नीचे गिर जाये—

"अश्वत्थे वो निषदन पर्णे वो वसतिष्कृता" । ऋग्० १० ९७ ५
यजु० ३५।४

किसी उर्दू के शायर ने भी इस शरीर की नश्वरता के विषय मे बडा सुन्दर कहा है —

आदमी का जिस्म है क्या, जिसपे शैदा है इन्सान ।
एक मिट्टी का पुतला, एक मिट्टी का मकान ।
खून का जिसमे लगा है गारा, और ईटें बनी हैं हड्डिया ।
चन्द श्वासो पर खड़ा है, खाली यह आसमान ।
मौत की पुरजोर आंधी, जब इससे टकरायेगी ।
देखना यह इमारत, चूर-चूर होकर गिर जायेगी ।

भौतिक विज्ञान के पण्डितो का कहना है कि यह मानव शरीर लोहे, चूने, अभ्रक, गन्धक, सीशा, नमक, खाण्ड, पानी कुछ चान्दी का सघात मात्र है और कुछ भी तो नहीं ।यदि यह मनुष्य शरीर इन्हीं पदार्थों का नाम है तो इस महगाई के जमाने में भी इसका मूल्य पांच दस रुपये से अधिक न होगा ।

यही नहीं, यह तो एक गन्दे लिहाफ की तरह है जिस पर किसी ने साफ सुथरा सुन्दर गिलाफ चढा दिया हो । यह मानव देह ऊपर से बड़ा सुन्दर परन्तु अन्दर से त्रिवाम्त निझायक गन्दा और मल मूत्र से सना है । योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि ने योग के दूसरे अग नियमों में से शौच का वर्णन करते हुए लिखा है—

"शौचात् स्वांग जुगुप्सा परैरससग " । योगदर्शन २।४०

अर्थात जब साधक के मन में पवित्रता की भावना जाग्रत हो तो उसे अपने अगो से भी ग्लानि होने लगती है और वह दूसरो के शारीरिक सौन्दर्य पर भी मुग्ध नही होता । इस सूत्र पर भाष्य करते हुए महाभारतकार महर्षि व्यास ने पूरे शरीर की वास्तविकता का बड़ा सुन्दर चित्र सा खींच दिया है —

"स्थानाद्बीजादुपष्टम्भात् स्यन्दनान्निधनादपि ।
कायमाधेय शौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचि विदु ।'

अर्थात बुद्धिमान मनुष्य पांच कारणो से शरीर को अपवित्र मानते हैं ।

(क) (स्थानात्)—जिस स्थान में अर्थात माता के गर्भाशय मे यह शरीर बना, वही अपवित्र था, तो अपवित्र स्थान मे बना यह शरीर कैसे पवित्र हो सकता है?

(क) (बीजात)—जिन कारणो से पिता के शुक्र और माता के शुक्र से इसका निर्माण हुआ है, जब वे ही अशुद्ध थे तो यह शुद्ध कैसे हो सकना है ?

(ग) (उपष्टम्भनात्)—धारक तत्व मास-मज्जा-अस्थि-मलादि जो इस शरीर को सहारा देते है वे सभी गन्दे है तो यह शुद्ध कैसे हो सकता है ?

(घ) (स्यन्दनात्)—जो चीजें अनेक द्वारो और छिद्रो से मल-मूत्र, स्वेदादि के रूप मे बाहर निकलती है, वे सभी मलिन और गन्दी हैं, तो इनसे परिपूर्ण शरीर शुद्ध कैसे हो सकता है ?

(ङ)(निधनात्)—मृत्यु होने पर इस शरीर का गन्दा रूप स्पष्ट हो जाता है।

अत. इस मानव देह के ऐसा गन्दा और अपवित्र होने पर क्या यह तुच्छ और त्याज्य है ? उत्तर—"कदाचित नहीं ।" यह तो बड़ी मूल्यवान वस्तु है जो बडी मुश्किल से मिलती है । महाभारतकार ने एक प्रसग में इस शरीर के बारे में लिखा है— "बहु पुण्यलब्धे"

जन्म—जन्मान्तरो के पुण्य कर्मों के आधार पर यह मानव देह मिलती है । किसी ने ठीक ही तो कहा है —

नर तन का पाना, बच्चो का कोई खेल नहीं ।
जनम-जनम के शुभ कर्मों का होता जब तक मेल नहीं ।
नर तन पाने के लिए, उत्तम कर्म कमाया कर ।

यद्यपि यह मिट्टी का बना घर है "मृण्मय गृह", परन्तु इसको तुच्छ समझ-कर इसकी उपेक्षा करना नितान्त मूर्खता ही होगी । वह मिट्टी का घर साधारण घर नहीं है । इसमे इसके रचयिता परमपिता परमात्मा ने वह कौशल दिखलाया है कि इसका एक एक पुर्जा (अवयव) अमूल्य है । यदि कोई एक पुर्जा नष्ट हो जाये तो ससार का बड़े से बडा कोई भी कारीगर वैसा पुर्जा न बना सकेगा । नाक लग जाती है जो रूप-रग मे तो असली नाक जैसी दिखाई देती है, किन्तु असली नाक के अग्र-भाग मे जो गन्ध ग्रहण करने की क्षमता है, वह उसमे नही है और न हो सकती है । आख के स्थान पर पत्थर की कृत्रिम आख भी लगाई जाती है वह जो देखने भालने मे तो असली आख जैसी ही लगती है, किन्तु देखने की ज्योति न आज तक उसमे कोई डाल सका है और न डाली जा सकती है । इसी तरह शरीर के प्रत्येक अग के बारे मे समझ लेना चाहिए ।

अथर्ववेद में मनुष्य शरीर के एक—अग की रचना पर बडा सुन्दर उल्लेख मिलता है, इसके बनाने वाले विलक्षण कारीगर की भूरि भूरि प्रशसा भी की गई है । कैसा सुन्दर सगठन है इसका । जहा जिस पदार्थ (अवयव) की आवश्यकता थी उसे वहीं रखा है ।

मुख के कुछ ही ऊपर आखो को, दायें-बायें की बात सुनने के लिए दो कान मानो जैसे कि दो वायरलेस यन्त्र लगा दिये हैं । ऊगलियो तथा बाहो और जघाओं की सन्धियां कितनी कारीगरी से बनाई हैं । लाखो-करोड़ो वर्ष सृष्टि रचयिता ने मानव देह का जो ढाचा-माडल बस एक बार कितना अपराजित बना दिया कि बड़े अन्तराल के बावजूद भी इसमें किसी प्रकार की अदला-बदली की आवश्यकता ही नहीं पड़ी, जबकि इस लोक में वाहन आदि पदार्थों के निर्माता समय-समय पर कुछ अदला बदला करके नये नये माडल निकाल देते हैं और पुराने को बेकार कर देते हैं ।

अत इस शरीर के स्वरूप को समझकर इसका मूल्यांकन करना चाहिए । सामवेद में जब भगवान से मिट्टी के ढेर रूप (अमृचरू) पार्थिव शरीर के रहस्य के उदघाटन करने की प्रार्थना करता हुआ दिखाई देता है—

"स नो वृषन्नमु चरू सत्रादा वन्नपावृधि अस्मभ्यमप्रतिष्कुत ।।
। साम १९२१ ।

ताकि इसकी वास्तविकता को समझकर इसका सदुपयोग कर सकें ।

इस रहस्य उद्‌घाटन को महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास ने महाभारत के शांति पर्व मे बडे मार्मिक शब्दो में इस प्रकार किया—

"गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि, न हि मानुषात श्रेठतरहि किंचित ।।

अर्थात यह रहस्य ज्ञान तुम्हे बताता हू कि मनुष्य देह से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है । महाभारत मे ही नही अपितु वेदो—उपनिषदो मे भी इस शरीर को बड़ा दुर्लभ बताया है । ऐतरेय उपनिषद के ऋषि ने लिखा है कि देवताओ (इन्द्रियो) मे गो अश्व आदि अनेको प्राणियो के शरीरो की उपेक्षा करके मानव देह को ही पसन्द किया था और उसे देखकर फूले नहीं समाये—

"तभ्यो गामानयत्, ता अब्रुवन् न वै नो ऽयमलमिति । ताभ्यो अश्वमानयत्, ता अब्रुवन् न वै नो ऽयमलमिति । ताभ्य पुरुषमानयत् ता अब्रुवन्, सुकृत बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् ' । ऐतरयोप० १।२।२।३

(शेष पृष्ठ ७ पर)

'शाकाहारी अण्डा' एक भ्रामक नाम एवं फरेब है

मुर्गी अण्डे देती है २१ दिन तक सेयती है फिर उसमें से बच्चे निकलते है एक महीने में स्वाभाविक रूप से १४, १५ अण्डे लगभग देती है। अण्डे खाने वाले मनुष्य अण्डा पैदा होते ही छीन कर खाते रहे हैं। जीव हत्या बराबर करते रहे हैं। ये तो एक प्रकार के व्यक्ति हैं, दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति हैं जो इनका उत्पादन कर अधिकाधिक पैसे कमाना चाहते हैं ये व्यक्ति उन व्यक्तियो के समान हैं जो दो या तीन वर्ष में ही भैंस को अधिकाधिक इस प्रकार का चारा खिला कर उसके सम्पूर्ण जीवन की ताकत को थोड़े समय मे दूध के रूप मे अधिक से अधिक प्राप्त करके पैसा कमाते हैं। उसके बाद चाहे भैंस दूध दे या न दे। या उसमे घृत की मात्रा बेशक कम हो लेकिन दूध से पैसा वसूल कर लेते हैं।

यह प्रवृत्ति अण्डो का उत्पादन करने वाले मुर्गी फार्मों के सचालको मे भी आयी। जिसके कारण उन्होने निम्नलिखित स्वरूप अपनाया।

मुर्गी फार्मों मे मादा बच्चो को अलग अलग कर लिया जाता है। मादा बच्चों को शीघ्र जवान करने के लिये एक खास प्रकार की खुराक दी जाती है और इन्हें २४ घण्टे तेज प्रकाश में रख कर सोने नही दिया जाता ताकि ये दिन रात खा खाकर जल्दी ही रज स्राव करने लगें और अडा देने लायक हो जायें अब उन्हे जमीन की जगह तग पिंजरो मे रखा जाता है इन पिंजरो मे इतनी अधिक मुर्गिया भर दी जाती हैं कि वे पख भी नही फडफडा सकती तग जगह के कारण आपस में चोंचे मारती हैं, जख्मी होती हैं, गुस्सा करती हैं, कष्ट भोगती हैं जब मुर्गी अण्डा देती है तो अण्डा जाली मे से किनारे पड़ कर अलग हो जाता है और उसे अपनी अण्डे सेयने की प्राकृतिक भावना से वचित रखा जाता है ताकि वह अगला अण्डा शीघ्र दे। अत्याचार यहीं तक सीमित नही है, चोंचें काट दी जाती हैं। मुर्गी की इस तड़फा-तड़फी मे चूजो तक की जान भी चली जाती है। आधा घण्टे बाद उन मुर्दा चूजो को मशीनी गर्मी से सुखा कर चूर्ण बना कर मुर्गियो को आहार के रूप मे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त हिंसक कोटि का आहार जैसे—

बोन मील (अस्थि), ब्लड-मील (रक्त आहार), फलश-मील (विष्ठा आहार) मीट (मासाहार), फिश मील (मत्स्याहार) आदि दिया जाता है। परिणाम स्वरूप मुर्गी कम से कम समय मे अधिक अण्डे मुर्गे के ससर्ग के बिना भी अण्डे देने लग जाती है। इसकी पूर्ति के लिए मुर्गियो को विशिष्ट हार्मोन्स और एग-फार्म्युलेशन के इन्जेक्शन भी दिए जाते हैं ताकि मुर्गिया लगातार अण्डे दे सके। अण्डो से चूजें जल्दी बाहर आ जायें इसके लिए उन अण्डो को इक्यूबेटर (सेटर) मे डाल दिया जाता है।

उपरोक्त प्रकार के विवरण से पता चलता है कि आधुनिक मशीनी स्वाभाविक अण्डो से अलग होने के कारण ही शाकाहारी अण्डे' इस नाम से कहे जाने लगे। क्योंकि इनके उत्पादन मे हर बार मुर्गे के ससर्ग की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि मुर्गे के शुक्राणु लम्बी अवधि तक मुर्गी मे पडे रहते हैं। (लगभग ६ मास तक) लेकिन वे होते सजीव ही हैं।

इस प्रकार अपनी विष्ठा खाने वाली, अपने मृत बच्चो का पाउडर खाने वाली, गला सड़ा खाद्य खाने वाली, दुख दर्दो से पीडित मुर्गी द्वारा प्राप्त अण्डे ज्यो ज्यो अपनी स्वाभाविक स्थिति से निकृष्ट होते गए त्यो त्यो अण्डे खाने वालो और अण्डे के व्यवसायियो ने उन्हे अहिंसक शाकाहारी' वैज आदि भ्रामक नामो से बताना शुरू कर दिया है। जिस प्रकार नकली घी (चर्बी मिश्रित डालडा घी) बेचने वाला असली घी का बोर्ड लगा कर ही उसे बेच पाता है और खूब पैसा कमाता है। उसी प्रकार घृणित अण्डो के लिए 'शाकाहारी' अण्डा एक भ्रामक नाम देकर जन साधारण से फरेब करता है।

जिसके कारण अण्डे खाने वाले को टोकने पर अपना दोष छिपाने के लिए यही बहाना बताते हैं कि हम तो शाकाहारी अण्डे खाते है। परिणाम स्वरूप धर्म भीरू लोग भी अपने ही घर में खुल्लम खुल्ला धड़ाधड़ निसकोच होकर खाने लग गये हैं। लेकिन वास्तव में वे स्वय से फरेब कर रहे हैं वो भी केवल जिह्वा के स्वाद में।

हम सज्जनो का कार्य वास्तविकता को प्रस्तुत करना है। क्योंकि मनुष्य की जीवन सत्य और असत्य (दूध का दूध पानी का पानी) करने कराने के लिए है न कि वृथा वाद विवाद के लिए।

वहां प्राकृतिक रूप से उत्पन्न अण्डा मानव के लिए अत्यन्त हानिकारक

आधुनिक, मशीनी, अनिषेचित अण्डो में भी क्रोमोसोम होते हैं। हां अन्तर इतना है कि इनमें क्रोमोसोम की सख्या अपेक्षाकृत ५०% होती हैं और क्रोमोसोम केवल जीवो मे ही पाये जाते है अत अण्डा कैसा भी हो उसे खाना जीव हत्या है।

—प्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिक मि० फिलिप की खोज

होने के कारण मनीषियो ने उसे अभक्ष्य कहा है। वहा आधुनिक मशीनी अडे मानवता के पतन को कहा तक ले जा सकते हैं। उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है।

शाकाहारी अण्डो के भुलावे मे आकर ये घृणित मशीनी अण्डे खाकर ऋषि मुनियो की भारतीय सन्तानें निम्नलिखित रोग एव उनसे उत्पन्न हानियो से नही बच सकते।

रोग—हृदयाघात (हार्ट अटैक), आत का कसर, शरीर मे अति अम्लता गठिया, जोडो में थक्के जमना, एलर्जी पित्ती, दमा रोग, हाई ब्लड प्रैशर, लकवा, पाचन शक्ति मे विकार, डी०डी० टी० की अधिकता एव उससे अनेक रोग, कोलेस्ट्रोल की अधिकता एव इससे उत्पन्न विविध रोग आदि।

अण्डे मास से केवल व्याधिया (शारीरिक रोग) ही नही बल्कि आधिया (मानसिक रोग) भी बहुत बढ रहे हैं। जसे—

तानाशाही, गुण्डागर्दी, अश्लीलता, बलात्कार, दगे कत्ल हगामे, भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता आदि ससर भर मे फैला रहे हैं।

मुझे पूर्ण आशा है कि उपरोक्त विवरण पाठको मे सभी भ्रान्तियो का निवारण कर सकेगा। सफलता की प्रतीति में ही मैं अपने लघु प्रयास को निरन्तर जारी रखूगा।

गगाशरण आर्य
ग्राम शाहबाद मोहम्मदपुर, नई दिल्ली

आर्य समाजो के निर्वाचन

आर्य समाज बम्बई—श्री भाऊलाल शर्मा प्रधान, श्री राजेन्द्रनाथ पाण्डेय मन्त्री, श्री केशवलाल एल सराव्या कोषाध्यक्ष चुने गये।

आर्य समाज कालांवाली मण्डी सिरसा—श्री अमरनाथ जी गोयल प्रधान, श्री ओमप्रकाश जी आर्य मन्त्री, श्री ओमप्रकाश जी आर्य कोषाध्यक्ष चुने गये।

—सब मनुष्यो को सामाजिक सवहितकारी नियम पालने मे परतत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम मे सब स्वतत्र रहे।

ऋषि-निर्वाणोत्सव

१३ नवम्बर ९३, शनिवार, प्रात ८ से १२ बजे तक

रामलीला मैदान, नई दिल्ली मे

आमन्त्रित वक्ता

श्री स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती

डा० रामप्रकाश—प्रो० उत्तमचन्द 'शरर'—डा० वाचस्पति उपाध्याय डा० प्रेमचन्द श्रीधर।

दीपावली के पावन पर्व पर आप सब सपरिवार एव इष्ट मित्रो सहित सादर आमन्त्रित हैं।

इस अवसर पर डा० सुधीरकुमार गुप्त को प० केदारनाथ दीक्षित वैदिक विद्वान् पुरस्कार से सम्मानित किया जायेगा।

निवेदक

महात्मा धर्मपाल	डा० शिवकुमार शास्त्री
प्रधान	महामन्त्री

आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली राज्य
१५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१

आदर्श त्रैतवाद (४८)

राजसिंह भल्ला

शोक रहित हो जाता है

अत पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्यचेतसा ।
विशोक पदमालम्ब्य निरातक स्थिरो भव ।।
महो० ४-१०४

ऋषि उपदेश करते हैं कि पुरुषार्थ का आश्रय लेकर आत्मा के द्वारा चित्त का दमन करे तब ही शोक रहित होकर सदा के लिये स्थिर शान्त हो स्वस्वरूप मे मे स्थिर हो सकता है।

आवागमन से छुटकारा

चित्तमेव ही ससारो रागादि क्लेशदूषितम् ।
तदेव ही तैर्विनिर्मुक्त इति कथ्यते ।। महो० ४ ६६

चित्त ही मुख्य रूप से ससार म राग और क्लेश आदि दोषो से दूषित होता है। अत इसी से मुक्त होना चाहिए तब ससार मे आवागमन-जन्म-मरण से पीछा छूट जाता है।

वैराग का फल

वैराग्यात् पूर्णतामेति मनो नाशदशानुगम आशया
रक्तामेति शरदीव सरोऽमलम् । महो० ६ ७५

वैराग से मन का शमन होता है, आशा तृष्णा से राग युक्त होता है। वैराग से मन की शुद्धि ऐसे हो जाती है जैसे शीतकाल मे सरोवर निर्मल हो जाता है। वैरागी ससार के व्यवहारो को बार-बार करता है, नीरस पाता है, पुन करता है, करते-करते उकता जाता है, ज्ञान होने पर विरक्त हो जाता है। तत्पश्चात ही भगवान के साक्षात्कार करने मे समर्थ होता है।

ब्रह्म को जानकर ही मोक्ष प्राप्ति

सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि
सपश्यन्ब्रह्म परम याति नान्येन हेतुना । कैवल्यो० १०

आत्मा ब्रह्म को सब भूतो मे, पदार्थों में व्यापक समझे और सब पदार्थों को ब्रह्म मे स्थित समझे इस प्रकार ब्रह्म को अच्छी प्रकार देखकर परम मोक्ष को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कारण नहीं हैं और न कोई दूसरा मोक्ष का मार्ग ही है।

शान्त, निष्काम भाव का फल

एषा ब्राह्मी स्थिति स्वच्छा निष्कामा विगतामया आदाय ।
विहरन्नेव सकटेषु न मुह्यति ।। महो० ६-७३।

जिसकी सब कामनाए शान्त हो गई हैं जो निष्काम भाव से ब्रह्म मे सदा अपनी स्थिति को बनाए रखता है। जो सब रोगो से मुक्त हो गया है जिसके सब क्लेश दूर हो गए हैं। वह पुन जन्म मरण के सकट में नहीं पडता तथा ससारी सकटो झझटो मे नही फसता अत निष्काम भाव से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये तब ही जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्म मे स्थिति हो जाती है।

मृत्यु पर विजय

स ब्रह्मा, स शिवा, सेन्द्र सोऽक्षर, परम स्वराट, स एव विष्णु स प्राण
स कालोऽग्नि स चन्द्रमा स राव सव यद भूत यच्चभाव्यम सनातनम्
ज्ञात्वातम मृत्युमत्येति नान्य पन्था विमुक्तये ।। कैवल्यो० ८ ९

वह ईश्वर ही ब्रह्म है। वही शिव है कल्याणकारी है। सहार करता है। वही इन्द्र है, प्रकाशमान है। स्वय सम्पूर्ण ससार में शासन करता है। सबको अपने अधिकार में चलाता है वही विष्णु रूप मे सबका पालक है, पोषक है, रक्षक है। वही प्राण रूप है, अन्तर्यामी होकर प्राण और जीवन का सचार करता है। अपनी चेतन सत्ता के द्वारा पदार्थों को गति प्रदान करता है। वह काल रूप अग्नि है, मृत्यु मे भी व्याप्त होकर विद्यमान है। वह ईश्वर ही चन्द्रमा के समान प्रकाशमान है। प्रत्येक प्राणी को प्रकाश प्रदान करता है। वह ईश्वर भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो कालों में वर्तमान है उस पर काल का बन्धन नहीं हैं। वह कालरूप है, सनातन है अनादि और अनन्त है। उसको जानकर मनुष्य मृत्यु को लाघ जाता है। मृत्यु पर विजय पा लेता है। मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उस ज्ञानी को मौत का भय नहीं रहता। इसके अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा रास्ता नहीं है। उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु को लाघ जाता है। मृत्यु पर विजय पा लेता है।

क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (१८)

नेतराम शर्मा, प्रधान—भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला दिल्ली-११००५१

(३) बावची और मूली के बीज दस-दस ग्राम पीस कर एक छोटा चम्मच हल्दी मिलाकर मट्ठा मे घोलकर उबटन बना कर दागों पर लेप करना चाहिए। समय दो माह।

३—छपाकी —

(१) बीस ग्राम गुड बीस ग्राम अजवायन कूटकर दो मात्रा बना लें पहली मात्रा दिन मे ताजा मटठा के साथ, दूसरी मात्रा साय ताजा पानी के साथ निगल जायें

(२) पाच ग्राम गेरू पीसकर २५ ग्राम शहद के साथ सेवन करें।

४—हर्निया (अड वृद्धि पर)—

(१) कटेली की ताजा जड की छाल १५ ग्राम काली मिर्च ७ नग पानी के साथ पीस छानकर रोज पीने से बीमारी दूर।

(२) गोमूत्र मे ६ ग्राम गूगल ६ ग्राम अडी तेल मिलाकर चालीस दिन पीने से रोग दूर।

(३) तमाखू के पत्ते को गम कर गूगल लगाकर बाधना।

५—बाझपन दूर करने के उपाय—

यदि माहवारी खुलकर आये और पुरुष के वीर्य में दोष न हो इसके बावजूद गर्भाधान न हो तो इनमे से कोई नुस्खा उपयोग करें।

(१) माहवारी हो जाने के पश्चात हाथी दात का बुरादा बारीक पीसकर डेढ ग्राम सुबह व डेढ ग्राम शाम दूध के साथ तीन-चार रोज सेवन करें।

(२) नागोरी असगध बारीक पीसकर छानकर माहवारी के बाद ३ ग्राम चूर्ण २५० ग्राम दूध के साथ तीन चार रोज।

(३) शिवलिंगी का चूर्ण भी कपट छनकर दूध के साथ ३ ग्राम सात दिन।

क्रमश:

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावो की काव्य व गीतो के माध्यम से व्याख्या (२२)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

ऋषिवर तुम्हे प्रणाम

ऋषिवर तुम्हें प्रणाम! ज्ञान सागर, गुणधाम प्रणाम।
सकट विकट सहे जग हित मे लगे रहे अविराम।।
चूहे ने ऋषिराज को दिया एक नया सन्देश।
निज रक्षा मे अक्षम है फिर क्योंकर हुआ महेश।।
सच्चे शिव की खोज करो फिर सशय मिटे तमाम ।।१।।
सबको अमृत रहे बाटते, पर खुद जहर पिये।
खुद घावो से छलनी थे, दूजो के घाव सिये।।
विषदाता को क्षमा किया, खुद भगा दिया से दाम ।।२।।
सत्य-धर्म-वेदेश्वर के थे आप सुदृढ़ अनुयायी।
वेद सस्कृति भाषा के प्रति, श्रद्धा नयी जगायी।
सत्य आचरण का सन्देशा, सबको दिया ललाम ।।३।।
विधवा नारी शूद्रो के सब बन्धन कटवाये।
गुरुकुल, कन्या-विद्यालय, उनके हित खुलवाये।।
छुआछूत-पाखण्ड-भूत के ढाये भवन तमाम ।।४।।
जड़-पूजा-मृत श्राद्ध कुपथ मे फसे हुए थे सब।
एकेश्वर पूज बतलाई, और पथ महायज्ञ।।
निराकार जगदीश-भजन से मिलता है सदाम ।।५।।

क्रमश

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

पुंसवन का अर्थ—पुंसत्व-पुरुषत्व या पुरुषार्थवान करना है। इस संस्कार के द्वारा गर्भस्थ सन्तान के सुनियमित शारीरिक विकास की व्यवस्था की जाती है। भारतीय संस्कृति में लड़की हो या लड़का इसकी चिन्ता प्राचीन काल में कभी नहीं थी। विदेशी आक्रान्ताओं के पदार्पण से संस्कृति भ्रष्ट होने पर हम भी लड़के-लड़की में भेद करने लगे जन्म के बाद लड़कियों की हत्या का लम्बा इतिहास आपको पता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय जैसे सुधारकों के प्रयास से लड़कियों को जीवन दान मिल सका। इतने पर भी समाज के मन में अब भी लड़के की कामना बलवती रहती है। इसीलिए वे पुंसवन संस्कार को पुरुष सन्तान के जन्म का आधार बनाना चाहते हैं। इस अवसर पर इस प्रकार की औषधियों का प्रयोग करना चाहते हैं कि गर्भस्थ सन्तान लड़का हो। इसीलिए संस्कार के समय वटवृक्ष की कोंपलें एवं गिलोय का रस गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघाने का विधान किया गया है। लेखक का यह मानना है कि यह औषधियां लड़की को लड़का बनाने के लिए नहीं अपितु सन्तान के शरीर में ओज उत्पन्न करने के लिए प्रयोग की जाती है, जिससे वह श्रमशील, निरालसी, उत्साही पुरुषार्थी सन्तान बने।

दुःखद स्थिति यह है कि अब यह संस्कार हमारे परिवारों से तो उठ सा ही गया है किन्तु अधिक जोर शोर से नरसिंग होम (पोषणालय) या चिकित्सालयों में पहुंच गया है, जिसका पुरोहित कोई सुयोग्य प्रशिक्षित चिकित्सक होता है—वह प्राणियों की जान बचाने के कारण चिकित्सक या दूसरा भगवान कहा जाता है, किन्तु धन का दास होकर वह जो करता है—उसकी किसी इन्सान से भी अपेक्षा नहीं की जाती है। बड़े-बड़े विज्ञापन पटल लगाकर लिखा जाता है कि जानिए स्वस्थ लड़का या लड़की होगी—बड़ी राशि लेकर वैज्ञानिक विधि अल्ट्रासाउंड द्वारा गर्भस्थ शिशु का लिंग बता दिया जाता है। फिर लड़की होने पर और अधिक राशि लेकर इसी भ्रूण की हत्या कर दी जाती है। विधि का विकास तो विज्ञान ने यह कह कर किया था कि गर्भ में ही शिशु के शारीरिक दोष का पता चल जाये और उसी समय उसका उपचार हो जाये, जिससे जन्म से सन्तान स्वस्थ हो, किन्तु और अनेक बारूद, बम्ब आदि के आविष्कारों की भांति यह भी भारत में एक हत्याकारी आविष्कार सिद्ध हो रहा है। अब स्त्री-पुरुष का सन्तुलन बिगड़ते देखकर अनेक प्रादेशिक सरकारें इस परीक्षण प्रक्रिया को प्रतिबन्धित करने पर विचार करने को विवश हुई हैं।

वैदिक ऋषियों ने बिना हत्या के ही गर्भस्थ भ्रूण को मनवांछित लिंग में ढालने के उपाय संस्कार के माध्यम से हमें दे रक्खे थे। यहां तक कि निःसंतान राजाओं को भी योग्य उत्तराधिकारी प्रदान करने के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ की प्रक्रिया विकसित कर दी थी। स्वस्थ चारित्रिक पृष्ठ भूमि में नियोग से भी नियोजन क्रिया था। आज के वैज्ञानिक परीक्षण से उन्हें हत्या की कोई योजना स्वीकार नहीं थी, परन्तु वे अपनी संस्कार पद्धति से बिना हत्या व पीड़ा के जैसी चाहते थे वैसी संतान प्राप्त कर लेते थे। उनके सामने हिरण्यकश्यप के शासन में विकराल समस्या उत्पन्न हो गई थी, जबकि उसने स्वयं को ईश्वर घोषित कर दिया था। उसने प्रजा पर घोर अन्याय करना प्रारम्भ कर दिया था। वह स्वयं बलशाली था। उसकी पत्नी गर्भवती हो चुकी थी। वैसी ही बलशाली सन्तान उसकी पत्नी के गर्भ में होना सुनिश्चित था। चिन्तकों ने यत्नपूर्वक उसकी पत्नी को उसके प्रासाद से स्थानान्तरित कराके ऋषियों के परीक्षण में रक्खा और उसके गर्भस्थ शिशु को संस्कारित किया जिसके फलस्वरूप सन्तान न केवल पुरुष हुई, वह बलशाली एवं वैदिक परम्पराओं की अनुयाई हुई। ऋषियों की योजनानुसार उसी प्रह्लाद ने अपने अन्यायी पिता का डट कर विरोध किया। नितान्त आतंकपूर्ण यातनायें सहन करके भी उसका नाश किया तथा राष्ट्र को सुख शान्ति, समृद्धि का वातावरण प्रदान किया।

मन्त्र और प्रक्रिया—यह संस्कार गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में किया जाता है। साधारण यज्ञ के साथ दो विशेष मन्त्रों से आहुतियां दी जाती हैं।

क्रमशः

वेद ऋचाएं गूंज उठें फिर

राधेश्याम 'आर्य' विद्यावाचस्पति

वेद महान, अपौरुषेय है, ईश्वरीय शुचि ज्ञान है।
मानवता की वे विभूति है, सद्प्रेरक विज्ञान है।
देशकाल व इतिहासों की, सीमाओं से है बाहर।
वेद ज्ञान की गरिमा से, मानव उन्नति करता सत्वर।

सभी सत्य विद्याओं का है, पुस्तक दिव्य हमारा वेद।
आदि काल से पावन गंगा, धर्म की रहा बहाता वेद।
मंगलमय हो जीवन जन का, सदा सफलता मृदु सरसे।
जन-जन में नव जीवन आए वेदामृत अन्तर में बरसे।

दिव्य ज्ञान के पुञ्जवेद है, जिनसे होता जनकल्याण।
सत्य शिवम् सुन्दरतापूरित, होता जन मानस निर्माण।
गौरव मण्डित वेद हमारे, करते कण-कण का उत्थान।
सुख-समृद्धि भरा जीवन हो, कर आनन्द सुधा का पान।

ज्योतिमयी ऋचाओं से यह, ज्योतित हो अब सब संसार।
पुनः प्रकाशित हो जगती पथ, क्षत विक्षत हो तिमिरागार।
वेद ऋचाएं गूंज उठें फिर, धरती के शुचि प्रांगण में।
सामगान की मृदुललहरियां, लहराएं भू आंगन में।

शाश्वत ज्ञानपुंज प्रस्थापित हो सारे महिमण्डल में।
पथतथा पाखण्ड-मतान्तर, भस्मभूत रवि मण्डल में।
'कृण्वन्तोविश्वमार्यम्' से गूंजित हो सम्पूर्णधरा।
सुख समृद्धि सफलता-समता, से हो पावन वसुन्धरा॥

मुसाफिर खाना, सुलतानपुर (उ०प्र०)

सहनशीलता का जादू

आनन्द स्वामी

महर्षि दयानन्द ठहरे थे फर्रुखाबाद में गंगा के तट पर। उनसे थोड़ी ही दूर एक और झोपड़ी में एक दूसरा साधु भी ठहरा हुआ था। प्रतिदिन वह देव दयानन्द की कुटिया के पास आकर उन्हें गालियां देता रहता। देव दयानन्द सुनते और मुस्करा देते। कोई भी उत्तर नहीं देते थे। कई बार उनके भक्तों ने कहा—"महाराज! आपकी आज्ञा हो तो इस दुष्ट को सीधा कर दें।

महाराज सदा कहते—"नहीं, वह स्वयं ही सीधा हो जायेगा।"

एक दिन किसी सज्जन ने फलों का एक बहुत बड़ा टोकरा महर्षि के पास भेजा। महर्षि ने टोकरे से बहुत अच्छे अच्छे फल निकाले, उन्हें एक कपड़े में बांधा और एक व्यक्ति से बोले—"ये फल उस साधु को दे आओ, जो उस परली कुटी में रहता है, जो प्रतिदिन यहां आकर कृपा करता है।"

उस व्यक्ति ने कहा—"परन्तु वह तो आपको गालियां देता है?"

महर्षि बोले—'हां, उसी को दे आओ।"

वह सज्जन फल लेकर उस साधु के पास गये। जाकर बोले—'साधु बाबा! ये फल स्वामी दयानन्द ने आपके लिए दिये हैं।"

साधु ने दयानन्द का नाम सुनते ही कहा—"अरे! यह प्रातःकाल किसका नाम ले लिया तूने? पता नहीं, आज भोजन भी मिलेगा या नहीं। चला जा यहां से। मेरे लिए नहीं, किसी दूसरे के लिए भेजे होंगे। मैं तो प्रतिदिन उसे गालियां देता हूं।"

उस व्यक्ति ने महर्षि के पास आकर यही बात कही। महर्षि बोले—'नहीं, तुम फिर पास जाओ। उसे कहो कि आप प्रतिदिन जो अमृत-वर्षा करते हो, उसमें आपकी पर्याप्त शक्ति लगती है। ये फल इसलिए भेजे हैं कि इन्हें खाइए, इनका रस पीजिए, जिससे आपकी शक्ति बनी रहे और आपकी अमृत-वर्षा में कमी न आ जाए।"

स्वतन्त्रता संग्राम

स्वामी दयानन्द के शिष्य "श्याम कृष्ण वर्मा"

वीरभान "वीर"

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) ने देश के उत्थान के लिए चहुंमुखी योजना बनाई थी। इसमे राष्ट्र को दास्ता से छुटकारा दिलाना भी था। श्यामकृष्ण वर्मा (१८५७-१९३०) का जन्म एक निर्धन परिवार मे हुआ। पिता बम्बई मे काम करते थे, परन्तु उसकी आर्थिक अवस्था इस बच्चे को उच्च शिक्षा दिलाने की नहीं थी। ग्राम के स्कूल से शास्त्री जी ने सस्कृत पढाई। मेधावी बालक ने इस भाषा पर अपना अधिकार प्राप्त करने की क्षमता दिखाई। फलस्वरूप आपका सम्पर्क स्वामी दयानन्द जी से हुआ जब वह बम्बई मे १८७४ मे पधारे। आर्य समाज की स्थापना १८७५ मे हुई। अधिकारियो ने श्यामकृष्ण वर्मा को एक प्रचारक के रूप मे नियुक्त करने की सोची, जबकि उनकी आयु केवल १८ वर्ष की थी। यह इसलिए हुआ, क्योकि उसमे तीव्र बुद्धि, जोश, उत्साह तथा विदेशी शासन से घृणा थी। आपके व्यवहार स्वामी दयानन्द से चलते रहे। एक दानी मथरादास लवजी ने उनको बम्बई मे बुला लिया ताकि वह उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके। वह अपनी कक्षा मे प्रथम आने लगे थे। अपने इन गुणो के कारण उच्च कोटि के विद्वान एव समाज सुधारक भी उनसे प्रभावित हुए। सेठ छबीलदास ने अपनी पुत्री भानुमति (१३) का विवाह श्याम कृष्ण वर्मा से १८७५ मे कर दिया। अब उनका आर्थिक सकट दूर हो गया। इग्लैड से पधारे एक प्रोफेसर मोनियार विलयम से उनका परिचय कराया गया। वह भी सस्कृत के प्रोफेसर थे। उन्होने इसे इग्लैड मे आने का निमन्त्रण दिया। स्वामी दयानन्द को भी वर्मा की देश भक्ति की भावना तथा मस्तिष्क का बल इतना अच्छा लगा कि वह अपनी दृष्टि इस बालक पर रखने लगे। पत्र लिखकर भी अपना मार्गदर्शन देते रहे।

आर्यसमाज बम्बई के अधिकारी श्यामकृष्ण वर्मा को अपने प्रचार प्रसार का साधन बनाना चाहते थे। परन्तु वर्मा ने अपना साहसिक पग स्वय उठाया और आर्य समाज के प्रचार तथा सस्कृत भाषा के महत्व एव उस समय की ज्वलत सामाजिक समस्याओ पर प्रचार हेतु सारे देश के भ्रमण को निकल पडे। बडे बडे विद्वानो से आपका वार्तालाप होता तथा प्रवचन की समाप्ति पर कुछ प्रश्न भी पूछे जाते। आप इतनी छोटी आयु मे भी सतुष्ट करने मे सफल हुए। पूना मे आपने प्रचार किया और कई व्याख्यान दिये। बम्बई से आपको सुन्दर प्रमाण पत्र मिले जो एलफिन्सटन कालिज के प्रो कुनटे, जी०वी० जोशी, कृष्ण शास्त्री महादेव, गोविन्द राना डे आदि ने हस्ताक्षरो से इनकी पुष्टि की। तत्पश्चात आप लाहौर मे गये जहा आर्य समाज की पक्की नीव रखी गई थी। आपके प्रवचन वहा भी प्रभावशाली रहे।

स्वामी दयानन्द ने पत्र के उत्तर मे १६ अप्रैल १८७७ को श्री चिन्तामन को लिखा कि 'श्याम कृष्ण वर्मा को ३ वर्ष की पढाइ हेतु इग्लैड मे अवश्य जाना चाहिए। ऐसे अवसर को खोना उचित नही। इससे जहा उनको लाभ होगा, वहा हमारा देश भी कुछ सीख जायेगा और विदेशी ज्ञान से श्याम जी बहुत कुछ प्राप्त करके लौटेगे।" अब १ वर्ष के लिए इग्लैड मे जाने का प्रबन्ध हो गया। वहा से आप सस्कृत, अग्रेजी के विद्वान बनकर निकले। वह पहला भारतीय था जिसने आक्स्फोर्ड से एम ए ही नही किया, अपितु बार-एट ला बने। भारतीय स्वतन्त्रता हेतु आपको लन्दन, पेरिस, जनेवा आदि स्थानो से भी प्रचार करने का सुअवसर प्राप्त हो गया। आपने १८ फरवरी १९०५ को इन्डिया होमरूल सस्था की स्थापना की। एक लेख मे लिखा भारतवासी आजादी इस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं कि उन्हे विदेशी शासको से लडाई नही लडनी, केवल असहयोग रखना है। उनके घर के नौकर मत बनो, उनकी सहायता बन्द कर दो अगले वर्ष उनके सामने प्रश्न आया, दादा भाई नौरूजी की नरम नीति को ठुकरा दिया।

१८५७ की स्वतन्त्रता की लडाई मे अग्रेजो ने भारत मे दमन की नीति अपनानी आरम्भ कर दी थी। बडी चतुराई से इसाई मिशनरी चर्च बनाने लग गये थे। सरकार ने अग्रेजी स्कूल, कालिज, विश्वविद्यालयो को खोल दिया था। लार्ड मैकाले ने शिक्षा की नीति ऐसी बनाई कि छोटे-छोटे बच्चो को अग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाये और यह ३० वर्ष तक सारे बगाल मे अग्रेजी सस्कृति के समर्थक बनकर निकलेंगे। शिक्षा विभाग के निदेशक ने कह दिया कि इसाई धर्म की जय-जय कार सारे देश मे हो सकती है इसी नीति से। भारत के हिन्दु, मुसलमान सब अपनी अस्मिता को भूल जायेंगे यदि यह नीति सफल हुई।

१८८५ मे जब वह भारत लौटे तो उनके गुरू स्वामी दयानन्द का स्वर्गवास हो चुका था। बम्बई मे एडवोकेट के रूप मे अपना नाम पजीकृत कराया रतलाम राज के दीवान पद को सुशोभित किया परन्तु पोलिटिकल एजन्ज के होते हुए उन्हे काम करने की स्वतन्त्रता नही थी। १८८८ मे अजमेर म्यूनिसिपैलिटी के सदस्य बने। तत्पश्चात जनागढ के दीवान बने। १८९७ मे पूना मे जो अत्याचार भारतीयो पर हुए उनसे ऊब कर आपने इन्डिया होमरूल सस्था को १००००) रूपया दिया ताकि नवयुवको मे जागृति लाई जा सके। इस ग्रुप मे लाला हरदयाल, श्री मदन लाल ढीगरा, श्री श्यामकृष्ण वर्मा आदि क्रान्तिकारी थे हमारे पूर्वजो ने बहुत त्याग सघर्ष तथा समर्पण की भावना से राष्ट्र निर्माण के लिए कार्य किये। हमे अपनी सस्कृति एव स्वतन्त्रता को बचाये रखना है।

१३/१४, तिलकनगर, नई दिल्ली-१८

मानव देह की वास्तविकता

(पृष्ठ २ का शेष)

छान्दोग्योपनिषद और अथर्ववेद मे इस मानव शरीर को ब्रह्मपुरी कहा गया है—

'अथ यदिदमास्मिन ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म छान्दोग्योप८ । ८।१।१

प्रभ्राजमाना हरिणीं यशसा सम्परीवृताम । पुरे हिरण्ययी विवेशापराजिताम् ।

अथर्व० १०।१।३३

अथर्ववेद मे ही इस शरीर को ब्रह्मपुरी के साथ साथ देव पुरी भी कहा गया है—

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या । अथर्ववेद १०।२।३१ ३१

यही नही इसी अथर्ववेद मे इस पार्थिव मानव देह को 'देवी नाव' भी कहा गया है जिस पर चढकर मानव ससार रूपी भवसागर से तर सकता है—

दैव नाव स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमारूहेमा स्वस्तये । अथर्व० ७।६।३

यजुर्वेद मे इस शरीर को ऋषि भूमि बताया है, जिसे सप्त ऋषि बिना प्रमाद के इस शरीर की रक्षा करते हैं और दो तो सर्वदा जागते ही रहते हैं, कभी सोते भी नहीं—

"सप्त ऋषय प्रतिहिता शरीरे सप्तरक्षन्ति सदम प्रमादम् ।

सप्ताप स्वपतोलोकमी मुस्तत्र जागृतो अस्वलजो सत्रसदी चदेवौ । यजु ३४।५५

कठोपनिषद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में इस क्षणभगुर पार्थिव देह को "रथ' कहा गया है, जिस पर चढकर आत्मा (रथी) बुद्धि रूपी सार्थी के द्वारा जीवन यात्रा सफलतापूर्वक पूरी कर सकता है—

"आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेवतु ।

बुद्धिन्तु सारथि विद्धि मन प्रग्रह मेवच । कठोपनिषद ३।३

"रथे तिष्ठन नयति वाजिन पुरो यत्र यत्र कामयते सुपारथि । यजु २९।४३

"आ हि रोहेममृत सुख रथम । अथर्व ८ १६

ऋग्वेद मे एक स्थान पर तो इस शरीर को देवी वीणा कहा गया है। लेकिन वीणा के स्तर बहुत मधुर और रस से होते हैं परन्तु जिसने इस देवी वीणा को बजाना सीख लिया उसके मन प्रसाद की तो बात ही क्या। यही नहीं ऋग्वेद मे इस शरीर को निवचन वपु और अथर्ववेद मे देवो का अत्यन्त प्यारा और अपराजित कहा है—

अथ लोक प्रियतमो देवानाम अपराजित । अथर्व० ५।३९।१७

वेदो उपनिषदो तथा अन्य ग्रन्थो में इस मानवदेह के इतने सुन्दर मार्मिक शब्दो मे वर्णित महत्व को पढकर पता चलता है कि यह मिटटी का बना हुआ होते हुए भी उपक्षा करने योग्य नहीं है ।

महाभारतकार ने शान्ति पर्व मे धमराज युधिष्ठर के एक प्रश्न के उत्तर मे इस शरीर को भवसागर मे तैरने का एक साधन बताया है—

इय योनि प्रथमा, इमा प्राप्य जगतीपते ।

आत्मा विशक्त त्रातुम् कर्मभि शुभलक्षणै ॥

तथाकथित चौरासी लाख योनियो में यही (मानव देह) योनि एक अद्वितीय साधन है कि जिसके द्वारा मनुष्य अपनी जीवन यात्रा सफलता पूर्वक पूरी करके अपने स्वामी प्रभु की कल्याणमयी गोद में जा बैठता है—

(क्रमश)



आर्य समाज में गणेशोत्सव

इस वर्ष आर्य समाज सान्ताक्रूज बम्बई मे स्वर्ण जयन्ती वर्ष के अवसर पर पहली बार गणेशोत्सव १९ सितम्बर से नये रूप में मनाया जा रहा है। गणेश या गणपति के वैदिक स्वरूप और कलात्मक व प्रतीकात्मक महत्व एव अलकारिक रहस्यो पर प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। २९-९-९३ तक चली प्रदर्शनी मे गणपति के विभिन्न नामो की व्याख्या वेद मन्त्रों के आधार पर आम दर्शको के सामने प्रस्तुत की गयी ताकि गणेश भक्तो के आध्यात्मिक ज्ञान मे वृद्धि हो सके। प्रात साप्ताहिक यज्ञ के पश्चात "गणेश का वास्तविक स्वरूप विषय पर पण्डित प्रकाशचन्द जी शास्त्री के प्रवचन हुए तथा १०-३० बजे से सायं ६ बजे तक गणपति के विशेष मन्त्रो से २९ सितम्बर अनन्त चतुदशी तक आहुतियो दी गई।

वेदो मे गणपति—यज्ञेश्वर अग्नि को भी कहते हैं। वास्तव मे अग्नि ही यज्ञ है। यज्ञ को प्रजापति (गणपति भी कहते हैं) क्योंकि यज्ञ से बादल बादलो से वर्षा वर्षा से अन्न अन्न से प्रजाओ की उत्पत्ति पालन एव पोषण होता है।

गणेश या गणपति के इसी स्वरूप को लेकर इस दिन से आर्य समाज मन्दिर सान्ताक्रूज मे सार्वजनिक प्राजापत्य यज्ञ का आयोजन किया गया है।

आर्य वीर दल का गठन

ग्राम नान्द्रा जिला खरगोन मे पूज्य स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती की अध्यक्षता २० ८ ९३ वीर दल का गठन मे सम्पन्न हुआ।

सचालक व कोषाध्यक्ष — श्री महेन्द्र कुमार आर्य
उपसचालक — श्री नरेन्द्र कुमार आर्य
मन्त्री — श्री नितिन कुमार आर्य
उपमन्त्री — श्री [illegible]
पुस्तकाध्यक्ष — श्री अशोक कुमार आर्य

प्रचारकार्य—सर्वश्री प्रदीप आर्य, योगेन्द्र आर्य, सुनील आर्य।

अधिष्ठाता—सर्वश्री बाबूराम जी आर्य, (मन्त्री आर्य समाज) नान्द्रा

आर्य सन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R. N. No. 32387/77 Posted at N D P.S.O. on 21-22-10-1993 Licence to post without prepayment, Licence No. U (C) 139/93

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (एल-११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी) १३९/९३

"आर्यसन्देश" साप्ताहिक ... अक्तूबर १९९३

अन्मोल छन्द

देश, धर्म, हित, प्रेम से, जो देते हैं दान ।
वे दानी, धर्मात्मा, हैं निश्चय लो जान ॥

हैं निश्चय लो जान, नाम जग में पाते हैं ।
कहते हैं विद्वान, अमर वे हो जाते हैं ॥

हरिश्चन्द्र शिवि, वीर कर्ण थे सच्चे दानी ।
उन वीरो की अमर आज है त्याग कहानी ॥

जब तक सूरज चांद, सितारे हैं अम्बर मे ।
उन वीरो का नाम रहेगा दुनिया भर मे ॥

देशवासियो देशभक्त, दानी बन जाओ ।
मानव तन अनमोल सार्थक कर दिखलाओ ॥

महाराष्ट्र मे आ गया खतरनाक भूचाल ।
मरे वहा निर्दोष जन करो साथियों ख्याल ।

करो साथियो ख्याल, बात है दुख की भारी ।
बालक, बूढे तरुण मरे लाखो नर नारी ॥

बहुत बडा नुकसान, हुआ प्यारे भारत का ।
सुन हर जन हैरान, हुआ प्यारे भारत का ॥

फर्ज हमारा आज, करें दुखियो की सेवा ।
सेवा से ही मिले जगत में सच्ची मेवा ॥

भारत वीरो बढो करो शुभ कर्म साथियो ।
दुखियो की सब मदद करो हे धर्म साथियो ॥

—प० नन्द लाल निभय सिद्वात शास्त्री,

आगामी कार्यक्रम

—आर्य समाज निर्माण विहार नई दिल्ली-९२ का १३वां वार्षिकोत्व १ से ७ नवम्बर, ९३ तक समाज मन्दिर ए ब्लाक (निकट डी० डी० ए० फ्लेट्स) में समारोहपूर्वक मनाया जा रहा है। प्रतिदिन प्रात ७ ३० से ८ ३० बजे तक प० विश्वमित्र मेधावी विद्यावागीश के ब्रह्मत्व में यजुर्वेद महायज्ञ होगा। रात्रि को ७ ३० से ८ ३० बजे तक श्रीसत्यदेव स्नातक (रेडियो सिंगर) के मनोहर भजन तथा ८ ३० से ९ ३० बजे तक श्री विश्वामित्र मेधावी जी के वेद प्रवचन होगे।

७ नवम्बर को प्रात यज्ञ की पूर्णाहुति होगी एव सगीताचार्य श्री गुलाबसिंह राघव के मनोहर भजन होगे ११ बजे तक के कार्यक्रम में डा० धर्मपाल कुलपति गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरि०, श्री सूयदेव, प्रधान दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा डा० विद्यालकार, डा० प्रेमचन्द श्रीधर आदि का प्रेरक उदबोधन होगा। सभी महानुभाव सादर आमन्त्रित हैं।

—आर्य समाज सुदशन पाक, नई दिल्ली १५ के तत्वावधान मे २५ अक्तूबर से २८ नवम्बर ९३ तक यजुर्वेद पारायण का आयोजन किया जा रहा है। यह यज्ञ वैदिक सिद्धान्तो के प्रचार के साथ साथ समाज मन्दिर के सभागार निर्माण योजना के अन्तर्गत किया जा रहा है और इसकी आधार शिला २८ नवम्बर को पूर्णाहुति के दिन रखी जायेगी। सभी दानी महानुभाव नकद, क्रास चैक द्वारा दान राशी आर्य समाज मन्दिर, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली १५ के पते पर ही भेजें। ११०० रु० या अधिक राशि के दानयो के नाम मानद दान पटल पर अंकित किए जायेंगे।

सेवा में—

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४/–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १७ अंक ४ रविवार ३१ अक्तूबर १९९३ विक्रमी सम्वत २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१
मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

दिल्ली विधान सभा निर्वाचन में मतदाताओं से अपील

नई दिल्ली दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की राजाय सभा, दिल्ली के प्रमुख कार्यकर्त्ताओ की एक आवश्यक बैठक आर्य समाज हनुमान रोड नई दिल्ली में सभा प्रधान श्री सूर्यदेव जी की अध्यक्षता मे १९-१० ९३ को सम्पन्न हुई जिसमे सर्वश्री प्रि० जगदेव जी, प्रियत्तम दास रमवन्त नरेश चन्द्र आर्य एडवोकेट गोपाल आर्य, नरेश चन्द्र पुरी वैद्य महेन्द्रपाल, वी० पी० शर्मा आदि अनेक प्रमुख व्यक्तियो ने भाग लिया।

देश की राजधानी दिल्ली की कानून-व्यवस्था शिक्षा, चिकित्सा सुविधा, बिजली पानी, टेलीफोन, गृह कर बलात्कार की घटनाएं बढती हुई महंगाई, भ्रष्टाचार सभी क्षेत्रो मे बिगड़ती अवस्था पर गहरी चिन्ता प्रकट करते हुए प्रधान श्री सूर्यदेव ने कहा कि इन परिस्थितियो मे आर्य समाज को चुप नही बैठना चाहिए। आर्य समाज ने सदैव राष्ट्रीय, राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे राष्ट्रीय हितो को ध्यान में रखते हुए मार्ग दर्शन किया है। प्रत्याशियो के चयन करते समय राष्ट्रीय राजनैतिक दलो के प्रत्याशियो ने जो दृश्य प्रस्तुत किया, वह बड़ा ही भयावह था। पार्टी टिकट पाने के लिए एक दूसरे पर झूठे आरोप लगाये गये। मारपीट की गयी और यहा तक कि आत्म हत्या के प्रयास भी हुए। इन सबका मूल कारण है राजनीति का व्यवसायीकरण। प्रत्याशी के लिए केवल आयु सीमा के अतिरिक्त कोई और मान दण्ड नही रखा गया है। पैसा खर्च करने की क्षमता, बिरादरी, भाई भतीजावाद के आधार पर प्रत्याशियो का चयन किया गया है। प्रत्याशी तथा उसके परिवार की चल-अचल सम्पत्ति का कोई ब्योरा किसी राजनैतिक पार्टी ने नहीं लिया है। इस प्रकार चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा जनता का शोषण तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला उच्च स्तर पर हो रहा है।

प्रधान जी ने दिल्ली के जागरूक नागरिको से संगठित होकर इन बुराइयो का मुकाबला करने तथा निम्न बातों के समर्थको को अपना अमूल्य वोट देकर सफल बनाने की अपील की —

—शिक्षा के व्यावसायीकरण पर प्रतिबन्ध।
—सरकारी विद्यालयो मे शैक्षणिक स्तर को ऊंचा उठाना।
—दहेज प्रदर्शन के विवाहो का बहिष्कार।
—बिजली की दरो मे अन्धा-धुन्ध वृद्धि को रोकना।
—धर्म युक्त राजनीति, किन्तु धर्म के नाम पर पाखण्ड नहीं।
—धर्म व जाति के नाम पर तुष्टीकरण का विरोध।
—शराब पर पूर्ण प्रतिबन्ध।
—राष्ट्र भाषा हिन्दी तथा भारतीय भाषाओ को प्रोत्साहन।
प्रत्येक भारतीय के लिए समान कानून।
—युवको को समान रूप से रोजगार के अवसर।
—दूरदर्शन पर अश्लील कार्यक्रमो पर रोक।
—गौ रक्षा व गौ-सवर्द्धन।
—बिक्री कर समाप्त करना।

आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन नहीं रहे

नई दिल्ली, २४ अक्तूबर। पद्मश्री आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' का शनिवार २३ अक्तूबर, को निधन हो गया। वे ७७ वर्ष के थे। उन्हें सांस की तकलीफ थी और गुरु तेगबहादुर हस्पताल मे भरती कराया गया था। उनके परिवार में धर्मपत्नी, तीन बेटे व एक बेटी है।

गाजियाबाद जनपद के बाबूगढ़ ग्राम में १६ सितम्बर, १९१६ को सुमन' जी का जन्म एक आर्य परिवार में हुआ था। महाविद्यालय ज्वालापुर में शिक्षा-दीक्षा ने उन्हें एक तपोनिष्ठ वैदिक बनाया। सन् १९४२ में हिन्दी मिलाप में कार्य करते हुए वे आजादी की लड़ाई मे कूद पड़े। स्वतन्त्रता सेनानी 'सुमन' जी के हृदय में देश प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी थी। १९४३ में आपके लेखो व कविताओं को आपत्तिजनक करार देते हुए अंग्रेजी सरकार ने उन्हे जब्त करने के आदेश दिये और आपको नजरबन्द कर दिया।

(शेष पृष्ठ २ पर)

महाराष्ट्र के भूकम्प पीड़ितों की सहायता कीजिए

३० सितम्बर को महाराष्ट्र मे आये विनाशकारी भूकम्प पीड़ितो की सहायता के लिए अपनी श्रेष्ठ परम्परा के अनुरूप उदारतापूर्वक दान दीजिए। नकद/मनी-आडर/रेखांकित चैक द्वारा दान राशि अथवा खाद्य सामग्री, वस्त्र, कम्बल दवाइयां आदि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१ के पते पर भिजवाये। आर्य समाज दीवान हाल, आर्य समाज हनुमान रोड, आर्यसमाज करोल बाग अथवा आर्य समाज राजोरी गार्डन म भी दान राशि या सामग्री भिजवा सकते हैं।

दानदाताओं की सूची

आर्य समाज अमर कालोनी नई दिल्ली	५१००)
आर्य समाज कृष्ण नगर, दिल्ली	२१००)
स्त्री आर्यसमाज, अमर कालोनी नई दिल्ली	१८१६)
स्त्री आर्य समाज, सफदरजंग एन्क्लेव नई दिल्ली	१७००)
आर्य पब्लिक माडल स्कूल तिमारपुर दिल्ली	१५२५)
श्री शिवप्रसाद गुप्ता, सोनगंज	२००)
चौ० नारायण सिंह आ० स० तिमारपुर	१०१)

श्रद्धांजलि सभा

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे शनिवार ३० अक्तूबर को दोपहर २ बजे आर्य समाज मन्दिर, हनुमान रोड में तपोनिष्ठ वैदिक विद्वान आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन को राजधानी की समस्त आर्य समाजो, साहित्यकारों व पत्रकारो द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित की जायेगी।

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव सहसम्पादक—विमलका... शर्मा

आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन नहीं रहे

(पृष्ठ १ का शेष)

कलम के चितेरे सुमन जी की लेखनी सतत गतिशील रही। लब्ध प्रतिष्ठत साहित्यकार आचार्य सुमन जी ने 'राम अवतार, आधुनिक हिन्दी साहित्य, जीवन स्मृतिया, प्रेमगीत, अमरदीप आदि ३० से अधिक मौलिक ग्रन्थो की रचना कर तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओ का सम्पादन कर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है। 'दिवगत हिन्दी सेवी' सदम ग्रन्थ का दस खण्डो मे प्रणयन कर राष्ट्रभाषा हिन्दी की अद्वितीय सेवा की है। इसके अतिरिक्त सुमन जी ने ४२ पुस्तको की भूमिका भी लिखी तथा अनेक सहायक ग्रन्थो की रचना की। १५० से अधिक विद्वानो को साहित्यिक शोध कार्य मे निर्देशन देकर भी हिन्दी की अमूल्य सेवा की।

सुप्रसिद्ध कवि, विद्वान लेखक व विचारक आचार्य सुमनजी को सूचना व प्रसारण मन्त्रालय द्वारा भारतेन्दु पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया। शिक्षा मन्त्रालय ने उन्हे सीनियर फैलोशिप प्रदान की। राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन तत्कालीन उपराष्ट्रपति डा० शकर दयाल शर्मा द्वारा सुमन जी को साहित्यिक सेवाओ के लिए पुरस्कृत किया जा चुका है। भारत सरकार ने आपको हिन्दी साहित्य की उल्लेखनीय सेवाओं के लिए 'पद्मश्री' से अलकृत किया था। अनेक सस्थाओ ने आपको सम्मानित किया इसकी गणना असम्भव है। लालकिले के ऐतिहासिक मैदान मे २७ मार्च, १९९२ को आयोजित आर्य समाज दीवान हाल के १०७ वें वार्षिकोत्सव मे एक भव्य कवि सम्मेलन मे जब आपको सम्मानित किया गया तो आपने भावविभोर होकर कहा था कि आर्य समाज का तो मेरे ऊपर महान ऋण है, उसे उतार पाना सम्भव नहीं है।

रविवार २४ अक्तूबर को निगम बोध घाट पर पूर्ण वैदिक रीति से सुमन जी का अन्तिम सस्कार किया गया। इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोधसरस्वती, मन्त्री डा सच्चिदानन्द शास्त्री, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव, दीवान हाल आर्य समाज के प्रधान श्री मूलचन्द गुप्त, आर्य समाज १५ हनुमान रोड के मन्त्री श्री वेदव्रत शर्मा, वैदिक विद्वान डा० महेश विद्यालकार, डा० श्याम सिंह शशि सहित अनेक साहित्यकार, पत्रकार व विभिन्न सस्थाओ के प्रतिनिधियों ने आचार्य सुमन जी के अन्तिम दर्शन कर उन्हें भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि उनके शोक सतप्त परिवार को दुख सहने की शक्ति एव दिवगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

शक्ति हमे दो अहे महात्मन्

शक्ति हमे दो अहे महात्मन्, मार्ग तुम्हारा हम अपनाए।
चले तुम्हारे पद चिन्हो पर, सत्य पथो पर कदम बढ़ाए॥

अन्यायो से लड़ें निरन्तर हमें कहीं न कोई भय हो।
फिर से धरती पर फैले नव, ज्योति धर्म की नयी विजय हो।

हिंसा व आतकवाद का, निर्भय होकर करें सामना।
ललकारें दानवता को हम, मानवता की जगे भावना॥

नया अहिंसा का पथ पावन, फिर से भारत मे निर्मित हो।
ज्योतिमय हो जनमानस सब, अन्धकार सम्पूर्ण विजित हो॥

सदा रहे तुम मद्य विरोधी, हम भी इसका करे विरोध।
साहस से हम शक्ति सृजित कर, करे मद्यपान प्रतिरोध॥

नैतिकता का त्याग-तपो का, जीवन हम भी जीना सीखें।
सारे मानव को हम अपना, बन्धु समझकर, फिर से दीखें॥

फिर से राष्ट्र प्रेम की धारा, जनमानस में बहे प्रवाहित।
समता ममता के भावो की गरिमा मन मे रहे समाहित॥

भारत मा की सेवा मे हम, कर डाले सर्वस्व समर्पित।
राष्ट्रवेदि पर फिर हो अपना, तन मन धन सारा कुछ अर्पित॥

वही शक्ति हम सबको बापू, नूतन पुन मिले जगती पर।
समरसता का हो सचारण, स्वतन्त्रता हो सब अवनी पर॥

—राधेश्याम आर्य विद्यावाचस्पति

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा सचालित
महर्षि दयानन्द पब्लिक स्कूल द्वारा बाल मेले का आयोजन

यह बाल मेला १० नवम्बर, ९३ को प्रात १० बजे से साय ८ बजे तक होगा।

स्थान महर्षि दयानन्द पब्लिक स्कूल जे ३/२०६-२०७, राजौरी गार्डन नई दिल्ली।

मुख्य आकर्षण (१) बच्चो के खेल (२) चित्रो की प्रदर्शनी (३) खाने के स्टाल (४) नए वर्ष के कैलेन्डरो का स्टाल आदि।

महर्षि दयानन्द स्कूल, आर्य समाज, राजौरी गार्डन की ओर से आप सबको ऋषिनिर्वाणो-त्सव व दीपावली की शुभ कामनाए।

आप सभी इस मेले मे सादर आमन्त्रित हैं। नीलम मिश्र प्रधानाचार्या

भूकम्प पीड़ितो को लगभग एक लाख का सहयोग

उत्कल आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री स्वामी धर्मानन्द जी ने भूकम्प पीडितो की सहायता के लिए लगभग एक लाख रुपये का सामान ट्रक मे भरकर ३ अक्तूबर को अपने सहयोगी श्री स्वामी व्रतानन्द जी को महाराष्ट्र के पीडित क्षेत्रो मे बांटने के लिए भेजा। इसमे ८० क्विटल चावल एव आटा ४० बण्डल नया पुराना कपड़ा तथा तेल आदि खाद्य सामग्री थी। यह सहायता गुरुकुल आमसेना उत्कल आर्य प्रतिनिधि सभा तथा खरियार रोड नगर की ओर से भेजी गई। इसमें खरियार रोड एन०एस०सी० के चेयरमैन श्री राजूभाई चौलकिया का विशेष सहयोग रहा।

इस अकाल ग्रस्त क्षेत्र में भी गत ४ माह से ३० ग्रामो के वृद्ध एव निधन लोगो को अन्न एव वस्त्र की सहायता निरन्तर दी जा रही है।

धर्मानन्द सरस्वती प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्कल
गुरुकुल आमसेना, (खरियार रोड) कालाहाडी, (उडीसा)

मानव देह की वास्तविकता एवं उसका सदुपयोग (२)

चमन लाल

"अनुमातरम् पृथिवी विवावृते तस्थौ न कस्य शर्मणि'।। साम० ३१
"आत्मा हरितो रथे सूरो अयुक्त यातवे इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन्"।
साम० १२१८

"कस्त्वा युनक्ति सत्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्व
युनक्ति कर्मणे वा वेषामवाम्"। यजु० ११६

वेद के इस मन्त्र मे दो प्रश्न है और दो उत्तर दिये गये हैं। पहला प्रश्न है—तुमको किसने पैदा किया है अर्थात इस शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध किसने जोडा है? इसका उत्तर दिया है उस परमपिता परमात्मा ने यह सम्बन्ध जोडा है। दूसरा प्रश्न है—किस प्रयोजन के लिए ऐसा किया गया है? इसका उत्तर है—उस परमात्मा के भजन दर्शन, मिलाप के लिये।

अब तक शरीर विषयक इस सारे विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि मानव देह आत्मा को जीवन यात्रा के लिए रथ रूप मे मिला है। यात्रा का लक्ष्य परमात्मा की कल्याणमय शान्ति प्रद गोद मे जा बैठना है--नस्थौ-नाकस्य शर्मणि"। यजुर्वेद मे इन्ही भावों को 'इय ते मत्रिया तनू। कहकर व्यक्त किया है—अर्थात यह शरीर प्रभु दर्शन करने के लिए मिला है।

इसी वेद मे मानव देह का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर बडे सुन्दर शब्दो में इस प्रकार दिया है—यह शरीर निर्वचन और अपराजय है। इसका और कोई पर्याय नहीं। सब धर्मो और ईश्वर दर्शन का यही एक मात्र साधन है—"शरीरमाद्यम खलु धर्म साधनम्"। अत इसको स्वस्थ्य और स्वच्छ रखने के लिए शास्त्रकारो ने पर्याप्त निर्देश दिये हैं—

"सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत"।

महाभारतकार ने पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिये शरीर को निरोग रखने का ही परामर्श दिया है—

"धर्मार्थकाम मोक्षाणाम् आरोग्यम् मूलमुत्तमम्'।

वेद में तो जीव को इस शरीर को पूर्णतया निरोग स्वस्थ रखने का आदेश दिया है— "इन्द्र पूर्ण चिकितसि ।

अत मनुष्य का कर्तव्य है कि सासारिक प्रलोभनो और झूठी चकाचौंध मे फसकर इस परमपिता के महान दान (मानव देह) का दुरुपयोग न करें इसके महत्व को समझकर जो कि यात्रा को सफलतापूर्वक पूर्ण करके अन्त मे परमेश्वर के सम्मुख होने का भरसक प्रयत्न करे। महात्मा विदुर जी के शब्दों मे इस भाव को ऐसे व्यक्त किया गया है—

"रथ शरीर पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वा।
तैरप्रमत कुशली सदश्वैर्दान्तै सुख याति रथीव धीर।"

पूर्व प्रधान आर्य समाज, अशोक विहार

सराहनीय योगदान

नई दिल्ली आर्य समाज राजौरी गार्डन के मन्त्री श्री अशोक नागिया ने महाराष्ट्र के भूकम्प पीड़ितो के लिए पाच हजार रूपये की राशि का चैक दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव को भेजा है। इससे पूर्व भी श्री नागिया ने राजौरी गार्डन समाज द्वारा भेजी गयी भूकप पीड़ित सहायता राशि मे काफी योगदान दिया था।

आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिम बंगाल

दयानन्द भवन का उद्घाटन एवं विभिन्न आयोजन

नई दिल्ली सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती १७ दिसम्बर, १९९३ को आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिम बगाल द्वारा निर्मित 'महर्षि दयानन्द भवन' का उद्घाटन करेंगे।

१७ से १९ दिसम्बर तक यहां बंग आर्य महासम्मेलन, महाराणा प्रताप जयन्ती चतुर्थ भारतीय भाषा सम्मेलन, विद्वत सम्मान का विराट आयोजन भी हो रहा है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित वैदिक साहित्य

१	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम द्वितीय) प्रत्येक		१ ५०
२	नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२ ००
३	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३ ००
४	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४ ००
५	नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५ ००
७	फलैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यकाम वर्मा)	२ ००
८	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	, ,	४ ००
९	एनोटामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५ ००
१०	आर्यो का आदि देश		२ ००
११	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	" ,	२५ ००
१२	दी ओरीजन होम आफ आर्यन्स	,	२ ००
१३	चत्वारो वै वेदा	"	५ ००
१४	द्वैतसिद्धि	, "	५ ००
१५	दैनिक यज्ञ पद्धति	(दि० आ० प्र० सभा)	४ ००
१६	निरुक्त	(डा० धर्मपाल)	१० ००
१७	भारतीय संस्कृति के मूलाधार चार पुरुषार्थ	(डा० सुरेन्द्र देव शास्त्री)	२० ००
१८	महर्षि दयानन्द की जीवनी	(डा० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
१९	पञ्चमयकोष	(महात्मा वेदेश भिक्षु)	२० ००
२०	वैदिक योग	(' ")	५ ००
२१	कर्म फल ईश्वर कीन	(श्री ओमप्रकाश आर्य)	५ ००
२२	युग सन्दर्भ	(डा० धर्मपाल)	५ ००
२३	आचार्य रामदेव आदर्शवाद ज्योति स्तम्भ	(')	३० ००
२४	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ मे	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	१० ००
२५	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(डा० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
२६	हसता चल हसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
२७	दयानन्द एण्ड दा वैदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२८	पूजा किसकी? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२९	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
३०	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
३१	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकडा
३२	महर्षि दयानन्द की विशेषताए (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
३३	महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी स्मारिका (सन् १९८३)		५ ००
३४	स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अर्धशताब्दी स्मारिका १९८५		५ ००
३५	महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी स्मारिका १९८५		१० ००
३६	महर्षि दयानन्द निर्वाण विशेषाक		१० ००
३७	ऋषिबोधांक		१० ००
३८	योगीराज श्रीकृष्ण विशेषांक		१० ००
४०	हैदराबाद आर्य सत्याग्रह अर्धशती स्मृति अक	'	१० ००
४१	धर्मवीर पडित लेखराम सयुक्तांक	'	५ ००
४२	स्वामी स्मर्पणानन्द सरस्वती	"	२५.००
४३	प० नाथूराम शकर शर्मा 'शकर'	"	२५.००
४४	श्रावणी एव श्रीकृष्ण जन्माष्टमी	"	५.००
४५	प० चमूपति सयुक्तांक	'	५.००
४६	स्वामी रामेश्वर नन्द सरस्वती	'	५.००
४७	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	"	५ ००
४८	प० गणपति शर्मा	'	५ ००
४९	प० रामचन्द्र देहलवी	"	५ ००

नोट उपरोक्त सभी पुस्तको पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तकों की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक-व्यय पृथक नहीं लिया जाएगा। कृपया अपना पूरा पता एव नजदीक का रेलवे स्टेशन साफ-साफ लिखें।

पुस्तक प्राप्ति स्थान: **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१

आदर्श त्रैतवाद (४८)

राजसिंह भल्ला

मुक्ति का फल दुःख निवृत्ति

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्था

सन्यासयोगाद् यतय शुद्धसत्त्वा ।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे ।। मुण्डको० ३ २।६।।

यति जन जो वेदान्त के रहस्य मे निश्चित अर्थ वाले, भक्तिमय धर्म से शुद्ध अन्तःकरण वाले, संयमी महात्मा लोग होते हैं वे सब ही परम अमृत हो कर परम अन्तकाल मे—अन्तिम मरण के समय ब्रह्मलोकों में मुक्त जाते हैं। जब मुक्ति की अवधि पूरी हो जाती है तब वहां से छुट कर ससार मे आते हैं मुक्ति के बिना दुःखो का नाश नहीं होता।

आत्मा के अशरीर होने का फल दुःख निवृत्ति

मघवन्मर्त्य वा इद शरीरमात्त मृत्युना । तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनो

ऽधिष्ठानम् आत्तो वै सशरीर प्रियोप्रियाभ्याम् ।

न वै सशरीरस्य सत प्रिया-प्रिययोर पहृतिरस्ति, अशरीर वाव सन्त

न प्रियाप्रिये स्पृशत ।

ऋषि कहते हैं हे ! इन्द्र ! पाच भूतो का बना यह देह मरण धर्म है। मृत्यु से ग्रस्त—मृत्यु से खाया हुआ है। यह शरीर इस अविनाशी अशरीर आत्मा का अधिष्ठान—रहने का स्थान है। निश्चय सशरीर आत्मा प्रियाप्रिय से—सुख दुःख से ग्रस्त है। निश्चय से शरीर वाले आत्मा के सुख-दुःखो का नाश नहीं है। आत्मा के अशरीर ही होने पर इसे सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। आत्मा अशरीर, अविकृत और अमृत सत्ता है। आत्मा के अशरीर होने पर दुःखो की अत्यन्त निवृत्ति होती है।

तप और श्रद्धा का फल

तप-श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्या चरन्त ।

सूर्य द्वारेण ते विरजा प्रयान्ति यत्रामृत स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।

जो मुनि-जन तप और श्रद्धा धारण करके वन मे वास करते हैं। जो शान्त विद्वान गृहस्थ हैं। जो भिक्षुजन भिक्षावृत्ति धारण करके रहते है वे सभी भगवद्भक्त निष्पाप मरकर सूर्य द्वार से वहां जाते हैं जहां वह अमृत अविनाश आत्मा-परम पुरुष है। तप और श्रद्धा से ही अमृत की प्राप्ति होती है।

ईश्वर विश्वासी मुक्त होकर प्रकाशमान हो जाता है

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति ।

सर्वेषु लोकेषु भाति य एव वेद ।। छान्दो ४।३५।३

वह ही भगवान् भामनी—प्रकाशों का नेता है यह ही ज्योति स्वरूप सारे लोको में प्रकाशमान है। जो ऐसा जानता है वह मुक्त होकर सारे लोको मे प्रकाशमान हो जाता है। मन्त्र का भाव यह है परमात्मा सर्व सुन्दर और प्रकाशस्वरूप है।

विवेता ज्ञान की प्राप्ति का फल मुक्ति—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा, ह्येका भोक्त भोगार्थ युक्ता ।

अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रय यदा विन्दते ब्रह्म मेतत् ।

श्वेता० १।९

ईश्वर अनीश्वर—परमात्मा तथा जीवात्मा दोनो अजन्मा हैं ईश्वर सर्वज्ञ और जीवात्मा अल्पज्ञ है। निश्चय एक प्रकृति भी अनुत्पन्ना—अनादि है और भोक्ता के—जीवात्मा के भोगार्थ है और अनन्त रूप भगवान् विश्वरूप है। विश्व की रचना है परन्तु स्वरूप से अकर्ता है। जब मनुष्य को विवेक ज्ञान हो जाता है और तीनों को पृथक्-पृथक जान जाता और मानता है तब ब्रह्म पद को प्राप्त करता करता है। मुक्ति को प्राप्त कर लेता है अमर हो जाता है।

ईश्वर ज्ञान का फल मुक्ति

तत पर ब्रह्म पर बृहन्त यथानिकाय सर्व भूतेषु गूढम् ।

विश्वस्यैक परिवेष्टितारमीश त ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ।। श्वेता० ३।७

भक्ति मार्ग के द्वारा उपासक भाव को प्राप्त करने के पश्चात परम ब्रह्म, परम महान्, सारे चराचर के यथायोग्य स्थान—आधार, सर्वभूतों में गुप्त रूप से विद्यमान, सकल जगत के एक अद्वितीय घेरने—सुरक्षित रखने वाले उस ईश्वर को जानकर उपासक जन मुक्त हो जाते है। ईश्वर का यथार्थ ज्ञान ही मुक्ति का कारण है। क्रमश .

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावों की काव्य व गीतों के माध्यम से व्याख्या (२२)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

गो-पालन-स्वराज्य लाभों को ऋषि ने हमें गिनाया ।
जीवन का कल्याण हेतु सत्यार्थ प्रकाश बनाया ।।
जिसके पढ़ने से स्थापित होते नव-आयाम ।।६।।

गीत गडरियो के वेदो को कहने लगे अलाल ।
सायण मध्वाचार्य ने किये भाष्य बहुत अश्लील ।।
वेद भाष्य कर किया ऋषी ने बहुत पुण्य का काम ।।७।।

विधर्मियो ने धर्म-अन्तरण का फैलाया जाल ।
उसमें फसते जाते थे भारत माता के लाल ।।
लाखो क्रिश्चन बने कोटि ने ग्रहण किया इस्लाम ।।८।।

देकर तर्क अकाट्य ऋषी ने उनको दे दी मात ।
भरत सुतों में आत्म चेतना का नव हुआ प्रभात ।।
विधर्मियो के कुचक्र में इससे लग गई लगाम ।।९।।

विश्व-हितैषी दयानन्द ऋषि पर है हमको नाज ।
जन जाग्रति हित किया स्थापित उसने आर्य समाज ।।
जिसने सकल क्रांति का झण्डा लिया करों मे थाम ।।१०।।

मानवता के लिये किए ऋषि ने अगणित उपकार ।
उनसे उऋण नहीं हो सकता ये सारा ससार ।।
सदा-सर्वदा अमर रहेगा 'ऋषी दयानन्द' नाम ।।११।।

बिना तेरे ऋषि आर्य राष्ट्र हो जाता बिलकुल दीन ।
धर्म अन्तरण से भारत बन जाता सत्ता-हीन ।।
क्रिश्चन या 'भगवान दास' हो जाता 'खुदा-गुलाम' ।।१२।।

(क्रमश)

सूचना

आर्य सन्देश का १४-११-९३ का अक 'महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्वाण दिवस व स्वामी आत्मानन्द'' विशेषाक के रूप में प्रकाशित किया जायेगा। इसलिए ७-११-९३ का अक नही निकलेगा। सम्पादक

लेखको से निवेदन

—सामयिक लेख, त्यौहारो व पर्वों से सम्बन्धित रचनाए कृपया अंक प्रकाशन से एक मास पूर्व भिजवायें।

—आर्य समाजो, आर्य शिक्षण सस्थाओ आदि के उत्सव व समारोह के कार्यक्रमो के समाचार आयोजन के पश्चात् यथाशीघ्र भिजवाने की व्यवस्था करायें।

—सभी रचनायें अथवा प्रकाशनार्थ सामग्री कागज के एक ओर साफ-साफ लिखी अथवा डबल स्पेस में टाइप की हुई होनी चाहिए।

—पता बदलने अथवा नवीकरण शुल्क भेजते समय ग्राहक सख्या का उल्लेख करते हुए पिन कोड नम्बर भी अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५ रुपये तथा आजीवन शुल्क २५० रुपये है। आजीवन ग्राहक बनने वालों को ५० रुपये मूल्य का वैदिक साहित्य अथवा आर्य सन्देश के पुराने विशेषांक नि:शुल्क उपहार स्वरूप दिए जाएगे। स्टाक सीमित है।

—आर्य सन्देश प्रत्येक शुक्रवार को डाक से प्रेषित किया जाता है। १५ दिन तक भी अक न मिलने पर दूसरी प्रति के लिए पत्र अवश्य लिखें।

—आर्य सन्देश के लेखको के कथनों या मतो से सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पाठकों के सुझाव प्रतिक्रिया आमंत्रित हैं।

कृपया सभी पत्र व्यवहार व ग्राहक शुल्क दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली के नाम भेजें।

—सम्पादक

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

जिनमे प्रभु से प्रार्थना के साथ-साथ कामना की जाती है कि जैसे बाण-तरकस में सुरक्षित रहता है, वैसे गर्भ में सन्तान सुरक्षित रहे और दस मास पूर्ण कर उत्पन्न वीर हो, हीन व दुर्बल न हो। पजाबी मे तो इसीलिए बहने अपने भाई को 'वीरा' कहती हैं। दूसरे मन्त्र मे अग्नि एव वरूण को सम्बोधित करते हुए कामना की गई है कि सन्तान न केवल तेजवान हो प्रत्युत वरणीय हो—हमारे मन के अनुकूल हो। इन आहुतियो के पश्चात एकान्त में पति अपनी पत्नी के हृदय को स्पर्श करते हुए निम्न मन्त्र का वाचन करता है—

ओ यत्ते सुसीमे हृदये हितवन्त प्रजापतौ।
मन्येह मां तद्विद्वा स माह पौत्र मघ नियाम् ॥

आश्व० गृ० १।१३।६

अर्थात हे (सुसीमे) सुन्दर केशोवाली (प्रजापतौ) प्रजापालन के लक्ष्य को रखकर (यते) जो तेरे (अन्त हृदये) हृदय के भीतर (हितम) हित की भावना है (अहम्-माम्) मैं अपने को (तत-विद्वांस मन्ये) यह मानता हू कि उसका मुझे पूरा-पूरा ज्ञान है (मां बहम पौत्र अघनियाम्) मैं ऐसा कोई कार्य नहीं करूगा जिसके कारण पुत्र सम्बन्धी कष्ट मुझे उठाना पड़े, इससे यही सकल्प पति व्यक्त करता है कि मैं भी सन्तान के पोषण में पूर्ण सजग रहूगा। संस्कार के अन्तगत एकान्त मे ही पति अपनी पत्नी के उदर पर हाथ रखकर यजुर्वेद का एक मन्त्र बोलता है जिसमें गर्भस्थ सन्तान की तुलना सर्वांग सुन्दर पक्षी से की गई है, जिसके सिर, पक्ष, अग, प्रत्यग सब स्वस्थ एव सुन्दर हैं, जो जन्म लेकर अपने यौवन काल मे पृथिवी से उड़ान भर कर आकाश में भ्रमण करता है। जिसके ज्ञान के चक्षु हैं कर्म और उपासना के पक्ष है। पक्षी की पूछ हैं जो सभी विकारों को छोडकर उसे पवित्र करती रहती है यज्ञ समाप्ति तथा अतिथियो के विदा हो जाने के उपरान्त वेद मन्त्र बोल कर वट वृक्ष की कोपल तथा गिलोय के रस को छान-कर गर्भिणी के दक्षिण नासापुट मे सुघाया जाता है। जिनमें जड़ एव चेतन जगत की उत्पत्ति के वर्णन के साथ-साथ शारीरिक स्वस्थता के साथ साथ उसमे तेजस्विता की चमक लाने पर बल दिया जाता है। विस्तारभय से यहा पर मन्त्र एव उनके अर्थ नहीं दिए जा रहे हैं। इच्छुक व्यक्ति इनका 'सस्कार विधि" मे अध्ययन कर सकते हैं।

३-सीमन्तोन्नयन संस्कार

महर्षि सुश्रुत ने अपने ग्रन्थ के छठे अध्याय मे स्पष्ट किया है—"पच सघय शिरसि विभक्ता सीमान्ता तत्राघाते वाउन्मादभय चेष्टानाशै मरणम्"। अर्थात सिर पांच सन्धियो में विभक्त है इनमे आघात, उन्माद, भय निष्क्रियता से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इन्हीं सन्धियो के कारण सिर को सीमान्त कहते हैं। सिर में मस्तिष्क रहता है, जिससे हम सभी सोचते विचारते हैं। इस प्रकार सीमन्तोन्नयन का अर्थ हुआ मस्तिष्क की उन्नति उसका विकास। इस संस्कार के माध्यम से ऋषियो ने सन्तान की मानसिक शक्ति की वृद्धि का प्रयत्न किया है। गर्भ में जो आत्मा अवस्थित हो गई है, उसकी शारीरिक शक्ति को हमने पुसवन सस्कार से निश्चित किया था—उससे अधिक मानसिक शक्ति है, जिसे इस सस्कार से सुनिश्चित करते हैं। गर्भावस्था में सन्तान के भौतिक एव मानसिक विकास के लिए जो कुछ भी किया जा सकता है, वह सभी गर्भिणी माता के माध्यम से ही किया जा सकता है। पिता परिवार या समाज माता की इतनी ही सहायता कर सकता है कि वह उसको शान्ति-सुख उत्साहमय वातावरण तथा सात्विक पोषण पूर्ण भोजन प्रदान करें। साथ ही उसकी शारीरिक स्वस्थता के अनुसार उसे परिश्रम की प्रेरणा भी दे। पति-पत्नी इस बात का भी ध्यान रखे कि उनकी वासनात्मक क्रियाओं द्वारा गर्भ-ह्रास, भी न होने पाये। स्मरण रहे माता के भोजन का ही नहीं, उसकी मानसिक स्थिति का भी सन्तान पर पूरा प्रभाव पड़ता है।

वर्तमान में विज्ञान की प्रगति के कारण वृक्ष वनस्पति-फसलों पशु-पक्षियों की नई-नई प्रजातियां विकसित की जाती हैं। धान-गेहू की कोई फसल उत्पादन अधिक देती है, किन्तु रोग ग्रस्त हो कर नष्ट हो जाती है। उसी फसल की कोई दूसरी प्रजाति उपज तो कम देती है, किन्तु उसमें वह रोग नहीं लगने पाता है-जो पहली प्रजाति में लगता था। वैज्ञानिक पहली फसल के प्रजननांग में दूसरी फसल के वाहु-काणु (बीज) प्रतिरोपित करके उसमें दोनों गुण उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार एक गाय दूध अधिक देती है, किन्तु उसके दूध में घी की मात्रा कम रहती है। दूसरी गाय के दूध की मात्रा कम होते हुए भी उसके दूध में घी अधिक रहता है। वैज्ञानिक यहां भी पहली में दूसरी के वाहुकाणु (बीज) प्रतिरोपित करके उसमें अधिक दूध अधिक घी दो गुण प्रविष्ट कर देता है।

क्रमशः

आत्मा ही ब्रह्म को जान सकती है

आनन्द स्वामी

केन उपनिषद् मे एक बडी सुन्दर कथा ब्रह्म को पाने के विषय में आती है। ब्रह्म ने अग्नि, वायु आत्मा इत्यादि देवताओं का मान बढ़ाने के लिए उन्हें विजय प्राप्त करा दी। इस विजय को पाकर ये देवता अभिमान में आ गये कि ससार में सब शक्ति उन्हीं की है।

यह जानकर ब्रह्म प्रकट हुआ और यक्ष के रूप मे सामने आया। देवताओं ने कहा—"यह कौन है?' तब अग्नि आगे बढ़ी। यक्ष ने पूछा—"तू कौन है और तेरी शक्ति क्या है?"

अग्नि ने कहा—"मैं जातवेदा अग्नि हू और पृथिवी पर जो कुछ है, सबको जला सकती हू

यक्ष ने एक तिनका फेंककर कहा—"इसे जलाओ!"

अग्नि पूरे बल के साथ आगे बढ़ी, किन्तु तिनके को न जला सकी। असफल हो अग्नि लौट आई और कहा—"मैं नहीं जान सकी, यह यक्ष कौन है।"

तब वायु को कहा गया—"तुम पहचानो, यह कौन है?"

वायु दौड़ा गया और यक्ष से कहने लगा—"मैं वायु हू और सब कुछ उड़ा सकता हू।"

वायु ने अपनी पूरी शक्ति लगाई, किन्तु वह उसे उड़ा न सका। वायु ने लौटकर कहा—"मैं इस यक्ष को जान नहीं सका।"

तब इन्द्र (आत्मा) को आज्ञा हुई कि तुम जाओ और पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है?

इन्द्र आगे बढ़ा तो क्या देखता है कि वह यक्ष लोप हो गया है। अभी वह आश्चर्य में खड़ा था कि आकाश में बहुत शोभा-युक्त सुनहरी आभूषण से अलङ्कृत उमा नाम की एक स्त्री उसके सामने आई। इन्द्र ने उससे पूछा—"यह यक्ष कौन है?"

उमादेवी बोली—"यह ब्रह्म है और इसी की महिमा से तुम देवता महिमा वाले हो।"

इस कथा मे ब्रह्म की पहचान एक स्त्री ने कराई है और बात है भी सत्य। शिव का पता सिवाय उमा के और कौन दे सकता है? इस कथा में यह बताया गया है कि जड, देवता, अग्नि, वायु या मनुष्य की इन्द्रियां ब्रह्म को सर्वथा नहीं जान सकतीं, उसे केवल इन्द्र अर्थात आत्मा ही जान सकता है और वह भी उमादेवी अर्थात बुद्धि की सहायता से।

डा. देवव्रत आचार्य के सम्मान मे गोष्ठी

जोधपुर। आर्यवीर भारतीय सस्कृति और प्राचीन परम्परा की रक्षा के लिए आगे आयें। यह आह्वान आर्यसमाज सरदारपुरा में आयोजित विचार गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए वैदिक विद्वान डा० भवानी लाल भारतीय ने प्रकट किये। सार्वदेशिक आर्यवीर दल के प्रधान सचालक डा० देवव्रत आचार्य के सम्मान में आयोजित इस गोष्ठी मे विभिन्न वक्ताओं ने आर्यवीर दल के कार्य की समीक्षा की। आर्य समाज सरदारपुरा के मन्त्री श्री सुखदेव गोयल ने व अन्य सभी आर्यसमाज के कार्यकर्ताओ ने आगन्तुक अतिथि का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। मन्त्री श्री सुखदेव गोयल ने १९४६-४७ के उन दिनो का स्मरण कराया जब जोधपुर नगर के आर्य वीरो ने देश विभाजन की पीड़ाजनक परिस्थितियों में शरणार्थियो की सेवा की थी। गोष्ठी में जोधपुर नगर की विभिन्न आर्यसमाजों के अतिरिक्त सूरसागर, पोपाड़ सिटी, रातानाडा, शास्त्रीनगर आदि के कार्यकर्ता भी उपस्थित थे। आचार्य देवव्रत ने आर्यवीर दल के संगठन को अधिक शक्तिशाली बनाने की प्रेरणा दी।

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान, राजा पार्क, जयपुर (राजस्थान)

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के तत्वावधान मे २ अक्तुबर १९९३ गांधी जयन्ती के दिन राज्य की विभिन्न आर्यसमाजो के लगभग डेढ़ हजार प्रतिनिधियों के एक विशाल जुलूस का नेतृत्व करते हुए सभा प्रधान श्री विद्यासागर शास्त्री एव सभा मन्त्री श्री स्वामी सुमेधानन्द जी सरस्वती राज्य मे पुन पूर्ण नशाबन्दी लागू किये जाने एव गोहत्या को प्रभावी रूप प्रतिबन्धित करने के विषय मे दो ज्ञापन राज्यपाल महोदय को राजभवन मे दिये। जुलूस मे नशाबन्दी समिति राजस्थान एव खादी संस्थाओं के भी प्रतिनिधि सम्मिलित थे।

शिष्टमण्डल में सर्वश्री जुगल किशोर चतुर्वेदी, मा० आदित्येन्द्र, त्रिलोकचद जैन, महबूब अली (पूर्व मन्त्री राजस्थान), केशवदेव वर्मा, छोटूसिह आर्य प्रो० नेति राम शर्मा, सत्यव्रत सामवेदी, धर्मसिह कोठारी स्वामी केवलानन्द रवीन्द्र कुलश्रेष्ठ छीतरमल गोयल (खादी सघ) के अतिरिक्त श्रीमती उजला अरोड़ा (पूर्व विधायिका) कमलेश कुच्छल एव सुमित्रा बत्रा भी सम्मिलित थी। राज्यपाल के जयपुर से बाहर होने के कारण उनकी ओर ज्ञापन उनके उपसचिव ने ग्रहण किये।

जुलूस रामनिवास उद्यान से दोपहर १२ बजे प्रारम्भ होकर जयपुर नगर के विभिन्न मार्गों से होता हुआ बगड़िया भवन होकर रेलवे फाटक पर ३ बजे पहुचा। जहां धारा १४४ लगी हुई थी। परन्तु आर्य नेताओ ने शिष्ट मण्डल को राजभवन से कम तक जाना अस्वीकार किया और सडक पर धरना दिया। तदुपरान्त शिष्टमण्डल को जाने दिया गया। जुलूस की शोभा ओ३म् के झण्डों तथा शराब विरोधी बैनरों से बहुत भव्य लग रही थी मार्ग में अनेक व्यक्तियों ने आर्यसमाज द्वारा गोहत्या बन्दी के मुद्दों को प्रभावी ढग से उठाने पर हर्ष व्यक्त किया।

संस्कार प्रशिक्षण शिविर

१ से १० नवम्बर ९३ तक दस दिन का एक सस्कार प्रशिक्षण शिविर ऋषि उद्यान पुष्कर रोड अजमेर में आयोजित किया है। इस शिविर का निर्देशन स्वामी मुनीश्वरानन्द जी महाराज करेंगे शिविर मे भाग लेने वालो को १०० रुपये शुल्क सयोजक के पास जमा करा कर अपना स्थान आरक्षित कराना होगा। वानप्रस्थी, सन्यासी, ब्रह्मचारी, प्रचार कार्य में सलग्न सज्जनो के भोजन आवास की व्यवस्था नि शुल्क होगी तथा पत्र द्वारा अपना नाम पञ्जीकृत करवा लें।

इस अवसर पर ऋषि मेले से पूर्व चतुर्वेद पारायण महायज्ञ भी १ नवम्बर से एक मास तक चलेगा। यज्ञ की पूर्णाहुति २९ नवम्बर को प्रात काल १० बजे सम्पन्न होगी।

सयोजक, सस्कार प्रशि० शिविर प० सभा, अजमेर

आगामी कार्यक्रम

आर्य समाज मन्दिर निर्माण विहार (निकट डी० डी० ए० फ्लेटस), नई दिल्ली-९२ १३ वा वार्षिकोत्सव १ से ६ नवम्बर ९३।

—वेद सस्थान, सी-२२, राजौरी गार्डन नई दिल्ली ऋग्वेद पारायण यज्ञ, धर्मोपदेश १ से ७ नवम्बर।

—आर्य समाज आनन्द विहार (एल ब्लाक हरि नगर), नई दिल्ली ६४ ११वा वार्षिकोत्सव ४ से ७ नवम्बर, ९३।

—आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य, १३ नवम्बर को ऋषि निर्वाणोत्सव रामलीला मैदान, नई दिल्ली, प्रात ८ से १२ बजे तक।

—आर्य समाज सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-१५, यजुर्वेद पारायण यज्ञ २५ अक्तूबर से २८ नवम्बर ९३।

—आर्य समाज अनारकली नई दिल्ली, वार्षिकोत्सव १५ से २१ नवम्बर, १९९३ तक।

—आर्य कन्या गुरुकुल दाधिया, राजस्थान वार्षिकोत्सव २७ व २९ नवम्बर, १९९३ तक।

—आर्य गुरुकुल ऐरवा कटरा इटावा १२ वार्षिकोत्सव १८ से २१ नवम्बर

गुरुकुल आश्रम बिठूर मे बीस बच्चों का निशुल्क शिक्षण पोषण

नई दिल्ली। गुरुकुल आश्रम बिठूर (कानपुर) मे कक्षा ६ से १० तक बीस भूकम्प पीडित बच्चो के नि शुल्क शिक्षण-पोषण, आवास की व्यवस्था स्वामी गुरुकुलानन्द कच्चाहारी द्वारा की जायेगी। प्रवेश पत्र मंगाने हेतु लिखें — आयात सेवा समिति, बैंक रोड पिथौरागढ, उत्तर प्रदेश

स्वामी गुरुकुलानन्द सरस्वती
आर्य समाज पिथौरागढ

नवलखा महल उदयपुर मे

सत्यार्थ प्रकाश प्रचार केन्द्र बनाया जायेगा

नई दिल्ली। उदयपुर के ऐतिहासिक नवलखा महल मे एक 'सत्यार्थ प्रकाश प्रचार केन्द्र' बनाया जायेगा तथा उसमे सभी भाषाओं के सत्यार्थ प्रकाश रखे जायेंगे। इसके अतिरिक्त वहा एक उच्च स्तर का पुस्तकालय भी खोला जायेगा। यह जानकारी सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने उदयपुर के दौरे से लौटने के बाद दी। वहां नवलखा महल मे आर्य नेताओं की बैठक मे यह निर्णय लिया गया था।

वेद प्रचार कार्य में सहायता का अनुरोध

नई दिल्ली। वेद प्रचार समिति, जिला बस्ती, उ० प्रदेश द्वारा ग्रामीण क्षेत्रो मे वेद प्रचार कार्य उत्साहपूर्वक किया जा रहा है। समिति द्वारा स्थान-स्थान पर हवन यज्ञ व वेद प्रवचन कार्य किया जा रहा है। समिति के सचालक श्री पुष्पमित्रा दिवाकर चतुर्वेदी प्रभावशाली व्याख्यान देते हैं। समिति के प्रबन्धक ने आर्य जनता व दानी महानुभावों से अनुरोध किया है कि वे लाउड स्पीकर, सन्ध्या हवन की पुस्तकें, सत्यार्थ प्रकाश, वेद, प्रचार के लिए छोटे-छोटे ट्रैक्ट या दान राशि आदि भिजवाने की व्यवस्था करायें ताकि वेद प्रचार कार्य मे तेजी लायी जा सके -

सचालक वेद प्रचार समिति, (वैदिक आर्य पुस्तकालय)
ग्राम रववसिया (नजदीक राम जानकी मार्ग) पो० बानपुर
स्टेट जिलाबस्ती, उ० प्र०

आर्यसमाज सान्ताक्रुज द्वारा भूकम्प पीड़ितों की सहायता

आर्य समाज सान्ताक्रुज के प्रधान श्री रामचन्द्र आर्य, मन्त्री श्री संजीव शर्मा तथा अन्तरग सदस्य श्री यशपाल अग्रवाल एव पण्डित प्रकाशचन्द्र शास्त्री भूकम्पग्रस्त ३०० परिवारो के लिए १२०० थाली १२०० गिलास, २४०० कटोरी, ६०० पतीले ढक्कन सहित, ३०० बाल्टी ३०० कड़छी, ६०० चम्मच, ३०० तवा ३०० चकला बेलन आदि सामान लेकर बम्बई से ७ १०-९३ को लिम्बाला (उमरगा) पहुचे, जहां आर्य समाज के कार्यकर्ता श्री नामदेव जाधव भूकम्प के तीसरे दिन से ही वहा पहुच गये थे वहा के सरपच, जिला कलेक्टर तथा सरकार की ओर से नियुक्त तहसीलदार ने भी सुविधापूर्वक सम्मान वितरण में सहयोग किया।

संजीव शर्मा, मन्त्री

वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज आनन्द विहार का १९ वा वार्षिकोत्सव ४ से ७ नवम्बर ९३ तक समारोहपूर्वक मनाया जा रहा है। प्रतिदिन प्रात ६-३० से ८ ३० बजे तक आचार्य चन्द्रदेव के ब्रह्मत्व मे यज्ञ तथा श्री अशोक कुमार शास्त्री द्वारा वेद मन्त्रो की व्याख्या होगी। साय ७-३० बजे से ९-३० बजे तक श्री विजय सिह 'विजय के भजन तथा आचार्य चन्द्रदेव के प्रवचन होगे। ७ नवम्बर को प्रात ८ से दोपहर १ बजे तक के कार्यक्रम मे यज्ञ की पूर्णाहुति बच्चो के लिए वैदिक ज्ञान प्रतियोगिता तथा आचाय अर्जुनदेव डा० महेश विद्यालकार प्रो राजेन्द्र मल्होत्रा आदि के विशेष प्रवचन होगे।

आयसमाज बिरला लाइन्ज का वार्षिकोत्सव

नई दिल्ली १० अक्तूबर। आय समाज बिरला लाइन्ज कमला नगर, दिल्ली का वार्षिकोत्सव ४ से १० अक्तूबर तक धूमधाम से मनाया गया।

१० अक्तूबर को स्वामी सत्यपति जी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुये समापन समारोह मे विद्वान वक्ताओ ने वेदो दयान द के सन्देश एव ओ३म के ध्वज के महत्व पर प्रकाश डाला। श्री नरेन्द्र जी बेनीवाल मुख्य अतिथि श्री प्रकाशचन्द्र शास्त्री व श्री भद्रकाम प्रमुख वक्ता थे। कार्यक्रम मे श्री राजकृष्ण गाधी व श्रीमती लीलावती गुप्त को सम्मानित किया गया। ४ अक्तूबर से प रमेशचन्द्र शास्त्री के ब्रह्मत्व मे चल रहे इस अथर्ववेद पारायण यज्ञ की पूर्णाहुति मे अनेक नर-नारियो ने श्रद्धापूर्वक आहुतिया दी। प्रतिदिन रात्रि को प० प्रकाशचन्द्र शास्त्री की कथा होती रही। स्वामी जगदीशवरानन्द ने ४ अक्तूबर को ध्वजारोहण किया।



हंसराज महाविद्यालय मे हिन्दी दिवस

हंसराज महाविद्यालय म इस वर्ष हिन्दी दिवस दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रस्नोता (प्रोफेसर) एस० के० वासन की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। प्रोफेसर वामन ने कहा कि वह इस समारोह से प्ररणा लेकर विश्वविद्यालय मे हिन्दी मे काम काज कराने का प्रयत्न करगे। मख्य वक्ता श्री हरिबाबू कसल ने भावुकतापूर्ण शब्दो मे हिन्दी की की जा रही उपेक्षा पर चिन्ता व्यक्त की तथा अध्यापको विद्यार्थियो और विशेष रूप से कर्मचारियो से अपील की कि वे निर्भय होकर हिन्दी मे काम करना प्रारम्भ कर द। प्रो० जो०सी० जागिड तथा छात्र विक्रमसिह ने भी अपने विचार रख।

समारोह के सयोजक डा० प्रशान्त वेदालकार ने कहा कि जब तक शिक्षा क्षत्र मे विशेषत प्रशासनिक काय मे हिन्दी का प्रयोग प्रारम्भ नही हो जाता तब तक हम इसे सकल्प दिवस के रूप मे मनाते रहेगे। महाविद्यालय के प्राचार्य श्री जयकरण कपूर ने कहा कि हम केवल वर्ष मे एक बार ही हिन्दी दिवस न मनायें वरन सम्पूर्ण वष हिन्दी मे कार्य करने का प्रयत्न कर।

कार्यक्रम मे डा० कृष्णलाल डा जगदीश मूना आदि हिन्दी प्रमी व गणमान्य व्यक्ति भी उपस्थित थे। महाविद्यालय के प्रशासनिक अधिकारी श्री हरिराम शर्मा ने सबका धन्यवाद किया।

चुनाव समाचार

आर्य समाज मन्दिर मोती बाग, साउथ, नई दिल्ली

प्रधान-श्री ज्ञानचन्द महाजन कार्यकारी ' श्री सत्यपाल सेठी श्री प्रेम कुमार मल्होत्रा-मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष श्री विजय कुमार मेहता।

श्री गुरुविरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट

प्रधान	प हरिवश लाल शर्मा
मन्त्री	श्री चतुर्भुज मित्तल
वरिष्ठ उपप्रधान	श्री रोशनलाल गुप्ता
कोषाध्यक्ष	श्री यशफूलचन्द्र अग्रवाल

मध्यभारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा भोपाल

प्रधान श्री सेवाराम जी पटेल, नागदा,
उपप्रधान-श्री रमेश गोयल (इन्दौर सभाग)
मन्त्री-श्री विनोद बिहारी भटनागर,
उपमन्त्री श्री सत्येन मित्तल (पारावाला)

श्री रामचन्द्र जी महाराज—मर्यादा पुरुषोत्तम राम कहलाते हैं। वे धर्म की मूर्ति थे अर्थात उन्होंने समाज को धर्म की शिक्षा देने के लिए सब मर्यादाओं का पालन किया।

आर्य सन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No 32387 7 Posted at N D P S O on 28 29 10 1993 Licence to post without prepayment Licence No ६ (C) ९४
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (एल ११०२४/९३ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश" साप्ताहिक ३१ अक्तूबर १९९३

समाज शास्त्र के दो अध्यापक "डा० सत्यकेतु विद्यालकार" पुरस्कार से सम्मानित

दिल्ली विश्वविद्यालय के गाधी भवन मे विवेक प्रकाशन की ओर से एक समारोह मे समाजशास्त्र के दो शिक्षको को डा० सत्यकेतु विद्यालकार स्मृति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। समारोह के अध्यक्ष प्रो० वेदव्रत वेदालकार ने सम्मानित शिक्षको को ५०१ रु० नकद स्मृति चिन्ह तथा सम्मान पत्र भेट किये। समानित शिक्षक है श्रीमती तलत सईद बटलर मेमोरियल उच्चतर माध्यमिक विद्यालय दिल्ली तथा श्रीमती कुलदीप कौर चन्दोक राजकीय आदर्श उच्चतर माध्यमिक विद्यालय चण्डीगढ।

समारोह के मुख्य अतिथि जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र के प्रोफसर डा० के० एल० शर्मा ने श्रीमती आशा रानी द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित इस समारोह के लिए उन्हे बधाई दी।

अभ्यागतो का स्वागत करते हुए विवेक प्रकाशन की स्वामिनी श्रीमती आशा रानी ने डा० सत्यकेतु विद्यालकार के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की।

समारोह की अध्यक्षता गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के स्नातक और प्रसिद्ध विद्वान प्रो० वेदव्रत वेदालकार ने की। उन्होने डा० सत्यकेतु विद्यालकार के विषय मे बताया कि वे एक आदर्श शिक्षक थे जो छात्रो के साथ आत्मीयता का सबन्ध बनाकर शिक्षा को रोचक बना देते थे। उन्होने सरल और सरस भाषा मे इतिहास आदि विषयो पर अनेक ग्रन्थ लिखकर समाज को अमूल्य देन दी है।

हिन्दी गिनतियो की उपेक्षा

यह देखकर आश्चय होता है तथा दुख भी कि जो छात्र छात्राए पब्लिक स्कूलो मे अग्रेजी माध्यम से महगी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं वे अनेक विषयो का तो अध्ययन करते हैं किन्तु उन्हे हिन्दी अथवा भारतीय भाषाओ की गिनती नही आती। शिक्षा का उददेश्य होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो वह अपनी सस्कृति को न भूले साथ ही अन्य विषयो का भी ज्ञान भली प्रकार प्राप्त करे। जिस शिक्षा पद्धति से किसी देश के छात्र छात्राए अपनी गिनतियो को भूल जाए उसके माध्यम से किसी प्रकार देश के प्रति स्वाभिमान रखने वाले नागरिक तैयार हो सकेंगे।

ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि देश भर के सभी विद्यालयो मे हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषाओ मे १०० तक की गिनती सिखाना अनिवार्य रहे। वास्तव मे इन गिनतियो की उपेक्षा करने से धीरे-धीरे छात्र भारतीय सस्कृति स विमुख हाते जाए गे और यह स्थिति देश के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगी।

हरिबाबू कसल, महामन्त्री
हिन्दी व्यवहार सगठन, ई-९/२३, वसन्त विहार नई दिल्ली ५७

सेवा में—

२३४८ श्री व्यवसायाध्यक्ष जी
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
गुरुकुल फार्मेसी हरिद्वार (उ०प्र०)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा
१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४)-९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १७ अंक ३ | रविवार, २१ नवम्बर १९९३ | विक्रमी सम्वत् २०५० | दयानन्दाब्द १६९ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष ३१०१५०

११०वां ऋषि निर्वाणोत्सव

प्रत्येक आर्यसमाजी दस व्यक्तियों तक दयानन्द का सन्देश पहुंचायें

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

लातूर मे आर्य बाल गृह खोला जा रहा है : समाज व राष्ट्रोत्थान का संकल्प ले

नई दिल्ली "१३ नवम्बर। जब भी समाज व राष्ट्र पर संकट आया है तो आर्य समाज ने आगे बढ़कर सहायता की है। आर्य समाज ही एक ऐसी संस्था जिसने महाराष्ट्र के भूकम्प पीड़ितो के लिए सबसे पहले कार्यकर्त्ता भेजकर सहायता कार्य शुरू किया।" ये विचार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने आज आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली राज्य द्वारा रामलीला मैदान, नई दिल्ली में आयोजित ११० वें 'ऋषि निर्वाणोत्सव' के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में व्यक्त किये। यह कार्यक्रम राजधानी की आर्य समाजो व आर्य संस्थाओ द्वारा सामूहिक रूप से मनाया गया। स्वामी जी ने आगे कहा कि लातूर मे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे आर्य समाज की ओर से अनाथ व असहाय बच्चों के पालन पोषण व शिक्षा की व्यवस्था के लिए एक आर्य बालगृह (छात्रावास) खोला जा रहा है। ज्ञातव्य है कि भवन निर्माण के लिए भूमि ले ली गयी है और निर्माण कार्य शुरू कर दिया है और आगामी माह स्वामी जी इसका उद्घाटन करेंगे।

स्वामी जी ने खुशियो व प्रकाश के महापर्व दीपावली पर सभी आर्य जनो को हार्दिक बधाई व शुभ कामनाए दी। स्वामी जी ने कहा कि आज ११० वर्ष पूर्व सम्वत् १९४० विक्रमी की कार्तिक अमावस्या को मगलवार साय ६ बजे महर्षि दयानन्द ने 'हे ईश्वर यही तेरी इच्छा है। मेरे परमेश्वर तेने अच्छी लीला की' कहते हुए अपना भौतिक शरीर त्याग कर निर्वाण प्राप्त किया था। स्वामी जी ने सभी आर्य जनों का आह्वान किया कि वे समाज व राष्ट्रोत्थान का सकल्प लें। इस पावन दिन पर प्रत्येक आर्य समाजी को दस व्यक्तियो तक दयानन्द का सन्देश पहुचाने का व्रत लेना चाहिए।

हरियाणा के पूर्व शिक्षा मन्त्री डा० राम प्रकाश ने इस अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जन्मजन्मातरो से प्राप्त सस्कारो को तोड़कर सत्य की खोज की थी। आर्य समाज के अतीत के श्रेष्ठ कार्य स्वर्णाक्षरो में अंकित करने योग्य हैं। आज का पावन दिन हमारे लिए चिन्तन का दिन है। हमने कितना रास्ता तय किया है, हम किस दिशा मे जा रहे हैं और कितना रास्ता तय करना शेष है। उन्होंने यह भी कहा कि आज विश्व मे जो साहित्य एव सृजन लेखन कार्य हो रहा है उसमें आर्य समाज का कितना योगदान है और कितनी छाप है, यह भी हमारे लिए विचारणीय बात है।

डा० राम प्रकाश ने कहा कि स्वामी विरजानन्द, मुनिवर गुरुदत्त हसराज व लेखराम की धरती पजाब आर्य समाज का गढ रहा है। आज पजाब मे पहले की तरह प्रचार कार्य की महती आवश्यकता है। आर्य समाज ने मास व शराब के विरोध मे काफी काम किया। आर्य समाज को योग शिक्षा व योग प्रचार की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए।

डा० राम प्रकाश ने आगे कहा कि आर्य समाज हमारी मा है, और हमे उस मा के चरणो में बैठकर आर्य समाज के हित की बात सोचनी चाहिए। उन्होंने कहा कि हमें आज हर सस्था का आर्य समाजीकरण करना चाहिए तथा हर आर्य समाज का दयानन्दीकरण करना चाहिए।

दिल्ली विश्वविद्यालय मे सस्कृत के विभागाध्यक्ष एव प्रख्यात वैदिक विद्वान डा० वाचस्पति जी उपाध्याय ने ऋषि के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुये कहा कि दयानन्द के जीवन का लक्ष्य सत्य व शिव से जुडा हुआ था। दर्शन के चितेरे दयानन्द का जीवन मानवतावाद का दर्शन था। भारत की धरती पर ऋषि दहाड़ा था और उसकी गूज आज भी देश मे रही है। आर्य समाज ही आज वेद व सस्कृति की रक्षा कर सकता है। भारत को आज यदि किसी धरातल पर खडा किया जा सकता है तो वह आर्य समाज का ही धरातल है।

प्रो० उत्तमचन्द जी शरर ने दयानन्द को श्रद्धासुमन अर्पित करते हुये कहा कि दयानन्द के ऋण से उऋण होने के लिए आज हमे सकल्प लेना चाहिए कि हम सबसे पहले आर्य समाजी है इसके बाद कुछ और हैं। उन्होने कहा कि आर्य समाज ने सदैव पाखण्डो व कुरीतियो के विरुद्ध सघर्ष किया है और अनेक हरिजनो को पुरोहित के सम्मानजनक पद पर प्रतिष्ठित कराया है। इस अवसर पर सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान डा० प्रेमचन्द श्रीधर ने भी ऋषि को भावाजलि अर्पित की तथा केन्द्रीय सभा के लिए उपस्थित आर्य जनो से १५ हजार रुपये एकत्रित करके दिये।

दिल्ली आर्य प्रान्तीय महिला सभा द्वारा महाराष्ट्र के भूकम्प पीड़ितो की सहायतार्थ २५ हजार की थैली सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती को भेंट की गयी। कार्यक्रम मे डा० सुधीर कुमार गुप्त एव प० केदारनाथ दीक्षित को वैदिक विद्वान पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

इससे पूर्व आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के प्रधान महात्मा धर्मपाल, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव एवं महामन्त्री डा० धर्मपाल आदि अतिथियों का माल्यार्पण द्वारा अभिनन्दन किया गया। कार्यक्रम का शुभारम्भ प्रात यज्ञ से हुआ। मच सचालन डा० शिवकुमार शास्त्री ने किया।

आचार्य सुमन जी हिन्दी के अनन्य सेवक व चलते-फिरते ज्ञानकोश थे

नई दिल्ली। हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार, समीक्षक, कवि, विद्वान लेखक एवं स्वतन्त्रता सैनानी पद्म श्री आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन को आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली के तत्वावधान में ३० अक्तूबर को आयोजित श्रद्धाजलि सभा मे भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की गयी। आर्य समाज मन्दिर हनुमान रोड मे यह सभा हुयी थी। सभा की अध्यक्षता दिल्ली प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने की।

श्री सूर्यदेव ने आचार्य सुमन जी को भावाञ्जलि अर्पित करते हुये कहा कि आचार्य जी हिन्दी के अनन्य सेवक थे। वे एक ऐसे रेडी रेकनर थे जिनके मस्तिष्क में सभी सूचनाए रहती थीं। उन्होंने बताया कि सुमन जी कहा करते थे कि हिन्दी व आर्य समाज के लिए सारी आयु काम करता रहूगा। उनके अधूरे कामो को पूरा

(शेष पृष्ठ ८ पर)

प्रधान सम्पादक—सूर्यदेव

सहसम्पादक—दिवाकर शर्मा

महर्षि को याद करने का तात्पर्य और तरीका

हर्ष देव सिन्हा

तीस अक्तूबर १८८३ को दीपावली के दिन वेद-ज्ञान का वह प्रचण्ड सूर्य, जिसे संसार महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम से जानता है, अपने नश्वर शरीर को त्याग कर अस्त हो गया परन्तु अपनी दिव्य ज्योति को वह करोड़ो मानवो के हृदयो में प्रज्जवलित कर गया। वर्ष प्रतिवर्ष दीपावली का ज्योति पर्व हमे उस क्रान्तदर्शी सर्वहितकारी महामानव का पुण्य स्मरण कराता है। लगातार ११० वर्षों से आर्यजन दीपावली के दिन उस दिव्य आत्मा को अपनी श्रद्धांजलि देते आ रहे हैं। पहले यह श्रद्धा हमारे चरित्र और कार्य दोनो मे प्रकट होती थी। ऐसी ही श्रद्धा के कारण हमारे बीच स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, लाला लाजपत राय प० गुरुदत्त महात्मा लेखराम जैसे अनेको विभूतियां पैदा हुई। महात्मा नारायण स्वामी, स्वामी समर्पणानन्द (प० बुद्धदेव विद्यालंकार), आनन्द स्वामी, अमर स्वामी (शास्त्रार्थ महारथी ठा० अमरसिंह) तथा शास्त्रार्थ महारथी प० रामचन्द्र देहलवी जैसे विद्वान, कर्त्तव्यनिष्ठ नेता व प्रचारक हुये। परन्तु शनै शनै ऐसी सच्ची श्रद्धा का लोप होता गया और अब केवल बची है मौखिक श्रद्धा। हम केवल शब्दो द्वारा ही महर्षि को श्रद्धांजलि देने की लोक परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं। यह भी गनीमत है कि हम अपने उस महान गुरु को पूर्ण रूपेण नहीं भूले हैं और कहीं न कहीं हमारे मन में श्रद्धा की चिंगारी विद्यमान है।

श्रद्धांजलि का वर्तमान स्वरूप

दीपावली का दिन आर्य समाज 'ऋषि निर्वाण दिवस के रूप मे मनाता है। दिल्ली में रामलीला मैदान मे उस दिन एक श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया जाता है। कुछ विद्वानो को तथा कभी-कभी भारत सरकार के किसी मन्त्री को भी विशिष्ट अतिथि के रूप मे बुलाकर फूल मालाओ द्वारा स्वागत किया जाता है। सभी आमन्त्रित व्यक्ति अपने भाषण द्वारा ऋषि का गुणगान करते हैं, उसके उपकारो की स्मृति दिलाते हैं तथा कहते हैं कि उनकी ऋषि में अत्यन्त श्रद्धा है। संयोजक महोदय भी उन आमन्त्रित व्यक्तियों की प्रशंसा के पुल बांधते हैं और श्रोता ताली पीटते हैं। बस यहीं हमारी श्रद्धा की इति श्री हो जाती है। ऐसा लगता है कि सभा विद्वानो के तथा भारत सरकार के मन्त्री के स्वागत के लिए ही थी और ऋषि को श्रद्धांजलि एक बहाना मात्र थी तथा केवल औपचारिकता थी। वैसे तो केवल बुलाने से ही आने वालों की श्रद्धा भी सन्देहास्पद ही है परन्तु फिर भी सभा होती है यह बहुत अच्छा है। मन्त्रीजी की उपस्थिति के कारण कदाचित आकाशवाणी तथा दूरदर्शन पर समारोह का समाचार प्रसारित हो जाता है और शायद इसीलिए उन्हें बुलाया जाता हो। एक वर्ष बाद सारी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है। यह आत्म चिन्तन का विषय है कि क्या हमारी श्रद्धांजलि का यह ठीक और पर्याप्त रूप है?

महर्षि की विशेषता तथा उनका अभीष्ट

महर्षि से पहले उनके जीवन काल में तथा उनके बाद भी अनेको धर्म प्रवर्तक तथा समाज सुधारक हुये हैं। अब से लगभग २५०० वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने यज्ञ मे दी जाने वाली पशुबलि तथा सामाजिक असमानता से दुखी होकर अहिंसा और वैराग्य का संदेश दिया और बौद्ध धर्म की स्थापना की। लगभग उसी समय इन्हीं कारणो से भगवान महावीर ने जैन धर्म चलाया। २००० वर्ष पूर्व समाज की बिगड़ी दशा को सुधारने के लिए महात्मा यीशु ने सहिष्णुता तथा प्रेम का संदेश देकर ईसाई मत प्रचलित किया और लगभग १४०० वर्ष पूर्व हजरत मोहम्मद साहब ने निराकार एकेश्वरवाद तथा समानता का प्रचार करके इस्लाम धर्म की नींव डाली। इसके बाद लगभग ५०० वर्ष पहले नानक देव जी ने भी एकेश्वरवाद और दया का सन्देश देकर सिख मत चलाया। इन सभी धर्मों या मतो की तथा हिन्दू धर्म की वर्तमान दशा से सभी परिचित हैं। इनमें आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण आपसी विद्वेष को बढ़ावा मिला है। इनमें से कोई भी सर्व मान्य धर्म नहीं बन सका क्योंकि सभी के परस्पर विरोधी मान्यतायें हैं और उन्ही विरोधी मान्यताओं पर अधिक जोर दिया है क्योंकि इन सभी का अस्तित्व भिन्नता पर ही टिका है। कहने में यह बात अच्छी लगती है कि सभी धर्म अच्छे हैं परन्तु ऐसा है नहीं। सभी अपने-अपने धर्म को अच्छा तथा दूसरे धर्म को बुरा बताते हैं। सभी का यह कहना है कि बिना हमारे धर्म के दूसरे धर्म में मुक्ति नहीं हो सकती। वास्तव में इन सभी महात्माओं ने धर्म के किसी नये तत्व या सिद्धात का आविष्कार नहीं किया। सत्य, अहिंसा, एकेश्वरवाद, मानव-प्रेम, दया इत्यादि ऐसे तत्व व जिनका आविष्कारकर्त्ता स्वयं परमात्मा है और सृष्टि के आरम्भ से ही यह सभी तत्व विद्यमान हैं। अज्ञान के कारण ही इनका लोप हुआ दीखता है। महर्षि दयानन्द की विशेषता यही थी कि उन्होंने किसी नये धर्म या मत की स्थापना करने की आवश्यकता नही समझी। उनका मानना था कि वेदों मे वर्णित वैदिक धर्म में जो सृष्टि के आदि काल से महाभारत के युद्ध पर्यन्त प्रचलित था, यह सभी तत्व विद्यमान हैं और धर्म शाश्वत है, सारी मानव जाति के लिए एक है तथा सर्व मान्य सिद्धा तो पर आधारित है। धर्म वही है जिसे सब मानें। जिसे कोई माने और कोई न माने वह धर्म नही हो सकता। अपने स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में महर्षि कहते हैं मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना व मत मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नही है किन्तु जो सत्य है उसको मानना तथा मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभिष्ट है" वास्तव में धर्म का स्वरूप सनातन है। सनातन वहीं होता है जो सदा रहने वाला हो कभी पुराना न पड़े सदा नूतन रहे। वेद के अनुसार—

सनातमेनमाहु उताद्य स्यात् पुनर्णव ।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रुपयो ॥ (अथव१०।८।२३)

सनातन उसे कहते हैं जो आदिकालीन होता हुआ आज भी पुन. नया लगता है जैसे एक दूसरे के रूपो में यह दिन रात सदा पैदा होते रहते हैं फिर भी हर दिन नया तथा हर रात नयी लगती है।

महर्षि के अनुसार जो पक्षपात रहित न्यायाचरण सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदो से अविरुद्ध है उसी को धर्म कहते हैं। उन्होने संसार के सभी मतो में व्याप्त असत्य का खण्डन तथा सत्य का मण्डन करते हुये उसी को धर्म मानने का सन्देश दिया जिसे सब माने तथा जिसका विरोधी कोई भी न हो। उनको ऐसी आशंका थी कि उनके खण्डन को लेकर तथा किसी नये धर्म को न चलाने के कारण लोग भ्रांति से उन्हें केवल खण्डन करने वाला ही समझेंगे, अत. उन्होने सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास मे स्वयं ही यह प्रश्न उठाया है कि वह केवल सब मतों का खण्डन ही करते हैं या कुछ नया भी बताते हैं। इसके उत्तर मे वे लिखते है कि लोगों से पूछो कि सत्य को मानते हैं या नहीं? इसी प्रकार पूछो कि न्याय अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दया परोपकार को मानते हो या नहीं? सभी स्वर से उत्तर देंगे कि मानते हैं। अत जिसे सब मानते आयें उसी को धर्म का सिद्धांत मानो और ऐसे सभी सिद्धात वे ही होंगे जिनकी शिक्षा वेदों मे है। उनका कहना था कि सत्य भाषण, अहिंसा दया आदि शुभ गुण सभी मतों में अच्छे हैं और बाकी वाद विवाद, ईर्ष्या, द्वेष मिथ्या भाषाणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि सत्य मत को ग्रहण करने की इच्छा हो तो वैदिक मत को ग्रहण करो।

(क्रमश)

निर्वाणोत्सव पर विशेष

महान क्रान्तिकारी-स्वराज्य के प्रथम उद्घोषक महर्षि दयानन्द सरस्वती

(लेखक—कविरत्न जगदीश प्रसाद एरन, नीमच)

'शकर दिया बुझाय दिवाली को देह का।
कैवल्य के विशाल वदन मे मिला गया।'

महर्षि दयानन्द सरस्वती के कार्य क्षेत्र मे आने से पहले महर्षि भारत मे कई छोटे बड़े सम्प्रदाय प्रचलित थे, किन्तु सब धर्म की मूल भावना व प्राचीन आदर्शों से गिर चुके थे। राजनैतिक पराधीनता ने भारत को मृतप्राय बना दिया था। ऐसे समय में भारत को किसी ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो राष्ट्र को धर्म के सच्चे स्वरूप के दर्शन कराने के साथ-साथ परतन्त्रता की बेड़िया काटने का भी बिगुल बजा सके।

ईश्वरीय इच्छा से इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही सन् १८२४-२५ में मोरवी के टकारा ग्राम के औदिच्य ब्राह्मण श्रीकृष्ण जी के घर मूलशकर के रूप मे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जन्म लिया।

जिस प्रकार न्यूटन ने पेड़ से सेब को गिरते देखकर सिद्धार्थ ने शव व रोगी को देखकर कुछ जानने की जिज्ञासा प्रकट की थी उसी प्रकार मूल शकर ने भी एक शिव पिण्डी पर चूहे को उछल कूद करते देखकर सत्य की खोज करने की ठानी। आपने अपना सम्पन्न परिवार, माता पिता छोड़कर बालपन में ही सन्यास ग्रहण किया। सत्य की खोज के लिए कोठर परिश्रम किया। देश के भिन्न-भिन्न भागो में उन्होंने भ्रमण कर साधुओं के आश्रमों व तीर्थों में सत्य की खोज की। अन्त में जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ वाली उक्ति के अनुसार मथुरा मे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रज्ञाचक्षु स्वामी गुरु विरजानन्द जी को पा लिया व अपनी अभिलाषा पूर्ति, अपनी मातृभूमि के पुनरुत्थान, सत्य के प्रचार ज्ञान के प्रचार और धर्म वृद्धि के निमित्त अपना पूरा जीवन अर्पण कर दिया। उन्होने असत्य के विरुद्ध तन मन से सग्राम करके पाखण्डों को समाप्त करके, सत्यार्थ के प्रकाश को फैलाने बुराई को जड़ से उखाड़ने तथा व्याभिचार व सत्य धर्म का झण्डा बुलन्द करने का पवित्र प्रण किया।

महर्षि ने समाज सुधार तथा अन्ध विश्वास व अविद्या से उबारने के लिए वेदो का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया, ताकि इस अमृत कुण्ड तक सर्व साधारण को पहुच हो सके। वेद भाष्य के अतिरिक्त स्वामी जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका गौ० करुणा निधि, आर्याभिविनय, सस्कार विधि आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। आपने समस्त भारत मे घूमकर वैदिक भावो को सार्वजनिक वक्तृताओ, व्यक्तिगत सम्भाषणो एव प्रेम पूर्वक वाद विवादो द्वारा पादरियो मौलवियो व अन्य मतावलम्बियो पर तीव्र प्रहार किया। राष्ट्र को सदा लाइट हाउस की तरह सही मार्ग बताते रहने, छूआछूत पाखण्ड अविद्या को हटाते रहने के लिए आपने आर्य समाज जैसी लोकोपकारी सस्था को जन्म दिया। स्वामी जी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने नारी शिक्षा का प्रचार करते हुए उन्हें सहायता का अधिकार प्रदान कराया। स्वामी जी ने वेदो के द्वार जो पाखण्डियो द्वारा बन्द कर दिये थे, सदा-सदा के लिए खोल दिये।

देश को निर्बल करने वाली अनेक बुराइया उस समय समाज मे प्रचालित थीं। महान दयानन्द प्रथम युग पुरुष थे जिन्होंने जाति पाति के आडम्बरो के विरुद्ध मानवता वादी सिद्धात स्थापित किया। आपने अछूतोद्धार व नारी शिक्षा का समर्थन करते हुए पाखण्डो अनमेल विवाह सती प्रथा, मृत्यु भोज आदि कुप्रथाओ का विरोध किया। आपकी दृष्टि मे राष्ट्रहित सर्वोपरि था।

महर्षि समाज को कैद से छुड़ाने आये थे, आपने जीवन भर मानव मात्र की कल्याण कामना की। महान पुरुषो का जीवन ही नहीं उनका निर्वाण भी महान होता है। अधिकतर महापुरुषो को अपना बलिदान ही देना होता है। महात्मा ईसा सुकरात, गुरुतेगबहादुर, महात्मा गांधी आदि ने जन हित में अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। महर्षि दयानन्द जैसे महापुरुष, जो स्वराज्य के सबसे बड़े समर्थक, राष्ट्र की स्वतन्त्रता के स्वप्न दृष्टा समाज के हितैषी, वैदिक सस्कृति के पोषक महान समाज सुधारक, समाजवाद के शिल्पी को विदेशी शासको के प्रचारको व फिरगी शासको ने एक वेश्या से मिलकर कालकूट विष उनके पाचक जगन्नाथ द्वारा दिलवा दिया। क्षमा क्षमा दयानन्द ने अपने हत्यारे को भी रुपया व शाल देकर उसकी प्राण रक्षा हेतु विदा कर दिया ताकि वह फासी के फन्दे से बच सके। धन्य है क्षमा शील योगी राज देव दयानन्द जिन्होंने अपने विषदान को अभयदान दे दिया।

एक माह की तीक्ष्ण पीड़ा के बाद कार्तिक सवत १९४० को अमावस्या की सांय ६ बजे दीपावली के पावन दिन जब कि कृष्ण पक्ष का तथा शुक्ल पक्ष का उदय था, ईश्वर प्रार्थना के बाद हर्ष सहित गायत्री मन्त्र का पाठ करने लगे, फिर प्रफुल्ल वदन समाधि में रहकर आखें खोली और प्रेम पूर्वक कहा "हेदयामय हे सर्व शक्तिमान ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो, तेने अच्छी लीला की।" इतना कहकर करवट ली और सास रोक कर एक ही बार मे प्राण त्याग दिये।

अजमेर को वह ऐतिहासिक भिनाय कोठी साय-साय कर उठी। ससार का प्रकाश स्तम्भ, प्यारा ऋषि, जो ससार को अमृतपान कराने आया था, हमसे बिछुड़ गया।

हमे चाहिए कि हम महर्षि के बताए आदर्शों पर चलकर उनके स्वप्न को साकार बनायें व पुन इस राष्ट्र को जगत गुरु के गौरव से अलकृत कराने का प्रयत्न करें।

दीपावली

नहीं धरा पर कहीं अधेरा, दीपो का ससार रे।
दीपक-बाती, तारे-सारे, मिलकर करते प्यार रे॥
लाई अनोखी ज्योति जगमग, यह अधियारी रात लिये।
आई दिवाली दुलहिन बनकर, दीपो की बारात लिये॥
भाति-भाति के लड्डू-पेड़े, खील-बताशे मिलते है।
बच्चे बूढे प्रमुदित होकर, पुष्प भाति सब खिलते है॥
उज्जवल आज अभाव है, जन-जन का डर जाता है।
आतिशबाजी के शब्दो से, नभ गुजित हो जाता है॥
लक्ष्मीधर मे आती इस दिन, अहो भाग्य हो जाता है।
लाभ किसी को अगर हुआ हो, वह फूला न समाता है॥
पक्ति बद्ध दीपक हैं जलते हैं, अनुशासन इनसे सीखो।
प्रेम-भाव से स्नेह-वर्तिका के सम, तुम रहना सीखो॥
जीवन का सगीत सलोना रोम-रोम मे व्याप्त हुआ।
कण्ठ लगाना, मिलकर रहना, प्रेम-भाव पर्याप्त हुआ॥
नव उमग से नवतरग से, पर्व मनाये दिवाली।
मिले 'अमित' लक्ष्मी सबको ही, रहन कोई घर खाली॥

सुशील कुमार 'अमित' विद्याभास्कर
गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालपुर (हरिद्वार)

दीपावली त्यौहार की शुभकामनायें

आया दीपावली का, पावन पर्व महान।
भरे रहें धन धान्य से, मधुर सौख्य सामान॥
मधुर सौख्य सामान, उन्नति पथ अपनायें।
दुख अधेरा होय, ज्ञान के दीप जलायें॥
मिटे रोग दुष्काल, रहे घर-घर खुशहाली।
सुखद शांति मगलमय, यह रहे दिवाली॥

रचयिता—स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती
अधिष्ठाता वेद प्रचार विभाग
अवैतिक कार्यकर्ता दिल्ली आ० प्र० सभा

आदर्श त्रैतवाद (४९)

राजसिंह भल्ला

ईश्वर ज्ञान से मुक्ति

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन, यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदु ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।
श्वेता० ४-८

ऋचा के जिस अविनाशी परम निराकार भगवान मे सारे देव निवास करते हैं जो मनुष्य उसको नही जानता वह ऋचा से क्या करेगा उसे ऋचा से क्या लाभ है ? परन्तु जो उपासक उस भगवान को जानते है वे (मोक्षधाम में भलि भान्ति) विराजमान होते हैं । ध्यान पूर्वक उसकी आराधना करते हैं उसका स्मरण करते हैं वे भली भान्ति मोक्षधाम मे विराजमान होते हैं ।

ज्ञानपूर्वक भगवान की भक्ति ही मुक्ति का मार्ग

य इह चेदशकद बोद्धु प्राक् शरीरस्य विस्त्रस ।
तत सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ।। कठो० १-६-४

सर्वनियन्ता—भगवान के जानने की महत्ता में ऋषि कहते हैं, मनुष्य यदि इस जन्म मे शरीर छूटने से पहले ब्रह्म को जान सका तो ठीक है । नही तो वह कल्प कल्पान्तरो पर्यन्त लोको में शरीर धारण करता रहेगा । ईश्वर ज्ञान और भगवान की भक्ति ही मुक्ति का मार्ग है । इसी से प्राणी पाप ताप से परित्राण पाता है ।

परमात्मा के जानने का फल

भिद्यन्ते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशय ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे ।। मुण्डको २-२-८

परमात्म-ज्ञान का लाभ दर्शाते हुए ऋषि कहते है—उस पर-अपर,—वाच्य वाचक को जान लेने पर हृदय की अविद्या की गाठ भेदन हो जाती है, सब सशय छेदन हो जाते हैं और भक्त के कर्म क्षय हो जाया करते हैं ।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ।। कठो० १-६-१५

जब इसी जन्म मे काम, क्रोध, द्वेष तथा अविद्या आदि हृदय की सब गाठे भेदन हो जाती हैं तब यह मरण धर्मा मनुष्य मुक्त हो जाता है । निश्चय से इतना ही उपदेश है । यही बात कहने योग्य है । यही सार तथा मर्म है ।

तृष्णा लज्जा भय दुख विषादो हर्ष एव च ।
एभि दोषैर्विमि मुक्त स जीव शीव उच्यते ।। योगाशखो० १२

भावार्थ—लज्जा, भय, दु ख, विषाद और हर्ष इन दोषों से जो मुक्त हो जाता है वह जीव भगवान के तुल्य हो जाता है । जनता उसे भगवान के तुल्य मानने लगती है ।

उसे जानकर मुक्त हो जाता है

ज्ञात येन निज रूप—केवल्य परम पदम् ।
निष्कल निर्मल साक्षात्सच्चिदानन्द रूपकम् ।। योगतत्वो० २७

जिस तत्त्व ज्ञानी योनी योगी ने अपने स्वरूप को जान लिया है जो केवल परमपद रूप है उस मे किसी प्रकार का कलक नही है । निर्मल सत चित और आनन्द स्वरूप है । इस प्रकार के स्वरूप वाले को जानकर मानव भव-पाश से मुक्त हो जाता है ।

विविध

त्रैतवाद

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।। श्वेता० ४-६

परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं कि वे दोनो सुपक्ष-सुपर्ण वाले, आत्म भाव में मिले हुए हैं, सखा हैं और समान—एक ही प्रकृति रूप वृक्ष को आलिंगन कर हैं । उन दोनो में एक जीवात्मा वृक्ष के स्वाद फल को खाता है और दूसरा भगवान प्रकृति के फलों को न खाता हुआ साक्षी रूप से देखता है । क्रमश

कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों के भावों की काव्य व गीतों के माध्यम से व्याख्या (२३)

भगवान दास, सपादक 'पालिका समाचार'

विवाह के समय पति-पत्नी की प्रतिज्ञा

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या जरदष्टिर्यथास ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा ।।१।।
ओ भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाह गृहपतिस्तव ।।२।।
ममेयमस्तु पोष्या मह्य त्वादाद बृहस्पति ।
मया पत्या प्रजावति स जीव शरद शतम् ।।३।।
त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे क बृहस्पते प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमा नारी सविता भगश्च सूर्यामिव परिधत्ता प्रजया ।।४।।
इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमा नारी प्रजया वर्धयन्तु ।।५।।
अह विष्यामि मयि रूपमस्या वेदवित्पश्यन्मनस कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वय श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ।।६।।
ऋ० अ० ८। अ० ३। व० २७। म० १-६ ।।

काव्यार्थ—

पति पत्नी बन सुखी गृहस्थ के सारे साज सजायें हम ।
करें प्रतिज्ञा—नही परस्पर कर्म अप्रिय कर पायें हम ।।
नहीं करें व्यभिचार, बनेंगे हम ऋतुगामी ब्रह्मचारी ।
रहें बुढ़ापे तक जीवन में साथ, मिटें दुविधा सारी ।।
विद्यमान जन के समक्ष है, आज प्रतिज्ञा ये म्हारी ।
करें नही व्यवहार कभी इसके प्रतिकूल पुरुष-नारी ।।
अन्तर्यामी जग-सृष्टा है हम दोनो का साक्ष्य परम ।।१।।

हमें परस्पर किया समर्पित, एक-दूसरे के कर में ।
परमेश्वर अरु आप सभी, विद्वानो ने इस अवसर में ।।
प्रीति करेंगे हम दोनों ही, आपस मे अरु ईश्वर में ।
परिश्रमी बन घर के काम, सुधारेंगे जीवन भर मे ।।
मिथ्या भाषण नहीं करेंगे, सदा करेंगे धरम करम ।।२।।

पर उपकार तथा जीवन में, सत्य-ज्ञान का करें प्रचार ।
कर सतति उत्पन्न श्रेष्ठतम, दें उत्तम शिक्षा उपहार ।।
यह सकल्प करें प्रभु-सम्मुख, नियमबद्ध होगा आचार ।
पर-नारी, पर-पुरुषो से मन मे भी ना होगा व्यभिचार ।।
देव ! साक्ष्य तुम इस विवाह के, गृह आश्रम धरा करम ।।३।।

पत्नी करे प्रतिज्ञा—पति को छोड़ किसी के सग कभी ।
नहीं करू सम्बन्ध गुप्त निज, वचन-कर्म या मन से भी ।।
इसी तरह सकल्प पुरुष करता—पत्नी को छोड़ सभी ।
नारी जग की होगी मेरी, माता-भगिनी-पुत्री ही ।।
इस पवित्र गठ-बन्धन से सब, सुख मिलें हमको हरदम ।।४।।

हे प्रिय ! पाणिग्रहण कर पावें, हम सारे सुख-बल-धन-जन ।
पति-पत्नी बन रहें वासनारहित, धर्म में होवे मन ।।
निज कर्त्तव्य नही भूलू, धन कमा करू तेरा पोषण ।
बन सतति से युक्त सग, शत वर्ष सुखी भोगें जीवन ।
वस्त्राभूषण एसे दू गा, तन-शोभा हो रवि-किरणो सम ।।५।।

विद्यु त-अग्नि-सूर्य पृथिवी, ऐश्वर्य-वैद्य अरु वायु-प्राण ।
राजा-विद्वान सदुपदेशक, प्रभु-प्रजा और वेदार्थ-ज्ञान ।।
सोमलता आदिक औषधियां, नारी को दें योगदान ।
आप सभी विद्वान हमें आशीर्वचन का करो दान ।।
हम दोनो गृही मिलें अभ्युदय करें, देवें सन्तति उत्तम ।।६।।

हे सुभगे ! कुल की वृद्धि करू, मैं प्रीति करू तुम्हरी अनुपम ।
नहीं परस्पर भेद छिपायें, एक भाव हो अन्तर्तम ।।
नहीं अकेले किसी वस्तु का, भोग करेंगे छिपकर हम ।
पुरुषारथ-श्रम-निष्ठा से, व्यवहार बने निज सुन्दरतम ।।
विघ्न-व्यसन-बाधायें घर की, कर दू गा मैं कम से कम ।।७।।

ऋषिवर ! तुम्हें प्रणाम

डा० महेश विद्यालंकार

सदियो के बाद ससार में व्याप्त अज्ञान, अन्धकार, पाखण्ड, गुरुडम आदि को समाप्त करने के लिए पवित्रात्मा दयानन्द का आविर्भाव हुआ था। उनके व्यक्तित्व मे अपार ब्रह्मचर्य, अगाध पाण्डित्य अनन्त दया क्षमा, अलौकिक भक्ति, असाधारण तर्क-प्रमाण युक्ति, अपूव दूरदर्शिता आदि गुण एकत्रित थे। उन्होने अपने चमत्कारी व्यक्तित्व एव कृतित्व से ससार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। उनका सारा जीवन देश, धर्म सस्कृति और मानव जाति के कल्याण व उपकार मे गुजरा।

उस महामानव का योगदान अपूव व अविस्मरणीय है, किन्तु दुर्भाग्य है, इस देश के इतिहास का, मानव जाति का और आर्य समाज के नेताओ और अधिकारियो का, जिन्होने उस योगी के मर्म और भेद को पूरी तरह नहीं समझा। वह पुण्यतीर्थ, अग्निरूप दिव्य दयानन्द भूली भटकी मानवता का पथ-प्रदर्शक था। जो उनसठ साल के डेपुटेशन पर इस ससार में आया था। जिधर से निकला तूफान बनकर निकला। जो भी मार्ग मे अज्ञान, पाखण्ड कठिनाइया आई, उन्हे उड़ाता चला गया। वेद शास्त्र व धर्म अनुकूल मार्ग बनता गया। वे तो प्रभु की इच्छा पूर्ण करने आए थे। इसलिए सारा जीवन हसते हसते गरल पीते रहे। पत्थर, गालियां और अपमान सहते रहे। जिसका चढ़ता उतरता यौवन मानवता के आसू पोंछने में निकला हो? जिसका सारा जीवन मुसीबतों, कष्टो और बाधाओ का अजायबघर रहा हो, जिसका हृदय दीन-हीन पतित भारत की दुर्दशा गरीबी पर घण्टों रोया हो, जो सदियो के काले इतिहास को बदल कर सत्य सनातन उज्जवल व गौरव गरिमापूर्ण भारतीय इतिहास का स्वप्न द्रष्टा रहा हो, ऐसा युगपुरुष भाग्यशाली धरा को ही प्राप्त होता है।

वह सत्य का पुजारी शिवरात्रि की रात को जागा था, फिर जीवन भर कभी नहीं सोया। वे करुणा के भण्डार दयानन्द अपने सुख-दुख व अभाव के लिए कभी नही रोये। उन्होने कभी अपने लिए नहीं मागा। वे रातों में जाग कर देश में फैले-अज्ञान अभाव कुरीतिया, जड़ता, नारी जाति की दुर्दशा, गो हत्या व वेदों के अर्थ के अनर्थ किए जाने पर करुण-क्रन्दन किया करते थे। किसी कवि ने उनकी आन्तरिक पीड़ा का मार्मिक शब्दों में चित्र खींचा है—

> "इक हूक सी दिल मे उठती है, इक दद जिगर मे होता है।
> हम रात को उठकर रोते हैं, जब सारा आलम सोता है॥

दयानन्द का दद तो कुछ और था। शारीरिक पीड़ा की अपेक्षा उनकी मानसिक वेदना कहीं अधिक भयकर थी। इसी मानसिक पीड़ा के कारण दिन-रात बेचैन व अधीर रहते थे। जिसे आज हम उनके अनुयायी नही समझ पा रहे हैं? जिन्होने समझा और अनुभव किया था वे जा चुके हैं या जाने की तैयारी में बैठे हैं। श्रद्धानन्द, लेखराम, गुरुदत्त, हसराज आदि ने दयानन्द की अर्न्तवेदना को समझा, जाना और माना था। तभी सबने 'इद दयानन्दाय इद न मम' कह कर सब कुछ होम किया था। फिर उन्हें चारो ओर दयानन्द ही नजर आया और कोई भी किसी तरह से भी उन्हें नहीं भाया। वे सिर पे कफन बाधकर कातिल की खोज में निकल पड़े। लहु लुहान होकर भी उन्होने अपने ऋषि के काय को आगे बढ़ाया। गुरु के उपदेश व बचनो को गली-गली, नगर नगर, प्रचारित व प्रसारित किया। किसी ने जीवन भर फटे पैबन्द लगे कपड़े ओढ़कर सादगी सेवा और त्याग की जिन्दगी गुजार दी। किसी ने अपने प्यारे ऋषि के मिशन के लिए भरी जवानी न्योछावर कर दी। ऐसे पागल, दीवाने, मस्ताने और जनून वाले लोगो ने ऋषि की अमर गाथा को आगे बढ़ाया है।

आज हम उस देवात्मा के निर्माण पर्व पर क्या लेकर और देकर श्रद्धांजलि दें? हर वर्ष दीवाली आती है। अपनी तड़क-भड़क, धूम-धड़ाके, मेलों और खान-पान में गुजर जाती है। हम भी दीवाली के दिन निर्वाणोत्सव के नाम पर ऋषि दयानन्द के प्रति वार्षिक श्रद्धाजलि की रस्म अदा कर लेते हैं। वह भी सब जगह सब समाजों मे नहीं हो रहा है। इतने से ही अपना कत्तव्य पूरा समझ लेते है, किन्तु दु:ख व पीड़ा यह है कि ऋषि द्वारा स्थापित आर्य समाज व उनके अनुयायी अपने मूल उद्देश्य से हटते एव कटते जा रहे हैं। इस सगठन की जो साफ सुथरी, सीधी, सच्ची महत्वपूर्ण पहिचान प्रत्येक क्षेत्र में थी, वह खो रही है, छूट रही है। परिणाम सामने है कि सर्व श्रेष्ठ विचारो का धनी आर्य समाज, अनुयायियों, सगठन, प्रभाव आदि की दृष्टि से राष्ट्रीय स्तर पर कोई महत्त्वपूर्ण पहिचान नहीं बना पा रहा है। इसका विवेचन किया जाय तो सहज रूप से उभरकर सामने आता है कि आय समाज भी वही कर रहा है जिधर सारी दुनिया दौड़ी जा रही है। जो मूल उद्देश्य थे, उसे हम भूलते जा रहे हैं। इसीलिए समाज मन्दिर, सभा, सगठन, सस्थाए, स्कूल सभी व्यापार की दौड़ मे भाग रहे हैं। व्यापार मे लाभ देखा जाता है, धर्म जीवनादर्श, नैतिक मूल्य आदि महत्त्व नहीं रखते हैं। हर कोई आर्य समाज और दयानन्द को कैश करना चाहता है और हो रहा है। आर्य समाज की विचार-धारा मानवनिर्माण, नैतिकमूल्यों, खान-पान, उच्च आदर्श विचार, नारी उत्थान, वेद, यज्ञ सस्कृति आदि की बात करती है, किन्तु वर्तमान आर्य समाज उसी दिशा में अधिक जा रहा है, जिसका ऋषि ने विरोध किया था। आज फिर वही पौराणिकता, पाखण्ड, गुरुडम, आडम्बर आदि फैल रहे हैं? धर्म, भक्ति व परमात्मा के नाम पर खूब व्यापार हो रहा है। सभी अपनी-अपनी गद्दी, आश्रम, सस्था व सम्प्रदाय बनाने में व्यस्त हो रहे हैं। मनमाने ढग से कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि कराये जा रहे हैं। एकरूपता हटती जा रही है। कोई रोकने, टोकने वाला नहीं है।

श्रद्धानन्द, लेखराम, गुरुदत्त, हसराज आदि ने दयानन्द की अन्तर्वेदना को समझा जाना और माना था। तभी सबने 'इद दयानन्दाय इद न मम' कहकर सब कुछ होम किया। फिर उन्हें चारों ओर दयानन्द ही नजर आया और कोई भी किसी तरह से भी उन्हें नहीं भाया। वे सिर पे कफन बाधकर कातिल की खोज में निकल पड़े। लोहू लुहान होकर भी उन्होंने अपने ऋषि के कार्य को आगे बढ़ाया। गुरु के उपदेश व वचनो को गली-गली, नगर-नगर प्रचारित व प्रसारित किया। किसी ने जीवन भर फटे पैबन्द लगे कपड़े ओढकर सादगी सेवा और त्याग की जिन्दगी जी। किसी ने अपने प्यारे ऋषि के मिशन के लिए भरी जवानी न्योछावर कर दी। ऐसे पागल, दीवाने, मस्ताने और जनून वाले लोगों ने ऋषि की अमर गाथा को आगे बढ़ाया।

आर्य समाज ने सदा से लोगो को जगाने का, उठाने का और सत्य मार्ग दिखाने का कार्य किया है। इसका चिन्तन, जीवन्त-चेतना के रूप मे रहा है। इसीलिए कहा गया है—जहा-जहा आर्य समाज है, वहां-वहा जीवन है, किन्तु हमारी स्थिति यह है—

> बड़े शौक से सुन रहा था जमाना।
> हमीं सो रहे हैं, अपनी दास्ता कहते-कहते॥

आज आवश्यकता है आर्य समाज को अपना पुर्नमूल्यांकन और आत्म-विश्लेषण करने की। हमने क्या खोया? क्या पाया? हम किधर जा रहे हैं। हमारा क्या उद्देश्य था? हमारी किन बातो से हमारी विशिष्ट पहिचान थी? क्यो लोग आज भी आर्य विचारधारा के सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धावनत हैं। यदि कोई सस्था ससार को सत्य, धर्म, जीवन, जगत, ईश्वर, भक्ति आदि का सीधा-सच्चा सरल मार्ग दिखा सकती है तो आर्य समाज है। आर्य समाज के पास चिन्तन, सोच व दृष्टिकोण है जोकि अपने में पूर्ण वैज्ञानिक, आधुनिक, व्यावहारिक, तर्क सगत एव उपयोगी है। यही चिन्तन आधुनिक दौड़ मे साथ चल सकता है।

आज दीपावली के पावन-पर्व पर कुछ बदलने, करने और ऋषि की चिन्तन धारा को आगे बढ़ाने का व्रत-सकल्प लें। कुछ अन्तस में भी प्रकाश की किरणें आने दें। जब तक हृदय प्रकाश से आलोकित न होगा, तब तक अज्ञान न मिट सकेगा। यह पर्व यही आलोक की प्रेरणा व सन्देश देने आता है। ऋषिवर की ससार के लिए यही भावना व कामना थी —

> असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृत गमय।
> सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया॥

कृतं लोकं पुरूषोऽभिजायते

—डा० प्रेमचन्द श्रीधर

महर्षि शाण्डिल्य के इन शब्दों में कितना गूढ़ ज्ञान छिपा है, यह केवल विचार करने पर ही जाना जा सकता है। जितना गहन चिन्तन इसका किया जाएगा उतनी अधिक सामर्थ्य मनुष्य को अपने को समझने की प्राप्त होगी। परन्तु यह संसार तो परमपिता परमात्मा का बनाया हुआ है फिर मनुष्य अपने ही बनाए हुए संसार में कैसे रहता है ? यह एक विचित्र पहेली सी मालूम होती है, परन्तु यह शाश्वत सत्य है, इसे निश्चय जानिए। तीन तत्व अनादि हैं—परमात्मा, जीव और प्रकृति। इनमें प्रथम प्रकृति को लीजिए। प्रकृति का केवल एक ही गुण है कि यह अनादि है, नित्य है। दूसरा है जीव, यह भी नित्य है और रहेगा परन्तु नित्यता के साथ-साथ इसमे दूसरा गुण है ज्ञान का अर्थात जीव अनादि है और ज्ञानवान भी। तीसरा है परमात्मा, परमात्मा अनादि है, ज्ञानवान है परन्तु उसका स्वरूप आनन्दमय है वह अनादि, सर्वज्ञ और आनन्द का भण्डार है।

अपने कर्मों के अनुसार जीव विभिन्न योनियों में जन्म पाकर आनन्द की इच्छा करता है। वास्तविकता यह है कि परमात्मा की स्थिति उस चुम्बक की तरह है जो अपनी आनन्द शक्ति के कारण सदैव जीव रूप लोहे को अपनी ओर आकर्षित करता है। जीव को भी आनन्द प्राप्ति की कामना तो है परन्तु प्रकृति के प्रति असत्य और अज्ञानमय मोह उसे उस आनन्द की प्राप्ति से वंचित कर देता है। मनुष्य अपने लक्ष्य से भटक कर परमात्मा से प्राप्त साधन रूप प्रकृति को अपना साध्य मान लेता है और अपने लिए एक नई, अपनी ही बनाई हुई सृष्टि मे निवास करने लगता है।

जर को ही जिन्दगी का सहारा समझ लिया,
मल्लाह ने किश्ती को किनारा समझ लिया।
चुन्धिया गई हैं आखें भोगों की चमक से,
भोगों को जिन्दगी का दुलारा समझ लिया॥

एक मकड़ी की तरह अपने लिए सुखमय जाल अपने ही शरीर से बुनकर तैयार करता है और उसी मे फस जाता है और कोई मार्ग उससे बाहर आने का न पाकर उसी में अपने जीवन के अमूल्य क्षणो को खो बैठता है।

यह तो सत्य है कि संसार को परमात्मा ने रचा है परन्तु संसार जीव के लिए कैसा हो, इसका निर्णय तो जीव को स्वय करना है। इसलिए जैसा संसार मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा अपने लिए बनाता है वैसे ही संसार में वह रहता है। इस लोक में ही नहीं अपने भावी जीवन का प्रारब्ध का निर्माता भी मनुष्य स्वय है। परमपिता परमात्मा जीव का सदा कल्याण चाहते हैं, अत कर्मों के अनुसार न्याय देकर बार बार इस संसार में जीव को विभिन्न योनियों मे जन्म देते हैं। यह जीव पर निर्भर है कि उसका यह संसार कैसा हो। ठीक ही कहा है—

तेरा करम तो आम है दुनिया के वास्ते।
मैं कितना पा सका यह मुकद्दर की बात है॥

इस स्वय के द्वारा निर्मित संसार की रचना जीव के द्वारा अपने विचारो के आधार पर होती हैं, इसलिए हमारे जीवन का प्रथम आधार हैं हमारे विचार। विचार का आधार है हमारे संस्कार जो हम अपने समाज से अपने माता-पिता, गुरूओ, सम्बन्धियो और पडोसियो से प्राप्त करते हैं। इन्ही अच्छे संस्कारो की प्राप्ति ही शिक्षा का उद्देश्य है। धर्म का लक्ष्य भी मनुष्य के कर्मों को शुभ मार्ग पर प्रेरित करना है।

Religion provides a moral base for all the activities of a man—Mahatma Gandhi

अच्छे संस्कारो से अच्छे विचारो की प्राप्ति और अच्छे विचारो से ही किए गए कर्मों का फल भी शुभ होता है। इन्हीं कर्मों के आधार पर हम अपने लिए नये संसार की रचना करते हैं इसलिए महर्षि के इन शब्दों में शाश्वत सत्य है। क्योंकि कहा है—

यनमन्सा ध्यायते तद् वाचा वदति यद् वाचा वदति तद् कर्मणा करोति यद् कर्मणा करोति तदपि सम्पद्यते।

हमारे प्रत्येक विचार का अन्त कहां है कर्म मे और कर्म का परिणाम है हमारी प्रारब्ध जिसे लोग प्राय भाग्य का नाम देते हैं। मुकद्दर कहकर पुकारते हैं वेद मे आया है 'क्रतुमय पुरुष" यह मनुष्य अपने ही संकल्पों का बना है।

प्रसिद्ध 'वह न रोमा रोला के शब्दो में—

Action is the end of all thoughts, a thought which does not look towards action is an abortion and a treachry

मनुष्य की परिभाषा देते हुए महर्षि दयानन्द ने स्पष्ट शब्दो में लिखा है 'मनुष्य उसी को कहना हैं कि मननशील होकर स्वात्मवत अन्यों के सुख-दुःख और हानि लाभ को समझे।'

इसलिए मनुष्य यह अनमोल शरीर प्राप्त कर ऐसा कोई कार्य न करें जिससे वर्तमान और भविष्यत दोनो बिगड़ जाए और अपने द्वारा बनाये संसार में कष्टमय जीवन जीने पर विवश हो जाए।

नहीं देता कोई किसी को सजाए।
सजा बनके आती हैं अपनी कजाए॥

प्रभु तो न्यायकारी और दयालु हैं हमारे कर्मों के अनुसार फल देना, यही उनकी सबसे बड़ी दया है। हमें मानव जन्म मिला है। यह भोगयोनि है और कर्मयोनि भी। यहा हम नया बोते हैं, बोए को काटते हैं आवश्यकता केवल मनुष्यता की, आदमीयत की है, अगर यह नहीं तो कुछ भी नहीं।

गुल में उलफत नहीं तो कुछ भी नहीं।
गुल में नक्हत नहीं तो कुछ भी नहीं।
आदमी में हजार जोहर हो।
आदमीयत नही तो कुछ भी नही॥

और अन्त में इसाक वाट्स के शब्दों में—

'Your little hands were never made to tear each others eyes'

तुम्हारे छोटे-छोटे और कोमल हाथ दूसरों की आंखें नोंचने के लिए नहीं बनाए गये।

इसलिए हे मर्त्यजीव ! अपने कर्मों पर निरन्तर दृष्टि रखकर जीवन की इस निरन्तर चलने वाली यात्रा मे अपने कर्मों के द्वारा ऐसा ताना-बाना बुन के अच्छा चोला ही फिर पहनने को मिल सके। इसी में जीवन की सार्थकता है। यह कभी विस्मृत न कर कि मनुष्य अपने ही कर्मों द्वारा बनाए गये संसार में जीता है।

—ई-३६, रणजीत सिंह मार्ग, आदर्श नगर, दिल्ली-३३

जगमग दीप जलाएं

आओ ! वीर सपूतो ! आओ, जगमग दीप जलाए।
गहन तिमिर मे भटक रही, जगती को राह दिखाए॥
मिट्टी के दीपो से निश्चय,
मिटता नहीं अंधेरा।
अगणित तारो के उगने से,
होता नहीं सवेरा।
दानवता के तिमिर सैन्य ने,
महिमण्डल को घेरा।
रहा नहीं है मानवता का,
सुन्दर सुखद सवेरा।
बिखरा किरणें वेदभानु की, नया सवेरा लाए।
गहन तिमिर मे भटक रही जगती को राह दिखाए॥
तम के अञ्चल मे सोता क्यों,
आज यहा दिनमान ?
ज्ञान हमारा कहां लुप्त है,
विस्तृत क्यों अज्ञान ?
गहन तमिस्रा में खोया है,
भारत का अभिमान।
सत्य शिवम् सुन्दरता पूरित,
कहां गए प्रतिमान ?
बन करके आलोक पुञ्ज हम, जाग्रत ज्योति जगाए।
गहन तिमिर में भटक रही जगती को राह दिखाए॥
ऐसा दीप जले जिससे ना,
रहे तिमिर का लेश।
ज्योतिर्मय हो पूर्ण धरा यह,
प्रगटे ज्ञान दिनेश।
दम्भ द्वेष मिथ्या हिंसा का,
बचे नहीं अवशेष।
प्रेम दया ममता समता के,
खिलें प्रसून विशेष।
शांति सफलता स्मृति के संगीत मनुज सब गाएं।
गहन तिमिर में भटक रही जगती को राह दिखाए॥

—राधे श्याम 'आर्य' विद्यावाचस्पति
मुसाफिर खाना, सुलतानपुर (उ० प्र०)

वार्षिकोत्सव सम्पन्न

वार्षिकोत्सव आर्य समाज सरस्वती विहार का वार्षिकोत्सव ४ से १० अक्तूबर ९३ तक सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। प्रतिदिन प्रात काल श्री जयदेव आर्य के ब्रह्मत्व मे यज्ञ तथा उपदेश हुए। सायकाल भजन तथा वेदकथा का कार्यक्रम हुआ। महिला सम्मेलन ६ अक्तूबर को हुआ तथा ९ अक्तूबर को भव्य कवि सम्मेलन हुआ जिसके अध्यक्ष श्री उत्तम चन्द शरद थे। १० अक्तूबर को हिन्दी दिवस मनाया गया। श्री प्रेमचन्द श्रीधर डा० महेश विद्यालकार तथा डा० सत्यकाम वेदालकार 'मुख्य वक्ता थे।

—आर्य समाज निर्माण विहार दिल्ली ९२ का वार्षिक उत्सव रविवार ७ नवम्बर ९३ को सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। प्रात ८ से १० बजे तक यजुर्वेद महायज्ञ की पूर्णाहुति हुई जिसके ब्रह्म प० विश्वमित्र मेघावी थे। श्री गुलाब सिंह राघव के मनोहर भजन व आर्य जगत के प्रसिद्ध विद्वान डा० महेश विद्यालकार का वेदोपदेश हुआ। तत्पश्चात आर्य समाज के भूतपूर्व प्रधान श्री विशेश्वरनाथ शर्मा व भूतपूर्व मंत्री स्वर्गीय श्री प्रेम प्रकाश आर्य को उनकी विशिष्ट सेवाओं के लिए सम्मानित किया गया। सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती जी ने श्री आर्य के सुपुत्र श्री प्रवीण आर्य को शाल भेंट किया और आशिर्वाद दिया। स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती श्री सच्चिदानन्द शास्त्री श्री सूर्यदेव जी श्री विश्वमित्र मेघावी, श्री प्रेमचन्द श्रीधर, श्री विशम्भरनाथ भाटया ने 'धर्म और राजनीति' विषय पर प्रेरक विचार रखे। उनके उद्बोधन का मूल सार था कि धर्म राजनीति से अलग नहीं हो सकता।

उत्तरी दिल्ली वेद प्रचार मडल

नई दिल्ली। उत्तरी दिल्ली वेद प्रचार मडल के तत्वावधान में २८ नवम्बर को आर्य समाज आदर्श नगर, दिल्ली-३३ में महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्वाणोत्सव प्रात ८ ३० से १२ ३० बजे तक धूमधाम से मनाया जायेगा। कार्यक्रम की अध्यक्षता गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति डा० धर्मपाल करेंगे तथा दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव डा० वाचस्पति उपाध्याय डा० प्रेमचन्द श्रीधर आदि विशेष वक्ता ऋषि को श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे।

आर्य समाज हनुमान रोड का वार्षिकोत्सव

आर्य समाज हनुमान रोड का ७१वां वार्षिकोत्सव २९ नवम्बर से ५ दिसम्बर ९३ तक धूमधाम से मनाया जा रहा है। प्रात प्रतिदिन यजुर्वेद पारायण यज्ञ, तथा प्रात व साय डा० प्रेमचन्द श्रीधर के वेद प्रवचन होगे ३० नवम्बर को १२ से ४ ३० बजे तक महिला सम्मेलन ४ दिसम्बर को १० से १ बजे तक स्कूली बच्चो के लिए भाषण प्रतियोगिता तथा रात्रि ८ से ९ बजे तक स्वास्थ्य सम्मेलन होगा। ५ दिसम्बर को पूर्णाहुति व सस्कृति रक्षा सम्मेलन होगा। सभी सादर आमन्त्रित हैं।

आगामी कार्यक्रम

—२१ नवम्बर, ९३ महर्षि दयानन्द निर्वाण दिवस दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार मडल के तत्वावधान में आर्य समाज पूर्वी किदवई नगर में प्रात ८ से १ ३० बजे तक।

—२१ नवम्बर आर्य युवा सम्मेलन आर्य समाज मन्दिर मार्ग मे दोपहर २ ३० बजे से ५ बजे तक।

—२१ नवम्बर आर्य समाज मन्दिर मार्ग—वार्षिकोत्सव समापन कार्यक्रम प्रात १० से १ बजे तक।

—२८ नवम्बर महर्षि दयानन्द निर्वाणोत्सव उत्तरी दिल्ली वेद प्रचार मण्डल के तत्वावधान में आर्य समाज आदर्श नगर दिल्ली ३३ में प्रात ८ ३० से १२ ३० तक।

—२९ नवम्बर से ५ दिसम्बर ९३ आर्य समाज हनुमान रोड नई दिल्ली १ का ७१वा वार्षिकोत्सव।

वेद प्रचार सप्ताह

आर्य समाज बी-ब्लाक, जनकपुरी नई दिल्ली में वेद प्रचार सप्ताह ११ से १७ नवम्बर ९३ तक तपोपूत स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक के सान्निध्य में बड़ी धूमधाम से मनाया गया। अन्तिम दिन पूर्ण-आहुति के उपरांत डा० महेश जी विद्यालंकार एव आचार्य नरेन्द्र जी के प्रभावशाली उद्बोधन तथा स्वामी सत्यपति जी का प्रेरणादायक उपदेश एव आशीर्वाद मिला।

अपील

आर्य समाज, पालम कालोनी नई दिल्ली-४५ में यज्ञशाला, तीन कमरों व एक गेट के निर्माण तथा माइक की व्यवस्था के लिए लगभग दो लाख रुपये व्यय होंगे। ५०० रुपए से अधिक के दानी महानुभावों के नाम शिलालेख पर अंकित कराये जायेंगे। दानी महानुभाव उदारता से दान दें।

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R. N. No. 32387/77 Posted at N D P S O on 18 19-11-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/93

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (एल-११०२४/९१ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३

"आर्यसन्देश" साप्ताहिक २१ नवम्बर १९९३

आचार्य सुमन जी

(शेष पृष्ठ १ का)

करने के लिए हमे बीड़ा उठाना चाहिए और जहां तक आर्य समाज का प्रश्न है, वह इस कार्य मे पूरा पूरा सहयोग देगा।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री एवं गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति डा० धर्मपाल ने आचार्य सुमन जी को सादगी, सरलता, सच्चाई व विद्वता का प्रतीक बताते हुए श्रद्धासुमन अर्पित किये। उन्होने कहा कि आचार्य जी को अभिमान तो छू भी न पाया था। वे एक चलते-फिरते ज्ञान कोश और उन्होंने न केवल आर्य समाज, भारतीय संस्कृति की सेवा की थे अपितु हिन्दी साहित्य के सृजन में भी अद्वितीय योगदान दिया है।

सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री ब्रह्मदत्त स्नातक ने कहा कि सुमन जी सरल व सहज स्वभाव एवं अद्भुत स्मरण शक्ति के धनी थे। वे एक सच्चे मित्र एवं एक सच्चे स्वतन्त्रता सेनानी थे। ससार में जीना उसी का होता है, जिसकी कीर्ति हो और सुमन जी की कीर्ति सदैव रहेगी।

गुरुकुल ज्वालापुर स्नातक संघ की ओर से डा० महेन्द्र कुमार त्यागी ने कहा कि सुमन जी दृढ़ निश्चय के व्यक्ति थे और जो काम हाथ में लेते थे वह पूरा करके ही छोड़ते थे। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रो० डा० रूप किशोर शास्त्री ने कहा कि सुमन जी आर्य समाज की बहुमूल्य सम्पत्ति थे और उनका कार्य अनुकरणीय है। वे अपने कृतियों के कारण सदैव अमर रहेंगे।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठता स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती ने कहा कि आचार्य सुमन जी उच्चकोटि के साहित्यकार, कवि व लेखक थे जो अपने श्रेष्ठ कार्यों के लिए सदैव याद रहेंगे।

डा० इन्द्र सेंगर ने कहा कि आचार्य सुमन साहित्य यज्ञ को निरन्तर चलाते रहे और उस यज्ञ को पूर्ण करना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

आर्य जगत के सम्पादक श्री अशोक कौशिक ने आचार्य सुमन को भावांजलि अर्पित करते हुए कहा कि वे एक ऐसे महामानव थे जो सबका भला चाहते थे और सबको अच्छी राय देते थे। एक अद्भुत मार्ग दर्शक, महान स्वतन्त्रता सेनानी एवं आर्य सिद्धांतो के सच्चे पालक सुमन जी को कोटि-कोटि नमन।

अखिल भारतीय हिन्दी संस्थान के सचिव श्री जगदीश प्रसाद शर्मा ने कहा कि सुमन जी ने हिन्दी साहित्य व संस्कृति के लिए अद्वितीय कार्य किया है। उन्होंने दो सदर्भ ग्रन्थ लिखे हैं १५० से अधिक शोधार्थियों का मार्गदर्शन किया तथा अनेक स्मारिकाओ का सम्पादन किया था। उनके चले जाने से अपार क्षति हुयी है।

संगीताचार्य श्री गुलाब सिंह राघव ने कहा कि विलक्षण स्मरण शक्ति के धनी आचार्य जी हिन्दी के चलते फिरते कोश थे और उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि यही है कि दिवंगत हिन्दी सेवी ग्रन्थ माला का शेष कार्य भी पूरा किया जाये।

आर्य समाज हनुमान रोड, नई दिल्ली के धर्माचार्य डा० कर्णदेव शास्त्री ने कहा कि आचार्य जी एक महान लेखक व मनीषी थे। कश्मीर से पधारे श्री [illegible] लाल ने आचार्य जी को पूरे भारत की एक अमूल्य धरोहर बताया। श्री [illegible] आर्य जी ने सारा जीवन अत्यन्त परिश्रम पूर्वक जीया था और देश उनकी सेवाओं का आभारी रहेगा।

सेवा में—

२६३ श्री पुस्तकाध्यक्ष
पुस्तकालय गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ०प्र०)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन –३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एल ११०२४)–९३

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १७ अंक ४ रविवार, २८ नवम्बर १९९३ विक्रमी सम्वत् २०५० दयानन्दाब्द १६९ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९३

मूल्य एक प्रति ७५ पैसे वार्षिक — ३५ रुपये आजीवन ३५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष ३१०१५०

हजरत बल कांड

आतंकवादी तत्वों को सख्ती से कुचला जाये

—सूर्यदेव

नई दिल्ली, १८ नवम्बर। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने कहा कि सरकार को भविष्य में यह व्यवस्था सुनिश्चित करानी चाहिए कि भविष्य में कोई भी आतंकवादी या राष्ट्रीय तत्व किसी भी धार्मिक स्थल पर किसी भी प्रकार कब्जा न कर पाए और न ही वहां किसी प्रकार के हथियार या विस्फोटक सामग्री जमा की जा सके। श्री सूर्यदेव ने यह बात हजरत बल दरगाह मे छिपे १७ उग्रवादियो समेत ६५ लोगों द्वारा १६ नवम्बर को तड़के किए आत्मसमर्पण के संदर्भ मे कही। श्री सूर्यदेव ने आगे कहा कि इस प्रकार के काण्ड से देश की राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को खतरा पैदा हो जाता है और उग्रवादी तत्वो द्वारा इस प्रकार की कारवाईयां करके देश मे अशांति व धार्मिक उन्माद फैलाने की भी आशंका बनी रहती है साथ ही अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भारत की छवि धूमिल होती है। उन्होने कहा कि राष्ट्रीय सुरक्षा व अखण्डता को सुदृढ़ करने के लिए सरकार को ऐसे राष्ट्रीय तत्वो को शक्ति से कुचल देना चाहिए।

स्मरणीय है कि उग्रवादियो ने हजरत बल दरगाह मे लोगो को बंधक बनाए रखा। उन्होने यह कारवाई पाकिस्तानी गुप्तचर एजेन्सी आई०एस०आई० के षड्यन्त्र के अनुसार देश मे चुनाव के अवसर पर धार्मिक उन्माद फैलाने के इरादे से की थी। आत्मसमर्पण के बाद सेना द्वारा ली गयी तलाशी मे दस कलाश्निकोव राइफलें हल्की मशीनगनो, अत्याधुनिक दूरबीन, राकेट लांचर, एक संचार प्रणाली, भारी मात्रा मे गोला बारूद आदि बरामद किया गया। ४० उग्रवादियो में आठ भाड़े के आतंकवादी भी शामिल हैं।

उल्लेखनीय है कि सेना द्वारा घेराबन्दी एवं खाद्यान्न की आपूर्ति नियन्त्रित करने से उग्रवादियो का मनोबल टूट गया था। उच्चतम न्यायालय ने भी केवल बंधको को न्यूनतम भोजन पानी आदि देने के निर्देश दिए थे। सेना व सुरक्षाबलो ने बेहद धैर्य व संयम का परिचय देकर इस संकट का शांतिपूर्ण समाधान किया।

चतुर्थ विश्व हिन्दी सम्मेलन २ दिसम्बर को

सम्मेलन का उद्घाटन मारीशस के प्रधानमन्त्री करेंगे

नई दिल्ली। तीन दिवसीय चतुर्थ विश्व हिन्दी सम्मेलन २ दिसम्बर, ९३ से मारीशस मे शुरू हो रहा है। इसका उद्घाटन मारीशस के प्रधानमन्त्री श्री अनिरुद्ध जगन्नाथ करेंगे। इस सम्मेलन का आयोजन मारीशस कला संस्कृति मन्त्री मुकेश्वर चुनी की अध्यक्षता मे गठित एक समिति कर रही है। भारत सरकार इस सम्मेलन में एक प्रतिनिधि मण्डल भेज रही है। विश्व मे हिन्दी के विकास पर एक प्रदर्शनी का आयोजन भी भारत सरकार द्वारा किया जा रहा है।

पहला विश्व हिन्दी सम्मेलन १९७५ में भारत मे हुआ था और दूसरा सम्मेलन १९७६ में मारीशस मे सम्पन्न हुआ था। भारत में हुये तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का उद्घाटन तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया था।

इस सम्मेलन मे सर्वश्री विद्यानिवास मिश्र, डा० वेद प्रताप वैदिक, नरेन्द्र मोहन डा० कामता प्रसाद गुप्त, श्रीमती उर्मिला गुप्ता आदि एक शिष्टमण्डल में भारत की ओर से जा रहे हैं। १०० व्यक्तियो का शिष्टमण्डल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग परिषद् की ओर से भेजा जा रहा है। परिषद् ने कहा कि विश्व मे हिन्दी भाषा तथा साहित्य की उपलब्धियो की सम्भावनाओ पर विचार विमर्श करना एवं हिन्दी के प्रचार-प्रसार को प्रोत्साहित करना परिषद् का मुख्य लक्ष्य है। परिषद् के प्रवक्ता ने बताया कि सम्मेलन के बाद हिन्दी की प्रगति को संचालित किया जाना चाहिए इस के लिए एक स्थायी सचिवालय बनाये जाने की जरूरत है जिससे कि सम्मेलन के निर्णयों का अनुपालन हो सके।

प्रदर्शनी मे भारत के प्रमुख हिन्दी प्रकाशक अपनी पुस्तकें भेजेंगे। मोरिशस के लेखको के लिए भी एक विशेष कक्ष होगा। भारत सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् की ओर से सांस्कृतिक कार्यक्रमो के लिए कलाकारो का दल भी भेजा जा रहा है।

गोपाष्टमी पर कार्यक्रम

गाय को अच्छा चारा व दाना देकर सेवा की जाये

—स्वामी आनन्द बोध सरस्वती

नई दिल्ली, २४ नवम्बर। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने कहा कि गोरक्षा का मतलब केवल गाय को तिलक लगाना ही नहीं है बल्कि गाय की हर प्रकार सेवा करना भी है। स्वामी जी दिल्ली पिंजरापोल सोसायटी द्वारा किशनगंज मे गोशाला की सौवीं वर्षगांठ के अवसर पर बोल रहे थे। यह कार्यक्रम गोपाष्टमी पर आयोजित किया गया।

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने आगे कहा कि गोरक्षा के लिए गाय को बढ़िया चारा और दाना देना चाहिए। स्वामी जी ने यह भी बताया कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा इस वर्ष जो तीन मुख्य काम हाथ मे ले रही है उनमे गोरक्षा व गोहत्या बन्दी प्रमुख हैं।

पिंजरापोल गोशाला में संरक्षक, श्री प्रेमचन्द गुप्त ने गोशाला का वार्षिक विवरण प्रस्तुत किया।

सांसद श्री कालका दास ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि हिन्दू समाज गाय को अपनी माता मानता है। गऊ माता से दूध का ही नहीं बल्कि जीवन का रिश्ता होता है। गाय चाहे दूध दे या न दे वह हमारे लिए सदैव पूजनीय होती है और उसकी सेवा की जानी चाहिए। उन्होंने आगे कहा कि गोहत्या पर रोक लगाना देश के बहुसंख्यक लोगों की इच्छा का सम्मान करना है। इससे पूर्व लाला रोशन लाल अग्रवाल, श्री द्वारकादास रंगवाले राम भगत गुप्ता आदि ने अतिथियो का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया।

महर्षि को याद करने का तात्पर्य और तरीका(२)

हर्ष देव सिन्हा, डी-२/८४, जनकपुरी नई दिल्ली-५८

सत्य के ग्रहण करने तथा असत्य का त्याग करने मे ही महर्षि का विशेष आग्रह था। उनका विचार था कि यदि ससार के सभी विद्वान सत्य और असन्य का निणय करके सव मान्य सर्व तन्त्र सामाजिक धर्म को मान कर धार्मिक एक्य स्थापित कर ले तो ससार मे सभी मनुष्य सभी देशो मे सुख और शान्ति से रह सकेंगे। मानव एकता के लिए धम की एकता ही सबसे मजबूत आधार है और ऐसे धम की पालना से ही मानवीय सम्बन्ध सुखद हो सकत हैं। ऐसा केवल वेदो की शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। सत्याथ प्रकाश जैसे ग्रन्थ की रचना करने का उनका उद्देश्य ही यह था कि लोग आपसी विद्वेष त्याग कर सत्यासत्य का निणण करके धार्मिक क्या स्थापित कर सकें। सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका मे उन्होने लिखा है "इसीलिये विद्वान आप्तो का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यो के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दे, पश्चात वे स्वय अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द मे रहे।" उनके अनुसार "मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषो से सत्य को छोड असत्य मे झुक जाता है परन्तु इस ग्रन्थ के बनाने मे ऐसी बात नही रखी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है, किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें, क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।" वे आगे लिखते हैं 'यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान प्रत्येक मतो में हैं। वे पक्षपात छोड सर्व तन्त्र सिद्वात अर्थात जो बातें सबके अनुकूल सबमे सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्ते वर्त्तावें तो जगत का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानो के विरोध से अविद्वानो मे विरोध बढ़कर अनेक विधि दु:ख की वृद्धि और सुख की हानि होती है।" सत्याथ प्रकाश के दशम समुल्लास के अन्त मे वे लिखते हैं 'सब विद्वानो को विचार कर विरोधभाव छोड़कर अविरुद्ध मत के स्वीकार से सब मिलकर सबके आनन्द को बढावें।" "विद्वानो का यही काम है कि सत्यासत्य का निणय करके, सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं।"

सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास की अनुभूमिका मे उन्होने लिखा है 'जब तक मनुष्य जाति मे परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा तब तक अन्यो अन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नही है।" "यह निश्चय है कि इन विद्वानो के विरोध ही ने सबको विरोध जाल मे फसा रखा है। यदि यह लोग प्रयोजन मे न फसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें तो अभी एक्यमत हो जायें।"

बारहवें समुल्लास की अनुभूमिका मे वे पुन लिखते हैं 'जब विद्वान लोगो मे सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानो को महाअन्धकार मे पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद व लेख करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषि का चिन्तन किसी वर्ग विशेष के लिए न होकर समूची मनुष्य जाति के कल्याण के लिए था। इसीलिए वे धार्मिक एकता के लिए प्रयत्नशील रहे। इतिहास मे मुगल सम्राट अकबर ने भी एक नया धर्म 'दीने इलाही' इसी भावना से चलाया था परन्तु उस धर्म को हिन्दुओ और मुसलमानों ने स्वीकार नहीं किया और यह प्रयत्न असफल रहा। इसके पश्चत केवल महर्षि दयानन्द ही ऐसे व्यक्ति हुये हैं जिन्होने धार्मिक एकता की आवश्यकता को अनुभव किया और जनवरी १८७७ मे महारानी विक्टोरिया के सम्राज्ञी घोषित होने के अवसर पर हुये दिल्ली दरबार से पहले उन्होंने एक एकता सम्मेलन आयोजित किया था जिसमे उन्होंने सभी देशी राजा महाराजाओ तथा विभिन्न धर्मों के नेताओं को एकत्रित करने का प्रयत्न किया था। कोई राजा, महाराजा तो आया नहीं किन्तु ब्रह्म समाज के सूत्रधार बाबू केशवचन्द सेन, बाबू नवीन चन्द्र राय, मुस्लिम सुधारवादी नेता सर सैय्यद अहमद खा, हिन्दुओ के नेता बाबू हरीशचन्द्र चिन्तामणि, कन्हैलाल अलखधारी, मु शी इन्द्रमणि आदि महानुभाव उपस्थित हुए थे और सभी ने धार्मिक एक्य की आवश्यकता को माना। महर्षि ने कम काण्ड और उपासना विधि सम्बन्धी भेदभाव भुलाकर सर्वमान्य सिद्धातो के आधार पर एक धर्म के प्रचार के लिए आह्वान किया और वेदों को इसका आधार बताया। यह प्रयत्न भी कुछ प्रभावी सिद्ध न हो सका क्योंकि प्रथम तो ऋषि को इस विषय मे आगे प्रयत्न करने का अवसर ही नही मिला और दूसरे उस समय सबको वेदों को धर्म का आधार मानना स्वीकार्य नहीं था। उस समय तक वेदो को सवमान्य सिद्ध करने के लिए साहित्य भी उपलब्ध नही था। वेदों का यथाथ न जानने के कारण एकदम वेदो को स्वीकार करना सम्भव नहीं था। यदि महर्षि कुछ वर्ष और जीवित रहते तो ऐसा प्रयत्न अवश्य फिर करते क्योंकि उनके जीवन का यही सबसे मुख्य अभीष्ट था।

समाज सुधार के क्षेत्र मे महर्षि को अधिक स्वीकार किया गया यद्यपि यह उनकी विशेषता नहीं कही जा सकती। उनसे पहले ही राजा राम मोहन राय तथा उनके समकालीन बाबू केशव चन्द्र सेन, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, महाराष्ट्र मे महात्मा फुले, महादेव गोविन्द रानाडे, डा० आत्माराम पाण्डुरग, रामकृष्ण गोपाल भडारकर, श्री अगर कर इत्यादि ने भी समाज सुधार के क्षेत्र मे अच्छा काम किया। इन सभी ने जाति प्रथा, सती प्रथा बाल विवाह तथा अनेको सामाजिक कुरीतियो का विरोध किया तथा स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। महर्षि के बाद दो अन्य ऐसे व्यक्ति हुये हैं जिन्होने भारतीय जन मानस को प्रभावित किया। यह हैं स्वामी विवेकानन्द तथा मोहनदास करमचन्द गाधी जिन्हे हम महात्मा गाधी के नाम से अधिक जानते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने सितम्बर १८९३ मे अमरीका के शिकागो नगर मे हुये विश्व-धर्म सम्मेलन में हिन्दू दर्शन एव सस्कृति का शखनाद करके सारे विश्व में अपनी धाक जमाई थी। उनके सन्देश का आधार उपनिषद थे जिन्हें उन्होंने वेदान्त की सज्ञा दी। ईश्वर की एकता के आधार पर उन्होंने सारी मनुष्य जाति को एक हो जाने का सन्देश दिया तथा भारत वर्ष के युवको को विज्ञान और आध्यात्म के सहारे देश को उन्नति के शिखर पर ले जाने की प्रेरणा दी। उनके द्वारा स्थापित रामाकृष्ण मिशन आज भी देश विदेश मे अपनी समाज सेवा, विद्या प्रचार और आत्मनिष्ठा के लिए विख्यात है। महात्मा गाधी के धार्मिक विचारो का आधार गीता और रामायण थीं। सत्य और अहिंसा को वह सर्वोपरि मानते थे। उनका विशेष प्रयत्न हिन्दू मुस्लिम एकता का था। छुआछूत के विरोधी थे तथा स्त्रियो की दशा सुधारने के हामी थे। वास्तव में उनके समाज सुधार के कार्यक्रम वही थे जिन पर महर्षि ने अपने जीवन मे कार्य किया था। यह दोनो ही व्यक्ति धर्म को मानव जाति की सारी गतिविधियो को नियन्त्रित करने का साधन मानते थे तथा धर्म निरपेक्षता के सिद्धात को नहीं मानते थे।

(क्रमश)

आर्य समाज को जनता दल मत बनाइयें

शशिकांत आर्य, ४-५-७५३, सुल्तान बाजार हैदराबाद-२७

पिछले दिनो २९, अगस्त १९९३ को कथित रूप से नई दिल्ली मे "नयी" समानान्तर सावदेशिक सभा के गठन की घोषणा हुई है। कुछ पत्र-पत्रिकाओ ने सुनियोजित ढग से इसका प्रचार अभियान भी छेड दिया है। क्या एक झूठ भी बार बार दोहराने से सच मे बदल सकता है ?

प्रकाशित समाचारो को पढकर और उपलब्ध सूचनाओ से खिन्नता कम वेदना और क्षोभ का अनुभव अधिक होता है। इन दिनो तथाकथित आर्य नेता अपने अपने ढंग से आय समाज की जड खोदने मे मशगूल हैं। राजनैतिक पृष्ठ-भूमि और महत्वाकांक्षा के चलते ये आय समाज आन्दोलन को दिग्भ्रमित करना चाहते हैं। ये विज्ञ नही जानते कि उनके कारनामे सम्पूर्ण मानवता का कितना अहित करेंगे। इन तथाकथित ख्याति-प्राप्त नेताओ से एक ही निवेदन है कि वे अपनी महत्वाकांक्षा की खातिर आय समाज जैसे मानवतावादी कल्याणकारी आन्दोलन को गहिंत न करें।

आय समाज कोई राजनैतिक मच अथवा सस्था नही है। अत इसमे राजनीति खेलने वालो के लिए कोई स्थान नही रहना चाहिए। ऐसे व्यक्तियो का जो आर्य समाज के नाम और मच का दुरुपयोग अपने निजी स्वार्थ के लिए करते हैं उनका न केवल बहिष्कार हो बल्कि उन्हे सावजनिक निन्दा से तिरस्कृत किया जाना चाहिए।

भारत के एक राजनैतिक दल 'जनता दल' की दल दल इतिहास का काला दस्तावेज है। उसकी पहचान ही व्यक्तिगत अहं+स्वार्थ+महत्वाकांक्षा के चलते हुए नेता द्वारा सुविधानुसार जब मन मे आया अपने नाम से नया जनता दल बना लेने की अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है। शायद इस अभिशाप का कारण उसका अन्य दलो से पृथक हुए गुटो के घालमेल से बना होना ही होगा। (अ) जनता दल (अजीत), (ब) जनता दल (बोम्बई), (स) जनता दल (समाजवादी), (द) जनता दल (दिग्विजय) आदि आदि। मौका देखकर कभी दुबारा आपस मे मिल भी जाते हैं या कभी अन्य पार्टियो मे घुस जाते हैं। विभीषण, जयचन्द, दुर्योधन के कलि अवतार धर्म ध्वजी सामाजिक न्याय का ढोल पीटते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने व्यथित होकर ऐसे ही तत्वो के लिए जो समाज को विखडित करते हुए परस्पर कलह-कटुता के बीज बोते रहते हैं उन्हे ही दुर्योधनी वृत्ति कहा है। महर्षि के इस कथन मे इस आत्मघाती प्रवृत्ति के प्रति उनकी गहरी अन्तर्वेदना प्रकट होती है।

अब इसी जनता दल के कुछ लोग वही खेल आर्यसमाज मे खेलना चाहते हैं। श्री कैलाशनाथ सिंह और उनकी मण्डली जनता दल अजित गुट) से सक्रियता से जुडी हुई है। स्वामी अग्निवेश जी कभी श्री चन्द्रशेखर के विरुद्ध अध्यक्ष का चुनाव लडकर और पिछली बार जनता दल के उम्मीदवार के रूप मे भोपाल से लोक सभा का चुनाव लड चुके है। स्वामी इन्द्रवेश जी, चौधरी चरणसिंह के साथ सासद रह चुके हैं। इनके साथ एक और राजनीति के खिलाडी योगिराज आचार्य भगवान देव भी अपने निजी लाभ के लिए आ जुडे हैं। ये चौकडी अब आर्य समाज को सलीब पर चढा कर बाटना चाहती है। अपने नेता अजीत सिंह के नक्शे कदम पर प्रो० कैलाशनाथ सिंह अब सावदेशिक सभा (कैलाशनाथ) बनाना चाहते हैं कि न तो आर्य समाज और न ही सावदेशिक सभा जनता दल है आर्य जनता इन हुतकडो से खूब परिचित है और इन कथित नेताओ के इतिहास और कृत्यो को खूब जानती है।

यदि "राजधर्म" के अगस्त ९३ के मुख पृष्ठ पर प्रकाशित समाचार को प्रमाणिक माना जाए तो इस नव गठित कथित सावदेशिक सभा के निर्माताओ की बचकानी बालबुद्धि पर हसी आती है। कुछ यक्ष प्रश्न हैं जो उन निर्माताओ से पूछना चाहते हैं, जो अपने को स्वयम् संयुक्त राष्ट्रीय (सावदेशिक) नेता घोषित कर रहे हैं--

१—क्या विभिन्न स्थानो से आए दुछेक नामधारी आर्य और कथित आर्य समाजी एक बैठक मे कई दशको से प्रतिष्ठित आर्य समाज की शिरोमणि संस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के समानान्तर सगठन, वह भी उसी नाम से बनाने के लिए नैतिक और कानूनी रूप से सक्षम है ? सावजनिक जीवन मे आचरणहीन मर्यादाहीन और अनैतिक नहीं होना चाहिए।

२—क्या भारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे प्रायोजित २९ अगस्त ९३ की बैठक की विषय सूची मे समानान्तर सावदेशिक सभा के गठन का विषय विचारणीय था ? क्या यह विषय उसके कार्यक्षेत्र में आता है ?

३—क्या कथित नवगठित सावदेशिक सभा के अधिकारियो के निर्वाचन का विषय भी उक्त बैठक को विचारणीय विषय सूची मे सम्मिलित था ?

४—क्या कथित नवगठित सावदेशिक सभा के लिए नियम-उपनियम-विधान भी बनाये गये या स्वीकृत किये गये हैं ?

(सम्भवत भारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा का स्वय का कोई विधान नियम-उपनियमावली भी अभी तक नही है।)

५—सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा एक पंजीकृत और आर्य समाज सगठन की शिरोमणि प्रतिनिधि सभा है जिसकी स्थापना यशस्वी तपस्वी, मनस्वी आर्य मनीषी सन्यासियो, विद्वानो और नेताओ ने की थी। क्या अन्य कुछ व्यक्तियो का झुड इस नाम का प्रयोग दुरुपयोग किस अधिकार से कर सकता है ?

६—उक्त बैठक मे भाग लेने वाले व्यक्ति क्या आर्य समाज के सगठन से जुडे हुए हैं और कोई पदाधिकारी है ? यदि हा तो क्या वे और उनका सगठन स्वय को सावदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से असम्बद्ध पृथक मानता है ? क्या उनके सगठन ने उन्हे इस प्रकार के कार्य करने के लिए प्राधिकृत किया है ?

७—क्या यह सार्वदेशिक आय प्रतिनिधि सभा से सवैधानिक ढग से पृथक होकर असन्तुष्टो द्वारा बनाया गया है अथवा आर्य समाज से निष्काषित व्यक्तियो ने मिलकर नयी सस्था गठित की है ? क्या इसके लिए इस सम्बन्ध मे औपचारिकताए भी अमल की गयी हैं ?

(आय समाज से निष्कासित और असन्तुष्ट तत्वो का प्रलाप ही नयी सस्था-सगठन की स्थापना घोषणा के लिए कोई आधार नही होता।)

(८) क्या उक्त बैठक की प्रायोजक भारतीय आय प्रतिनिधि सभा ही कथित नवगठित सार्वदेशिक सभा की एकमात्र देशीय सम्बद्ध सस्था होगी अथवा भारत या आय प्रतिनिधि सभा के अन्तगत प्रायोजित जेबी सार्वदेशिक सभा ?

९—क्या कथित नव गठित सार्वदेशिक सभा आय प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की सहायक सस्था होगी ? क्या आय प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश भारतीय आय प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध हो चुकी है अथवा नही ?

१०—भारतीय आय प्रतिनिधि सभा से भारत की कितनी प्रातीय सभाए अथवा आय समाज इकाइया सम्बद्ध हुई हैं ? क्या वे उनकी सूची प्रकाशित करने का साहस दिखला सकेंगे। कम से कम वे अपने उन सदस्यो की सूची सावजनिक करें जो आय समाज के विधिवत सदस्य है और किस आय समाज इकाई से नियमित सदस्य है ? वह आय समाज ईकाई कब गठित हुई ? कितना सदस्यता शुल्क वे देते हैं तथा कितने साप्ताहिक सत्सगो मे वे औसतन प्रतिवर्ष सम्मिलित होते हैं ?

११—इस कथित नवगठित सावदेशिक सभा की घोषणा पर कितने हस्ताक्षर हैं, किसके हैं और कितने असली-नकली हैं ? क्या घोषणा करने वाले ये सकल्प ले सकते हैं कि वे सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा दयानन्द भवन, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-२ से कोई सम्बन्ध भविष्य मे नही रखेंगे, न ही उसके प्रतिनिधि बनेंगे और न ही उसके मतदाता बनने न्यायालय मे मुकदमा दाखिल करेगे ?

१२—क्या कथित नवगठित सावदेशिक सभा के नेता जातिवादी राजनीति छोडने को तैयार हैं ? आय समाज जातिवाद विरोधी सगठन है। क्या कथित नवगठित सावदेशिक सभा के प्रथम निर्वाचित अध्यक्ष श्री कैलाशनाथ सिंह निजी और सार्वजनिक जीवन मे अपने नाम के साथ जातिवाचक उपनाम "यादव" लगाना छोडने की घोषणा कर जातिवादी राजनीति न करने का साहस दिखलायेंगे ? क्या आचार्य भगवान देव योगिराज अपने को सिन्धी रत्न से विभूषित करना बन्द कर सकेंगे।

१३—क्या श्री कैलाशनाथ सिंह कथित नवगठित सावदेशिक सभा के प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित होने के बाद आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रधान पद से त्याग पत्र दे देंगे अथवा दोनो पदो पर एक साथ बने रह कर सावदेशिक सभा प्रधान की गरिमा कम करके और आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रातीय सभा प्रधान की प्रतिष्ठा बढाकर नयी मिसाल और परम्परा कायम करेंगे ?

१४—क्या एक प्रातीय संस्था आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का प्रधान, एक राष्ट्रीय सस्था भारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान से अधिक वरिष्ठ, योग्य, सेवाभावी तथा सम्माननीय है ? तभी तो उसे तथाकथित सार्वदेशिक सभा

(शेष पृष्ठ ५ पर)

आदर्श त्रैतवाद (५०)

राजसिंह भल्ला

द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सह स्थितौ ।
तयोर्जीव फल भुक्ते कर्मणो न महेश्वर ॥
केवल साक्षीरूपेण बिना भोगो महेश्वर ॥। अन्नपूर्णो ४-३२

मनुष्य के शरीर मे अत्यन्त शोभायमान जीवात्मा और ईश्वर हृदय प्रदेश मे साथ मिलकर विद्यमान हैं। इन दोनो मे जीवात्मा ही कर्मफल का भोग करता है ईश्वर नही, केवल साक्षी रूप होकर बिना किसी प्रकार के भोग वह महेश्वर निवास करता है।

एतज्ज्ञेय नित्यमेवात्मसस्थ नात पर वेदितव्य हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्य प्रेरितार च मत्वा सव प्रोक्त त्रिविध ब्रह्मतत् ॥
श्वेता० १-१२

वह आवनाशी परमेश्वर आत्मा मे स्थित हो जानने योग्य है। परमेश्वर को अन्तर्मुख होकर ही जानना चाहिए। निश्चय इसके अनन्तर जानने योग्य अन्य कुछ भी नहीं है। भोक्ता—जीवात्मा, भोग्य को—प्रकृति को और सब के प्रेरक ईश्वर को जानकर मुक्त हो जाता है। यह सब तीन प्रकार का ब्रह्म कहा है। आत्मा, परमात्मा और प्रकृति तीनो को ब्रह्म कहा गया है।

अजामेका लोहित शुक्ल कृष्णा बह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य ॥
श्वेता० ४ ५

सृष्टि मे आकार व रूप वाली बहुत प्रजा रचती हुई, रक्त वर्ण, श्वेत बर्ण, कृष्ण वर्ण एक प्रकृति को एक अनादि जीवात्मा सेवन करता हुआ अधिकार मे करता है। उस मे बस जाता है अथवा सो जाता है, लिप्त हो जाता है तथा दूसरा अजन्मा भगवान जीवात्मा द्वारा भोगी हुई इस प्रकृति को त्याग देता है—वह इसमे लिप्त नहीं होता।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृ भोगार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रय यदा विन्दते ब्रह्मतत् ॥
श्वेता० १-९

ईश्वर अनीश्वर—परमात्मा तथा जीवात्मा दोनो अजन्मा हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है जीवात्मा अल्पज्ञ है। निश्चय एक मूल प्रकृति भी अनुत्पन्ना है—अनादि है और भोक्ता के भोग के अथ मे है। भोक्ता के लिए है और अन त स्वरूप भगवान विश्वरूप है। विश्व को रचता है, परन्तु स्वरूप से अकर्ता है। जो मनुष्य इस लय को प्राप्त करता—इन तीनो को पृथक-पृथक जानता है तब ब्रह्म पद को प्राप्त कर लेता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ॥ मुण्डको० ३ १ १

अगिरा ऋषि उपासना का वर्णन करने के अनन्तर उपास्य उपासक का सम्बन्ध बताया कि, दो सुपर्ण—पक्षी हैं। वे परस्पर घनिष्ट प्रेम से मिले हुए सखा हैं और एक ही समान वृक्ष पर बैठे हुए हैं। उनमे एक जीवात्मा उस प्रकृति रूप पेड के स्वादु फल को खाता हुआ केवल साक्षी रूप मे देखता है। प्रकृति महा वृक्ष है। इस पर भगवान और जीवात्मा दोनो आरूढ़ है। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध स्वाभाविक और सनातन है तथा यह सम्बन्ध सखावत् है। भेद केवल इतना है कि जीवात्मा प्रकृति के अनुकूल फलो को भोगता है जिससे वह दु खी हो जाता है और परमात्मा केवल साक्षी बना रहता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।
जुष्टा यदा पश्यत्य न्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोक ॥
मुण्डको० ३-१-२

उसी एक पेड़ पर पुरुष—जीवात्मा भोगो मे निमग्न—कर्म में बधा जाकर अपनी असमर्थता से मोह मे पड़ा शोक करता है। जब दूसरे—अपने से भिन्न ईश्वर को अपना सखा देखता है और उसकी अपार दया आदि महिमा को जानता है तो शोक रहित हो जाता है। दोनो मे अल्पज्ञ और सवज्ञ होने का भेद है।

क्रमश

स्वास्थ्य सुधा

घरेलू उपचार (१९)

नेतराम शर्मा, प्रधान—भारतीय योग सस्थान पूर्वी जिला दिल्ली ११००५१

आधुनिक युग मे देखने मे आया है कि कोई न कोई परिवार सदस्य किसी न किसी बीमारी से ग्रस्त है। हजारो रुपये खच करने से भी ठीक नहीं हो पाते। धनी लोग तो बडे से बडे डा० का इलाज करा सकते हैं, परन्तु निधन लोगो को आजकल के खर्चीले युग मे इलाज कराना कठिन ही नहीं परन्तु असम्भव सा हो गया है। अत मैं अपना परम कर्तव्य समझता हू कि भारतीय योग सस्थान के माध्यम से आपकी अधिक से अधिक सेवा कर सकू ।

(१) छाले—

क जीभ पर छाले हो गये हो तो सूखा धनिया गर्म पानी मे डालकर उबाल लें व ठडा हो जाने पर बिना छाने इस पानी से कुल्ले करें। दो-तीन बार के प्रयोग से छाले जाते रहेंगे।

ख साबुत धनिया धीरे-धीरे चूसने से भी छालो मे सुधार होता है। तरबूजे के छिलके की राख मलने से छाले दूर हो जाते हैं।

(२) थकान —

क बहुत थकावट महसूस हो रही हो तो गुनगुने पानी मे एक गिलास मे दो चम्मच शहद डाल पी लें। यह ग्लूकोस का काम करेगा।

ख गुनगुने पानी में शहद मिलाकर पीने से थकान दूर होती है।

ग पैरो मे थकान दूर करने के लिए उन्हें नमक मिले गुनगुने पानी मे कुछ देर डुबोकर बैठ जाए।

(३) हल्दी, सधा नमक व सरसो का तेल मिलाकर दातो मे मजन की तरह रगडने से पायरिया व अन्य शिकायतें धीरे धीरे दूर हो जाती हैं।

(४) खासी—

क खासी हो तो अदरक, शहद समान मात्रा में मिलाकर लें।

ख खासी हो तो आधा किलो पानी मे चार चम्मच सौंफ उबाल लें। जब आधा पानी रह जाये तो उसमे दो चम्मच शहद मिलाकर रोगी को चटायें, खांसी न रहेगी।

ग शहद मे मुलहटी का चूर्ण मिलाकर चटाने से खासी मे सुधार होता है।

घ सब प्रकार की खासी पर—छोटी पीपल, आमला, सोठ बराबर बराबर लेकर कूट कर शहद मिला गोली बना चूसने से सब प्रकार की खासी दूर हो जाती है।

ङ सूखी खासी मे मुलहटी का सत मुख मे डाल कर कुछ देर रखें, अथवा बादाम गिरी पानी मे घिस कर चटायें।

(५) मोटापा—

क मोटापा कम करना हो तो सुबह गुनगुने पानी मे एक नींबू लें।

ख मोटापा घटाने के लिए प्रात काल निराहार पानी मे शहद मिलाकर पानी उपयोगी रहता है।

बालो की खुश्की एव झड़ना—

क नारियल के तेल मे कपूर मिलाकर बालो मे नियमित लगाने से खुश्की दूर होती है। बाल काले व चमकीले बनते हैं।

ख बालों मे प्याज का रस मलने से अक्सर बालो का झड़ना रुक जाता है।

(७) सफेद बाल काले हो जाना—

आमले को नींबू के रस में बारीक पीसकर सिर में लेप करने से सफेद बाल काले हो जाते हैं।

(८) गजापन—

क यदि आप गजेपन से दुखी हैं तो बरगद के पत्तो को अलसी के तेल में भून लें और सुबह-शाम इस तेल की मालिश हल्के हाथो से सिर पर करें, बाल उगने लगेंगे।

ख हाथी दात की भस्म रसोत में मिला बकरी के दूध में मिलाकर सिर पर लगाने से कुछ दिन में बाल उगने लगेंगे।

क्रमश

आर्यसमाज को जनता दल मत बनाइये

(पष्ठ ३ शेष का)

(अन्तर्राष्ट्रीय सस्था) का प्रथम अध्यक्ष सर्व सम्मति से निर्वाचित घोषित कर सम्मान दिया गया है ?

१५ नवगठित कथित सगठन अन्य मा य कायरत प्रतिष्ठित सगठन के विधिवत निर्वाचित पदाधिकारी को निष्कासित किस अधिकार से कर सकता है ? असंवैधानिक ढग से गठित कथित सगठन अन्य सस्था के कार्यालय और सम्पत्ति पर किस प्रकार काबिज होने का अधिकारी है और किस आधार पर इस तरह का दावा कर सकता है ? नवगठित और समानान्तर सगठन दोनो मे अन्तर है । पहले अपने मस्तिष्क मे भ्रम सन्देह उलझन और भ्रान्ति को दूरकर किसी निश्चय पर पहुच कर घोषणा करनी चाहिए नाहक ही अन्यो को भी भ्रमित कर उन्हे हास्यास्पद स्थिति मे मत डालिए ।

अन्त मे हम इन नाराज नेताओ से निवेदन करते हैं कि वे चाहे जितनी यात्राए निकाल मोर्चा बनाए धरने दे जलसे आन्दोलन करें जुलूस निकालें चुनाव लड विधायक सासद मन्त्री मुख्यमन्त्री प्रधानमन्त्री राज्यपाल राष्ट्रपति चाहे जो बनना चाहे बन जाए जो बन कर धर पर इसके लिए जोड़ तोड का माध्यम आर्य समाज को हरगिज न बनाए । वे चाहे तो अपनी अलग सस्थाए बना लें परन्तु अब सार्वदेशिक सभा के नाम पर तो दुकानदारी न करे । भारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा को ही गम्भीरता से ईमानदारी से परिश्रम पूवक ठीक ठाक चलाए और विश्वसनीयता स्थापित करे । यही बहुत है परन्तु समानान्तर सगठन बना कर आर्य समाज रूपी वृक्ष पर अमर बेल न चढाए । हो सकता है इन लोगो को शिकायत हो शिकवे हो यह भी हो सकता है कि वे वास्तविक और कुछ हद तक सही भी हो पर उसका सही इलाज यह नही कि रोगी ही मर जाए । समानान्तर सार्वदेशिक सभा के गठन की घोषणा जैसा अपरिपक्व बचकानी हरकतो से अन्तत सार्वदेशिक शब्द का ही अवमूल्यन होगा आर्य समाज के सगठन की शिरोमणि सभा की प्रतिष्ठा आहत कर उसका मजाक बनाना अन्तत आर्य समाज के सगठन और आन्दोलन को महत्वहीन और धीमा बनाने मे सहायक होगा आर्यों के कार्य और व्यवहार इस प्रकार के होने चाहिए जिससे महर्षि दयानन्द सरस्वती के द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज को किसी प्रकार प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से हानि चोट न पहुचे क्योंकि महर्षि का अनन्य अनगनित उपकार जाति पर विशेषकर उनके अनुयाईयो हम आर्यों पर ऋण रूप मे है यदि महर्षि के प्रति इन लोगो मे थोडी भी सच्ची श्रद्धा आदर विश्वास का लेश भी शेष हो तो उक्त स्वयम् नेताओ को अपनी कारस्तानी पर सार्वजनिक पश्चाताप करना चाहिए । आर्य जनता सहिष्णु और दयालु है वह इन्हे क्षमा कर देगी अन्यथा आर्य जन ही नही अपितु इतिहास भी इन्हें न केवल धिक्कारेगा बल्कि कभी माफ नही करेगा ।

क्या मतभेद असहमति विरोध होने पर समानान्तर सगठन सस्था और निष्कासन ही एकमात्र विकल्प है । मान्यता सबद्धता के माया मोह लाभ मे मत आइये । अधिकार पद लोकैषणा वित्तैषणा के लिए तो राजनीति ही पर्याप्त है फिर आर्य समाज पर गिद्ध दृष्टि क्यो ? क्या राजनैतिक प्रचार से भी अधिक आर्यसमाज के पद प्रिय हैं यदि हा तो राजनीति छोड आर्य समाज के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाईये तो आर्य जन आपको पद देकर सरमाथे पर बिठा ले सकते हैं तब स्वयमू पद हथियाने की नौबत नही आयेगी यदि आप काम करना चाहते हैं तो किसने रोका है किसको ? जहा जैसे हैं उसी कर्म क्षेत्र मे आर्य समाज की विचारधारा का पोषण यथा सामर्थ्य कीजिए । निष्ठापूर्वक सेवा से श्रमसाध्य कार्य भी सधता है । नये समानान्तर सगठन मे लगने वाले साधन परिश्रम को आर्य समाज के सृजनात्मक रचनात्मक प्रचार कार्यों मे लगाइये । सहयोग प्रीति और मित्रता से सगठन सुदृढ बनता है समानान्तर सगठन बनाने से कटुता वैमनस्यता कलह मे क्षीण होता है । श्री प्रकाशवीर शास्त्री जैसे ओजस्वी व्यक्तित्व कर्मठ नेता ने भी निराशा की कुण्ठा मे एक बार समानान्तर सार्वदेशिक सभा गठित की थी जो कि कुछक वर्षों तक अस्तित्व मे रही । परन्तु अन्तत होकर उसकी निरर्थकता अनुपादेयता समझ कर उन्होंने कालान्तर मे उसे भग कर दिया था कितना श्रम साधन प्रतिभा व्यर्थ अपव्यय हुई । क्या यह चौकडी जिनकी आस्थाए उद्देश्य विचार भिन्न भिन्न हैं मिलकर कुछ अधिक कर सकेंगे ? क्या ये श्री प्रकाशवीर शास्त्री से अधिक सक्षम योग्य नेतृत्वशील जन प्रिय जनाधार वाले सगठनकर्ता हैं ?

आखिर मतभेद होने पर नया सगठन समानान्तर सगठन निष्कासन वेदी बन्द करना आदि किसका पुराना खेल ये लोग खेलना चाहते हैं ? जिस कार्यशैली नीति का विरोध मे कुछ करने की बात उसी का अनुसरण विरोध है या उसकी मान्यता ? इस प्रकार के कृत्यो से कौन सही ठहरेगा ? जब प्रातीय स्तर पर समानान्तर सगठनों से आर्यसमाज आन्दोलन धीमा निस्तेज अकर्मण्य हो गया हो तब सार्वदेशिक स्तर पर समानान्तर सगठन बनाना आर्य समाज की कब्र खोदने जैसा कृत्य है । द्वेष से क्रोध होता है और क्रोध से विवेक नही रहता । परन्तु विवेकशील सुधिजन दीर्घकालिक हित अहित सोचकर धैर्य पूर्वक कोई कार्य करते हैं । बलपूर्वक कार्यालय हथियाने और किसी को धकियाने की खुली धमकी से कौन से तत्व बल पाते हैं कौन सा रूप कौन सी थाती आर्य समाज की बनती है ?

यदि कोई सगठन मे रहता है तो उसके अनुशासन नियम को मानना चाहिए और नहीं तो फिर शिकायत किस लिए किससे और क्यो ? क्या एक दो व्यक्तियो स्वामी आनन्दबोध और श्री रामचन्द्र राव वन्देमातरम के लिए आर्य समाज के शिरोमणि सगठन सस्था सार्वदेशिक सभा को नेस्तनाबूद करने की योजना बनाना उनकी गलतियो से भी बड़ा अपराध होगा ।

उत्तर प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश की प्रातीय सभाओ की आतरिक गुट बाजी, राजनीति कलह और मुकदमेबाजी की लड़ाई क्या सार्वदेशिक स्तर पर परस्पर निम्न स्तरीय आरोप प्रत्यारोप वैमस्यता की कीचड़ उछाल कर समानान्तर सगठन जैसे निन्दनीय हेय कृत्यो से लडा जाना किसके हित मे होगा ? न्यायालय की लडाई जीतना हमेशा वास्तविक बहुमत का प्रतिनिधित्व और सत्य हित नही होता । आचार्य भगवान देव 'योगिराज' हैदराबाद के मानहानि मुकदमे मे उलझ थक हार कर इस षडयन्त्र मे शामिल हैं । वेश सन्यासी अपनी राजनीतिक महत्वाकाक्षा के लिए लाभ कारी समझ कर पुन आर्य समाज मे घुसपैठ करने को आतुर हैं । १९९० मे माव लकर हाल नई दिल्ली मे भारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के स्थापना सम्मेलन में उनकी घोषणा—कि यह समानान्तर सगठन विद्रोही मच नही बनेगा सार्वदेशिक सभा से प्रतिद्वन्द्विता नहीं रखेगा विरोधी मच नही बनेगा उसी प्रकार धूल धूसरित हुई जिस प्रकार वेश सन्यासियो की दलीय राजनीति से सन्यास और चुनाव न लड़ने के सकल्प की घोषणा ।

इस प्रकार आर्य समाज सगठन से निष्कासित व्यक्तियो ने समूह झुण्ड बना कर कथित सार्वदेशिक सभा के नवगठन की घोषणा की है उसमे व्यक्ति से लेकर कार्यविधि तक की विश्वसनीयता सदिग्ध है । यह आतकवादी विद्रोहियो की समानान्तर सरकार की घोषणा की तरह है और इसका भी उसी तरह का हश्र सुनिश्चित है । बात चिन्ता की नही क्षोभ और वेदना की है ।

जीवन-सार-संस्कार

श्री देवनारायण भारद्वाज

भारत मूल के अमरीकी नागरिक डा० हरगोविन्द खुराना ने मानव समुदाय में भी यह वाहकाणु (जीन्स) प्रत्यारोपण का काय करके दिखा दिया है। प्रयोग शाला की परखनली मे ऐसे भ्रूण को विकसित करके स्त्री के गर्भतन्त्र मे स्थापित करने तथा स्वस्थ बालक के जन्म देने मे सफलता प्राप्त कर ली है। यह सब वैज्ञानिक अनुसन्धान इतना व्यय साध्य, कठिन तथा प्रयोगशाला तक ही सीमित है कि सर्व सामान्य के लिए असभव है। मानव योनि मे तो अधिकाधिक जोखिम भरा तथा सक्षम वैज्ञानिक के तकनीकी सूक्ष्म निरीक्षण से ही सभव है। मानवेतर योनियो के लिए तो प्राचीनकाल से इसी प्रणाली का अनुगमन किया जाता रहा है जिससे हमे आम मे सौंफ, गुलाब आदि-आदि की सुग ध का लाभ भी मिलता रहा है और न जाने कितने प्रकार की औषधिया हमारे आयुर्वेदाचार्य मनीषियो ने पूव में ही विकसित कर दी थी किन्तु मानव योनि के लिए उन्होने इस प्रकार के प्रयोगो की विचित्र आवश्यकता नही समझी थी क्योकि वह काय सस्कार विधि से कर लिया करत थ। इसका आधार यह था कि हम अपने मन से किसी वृक्ष वनस्पति पशु-पक्षी के मन को सामान्यतया आन्दोलित नही कर सकते हैं जबकि मनुष्य के मन को कर सकते हैं। यह काय गर्भस्थ शिशु के तन मन म गर्भिणी माता के शरीर-मानस के माध्यम से हम सहज ही कर लिया करते थे। नित्य प्रति के सामान्य जीवन, भोजन, रहन सहन, दर्शन, मनन, श्रवण से ही यह लक्ष्य पूरा हो जाता था, किसी प्रयोगशाला बडे वैज्ञानिक द्वारा चीर फाड की शल्य क्रिया भी नहीं करनी पड़ती थी। गर्भावस्था मे यह कार्य इसलिए और सुगम हो जाता था क्योकि ससार के बाह्य सस्कारो का कोई प्रभाव सन्तान पर नही पड़ता था, जो भी प्रभाव पडता था—वह माता-पिता के गुणावगुण का पड़ता था, जिसे माता के व्यवहार से नियन्त्रित किया जा सकता था। सन्तान के जन्म जन्मान्तर के सस्कार माता पिता के रज वीय से गए सस्कार, जो जन्म के वाद ही प्रभावी हो सकते हैं—उन्हे भी एक उपयोगी मोड माता के द्वारा इस समय दिया जा सकता है। भारतीय धर्म शास्त्रो मे अनेक ऐसे बालको का वर्णन आता है जो इतने अधिक मानसिक शक्ति सम्पन्न थे, जिन्होने बाल्यकाल मे ही अपनी प्रतिभा को प्रकट कर दिया था। अष्टावक्र का उदाहरण दिया जा सकता है, जो शरीर से तो सुडौल न हो सके, किन्तु बुद्धि बल मे उनका सानी नही था। जिन्होने बाल्यकाल मे ही राजा जनक जैसे दार्शनिक की सभा मे उपस्थित विद्वानो को प्रताड़ित कर दिया था। वीर अभिमन्यु आदि के उदाहरण तो पुरातन हैं, किन्तु सहस्रो उदाहरण अधुनातन भी हैं जो आज भी बाल्यकाल से ही अपने चमत्कार व्याख्यान, भाषाज्ञान, क्रीड़ा आदि में दिखाने लगते हैं। क्रमश

ऋण क्या ऋषि चुकाएं ?

ईश्वर की वेदवाणी जग को सुनाने वाले।
गुजरात मे वह जन्मे, तम को मिटाने वाले।।
कर्त्तव्य सब सुझाए, मन्तव्य सब बताए।
तन तान कर वह आए मठ दम्भ ढुगढाए।
विषपान आप करके, अमृत पिलाने वाले

अपनी सुधि भुलाकर यह देश घुट रहा था।
अज्ञान की घुटन में, दम सबका घुट रहा था।।
जाति बचा गये वह, अछूत भगाने वाले

हम आप सड़ रहे थे, भगवान गढ रहे थे।
गौरव गुमान खोकर, जीते हो मर रहे थे।।
ऋण क्या ऋषि चुकाए जीना सिखाने वाले

शिव रात क्या वह आई, बनकर प्रभात आई।
सोतो का भाग्य जागा, नवचेतना बहुलाई।।
श्रद्धा से सिर झुकाए, फिर से जिलाने वाले।
ईश्वर की वेद वाणी जग को सुनाने वाले।।

रचयिता—प्राध्यापक राजेन्द्र जिज्ञासु' वेद सदन, अबोहर

श्री राधेश्याम त्यागी का जन्मोत्सव

नई दिल्ली, सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी एव समाज सेवी श्री राधेश्याम



त्यागी का ८४वा जन्मोत्सव आर्य समाज भवन बुराड़ी में ३० अक्तूबर को धूमधाम से मनाया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति डा० धमपाल ने की।

इस अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि आर्य समाज क्षेत्र के लोगो की हर प्रकार से सेवा करने को कृत सकल्प है। आर्य औषधालय में डा० राजेन्द्र अग्रवाल चिकित्साधिकारी के निर्देशन मे चिकित्सा सेवा कार्य निरन्तर जारी है। आय समाज बच्चो की उत्तम शिक्षा के लिए प्रयासशील है तथा अन्य कई योजनायें भी विचाराधीन हैं।

डा० धमपाल ने आय पब्लिक स्कूल बुराड़ी के बच्चो द्वारा प्रस्तुत मनोहर सास्कृतिक कायक्रमो की भूरि भरि सराहना की। समारोह मे अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे और सभी ने श्री त्यागी के सुखद व दीर्घ जीवन की कामना की। श्री रामकिशन पहलवान मन्त्री आय समाज आदि ने अतिथि का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। श्री त्यागी ने पुरस्कृत बच्चो को पुरस्कार बाटे तथा अपने अभिनन्दन के प्रति आभार व्यक्त किया। शान्ति पाठ व ऋषि लकर से कायक्रम सम्पन्न हुआ।

प्रस्ताव

आय समाज यमुना विहार (रजी) दिल्ली बारहवें वार्षिकोत्सव पर १० अक्तूबर ९३ को आयो जन साधारण सभा म एक प्रस्ताव ध्वनि मत से पारित करके गुजरात सरकार को बधाई दी है कि उसने २२-९-९३ को एक अध्यादेश जारी करके सम्पूर्ण गुजरात प्रदेश मे समस्त गोवश के बध पर प्रतिबन्ध लगा दिया है।

सभा ने भारत सरकार से भी अनुरोध किया कि वह गुजरात सरकार का अनुसरण करके सम्पूर्ण देश में गोवश की हत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाए।

संस्कृत में पत्राचार पाठ्यक्रम

संस्कृत भारतीय संस्कृति की सर्वप्रमुख वाहिका है। विद्यालयों में संस्कृत का पूर्ण बहिष्कार हो चुका है। प्राय सभी भारतीय वेदो को अपनी संस्कृति का मूल आधार मानते हैं। इस दृष्टि से वेदो का ज्ञान प्रत्येक भारतीय, विशेषत प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए आवश्यक है। भारत मे और विदेशों मे संस्कृत की सुविधा प्रदान करने के लिए संधान द्वारा २० पाठो का एक प्रारंभिक पत्राचार पाठ्यक्रम अंग्रेजी और हिंदी माध्यम से उपलब्ध कराया जा रहा है। कोई भी व्यक्ति बिना अध्यापक की सहायता से स्वय घर बैठे संस्कृत सीख सकता है। 'संधान' पत्राचार द्वारा उनका मार्गदर्शन भी करता है। शुल्क अंग्रेजी माध्यम से २००) रु० और हिंदी माध्यम से १००) रुपये मात्र है। यदि किसी संस्था के माध्यम से एक ही पते पर पाच छात्र पाठ्यसामग्री मगाए तो उनके लिए शुल्क की राशि निर्धारित शुल्क से आधी होगी। इसके लिए डा० भारतभूषण, संयुक्त निदेशक, संधान जे-५६ साकेत, नई दिल्ली से संपर्क किया जा सकता है।

प्रभाताश्रम की प्रभा

गुरुकुल प्रभाताश्रम भोला मेरठ के छात्र ब्र० गोपाल कश्यपार्य ने महर्षि वेद-व्यास प्रतिष्ठान द्वारा नागपुर में २९ से ३१ अक्तूबर १९९३ को आयोजित भाषण, संस्कृत गीत, गायन तथा गीत स्मरण प्रतियोगिता मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर गुरुकुल प्रभाताश्रम भोला मेरठ का एव आर्य जगत का गौरववर्धन किया। उल्लेखनीय है कि सारे भारत वर्ष के आर्य समाज का प्रतिनिधित्व ब्रह्मचारी गोपाल कश्यपार्य ने ग्रहण किया। ब्र० गोपाल ने 'सामवेद संहिता" (कोथुमी शाखा) कण्ठाग्र कर रखा है। गुरुकुल स्नातक परिषद ने ब्रह्मचारी की सफलता के लिए शुभ कामना व्यक्त की।

आर्य समाज मंदिर बीगोपुर का उद्‌घाटन समारोह तथा यजुर्वेद पारायण महायज्ञ

बीगोपुर, तह० नारनौल जिला-महेन्द्रगढ (हरियाणा) में आर्य समाज के भव्य मन्दिर का उद्‌घाटन, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ४ दिसम्बर ९३ को करेंगे। इस अवसर पर श्री स्वामी दीक्षानन्द जी महाराज के आचार्यत्व मे यजुर्वेद पारायण महायज्ञ, २ दिसम्बर को प्रात प्रारम्भ होगा जिसकी पूर्णाहुति रविवार ५ दिसम्बर ९३ को होगी।

इस पवित्र अनुष्ठान में हरियाणा तथा अन्य प्रान्तो से बडी संख्या मे धर्म प्रेमी बन्धु पहुचेगे।

आगामी कार्यक्रम

२८ नवम्बर महर्षि निर्वाणोत्सव उत्तरी दि० वेद प्रचार मण्डल के तत्वावधान मे आर्य समाज किदवई नगर में प्रात ८ से १-३० बजे तक।

२८ नवम्बर महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्वाणोत्सव उत्तरी दिल्ली वेद प्रचार मडल के तत्वावधान में आर्य समाज आदर्श नगर दिल्ली-३३ मे प्रातः ८ ३० से १२-३० बजे तक। अध्यक्षता डा० धर्मपाल, मुख्य अतिथि श्री सूर्यदेव।

२८ नवम्बर आर्य युवक परिषद, दिल्ली: वार्षिक चुनाव—आर्य समाज दरियागंज, २ अंसारी रोड, नई दिल्ली-२ मे दोपहर ३ बजे।

२९ नवम्बर आर्य समाज हनुमान रोड, न० दिल्ली का ७१वा वार्षिकोत्सव प्रात ७ से ८-३० तक यज्ञ, भजन व प्रवचन तथा रात्रि ६ से ८ तक भजन व प्रवचन डा० प्रेमचन्द्र श्रीधर। कार्यक्रम २९ नवम्बर से १ दिसम्बर तक।

३० नवम्बर आर्य समाज हनुमान रोड महिला सम्मेलन १२ से ४ बजे तक।

४ दिसम्बर आर्य समाज हनुमान रोड, भाषण प्रतियोगिता [प्रात १० से १ बजे तक। स्वास्थ्य सम्मेलन-रात्रि ८ से ९ बजे तक।

५ दिसम्बर आर्य समाज [हनुमान रोड .[पूर्णाहुति एव राष्ट्ररक्षा सम्मेलन प्रात ७ से १-३०] बजे तक।

६ दिसम्बर आर्य समाज श्री निवासपुरी, नई दिल्ली-६५ का वार्षिकोत्सव ६ से १२ दिसम्बर तक प्रवचन स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती तथा भजन प० वेगराज जी।

—आर्य समाज मेस्टन रोड, कानपुर, उत्तर प्रदेश का ११४वां वार्षिकोत्सव ७ से १० मार्च तक आर्य समाज श्रद्धानन्द पार्क में मनाया जायेगा।

आर्य सन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No. 32387/77 Posted at N D.P.S.O. on 25-26-11-1993 Licence to post without prepayment, Licence No U (C) 139/9
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (एस-११०२४/९३
पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू (सी०) १३९/९३
"आर्यसन्देश" साप्ताहिक
२८ नवम्बर १९९३

संस्कृत विचारों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है

नई दिल्ली, २१ नवम्बर। दिल्ली प्रशासन की संस्कृत अकादमी द्वारा आज संस्कृत प्रतिभा पुरस्कार वितरण समारोह मे राजधानी के स्कूल, कालेजो व संस्कृत पाठशालाओ के ४७९ प्रतिभावान छात्र-छात्राओ को पुरस्कृत किया गया। पुरस्कार सांसद श्री त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी ने वितरित किये। उन्होंने संस्कृत विषय में प्रतिभा प्राप्त करने पर विजेताओ को नकद पुरस्कार, प्रतीक चिह्न व प्रमाण पत्र प्रदान कर सम्मानित किया।

इस अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करते हुये श्री चतुर्वेदी ने कहा कि राष्ट्रीय व सांस्कृतिक एकता के लिए संस्कृत भाषा की आज अत्यन्त आवश्यकता है तथा संस्कृत हर प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति के लिए सक्षम है। श्री चतुर्वेदी मुख्य अतिथि के रूप मे बोल रहे थे। भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी श्री सेवाराम शर्मा ने समारोह की अध्यक्षता की।

संस्कृत अकादमी के सचिव श्री कृष्ण सेमवाल ने कहा कि यह योजना १९८७-८८ मे शुरू की गयी थी और अब तक १३९७ विद्यार्थियो को पुरस्कृत किया जा चुका है। दसवीं, बारहवी, प्रथमा, मध्यमा, बी०ए० एम०ए०, शास्त्री परीक्षाओ में प्रतिभा प्रदर्शित करने वाले विद्यार्थियों को आज डेढ़ लाख रुपये के पुरस्कार वितरित किये हैं। समारोह मे पूर्व रक्षा सचिव के०पी०ए० मेनन तथा अनेक विद्वान भी उपस्थित थे।

आर्य विद्या सभा गुरुकुल कागडी हरिद्वार निर्वाचित

२१ अगस्त को सम्पन्न हुए चुनाव मे—प्रधान-श्री सूर्यदेव, दिल्ली, उपप्रधान श्री रणजीतसिंह हरियाणा उपप्रधान श्री वीरेन्द्र पजाब, मन्त्री-श्री प्रकाशवीर विद्यालंकार, हरियाणा, उपमन्त्री-श्री वेदव्रत शर्मा दिल्ली, कोषाध्यक्ष-डा० सच्चिदानन्द शास्त्री, सार्वदेशिक निर्वाचित हुए। अन्तरग सदस्य—स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती दिल्ली, स्वामी ओमानन्द सरस्वती, हरियाणा, श्रीमती प्रभात शोभा पण्डिता, हरियाणा तथा श्री धर्मप्रकाश दत्त पजाब भी चुने गये।

—आर्य समाज झिलमिल कालोनी, दिल्ली प्रधान- श्री जी डी दत्त उपप्रधान सर्वश्री लक्ष्मणदास भाटिया, शान्ति प्रसाद व ओ पी कपूर, मन्त्री-श्री जगदीश आर्य, उपमन्त्री श्री ओ पी नन्दवानी तथा कोषाध्यक्ष-श्री बलदेवराज।

– आर्य समाज, बी ब्लाक, जनकपुरी, न दि ५८ प्रधान-श्री वीरेन्द्र कुमार जी खट्टर उपप्रधान श्री लब्भूराम जी, मन्त्री-श्री नरपाल जी शास्त्री, उपमन्त्री जगदीशचन्द्र जी गुलाटी, कोषाध्यक्ष-श्री शान्तिस्वरूप जी कपूर। पुस्तकालयाध्यक्ष श्री ओमराज जी टूटेजा।

सेवा में--

श्री पुस्तकालयाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ा विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ०प्र०)

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन -३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (एस ११०२४)-९३

William Foote Whyte, ed, *Industry and Society* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1946), Chap V

FORM, WILLIAM H., "Toward an Occupational Social Psychology," *Journal of Social Psychology,* 24 85–99, 1946

GLOVER, JOHN G, and COLEMAN L MAZE, *Managerial Control* (New York The Ronald Press Company, 1937), Chap XI, "The Relation of Wage Systems and Incentives to Cost"

GOLDEN, CLINTON S, "What Labor Wants from Management," *Advanced Management,* 6 7–12, January–March 1941

HOBSON, J A, *Incentives in the New Industrial Order* (New York Thomas Seltzer, 1923), especially Chap V, "Incentives to the Efficiency of Labour"

KORNHAUSER, ARTHUR, "The Contribution of Psychology to Industrial Relations Research," in Milton Derber, ed, *Proceedings of the First Annual Meeting, Industrial Relations Research Association,* Cleveland, Ohio, December 29–30, 1948 (Champaign, Ill 1949), pp. 172–188.

LYND, ROBERT S, and HELEN MERRELL LYND, *Middletown* (New York. Harcourt, Brace and Company, 1929), Chap VIII, "Why Do They Work So Hard?"

MEADOWS, PAUL, "The Motivation of Industrial Man," *American Journal of Economics and Sociology,* 6 363–370, April 1947

MILES, G H, *The Problem of Incentives in Industry* (London Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd., 1932)

NATIONAL INDUSTRIAL CONFERENCE BOARD, *Some Problems in Wage Incentive Administration,* Studies in Personnel Policy No 19 (New York, 1940).

PARSONS, TALCOTT, *Essays in Sociological Theory, Pure and Applied* (Glencoe, Ill.. The Free Press, 1949), Chap IX, "The Motivation of Economic Activities"

POLANYI, KARL, "Our Obsolete Market Mentality," *Commentary,* 3 109–117, February 1947.

REYNOLDS, LLOYD G, and JOSEPH SHISTER, *Job Horizons A Study of Job Satisfaction and Labor Mobility* (New York Harper & Brothers, 1949)

ROETHLISBERGER, F J, and WILLIAM J DICKSON, *Management and the Worker* (Cambridge Harvard University Press, 1939), Chap VI, "Testing the Effects of Wage Incentive," Chap XVIII, "The Output Situation in the Bank Wiring Observation Room," and pp 531–534

STEIN, EMANUEL, "Financial Incentives and Profit Sharing," In Emanuel Stein and Jerome Davis, eds, *Labor Problems in America* (New York Farrar & Rinehart, Inc, 1940), Chap. 23

VEBLEN, THORSTEIN, *The Theory of the Leisure Class* (New York B W. Huebsch, 1918), Chap II, "Pecuniary Emulation," Chap. III, "Conspicuous Leisure," and Chap. VIII, "Industrial Exemption and Conservatism"

WHITEHEAD, T. N, *Leadership in a Free Society* (Cambridge. Harvard University Press, 1937), Chap. 18, "The Financial Rewards," and pp 248–253

WILLIAMS, WHITING, *Mainsprings of Men* (New York Charles Scribner's Sons, 1925)

——, *What's on the Worker's Mind* (New York. Charles Scribner's Sons, 1920)

CHAPTER XII

INFORMAL ORGANIZATION OF WORKERS

THE TARDY discovery by scholars and executives of "human relations" in industry has led in recent years to a consideration of the worker as an individual and as a member of groups at the workplace and of more formidable groups, called unions. The failure in the past to consider the crescive, spontaneous group of workers derived in part from a preoccupation with the official structure of the cooperative system. Any social relationships not accounted for by that system were accordingly regarded as irrelevant, or possibly as subversive, of managerial authority. And the theorists of organization apparently forgot or did not know that the formal organization that constitutes a daily place of work for persons in continuous contact provides also the conditions for deletions and elaborations of the "expected" relations.

The present chapter examines the patterns of action among employees, particularly with respect to (1) the bases for the formation of cohesions and hostilities, (2) the attributes of membership in spontaneous groups, and (3) the positive or negative relationship between the formal demands of the organization (or "management") and the informal expectations of fellow employees.

ORGANIZATION CHARTS AND ORGANIZATION FACTS

The dangling squares or "berries" of an organization chart refer to formal positions in a cooperative system, and only incidentally to persons who happen to be filling those positions. Nowhere in industrial organization is this official impersonality (not to say un-

reality) more evident than in the case of those who take but do not give orders. Rarely do the berries suspended at the very bottom refer to single persons, rather, they indicate the position of workers or "operators," allocated according to the technical division of labor in production.

Even on technical grounds, however, organization charts fall far short of representing the actual division of labor. Like small-scale maps of large areas, only the major boundaries and place names are indicated. Many places of importance from some points of view simply "aren't on the map." But, to follow this metaphor for a moment, the map is specialized: it shows some features in more detail than others. Most especially, it indicates lines of formal authority much more clearly than lines of "horizontal" organization and division of labor. Yet our previous discussion of managerial organization would lead us to expect that among workers also there is more than meets the map-reader's eye.

Inevitability of Informal Patterns. Whenever persons are placed in continued formal contact, in whatever circumstances, their relationships become characterized by actions and reactions over and above the formal expectations. This elementary principle of social behavior has already been noted with reference to industrial managers, and indeed is intuitively recognized *by* industrial managers. But elementary principles are frequently the ones most taken for granted, and therefore overlooked in the observation of unfamiliar situations. To assume that the relations of a machinist and his helper are adequately characterized by their official duties, that the "personalities" of both are irrelevant, and that the relationship is exactly comparable wherever the formal division of labor is defined in the same way is to make a common but fundamental error in interpretation.

Nor is it simply sufficient to know of the existence of friendships and hostilities, of grumbling and joking, and similar manifestations of the interaction between persons. If the knowledge of these matters is not only commonplace but irrelevant for the understanding of industrial organization and relations, there is no point in singling out the obvious for special comment. However, even if the informal relations among employees were of no especial significance for

management (an idea that even managers reject when they forbid conversation, for example), there is no particularly good reason for maintaining that this is the sole important viewpoint in the organization When an employee is assigned to do a certain job, he is also, perhaps unwittingly, assigned to the task of getting along with certain people And however unimportant or matter-of-fact this incidental assignment may be to the employment manager, it is likely to figure fairly large in the thinking of the man involved

Reverting to the previous metaphor, the blank areas on the general map of the cooperative system do not mean that nothing is there, or even that nothing of any importance has been left out Our problem is to augment the usefulness of the chart by a series of descriptions of local areas.

GROUP MEMBERSHIP AND STATUS

Workers entering the factory gates are scarcely a homogeneous mass of interchangeable parts The characteristic specialization and division of labor of modern economic organization deny that possibility But our remarks in the last few paragraphs lead to the expectation that the technical allocation of manpower is not the only set of similarities and distinctions that these employees will exhibit, and that as they go about their business other relationships will be apparent Perhaps the easiest way to understand these other relationships is in terms of *cliques* and how these are formed

Cliques—Technical Distinctions From what has been said about the inadequacy of a technical division of labor for understanding the groupings of laborers it must not be assumed that technical distinctions are simply irrelevant On the contrary, occupational role is one of the major bases of inclusion and exclusion of group members This does not mean, however, even where occupation is the important demarcation line, that the occupational role precisely *determines* the character of the relations among those of similar skill and duty. An illustration or two may serve to indicate the distinction.

Among railroaders, as reported by Cottrell,[1] occupational distinc-

[1] W Fred Cottrell, *The Railroader* (Stanford University, Calif. Stanford University Press, 1940), especially Chap III, "Technological and Social Grouping"

tions figure largest in the informal customs and working relationships From the "aristocracy" of railroading (firemen, engineers, brakemen, and conductors) down to the lower ranks of mechanical repairmen and maintenance-of-way section hands, the job is the primary criterion of social group membership The emphasis on craft, moreover, ensures against a grouping based on rank alone, since clerks, station agents, administrators, and traffic department representatives are not even accepted as true railroaders But even craft similarities are not sufficient to incorporate Pullman conductors into the groups of "regular" trainmen And the ritual devotion to time requirements, technical slang, non-Puritanical modes of recreation, and so on, are relevant to occupational role, but by no means determined by that role Even the craft distinctions are based more on "monopolizability" of training and selection than on genuine competitive achievement The railroader's technical job is simply the point of reference for customs typical of the industry

In their detailed study of a small productive unit at the Western Electric Hawthorne plant, Roethlisberger and Dickson[2] found a rather inconsequential technical difference of work assignment—that between "connector" and "selector" wiremen—having an effect on social distinctions and clique formation through the idea that connector wiremen were superior, or that the work was easier But the cliques observed also cut across lines of specialization, partly on functional lines of the smallest productive unit (three wiremen, one solderman serving the three, and one inspector) and partly on "extraneous" grounds which we shall note subsequently

Occupational distinctions as a basis for informal organization may be based on genuine differences in skill and technical interest or on minor differences which are, from the technical standpoint, arbitrarily selected as significant. Some differences, perhaps greater, are overlooked Other occupational distinctions include income differences or methods of payment, ease or difficulty of job (aside from skill), and possible lines of advancement either in formal position

[2] F J Roethlisberger and William J Dickson, *Management and the Worker* (Cambridge Harvard University Press, 1939), Chap XXI, "The Internal Organization of the Group in the Bank Wiring Observation Room," and pp. 513–516

or in informal prestige. Even where craft distinctions are considerable, informal patterns of conduct will follow those distinctions only to the extent that the technical role is genuinely a focus of interest, or is made to seem so by other bases of common interest that are more or less related to the technical positions, possibly through historical accident. Thus, certain jobs sometimes become associated with age, nationality, or similar lines of demarcation. The occupation thereby becomes the focus of a group of sentiments in addition to simple interchangeability of job assignments, pride in craft, and so on.

Cliques—Spatial Arrangements. One of the factors in the correspondence between semiofficial (technical) distinctions and informal groupings is the simple one of location of work. Those performing the same jobs, especially in a large manufacturing plant, will ordinarily also work in the same area. In some cases the specialization of labor will correspond almost exactly with architectural and mechanical arrangements, so that job titles and place names are interchangeable. For the most part, however, plant divisions like "hot strip mill," "maintenance shops," "planing mill," or "wheel assembly" demarcate a number of functionally interdependent workers, rather than similar job assignments. Since any social organization depends upon communication, spatial arrangements are always relevant to organizational patterns.

Although informal contacts, and even rudimentary "organization" supported by customs and sentiments, can be maintained by off-the-job meetings, rest period and washroom get-togethers, messengers, and the like, cliques will ordinarily be limited to the range of face-to-face relationship. This range will depend upon the mobility allowed the worker, and the effect of noise or a watchful overseer on conversation or other means of communication. Although placing persons in close functional relationships and frequent face-to-face contacts does not guarantee that they will love one another, it does assure the appearance of some mode of interaction over and above the strict demands of duty.

The location of job assignments will frequently result in group loyalties and recognizable group characteristics that may have very

little to do with the intrinsic demands of the job. Thus boiler-room gangs, loading-platform outfits, and second-floor groups may speak of themselves and be recognized by others as unofficial groups. Workers may even seek transfers to jobs located in a favored unit, not because of the correspondence of technical skills and the demands of the job, but because "all my friends work there," or "they're a good bunch of fellows to work with"

Rate of pay, presence or absence of dirt, heat, noise, or similar "working conditions" undoubtedly affect the informal activities of workers. However, their status in the plant, the supervisory situation, and other social relationships are certainly not overlooked by the workman Roethlisberger and Dickson found that the distinction between selector and connector wiremen had been given a spatial basis in the large department from which their observation group was drawn. Connector wiremen worked at the front of the department, with new men being started at the back of the room on selector equipments and gradually moving forward until shifted to the connectors.[3]

It is apparent that the precise significance of spatial adjacency for the relationships among employees cannot be predicted simply from knowledge of the physical layout; on the other hand, once social significance becomes attached to the location of workers, that becomes a fact of considerable importance in the attitudes of workers about their jobs

Cliques—Formal and Informal Status. The ideas of the company about the relative worth of various official duties are ordinarily reflected in wage differentials, closeness or looseness of supervision, titles, and similar devices. Although these distinctions among employees are not irrelevant, they never account for all of the significant differences in social position recognized by employees, and may be offset or even reversed by other scales of valuation adopted by fellow workers. Informal symbols of status such as size of desks, privacy and size of offices, and individual listing of directories, prevalent in managerial circles, have their counterparts among shop

[3] *Op. cit.*, pp. 495–496.

and bench workers In neither case do the informal symbols need to correspond to official positions

We may distinguish two chief varieties of informal status in the development of leadership and deference among workers that attaching to the position, but not officially recognized, and that attaching to the person, based upon particular qualities and achievements not germane to official demands. Examples of the former type can be found in almost any establishment, since the rating adopted by management will rarely correspond to the workers' sentiments about the relative skill demanded, the usefulness of the task, the compensations due for unpleasant working conditions, or the relative weight to be attached to any of these factors We have already noted an example of this in the deference due to connector wiremen in the Western Electric study.

As in the case of private secretaries and some other clerical workers, an individual may enjoy a sort of "reflected status" because of close association with persons having an official or unofficial position of prestige Roethlisberger and Dickson report that in the Bank Wiring Observation Room the solderman serving the high-prestige clique could assert his superiority over the solderman serving the inferior group.[4] Bosses' helpers and other carriers of communications, possibly including real or fictitious "inside information," may enjoy a deference far beyond that expected from their immediate skills or monetary reward

In the examples just noted the prestige seems to attach to the position, although it is safe to say that personal characteristics of the person in that position may either enhance or reduce that prestige. Many individuals, however, will be accorded respect and deference by their fellows without much reference to their particular jobs The qualities and achievements so recognized may be as diverse as the ways in which workmen differ, and will always depend on a constellation of on-the-job and off-the-job sentiments. The time is not far past when sheer physical dominance played a part in the relations among rough construction workers and in the "heavy industries." Even supervisory positions sometimes depended

[4] *Op cit.*, pp. 496–498

on the ability to trounce any man in the outfit rather than on superior training or greater technical skill. In the contemporary industrial plant the storyteller, the man who, by repute, has a way with the women or serves useful functions in the employees' relations with management is more likely to speak with authority or receive offers of assistance from his fellows Even in very small groups "functional leadership" may be developed to the point of having one person who speaks for the group when dealing with supervisors, another who maintains the internal organization and routines, and possibly a third who thinks up practical jokes for the group to play on some rival clique The person who thinks these distinctions are trivial should look more closely at the nature of social living

Cliques—Internal and Community Distinctions By no means all of the alignments and distinctions found in an industrial establishment are based simply on the work situation or behavior during the working day. Off-the-job attitudes and modes of association may be, and frequently are, carried over into the shops The most obvious examples of this are to be found in the preservation of religious and ethnic demarcations in shop relationships. Not only is the American Negro thus practically restricted to special (and not very desirable) positions, and frequently barred from informal contact with white workers, but other groups may be given virtually the same treatment. Catholics are under a disadvantage in a Protestant community, and Protestants find their position unfavorable in a Catholic community. Immigrant groups of all sorts may be relegated to inferior informal status, and frequently barred from formal advancement as well If management disregards the sentiments of workers and places an "inferior" person in a position presumably reserved for the elect, the presumptive social climber's position may be made uncomfortable or downright intolerable by various control devices available to his fellows—silence and shunning, verbal invective, practical "joking" which is scarcely good-humored, "framing" the individual to secure his dismissal, and other means too numerous to mention.

Incidentally, this type of distinction among workers places the

sociological consultant in an extremely awkward position As an expert in social structure, and particularly in those features of informal organization most likely to be overlooked, he may have to recommend taking ethnic or other distinctions into account in recruitment and supervision It should be noted, however, that the fact of existing prejudice among workers may be taken into account without confirming or supporting it, through careful planning and joint action with labor leaders [5]

Such distinctions as those holding between union and nonunion employees, or the continued exclusion of former strikers, or strikebreakers, from high-ranking informal groups long after the event are further indications of the breadth (and frequently the depth) of workers' sentiments and their overt manifestations Groups of high school or college students working during the summer may form cliques of self-conscious exclusiveness, whereas the single student may be well advised to obscure his background

To repeat, the criteria of membership and status in the informal organizations of workers are multitudinous, and although they fall into recurrent types, their specific form in any establishment is likely to be unique in some respects. Whether the newcomer is a supervisor or a sweep-up boy, he will not "know the ropes" until he has learned, and at least partially respects, the local rules about "who's who and what's what"

MANIFESTATIONS OF GROUP ACTIVITY

These cliques are somewhat more than merely honorary societies, nor are the distinctions merely casual and superficial The whole point of the present discussion is that the informal organization makes a difference, and that the groupings genuinely result in *joint activity* We may now turn to some of the ways in which the informal organization of workers shapes and determines the pattern of daily activities, and some of the more important functions which those activities serve

[5] See Everett Cherrington Hughes, "The Knitting of Racial Groups in Industry," *American Sociological Review*, 11. 512–519, October 1946 See also Orvis Collins, "Ethnic Behavior in Industry Sponsorship and Rejection in a New England Factory," *American Journal of Sociology*, 51 293–298, January 1946.

"Initiation" Ceremonies The stranger or newcomer is always the object of some suspicion and distrust, and is made to feel "out of things" until fully accepted or definitely rejected by those with whom he is thrown in contact. The informal industrial group is no exception to this general rule A new worker may gain admittance to previously established relationships very gradually and without fanfare, or he may actually be "tested" by a more or less deliberate policy of initiation.

The newcomer may be given the poorest job assignment for his rank and classification (perhaps as an official policy) but find that he is also expected to render other services which the other workers claim are part of his assignment The new recruit may find himself running errands, helping out other workers, or handling the poorest material until he gets "wised up" or can pass on the duties to a more recent recruit Practical jokes of all kinds, especially the standard and favorite ones of the group, are tried on the "greenhorn" How he reacts to these impositions may well determine his future acceptability in the group

A very frequent type of initiation ceremony functions to emphasize the greater knowledge and experience of the old hands. A new man in a lumber planing mill is sent after a board-stretcher, the new apprentice in a glass factory is told to secure a mold-stretcher from the stock room, and from time immemorial mechanics' helpers have been told to go and fetch a left-handed monkey wrench In other cases some simple mechanism on a machine is "jimmied," and the new man is forced to call upon the services of the maintenance and repair crew By all these ways and many others the outsider goes through tests for being a good fellow or "right guy," as well as for gradual acceptance as an occupational equal The tests need have little or nothing to do with occupational skill, as in cases of insistence upon initiation into the the fine art of chewing tobacco or snuff, or the ability to use obscene language without visible discomfort Although rarely stated in so many words, it is apparent that members of the informal group feel that their acceptance or rejection of a prospective member makes a difference—that acceptance confers advantages worth trying for.

Level and Pattern of Communication The newcomer in the machine shop, factory, or section gang, or an inconspicuous observer of the behavior of workingmen, is likely to be impressed by two characteristics of the ordinary conversation he is likely to find much of it incomprehensible, even though individual words sound like English, and he is likely to find profanity and obscenity coloring every sentence, even the most commonplace "small talk" Although technical terms and occupational argot (a specialized slang) have been commented on rather frequently by observers, the scarcely respectable tone of everyday factory or roundhouse speech has received scant attention. Both may be regarded as manifestations of informal organization.

Every occupation reserves to itself the right to invent or accumulate a technical vocabulary for common objects, processes, or situations in that occupation Obviously the learned professions and the older crafts have a more richly developed vocabulary of this sort than newer types of specialization Part of this technical language refers to objects and processes for which there are no other names —a truly technical vocabulary Other words and phrases are in the nature of substitutions for ordinary methods of expression, and constitute an occupational argot. To a certain extent the argot also serves "technical" ends, since its meaning is likely to be more precise, and often the mode of expression is briefer, than the ordinary language of the layman in reference to the same objects or actions But the additional function of specialized vocabularies in serving as identification of group members and exclusion of the uninitiated should not be overlooked This seems to be characteristic of any group where occupational role is sufficiently important to occasion "talking shop." An industrial group that has no such idiom tends to develop one, perhaps of purely local significance Old and highly mobile crafts like those of the railroader have developed occupational argot to a high degree [6]

[6] See Cottrell, *op cit*, especially Chap VII, "Railroad Language," and "Glossary" No disrespect for railroaders is implied by the observation that professional criminals also satisfy the criteria of carrying on "crafts" of long standing and involving considerable mobility, and have a highly developed

The qualification of almost every noun by blasphemous or obscene words in many shop and factory situations is undoubtedly to be accounted for in part simply as a special variety of occupational language. Yet its appearance is not confined to a narrow range of occupations, but rather seems to be typical in varying degrees of the entire class of industrial laborers. Perhaps because squeamish investigators have thought the subject unworthy of their attention, the circumstances in which the use of four-letter Anglo-Saxon words is common and the reasons for their virtual nonappearance among other groups are not fully understood. Certain observations may, however, be hazarded. (1) Such levels of discourse are most evident in unisexual groups, and most especially among men, although blasphemy and some verbal nastiness is not unusual among factory women. A heterosexual situation seems to induce more nearly "normal" speech, with perhaps greater emphasis on the risqué joke. (2) Strong language is also closely associated with lower income groups, highly mobile occupations, and other departures from "middle class" expectations. To a certain extent, therefore, it may simply reflect differences in class standards of (verbal) morality. (3) Verbal invective and filth also seem, at least in some cases, to be defiant forms of expression of individuality (note the virtuoso who claims to have the best cursing vocabulary for miles around) and may therefore be associated with lack of interest in and esteem for occupation. This is very nearly the same as suggesting that aggression against the prescribed moral vocabulary of the community may be the product of frustration of more socially approved methods of gaining attention.[7] In what combination of these or other

---

argot. See Edwin H. Sutherland, ed., *The Professional Thief, by a Professional Thief* (Chicago: University of Chicago Press, 1937), especially "Glossary."

[7] This is the suggestion of Whiting Williams, one of the few first-hand observers of industrial labor who has made any effort to account for, or even to notice, the linguistic sins of the "proletariat." See his *What's on the Worker's Mind* (New York: Charles Scribner's Sons, 1920), especially pp. 193, 274–275. Williams also notes the tendency for "improper" language to be considered as a symbol of membership in informal groups. (See also *ibid.*, p. 247.) It is perhaps instructive to note that various branches of the armed forces, particularly noncommissioned ranks of the army and apparently most ranks of the navy and marine corps, indulge in language ranging from the "salty" to the completely obscene. Although the factors suggested in explanation of the language

circumstances the explanation of the origin of the linguistic pungency of industrial workers is to be found, it is difficult or impossible to say For any given workman, the problem may be less complex: he conforms to group-imposed standards in this as in other modes of social behavior.

Not only does the conversational pattern of workers differ from the ordinary standards of the community in *form*, but it is also significantly different in *content* Aside from necessary communication demanded of technical relationships and some tendency to "talk shop" (more noticeable with the skilled than with the unskilled except for "gripes" and complaints), the two most common topics of conversation are sports and sex This should perhaps be qualified as applying chiefly to male workers, since employed women seem more concerned with clothes and "gossip" The latter, however, is likely to include, perhaps prominently, sexual irregularities

Now to a certain extent these conversational topics simply reflect sexual distinctions in adult roles and interests, and for either sex may represent the "least common denominator" of subjects interesting to persons of different backgrounds It is noteworthy that these topics of conversation pervade all ranks in the industrial organization. This would still not account either for the vocabulary used or for the range of stories and jokes told among the men By numerous reports, the preoccupation with sex is not confined to the fairly standard lot of "smoking car" stories, but extends to discussion of personal sexual interests and relationships, even including marital relationships—a subject completely taboo even in so-called "enlightened" sections of the rest of the community Although the explanation for this characteristic of informal group activity is by no means clear, there is some reason for believing that it may be related to lack of other bases for personal distinction or "the poverty of social existence" [8] It is certainly true that, with persons occupying higher positions, the pattern of communication shows more

of factory workers undoubtedly operate here also, probably in differing relative significance, the factor of release of tensions in dangerous circumstances is also to be suggested

[8] This is the suggestion of Williams, *op cit*, pp 303–305, who also attaches some importance to fatigue and general dissatisfaction with working conditions

sophistication, and ordinarily a broadening of content This does not mean, of course, that the relationship between job assignment and level of informal communication is a direct one, since it may depend upon prevalent standards of acceptability over which particular individuals may have little control.

Recreational Activities Many activities of informal groups take the form of change of pace, or adding fun to the work situation Indeed, much of the conversation and storytelling is of a recreational character, having nothing to do with the formal demands of the job It seems evident from our previous discussion of the problem of monotony and fatigue (Chapter IX) that workers cannot and will not be single minded in their devotion to technical duty unless that duty carries with it sufficient breadth of activity to ensure satisfactory social relationships. It is an old wheeze, but probably a valid one, that work is most satisfactory from the worker's viewpoint if it includes elements of play It is not surprising, therefore, to find that the informal organization of workers provides outlets of playful tendencies, even if those activities are directly contrary to the demands of the formal organization

But the recreational activities of informal associations do not simply provide a release from boredom and dissatisfaction The activities are not simply random and haphazard, or purely individual inventions They are preeminently *group* activities, and serve group ends as well as the release of individual tensions. Nowhere is this more evident than in the common occurrence of "horseplay."

A brief and casual observation of workers at play in mills and shops, during both work periods and rest periods, might give the impression that "rough stuff," tricks, and general "horsing around" appear quite spontaneously and unpredictably Yet more careful study will ordinarily reveal patterns even in these activities. For example, we have already noted that the newcomer in the group is made the butt of practical jokes At least part of those same tricks were used on other initiates before him, and will be used on others who come after him As in a lodge initiation, some of the stunts are traditional with the group This does not mean that individual inventiveness is stifled, but variations or additions must ordinarily

receive the approval of the group before they are tried To a large extent, therefore, the members of the informal group are *controlled* quite as much as the person against whom the jokes are directed The participant, however, has the impression of spontaneity

In some instances the "horseplay" takes the form of a standard custom, with every member of the group being equally subject to playful attack by the others In others, however, particular persons are considered the appropriate recipients of the playful attentions of the group, either because of their subservient position (which is also the case with the temporary inferiority of the newcomer) or because of personal characteristics Roethlisberger and Dickson report that the trucker serving the observation group of wiremen and soldermen was harassed continually by the latter, and this had nothing to do with particular personalities. A second trucker who replaced the first was treated in the same way[9] In a glass factory an observer noted that the "spare boy" (a young apprentice and handyman) and "sweep-up boys" (who were called "boys" regardless of age) were subjected to "ribbing" and tricks of various sorts If the spare boy on the night shift was caught sleeping he was doused with water.[10]

Some employees are made the butt of jokes and tricks without particular regard to their position, or at least the "treatment" is modified to fit the particular case. In the glass factory just mentioned one sweep-up boy in particular was judged by the observer as "moronic," and fell for the same tricks and practical jokes repeatedly Other cases may range from near-cruelty directed against an unacceptable person, to what looks like a peculiar variety of deference toward the inveterate "good sport"

A variant of the customary horseplay is more directly a control device inflicting a standard form of punishment for offenses against the customs of the group, or as a penalty for personal affront Among the Western Electric workers the observers noted the use of "binging" (a hard blow on the muscle of the upper arm) as such a con-

[9] *Op cit.*, p 498

[10] The writer's informant is James Lewis, a former student at The Pennsylvania State College, 1941.

trol mechanism.[11] Similar practices are probably more general than available evidence indicates

Whether the object of horseplay is seemingly only that of spontaneous recreation, or is more directly used as a status-enforcing and control device, it is apparently an expression of joint activity—an attribute of membership in the informal groupings of industrial employees.

Another very common form of informal recreational activity among workers is *gambling* The range of gambling activities to be found may include card playing, placing bets on horse races, forming betting pools on the outcome of sports events or the serial numbers on pay checks, lagging coins, and so on Contrary to the reputation of the army on payday, the amounts of money involved are ordinarily not large. The main criteria seem to be that an element of chance be involved and that those included in such games be from the same cliques[12] It is quite possible that the interest in gambling has a significance beyond that of simply joint activity, for example, it may represent a release from humdrum activities and daily routine of the official job assignment, where decision and chance are largely the prerogatives of management In any event, it is clear that this is another evidence of the "spontaneous" activities of informal associations, and that these activities modify and direct the behavior of the individual workman.

In work situations where a "no-smoking" rule prevails in the interests of safety, cleanliness, or simply managerial whim, a common form of "unofficial" behavior is *wash-room smoking*. It is rare for the official rule to be modified by an official exception of the wash room or other places "out of bounds," yet the testimony of observers is uniform that such exceptions exist. This, of course, is almost inevitably with the unofficial sanction of supervisors

Informal organization, as our examples show, is not simply a device for preserving and enforcing standards of conduct over and above (or even contrary to) the official demands of job assignments,

[11] Roethlisberger and Dickson, *op cit*, pp 421–423, 500–502

[12] *Ibid*, pp 500–502 The writer's own experiences and the information given by former students bear out these observations

but also gives at least the subjective impression of liberty and spontaneity of individual behavior With this background we may now turn to a more direct consideration of the junction of formal and informal organizational demands upon the workman, and the significance of these for the position of the laborer in industrial establishments.

INFORMAL *versus* FORMAL EXPECTATIONS

Little further need be said of the official expectations concerning the orientation of the workman to his job We have already dealt with the "organizational assumptions of management" in some detail in Chapter VII, and need only translate those assumptions into terms of the expected role of the workingman in cooperative industrial enterprise.[13] Briefly, the laborer's role is expected to be *a strict devotion to technical duty* (for example, sweep-up boy), *mediated by a competitive orientation toward reward and advancement.* Together, these assumptions presumably define the worker's position in the organization and the direction of his interests It follows that the formation of cliques, the determination of position on nontechnical grounds, the addition or substitution of duties applying to the position or to the person, and the modification or subversion of competitive orientation constitute the "unexpected" results of informal organization.

The discussion of informal organization to this point has been largely concerned with practices that violate the first assumption just noted; that is, they indicate that the activities and relationships of the workman are not limited to those demanded of his formal

[13] The phrase "cooperative industrial enterprise" may seem at first glance to refer only to a peculiar and rare type of industrial establishment one "owned," managed, and possibly completely staffed by a group of co-acting equals It is unfortunate for the understanding of industrial organization that competitive and conflicting interests have been so much emphasized that the cooperative character of the whole has been neglected Viewed as a whole, any industrial establishment is comprised of a number of persons performing differentiated tasks toward the achievement of the ends of the organization The individual ends and motives that induce people to cooperate are not unimportant in general, and certainly influence the effectiveness of the organization, but differences and antipathies in individual ends do not change the cooperative character of the whole

position Put somewhat differently, they represent the intrusion of other personal and social considerations into an officially limited and segmental cooperative arrangement But the two assumptions are not discrete variables, rather, they are two aspects of the same thing Thus, any departure from a strict and exclusive devotion to technical duty must of necessity imply that the direction of the worker's interests is more extensive than an interest in organizational reward and advancement, and may not even include the official orientation. Indeed, the whole of informal organization seems to imply a substitution of group ends for competitive individual ends. *This does not necessarily mean that the general ends of the formal organization are not being served, it does imply that the means to those ends are not those formally assumed, but are on the contrary those consistent with the activities and security of the informal group* Whether or not the substitution adversely affects the achievement of the cooperative goals of the entire organization will depend on the particular circumstances We have already discussed the primary considerations with reference to the problems of management They may be summarized as the extent to which managers recognize the abstractness and consequent inadequacy of the formal system as a cooperative arrangement.

With these considerations in mind, we may review some of the expectations of the informal organization and note their consistency or inconsistency with the over-all ends of the industrial establishment

Expectations of Informal Groups To the extent that informal groups exist at all, they modify the behavior of their members along the lines of common interest and joint activity This is by definition otherwise, no group exists In industrial organization, at least part of the rules of behavior determined by informal associations are directed toward group and personal security. On the basis of the Western Electric study Roethlisberger and Dickson concluded that there were four general rules operating.

(1) You should not turn out too much work If you do, you are a "rate buster"

(2) You should not turn out too little work If you do, you are a "chiseler."

(3) You should not tell a supervisor anything that will react to the detriment of an associate. If you do, you are a "squealer."

(4) You should not attempt to maintain social distance or act officious. If you are an inspector, for example, you should not act like one.[14]

Although these rules are phrased in terms of a situation involving a group piece-work payment system, and omit consideration of rules relative to recreational activities, conversational patterns, and initiation practices, they are undoubtedly of general validity with respect to the informal limitations on competition and authority.

Limitation of Output The limitation on output, to which the Western Electric researchers paid a great deal of attention, is of course very common in industrial plants. On straight time payment plans, the limitation may be "justified" as a device for spreading the job out over a longer time or larger number of workmen, or simply as a way of maintaining a comfortable and congenial pace. Under a piece-rate system, its explanation is more difficult to find, except as a way of avoiding reduction of the rate of pay. This was the most common explanation given by the workmen in the Hawthorne plant and explains the epithet *rate buster*. Yet the investigators found a confusing welter of opinions and explanations, no factual evidence that rates had been cut in the past, and no evidence of a logical appraisal of the work situation. In fact, Roethlisberger and Dickson think it preferable not to call the action a "restriction," since its function and apparent aim was not a deliberate violation of official expectations of competition, but rather a manifestation of group concern for social (not simply economic) security.[15] Complete and constant attention to the job as narrowly defined, even if proportionally rewarded in wages, would prevent many activities and relationships that are important parts of the job as viewed by the workman. An additional factor of significance is the way in which primary or exclusive concern for competitive performance is not only destructive of informal group morale, but *may actually subvert the general ends of the cooperative system by destroying the basis of*

[14] *Op. cit.*, p. 522. Reprinted by permission of Harvard University Press.

[15] *Ibid.*, Chap. XVIII, "The Output Situation in the Bank Wiring Observation Room," and pp. 531–537.

joint activity The line between trying to outdo the other fellow in "legitimate" competition and trying to outdo him in any event is really very thin. The latter attitude tends to be produced by an extreme emphasis on official expectations and is destructive of the bases for general cooperation toward the goals of the organized system.[10] To interpret the limitations imposed by informal organization as uniformly unnecessary and "illegitimate" is to overlook the "limits to the elaboration of efficiency," discussed in Chapters VII and VIII.

Prevention of "Sabotage." Sabotage, in Veblen's sense of "conscientious withdrawal of efficiency," will be prevented by the informal group whenever the failure of some workman to do his duty overburdens his fellows or injures their position in some other way This does not mean that an occasional lapse will not be forgiven, and certainly not that an unintentional failure will be condemned But the "chiseler" is inimical to the standards of fairness in the group. To the extent that official duties are incompletely specified, the informal prevention of "chiseling" may be the only safeguard the organization has against minimal, letter-of-the-law performance

Condemnation of "Squealing and Officiousness" A rule clearly designed as a security measure is the very general practice of condemning the "tattler," "stool pigeon," or "squealer" as he is variously called But the "no-squealing" rule is not simply a device for protecting individuals from supervisory discipline, it is a mark of loyalty to the informal group. Since all of the activities and relationships of the informal organization of workmen are "unexpected" in terms of the formal organization, and many of them are likely to be clearly contrary to official rules, the "squealer" endangers the whole fabric of customary practices. Carrying tales also implies or accentuates

[10] An exceptionally clear-cut case of an overcompetitive situation has been reported by William A MacIntyre, Jr, "Technical versus Informal Organization in a Soda Fountain Group" (unpublished Honors Thesis in Sociology, Harvard University, 1940) This study compares the general effectiveness (not "efficiency") of a small business organization under a situation of contravention of formal expectations and under a situation of strict adherence to formal duties The former was far superior.

the hostility of immediate supervisors to the informal organization Although the official (and in some cases the actual) policy of the management may be to search out and eliminate every violation of company rules, the first-line supervisor, we have noted, can scarcely adopt such a policy and maintain his effectiveness When the supervisor avoids officiousness and thereby becomes part of the informal group, the "squealer" may be at least as obnoxious to him as to fellow workmen [17]

Both the condemnation of "squealing" and the disapproval of officiousness violate the ordinary managerial assumptions about obedience to rules and the exercise of supervisory authority. Yet again it may well be doubted that these informal expectations are genuinely antithetical to the stability or effectiveness of a complex cooperative system In fact, the informal structure of working relationships *may* contribute as much or more to the achievement of organizational objectives as attempted strict compliance with the formal demands In view of the certainty of some form of informal organization among industrial laborers, the alternative is false anyway The worker certainly has as great an interest in the preservation of his personally satisfactory activities as does the junior administrator And both are equally likely to become rebellious or neurotic if these are changed in the interests of Efficiency or some other impersonal and pagan god

The informal organization ensures the individual workmen against the loss of his personality in an impersonal system; it also ensures the group of workmen against attack from within or without Seemingly spontaneous, it has however form and substance It is, in fact, within the unofficial structure that one may find the major elements of the workers' social environment on the job.

[17] A complaint to a supervisor (or any person in authority) about a violation of rule places that person in the frequently uncomfortable position of having to take action or openly admitting and condoning the violation Only the most naive person can believe that widespread and consistent violations of rules are not known to the persons responsible for their enforcement However, the violations may not "officially" come to their attention and thus require no action If complete conformity is impossible to secure, or can only be secured at too great a cost (not necessarily economic), an "institutionalized evasion" passively permitted by the authorities is in order

REFERENCES

BARNARD, CHESTER I., *The Functions of the Executive* (Cambridge Harvard University Press, 1938), Chap IX, "Informal Organizations and Their Relation to Formal Organizations"

COLLINS, ORVIS, "Ethnic Behavior in Industry Sponsorship and Rejection in a New England Factory," *American Journal of Sociology*, 51. 293–298, January 1946

COTTRELL, W. FRED, *The Railroader* (Stanford Univ., Calif Stanford University Press, 1940) Entire book is pertinent.

DONOVAN, FRANCES R, *The Saleslady* (Chicago. University of Chicago Press, 1929).

DURKHEIM, EMILE, *On the Division of Labor in Society*, tr by George Simpson (New York The Macmillan Company, 1933), Preface to the Second Edition, "Some Notes on Occupational Groups."

FIREY, WALTER, "Informal Organization and the Theory of Schism," *American Sociological Review*, 13 15–24, February 1948

HUGHES, EVERETT CHERRINGTON, "The Knitting of Racial Groups in Industry," *American Sociological Review*, 11. 512–519, October 1946

KOENIG, SAMUEL, "Ethnic Groups in Connecticut Industry," *Social Forces*, 20 96–105, October 1941

MILLER, DELBERT C, "The Social Factors of the Work Situation," *American Sociological Review*, 11 300–314, June 1946

MYERS, RICHARD R, "Myth and Status Systems in Industry," *Social Forces*, 26 331–337, March 1948

RODNICK, DAVID, "Status Values Among Railroadmen," *Social Forces*, 20. 89–96, October 1941

ROETHLISBERGER, F. J, *Management and Morale* (Cambridge· Harvard University Press, 1941), Chap II, "The Road Back to Sanity," and Chap IV, "The Social Structure of Industry."

ROETHLISBERGER, F J, and WILLIAM J DICKSON, *Management and the Worker* (Cambridge Harvard University Press, 1939), Chap. VII, "The Test Room Operators, Their Individual Differences and Interpersonal Relations", Part IV (Chaps. XVII–XXIII), "Social Organization of Employees"

WHITEHEAD, THOMAS N, *The Industrial Worker* (Cambridge Harvard University Press, 1938, 2 vols), Vol I, Chap. 18, "Organization of Social Activity for Its Own Sake," and Chap 27, "The Organization of the Relay Test Group"

———, *Leadership in a Free Society* (Cambridge Harvard University Press, 1937), Chap. III, "The Relay Test Group"; Chap IV, "The Meaning of Social Integration", and pp 95–98

WHYTE, WILLIAM FOOTE, *Human Relations in the Restaurant Industry* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc , 1948)

WILLIAMS, WHITING, *Mainsprings of Men* (New York Charles Scribner's Sons, 1925) Chap III, "His Working Conditions," and Chap VII, "The Mainspring the Wish for Worth."

—, *What's on the Worker's Mind* (New York Charles Scribner's Sons, 1920).

CHAPTER XIII

UNION ORGANIZATION

IN THE American economy, labor unions have been an intrinsic part of industrial organization for so short a time that the phenomenon still has some capacity for shock. Despite a fairly long history of trade unionism in various skilled crafts—including some craftsmen in manufacturing plants—the union as a typical aspect of the conduct of industrial operations was barely established prior to World War II. The growth of union membership *and influence in daily operations* has been so recent and rapid, and marked by so much heated controversy with management, that even yet the role of the union as part of the internal organization of industrial units is not widely recognized.

The American experience with unionism is in some respects unique. Although workers' organizations have widely differing powers and concrete functions in other industrial countries, the United States is the only major industrial country in which such organizations were successfully excluded from major parts of the industrial system until recent years. For this historical development there are a number of related explanations, which will be discussed in later chapters. They may be summed up here as the ideology of individualism, which despite the inherently organized, and even mass-organized, character of industrial production was represented not only in the law but to a remarkable degree also in popular sentiment.

Because of the peculiar and peculiarly recent development of American collective bargaining and management-union relations,

unions may be viewed in two seemingly contradictory ways By selecting cases and aspects of cases, unions may be viewed both as intrusive, outside, hostile organizations and as intrinsic parts of modern industrial organization The latter view is perforce recent and not yet widely accepted

This chapter deals with union structure, purposes, and functions, except as these relate directly to the conduct of management-labor relations. This may seem an artificial distinction, as it is, but the separation is useful. For with the increasing size, power, and security of American labor unions, the strike or the negotiating session falls far short of encompassing all of the important organizational features of the unions The union, in a far more fundamental sense than management, exists *for* bargaining, in the present American institutional setting But it also serves other ends, and uses other means for their attainment Much of the union structure is the direct result of management-labor relations, much more the indirect result of this primary historic and contemporary rationale for the union's existence Collective bargaining and the legislation and rulings of governmental administrative agencies that relate to collective bargaining have a major influence on the size, jurisdiction, and even internal powers of unions. It will, however, be useful to examine the formal structure of unions and their confederations, the translation of this structure in operating procedures at the shop level, and the aims and functions of unions as service agencies for their members

THE STRUCTURE OF UNIONS

Both because of the actual diversity of union aims and functions, and because of the variable impact of industrial conditions and society at large, union organization is far from standardized Contemporary unions may still reflect the peculiar historic circumstances of their founding, the whims of a leader long departed, and also the very present internal factions or threat provided by a rival union

Moreover, union organization has received far less study either by the unions themselves or by students of organization than has

management, and virtually no "expertizing" by organizational specialists such as those who operate as managerial consultants, write books both technical and uplifting ("How To Be a Better Manager"), and teach countless courses in the colleges and universities. Aside from the recency and rapidity with which unions have become large and important structures in the industrial system, there are several other considerations that account for the neglect of union organization as a topic of study With regard to the "experts" in organization, whether professional consultants or members of university faculties, there have been both financial and ideological links to the business and industrial managers virtually none to the labor leaders Managers have had both the funds and the disposition to seek and use technical advice, and to an increasing degree industrial managers are themselves college trained Unions have lacked not only the funds for use of consultants or hiring staff specialists, but perhaps more importantly have had few contacts with the academic and professional communities and slight disposition to trust anyone not definitely a part of the "labor movement." For this distrust there has been a very considerable justification in view of the traditional American hostility to unionism, but the effect has been two-edged—the unions have not developed standardized principles of organization appropriate to their aims and problems, and the actual internal practices and policies of unions are very inadequately known by students of industrial relations [1] Recent establishment of workers' education programs and of industrial relations research and instructional centers in a number of universities may be expected to improve the state of knowledge about unions, whatever the effect on the unions themselves

Almost by definition the "official" structure of unions is more easily accessible than is the translation and modification of that structure under conditions of actual operation. It is to the official order that we may first direct our attention, and subsequently to what we know or may reasonably guess about operations

[1] Secrecy and resistance to objective study are by no means peculiar traits of unions, as many social scientists seeking to study corporate records and policies can testify Any organization will resist observation, and particularly publication of results, if it fears damage to internal morale or possible aid to rivals.

The Union as a Representative Government The form of American union organization is typically that of a voluntary association, with sufficient common interests of members to justify their membership and with democratic modes of selecting leaders and representatives for carrying on the association's activities The terms of office of leaders, their powers and responsibilities, as well as the powers reserved to the membership meeting, are determined by constitutions and by-laws, as well as by custom and precedent The "actual" democracy of unions is a matter of much discussion, both within the unions and in circles in various degrees friendly or hostile to unionism, but of formal democracy there is a great deal in American trade unions

Although there are a variety of exceptions, the typical union member belongs to an organization which regularly operates at three levels (1) the union "local," in which the member presumably acts as a participant in a direct democracy through the membership meeting as well as a participant in the non-governmental aspects of union activity, (2) the national or "international" (the latter usually, although not necessarily, implying Canadian or possibly Latin American affiliates), and (3) the confederation of national unions (the American Federation of Labor or the Congress of Industrial Organizations)

Some notable exceptions to this typical structure require brief comment There are, in addition to unions affiliated with the AFL or CIO a number of "independent unions" Now an "independent union" may be a purely local affair, limited to a particular shop or locality. Most independent unions, however, have the local and national levels of organization, lacking only affiliation with one of the two confederations. The railroad brotherhoods are the most widely known independent unions, but there are also other powerful unions not members of the AFL or CIO. The International Association of Machinists, for example, occupies a strategic position in several capital goods industries and in a number of other industries as well Some unions have been organized as independents and have subsequently affiliated with a confederation—e g., the Communications Workers of America, CIO. Other unions have

been expelled from the confederations on policy issues, such as the United Electrical Workers and many smaller unions expelled from the CIO on charges of following the Communist line. One important national union, the United Mine Workers, was an important constituent of the AFL prior to the formation in 1935 of the Committee for Industrial Organization (which became in 1938 the Congress of Industrial Organizations) The president of the UMW, John L Lewis, was a leading agent in the formation of the CIO, but the UMW again became independent in 1940 over the issue of support of the Roosevelt National administration, which Lewis did not favor. In 1946 the UMW again affiliated with the AFL, only to "disaffiliate" again in 1947.

Within the confederations there are some exceptions to the typical three-level organization and some modifications for particular purposes. In both AFL and CIO there are some directly chartered locals in occupations or industries where for one reason or another national membership is small Particularly in the CIO there are, from time to time, also units affiliated with the parent body only through "organizing committees" Several of the most powerful CIO affiliates, including the steel and textile unions, started as "organizing committees," having been constituted as chartered national unions with locals only after the success of the organizing drive. Both the AFL and CIO have a partial territorial subdivision as well as functional constituents, through state and city Federations (AFL) or Councils (CIO) For the most part these geographical subdivisions do not figure in collective bargaining or most other union activities except local political action and policy National unions often have regional directors representing a coordinating stage between the local and national levels

Typically, therefore, a worker is a member of the AFL or CIO and of a national union by virtue of his membership in a particular local, although he may secure his transfer from one local to another in the same union So fundamental is this principle of local membership that most line and staff officers of national unions and the big confederations are members of a particular constituent local Since the local is the basic membership unit, it is at this level that policies

with regard to membership and jurisdiction, settlement of grievances, and most union "services" are translated into operating procedures

One of the most difficult problems of union organization is the basic one of membership criteria The problem appears in many guises—the question of jurisdiction as between rival unions, the question of the "closed" shop or union security provisions with the corresponding requirement of membership, and the question of exclusion of certain groups such as Negroes on grounds irrelevant to the professed jurisdictional claims of the union

The classic jurisdictional debate is that between rival principles of union membership, commonly called "craft" and "industrial" types of organization. Until the second half of the 1930's the predominant form of union organization was the "craft" unit comprising persons of similar skills In an environment essentially hostile to independent unionism, the occupation of a strategic position in the productive process was an important and often essential aspect of union strength

The strength of the local or national craft union lies chiefly in its monopoly of some skill, and the ability through joint action to bargain collectively with employers requiring skilled laborers of the type represented by the union. On this basis some of the craft unions affiliated with the AFL, as well as the independent Railroad Brotherhoods, have had some measure of success On the other hand, this type of organization holds little promise for the "unskilled" or mass-production worker, nor is it well adapted to the fairly rapidly changing organization and technology of industry Of the former difficulty we shall have more to say presently, but the latter difficulty spells internal trouble for federations of craft unions It is understandable that a given union will want to represent as many workers as possible, not only for dues payable but also for support in collective bargaining But the character of expansion and modification of labor skills raises questions concerning the jurisdiction of the traditional crafts Perhaps the classic example of this is the controversy over the affiliation of tin roofers, who are claimed by carpenters and metalworkers Such jurisdictional problems seem to mul-

tiply endlessly in modern industry, partly because of the rather unspecific character of the charters granted to potentially rival unions

The "industrial" principle of organization rests not on particular occupations but on major industrial specialties, that is, principally products Its outstanding advantage stems from its inclusive criteria of membership, which brought unions to large numbers of employees in manufacturing, and the correlative principle of matching the jurisdiction of the employer

Neither the craft nor industrial basis of union organization is as clear as some arguments about their characteristics imply Most craft unions do, in fact, include persons of somewhat different occupation, and many industrial unions experience difficulty in defining the boundaries of an industry in view of multi-product companies, industries whose products are components in other industries, and many other problems Although the AFL is commonly regarded as espousing craft unionism and the CIO as uniting industrial unions, both organizations actually use both principles in various mixtures and combinations.

On the craft *vs* industrial principle of union jurisdiction, the actual union membership and structure is more likely to be affected by bargaining advantage than by preference for abstract principles

Rival unionism does not end with the way craft and industrial principles cut across one another or by the overlapping jurisdictions of craft unions Other instances of disputed jurisdiction or competition for membership are likely to arise from "dual" unionism, that is, two or more organizations with similar jurisdictional claims but with dissimilar ideologies or affiliations Thus an AFL and a CIO affiliate may compete for members on exactly the same membership criteria, whether craft or industrial District 50 of the United Mine Workers has recruited members without regard to either craft or industry Some of the unions expelled from the CIO for Communist domination were immediately faced with new unions set up within the confederation in order to win back the non-Communist rank and file membership. Indeed, many organizational characteristics

and policies of American unions are now to be understood in terms of rival unionism rather than management-union rivalry.

Another much debated aspect of union membership is the somewhat "involuntary" union membership implied in the "closed shop" or other union-security devices As an organizational principle union security has both positive and negative potentialities On the one hand, union security not only provides the union with assured financial support from those benefiting from union activities but also with an assured membership against managerial policies designed to weaken the union, rival unions, or the simple but important attrition of interest that any voluntary association must face. On the other hand, the closed or union shop is likely to bring in reluctant members who regard union dues as a tax and union membership as something to be taken as lightly as possible. This attitude is not helpful to the union as a conflict group or to unionism as a "social movement."

At the opposite pole from involuntary inclusion of members, although sometimes paradoxically in conjunction with it, is the policy of exclusion of persons from membership The paradoxical combination occurs when the closed shop is supplemented by the closed union, so that persons otherwise eligible for employment are barred by the restrictive policy of the union This organizational principle is commonly designed to supplement monopoly of skill with limitation of supply in order to protect or enhance the earnings of those already in the union. However, if a union that excludes Negroes from membership on grounds of racial discrimination also achieves a closed shop, the effect is to deny employment as well as membership to the excluded group Many unions continue to exclude Negro workers, either by rule or by custom, but many of the newer industrial unions have consistently emphasized non-discrimination, often without support or enthusiasm at the local level

The union local is a self-governing body, both within the terms prescribed in its charter and in the constitution and rules of the national union. Local union officers are elected by membership vote and accountable to the electorate, but also to the parent body for

carrying on union activities in a way consistent with national union rules and policies. This dual accountability is subject to the difficulties inherent in any federal political system. Local pressure may bring union officials into conflict with national union policy. Although often discussed in terms of the degree of union democracy, that is not in fact the essential issue. National policy may be determined by the perfectly democratic procedure of majority rule within a constitutional framework, and yet not meet the approval of a local unit. Thus the essential issue is the degree of *local* self-government as opposed to self-government by a more inclusive electorate Clearly any solution to this problem of the powers and responsibilities of the local unit and its leadership depends upon specification of the *level* in the representative government where various decisions are made and activities carried out. There is no common pattern among American unions concerning the degree or sphere of local autonomy, but there is a notable tendency in this, as in other aspects of modern life, to increase the powers of the central agency. This tendency is especially the result of the developing character of management-union relations, discussed in Part Five.

The national or international union is in form a government responsible to a representative legislature (the convention), in which locals are represented according to dues-paying membership There are many variations around this pattern, however, including devices for giving minimal representation to certain affiliates in order to preserve the powerful position of others. Manipulation of the franchise is thus one of the "legal" means for achieving undemocratic representation and control. The financial support of the national union derives from a share of initiation fees and from a continuous "head tax" on the membership in the form of a share of union dues

Except for unions with some very large and prosperous locals, it is at the national level that most union staff functions become an important part of the structure. Unions differ widely in their development of specialized staff functions and officers. Some of the principal issues in this connection will be discussed below with reference to problems of union bureaucracy At this point two observations are in order. (1) The extent and type of staff specializa-

tion will primarily depend upon (a) the union's understanding of its principal aims and functions, its "services" to the local unit or the membership at large, and (b) its relations with other organized or unorganized "interests," including management, organs of government, and the general public. (2) Depending to a large degree upon the character of management-union relations, national officers may be entirely "staff" in that they advise but do not direct local officials, or include genuine "line" officers whose decisions are binding at the local level, the latter is by far more common, as is consistent with the federal principles of organization already discussed

The confederation (AFL or CIO) may be viewed as standing to the national union as the latter does to the local However, the confederation has fewer officers elected at this level by the representative convention as a governing body. With the exception of the president and secretary-treasurer, executive committees are composed of the officials of all (CIO) or part (AFL) of the constituent national unions. In fact, union federalism as a governmental structure stops at the national level, the confederation having no direct authority except that of controlling affiliation. The officers of the confederation are therefore solely in an advisory position except with regard to their own national unions. However, additional staff functions of relevance to the confederation as a whole or to its membership without regard to particular union affiliation are organized at the confederation level

The Union at the Shop Level Much of the preceding discussion of union government could, with a change of names and terms, be taken as describing many other large associations—for example, a religious denomination or a fraternal organization. The difference lies for the most part not in the general form of organization but in the particular ends that organization is designed to serve, in the particular ways activities are carried out, and, most importantly, in the criteria of membership.

The simplest key to an understanding of the union as both a distinct association and as a *part* of industrial organization is the nature of union membership A union member is such by virtue of his participation in productive organization As union membership

remains in the United States to a considerable extent voluntary, not all persons even at the rank-and-file level in productive organizations belong to unions But, with the exception of full-time officers and those for one reason or another not employed at their usual occupations, union members are producers of goods and service in the economic system. There may be a certain degree of probability that a member of a religious denomination will have a particular political affiliation, belong to certain types of clubs, and that he or the bread-winner of the family will have a certain level of income or broad type of employment The relationship, however, is not in the same sense intrinsic as that between the union and the industrial organization

At the shop level, the union is intrinsic to industrial organization by virtue of its membership and by virtue of its operation as a part of the system of industrial government This point will be discussed in subsequent chapters as an aspect of management-union relations In the present context it is important to note that whatever the level at which collective bargaining takes place the daily life of the worker is affected by the way agreements are translated into daily relations with supervisors and with union officials.

Two union officials not yet discussed are the "business agent" and the "shop steward" These officials carry on much the same function and within any particular union structure the offices tend to be mutually exclusive The titles are in fact somewhat interchangeable, but a structural distinction can still be drawn regardless of titles

The "business agent" is ordinarily a full-time official of the union who moves from one work unit to another to check on compliance with collective agreements and take up workers' grievances through the established machinery or on a more informal basis In a very real sense he is the representative of the union *to the worker* as well as to management.

The "shop steward" is ordinarily a regular employee in the work unit, elected by his fellow union members to represent them in disputes with supervisors A common practice is for the union to recompense the shop steward on a "lost time" basis. (A similar practice is often followed with respect to other local officers.) The structural

distinction mentioned is that the shop steward as a regular fellow employee is likely to be more directly responsive to rank and file pressure and at the same time a direct symbol of the union members' partial control over the concrete operation of the productive organization as it affects them

Leadership and Democracy With the growing size and power of unions in the United States, there has also been an increasing concern for the internal structure of union with regard to leadership and democracy. Naturally, much of this discussion has been extremely partisan, and at least some of it has been "disinterested" but hopelessly muddled Thus democracy has been confused with open opportunities for membership, although exclusion does violence to democracy only if the union professes to represent those excluded, however reprehensible exclusion may be on other grounds Similarly, long tenure of union officials is only undemocratic if opposition candidates are prevented from running for office or are defeated by "illegal" means The absence of an organized opposition in the form of the political party does not prove the absence of a democracy in a voluntary organization with somewhat greater chance of consensus on matters relevant to organizational purposes than has the modern state.

If union organization is approached in terms of its leadership, it is clear that an essential requirement of the union officer is that he be a politician.[2] This implies not only a sensitivity to rank-and-file pressures, but also the probability of a "political machine" and of patronage with respect to appointive officials These in turn are not undemocratic if opposition is not crushed by ejection, denial of free speech, or other incursions on "civil liberties" within the organization

Inherent in any such organization, however, and particularly one without an independent judiciary, is the possibility of illegal domination by a leader, or more properly, by a tight power group This makes possible a "dictatorial" leadership that may indeed gain

[2] See Benjamin M Selekman, *Labor Relations and Human Relations* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc , 1947), Chap VIII, "Wanted. Mature Labor Leaders"

power only to dispense with democratic procedures in order to retain power [3]

In order for a small minority of the union membership to gain and retain dominance it is not, however, absolutely essential to use undemocratic means Indeed, a favorite weapon of a Communist minority is to use the very paraphernalia of democracy, and especially parliamentary procedure, to defeat opposition and provide a leadership that would not be supported by the membership at large if it took the trouble to replace it In order to understand this phenomenon it is necessary to grasp the characteristics of a special-interest association. Many, and often most, members of such a group belong for very limited reasons, even if membership is entirely voluntary. As long as the organization fulfills those special interests—say periodic pay increases—there is likely to be little inclination to attend meetings, serve on committees, or form an opposition caucus to unseat the leadership In most specialized associations most members are not good "organization people," in the sense of wide and consistent participation in organizational activities This means that a small group of determined individuals can capture elective offices because of their obvious willingness to serve even at some seeming sacrifice Coupled with the tactic of wearing out the opposition—"come early and vote late"—the concerted and persistent action of the minority leadership can retain power without majority support but with the passive acquiescence of the majority

The power of union leaders is more widely recognized than is the fact that these "new men of power" do not have prestige in the community at large commensurate with either their power or their income [4] Only rarely does union leadership extend to community leadership, except as the community is affected indirectly by the internal organization and decisions of unions Given the ad-

[3] See Wellington Roe, *Juggernaut American Labor in Action* (Philadelphia J B Lippincott Company, 1948)

[4] See C Wright Mills, *The New Men of Power America's Labor Leaders* (New York Harcourt, Brace and Company, 1948), especially "Introduction," and Chaps 3–5, Eli Ginzberg, *The Labor Leader* (New York The Macmillan Company, 1948)

ditional fact that union leadership constitutes a fairly important new channel of mobility for those not moved up into managerial ranks in the industrial system, an insight is provided concerning the anxiety of union officials to protect their internal power in the unions. Within the organization prestige accompanies power The "maturity" of labor leadership so often sought probably depends in some measure upon professionalization of the position and its recognition within the prestige system of the society Such a solution would in turn, however, have rather serious implications for the rather rough-and-tumble democracy prevalent in many unions

The problem of union leadership and democracy arises in still another context in contemporary public discussion. That discussion revolves around the "responsibility" of union leaders, usually in the sense of reliability and trustworthiness in dealings with management The plea for increased responsibility of union leaders is often made by those who at the same time criticize the lack of grass-roots democracy in the union. But clearly union "irresponsibility" in keeping a collective agreement may arise from the very real *responsibility* (that is, accountability) of union leaders to members. Because of the very democratic or quasi-democratic structure of the unions, agreements entered into by union representatives may be rejected by the membership, violated subsequent to approval, and leaders deposed if they attempt to be "responsible" The external responsibility of the union leader depends in considerable measure on his internal political security, but paradoxically that security may best be fostered by a conflict orientation toward management or other interest groups Just as in other aspects of the industrial system, failure of the individual to think in terms of the operation of the organization as a whole leads to pressures that may damage the continuous effectiveness of the union as a going concern. From this point of view the union leader may need to do more than "represent" the members distributively, especially by way of "education" in aims and policies of the union as such. In this the union official is like the executive of any large organization, whether elected or appointed—he must view the organization as a whole Represen-

tative democracy places a special burden on this responsibility, a cost to be justified on other grounds

Problems of Bureaucracy Since the rapid growth and even the establishment of many labor unions is fairly recent, it is not surprising that organizational procedures have not kept pace Even more acutely than in industrial management, a constant tone of crisis pervades decision-making The prevalence of short-run plans, of decisions made *ad hoc* in each situation, has two outstanding organizational results—failure to utilize the efficiencies of routinization and decentralization of authority, and failure to develop staff functions that would supply on a continuing basis the information needed for policy.

It is true that some idealists of the "labor movement" dislike the trend toward rationalized organization because of its actual or probable effect upon the enthusiastic and even sacrificial efforts of the crisis leader and the correlative sense of participation by the rank and file. Development of organizational routines, however, is an intrinsic penalty of success, and one that cannot be avoided even by finding ever new and larger enemies to conquer, for even large-scale conflict requires an extensive "bureaucracy"

Some of the concern of sympathetic observers over "union bureaucracy" undoubtedly stems from the tendency for appointive and even elective officials to treat their positions as sinecures if they are politically secure.[5] This, however, is not a problem of "bureaucracy" as such but of ineffective means for enforcing the accountability of office holders Of bureaucracy in the strict sense of technical specialization and its associated features previously discussed, the typical labor union probably has too little for optimum operation rather than too much.

Staff specialization in particular tends to be very meager even at the national union level This is partly a function of recent establishment or rapid growth, already mentioned. The more fundamental reason for failure to develop staff functions, however, de-

[5] See Irving Howe and B J Widick, *The UAW and Walter Reuther* (New York: Random House, 1949), Chap 11, "The Life of a Union: Democracy and Bureaucracy"

rives from the fact that most unions still are in considerable measure *conflict organizations.* Several implications follow from that conflict orientation: (1) The union tends to have funds inadequate to provide a "war chest" for industrial disputes and still employ expensive technical talent on a continuing basis. (2) Securing a competent staff is made additionally difficult in that the employer (the union) has little prestige comparable to that offered by positions with established and "respectable" organizations. (3) As the nature of industrial conflict is not territorial but in some degree "ideological," organizational loyalty is likely to be a very important basis for staff appointments, with a definite tendency for such positions to be awarded to faithful incompetents. (4) The staff officers actually employed are likely to be assigned tasks dealing with the union's external relations and only very indirectly with the formulation of internal policy. This in turn is due not only to the concern of the union over its relations with management, the government, or the general public, but because there is likely to be very little disposition to trust the recommendations of the "intellectuals" against the intuitive judgment of the experienced leader scarred by successful conflict.

Bureaucracy in union organization is likely to increase in the measure that unions achieve security in membership and stability in industrial relations. It is also likely to increase proportionally to the extension of union aims and functions discussed in the following section of the chapter.

AIMS AND FUNCTIONS OF UNIONS

Unions may be regarded as collective means for the achievement of individual goals, but also as collectivities with aims and functions that are not merely the sum of individuals' goals. The union will have different values for various members, and the only (not necessarily the least) common denominator of those values may simply be the survival of the organization.

Many of the aims of unions are expressed through the medium of collective bargaining, for the avowed purpose of union organization as such is ordinarily the representation of workers in industrial or-

ganization By a somewhat artificial separation, the aims and procedures of unions in their relations with management are postponed to the several chapters of Part Five. Here attention may be given those aims and activities of unions that do not in a *direct* way depend upon the union's relations with management.

Status in Shop and Community. It is an essential characteristic of industrial organization that it unites in cooperative effort not a group of "whole" persons but rather a group of fragmental persons who participate in production through the demands of an occupation It has already been observed that among factory operatives, as among their managers, there is a considerable and indeed overwhelming pressure to add to the technical status in the organization a variety of social relations.

In the nature of the productive process with its great emphasis on the efficiencies of routine and specialization, it has been more difficult for production workers than for other groups to indulge this common desire for social meaning and satisfaction in daily activity.

The unions are often accused of stereotyping the individual, of substituting group ends for individual ones, of thwarting individual initiative The important fact in this connection is that the unions for the most part have not created standardization and impersonality, they are a product of modern industrial organization and a reaction to some of its characteristics.

Whether recognized as an important aim of unions or not, one of the functions performed by the union is to give its members some standing in the shop and community. In the shop the worker, through his union membership, has some assurance of a hearing for his complaints, protection against whimsical superiors, and even a measure of control over his daily working conditions In short, the worker may become a *participant* in modern productive organization in a more meaningful sense than when he was treated (or thought he was treated) only as a recipient of directions and an adjunct to the machine.[6]

[6] See Joseph Shister, "Trade Union Policies and Non-Market Values," in Milton Derber, ed , *Proceedings of the Second Annual Meeting, Industrial Relations Research Association*, New York City, December 29–30, 1949 (Champaign, Ill 1950), pp 85–99.

The union gives the worker not only a new standing in the industrial organization but also in the community at large. Warner and Low, in their report on an old New England industrial community, place considerable emphasis on union membership and activity as an outgrowth of the steadily declining community status of the factory workers[7] Hart, on the other hand, found in a relatively new Canadian industrial community that there were no traditions of graded skills of artisans to lose, but only the standardized mass production of the automobile industry Here, too, the "working masses" became, through their unions and its activities in the community as well as the shop, persons with a definite place in community life[8]

Participation and Services. Although presumably organized primarily as a conflict or bargaining agency, unions may and to an increasing extent do provide types of participation and services not provided for workers by other agencies or provided only in a grudging and patronizing way

As an association primarily related to the economic sector of social life, it is not surprising that many union services involve the pooling of funds for the achievement of various economic aims Thus some unions have experimented with the reduction of distribution costs through cooperative buying and the organization of consumers' cooperatives. A few unions have entered the field of banking and credit, and the Amalgamated Clothing Workers Union even undertook to sponsor cooperative housing

Despite the wide discussion of union pension demands in collective bargaining after World War II, social welfare and insurance benefits have long figured in union activities, often through benefit plans financed solely by contributions of union members In the future the unions' aspirations for various kinds of insurance are likely to swing between demands upon management and pressures on national and state governments, depending upon the current

[7] See W. Lloyd Warner and J O Low, *The Social System of the Modern Factory, The Strike A Social Analysis* (New Haven Yale University Press, 1947), Chap IX, "The Workers Lose Status in the Community"

[8] See C W M. Hart, "Industrial Relations Research and Social Theory," *Canadian Journal of Economics and Political Science*, 15-53-73, February, 1949.

strength of the union and the temper of corporations and legislatures.

It would be a mistake, however, to view the union's functions as entirely confined to the market, whether the labor market or the commodity market. As already noted, the union tends to give the worker a new standing in the shop and community. And for some workers the very existence of the union provides a sense of "belonging" and of social participation. This "service" of the union is likely to be particularly important to the isolated urban worker and the member of a disadvantaged group. Both may find themselves cut off from more "normal" or at least more traditional forms of social activity. By no means all urban workers are "isolated," and it appears probable that careful study would reveal an inverse relationship between the intensity of union activity and the extent of participation in the more traditional forms of familial and neighborhood life and types of voluntary associations. It is certainly true that at least some "minority" groups have become especially staunch union members.

Some unions such as the International Ladies Garment Workers Union have developed extensive forms of intellectual and recreational activities for members. Many of these activities seem designed to bring various middle-income services to factory workers, but they are likely also to be defended in terms of their value to the "labor movement." There is some doubt whether the unions with the most extensive programs have ever carefully appraised the priorities to be assigned to the several activities should the union treasury be reduced. There is even more doubt that either unions or students of labor have carefully appraised the significance of union attempts to act as a sort of encompassing community for its members. The importance of the occupational position is so great in modern life that there may be increasing pressure to make it, and its formal expression in the industrial organization or the union, the central focus of all social activity. Although this tendency would appeal alike to believers in the broader aspirations of the "labor movement" and to social scientists with an implicit ideology that the good society is the perfectly integrated one, it is doubtful

whether any largely voluntary, special-interest association is structurally suited to serve the functions of a complete community

Political Action. For the greater part of American history, organized labor did not fare well at the hands of legislators, judges, and law enforcement officials, the difficulties being partly doctrinal and partly political in the narrow sense of effective power For these and other reasons labor organizations have found themselves opposing the forces of "law and order" more frequently than they have been allied with the government and its agencies And although the suffrage has been progressively widened, especially by the reduction or elimination of property qualifications, organized labor in the past exerted very little influence toward fundamental modification of doctrine or the activities of local officials This was partly due, of course, to the absence of a consistent doctrine or program. Moreover, many workers have been and are unorganized—often the minority represented by unions has been very small—and at least on a national scale other interests and cleavages have assumed greater importance than class or occupational distinctions.

Organized workers and their sympathizers have not, however, totally neglected considerations of political power Direct political action through the support of prolabor candidates or even putting labor party tickets in the field has had some local success Indeed, local political action has considerable advantage as an indirect labor weapon, since the control of law enforcement officials is primarily local. Thus the election of union men as mayors or members of town or city councils may yield immediate benefits in the way the laws are interpreted and applied, with little or no change in formal statutes Pragmatically considered, of course, the law is what the courts will apply and the police will enforce, and these are preeminently local affairs.

Nationally the program of organized labor has consisted less of party action than of pressure-group action The support or nonsupport of a sizeable and organized constituency of whatever sort is not without significance for elective officials Although labor officials have not been uniformly successful in "delivering the vote," their prestige in this respect has increased in recent years There is still

considerable, and often acrimonious, debate as to the value of the support given to the national administration since 1932, and as to whether the debt was underpaid or overpaid. Yet it is certainly true that the position of organized labor on questions of public policy is not only increasingly expressed, but also increasingly heard and at least partially followed.

Since the passage and support by the courts of such acts as the National Labor Relations Act, the Fair Labor Standards Act, the Norris-La Guardia Act, and various other national and state laws, organized labor has found and used the weapon of the courts, formerly reserved almost exclusively for management Changes in the law not only strengthen such weapons as the strike and picketing already in use, but modify the balance of power in such a way that the labor organization may use the less expensive (and incidentally less violent) indirect weapons provided by government. Labor organizations thus have access not only to such weapons as injunctions—or "cease and desist" orders issued by administrative agencies and upheld by the courts, which amounts to the same thing—but can add weight to their propaganda by being leagued with the government Thus, after the passage of the National Labor Relations Act, union organizers could claim with considerable accuracy that the national government itself desired the organization of workers. Labor unions lost national political status as a result of the passage of the Taft-Hartley Act, perhaps less because of its direct provisions, designed to correct various labor "abuses," than because of the unions' strong but unsuccessful opposition to the legislation

In the present context it is important to note that with the increasing size and power of labor unions in the industrial system they have also shown increasing interest and partial effectiveness in political participation Although the difficulty of "politicizing" the American labor movement has been the despair of various minority political groups inside and outside the unions, a kind of pragmatic but often very active political effort is increasingly common In many local areas persons scarcely noticed by the standard party machines have shown both enthusiasm and talent in electioneering

Aside from the obvious benefit to any interest-group in having

friendly elected officials, the fact of political action itself may serve to enhance the importance of the union to its membership and provide avenues of activity for those politically oriented members who might otherwise become dissidents within the union

The union, we have implied, is scarcely fitted to be all things to all people or even to all members, but it may occupy a fairly wide place in the life of the union member both within the industrial organization itself and in the community at large. The way the union modifies the structure of industrial management itself and creates new patterns of group relations in modern society will be explored in subsequent chapters

REFERENCES

AARON, BENJAMIN, "Protecting Civil Liberties of Members within Trade Unions," in Milton Derber, ed , *Proceedings of the Second Annual Meeting, Industrial Relations Research Association,* New York City, December 29–30, 1949 (Champaign, Ill. 1930), pp 28–41

BARBASH, JACK, *Labor Unions in Action A Study of the Mainsprings of Unionism* (New York Harper & Brothers, 1947), 83–90

BERMAN, EDWARD, "The American Labor Movement," in Emanuel Stein and Jerome Davis, eds , *Labor Problems in America* (New York. Farrar and Rinehart, 1940), Book II (Chaps 10–13).

BLOOM, GORDEN F , and HERBERT R NORTHRUP, *Economics of Labor and Industrial Relations* (Philadelphia The Blakiston Company, 1950), Chap. 4, "Union Structure and Government," and Chap 9, "Union Structure and Government," and Chap. 9, "Union Institutionalism and the Scope of Union Activity "

BRAUNTHAL, ALFRED, "American Labor in Politics," *Social Research,* 12: 1–21, February 1945.

BROOKS, ROBERT R R , *When Labor Organizes* (New Haven. Yale University Press, 1937).

COMMONS, JOHN R., DAVID J SAPOSS, and OTHERS, *History of Labour in the United States* (New York· The Macmillan Company, 1921–1935, 4 vols)

CUMMINS, E E , *The Labor Problem in the United States* (New York D Van Nostrand Co., 1932), Part III (Chaps V–XII), "The Wage Earner "

DANKERT, CLYDE E., *Contemporary Unionism in the United States* (New York Prentice-Hall, 1948)

DAVID, HENRY, "Labor in Politics," in Emanuel Stein and Jerome Davis,

Labor Problems in America (New York Farrar and Rinehart, 1940), Chap. 20

FELLER, ALEXANDER, and JACOB E. HURWITZ, *How to Deal with Organized Labor* (New York. The Alexander Publishing Co., 1937), Part One, Chap I, "Organized Labor—Immediate Objectives", Chap IV, "The American Labor Movement", Chap. V, "Organization, Structure and Government of Unions."

GINZBERG, ELI, *The Labor Leader* (New York. The Macmillan Company, 1948).

GOULDNER, ALVIN W, "Attitudes of 'Progressive' Trade-Union Leaders," *American Journal of Sociology*, 52· 389–392, March 1947.

HART, C. W. M, "Industrial Relations Research and Social Theory," *Canadian Journal of Economics and Political Science*, 15 53–73, February 1949.

HOWE, IRVING, and B J WIDICK, *The UAW and Walter Reuther* (New York. Random House, 1949).

MACDONALD, LOIS, *Labor Problems and the American Scene* (New York and London Harper & Brothers, 1938), Part Six (Chaps. XX–XXIX), "The Labor Movement."

MILLS, C. WRIGHT, *The New Men of Power America's Labor Leaders* (New York. Harcourt, Brace and Company, 1948), especially "Introduction," and Chaps. 3–5.

PETERSON, FLORENCE, *American Labor Unions What They Are and How They Work* (New York. Harper & Brothers, 1945)

PIERSON, FRANK C, "The Government of Trade Unions," *Industrial and Labor Relations Review*, 1 593–608, July 1948.

ROE, WELLINGTON, *Juggernaut. American Labor in Action* (Philadelphia. J B. Lippincott Company, 1948).

ROSE, CAROLINE BAER, "Morale in a Trade-Union," *American Journal of Sociology*, 56 167–174, September 1950.

SELEKMAN, BENJAMIN M., *Labor Relations and Human Relations* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1947.)

SHARP, MALCOLM, and CHARLES O GREGORY, *Social Change and Labor Law* (Chicago University of Chicago Press, 1939), Part II, Chap I, "The Common Law in State and Federal Courts"

SHEPARD, HERBERT A, "Democratic Control in a Labor Union," *American Journal of Sociology*, 54 311–316, January 1949

SHISTER, JOSEPH, "The Locus of Union Control in Collective Bargaining," *Quarterly Journal of Economics*, 60 513–545, August 1946.

———, "Trade Union Government A Formal Analysis," *Quarterly Journal of Economics*, 60 78–112, November 1945

———, "Trade Union Policies and Non-Market Values," in Milton Derber,

ed., *Proceedings of the Second Annual Meeting, Industrial Relations Research Association*, New York City, December 29–30, 1949 (Champaign, Ill 1950), pp. 85–99

SLICHTER, SUMNER H, *The Challenge of Industrial Relations Trade Unions, Management, and the Public Interest* (Ithaca Cornell University Press, 1947), Chap IV, "The Government of Trade Unions"

——, *Union Policies and Industrial Management* (Washington The Brookings Institution, 1941), especially Chaps I–XIII

WALSH, J. RAYMOND, *C I. O Industrial Unionism in Action* (New York W W. Norton and Co, 1937).

WARNE, COLSTON, "The Workers' Approach to the Labor Problem," in Emanuel Stein and Jerome Davis, eds, *Labor Problems in America* (New York. Farrar and Rinehart, 1940), Book III See Chaps 14–17 and 19

WARNER, W. LLOYD, and J O LOW, *The Social System of the Modern Factory, The Strike. A Social Analysis* (New Haven Yale University Press, 1947), Chap. IX, "The Workers Lose Status in the Community"

WHITEHEAD, T. N *Leadership in a Free Society* (Cambridge Harvard University Press, 1937), Chap. XI, "The Function of Trade Unions"

PART FIVE

MANAGEMENT–UNION RELATIONS

CHAPTER XIV

MANAGEMENT AND UNION ORGANIZATION AS RELATED TO BARGAINING

To most persons not directly involved in the factory system of production, and to many persons who are, the outstanding feature of modern industrial life is the state of relations between management and the unions. Among the myriads of relations inherent in the industrial mode of production, those between corporations and labor organizations are commonly known as "industrial relations" The claim of the unions to a place in the industrial system was long opposed with some success, and the continued uncertainty about the exact nature of that place gives rise to continued disputes. It is scarcely surprising, therefore, that these two substructures of modern industrial organization are often pictured as opposing armies, their leaders adopting the customary posture of gladiators.

As indicated in previous chapters, management necessarily and the union probably exist for purposes besides that of achieving their aims by bargaining with each other Yet the importance of the union in modern industrial organization is such that many policies and decisions, and even the continued operation of the productive system, are contingent upon the participation of the union as a sector of the total organization. Under systems of public ownership or the corporate state the union and some of its functions are likely to persist, although the character of management-union relations is likely to be very different. With the union operating with more or less autonomy in the industrial system, the character of management-union relations may greatly influence the nature of the productive system

Although management and unions are each likely to have ends

and activities not directly tied to the nature of their joint relations, each structure is molded in part by its relations with the other and indeed by the very existence of the other. Two simple illustrations may be in order. First, examine the case of a corporate management with a plant not yet organized by an independent union. Only the most naive would suppose that management is therefore "free" of union influence. Actually, nearly all policies with respect to wages and conditions of employment will be adopted in the light of trends in collective bargaining The preventive measures taken by management to avoid union organization may be somewhat less military than the older weapons of the mercenary army and well-paid spies, but they are likely to be important in the actual operation of the managerial organization. Second, consider the case of the union with a great deal of autonomy of local units at the shop level, which finds that essential decisions affecting labor policy are made by top executives for all plants of the company, or even by a trade association for the industry as a whole The very existence of this managerial structure, and particularly the attempts of the union to penetrate it, will almost certainly produce a parallel concentration of union power for determining bargaining policy

There are many other aspects of reciprocal influence between management and the union, ranging from the obvious to the fairly subtle. The purpose of this chapter is to examine what might be called the essential structure of management and union as it bears on the relations between them, but also on the way the operating organizations are modified by the character of their interrelations

MANAGERIAL STRUCTURE AND THE BARGAINING FUNCTION

The structure of management, which was examined in some detail in Part Three, may here be reappraised in terms of the bargaining function. This reappraisal will focus on three questions the location of labor relations policy, the expansion of joint determination, and the expansion of staff and services.

Location of Labor Relations Policy. Our previous discussion of managerial decision-making indicated that the formal structure of man-

agement is authoritarian but that the top executive alone cannot possibly make all decisions This means concretely that managerial policies always represent some sort of balance of diverse facts and opinions, and often of opposing views. The closest approximation to the formally authoritarian power of the executive is that of "consultation," with divergent views perhaps freely expressed prior to decision, but ending with a binding decision by a single executive or small group If disgruntled groups, or those who claim that new developments demand reopening the discussion, are given no hearing, managerial flexibility depends entirely on the top executive group

The relevance of this aspect of managerial structure at once becomes evident if one considers the problem of determining managerial policy on collective bargaining in a large multi-plant and multi-product company. The increasing policy of decentralization to accomplish flexibility and broaden the base of managerial responsibility encounters the difficulty that problems of labor policies are of a more *general* character than most other matters requiring decision At the same time, the growth of national industrial unions with centralized policy-determination may create the necessity of additional managerial centralization Dubin has pointed out that bigness alone tends to require standardization of managerial policy with respect to labor,[1] and Baker finds that there has been a trend toward increased concern of top management in determining labor policies [2] Indeed, even if contracts are negotiated locally the essential policies may be determined for the company as a whole by the highest executive group

Despite the increased attention of top executives to management-union relations or perhaps because of it, Baker finds that by comparison with 1937 the principal industrial relations officer now generally appears at a higher position in the managerial structure.[3]

[1] See Robert Dubin, "Decision-Making by Management in Industrial Relations," *American Journal of Sociology*, 54 292–301, January 1949

[2] See Helen Baker, *Management Procedures in the Determination of Industrial Relations Policies* (Princeton Industrial Relations Section, Princeton University, 1948)

[3] *Ibid*

In many of the largest corporations the principal industrial relations officer now figures as a ranking vice-president, administratively attached to the central executive staff In some companies relations with unions have been regarded as sufficiently important to add an entirely new department to the organization, in addition to an existing personnel department

The process of moving decisions on management-union relations "higher" in the managerial structure and nearer its "center" in terms of line executive interest is naturally in large measure the effect of the impact of centralized union policy. Where the industrial union is itself decentralized for bargaining, these managerial changes may be less evident Similarly, the fractioning of unions along product or craft lines may indicate a policy of managerial decentralization of the bargaining function

It should be noted that management is under no such normative pressure for democratic determination of policy as is the union Indeed, elaborate decentralization runs the risk of condemnation as "abdicating of executive responsibility." Yet to an increasing extent the very complexity of industrial organization and the growing concern for morale and utilization of talents "down the line" may prompt attempts to generate discussion and determine policies at lower levels Although it is probably not true that such policies if adopted earlier and without union pressure would have prevented the appearance or great influence of unions, it is certainly true that the representation of the lowest ranks of industrial organization by an organization with power to force concessions and agreements from the top levels provides management with serious problems of organization

Expansion of Joint Determination. The union, we have observed, is not simply an external element in industrial organization, to an increasing extent, it *permeates* it. The implications of the broadening scope of collective bargaining are discussed in Chapter XVII In the present context it is appropriate to examine some intrinsic features of managerial structure that slow down the process of sharing authority

In the nature of the case the union is in the position of challenger

to managerial authority. This means that management is likely to resist changes sought by the union on principle, somewhat independently of momentary market advantages in quick settlement. The union demands are likely to narrow, and in any event will certainly change, the area of autonomous authority of many managers, from president to foreman. And since those powers have been supported by ideological claims to legitimacy, questions of sentiment as well as rational calculation are likely to be raised.

Resistance *on principle* does not necessarily imply that all types and grades of managers will uniformly oppose union demands. Nor should it be assumed that line managers are more intransigent opponents of the union than staff men. Those not faced with regular relations with union members or officers, such as lawyers and treasurers, are likely to be more concerned with abstract rights and principles than those on the firing line. Some managers may favor concessions for reasons of practical operation in the immediate situation, others because they regard the process as inevitable in the long run and seek as orderly a development as possible. Some few may see advantages in morale and "communications" in the entrance of the union into various areas of decision-making.

The norm of authoritarianism in management has an additional significance in this context. In this, as in other matters, cleavages in the managerial structure are by no means unlikely. They are, however, commonly "private" disputes, for the power to influence the decisions of top executives is not a "right," and the norm dictates hiding disputes both before and after decisions are made.

Quite apart from questions of sentiment or principle, managerial structure is resistant to change by the very nature of bureaucratic organization. As pointed out in Chapter IV, an elaborate formal organization with its intricate specialization of functions and routinization of activities is best fitted to operate in a stable environment. Achievement of flexibility is one of the most pressing problems of any such organization under conditions of external change.[4] In the

[4] Dubin, *op. cit.*, greatly overstates the extent to which managerial structure is keyed to change. One of the major functions of scale in industrial operations is to control or cushion market, technological, and other relevant changes.

management of industrial organizations market and technological changes are regarded as more or less inevitable and even "right," although large organizations will attempt to control these changes. But governmental regulation, whether legislative or administrative, and union demands do not come within the theory of impersonal inevitability, and the disposition of management may be to contain or defeat the change rather than adapt to it

Despite these resistances the areas of joint determination by management and union have increased and are likely in the near future to continue to do so As the union "permeates" the industrial organization it will inevitably affect the operation of staff activities previously not directly concerned with union relations This leads to the likelihood of wider staff participation in decisions regarding management-union relations or else a greater "interference" in staff operations by line officers negotiating union agreements The latter alternative would then constitute a new form of "business" consideration bearing on technical operations Just as the company's market position may dictate the direction of engineering development, so its relations with the union may alter the training of apprentices or the character of its pension system

Expansion of Staff and Services It follows from the preceding discussion that with the inclusion of the union in the industrial system the structure of management is changed both in order to bargain and as a consequence of union demands and agreements. This same duality appears in the expansion of staff and services. The increased importance of contract negotiation and of administration of agreements through grievance procedures has led to the direct expansion of personnel or industrial relations staffs The capacity for negotiations and even administration to consume managerial (and union) time is very considerable From this standpoint decentralization of bargaining or even the fractioning of unions fostered by the Taft-Hartley Act may have distinct disadvantages to management

Some of the consequences of labor agreements for staff expansion have already been implied in the discussion of the expansion of joint determination Such expansion may not only affect the opera-

tions of existing staff units but result in the creation of entirely new units ranging from market analysis to pension plans

There are even more indirect and occasionally subtle changes to be noted, however To a marked degree management has defined its relations with the union as one of competition for the loyalties of workers Thus the very popular development of "human relations" programs, of conferences and therapeutic counseling, and of more or less elaborate employee benefit plans, have been in no small measure due to the growth of unionism Similarly the plight of the foreman as the "man in the middle" has been given greatly expanded attention by management because of a combination of related developments (1) union wage scales, particularly coupled with penalty rates for overtime work during periods of high production, often resulted in larger pay for workers than for their supervisors, (2) foremen often found their authority greatly diminished as a result of union success, not only because of the power of the shop steward but also because of the tendency for the foreman's superiors to settle issues "over his head" on an emergency basis, and (3) independent unionism for foremen made considerable headway for a time just prior to and after World War II. The result of these developments has been greatly increased managerial attention to selection and training of supervisors, coupled with attempts to enhance their authority and prestige

Where management has admitted the possibility of different spheres of workers' loyalties to the union and the company, other types of changes in staff organization are likely to result. Thus even outside the direct areas of current negotiation, management may find it wise as a preventive measure or even positively advantageous to consult the union concerning contemplated changes in policies or procedures. By the same token, the union may serve as a more effective medium of communication than the direct line organization or the posted bulletin [5]

[5] See Helen Baker, *Company-Wide Understanding of Industrial Relations Policies A Study in Communications* (Princeton Industrial Relations Section, Princeton University, 1948), especially Chap V, "The Influence of Unions on Communications", Sumner H Slichter, *The Challenge of Industrial Relations Trade Unions, Management, and the Public Interest* (Ithaca Cornell Univer-

UNION STRUCTURE AND THE BARGAINING FUNCTION

The formal structure of unions is, as already observed, considerably less elaborate than that of modern industrial management The organization also tends to be less explicit and rationalized, more the product of particular personalities and events The fluidity of the union organization is partly a result of recent and rapid growth, partly the result of the more specific orientation of the union toward the shifting character of collective bargaining

Primacy of the Bargaining Function Unions perform a variety of services for their members and serve a number of functions that may not be explicitly recognized. It remains true, however, that securing concessions from employers and the representation of the worker in the daily conduct of management-labor relations are central to most unions' activities. In a more fundamental sense than with respect to management it may be said that the bargaining situation is the major determinant of union structure

Historically, unions were successful only as their members occupied strategic positions in the technical or marketing structure of industry.[6] This was true not only because such workers were difficult or impossible to replace, but because the legally-sanctioned power of employers to combat unions was less effective against those strategically placed. The unions representing large numbers of employees in mass-production industries required concerted action by large numbers of individually replaceable workers, abetted by changed legislation that allowed and even encouraged such organization.

Thus just the question of size of the union unit engaged in bargaining depends in considerable measure upon the degree to which numbers are a necessary component of bargaining power. Until modified after World War II by the Taft-Hartley Act, the National Labor Relations Board under the Wagner Act rather consistently

sity Press, 1947), Chap II, "The Effect of Trade Unions on the Management of Business Enterprises"

[6] See John T Dunlop, "The Development of Labor Organization A Theoretical Framework," in Richard A Lester and Joseph Shister, eds, *Insights into Labor Issues* (New York The Macmillan Company, 1948), pp 163–193

settled questions of the "appropriate bargaining unit" in terms of matching the power of the employer. With many exceptions where craft organizations had long-established bargaining relations with the employer, the tendency of the NLRB was to judge an "appropriate bargaining unit" the one that covered approximately the same sphere as the employer's labor relations policy. If this policy was determined on a company-wide or, through a trade association, an industry-wide basis, the approved bargaining unit tended to have the same jurisdiction.

So closely geared is the union to the nature of its relations with management that there is a tendency to develop matching jurisdictions even in the absence of administrative decision. However changes in structure themselves constitute potential weapons in the conduct of bargaining. Thus unions may attempt to "pick off" one employer at a time but subsequently seek to "take labor out of competition" by industry-wide bargaining. In view of its greater flexibility the union may be able to move decision-making from a local to a national level and back again more quickly than can management.

The general tendency in union organization, however, is to secure as broad a basis of common standards as possible, and thus to centralize decisions and the conduct of bargaining at the level of the national organization. When coupled with a multi-stage grievance procedure, this is likely to produce a union hierarchy with something like the number of stages in managerial organization. The result is that of parallel, interrelated, but competing organizations with a common membership at the rank-and-file level.

There is a by-product of the centralization of the bargaining function in the union that also merits attention. That by-product is the change in local union structure when the officers are no longer centrally concerned with the major issues in the union's relations with management. Since those issues are settled at higher levels, the local union and its officers can pay greater attention to other aims and functions of unions in the plant and community.

Union Politics and Collective Bargaining Union policies in relations with management are a complex balance of pressures to an even

more marked extent than are managerial policies. This arises primarily from the interplay of two characteristics of union organization: (1) most union membership is voluntary and not a condition of continuing employment, although "union security" agreements tend to reduce this source of strain on union organization. The voluntary character of membership means that relations with management must be sufficiently acceptable to keep members in the union. Dissent from managerial decision by a member of management is likely to mean dismissal from employment. In the union without a maintenance-of-membership agreement, dissent means loss of a supporter (2) In any case, the norm of democratic organization makes union decision-makers in some degree responsible to the organization, so that policies are likely to reflect membership opinion either expressed by actual vote on issues or expressed by selection of officers

To these characteristics of voluntary and democratic organization as factors in the often tenuous balance of union policy should be added a feature of union organization that still is of major importance in structure and policy That feature is the role of conflict The importance of conflict in the development of management-union relations lies deep in the "organizational memory" of unions. The inherent position of the union as the challenger to the established arrangements of industrial organization, plus the very real and "principled" opposition of management, have combined to emphasize conflict leadership as a criterion of union officialdom

According to the general state of management-union relations the appropriate union leader may be the warrior, the shrewd bargainer, or the internal administrator. According to the scope of those relations all may be needed at the same time or at short intervals, in addition to a variety of staff officials for the development of decisions and the conduct of joint determination with management.

Primary emphasis on the conflict role has led to a kind of "leadership principle" in unions, whereby the warrior's intuitive judgment is trusted above the administrator's. This tendency is given further support by the problems of democracy and potential dissidence in the internal affairs of the union. The responsibility of the leader to

the membership enhances the role of the warrior as a builder of morale and therefore as a defeater of rival factions and leaders.

The importance of industrial conflict in the cohesiveness of unions and in the character of union leadership is such that many unions are faced with peculiar problems arising from their seeming security and prosperity. In the absence of conflict, membership interest tends to dwindle and the motives of the member to reduce to the least common denominator of wage benefits balanced against dues. Moreover, political factions are likely to arise based primarily on the claim of rivals that they can "deliver" more for the members than the current officials have done.

As long as bargaining retains a primary place in union functions, organizational strength is likely to depend in some measure on occasional conflict and even reverses as a factor in maintaining loyalty. The development of the non-bargaining functions of unions may provide some substitute for the dangers of peace and security.

In this connection it may be noted that union factionalism and attrition of loyalty are likely to be more pervasive and better known to management than are the latter's own internal difficulties. This again stems from the open discussion inherent in democratic forms. Knowledge of internal dissension in the union often strengthens the bargaining power of management, and it is not uncommon for management's bargainers to profess their belief and even sympathetic understanding that particular union demands stem from the leader's political difficulties within his organization. That management's position may stem from similar circumstances is not at all unlikely, but the relevant facts are not likely to be known to the union.

Staff Problems with Joint Determination The expansion of the scope of collective bargaining, which will be discussed in some detail in Chapter XVII, raises difficult organizational problems for unions. As earlier noted, existing union staffs are not only customarily small but also of modest influence in the formation of policy. The technical functions, if any, thought essential by union policy-makers have been those concerned with "foreign relations" and particularly relations with legislatures, courts, and the general public. When coupled

with the trust in intuitive leaders and a fairly pervasive anti-intellectualism quite unlike unions in other industrial countries, the meager staff development of unions necessarily limits effectiveness in unfamiliar technical areas.

The concern of unions over the rate of technological change, the increase of non-labor efficiencies, or the establishment of pension plans requires expert services. Whatever the merits of particular union requests for joint determination, organizational difficulties alone are likely to provide serious hurdles to union effectiveness in new areas. Although we shall see that it is rather difficult to state in general principles the "appropriate" area of union concern in managerial policy, it seems quite clear that the union will probably not be able to duplicate all managerial talents. If the union assumes joint responsibility for all managerial functions, it will act like management in many essential ways, and thereby lose its function as an opposition. Even an approximation to this situation will substantially change the position of the union in the industrial organization.

Apart from the central problem of union functions under conditions of joint determination, two further difficulties in union structure require attention in this context. The first is the question of the source of funds for staff expansion. The union is not a productive organization. Its funds depend upon members' dues or such funds as the employer may agree to deposit to the account of employees for various insurance and welfare benefits. The union would have to have an additional share in the allocation of industrial funds in order to compete for professional talent on any considerable scale. Second, the prestige of the union as an organization is commonly not such as to make the competition for staff talent particularly easy, as the professional employed by the union is not likely to receive the full measure of prestige commonly accorded comparable positions in other organizations. At the same time, the character of the union as a membership group, with a high emphasis on loyalty in view of actual or potential conflict, is likely to impede the free selection of staff officials on grounds of technical competence. The loyalty to the employer, which is by no means unimportant to

management, is likely to have a special urgency in union organizations in view of continuing fear of spies and "turncoats." The very fact that leaving the employ of the union for a better position with management is still regarded as something akin to treason indicates how serious is the difficulty in establishing union organization on a primarily rational basis And in view of the functions of the union in supplying some of the types of participation and services not available within the formal structure of productive organization, it is not self-evident that the union need aspire to match the staff organization of management An extension of its technical functions may be at the expense of the role of the union as a form of direct participation by workers in the industrial system

REFERENCES

BAKER, HELEN, *Company-Wide Understanding of Industrial Relations Policies A Study of Communications* (Princeton Industrial Relations Section, Princeton University, 1948), especially Chap. V, "The Influence of Unions on Company Communications."

——, *Management Procedures in the Determination of Industrial Relations Policies* (Princeton Industrial Relations Section, Princeton University, 1948)

BAKKE, E WIGHT, *Mutual Survival The Goal of Unions and Management* (New York Harper and Brothers, 1947).

BLOOM, GORDON F , and HERBERT R NORTHRUP, *Economics of Labor and Industrial Relations* (Philadelphia the Blakiston Company, 1950), Chap. 5, "Management of Industrial Relations "

DUBIN, ROBERT, "Decision-Making by Management in Industrial Relations," *American Journal of Sociology*, 54 292–301, January 1949

DUNLOP, JOHN T., "The Development of Labor Organization A Theoretical Framework," in Richard A. Lester and Joseph Shister, eds , *Insights into Labor Issues* (New York The Macmillan Company, 1948), pp 163–193.

HOWE, IRVING, and B J WIDICK, *The UAW and Walter Reuther* (New York Random House, 1949).

LINDBLOM, CHARLES E , *Unions and Capitalism* (New Haven· Yale University Press, 1949), especially Chap. IV, "The Politics of Unionism "

SLICHTER, SUMNER H , *The Challenge of Industrial Relations Trade Unions, Management, and the Public Interest* (Ithaca Cornell University Press, 1947), Chap II, "The Effect of Trade Unions on the Management of Business Enterprises "

CHAPTER XV

TYPES OF COLLECTIVE BARGAINING RELATIONS

SOCIAL LIFE in modern industrial societies is increasingly marked by collective relations, that is, by relations among individuals of such character that they can only be understood in terms of the groups or collectivities represented by such individuals. This is not the same as interaction of individuals in terms of positions and established patterns, which is characteristic of social relationships within social structures. Nor is the crucial issue the segmental character of collective relations. The whole personality of the individual is not, and indeed could not be, involved in any patterned social behavior in any society. The virtually unique feature of urban-industrial societies is that associations are deliberately organized around a narrow range of common interests and then these collectivities must find a mode of relationship when their several collective interests or the individual interests of their common membership overlap and conflict.

Social theory has made little progress in the analysis of collective relations. The theory of social organization is almost exclusively concerned with the internal structure of groups and associations. The theory of society has only recently emerged from a preoccupation with the evolution of Western society to turn attention to the common and essential features of all organized social life. Neither is irrelevant for an analysis of collective relations, yet at the present state of development neither provides clear principles and inferences for such analysis.[1]

[1] See Herbert Blumer, "Sociological Theory in Industrial Relations," *American Sociological Review,* 12: 271–278, June 1947.

Perhaps the essential difficulty in analysis of collective relations is that they are not only complex (which is a feature of most social phenomena) but also dynamic Put crudely, collective relations will not hold still to be studied. The demand of labor union A upon the management of corporation X not only affects the latter, but the labor union itself is modified in the process. Moreover, the nature of the settlement of this issue will modify the continuing collective relations and become relevant for an understanding or prediction of subsequent issues Thus to an acute degree collective relations are characterized by "interplay" and by "feedback" No simple model of influence and reaction will encompass these continuously changing relations

The first step in bringing order into such a confusing situation is ordinarily to attempt a classification A classification is a mode of ordering phenomena for further analysis, it does not itself constitute adequate analysis, particularly of dynamic relations. The popularity of classification in social science literature is itself an indication of the elementary stage of analysis. In the study of collective relations even classification is difficult because the variables are numerous and therefore reduction to "elements" and "essences" is difficult and hazardous

The primitive state of analysis in this field is illustrated by one heroic attempt at a simple dichotomy of types of relations[2]—the most primitive of all classifications That attempt, which is discussed later in this chapter, is interesting for its explicit hypotheses but more interesting for its failures by way of ordering management-union relations.

Even a classification involving a number of points along a scale, such as the one presented in the following section of this chapter, is fraught with serious hazards Whatever the scale adopted, it will determine which characteristics of concrete cases are relevant to the classification. Unfortunately, there is no assurance that other important variables will move in the same direction or by comparable stages along the scale

[2] See Frederick H Harbison and Robert Dubin, *Patterns of Union-Management Relations* (Chicago Science Research Associates, 1947).

The range of practice in contemporary American management-union relations is great and the character of bargaining rapidly changing (partly because of "interplay" and "feedback" and partly because of the changes in the relevant "external" environment—level of production, the state of labor market, legislation and judicial and administrative decision). This variety and rapid change has accounted for the fact that the relevant literature overflows with descriptive studies but seriously lacks sufficient repetition of features to permit even rough testing of hypothesis. In a sense, we know so little of predictive value about management-labor relations because we know so much about concrete cases.

THE RANGE FROM CONFLICT TO COOPERATION

The classification of types of management-union relations adopted here is one that will leave a number of otherwise important features out of account, but has the simple virtue of getting at the nub of the relationship—bargaining. The classification takes as its major focus the degree of mutual acceptance and understanding between management and the union. "Understanding" in this context refers to the development of accepted principles that are not bargained about.

It is appropriate to bear in mind that it is easiest to discuss and contrast polar types, that is, those lying at the two extremes of the scale, for the simple reason that they alone are likely to be "pure." By the same token, instances of these extremes are the most difficult to find in actual situations. This point has a special relevance in the present context, but that relevance can best be understood by reference to a more general principle of inter-group relations. The outcome of extreme conflict may be annihilation of one organization, and the outcome of extreme cooperation is likely to be fusion and absorption. To the extent that each organization performs differing functions that are essential or useful to the other, either annihilation or fusion is likely to be troublesome and costly for the remaining organization. Management and the union are caught in an involuntary relationship involving overlapping membership and

jurisdiction and separate but interdependent functions.[3] Complete defeat or complete fusion may leave necessary functions unperformed or force their performance on the remaining organization.

Extreme Conflict. Extreme conflict is an essentially unstable form of collective relations. The reason for this instability is not hard to find, in the measure that conflict is successful, one party either ceases to exist or the relationship takes on some other form. If neither side emerges clearly victorious, continuation of the relationship depends upon some measure of accommodation, a sort of *modus vivendi.* The pattern of relations established as a result of inconclusive conflict does not bar a resumption of hostilities over new issues or when one party feels better able to defeat the other. The essential point is that extreme conflict as a type of management-*union relations is an inherently temporary one.*

A conflict-orientation in industrial relations in the sense of seeking to destroy the other organization is more probable on the part of management, despite the fact that in the nature of the case the union is usually the challenger. This arises from the fact that most unions recognize their dependence upon the continued survival of the business, whereas few managers have recognized or conceded the legitimacy of union functions. Only those radical unions which seek to disrupt the whole productive system would attempt the utter defeat of management. This could be the policy of unions under Communist domination in the event of war with a Communist state, or as a substitute for international war should the leaders feel strong enough to secure internal revolution. However, in the United States after World War II those unions under Communist leadership most often adopted a "bread and butter" approach to union demands in order to consolidate their membership support while some rival non-Communist unions were often more troublesome to management by seeking to extend the scope of bargaining.

[3] With respect to management-union relations this has been pointed out by Robert Dubin in his "Discussion" of Wilbert E. Moore, "Industrial Sociology: Status and Prospects," *American Sociological Review* 13: 382–391, August 1948, Dubin's discussion on pp. 391–393. Dubin regards this "necessary" characteristic of management-union relations as unique to them. It is actually true of all collective relations—for example, church and state, family and school, etc.—where there are separate but interdependent functions.

In the past, management carried on more vigorous and more varied warfare against unions. But the intention of this warfare was clearly to *prevent* bargaining, not to engage in it. This history is not forgotten, however, and fear for survival still characterizes unions Thus the legacy of past relations conditions the present and gives rise to suspicions that particular proposals or resistances are designed to destroy rather than modify existing relationships A fear for survival is also increasingly characteristic of management as unions attempt to expand the amount and area of their power [4]

The strike and the picket line and other labor weapons as well as the devices used by management are not necessarily to be regarded as aspects of conflict in any more fundamental sense than a test of strength and strategy as a part of settling issues Frequent strikes, for example, may stem from a variety of circumstances having little or nothing to do with extreme conflict as a mode of management-union relations The test of basic conflict is not the occurrence of disputes, alone, but whether or not an early settlement that preserves the organizational continuity of the rival organizations is sought

Issue Bargaining. Much of contemporary management-union relations must be interpreted as the constant redefinition of specific powers and functions, and of benefits accorded to workers by collective agreement The type of bargaining that involves major attempts to specify the basic terms for continuing relationships between management and union may be called "issue bargaining" From the managerial standpoint this type of relationship is likely to involve an attempt at *containment* of the union [5] From the union standpoint, this type involves the expanding assertion of the workers' interests in industrial policy.

Issue bargaining has also been called "pattern setting" and the "generating type" of management-union relations.[6] Harbison and

[4] See E Wight Bakke, *Mutual Survival The Goal of Unions and Management* (New York Harper & Brothers, 1946)

[5] See Benjamin F Selekman, "Some Implications and Problems of Collective Bargaining," in Louis M Hacker and Others, *The New Industrial Relations* (Ithaca Cornell University Press, 1948), pp 33–65.

[6] See Harbison and Dubin, *op. cit*

Dubin think that issue bargaining is associated with industrial "power centers," such as General Motors in automobiles and United States Steel in steel The argument then proceeds to maintain the importance of the settlements made in these centers for the pattern of industrial relations as a whole There is nothing essentially wrong with this argument except that it imposes a consistency of pattern on industrial relations, which does not in fact exist This problem will be raised again later in this chapter in connection with the locus of agreement At this juncture it is sufficient to note that issue bargaining is definitely not limited to a few large corporations, each of which holds a position of leadership in a particular industry. Indeed, attempts to predict the locus of issue bargaining have not been notably successful, except that the trend is definitely to larger or higher-status representatives Thus national union leaders and top corporation executives are likely to be concerned over fundamental issues in their relations, local union leaders and plant managers over settlement of particular problems within the general framework.

It is issue bargaining that clearly generates most of the pressure to have the government settle the problem by specification of fundamental principles of managerial and union rights Such a governmental policy would of course take many of the issues out of bargaining, but attempts to find an acceptable basis for settling management-union relations once and for all have been notably unsuccessful.

Problem Bargaining Most specific cases of management-union relations most of the time fall within a fairly broad type that may be called problem bargaining. In these relations the parties do not directly address themselves to the question of the survival of either —that is assumed Nor do they directly attempt to settle the scope of subjects bargained about or the fundamental question of the position of the union in the industrial system Such issues are part of the framework within which bargaining and continued operations take place

Some problem bargaining is possible because the issues are settled elsewhere. Such circumstances arise not only where pattern-setting

in one important sector of the industry allows other companies and unions to act as "satellites,"[7] but also where a more encompassing settlement sets the limits for local determination But problem bargaining is also possible, and indeed more usual, where basic principles have been established by past agreements This form of relationship is greatly accentuated by permanent arbitration machinery, as arbitration awards tend to become a set of common law precedents

The basic weakness of a static classification of dynamic relations is especially revealed in this context A continuance of issue bargaining may well lead to such settlements and accommodations that the type of relationship shifts to problem-solving Perhaps only a basic change in some external factor such as legislation or the level of employment will tempt either party to seek a reopening of basic issues On the other hand, a continuance of problem bargaining, even of the extreme degree often characterized as "business unionism" on the labor side, may result in a gradual restructuring of powers. The difference between bargaining on issues and on problems may be only those of rapidity and recognition of long-run implications rather than those of basic philosophy and current tenor of relationships It follows that in two otherwise comparable situations a specific union contract demand or grievance in administration may in one instance be defined as a simple problem-solving case and in the other as a fundamental issue—not because the second company is a "power center," but only because its management is extremely sensitive to what it views as "the creeping paralysis of union encroachment" This possibility points up once more the hazard of limiting analysis to a typology of collective relations without appraisal of the internal structures of union and management

Removal of issue settlement from the local level may have a tendency to stereotype management-union relations, as Warner and Low conclude[8] In most instances, however, freedom of concern over basic rights and powers and even the wage bargain leaves a

[7] *Ibid*

[8] See W Lloyd Warner and J O Low, *The Social System of the Modern Factory The Strike A Social Analysis* (New Haven Yale University Press, 1947), Chaps VII–IX

wide area for administration and local development of management-union relations,[9] and of the non-bargaining functions and services of the union [10]

Management-Union Cooperation As used in the literature of industrial relations, "management-union cooperation" has a number of rather distinct meanings. Occasionally it is apparently meant to apply to the attitudes and motives of officials of the two organizations—are they hostile or "cooperative"? In the literature of labor economics for some curious reason, management-union cooperation tends to mean only cooperation toward reduction of direct labor costs relative to output [11] The more acceptable use of the term refers to a mode of relationships between management and union that brings both organizations into the planning and administration of various policies through regularized procedures [12]

This last use of the term "cooperation" with reference to management-union relations still leaves open the question of degree and the question of forms and procedures Of these, the problem of degree is clearly the more troublesome in the typology used here, as *any* collective bargaining involves some degree of cooperation, that is, joint determination As a type of management-union relations it is perhaps most convenient to view cooperation as the situation in which the basic issues of union survival and participation in a number of decisions are settled, along with many specific problems. In these areas the term "bargaining" may then be inappropriate, and actual negotiation is likely to be on matters that would extend the scope of the agreement.

The aim or impact of cooperation may include labor recruitment, discipline, efficiency including elimination of material waste, sales

[9] Harbison and Dubin, *op cit*

[10] See C W M Hart, "Industrial Relations Research and Social Theory," *Canadian Journal of Economics and Political Science*, 15 53–73, February 1949

[11] See, for example, Joseph Shister, "Union-Management Cooperation An Analysis," in Richard A Lester and Joseph Shister, eds, *Insights into Labor Issues* (New York The Macmillan Company, 1948), pp 87–115

[12] See Kurt Braun, *Union-Management Co-operation Experience in the Clothing Industry* (Washington The Brookings Institution, 1947), Dorothea de Schweinitz, *Labor and Management in a Common Enterprise* (Cambridge Harvard University Press, 1949), especially Chap XI "The Outlook for Union-Management Cooperation through Joint Committees"

promotion, trade practices, welfare plans, as well as wages and conditions of employment. In some instances the procedure may involve what Selekman[13] calls "deal bargaining," that is, settled relations that emphasize the common interests of top management and union executives at the possible expense of lower managerial ranks (especially supervisors) and the union rank and file. And the area and nature of management-union agreement may be such as to constitute collusion for the exploitation of the consumer.

The attempt to establish cooperation of the degree discussed here commonly encounters managerial opposition, both because management fears that it will result in increased costs of operation and more importantly because management fears invasions of established "rights." But it should not be assumed that unions view extensive cooperation as an unmixed blessing. A broadened base of union participation in policy and procedure implies a greater union responsibility for the results. Whether founded or not, there is a very considerable suspicion among the ordinary members of most unions that cooperation means "selling out" to management. And, it will be noted in Chapter XVII with regard to the scope of bargaining, the partial loss of the power of opposition lends just enough essential validity to this view to make the virtues of cooperation somewhat less than they may at first appear. Moreover, it has already been noted that the union structure is not ideally suited to supply or support an extensive range of staff functions implied by joint determination of a wide variety of fairly technical policies.

The appeal of cooperation as an ideal has blinded many enthusiasts to the functions of dispute and opposition in maintaining the individual's leverage on the industrial system. To these problems we return in Chapter XVII.

BARGAINING UNITS AND LOCUS OF AGREEMENT

We have noted in the previous section of this chapter that the type of management-union relations is dependent in considerable measure on the locus of agreement. Organizations away from the "firing line" for the settlement of the basic position of the union in

[13] Selekman, *op. cit.*

the industrial system are likely to have more stable, orderly relations. Local plant managers and union leaders may maintain a fairly even course of settling specific problems in an industry marked by more or less violent labor disputes at the national level. It is appropriate therefore to examine the nature of bargaining units as a feature of management-union relations, and to explore the question as to where negotiation of basic issues takes place

Types of Bargaining Units. Although less hazardous than the classification of dynamic relations between management and union, a typology of bargaining units encounters considerable complexity. Thus, the loose term "industry-wide bargaining" may refer to negotiations between a single employer and single union (for example, the telephone industry), a number of employers with or without a formal association and a single union (for example, the coal industry), or a group of employers with a group of unions (this is rare) As the term is used, it may also inaccurately refer to negotiations between a national union and an employer with several plants and products (steel and automobiles, for example), or to negotiations between employers and unions in different industries in a labor market area (San Francisco, for example). In any of these instances the term may refer to local, regional, or national negotiations

In view of this complexity it will be useful to build up somewhat systematically a "catalogue" of possible bargaining units In order to cover the full range, it will be assumed that firms manufacture several products and have several local plants and that there is more than one firm in any industry. Fewer possibilities exist if either of these assumptions does not hold

LOCAL PLANT LEVEL
- Occupation or craft
- Product division
- Plant as a unit

- Local craft or industrial union
- Unions of same employer [14]

[14] Multiple-union bargaining is rare, but in a sense does exist in sympathetic strikes and refusal to cross picket lines

FIRM LEVEL
Occupational or functional division
Product line
Firm as a unit

National union
Unions of same employer

INDUSTRY LEVEL
Local
Regional
National
(All ordinarily through trade association)

National union
Group of unions in industry

INTER-INDUSTRY LEVEL [15]
Employers' association
Labor union councils

The bargaining unit therefore is made up of one or more of the following components occupation, product division, plant, firm, industry, trade association, local craft or industrial union, national union, inter-union council As these components are somewhat independent, it follows that a progression from units to complexes is not necessarily as orderly as the list above implies There is, however, a natural tendency, commented on in the preceding chapter, for the unit chosen by one party to be matched by the other, with the additional possibility that a shift in level by management or union may give a temporary advantage until matched by the other

Before commenting on some problems of multi-unit bargaining, a few observations about the role of trade associations is in order. Many trade associations antedate strong unions and were indeed designed to prevent union organization or genuine collective bargaining In a sense, therefore, they represented a collective refusal to bargain, often they also represented a collective refusal to hire

[15] In the United States this has developed only at the local labor market level (See, for example, Clark Kerr and Lloyd H Fisher, "Multiple-Employer Bargaining The San Francisco Experience," in Lester and Shister, eds, *op cit*, pp 25–61) The national master agreement is a theoretical possibility, but probably only in a totalitarian state where government would essentially determine the terms

known union members or sympathizers. All this, of course, was in the fine tradition of "individualism" as an argument against unions, but not against the collusion of employers

Other employers' associations are defensive organizations, designed to avoid the "whipsaw" procedure of unions in pushing up wage rates by striking one plant at a time while the recalcitrant employer lost his market position to competitors with or without union agreements In order to combat industry-wide bargaining the Taft-Hartley Act forbids unions to require employer membership in an association as a condition of bargaining, but indirect pressures such as the "whipsaw" principle are still available to the union

Employers' or trade associations differ in their degree of centralization of labor policy Just as the union local may lose its autonomy to the national organization in policy determination, the individual employer may find that the pressure of other employers and of the association itself forces policy into the collective sphere. The association staff is likely to abet this process to justify its own existence as well as to "keep peace" by avoiding labor competition among employers Although avoidance of wage competition may have adequate legal sanction (even this is somewhat doubtful), the broadening scope of collective bargaining into non-wage issues may involve the association members in violations of antitrust acts through standardization of a broad area of business policies by formal agreement

Problems of Multiple-Unit Bargaining The growth of multiple-unit bargaining, whether strictly "industry-wide" or one of the other types indicated above, has led to various problems and implications not encountered at the strictly local level

The first of these problems is that of increased *formalization* of relations This is a departure only in degree from any collective relations, but the heightened degree is still of some importance. Multiple-unit bargaining necessarily centers on common problems, perhaps even a "least common denominator" of problems, at the possible cost of established local relations on a more informal level This form of bargaining involves not only the standardization of rules and practices as they are distributively applied within the area

of the agreement, but also new rules and forms for determining representation of bargaining agents, and degrees of sovereignty and autonomy reserved to the component units To work effectively, multiple-unit bargaining requires solidarity of management and union representatives, respectively, and uniformity in application of decisions Thus grievance machinery set up as the continuing judicial organ of the agreement cannot differ widely in its interpretations and decisions from plant to plant without endangering the whole structure of management-union relations This raises problems of authority and accountability on both sides, as any given local manager or union leader may be forced to justify a policy in terms of problems faced by an entirely different plant or company or union local. If such instances are frequent the system is subject to a very considerable strain from sentiments for secession. Unity carries penalties that may not be perceived until standard treatment violates notions of local sovereignty

A second problem of multiple-unit bargaining is that of *concentration of power*. Whatever the formal provisions for representation on negotiating committees, it is virtually certain that the several units affected will not have an equal weight in reaching decisions On the union side representation or effective weight may be approximately proportional to membership On the employer side, it is more likely to be on volume of sales or share of the market. Those units best able to secure a favorable bargain and, by the same token, best able to survive an unfavorable one, are almost certain to have a major voice in policies and decisions On either side the result may be collapse or loss of sovereignty of weak units.

Although this problem applies to unions as well as plants or companies, the problems of the latter have been more commonly recognized because of their economic implications If a number of firms are involved in bargaining, decisions relative to wage scales may raise problems concerning the survival of small and less efficient firms (This problem is not unique to multiple-company bargaining, however. The unilateral drive by a national union for uniformity in wage scales may have the same effect) Even if the bargaining is only company-wide, the impact of the agreement may

be markedly more severe on some plants or product lines than on others

If a principal function of multiple-unit bargaining is "to take labor out of competition" by standardizing wage rates, the problem of *securing inter-unit manpower transfers* is presented. Wage differentials in classic labor market theory are *the* effective means for securing allocation of labor supply to match labor demand Detailed labor market studies have amply demonstrated the failures of the labor market to act according to form However, wage differentials have played *some* role in securing manpower transfers, and wage standardization requires turning attention to other devices. The closest approximation to a difference in basic wage rates is a difference in actual take-home pay through varying availability of overtime pay There are also many types of non-wage competition for labor, including "working conditions" in the broadest sense Some of these also may be standardized in multiple-unit bargaining, but it is improbable that all local initiative would or could be removed Finally, the union itself may take on responsibility for labor supply, which means use of union authority over the membership to secure transfers as needed

Still another result of multiple-unit bargaining is the *increased security of the union,* which also presents problems for the rival union. A rival union may be able to secure a footing in an industry only by organizing one plant at a time If employers present a united front owing to their current union commitments, inter-union competition may be impeded or prevented This has obvious implications for the responsibility to its own membership of a union so powerfully protected.

Finally, multiple-unit bargaining allows widening and intensifying the area of cooperation It does not guarantee it, for it also allows more severe conflict A dispute may tie up not a single division or plant but an entire company or industry, with consequent disadvantages to the public at large

Unless positively prohibited by law—a prohibition that might have results as mixed as have followed enforcement of the antitrust acts—it appears that despite disadvantages the "breadth" of bargain-

ing is likely to increase. Localism and competition also have disadvantages to participants The treatment of the weak by the strong, the degree and area of local autonomy, the compensations for rigidity and standardization—these are the leading issues that will have to be settled in some way as the scale of management-union agreements grows

The Locus of Agreement We are now in a position to appraise the developing practices with regard to where basic issues of management-labor relations are settled. Leaving aside for the moment the role of "external" factors—especially the government and the volume of employment, which may in given instances be decisive—where are "patterns" set?

The most ambitious attempt at an answer to that question is that put forward by Harbison and Dubin [16] These authors propose a dichotomous classification of management-union relations as "pattern setting" or "generating" types and "pattern-following" or "satellite" types. The authors partially recognize the weakness of the classification by addition of a third category, "semi-isolated types," which upon inspection of the authors' classificatory criteria turn out to include most of the management-union relations in American industry. We have encountered this classification earlier in this chapter with reference to types of management-union relations It is especially relevant here because of its bearing on the locus of agreement.

According to Harbison and Dubin, patterns of management-union relations are set in major industrial power centers (their principal case is General Motors). What constitutes a power center, independently of the circular test of pattern-setting, is not quite clear, as the authors refer to "mass-production industries," "basic industries," and "concentrations of economic power." Now these are not exactly the same thing The telephone industry is certainly concentrated without being mass-production in the ordinary sense, and does not set patterns except, doubtfully, for itself. Coal is basic

[16] *Op cit* See also Frederick H Harbison, Robert K Burns, and Robert Dubin, "Toward a Theory of Labor-Management Relations," in Lester and Shister, eds , *op cit* , pp 3–24.

without being mass-production, and its pattern-setting is quite different from what Harbison and Dubin have in mind.

In effect, the correspondence between mass-production industries and pattern-setting (or what we have called issue bargaining) is fortuitous and not intrinsic. The essential, structural basis for pattern-setting in the sense used by Harbison and Dubin is not at all the authors' specification but rather marked inequality in the size and power of productive units in the same industry and the absence of an employer united-front. The locus of agreement at the "power center" is simply inapplicable to a monopolistic industry (telephone) or a widely-scattered one (coal).[17]

What, then, can be said about the probable locus of agreement on basic issues? Several answers must be given, depending upon variable circumstances, and even so, subject to relatively low predictive value because of the complex interrelation of those variables. (1) In a multi-firm industry, without genuine industry-wide bargaining (even if enforced only by the union, as in coal), basic issues are likely to be settled by the union's agreement with one of the big firms, which firm will depend upon union strategy and upon changes in the light of collective relations with the union. (2) Where any form of multiple-employer bargaining takes place, even if the employers are less organized than the union, "pattern setting" and "pattern following" are determined internally to the organization of each party to the negotiation, with the formal agreement setting the pattern simultaneously for the industry, this does not necessarily reduce the importance of the "power centers," but does radically alter the mode of decision-making and the latitude of the less powerful unit in seeking modification of the pattern *before* it is established. (3) Where the union is tightly organized on a national level but the industry is not, the union is most likely to seek the best possible terms in its center of greatest numerical strength or other bargaining advantage, and then bring other employers into line if necessary.

[17] The hazard of generalizing the particular study is especially exemplified in this instance. General Motors, identified by Harbison and Dubin as the likely place among the automobile "big three" for fairly continuous conflict because of bargaining over issues, early in 1950 signed a five-year contract with the UAW while Chrysler fought out a long strike.

by strikes that give a market advantage to employers with whom the agreement was initially concluded

It should be emphasized that these principles will not include all cases, for example, inter-union competition may occasionally be more important than inter-company competition. Moreover, some "patterns" have a quite "unreasonable" effect, simply because they provide an available, external formula which will resolve an impasse while saving face on all sides. Thus in 1946 in the uncertain period of withdrawal of wage and price controls, a wage increase formula of 18½ cents an hour proposed for one industry (automobiles) on necessarily arbitrary grounds was accepted by major sectors of management and union negotiators in widely differing industries. This sort of "exception" provides a challenge still unanswered to reduce the area of uncertainty in the prediction of types and sequences in the relations of management and union.

REFERENCES

BAKKE, E WIGHT, *Mutual Survival The Goal of Unions and Management* (New York Harper & Brothers, 1946).

BLOOM, GORDON F, and HERBERT R NORTHROP, *Economics of Labor and Industrial Relations* (Philadelphia The Blakiston Company, 1950), Chap 6, "Industrial Jurisprudence," and Chap. 8, "Collective Bargaining–Scope and Breadth"

BLUMER, HERBERT, "Sociological Theory in Industrial Relations," *American Sociological Review*, 12 271–278, June 1947.

BRAUN, KURT *Union-Management Co-operation Experience in the Clothing Industry* (Washington The Brookings Institution, 1947).

CARPENTER, JESSE THOMAS, *Employers' Associations and Collective Bargaining in New York City* (Ithaca Cornell University Press, 1950).

COMMONS, JOHN R, and ASSOCIATES, *Industrial Government* (New York. The Macmillan Company, 1921)

DE SCHWEINITZ, DOROTHEA, *Labor and Management in a Common Enterprise* (Cambridge· Harvard University Press, 1949).

DUBIN, ROBERT, "Union-Management Co-operation and Productivity," *Industrial and Labor Relations Review*, 2 195–209, January 1949

DUNLOP, JOHN T., *Collective Bargaining Principles and Cases* (Chicago· Richard D. Irwin, 1949).

DYMOND, W R, "Union-Management Co-operation at the Toronto Factory of Lever Brothers Limited," *Canadian Journal of Economics and Political Science*, 13 26–67, February 1947.

HARBISON, FREDERICK H, "Some Reflections on a Theory of Labor-Management Relations," *Journal of Political Economy,* 54 1–16, February 1946

HARBISON, FREDERICK H, and ROBERT DUBIN, *Patterns of Union-Management Relations* (Chicago Science Research Associates, 1947).

HARBISON, FREDERICK H, ROBERT K BURNS, and ROBERT DUBIN, "Toward a Theory of Labor-Management Relations," in Richard A. Lester and Joseph Shister, eds, *Insights into Labor Issues* (New York The Macmillan Company, 1948), pp 3–24

HART, C. W M, "Industrial Relations Research and Social Theory," *Canadian Journal of Economics and Political Science,* 15 53–73, February 1949

KERR, CLARK, and LLOYD H FISHER, "Multiple-Employer Bargaining The San Francisco Experience," in Richard A Lester and Joseph Shister, eds, *Insights into Labor Issues* (New York The Macmillan Company, 1948), pp. 25–61

LESTER, RICHARD A, and EDWARD A. ROBIE, *Constructive Labor Relations Experience in Four Firms* (Princeton. Industrial Relations Section, Princeton University, 1948).

LESTER, RICHARD A, and EDWARD A ROBIE, *Wages under National and Regional Collective Bargaining* (Princeton Industrial Relations Section, Princeton University, 1946)

NYMAN, RICHMOND C, and ELLIOTT DUNLAP SMITH, *Union-Management Cooperation in the "Stretch Out"* (New Haven Yale University Press for the Institute of Human Relations, 1934)

PIERSON, FRANK C, *Collective Bargaining Systems* (Washington American Council on Public Affairs, 1942)

ROSS, ARTHUR M, *Trade Union Wage Policy* (Berkeley and Los Angeles University of California Press, 1948), Chap II, "The Trade Union as a Wage-Fixing Institution," and Chap V, "Union-Management Relations and the Wage Bargain"

SELEKMAN, BENJAMIN M, *Labor Relations and Human Relations* (New York· McGraw-Hill Book Company, Inc, 1947)

———, "Some Implications and Problems of Collective Bargaining," in Louis M Hacker and Others, *The New Industrial Relations* (Ithaca Cornell University Press, 1948), pp 33–65

SHISTER, JOSEPH, "Union-Management Cooperation An Analysis," in Richard A Lester and Joseph Shister, eds, *Insights into Labor Issues* (New York The Macmillan Company, 1948), pp 87–115.

SLICHTER, SUMNER H, *Union Policies and Industrial Management* (Washington. The Brookings Institution, 1941), especially Chaps. XIV–XX.

TURNBULL, JOHN G, *Labor-Management Relations. A Research Planning Memorandum*, Social Science Research Council, Bulletin 61 (New York 1949), Chap III, "Patterns of Interaction and Their Consequences."

TWENTIETH CENTURY FUND, Labor Committee, *Partners in Production A Basis for Labor-Management Understanding* (New York 1949)

UNIVERSITY OF PENNSYLVANIA, *Proceedings of the Conference on Industry-Wide Collective Bargaining* (Philadelphia University of Pennsylvania Press, 1949).

WARNER, W LLOYD, and J O LOW, *The Social System of the Modern Factory The Strike A Social Analysis* (New Haven Yale University Press, 1947), Chaps. VII–IX.

CHAPTER XVI

DISPUTES, CONFLICTS, SETTLEMENTS

MANAGEMENT-UNION cooperation, discussed in the last chapter, and conflict, discussed in this, are customarily regarded as virtue and sin, respectively. This view demands careful scrutiny, for complete peace and cooperation in the industrial sphere may be achieved at the expense of other values that are even more important in a liberal social order.

Despite the impressive area of possible joint determination by management and union, there is considerable doubt about the ability of unions to participate in all managerial functions and at the same time fulfill the function of an opposition in behalf of union membership. Management in a competitive economy, or indeed any other industrial economy, must represent consumer interests and investment interests. Under systems of nationalization of production, these interests are presumably the responsibility of government in its directives to management. This changes the mechanism of managerial responsibility, not the essential functions. Management is, however, poorly equipped to serve these functions and also represent "producer" interests in the terms and conditions of employment.[1] This is an important function of unions.

Disputes between management and union over these differing interests may be suppressed by complete emasculation of the unions, complete control by an administrative agency, or complete syndicalization of industry. None of these devices would resolve the differing interests, but only prevent overt disputes by shifting and con-

[1] See Peter F. Drucker, *The New Society: The Anatomy of the Industrial Order* (New York: Harper & Brothers, 1950), especially Chap. 10, "Can Management Be a Legitimate Government?"

straining the mechanism of protest, dissent, and leverage on the system. If interests are represented by independent, although interdependent, organizations, disputes are normal and to be expected They are an indication of an area of voluntary action and expressed differences.

The notion that the proper goal of study of industrial relations is the achievement of industrial peace is likely to stem from some unexpressed ideologies pervasive in the social sciences—the economists' self-regulating market, the political scientists' representative but completely orderly state, the sociologists' perfectly integrated society In a complex society with many differing interests and beliefs, the price of preservation of considerable latitude in voluntary individual action and group organization is an "area of tolerated conflict" Since such conflicts are likely to affect persons not directly involved in the disputes, and affect even disputants in ways not directly related to the main points at issue, it is a matter of policy within what limits conflict may occur, and what measures for the settlement or repression of conflict are consistent with other ideals and norms The importance of industrial disputes within these general principles is that with the increasing interdependence of the economy their impact on disputants and bystanders alike is likely to be more severe and far-reaching than is usually true of other organizational conflicts.

THE SOURCES AND POINTS OF CONFLICT

In the light of the preceding paragraphs, it is clear that industrial *disputes* are a normal aspect of collective relations between management and unions What does this imply by way of industrial *conflict?* Here some important difficulties of definition and meaning arise.

The language of public and even academic discussion of industrial relations is strongly flavored with terms that better fitted the past than the contemporary conduct of corporations and unions For much of the history of American unionism an industrial dispute was likely to take the form of overt, violent conflict, with the union's own survival a major stake in the contest. This situation prevailed

even into the late 1930's Despite the National Labor Relations (Wagner) Act, it was not until a rapid rise in the level of employment, followed by the definite establishment of the position of the union through the procedures of the War Labor Board and other wartime governmental agencies, that the essential pattern of management-union relations was based on the definite existence and power of the union in the industrial system As noted in the preceding chapter, this background of "extreme conflict" still conditions management-union relations. The present point is that it also conditions and obscures understanding of the genuine changes resulting from the fact that the union's existence and the practice of collective bargaining are no longer the essential points at issue in industrial disputes. Until that change took place, it made sense to discuss at least part of industrial relations in terms appropriate to warfare, for in fact violence was overt or incipient in many situations

The basic nature of the change effected by the legalization of collective bargaining and the *recognition* of the union as a definite part of the industrial order may be illustrated by reference to the strike. The very term "strike" carries a flavor of violence, whereas the more cumbersome "concerted work stoppage" may also be the more accurate in its connotations Even during the hectic interwar period, many strikes in areas of the economy long characterized by collective bargaining involved no more than a "failure to complete a transaction" over the contractual specification of the terms and conditions of employment. It was an instrument of bargaining, not an act of violence. But in industries long marked by weak unions, or none, the sudden flourishing of large unions often encountered a rejection by management of the union's right to exist and especially to represent workers in any dispute with management The employer often attempted violence and intimidation, employment of non-union workers, and indeed an entire "arsenal" of weapons that will be briefly catalogued in the following section. Unions countered with mass picketing, including the use of "flying squads" of workers from other plants to intimidate non-union workers ("scabs") seeking to accept employment in the struck plant and to combat the professional strikebreakers hired by the company. These situations

gave rise to industrial conflict in a far more fundamental sense than the simple jockeying for power, influence, and favorable terms of agreement inherent in management-union disputes. And violence was not the essential criterion of that fundamental conflict but rather its result. The basic question was the existence and survival of the union as a legitimate instrumentality of negotiation and protest. The settlement of that issue has not removed all "fundamental" disputes or made all "weapons" of management and union outmoded. But once that issue was settled in favor of the union's recognition as a part of the conduct of the industrial system, no other dispute could be so basic.

Industrial disputes and conflicts may be classified in several broad types: (1) disagreement over the basic terms of management-union relations—the "issues" as they were called in the preceding chapter, (2) disputes arising from the application and interpretation of basic terms or areas of agreement—these include both "problem bargaining" as previously discussed and some aspects of grievance machinery, and (3) disputes arising from complexities and tensions of personality and interpersonal relations.

Disputes of the first type represent the closest approximation to old-fashioned industrial conflict, for the recognition of the union has not settled its area of power and competence in the structure of industry. It is in this area, where principles are uncertain and subject to change with the shifting power of management and union and the variable environment of the industrial order, that "rights" are likely to be talked about with strong emotions and appeals to sentiment. It is this area, therefore, that is most important for analysis of the continuing evolution of the American industrial system. To use a somewhat appropriate metaphor, the issues are constitutional, not legislative, judicial, or administrative.

Disputes of the second type are the most pervasive in industrial relations. They range from the multitude of disputes and grievances in the shop to the settlement of the economic bargain over wages and hours. Because of the importance of wages as an issue in bargaining, and of wealth as a "universal means," it may cause surprise that the wage bargain is put in this category. The justification for

this rests primarily on the fact that the wage issue is perhaps the most solidly established aspect of collective bargaining. This does not mean that no work stoppages will result from wage disputes or even that there is a fundamental agreement as to the "fair share" of labor in the industrial budget. What is generally agreed is that the unions have a "right" to ask for as high wages as they can get for their members, consistent with continued successful operation of the enterprise. The mooted issues are many—should workers accept substandard wages because of the competitive disadvantage of the firm, should workers alone benefit from improvements in productivity, what is the relation between wages, prices, and profits? These issues are of varying importance in particular management-union relations. In general, however, a dispute over wages is likely to be settled more easily than one involving new elements of union participation in joint determination or new "employee benefits" that have structural as well as financial implications for the firm.

The third type of dispute is the least homogeneous, but not necessarily the least important. Numerous students of industrial relations have emphasized that these may be the hardest to resolve precisely because they fall outside the conventional framework of collective bargaining. The only way to get the tensions and hostilities into the machinery of protest and adjustment may be a grievance or demand that is an acceptable rather than a real source of dispute.

Specific issues in industrial conflicts range as widely as individual aspirations and group interests. Moreover, industrial conflict is not always, or even usually, a rational affair. Its pattern is, on the contrary, typically one of strong sentiments and outraged sensibilities. Issues are frequently lost sight of in the interaction of discordant personalities. The generating spark may be a muttered oath or a thumbed nose. Its continuance may rest on the necessity of "keeping face," either as individuals or as organizations. Both sides are capable of a good deal of dissimulation, conscious or otherwise. Thus workers at a factory ranking low in the community's scheme of things may insist that they are underpaid. The argument by comparative statistics that the workers are not underpaid has little merit (or at least little effect). Similarly, an employer may genuinely

believe that the quarter of a million dollars he pays annually to compete for workers' loyalties represents the fulfillment of his duty to protect his employees from the honeyed words of radicals and agitators Conflict in any field of human activity ordinarily involves something more than a shrewd and calculating marshalling of forces, there is also the interplay of sentiments and emotions, giving the conflict its characteristic "unreasonableness" It follows that an examination of the specific issues in industrial disputes, the points of overt friction and conflict, may reveal little concerning the underlying sources of discontent and hostility

THE "WEAPONS" OF MANAGEMENT

Despite the greatly reduced incidence of violence in industrial disputes due, it was noted, to the diminishing significance of union survival as the basic issue—it is still proper to refer in a metaphorical sense to the "weapons" of management and labor The types of "weapons" have undergone major changes with the evolution of management-union relations, and those in current use may in turn be discarded as they prove inappropriate to the strategy or tactics of battle or the rules of warfare.

Before directing attention to some of the past and present devices used by management in dealing with unions, several general tendencies in the development of tactics may be noted One such tendency is that of developing new weapons, or new tactical uses of weapons, in those areas of group relations poorly defined by law Thus the invention of the company union, frequently with closed shop provisions, aided the managerial battle against independent unionism Similarly, the employment of the "sit-down strike" by the growing industrial unions in the mid-1930's gained some temporary advantage for organized labor. That both of these weapons were subsequently judged to be contrary to public policy is simply illustrative of the logic of institutional growth in this field. That is, in a conflict situation within a social order, new tactical developments must either be fitted into previous rules, or else be upheld or rejected by new rules

Another tendency that reveals the underlying problems of indus-

trial conflict is to be found in the practice of regarding questions of legality as of distinctly secondary importance In other words victory over the enemy is viewed as more important than the orderly processes of peaceful adjudication

Closely related to the foregoing tendencies is the practice of both parties to any conflict of *using* the rules or the rule-enforcing officials to their own advantage This may range all the way from pressing an advantage inherent in the rules to outright subversion of the regulatory system through bribery, intimidation, and so on. The law itself, in other words, may be a powerful weapon in the hands of either party In these cases—and indeed in all cases of extreme conflict—the divisive forces of special interests take precedence over the unifying factor of institutional regulation However, the importance of the law remains at least as great as at other times for those who are not parties to the dispute. Even when the law is being used or circumvented by those in conflict, its force must always be taken into account And it is manifestly true, almost by definition, that the force of the law will prevail in the long run

The Scrap Heap of Weapons In the history, including the fairly recent history, of American industrial disputes management had at its disposal a formidable array of instruments of combat, some of them weapons in the literal sense of the word Because of their historic importance, and the comtemporary importance in turn of the background of extreme conflict, a brief catalogue of these largely discarded tactics is appropriate

Coercion and show of force was of considerable importance in the attempts to prevent union organization and defeat strikes until just prior to World War II. Company guards were increased and armed, and by the device of "deputizing" these guards they became a sort of private police system in the entire community Workers were beaten and occasionally killed Several firms prospered in "industrial munitioning"—the supplying of rifles, machine guns, and tear gas to industrial concerns fearing "labor troubles"

Not all devices of management were so direct and potentially deadly. Various "preventive" measures were used Notable among these was the *company union,* outlawed in major industrial plants

by the Wagner Act (NLRA). The only reason for establishment of a company union, that is, one actually under the domination of management, is the threat of independent unionism Widely used at one time or another between the two World Wars, it was a more or less effective device for convincing both employees and government agencies that there was no need for "outside organizers and agitators"

Another preventive measure, especially developed during the period of rapid union expansion in the 1930's, was *labor espionage and bribery* Borrowing the revolutionists' tactic of "boring from within," private detective agencies were hired to ferret out the existence of a union, to identify members so that they could be fired and possibly "blacklisted" with other employers, to learn union plans, and even, occasionally, to capture union elections (the position of union treasurer being the ultimate triumph of espionage) Bribery of union officials was also undoubtedly attempted and may have occasionally succeeded, although the known cases chiefly involved a racket using a union front for "shaking down" employers "to prevent labor troubles"

Antiunion discrimination and individual contracts were long favorite devices of some leading corporations espousing the "open shop" (meaning a closed, antiunion shop) The extreme device was the individual ("yellow dog") contract making continued employment contingent upon the worker's being and remaining unaffiliated with any union (except possibly compulsory membership in a company union) Less obvious practices involved discrimination against union members in work assignments, promotions, discipline, and discharge. In the early years of the Wagner Act before World War II many cases before the National Labor Relations Board involved charges of this sort of "unfair labor practice." These tactics were also sometimes combined with a *blacklist,* which virtually prevented an employee discharged for union activity from securing employment at his regular occupation with another company

The tactics associated with strikebreaking were often the most

elaborate. *Professional strikebreakers*, who were almost always men with criminal records willing to continue their criminal careers under the august sponsorship of respectable corporations and local law enforcement officers, were often the shock troops of industrial warfare. Some agencies supplied a complete service: "strikeguards" or "nobles" used to supplement company and community police for any necessary violence, "finks" who pretended to be nonunion employees operating the plant (necessarily at pay above that demanded by the strikers and often with disastrous results to tools and materials); and "missionaries," who sought out "loyal" employees, stirred up discontent and discord among others.

Strikebreaking involved not only the use of hired gangsters, but the organization of *citizens' committees* and *back-to-work movements*, with management finding its sympathizers among some of the "thought leaders" in the community, some workers unemployed because of the strike but not sympathetic to the union, and the wives of some strikers. Threats to move or abandon the plant were coupled with promises of re-employment of all innocent employees at the previous terms.

Many of these tactics were locally and temporarily successful. Especially when they were successful they conditioned the union to violence and conflict and remain recorded in organization "memory." The tactics of management in combating unionism turned out to be the appropriate means for winning many battles and losing the war.

The Current Tactics of Management. The survival of the union and its incorporation in the industrial order was an outcome of industrial warfare greatly aided by legislative changes as well as by the increased enthusiasm for unions owing to the tactics of management. This outcome, despite the natural tendency for corporations to cry disaster, did not leave management unarmed.

Perhaps the most fundamental power of management, a power moderately limited by law and union power but not lost, is that of extending or withholding employment. Union power, with or without legal backing, may prevent discriminatory discharge and even

prevent discharge of the incompetent union member, may require the employment of persons not needed, and may require that persons hired be union members

Even the extreme union powers will not prevent the company from suspending operations for business reasons, and may not prevent a *lockout* as a tactic in labor disputes The lockout is the employer's counterpart of the strike. In practice, however, it is very difficult to distinguish the strike and the lockout in a full-fledged industrial dispute, and it is not infrequently true that spokesmen for management will declare that the workers are on strike, whereas the union leaders will maintain that they are locked out. It is important to note that work stoppages hurt both the company and the workmen, and therefore constitute weapons in the hands of both "Waiting ability" is likely to be an important aspect of relative bargaining advantage.

As long as the central issue in industrial disputes was the survival of the union, one of the major weapons of the employer was the use of law and law enforcement machinery to break the power of unions After the defeat of the doctrine that any union constituted unlawful conspiracy, legislation and judicial interpretation was generally unclear on the positive rights of unions. However, most of the weapons used by unions in the course of disputes could be and commonly were enjoined by the courts. Continuance of strike activity in the face of a court injunction made the labor leaders liable to fine and imprisonment for contempt of court. In some cases, any violence in an industrial dispute, especially if the violence could be actually or conceivably attributed to the strikers, was also the basis for securing injunctions, and possibly criminal prosecutions. The courts usually applied existing legislation and judicial precedent fairly honestly, the law and precedents simply did not favor union activity. The same concern for legality often did not prevail among state and local law enforcement agencies, which were often used essentially as strikebreakers in conjunction with the employer's attempts to end the dispute, completely victorious over the union. Changes in the law coupled with increased political activity by unions on the local level have greatly altered the pattern of re-

course to the courts and police in industrial disputes Strikes still produce sporadic violence, but the occasions for violence are few if the company does not attempt to operate the plant with a large proportion of the regular employees on strike The injunction was largely set aside as an instrumentality of the employer in the federal jurisdiction with the passage of the Norris-La Guardia Act, and restored only in very diminished degree with the Taft-Hartley Act. Governmental administrative and arbitration agencies still play an important part in the conduct of management-labor relations, and the possibilities of governmental "seizure" of companies in "essential" industries may be used by both sides as a factor in negotiation. In this and a number of other situations there is a tendency for the disputes to be settled by governmental arbitration This circumstance makes difficult any generalized statement of the importance of direct governmental action for either management or labor.

Changes in the law and conduct of management-labor relations have changed but not decreased the importance of another management weapon—*antiunion propaganda* An especially effective procedure for combating the power of independent unionism is to discredit the forces of organized labor as destructive of business prosperity, violators of individual initiative and freedom, and upholders of un-American doctrines and perpetrators of unpatriotic actions Individual employers, and especially employers' associations, have thought this type of weapon sufficiently powerful to warrant the expenditure of untold millions for advertising, distribution of free texts for the schools, maintenance of "research" and editorial staffs, etc

On a local scale, especially, management may theaten to abandon the plant or move it to some area less given to "labor troubles" as a means of bringing community pressure upon striking workers to admit defeat and keep their jobs Because the public at large is likely to suffer some inconvenience during a labor dispute, and overt action is usually first precipitated by laborers (since they are challenging the previously existing conditions), management has the advantage of an incipient antilabor attitude as a basis for its

propaganda.[2] If the strikers can be made to appear responsible not only for any inconvenience or sporadic violence, but for the loss of an industrial payroll and taxable property, continuance of a labor dispute may have to face the opposition of merchants, professionals, and "loyal" workers as well as the direct representatives of management.

The subtler advertising campaigns conducted by employers' associations are simply probusiness, or in favor of "unity." Thus, two favorite recent slogans have been "Prosperity Dwells where Harmony Reigns," and "What Helps Business Helps You." Like President Coolidge's pastor, the sponsors of such slogans are simply "against sin." More forceful campaigns, however, attempt to discredit labor leaders as swindlers, racketeers, or agents of a foreign government, and labor unions as gangs of cutthroats or misled dupes. As in any propaganda, effectiveness of the campaign is greatly aided by selection of instances that more or less bear out the contention.

Belief in the importance of public opinion in labor disputes has grown steadily, with the result that readers of metropolitan newspapers a thousand miles from the scene of action may be greeted in full-page advertisements by both management and union, each presenting the "reasonableness" of its position.

Arguments against unionism as such have largely subsided in the direct dealings of management with employees in plants where the union is firmly established. Under the Wagner Act such arguments constituted an "unfair labor practice" in companies subject to Federal labor jurisdiction through a loose interpretation of "interstate commerce." The Taft-Hartley Act modified this prohibition but the importance of arguments against any union representation is largely confined to companies experiencing new organizational drives.

[2] It is not meant to imply that attitudes favorable to the position of management on the part of the general public derive only from the inconvenience or personal loss occasioned by labor disputes. An individualistic ideal, together with the prestige and virtue attached to business success, tends to discredit in advance the efforts of labor organizations. This ideal is especially typical of tradespeople and independent professionals.

Internally to unionized companies an essential redefinition of managerial tactics has taken place. Having failed to defeat the union as an organized entity, many companies now define the situation as one of "competition for the loyalty of employees." This competition has led to extensive "human relations" programs and to the introduction of various "employee benefits." Many executives, with superior historical hindsight, now profess their belief that had these programs been introduced earlier, the unions would have had no chance in "capturing" worker loyalty. In view of the functional role of the union as an agency of bargaining and protest, managerial regrets are in most instances unjustified on these grounds.

The "competition for loyalties" is regarded as so important by contemporary managements that it deserves one or two additional comments. Every major association (and even minor voluntary groups) competes for the loyalties of its members, all of whom are perforce members of other groups. There is in the industrial sphere still a widespread failure to comprehend that loyalty is not an all-or-none matter, but differentiated according to the function of associations. Some of the more naive social scientists have lent credence to the view that a kind of "totalitarianism of industry" can recapture the type of organizational integration more or less characteristic of primitive and peasant societies. This leads to the view, usually not succinctly stated, that the company or plant should take the place of the state, community, church, family, and all voluntary associations by "servicing" the employee in all respects. The industrial firm is an even less appropriate structure for fulfilling the functions of other associations than is the union. The nostalgia of managers is less surprising than that of the scholars. Neither is likely to find that industrial "integration" can be achieved by rivalrous courting of the worker.

The existence of factions within the union, however, may in some instances prove to be an advantage to the employer almost as effective as the real or alleged minority position of the union in the period of major union organizational drives. The employer may be able to find a "peace party" within the union and deftly encourage

either a change of union leaders or at least a change in union bargaining demands and tactics Such a policy carries its own hazard —the possibility that the membership backing of the leaders and of the specific demands is sufficiently strong to defeat the internal opposition and at the same time increase the morale and therefore the bargaining power of the union.

The specific tactics of management in industrial disputes will naturally depend in considerable measure upon market considerations and company prosperity The relationship is not simple, however. The company with a large financial margin may be able to afford a long strike but if the financial margin is due to continuing high volume of sales the ease of passing any increased labor costs along to the consumer may indicate quick settlement. Management's appraisal of short-run and long-run changes not only of the market and the law in the loosest sense but also of the power of the union, will be a major factor in its handling of any particular dispute.

The complaint is often heard that there are no longer any "normal times" which, if interpreted as rapid change and meager predictability of future change, is a fairly accurate statement The implication of this problem in the present context is that the level of military operations, governmental controls in view of international conditions, and the level and type of industrial activity that these involve must all affect managerial tactics in the conduct of relations with unions. In these circumstances the past and present are uncertain guides to the future.

THE UNION'S "WEAPONS"

Just as employers have taken precautionary measures to protect that power already granted by law and custom, and definitely coercive measures to meet challenges to that power, so organized groups of employees have developed over a considerable period of time the fundamental strategy and varying tactics of battle It is understandable that some of the methods used by management and labor are similar, and that each may learn "tricks" from the other. Management may follow a "divide and conquer" policy by securing

individual contracts or by creating dissension between rival organizations, the striking labor union may find it expedient to settle with one employer in a competitive field while the remainder are forced to come to terms or lose part of their sales

But there are also marked differences in the range of effective weapons available to management and labor arising from their different resources and normal power. Thus, the labor organization is usually in the position of the challenger (or "aggressor") in an industrial dispute, and must perfect the strategy of offense rather than defense Furthermore, the management of a business enterprise is already a cooperative organization, this is not equally true of the employees Thus, a good deal of the effort of the union leaders and members must be expended on maintaining unity of purpose, preventing "scabbing," and persuading workmen that concerted demands have more chance of success than individual petitions for redress of grievances or rewards for merit These differences, and others that follow from them, account for the disparity in weapons and in the importance of those weapons available to both parties to industrial disputes. The significance of these observations may be pointed up by a survey of the battle resources of organized labor.

Some Discarded Tactics Unions, like the corporations, have junkyards of weapons no longer necessary or appropriate to the current state of management-labor relations Isolated instances of continued use may be found, for example in new organizational drives against a belligerent employer, but for the most part the weapons represent earlier historical epochs. Although normally not a part of the regular arsenal of American labor unions, *destruction* of plant and equipment, and possibly *violence* directed against nonstrikers and managers, have not been lacking in industrial disputes The so-called revolutionary unions have occasionally used destruction as a regular instrument of labor policy, either to make immediate gains or for the more far-reaching purpose of contributing to the collapse of the economic and political system "Sabotage," as the term is frequently used in common American speech, may consist primarily in wrecking equipment or product, whether designed as a weapon

against an individual employer or as a blow at the productive system as such.

Like picketing, and, indeed, the bulk of labor's weapons, violence and destruction rarely appear as a distinct type of strategy, but rather as an accompaniment of a strike. Yet logically and actually, "terrorist" activities such as beatings and bombings may be used where a strike has for one reason or another not been called. However, the number of labor disputes actually won by violence and destruction seems to be very small, largely, of course, because law enforcement officers intervene. So effective is that intervention, in fact, that employers may find it possible to have their agents perpetrate violence that can be blamed upon workers as a means of getting official backing for breaking the strike. For these reasons violence and destruction clearly carried on by workers are much more likely to appear as a symptom of weakness and despair of victory in a dispute than as an ordinary policy.

A spectacular weapon of labor that was briefly used with great success by industrial unions in the mass-production industries in the middle 1930's was the *sit-down,* or, more properly, the *stay-in* strike. Aside from the element of surprise, the chief initial advantage gained by a strike which left the workers in control of the plant was the small likelihood of successful strikebreaking by any of the customary procedures. As long as the workers remained in the buildings there was no necessity for persuasive or coercive picketing to prevent "scabbing." It was even claimed by the workers, with considerable accuracy, that the plant and equipment were better protected by the presence of the regular workmen than they would have been if left to the tender mercies of professional strikebreakers.

The stay-in strikes as used principally in the rubber and automobile plants required a minimum of advance organization and could capitalize on spontaneous support partly due to the novelty of the situation. The avoidance of mass picketing provided less excuse for incidents leading to violence, and public authorities hesitated to attempt eviction by force with the strikers in the more advantageous position. However, the effectiveness of the weapon

waned largely because of public disapproval The disapproval might have been less insistent had the strikes been confined to major disputes and so authorized by regular union procedures But the very novelty and spontaneity of the new weapon, together with its initial success, encouraged a sporadic outbreak of "wildcat" (unauthorized) strikes which served partially to discredit the organization of the unions The new weapon in fact had been generally discarded as an important strategy at least a year before the United States Supreme Court effectively settled upon its illegality in 1939.[3] Although few if any full-fledged stay-in strikes may be expected in American industrial disputes of the future, brief sit-downs (temporary work stoppages) may continue to be an occasionally effective weapon for settlement of minor disputes where a show of strength seems necessary to break an impasse in bargaining

The Indirect Tactics of Unions Like the forces of management, labor unions have attempted with varying degrees of success to improve their position by indirect action, and to protect and consolidate by preventive measures gains achieved in industrial disputes Such weapons tend to figure less prominently in union strategy than with management, because the union is more often the challenger than the defender Moreover, in the past the customary relative strength of management and labor meant that defensive action by the former was designed to hold off some slight inroads on the amount of power wielded, whereas the latter often had to defend its very existence as an organized group.

Nevertheless, unions have not failed to explore the possibilities of supplementing direct action by various indirect pressures, and of holding on to gains without the expedient of battle

[3] National Labor Relations Board *v* Fansteel Metallurgical Corporation, 306 U S 240 The Court ruled that although the National Labor Relations Act recognized workers as "employees" for the duration of a labor dispute, violation of the property rights of the company would sacrifice that privileged status There is sound ground for holding that the stay-in strike involves a *conflict* in property rights that of the employees in their jobs (as granted in effect by NLRA and similar legal developments) and that of the company in possession and use of the physical assets of the plant In this view, the Supreme Court simply held that in the case of the stay-in strike the older right of possession and use took precedence over the newer and still poorly defined property right of the worker in his job

The public is always affected by labor disputes, and both sides attempt to win public favor, or work through public agencies to buttress their own forces. Actually, there are numerous publics, and of these one of the most important in the strategy of labor is that of the consuming public—especially those consumers upon whom the "enemy" depends for trade The strike, as a primary boycott, attempts among other things to cut off the supply of products at the source But either with or without the strike the union may attempt to bring the same economic pressures upon the company by reducing or stopping demand To this end various devices for influencing the market have been adopted

The *boycott* is a withdrawal of patronage or other business dealings in order to cause a loss to the individual or company boycotted As a device used by unions the boycott has had a troubled history. Following *laissez-faire* doctrines the courts cannot interfere with a voluntary refusal to carry on business relationships, except to enforce contracts Members of a union therefore cannot be prevented from boycotting an offending employer On the other hand, the courts have also held that a business establishment has a property interest in uninterrupted trade, and that any attempt on the part of the unions to influence "third parties" to cease business dealings with a concern amounts to an illegal restraint of trade But between these general principles the courts have taken various positions in specific cases For example, picketing may be partially intended to induce a boycott as well as to dissuade possible strikebreakers But a strict refusal to allow appeals to consumers during a labor dispute may interfere with another recognized legal principle, that of freedom of speech In this regard, the courts have generally held that pickets may inform the public that a dispute is in progress, but may not attempt to restrain people from entering the place of business by intimidation or coercion

In order to circumvent the judicial antipathy to the secondary boycott (that is, one used to prevent business dealings between an employer and "third parties"), unions have adopted other stratagems with some small success Of these devices, the "unfair" or black lists of nonunion employers, or employers currently engaged in labor

disputes, have received the harshest treatment by the courts, since they have been held to constitute a form of the forbidden secondary boycott. (As already noted, until the recent legislation protecting the right of workers to organize, the courts held that blacklists of union workers circulated among employers were perfectly proper) Other techniques have avoided this pitfall Thus the courts have been able to find no justifiable grounds for preventing the publishing or circulating of "white lists"—that is, lists of businesses which union members and their friends are urged to patronize This is, of course, simply a blacklist in reverse, especially if the omissions are obvious A similar subterfuge is that of the use of advertising space in union publications. Companies with a favorable record of negotiations with unions may find it to their advantage to declare their position as a basis for getting increased sales to union members, whereas nonunion companies might find it difficult to secure any advertising space, even if they so desired

Perhaps the watered-down boycott that comes most to the attention of the consuming public is the union label. Like white lists or advertising clients, the union label constitutes a boycott only by omission and implication As a part of union strategy the label is regarded both as a reward to cooperative employers and as a means of passive boycott on those employers to whom its use is denied To make the distinction carry weight, unions may carry on advertising and propaganda campaigns in behalf of those firms entitled to use the label, and make purchase of union-made goods a mark of loyalty to or sympathy with the labor movement Withdrawal of the union label may then become an effective weapon against an employer who gets out of line On the other hand, the unions have not always been able to prevent pirating of the label by nonunion companies Obviously, it would be extremely difficult to measure the effectiveness of these weapons, especially when they are used in conjunction with other tactics Yet it is safe to say that they have had a major influence on the purchasing habits of organized workers and their families, and some effect on other consumers The latter obviously depends greatly on the previously existing sympathies of those not directly involved in industrial controversy.

Thus a union label, for example, may be a highly effective element in the arsenal of unionism in a "union town," and an insignificant or possibly a negative factor in an open-shop community

To match the propaganda campaigns of antiunion employers and employers' associations, labor organizations from time to time have endeavored to discredit the policies and tactics of big business The qualification "big" must be made, since the majority of American labor organizations have not found it expedient—or for that matter, do not seem to have seriously desired—to question the older ideology of small and independent enterprise Antitrust and antimonopoly legislation have been supported by unions fearing the power of sheer size in business organizations Although much more haphazard and sporadic than the organized campaigns of corporate managerial interests, some union propaganda efforts have capitalized on a general fear of bigness in our economic system. The unions have gained some public support by calling attention to the spread in salaries and wages within an organization, to wastes and inefficiencies attributable to management, as well as to real or alleged violations of civil rights of employees by large corporations

The propaganda campaign against big business has lacked organization and consistency because the unions have had no set of guiding principles clearly opposed to the doctrines supported by managerial and financial interests In other words, the ideology of most of the American labor groups has not been anticapitalistic. Yet to the extent that a strictly individualistic doctrine was accepted by organized labor, unions themselves were subject to attack by real or self-styled rugged individualists. In a very real sense, therefore, the absence of an equally powerful counterpropaganda by labor unions has stemmed not only from ideological uncertainty but from a lack of comprehension of the significance of corporate enterprise for the older individualistic doctrines For this reason, managerial circles have exhibited a great deal more "class consciousness" than have the forces of organized labor It seems safe to predict that with the growth of large and powerful national unions there will emerge a more consistent set of doctrines which may be presented to the public either as propaganda or counterpropaganda.

Slow-Down, Overstaffing, and Restrictive Rules. Unions have resorted to a variety of expedients intended, in one way or another, to limit the worker's productivity, limit the competition of mechanization, spread the work, and so on. Of these techniques, the one supposedly given the most attention and elaboration is that of the slow-down Variously called a "strike on the job," "soldiering," "ca'canny," and "sabotage," the slow-down may be used as a fairly direct weapon against management for an immediate goal and abandoned once the goal is achieved, or as a general defensive policy of resistance to "exploitation." Sabotage in its strict and original sense of conscientious withdrawal of efficiency may be developed to a fine art of wasting time, doing the wrong thing with presumed innocence, submitting every question to a superior for decision, fulfilling stupid commands with complete literalness, and so on. A definite, though passive, policy of noncooperation can be a powerful weapon in the hands of the seemingly unarmed An administrator subjected to this kind of attack can be made to appear very silly without his having much ground for overt punitive action.

As it was observed in Chapter XII dealing with the problems of wastes of labor resources, restriction of output in one form or another is very widespread throughout the gainfully employed population (including managers and professionals as well as shop and bench workers). But it is apparently only in the labor organization that such restrictions are used as an offensive or defensive weapon

If a union is in a favorable bargaining position, the policy of work restriction or spreading the work may become not only a definite but also a formal and official policy. Thus unions may write into collective agreements provision for restriction on the introduction of labor-saving machinery, or investigatory and administrative machinery for decision as to what constitutes a "fair day's work" Some craft unions have become sufficiently powerful to insist on a minimum staff, even though the business of the employer does not require so large a group. In some cases, especially the unions of workers in the entertainment field, this may be extended to paying for services that are not used at all. For example, a radio broad-

caster whose musical program consisted of records or transcriptions might be required to hire a "stand-by" orchestra Such agreements are contractually legal unless forbidden by positive legislation, and represent a defense against the full burden of technological change being borne by displaced workers. In a sense these tactics, however they are viewed with respect to public policy, simply represent an extension of the craft union's aim of maintaining a monopoly on skills by preventing effective substitution for or obsolescence of that monopoly In this regard it is noteworthy that labor unions share a practice with big business establishments both are willing and anxious to interrupt any technological change which endangers private group interests

The Strike It is frequently asserted that for American organized labor the strike is the center and substance of organizational policy. that other tactics of conflict are either subsidiary to or designed to protect the weapon of collective refusal to work. Although objection might be made to this generalization in specific instances, it is certainly true in a statistical sense That is, of the various weapons ued by various labor organizations, the strike is certainly the most frequent and the one customarily regarded by the unions as most effective

Essentially the strike is an organized work stoppage, directed against the economic interests of the employer, but also against any sympathizers or supporters of the employer (including "loyal" employees) [4] It is true that strikes, like wars, may also be undertaken to

[4] The literature on such an important weapon of industrial conflict as the strike is, of course, enormous For good general treatments, see the following Robert R R Brooks, *When Labor Organizes* (New Haven Yale University Press, 1937), Chap IV, "The Strike", Jerome Davis, "Industrial Disputes," in Emanuel Stein and Jerome Davis, eds, *Labor Problems in America* (New York Farrar & Rinehart, Inc, 1940), Chap 9, Lois MacDonald, *Labor Problems and the American Scene* (New York Harper & Brothers, 1938), pp 480–489, S Howard Patterson, *Social Aspects of Industry*, 3d. ed (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1943), pp 284–392 For court cases indicating the legal status of the strike, see James M Landis, *Cases on Labor Law* (Chicago The Foundation Press, 1934), Chap IV, "The Conduct of a Striker," and Chap V, "The Ends for Which Men May Strike" The most comprehensive treatment of the strike as a complex type of organized social action is that of E T Hiller, *The Strike* (Chicago University of Chicago Press, 1928). See also W Lloyd

solidify the ranks of the combatants and thus gain a united front for future and more successful action. On the other hand, such unification is not likely to follow from resounding defeat by the selected "enemy," and a union will not willingly call a strike which is patently foredoomed to complete failure at the hands of the employer. Thus, even an "organizational" strike has as its immediate or ultimate goal a successful challenge to the power of management.

The strike is sometimes referred to as a "primary boycott," since its aim is to bring direct economic pressure on the employer by the members of the union and their immediate sympathizers. Although occasionally this pressure consists partly in withholding patronage for the products or services of the company, the strike is primarily designed to withhold the labor necessary for the employer to continue normal operation of the business. For this reason the strike is also commonly called an "economic weapon." However, such a designation should not be thought to mean too much. For example, it does not mean that strikes are called only to wrest economic concessions from employers, or even that during an actual strike the workers' sole hope of victory rests upon the cost of the strike to the company. The designation of a strike as an economic weapon certainly does not mean that it is also an "economical" one, since both parties to the dispute lose income while the plant is shut down. Whether or not the results of the strike are worth the expense even to the victors is a question to which there may be no answer capable of evaluation on a balance sheet. Both sides are likely to feel that there is more at stake in a strike than simply a question of monetary advantages and disadvantages.

A strike may be fairly spontaneous and unorganized, without benefit of elaborate campaign plans or of a previously existing formal union to provide leadership. Some such strikes may gain an immediate and fairly limited objective, partly because the very lack of preparation catches the employer with no effective defense. On the other hand, no very great gains are likely to be secured by such spontaneous stoppages, and even such minor advantages as may be

---

Warner and J. O. Low, *The Social System of the Modern Factory, The Strike: A Social Analysis* (New Haven: Yale University Press, 1947), Chaps. I–III.

secured are likely to be pretty temporary if there is no effective organization to protect the terms of settlement. In general, therefore, the weapon of the strike calls for a tightly knit organization, careful planning, and able leadership

Viewed as a fairly standardized form of collective action, the strike involves preliminary planning and organization, the strategy and tactics of concerted stoppage of work, and a "settlement" that may range all the way from complete victory for the workers to various forms of defeat, the most disastrous of which may be not only the collapse of the organization but general loss of employment Obviously, the exact outcome of such a complex and highly variable situation cannot be predicted exactly, although both managers and union leaders who have had long experience in industrial disputes are able to predict *and control* the outcome to a marked extent. On the other hand, strikes are not necessarily undertaken on purely rational grounds, and there is a notable and understandable tendency to overestimate the chances for victory But even shrewd and cautious contestants may be forced to resort to trial by ordeal in order to determine relative power.

Whatever may be the grievances of the workers, or their more positive aims that can only be achieved through some form of exertion of power and control, a union leader must recognize that simple conviction in the justice of the cause is not sufficient to win battles The order of decision is likely to be· whether, and if so, when? Naturally the decision to strike, and certainly the decision concerning the time of a strike, will depend upon a judgment of relative strength Thus, the most propitious time for a strike is when the union is well organized and equipped with sufficient reserve funds, when the demand for labor is high and increasing, and when the employer is in the poorest bargaining position—especially, at a peak season in production, so that a shutdown will really constitute an effective weapon

Although uncertainty concerning policy, and therefore concerning the amount and kind of support he may expect, may plague a local manager of an extensive corporation, these problems are much graver for a union leader. His efforts must be directed toward creat-

ing and maintaining disciplined cooperative activity among those who may be quite unaccustomed to united action in general, or to industrial conflict in particular. This means that the workers must be restrained from an ill-advised or ill-timed strike as surely as they must be expected to support a seemingly advisable and timely one. This difficulty is enhanced by the fact that union members and the general public are likely to insist not only upon democratically chosen leadership, but upon a large measure of *direct* democracy.

Once a strike is effectively called, the strikers must be prepared to "outwait" the employer. This requires not only some form of "strike relief" or other means of subsistence in the absence of regular wages, but also a sufficiently large and united stoppage of work to ensure serious curtailment or complete stoppage of production. A small but strategically important group of workmen may cause a complete stoppage of production, especially if they are also not readily replaceable. This, as we have previously noted, has been a source of strength for craft unions of skilled workmen. So-called production workers in the mass-production industries, on the other hand, must depend on concerted action by a much larger group to have any hope of winning a strike.

Provision of at least a minimum subsistence and maintenance of a united front are probably the two greatest factors in upholding the morale of the strikers. If the employer attempts to operate the plant, even minor defections from the ranks of the strikers may be played up by the employer as a means of inducing others to break ranks and scramble to secure jobs on the old or poorer terms. Since strikes are costly both for the employer and for the employees, and the employer is likely to have a greater reserve, a short strike is more likely to be successful than a long one. Although strikes have been won after a year and more of work stoppage, the problem of maintaining morale mounts with the passage of time.

Before noting the additional direct weapons of labor which may or may not be used in conjunction with a work stoppage, some of the well-known varieties of strikes may be briefly noted. The *sympathetic strike* takes several forms, all involving, as the name implies, work stoppages by laborers not directly involved in the original

dispute A sympathetic strike may be called by one craft union in support of the demands of another craft union in the same plant, it may be a refusal to work with nonunion materials (usually called *hot goods*), it may be a full-fledged sympathetic strike to force an employer to cease doing any business with struck plants, communication lines, and so on The less direct the connection and interest of the sympathetic workers with the company originally involved in the dispute, the less acceptable is such action in the eyes of the courts Since most forms of sympathetic strikes involve an attempted coercion of recalcitrant employers through "third parties," this weapon is likely to be judged as an illegal "secondary boycott" For this reason the sympathetic strike is most likely to be effective if directed against a common employer, or if some sort of demands independent of the original controversy can be made against the employers of the sympathetic strikers

A *general strike* is in form simply an extension of the sympathetic strike to include all workers in an industry, in a local area, or even in the country as a whole However, since a general strike affecting an area involves the almost complete cessation of all business activity, including the supply of essential consumer goods, it is generally regarded as a revolutionary weapon aimed primarily at the government rather than at commerce and industry as such. Although city-wide general strikes have been called a few times in the United States—most recently in San Francisco in 1934—their success has been debatable The weapon has not been widely or successfully used in America primarily because the ranks of organized labor have been prepared neither in ideology nor in fact for a concerted, class-conscious revolutionary action [5]

Picketing, Persuasive and Otherwise Although there are strikes without picket lines and picket lines without strikes, the two weapons of labor are so frequently used together that they are frequently considered part of the same general phenomenon Indeed, the nondisputing public is most frequently aware of strikes through the ap-

[5] For a comprehensive treatment of the general strike, see W H Crook, *The General Strike* (Chapel Hill University of North Carolina Press, 1931), especially Chap XV, "America"

pearance of picket lines around an industrial plant or place of business.

It is difficult to define picketing, precisely because its aim is by no means constant, either in theory or in fact. Apparently the original, and still the most legally acceptable, form of picketing is that illustrated by one or two persons walking back and forth in front of an entrance to a manufacturing or commercial establishment carrying placards proclaiming that a strike is in progress, or simply that the company is "unfair to organized workers." As such, the picket line is designed to be informative, with the potential worker or customer allowed to draw his own conclusions, or at most persuasive, urging support for the demands of the labor organization. To be successful, the use of such a completely "peaceful" weapon must depend upon a considerable body of sympathetic opinion, or at least a benevolent neutrality upon the part of the public, which may be changed into sympathetic support by persuasion. Very frequently organized labor has enjoyed no such sympathy or neutrality either from the buying public or from other workers. From this difficulty arise other types of picketing, the aims of which are much less persuasive than coercive.

If no attempt is made by management to reopen a struck plant while the dispute is in progress, picketing may be a mere formality or even dispensed with completely. On the other hand, a small group of striking employees may attempt to persuade the employees of other departments to "come out" in sympathy. Such picketing is based on the well-known reluctance of union members to "go through a picket line," even if that line has been established by an actually or potentially rival union.

Picketing becomes most obviously a directly coercive weapon in industrial conflict in *mass picketing*. The clear intent of mass picketing is informative or persuasive only in the sense of "it will be healthier for you if you don't go through." The encirclement of a building or grounds by pickets walking in double column and perhaps numbering several thousands is designed to dissuade "scabs" from seeking employment at the expense of the strikers. In union strategy this weapon is considered a necessary adjunct of a strike

among unskilled or semiskilled workers whose jobs might be readily taken by nonunion workers The presence of a large number of strikers or strike sympathizers is also regarded as an effective symbol of united strength, and useful in discouraging the intervention of unsympathetic law enforcement officers or professional strikebreakers

It is apparent that in so far as picketing is designed to persuade or coerce nonunion workers not to take over the jobs of striking employees the weapon has point only in an industrial society where large numbers of workers remain unorganized. Thus, as between Great Britain and the United States, for example, the picket line has been a major weapon of American unions whereas the English unions for the most part find such strategy unnecessary. If one can assume that the clear tendency in the development of industrial relations is toward fairly complete organization by both employers and employees, most forms of picketing (as well as the whole strategy of strikebreaking by management) are seen to be indicative of immaturity Those forms of picketing, in other words, are designed to produce at least a temporary "solidarity in the labor movement," which is not guaranteed by permanent organization

The purpose of a picket line is, of course, not necessarily confined to prevention of strikebreaking. We have already noted that its purpose may be that of dissuading customers from buying goods from the company while a dispute is in progress. But picketing may also be extended to attempt complete economic isolation of the company through stopping of shipments in and out of the establishment Thus trucks and trains may be halted, cars stopped and searched for contraband (possibly professional strikebreakers), and resistance will ordinarily produce violence A picket line which operates in this fashion actually attempts to enforce a blockade in a war of attrition against the company, that the analogy is not far-fetched is indicated by the actual overturning of trucks and even freight cars, exchanges of gunfire between the blockaders and the convoyed truckers, and so on Although there is no question that such tactics place the workers outside the law, we have had several occasions in our review of the weapons of management and labor to remark

that legality may be a merely academic matter in cases of conflict

One final form of picketing differs somewhat from the others because of its complete independence of the strike. Most types of picketing are designed simply to make a strike effective through some form of pressure on other workers, or to add to the strike the additional pressure of economic isolation of the company However, picketing may be used as an independent weapon where no strike is in progress in an attempt to force the employer to hire union workers. Thus the employees in an "open" or nonunion shop may refuse to join the union (possibly because to do so would imperil or definitely sacrifice their continued employment), while representatives of the appropriate union proceed to picket the establishment carrying placards announcing the "unfairness" of the employer State courts almost uniformly view such tactics with hostility, viewing the action as a secondary boycott and damaging the property right of the employer in an uninterrupted business. Under the Wagner Act the National Labor Relations Board was not uniformly unfavorable to picketing as an instrument of union organizing efforts, but under the Taft-Hartley Act such action is illegal

PREVENTION AND SETTLEMENT OF INDUSTRIAL DISPUTES

It is apparent that the prospects for industrial peace, as well as for the protection of public interests not directly involved in labor disputes, depends in part upon stringent limitations upon the exercise of power. Without such limitations, there is strong pressure for canons of efficiency to outweigh any nebulous ethical problems of rights and duties But legislative limitation upon violence and coercion is not alone sufficient to preserve the peace. So long as alterations in relative power are a paramount aim of groups with divergent interests, the pressure for adopting short-cuts is ever-present, and the use of such short-cuts is very nearly inevitable unless regular and reasonably acceptable procedures for adjudicating claims and interests can be established. It is to accomplish this adjudication that various types of machinery have been used, and

others suggested, for the peaceful avoidance or settlement of industrial conflicts

We have suggested in the preceding paragraph that industrial conflicts can be minimized or prevented by resort to two types of procedures, both of which are necessary to accomplish the result. The first type might be called that of regulation and limitation of the power of the two interest groups, and especially the restriction of ways in which power may be exercised. The second type is that of providing more positive "interference" in industrial disputes in the form of adjudication and settlement. We may review some of the accomplishments and prospects in these two fields.

Balance and Limitation of Power The course of recent labor legislation affecting collective bargaining has been in the direction of equalization and limitation of collective power The power of the employer was subjected to a major curtailment by the passage of the National Labor Relations Act, which had the effect not only of denying certain weapons to the employer, but of adding positive powers available to employees Further disarmament of the employer was provided by the restriction on the use of the injunction in industrial disputes (Norris-La Guardia Act) and the use of professional strikebreakers (Byrnes Act)

Over a much longer period of time the weapons legally available to labor have been reduced or their legitimate use curtailed—e g , the regulation or prohibition of the secondary boycott, of coercion and intimidation through mass picketing, of occupation of plants, and so on With the avowed purpose of restoring a balance of power between management and labor, the Taft-Hartley Act specifies a series of "unfair practices" by unions as well as employers, requires financial statements, and statements of non-Communist affiliation of union officers in order to secure the protection of the Act for unions.

Provision of Adjustment Machinery. The provision of collective bargaining with a roughly approximate equality in the power of the bargainers, together with a limitation on the weapons used to secure advantageous terms, cannot, however, guarantee a solution of industrial disputes Even in such circumstances, it may be necessary

finally to determine issues by resort to trial by ordeal, or by battle.

Any further governmental regulation of the course of industrial relations rests upon the thesis that in any conflict between special interests groups, the public willy-nilly becomes involved, and, indeed, that in the last analysis the public interest is preeminent. This amounts to saying that the government has the right (and some would say, the duty) to intervene and adjudicate disputes in the public interest.

The public interest is usually asserted as strongest with regard to labor disputes in "essential industries," but attempts to define such industries in advance of disputes have not been notably successful. There is some agreement that public utilities, medical, fire, and police protection, and basic food supplies constitute a minimum list of essential services. But the growing interdependence of the economy is such that seemingly minor disputes may become of serious importance, such as the tugboat strike in New York City in 1945 which for a time threatened both food and fuel supplies to the city. Moreover, a dispute may directly affect a very small proportion of the public in their daily lives and yet be of fundamental importance to national military security. With or without clear legal authority, responsible governmental officials are likely to intervene in such disputes.

The settlement of disputes may take a number of forms, differing chiefly in the nature and amount of compulsion involved in the initiation of the adjudication and in the acceptance of its results. *Conciliation,* strictly speaking, is simply the process of give and take involved in collective bargaining, without outside help or authority. It is, however, frequently used in the sense of *mediation,* which is sometimes called *industrial diplomacy.* Mediation involves essentially the selection of a person or group, private or official, to attempt to act as an adviser and go-between in negotiations that have reached an impasse. The selection of a mediator is possible only if there is a genuine interest of both parties to continue negotiations without resort to conflict, and if, moreover, a mutually acceptable mediator can be found. Mediation may, of course, be made to carry greater probability of acceptance if publicity is given to the terms proposed

A representative of the government, even though he carries no direct authority to compel acceptance of his recommendations, may carry considerable weight in inducing settlement. This is the secret of the frequent success of the publicly appointed "fact-finding body." The device is usually a euphemism for public mediation, as the "facts" in the ordinary sense are not usually under dispute. The recommendations of such a public panel put the burden of proof on the party to the dispute who does not accept the suggested solution.

Mediation can at most offer the services of an outsider, with some nebulous pressure to accept his advice. If his diplomacy and prestige are insufficient to bring a rapprochement between the disputing parties, the disputants must resort to a contest of strength or to further and more authoritative settlement by an outsider. That further step is ordinarily called *arbitration*

Arbitration differs primarily from mediation only with respect to the authority of the arbitrator to reach an independent decision and to make that decision binding. Arbitration may be classified as voluntary and compulsory, with respect both to its initiation and to acceptance of the arbitrator's verdict. This yields four logical types: [6]

Initiation	*Acceptance of Decision*
voluntary	voluntary
voluntary	compulsory
compulsory	voluntary
compulsory	compulsory

However, as Patterson has pointed out,[7] the first of these types is not arbitration at all, but mediation. The other three are customarily distinguished by the terms *voluntary arbitration, compulsory investigation,* and *compulsory arbitration,* respectively They obviously represent an ascending scale of assertion and enforcement of public intervention But public intervention is not necessarily the most important form of industrial arbitration, although it may be the most spectacular

[6] See S Howard Patterson, *Social Aspects of Industry,* 3rd ed (New York· McGraw-Hill Book Company, Inc , 1943), p. 403.

[7] *Ibid*

To an increasing degree, collective bargaining agreements provide for "compulsory" arbitration of disputes arising under the agreement itself. In some major industries and a number of minor ones where industry-wide bargaining is the rule, the companies and unions jointly hire a "permanent" arbitrator for the duration of the agreement. The primary function of such an arbitrator is with reference to the grievance machinery, where he is the court of final appeal, and not with contract negotiation as such Particularly in the early stages of such an arrangement, there is a strong temptation for both management and labor to attempt rather essential changes in the terms of agreement through the device of arbitrator's decisions.

The general view is that "that arbitration is best that functions least," indicating a willingness of management and labor to bargain. However this is not simply a product of "maturity" of the bargainers but may reflect much more frequent arbitration at an earlier stage of management-union relations and the consequent development of a "common law" that is not repeatedly questioned

It is clearly difficult for a collective agreement to provide for definite arbitration of issues upon the lapse of the contract and the negotiation of a new one, but arbitration is nevertheless used as a device to avoid a halt in production when bargaining has failed to remove a stalemate. It is at this point that the public interest is likely to be most evident On the one hand, one of the parties to the dispute may suggest arbitration of remaining differences, either in the genuine hope of a favorable outcome or as a face-saving device As such proposals are customarily public, the other party may face loss of public support if it refuses to submit to arbitration. On the other hand, it is clearly the threatened work stoppage that is most likely to bring appeals or pressures from public officials for settlement.

The reluctance of state and Federal legislators to insist on compulsory arbitration stems not only from uncertainty concerning the constitutionality of such "interference," but from the determined opposition of organized labor. Union representatives have argued that the best way to industrial peace is through collective negotia-

tion, supported by proper safeguards and approximate equality As we have noted, collective negotiation is no ultimate preventive of industrial conflict, although the unions can point to an increasing provision for arbitration in collective agreements However, there is no immediate sign of universal adoption of collective agreements or their completely peaceful renegotiation to meet changing conditions Where agreements are in effect, the unions have already accepted the principle of compulsory arbitration for the duration of the contract

The more fundamental, and more tenable, objection of the unions is that compulsory arbitration takes from organized labor its most powerful weapon—the strike—and gives it no commensurate safeguards in return Thus they point out that prohibiting the employer from resort to the lockout removes a very minor weapon from his arsenal, and still leaves him with the power to close the plant completely, change the conditions of work, and so on, without effective protest from the workers This raises a fundamental problem of *policy and of machinery for putting that policy into effect.*

If it be maintained that the public interest in industrial peace is paramount, and that conflict is a "luxury" which must be sacrificed at least in "essential" industries and during periods of national emergency, some form of compulsory arbitration seems to be the only solution But that solution depends upon adequate safeguards for the interests represented, according to some standard of justice This means especially that the employer's bargaining power must be reduced to approximately that of the union through governmental interpretation of "fair" wages, "reasonable" hours, and so on [8]

The fact-finding and administrative machinery for compulsory arbitration can be made to appear as a prohibitively gigantic undertaking, to say nothing of the incursions thus made on traditional liberties. But there is no reason to suppose that every industrial dispute would have to be decided by a national panel of arbitrators, or that every dispute would have to be treated as a *completely* unique case Certain principles already exist in governmental policy, such

[8] The difficulties of compulsory arbitration are succinctly pointed out by Patterson, *op cit*, pp 406–407

as maximum hours and minimum wages An arbitrator would no doubt have to take into account past policies and relationships in an industrial situation, regional and local standards and practices, etc. Such procedures are already practiced in collective bargaining, in mediation and voluntary arbitration, and in administrative decision of government agencies.

It is not meant to imply that the question of the machinery for compulsory arbitration is unimportant, for acceptance of the machinery and the general standards upon which it rests would be necessary for successful arbitration Even "compulsory" arbitration cannot be used to force persons to work so long as we maintain any of the principles of a free labor system But it is suggested that on this level it is not impossible to secure acceptance of compulsory arbitration with adequate guarantees under prevailing or some other standards of justice

This still leaves untouched the question as to the fundamental policy of interference in industrial disputes Although this is a question with which the social scientist cannot be directly concerned, the prediction may be hazarded that the tendency to exert emergency control, and the tendency to extend the definition of essential industry as the economic system becomes more highly concentrated, will lead to a gradual acceptance of compulsory adjudication of industrial disputes as a last resort

REFERENCES

BAKKE, E. WIGHT, and CLARK KERR, *Unions, Management and the Public* (New York Harcourt, Brace and Company, 1948).

BRADY, ROBERT A , *Business as a System of Power* (New York Columbia University Press, 1943), Chap VIII, "Social Policies· Status, Trusteeship, Harmony," especially pp 274–287

BROOKS, ROBERT R R , *When Labor Organizes* (New Haven Yale University Press, 1937), Chap III, "Antiunionism," Chap. IV, "The Strike," and Chap V, "Breaking Strikes"

CHALMERS, W. ELLISON, "The Conciliation Process," *Industrial and Labor Relations Review,* I 337–350, April 1948

CHAMBERLAIN, NEIL W , "Grievance Proceedings and Collective Bargaining," in Richard A Lester and Joseph Shister, eds., *Insights into*

Labor Issues (New York: The Macmillan Company, 1948), pp. 62–86.

COPELOF, MAXWELL, *Management-Union Arbitration: A Record of Cases, Methods and Decisions* (New York: Harper & Brothers, 1949).

DAVEY, HAROLD W., "Hazards in Labor Arbitration," *Industrial and Labor Relations Review*, 1: 386–405, April 1948.

DRUCKER, PETER F., *The New Society: The Anatomy of the Industrial Order* (New York: Harper & Brothers, 1950), Chaps. 7–14.

HARTMANN, GEORGE W., and THEODORE NEWCOMB, eds., *Industrial Conflict: A Psychological Interpretation*, First Yearbook of the Society for the Psychological Study of Social Issues, (New York: The Condon Co., 1939).

HILLER, E. T., *The Strike*, (Chicago: University of Chicago Press, 1928).

JONES, ALFRED WINSLOW, *Life, Liberty, and Property* (Philadelphia: J. B. Lippincott Company, 1941).

KELLOR, FRANCIS, *American Arbitration: Its History, Functions, and Achievements* (New York: Harper & Brothers, 1948).

KENNEDY, THOMAS, *Effective Labor Arbitration: The Impartial Chairmanship of the Full-Fashioned Hosiery Industry* (Philadelphia: University of Pennsylvania Press, 1948), especially Chaps. III–VI and X.

LESTER, RICHARD A., and EDWARD A. ROBIE, *Constructive Labor Relations: Experience in Four Firms* (Princeton, Industrial Relations Section, Princeton University, 1948).

PATTERSON, S. HOWARD, *Social Aspects of Industry*, 3rd ed., (New York: McGraw-Hill Book Company, Inc., 1943), Chap. XVI, "Labor Disputes and Weapons of Collective Bargaining: Problems of Industrial Conflict", Chap. XVII, "Industrial Conciliation and Arbitration: Programs of Industrial Peace."

SEIDMAN, HAROLD, *Labor Czars: A History of Labor Racketeering*, (New York: Liveright Publishing Corporation, 1938).

SLICHTER, SUMNER H., *The Challenge of Industrial Relations: Trade Unions, Management, and the Public Interest* (Ithaca: Cornell University Press, 1947), Chap. V, "The Problem of Industrial Peace."

TELLER, LUDWIG, *A Labor Policy for America* (New York: Baker, Voorhis and Co., 1945).

UNITED STATES SENATE, Committee on Education and Labor, *Violations of Free Speech and Rights of Labor, Hearings before a Subcommittee* . . (Washington: U. S. Government Printing Office, 1937–1941), 75 vols. (entitled "parts"). With some considerable overlapping, these volumes may be classified as follows. Labor Espionage and Strikebreaking. Parts 1–2, 5–8; Open-Shop and Anti-Union Activities. Parts 7–8, 52–53, 56–58, Industrial Munitioning: Part 7,

Organization and Activities of Various Employers' Associations and "Citizens' Committees". Parts 3-4, 16-22, 48-53, 55-58, 60-61, Particular Areas and Conflict Situations Parts 9-14 (Harlan County, Ky), Parts 23-34 (Steel, especially "Little Steel"), and 46-61 (California Agriculture and Industry); Supplementary Exhibits Parts 15A-D, 35-45, 54, 62-75

VINCENT, MELVIN JAMES, *The Accomodation Process in Industry*, University of Southern California Social Science Series, No 2, (Los Angeles University of Southern California Press, 1930)

YELLEN, SAMUEL, *American Labor Struggles* (New York Harcourt, Brace and Company, 1936).

WARNER, W LLOYD, and J O LOW, *The Social System of the Modern Factory, The Strike A Social Analysis* (New Haven: Yale University Press, 1947), Chaps I-III.

CHAPTER XVII

SCOPE AND IMPLICATIONS OF COLLECTIVE BARGAINING

MANAGEMENT-UNION relations in the United States form a number of evolving patterns, which are to a marked degree inconsistent through time and space. The variables of organization, types of leadership, character of market conditions, and the impact of law and governmental action are too complex and their interplay too unpredictable for completely satisfactory scientific analysis with available knowledge and tools. Yet what is known about specific instances of management-union relations need not be left as completely isolated bits of knowledge. It is possible to appraise the broader and future significance of at least some aspects of the seemingly disorderly array of current practices.

In this chapter attention is directed to some underlying features of management-union relations, particularly as they concern the scope of joint decision-making in the industrial sphere and the implications of collective relations for the structure of the industrial order.

CHANGING CONCEPTIONS OF MANAGEMENT–LABOR RELATIONS

There is an archaic flavor in the legal language relating to the conduct of firms and employees, and even in the more flexible popular tongue. Some aspects of the employment relation may still fall within the law of "masters and servants," and popular speech concerning the policies of an "employer" toward an "employee" fail to reflect the fact that the employer is commonly not a real person and

the employee is commonly a representative of an organized collectivity The idiom of industrial relations tends to connote a state of affairs that antedated not only the powerful union but also the corporation, and the arguments concerning "rights" of management are likely to reflect a notion of industrial organization quite different from the true situation.

Recognition of Collective Interests The common law of England and America at the time of the introduction of factory production—that is, at the beginning of modern industrialism—had developed a pronounced emphasis on individual liberty of trade and freedom of contract Thus when groups of workers quit work in protest over small wages, or the bidding down of wages by job-hungry workers, the law fell upon them with a heavy hand By strict application of judicial doctrine, the worker had not only given up all claim to his job by his refusal to fulfill his "contract" with the employer, but the banding together of several workmen constituted a criminal conspiracy.[1] Although the doctrine of criminal conspiracy did not last much beyond the fourth decade of the nineteenth century, it was simply an extreme statement of the predominant view of the courts until fairly recent years Stated in general terms, the employer-employee relationship was held to be an individual contract, entered into by official equals "For value received," in the form of wages, the worker agreed to render a certain kind and amount of services under conditions and directions specified by the employer If the worker did not like the wages or the conditions specified by the employer, he was free to "bargain" individually with the employer or refuse his services altogether. Among the conditions which the employer was free to set was the signing of an agreement not to join any independent labor organization—the "yellow dog" contract—which the prospective employee could accept, or refuse the employment entirely By the same token, a labor organization could be treated as a conspiracy to secure the breach of such contracts Even

[1] A good brief summary of judicial interpretation of early labor organization is given in Malcolm Sharp and Charles O Gregory, *Social Change and Labor Law* (Chicago University of Chicago Press, 1939), Part II, Chap I, "The Common Law in State and Federal Courts"

under the Federal antitrust laws (Sherman Act of 1890, Clayton Act of 1914), conservative majorities in the United States Supreme Court held strikes, picketing, and boycotts by labor unions to be illegal if they were "in restraint of trade."

We are not immediately concerned at this point with the obvious fictitiousness of the assumptions implied or expressed in this body of legal thought, nor with the curious fact that apparently respectable and intelligent judges were only a few years ago still reaching decisions following this line of argument, and reading them with perfectly straight faces. Since the litigants at the bar were involved in serious business, it is probable that only the gods laughed The important point of immediate concern is that the individualistic conceptions and the emphasis on market exchange and contractual equality were fully incorporated into the law, and were the basis for treating a labor organization either as legally nonexistent, or as a violation of criminal law or civil rights.

Independent labor organization, we have noted, existed before the 1930's only by a none-too-willing sufferance of the law Although independent political activity, within the framework of constitutional democracy, could scarcely be denied to organized labor, direct economic pressure such as the strike and boycott was of doubtful legality The reason for this view was clear (if a little unrealistic). A combination of workers seeking to persuade an employer to give them better terms, or to force him to do so by various degrees of pressure, was a violation of the legally supported ideal of individual freedom of contract and an interference with free competition in the labor market. They were, in the language of the antitrust acts, "in restraint of trade." If any organized or cooperative activity merits the same stigma, that principle has been less officially observed.

The difficulty with the doctrines of individualism as applied to labor organization is to be found in the fictional assumption of equality A contractual system without equality for parties to the contract—equality, that is, for the purpose at hand—is a contradiction in terms It is, strictly speaking, nonsense Yet this is precisely the type of nonsense upheld by the courts until very recent years.

The tenuous legal status of the labor union has been very widely

blamed upon the conservative character of the judiciary, and there is some evidence to support such a view in the form of dissenting opinions by the famous liberals of the Supreme Court during the first three decades of the present century Yet the difficulty was more deeply rooted in legal tradition and legal fiction—and is still widely represented in a considerable body of lay opinion.

Perhaps the point at issue may be illustrated by a fairly recent industrial policy with regard to unions During the early 1930's when the CIO's Steel Workers Organizing Committee was making inroads in large steel centers, at times capturing Employee Representation Plan units, various officials of the steel companies asserted their readiness to discuss any questions or grievances with individual employees but refused to talk to representatives of the union "as such" [2] Now this was a position in strict conformity with the "culture of capitalism." But suppose that this line of argument were pushed a little further. A union employee might just as reasonably refuse to talk to any representative of the mammoth United States Steel Corporation "as such," or even to any official in his official capacity *An official position always implies representation of an organization* The same "individualistic" reasoning would forbid talking to a clergyman, or a Red Cross campaign representative, or a majority stockholder, or a newspaper reporter "as such." All social, including industrial, relations would then become a series of heart-to-heart talks between private (if slightly self-interested) persons

The foregoing illustration appears at the height of absurdity, and indeed we should regard it so if the disgruntled workman were to suggest that the difference of opinion be settled by a quiet little fist fight behind the boiler room The point of present concern is not to poke fun at misguided industrial executives or representatives of the judiciary; it is rather an attempt to account for the peculiar quality of industrial relations as a separate category of social phenomena

The key to the peculiarities of social thinking in this field is to be found in the character of the industrial corporation Because of the

[2] See Robert R. R. Brooks, *As Steel Goes . .* (New Haven· Yale University Press, 1940).

legal grant of corporate personality, which was discussed in Chapter III, *the modern employer is always regarded legally as an individual*. Mere questions of size of the corporation, or number of managers, or political and economic power wielded, are irrelevant in this view. Without legal recognition or existence, a labor organization was on doubtful grounds in using persuasion on an "individual" employer. It was only by direct grant of legislative recognition that a labor union could enter into negotiations with an employer in full view of the law.

"Union recognition," which often has been the goal of prolonged strikes in newly organized industries, thus carries the immediate implication of recognition of collective interests. That this implication was not missed by various managerial groups is indicated by the fact that in many instances no issues of wages or "working conditions" were directly involved in disputes that were bitterly contested by various corporations.

To a large extent, this is history. But it is important to note that the organized and standardized character of productive enterprise is intrinsic to the industrial system, although long obscured by the emphasis on the atomistic, impersonal relations of producers in the market. The union may accentuate common interests and minimize individual ones, and may even create new common interests—notably the survival of the union itself. The union, however, did not invent the collective treatment of workers. It represents one mode of reaction to the existence of collective interests, in a social system that encourages groups and organizations of many varieties.

Substitution of "Functions" for "Prerogatives." Within the older conceptions of the nature of industrial organization and the position of management, the very existence of the union was, as we have seen, a challenge to the "rights" of management. Management in the past has made unilateral decisions over a great variety of matters, ranging from those most obviously relating to workers such as wages and hours to those least directly affecting workers such as purchasing, market policies, and inventory. The claims to legitimacy, the normative justification, of the power exercised by management has rested on the notion of "prerogatives." When the

justification has been pushed one further step, these "prerogatives" have been claimed to rest on property rights, which are prior to other claims—note the prefix "pre-" Now the property institutions of our society have been undergoing many changes, some of which were indicated in Chapter III The nature of these changes has been such as to cast serious doubt on this claim to legitimacy. If the managers are the representatives of the owners, it is not quite clear of which owners, and of which type of ownership, the managers are representative, or to which they are by definite structure accountable

The more general and at the same time more accurate equivalent of managerial "prerogatives" is "powers and responsibilities" Once this change in language is made, discourse is no longer prejudiced by the assumption of rights that are inviolable and unrelated to the representation of various interests

Within the existing structure of powers and responsibilities, management performs various *functions* in the industrial system The effectiveness with which these functions are performed is not itself a matter of right, but a matter of objective appraisal The degree to which performance of managerial functions is limited or enhanced by variations in powers and responsibilities is also a matter of objective appraisal. The crucial point is that this changed conception of management no longer assumes the point to be proved —that the actions of management are proper and appropriate because they represent the interests of the owners as against all other interests

In the most general terms, the function of industrial management may be stated as the organization of the factors of production, within the "degrees of freedom" allowed by the current balance of conditions and direct controls The ways of holding management accountable, or the interests taken into account, are variable, as are the mechanisms for determining the nature and quantity of goods and services to be produced.

Whether management "can do its job effectively" in view of union pressures, demands, and other effects on the environment of decision, depends in the first instance on the closer specification of that

job in terms of its relation to other interests that society permits or encourages. Management has always operated within some framework of values and interests other than those, say, of maximizing profits at all costs. A society simply could not survive if profits to "owners" (or even service to consumers) were always prior to other ends There is no doubt that in concrete instances the entrance of the union into the industrial organization has complicated the life of managers, and has done so by changing the specific powers and responsibilities of managers. But it has also served to clarify a distinction that existed anyway, that between rights or interests on the one hand, and managerial operations on the other Recognition of the union and the conduct of collective bargaining will change the rights and interests impinging on managerial operation, but the latter is not dependent upon any particular specification of the former Were the business entirely "owned" by the employees there would still be a managerial function to perform

Collective Bargaining as End and Means As workers in all sorts of unions were attempting to establish their economic and legal power to act in concert, collective bargaining tended to be the goal of union policy Only with the widespread establishment of collective bargaining has it come to be recognized that collective negotiation is a technique of presenting union aspirations to management without in any way settling the points at issue There simply is no easy formula for determining those matters of organization, management, and general policy that directly affect employee interests and therefore equitably constitute a subject for bargaining. This circumstance gives rise to a steady increase in the scope of negotiations that the union will seek to undertake It is given common expression in the desire of unions to have a share in policy formation and management.

Once collective bargaining is established and thus the position of the union in the industrial system assured, the character of management-union relations seems to rest on bargaining power In this connection it is important to note once more that equalization of bargaining power does not assure agreement In fact, equalized power only assures attritional warfare and stalemate unless there

is a structure of interests and norms more fundamental than the issues bargained over, these interests and norms providing the basis of compromise.

For purposes of static analysis, the interests and rules within which collective bargaining takes place may be taken as given Thus, given certain common interests in continuing production and certain values concerning the economic security of retired workers, certain disputes over pension plans may be negotiated But the values and rules are not immune to purposive change at the hands of persons not directly involved in industrial relations, and, as we have seen, they are also not insulated from the effects of developments in collective relations themselves. The rules of collective relations, in other words, are constantly undergoing change as a result of the practice of collective relations. In such a dynamic aspect of contemporary society, experimentation (that is, trial-and-error) is widespread. This makes the statement of specific principles, such as the "proper" scope of collective bargaining, hazardous in the extreme

THE SCOPE OF BARGAINING[8]

In the light of the preceding paragraphs, is it possible to detect any principles and tendencies with respect to the scope of collective bargaining? The answer is a qualified "yes" The principles derive in part from the structure of industry itself, in part from the interaction between industry and the normative order of society

Groups Involved in Collective Bargaining The first problem of "scope" of bargaining is a numerical and occupational one. To whom is collective bargaining available? The customary answer is in terms of "employees," but closer inspection reveals that once again the language connotes a type of industrial system that has ceased to exist in major sectors of the economy The situation has something of the qualities of a child's riddle, except for the frustrating circumstance that there is no clever answer The riddle

[8] With reference to the whole question of the scope of bargaining, see Neil W Chamberlain, *The Union Challenge to Management Control* (New York Harper & Brothers, 1948)

might go If managers are employers then nonmanagers are employees, but if managers are also employees, who is the employer? The corporation, of course, but since managers form the policies of corporations and hire workers while they are themselves hired by other managers, that way lies madness

Law and administrative decision may set definitions of employees for the purpose of determining eligibility for union membership and therefore collective bargaining as those are defined and regulated by law and administrative decision. This is a kind of "operational" definition, but it in no way answers the more basic issue. Its circularity can be avoided only by finding the principles and usages on which decisions rest

As indicated in Chapter III, the "appropriate bargaining unit" has ordinarily comprised direct production workers as the reliably eligible union members, and has left uncertain the position of foremen, guards, and professional and staff groups not directly involved in corporate policy formation. The appearance of unions among foremen, clerical workers, and even professional groups has indicated that the issue is not purely academic, and shocked managers have taken a far from academic view of developments.

The reason unionism has not been more prevalent among supervisors in large companies, clerical workers, and professional groups stems from the same ideology of individual competition for advancement that long discouraged any independent unionism, and the greater accuracy of the ideology in many cases has further confirmed it The common prestige differential favorable to white-collar workers of all sorts in comparison with production workers and the association of unionism with the latter has also discouraged formal unionization of the former. Among professional workers there has been the additional factor of the traditional association between professional activity and private practice—a tradition subject to increasing pressure in view of the predominantly organized, salaried character of most modern professional work.

Thus the current occupational scope of collective bargaining is potentially unstable aside from the fact that by no means all workers in occupations admittedly subject to unionization belong to

unions. The occupational scope of bargaining is unstable because wherever conditions of employment and other relevant circumstances are standardized, there is the potentiality of collective bargaining

At this point it is appropriate to emphasize once more that in the industrial sphere collective relations are not limited to management-union relations In the corporation, the employer's bargaining is *always* collective, whatever the situation among those employed. Furthermore, there are many *group* interests within management, as noted before. These will almost inevitably be represented as such in various discussions and negotiations The chronic shortage of skills for an expanding managerial staff has given collective bargaining power without the overt forms of independent unionism. In a sense, therefore, collective bargaining extended *from* other industrial groups *to* production workers with the rise of independent unions. It follows that part of managerial opposition to unions stemmed from the lowly position of the bargainers and not from the fact of group action itself. The forms of collective bargaining by other groups are likely to become overt wherever formal action seems required to secure aspirations and redress grievances, although the associations are likely to be called by another name and the sanctions to be less dramatic than the strike.

Decisions and Their Status in Collective Bargaining. In the paragraphs that follow a fairly large number of areas of industrial policy and decision are commented on briefly with regard to union interest in collective bargaining.

(1) The "economic bargain" between management and the workers as represented by the union centers primarily on the question of *wages.* If unions are accepted at all, wage bargaining is almost inevitably accepted as within the union's appropriate scope. But wages, whether direct or indirect through various "free" services, whether immediate or deferred through pension plans, are so central to the economic functioning of the enterprise and such a tangible aspect of union activity that acceptance of wage bargaining in general leaves many wage issues in disputed jurisdiction. If bargaining over piece rates, shift differentials, and overtime pay is

accepted, other wage issues may be regarded as solely a managerial matter. For example, can the union claim the right to bargain over the following: job evaluation for purpose of setting wage rates, wage differentials representing the company's comparative efficiency in the industry, a share in the increased productivity achieved by greater capitalization and improved technique? Can the union establish a relation between wages and profits without accepting a wage cut in the absence of profits? Various unions are concerned about all of these issues, but no clear line demarcates unilateral managerial decision from the area of negotiation.

(2) *Hours* of work are so closely related to wages because of the prevalence of hourly wage rates that the two areas of employee interests are commonly considered together. This connection is further confirmed by bargaining over penalty wage rates for overtime work, and even by vacation provisions which may either be regarded as pay for time not worked or extra pay for time worked. However, the historic interest of the unions in shorter hours although certainly in part a simple desire for more pay for less work and in part a desire to "spread the work," has also undoubtedly reflected also a desire for increased leisure as such. Few would deny the legitimacy of the union interest in hours, although legislative provisions have at least narrowed the range of potential bargaining over length of the work day and week.

(3) A third area of bargaining, even less homogeneous than the preceding two, is also commonly conceded to be within the appropriate scope of bargaining. That area is usually called *working conditions,* and since the coverage of the term is broad, agreement on the principle of bargaining about "working conditions" is somewhat greater than the agreement as to which working conditions are meant. Working conditions commonly subject to collective negotiation or grievance procedures include light and temperature, health and safety precautions, food and sanitary facilities, and shop rules. The standing of the union as a negotiator of shop rules or their modification is more likely to be hotly contested than in the case of other working conditions, for these rules represent the disciplinary powers of management and are therefore likely to be

viewed with possessive sentiment as part of managerial right—or requirements "to do an effective job."

(4) Before the scope of bargaining can even be argued, the union must achieve one area of jurisdiction, that of its own *recognition as bargaining agent.* Indeed, in some instances during the rapid growth of industrial unions, management and unions had protracted negotiations as to whether management would negotiate with the unions As questions of the numerical coverage of union representation were often at stake, this was not as completely ridiculous as it sounds, but it had some elements of fantasy Once the issue of union recognition is settled, at least temporarily, the related question of *union security* is likely to rise Here the scope of bargaining is partially hedged about with legislation concerning the legitimacy or illegitimacy of the closed shop, the check-off of union dues, and other provisions for insuring the union against the employer's antiunionism, inroads of a rival union, or "free riders" among the workers in the union's jurisdiction The issue of the closed shop is still hotly contested, and the whole problem of union security is likely to remain as long as the security itself is threatened Even if the union has no cause to fear company attempts at disestablishment, rival unionism is likely to prompt a recognized union to seek the employer's "cooperation" in preserving its position and thus in a sense expand the scope of the company's decisions concerning union affairs

(5) The establishment of the union within the industrial system immediately affected *hiring* and especially *firing* policies, for a major part of the antiunion campaign of many companies rested on firing workers for union activity and failure to hire known union sympathizers The virtual collapse of those tactics mainly through governmental intervention on behalf of the unions resulted in neutrality at least with regard to the relevance of union membership for employment Introduction of the closed shop, preferential union shop, and occasionally even the "hiring hall" system whereby the union provides the labor supply have made union membership a positive rather than a negative factor in securing and retaining employment Other union efforts have also brought into ne-

gotiation and joint determination the enforcement of shop rules and resulting discipline including firing, and, of special importance, the seniority principle for layoffs and rehiring.

(6) Although unions are commonly considered to be interested in the general level of wages and in security of employment rather than advancement, they have actually shown an increasing interest in differential wage scales for various occupations within the plant and for the system of *promotion* and *demotion*, particularly below the rank of supervisor.

(7) Consistent with the motives of workers generally, and with the function of the union in giving its members a more definite standing in the industrial system, *individual security* is increasingly subject to joint determination by management and the union. In the past organized labor took a great interest in the provision of workmen's compensation for industrial accidents and diseases. Although this intrusion into the "prerogatives" of management (not to be concerned about the risks of employment) largely came about by governmental intervention, the principle has provided a precedent for many later union demands. Unemployment insurance (including severance pay from the employer), health and welfare plans, and retirement pensions have all been made subject to negotiation in some companies. Should unemployment become once more a serious problem, the proposal for guaranteed annual wages may be once more put forth. All of these attempts to insure against various risks faced by the worker not only extend the area of union penetration into decision-making but also tend to enhance the stake of the worker and the union in the continued prosperity of industry and of the economy generally.

(8) Although management-union cooperation for reduction of direct labor costs is understandably rare, occasionally unions have shown a positive interest in other aspects of *efficiency* of operations. The clearest incentive for union interest in operational efficiency arises from a situation in which management can reasonably claim that a wage increase would seriously damage its competitive position in the product market. In such instances the union may undertake to aid management in the discovery and elimina-

tion of various sources of waste and inefficiency. During the period of conversion to armament prior to American entry into World War II, several unions attempted to aid companies in organizing the change. Particularly because of the background of "one way" communications from managers to workers, the union often has access to the workers' knowledge of possible improvements in a way that even immediate supervisors do not.

(9) A major and troublesome area of union interest in the formation of industrial policy is that of *technological change*. Although some technical innovations may result in new employment opportunities while older job assignments remain relatively unchanged, and other changes may involve no loss of employment but only a reorganization of jobs, one of the main incentives for technical change has been reduction of direct labor costs. Most unions are not prepared to argue that the reduction of labor requirements relative to output is a bad thing in principle. (Musicians do argue that mechanization in the form of recordings, radio, and television could almost entirely eliminate the live musician, with consequent detriment to the culture.) The unions usually argue, however, that the costs of technical change are likely to be borne in large measure by workers through loss of skills and employment, whereas the benefits are likely to be shared by investors and consumers. Virtually every union with sufficient bargaining power will attempt to insure consideration of the workers' interests in decisions about technical innovation. Thus, should the change make possible centering production entirely in one plant rather than three, employees and others in the communities where plants are closed down are likely to suffer serious loss. Some attempts have been made to make the cost of moving workers a direct charge on the company. The unions sometimes argue with some logic that technical change involves many costs not ordinarily considered when the decision is made, because the costs are borne by workers or by various other persons and agencies. A similar argument may be used with respect to obsolescence of skills through mechanization. Collective agreements thus frequently include provisions for dismissal pay and for retraining and rehiring of displaced workers.

(10) *Purchasing policies* would at first appear beyond the range of union concern, but the combined attempt to secure widespread organization of workers and "to take labor out of competition" has occasionally prompted the unions to seek a ban on raw materials or other commodities produced under nonunion conditions ("hot goods"). As long as union organization is substantially less than complete and as long as union rivalry remains an important consideration, unions may attempt to further their cause by influencing the purchasing policies of companies

(11) The participation of unions in industrial policy may even extend to price and sales policies The instances that came to the widest public attention were largely in the period following World War II when accumulated savings and the continuing shortage of many consumer goods combined with other circumstances to produce inflationary pressures At least one large national union attempted to influence managerial policy by claiming that manufacturers were building up inventories to secure higher prices in subsequent sale, and another large union attempted to insist that the wage increase demanded should result in no increase in prices set by the companies for their products In both these situations the union directly challenged the traditional claim of managers that they represented consumers in the industrial system The unions argued that labor organizations by their very size were more representative of consumers generally than was management The arguments largely missed contact, for the unions were arguing the consumers' "best interests" and the companies were arguing the consumers' "real interests" by the pragmatic test of willingness to buy the products even at higher prices. The relation between wage levels and inflationary pressures is understood by some union leaders well enough to prompt a continued although not necessarily overriding concern for industrial price levels. Without the problem of inflation, or with the prospect of declining markets, the union may also show concern for volume of sales and the company's share of the market or, as in the case of fuels for example, the economic position of the entire industry The outstanding cases of union participation in sales and marketing policy are still those of the garment

trades, but once the union can be sure of its own survival it may seek to enhance the prospects for industry.

These areas of possible management-union joint determination do not exhaust the particular points at which the union challenges managerial control[4] They do comprise the policies most commonly settled by negotiation and provide some insight into the ways that decisions, seemingly farthest removed from union interest or competence, may enter into negotiation if not actual joint determination.

Any attempt at delimiting the area within which the union will seek to bargain or to protest decisions is likely to fail as long as the union maintains a measure of independence in the industrial system. Whether the union is able or willing to administer policies, or to generate policies in areas outside the ordinary interest and competence of union leaders and members, are different questions The unions may broaden the scope of bargaining by protest and negotiation over particular issues in areas of managerial operation that remain primarily the unilateral responsibility of management This is equally true of management's relations with courts and governmental agencies, with banks and other financial interests, and with itself in the form of departmental negotiations The difference in the union pressure derives not only from its novelty and uncertain normative justification, but also from the fact that it brings to the level of general policy formation the interests of persons with a major stake and a slight voice in industrial affairs.

SOME IMPLICATIONS OF COLLECTIVE BARGAINING

Legally protected collective bargaining between large managerial and employee units cannot fail to affect not only the immediate conduct of industrial production but also the wider reaches of public policy. It goes without saying that all persons do not regard the change in the legal framework with pleasure, indeed, it would be hard to imagine *any* change in a complex social order that would redound to the advantage of everyone. This is a fundamental problem in any discussion of social planning, and can only be resolved by reference to some standard for determining whose interests shall be served.

[4] See Chamberlain, *op cit.*

Our present concern is not so much with the merits of the change but with an understanding of its social significance.

The "Corporate" Principle Applied to Labor. We have noted at numerous points that the grant of corporate personality to the corporation allowed the development, by legal fiction, of the doctrine that the actions of the corporation were those of an individual, and that a contract of employment as offered by a large corporation was no different in principle from the action of a private householder in hiring a caretaker. Insistence upon the individual contract was upheld by the courts as proper in an individualistic economic order The coercive power wielded by the employer (individual or corporation) in control of the means of production did not exist in the eyes of the law. Yet while these doctrines were being maintained the courts were shifting to the view of labor organizations as legally responsible entities. The responsibility of an unincorporated organization for the actions of its agents, and its possible prosecution for violations of antitrust legislation, were affirmed in the famous "Danbury Hatters Case."[5] Subsequent decisions followed this doctrine more or less closely. The failure to provide at the same time legal support for collective bargaining tended to give to labor organizations all the responsibilities of corporations, and none of the privileges Although the courts have naturally been reluctant to say so, the legal support of collective bargaining is a recognition of *group* relationships and agreements, although still nominally within the framework of a "contractual" system However, in connection with some other implications of collective bargaining that we shall note, extending a contractual system to group relationships puts some strains on traditional conceptions

"Property" Interests in the Job. The modifications in the traditional views of private property made necessary by the inclusion of the corporation within our legal system have already been discussed (Chapter III) A close examination of the control of corporate assets, it was pointed out, involves the necessity of distinguishing different rights in the same valuable "things," since those rights

[5] Loewe *v* Lawlor, 208 U.S. 274 (1908).

may be held by different persons In fact, the unmistakable trend in the law of property is toward a wider recognition of rights in "intangibles" and a less naive view of the divisibility of property rights.

It is quite in keeping with these tendencies to maintain that the NLRA and similar legislation reducing the authority of the employer to discharge at will grants to employees at least a partial "property interest" in the job. Although again such a conception is by no means without precedent,[6] the more positive provisions of recent legislation give new point to a slowly emerging idea.

This is not a conclusion formulated by the courts, but an inescapable conclusion in view of the facts. The legal recognition of collective bargaining as a "right" with workers maintaining their employee status during strikes or other labor disputes, with enforceable claims on employment if illegally discharged, and with back pay for the period of illegal withholding of employment—all this amounts to property, however unwilling the courts may be to offend traditional sentiment by use of the term.

There seems to be sound basis for predicting a further extension of this principle in view of the ever wider use of seniority and other tenure agreements, computing the cost to labor in considering technological change, the establishment of dismissal pay, and so on.

Syndicalization The definite establishment of the union as part of the industrial system together with the expanding scope of collective bargaining results in a sort of "syndicalization" of industry This is a result that is more by accident than by conscious design, for with few exceptions American union leaders have not been prone to develop any long range "philosophy" of the labor movement But even the purest business unionism of the type made famous by

[6] See John R Commons, *Legal Foundations of Capitalism* (New York The Macmillan Company, 1924), Chap VIII, "The Wage Bargain—Industrialism", Elizabeth Paschal, "The Worker's Equity in His Job," *American Federationist,* 40 1296–1303, December 1933, 41 68–75, January 1934, 1212–1221, November 1934, 1332–1342, December 1934, 42 44–52, January 1935, 149–154, February 1935, 275–277, March 1935, 748–753, July 1935, James P Rowland, *The Legal Protection of the Worker's Job* (Philadelphia author [?], 1937), G T Schwenning, "The Worker's Legal Right to His Job," *American Federationist* 39 26–32, January 1932

Samuel Gompers' simple statement of "more and more" has, if successful, a fundamental effect upon the allocation of power and rewards The process of syndicalization is enhanced by development of the areas of joint determination of policy, by the "peace and maturity" of industrial relations so commonly sought by the experts, and by the structural development of grievance machinery, impartial arbitration, and the accumulation of a body of common law of the industry.

There are, however, two closely related types of limitation upon the complete syndicalization of industry without the direct actions of the state. The first type of limitation is structural Just as management by virtue of its responsibilities to investors and other interests is poorly equipped at the same time to represent workers, so the union as a dues-paying membership group with some form of representative democracy in selection of leaders is not ideally constituted for some kinds and degrees of managerial policy and administration. The second type of limitation is functional, and essentially follows from the first If the union becomes an integral part of the management of enterprises it can no longer serve with assurance the functions of protest, of leverage on the system. Looked at from the point of view of the worker, a completely integrated system of control may simply mean that there is no longer any alternative avenue for pressure and attempts to redress grievances

Here we are faced with the paradox that the worker may influence industrial management through elected representatives, but that to the extent that those representatives are successful in determining policies they must take responsibility for them. The more completely successful the union attempt to determine policy, the less the possibility of protesting the result or redressing grievances. For the union, as Drucker points out, is a political organization and not a productive enterprise, and a productive enterprise cannot be operated solely for the benefit of its members as long as they are not the sole or most important consumers [7]

[7] See Peter F Drucker, *The New Society The Anatomy of the Industrial Order* (New York Harper & Brothers, 1950), especially Chap 10, "Can Management Be a Legitimate Government?" and Chap 11, "Can Unionism Survive?"

The Unions and Industrial Efficiency. The special function of unions in representing what may be called "producer interests" as distinct from "consumer interests" is evident in the problem of the effects of unions on industrial efficiency. The problem is most acutely represented in "featherbedding," overstaffing, restrictions on technical innovations, and similar policies. But interference with the strict canons of economic efficiency is inherent in any limitation upon the treatment of labor as a pure commodity, subject only to competitive market principles for determining price (wages), and as a pure "factor" in production subject only to the criteria of rational efficiency of productive organization.[8] Collective action to prevent bargaining down of wages through competition of workers for jobs and to prevent the maximum output consistent with short-run or long-run physiological limitations is plainly contrary to maximum productive efficiency and therefore, assuming efficient distribution, to maximum consumer satisfaction.[9]

The fact is that maximum consumer satisfaction—"consumer sovereignty"—may be assumed as the sole important value affecting the productive system for certain purposes of economic analysis, but it cannot be assumed as the sole value for purposes of understanding the nature of industrial society. The "human factor" in production, which turns out to be a rather mystical way of expressing the bearing of social requirements upon a particular segment of society, inherently limits the treatment of workers solely as commodities or as instruments of production. The union is one formally constituted mechanism for bringing non-productive interests to bear on the productive system. Both the form and degree of this "interference" may

[8] Even without union or other interference in behalf of labor interests, there is an inherent anomaly in a market system between *labor* as a cost of production and *laborers* as consumers. A "cheap labor" policy, as long as it is consistent with the necessity of securing specialized skills, may be quite appropriate for any single producer, and yet inappropriate for the economy as a whole because only workers as consumers can possibly provide the mass demand necessary for efficiencies of scale and expansion of production.

[9] See Charles E. Lindblom, *Unions and Capitalism* (New Haven: Yale University Press, 1949), Joseph J. Spengler, "Power Blocs and the Formation and Content of Economic Decision," in Milton Derber, ed., *Proceedings of the Second Annual Meeting, Industrial Relations Research Association*, New York City, December 29–30, 1949 (Champaign, Ill., 1950), pp. 174–191.

upset other interests and values and create pressures for organized control by other agencies The reduction of efficiency may be greater than is required for the preservation of a viable social system The essential point is that many other producers (such as independent farmers and professionals, and, notably, managers) are more amply protected from efficient exploitation of their productive services by self-regulation and appropriate style of life than are industrial workers in view of the necessary administrative organization of production and the necessary administrative concern for productive efficiency To the extent that the union represents the range of interests of its membership it *must* promote the genuine stake of workers in security, pleasant working relations, a right to be heard, and other elements of the "human factor" including the money and time to participate in family, community, church, and recreational activities In view of these considerations what occasions surprise is that scholars have come upon the union's interference with efficiency with an air of breathless discovery

Class Orientations Finally, it is sometimes claimed that the increased power and activities of the union in representing *worker* interests in the economic system implies an increasing emphasis on *class* relations [10] The relation between the industrial order and social stratification will be more fully explored in Chapter XXIII. At this point a few observations are in order

There can be no question about the implications of collective action in industrial relations for emphasizing the common interests internal to the collectivities and minimizing the common interests that cut across this division and the divisive interests internal to each The laws establishing the rights of union membership and collective bargaining constitute a legal recognition of *status* differences in the industrial system The actions of union representatives are necessarily such as to maintain internal morale by attention to con-

[10] See, for example, Frederick H Harbison and Robert Dubin, *Patterns of Union-Management Relations* (Chicago Science Research Associates, 1947), p 194, W Lloyd Warner and J O Low, *The Social System of the Modern Factory, The Strike A Social Analysis* (New Haven, Yale University Press, 1947), pp 159–196

flicts in interests between workers and managers, although the importance of this consideration is rather variable

There are, however, certain reservations that need to be entered here Despite the importance of occupation and occupational position as a criterion of general social rank, "social class" ordinarily implies a division cutting through most aspects of significant social relations and affiliations Whether an increased emphasis on differences of interest within the productive system means a definite division along the same lines in other aspects of social life is a question for inquiry and not to be automatically assumed In this connection it is important to note that the concrete rank differences in the industrial organization yield many "strata," not just two. Moreover, the possibility of differences in attitude and interests within these strata, whether relevant to the productive system or not, remains The union also has its hierarchy, and by many usual tests its leadership would have to be assigned a social position equivalent to managers The complexity of social stratification in a society marked by many semi-autonomous associations is such that conclusions regarding "class" relations in industry are likely to represent acute oversimplification. And whatever else may be said about industrial societies, they are not simple.

REFERENCES

BLOOM, GORDON F , and HERBERT R NORTHRUP, *Economics of Labor and Industrial Relations* (Philadelphia The Blakiston Company, 1950), Chap 6, "Industrial Jurisprudence," and Chap 8, "Collective Bargaining—Scope and Breadth "

BROWN, DOUGLASS V , "Management Rights and the Collective Agreement," in Milton Derber, ed , *Proceedings of the First Annual Meeting, Industrial Relations Research Association,* Cleveland, Ohio, December 29–30, 1948 (Champaign, Ill 1949), pp 145–155

BROWN, LEO C , "The Shifting Distribution of the Rights to Manage," in Milton Derber, ed , *Proceedings of the First Annual Meeting, Industrial Relations Research Association,* Cleveland, Ohio, December 29–30, 1948 (Champaign, Ill 1949), pp 132–144

CHAMBERLAIN, NEIL W , *The Union Challenge to Management Control* (New York Harper & Brothers, 1947)

DRUCKER, PETER F , *The New Society. The Anatomy of the Industrial*

Order (New York Harper & Brothers, 1950), especially Chaps. 10–14

KASSALOW, EVERETT M, "New Patterns of Collective Bargaining," in Richard A Lester and Joseph Shister, eds, *Insights into Labor Issues* (New York The Macmillan Company, 1948), pp 116–133

KENNEDY, THOMAS, *Effective Labor Arbitration The Impartial Chairmanship of the Full-Fashioned Hosiery Industry* (Philadelphia University of Pennsylvania Press, 1948), especially Chaps VII–IX

LINDBLOM, CHARLES E, *Unions and Capitalism* (New Haven Yale University Press, 1949).

PASCHAL, ELIZABETH, "The Workers' Equity in His Job," *American Federationist,* 40 1296–1303, December 1933, 41 68–75, January 1934, 1212–1221, November 1934, 42 44–52, January 1935, 149–154, February 1935, 275–277, March 1935, 748–753, July 1935

PETERSON, FLORENCE, "Management Efficiency and Collective Bargaining," *Industrial and Labor Relations Review,* 1. 29–49, October 1947

RIEGEL, JOHN W, *Management, Labor and Technological Change,* (Ann Arbor The University of Michigan Press, 1942), Chap IX, "Collective Agreements on Technological Change"

SLICHTER, SUMNER H, *The Challenge of Industrial Relations Trade Unions, Management, and the Public Interest* (Ithaca Cornell University Press, 1947), Chap VI, "Trade Unions and the Public Interest"

SPENGLER, JOSEPH J, "Power Blocs and the Formation and Content of Economic Decision," in Milton Derber, ed, *Proceedings of the Second Annual Meeting, Industrial Relations Research Association,* New York City, December 29–30, 1949 (Champaign, Ill 1950), pp 174–191

TODD, ARTHUR JAMES, *Industry and Society,* (New York. Henry Holt and Co, 1933), Chap XXVI, "Constitutional Government in Industry"

WALPOLE, G S, *Management and Men, A Study of the Theory and Practice of Joint Consultation at All Levels* (London Jonathan Cape, 1944).

PART SIX

INDUSTRY AND SOCIETY

CHAPTER XVIII

CAPITALISM AND INDUSTRIALISM

IT IS generally supposed that the development of the factory system and modern industrial organization was "inevitable" This is true It is true in the sense that any historical change is inevitable when viewed in retrospect The proof is that it happened But difficulties arise when, with scant scientific justification, peculiar and primary significance is attached to some of the antecedent factors in the situation and other factors are persistently overlooked or dismissed as "unimportant" Chapters II and III emphasized the technological and economic changes, that is, changes in methods and relationships of production, that marked the unfolding of modern industrialism Standard interpretation stops here, but all this took place within a wider social and cultural framework of ideas and values, knowledge and sentiments And these ideas made, and continue to make, a difference It is with the cultural background of modern industry that this chapter is primarily concerned.

The developments outlined in Part Two were in a continual functional relationship with a system of ideas and values which prevailed, and were undergoing transformation, at the same time These ideas are of continued import for modern industrial organization, for they form the general "climate of opinion" within which specific actions and attitudes are understandable The cultural values and social institutions [1] that converge in their bearing on modern industrialism

[1] "Institution" is here used to mean a well-established rule of conduct having a normative sanction, that is, the infraction of an institutional rule evokes moral indignation or ethical disapproval on the part of the community Thus "private property" is an institution, or rather a series of related institutions, with a definite bearing on the character of modern industrial production

This use of the term "institution" is rather common but is not that of many

may be classified under the following heads. (1) general features of capitalism and industrialism, (2) science, (3) technology, (4) individualism, and (5) rational division of labor Since these have been closely interrelated in fact, the lines of distinction between them are in particular cases likely to be a little artificial This is more especially true since it is possible to expand the connotations of "capitalism" or "individualism" or "division of labor" to include all the others Nevertheless, we may make some reasonable separation, and proceed from the characteristics of capitalism to those of its close relatives

GENERAL FEATURES OF CAPITALISM AND INDUSTRIALISM

If the factory system in its modern expansion constitutes the characteristic type of productive organization in our society, its cultural counterpart is to be found in a system of ideas and values known as *capitalism* Capitalism has been talked and written about a great deal, it has become a slogan for some and an epithet for others. The present discussion is concerned only with a series of interrelated characteristics, their cultural origins, and their relation to other social elements

Early Capitalism The accumulation of fluid capital in the form of money (or bills of exchange) and the development of cost accounting and exact computation of profits were known in Europe long before the modern industrial period It is to the merchants of medieval Italy, who not only engaged in a lively commerce in the Mediterranean area but were not too proud to use the Arabic numerical system, that we owe the establishment of banking and credit with profits and losses entered in record books Not only was *capital* in money thus put to use in buying and selling, but risks were shared by the pooling of capital and the *pro rata* apportionment of profits

---

introductory texts in sociology, where "institution" is hopelessly confused with "complex organization" For further explanation and illustration of the meaning adopted here, see R M MacIver, *Society, Its Structure and Changes* (New York Ray Long and Richard R Smith, 1933), pp 15–17, 32 See also Talcott Parsons, *The Structure of Social Action* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1937), pp 399–408 and *passim*

or losses. Thus economic historians speak of *commercial* capitalism in distinction from modern capitalistic *production.* For early capitalism had practically nothing to do with production. How the goods were produced or where they came from was of small importance. It was in trade and in the equipment for trade (as storehouses, ships, and wharves) that money was invested and profit taken. This type of economic activity took on fairly large proportions unaided by mass production in factories. The Italians and Germans bought and sold, and kept the difference. With the colonization of the Americas and the beginning of sea trade with the Orient this commercial capitalism became very nearly world-wide in character, and wondrously full of romance. The line between legitimate trade and piracy was occasionally thin, but the trade went on. Even in the North American colonies "Yankee ingenuity" first manifested itself, not in the machine shop or factory, but in the shipyards and ports serving the traders. This international trade, notable for its characteristics of great risks and great profits, as well as for its avid search for new products and new markets, has often been called *adventure capitalism.* It was remarked in Chapter II that these commercial interests, already well established, preceded the factory system, and that the effective demand so created was a necessary economic condition for the establishment of unified and coordinated production. Indeed, the term *capitalism* is often limited to these commercial interests, and their union with machine technology to form the modern economy is called a marriage of convenience. Be that as it may, the interests of the trader and the interests of the mechanic were actually combined with a number of other elements to produce the system that we know as *industrial capitalism.*

General Characteristics of Industrial Capitalism.[2] The system of ideas and principles that underlay factory production and complex industrial organization had—and continues to have—a number of distinct

[2] The present exposition is not by any means intended to be exhaustive, but is simply designed to give the broad outlines of the "culture of capitalism." The importance of this system of ideas and norms for conduct (institutions) as a basis for social control, and the various limitations made necessary in view of other social values, will be more fully discussed in Chap. XXIV.

but interrelated elements. In the most general terms these may be grouped under two principal characteristics (1) free labor and (2) a free market Because of the importance of these conceptions for an understanding of the social setting of industrial development, each will be considered in some detail in the following paragraphs Some of the more important elements will then be considered in greater detail in the remainder of this chapter

1 *Free Labor* The expression *free labor* is here used in a very general sense to include not only free wage labor, but the independent economic activities of all classes of individuals in the production and distribution of economic goods Perhaps a better term would be the customary catch phrase "individual initiative" For what is of fundamental significance in the culture of capitalism is its emphasis on the economic individual, that is, the rational, acquisitive, self-interested individual who goes about the pursuit of private ends (generally capable of expression in monetary terms in the forms of wages, rents, or profits) in the most efficient manner possible His prototype is popularly supposed to be found in the ingenious Yankee, whether as an industrious laborer with reasonable hope of better things, the inventive manufacturer, or the shrewd trader

This is so much a part of our philosophy that we have come to take it for granted as a part of "human nature" But acquisitiveness is a distinctly modern and Western phenomenon It is associated, as we shall see more fully below, with the socially sanctioned dissatisfaction with what one has It is based upon a moving goal, not a stationary one fixed by tradition. Thus under the feudal regime one simply did the appropriate duties required of one's station. Even under the arrangement of the guilds, production was controlled in the interests of the guild as a whole But under modern capitalism the emphasis has shifted to the individual productive unit, with each individual making the greatest possible effort to achieve a place in the economic world

This meant that the physical means of production not only were greatly increased—in contrast with primary emphasis upon land or simple tools—but the instruments of production were henceforth

to be considered as the disposable property of separate industrial enterprises The world has always known a good deal about "private property," particularly in consumption goods and in individual tools and weapons But the emphasis on private property in capital goods, that is, productive goods, is fairly rare, and fairly recent even in Western society We hear a good deal about the "sacredness of private property," but modern industrial property is not so sacred but that it can be bought, sold, and traded to the advantage of one or the other or (in theory) all concerned For free labor, on individual initiative, demands that the individual shall have access to the productive property of the community and is not to be kept out of the running by reason of lowly birth or lack of traditional rights.

In summary, then, *the free labor characteristic of capitalism involves* (a) *emphasis upon the acquisitive individual,* (b) *individual technical efficiency, and* (c) *private ownership of productive goods*

2 *Free Market* Closely associated with the foregoing cultural values which we have grouped together under the general heading of free labor are other characteristics of capitalism that are implied by or follow from a "free market" Again in the most general terms a free market is one that is not positively regulated or manipulated by any social agency or organization, political or otherwise, but that is rather "determined" by the impartial operation of unregulated "supply and demand" Public regulation is presumably minimal and indirect, designed primarily to keep the market free Without undue elaboration at this point, this simply means that individual consumers "come to the market" willing to buy at certain prices for certain qualities, whereas separate and discrete producers are willing to sell goods of a certain quality at a certain price If the supply is small, demand remaining constant, the price goes up If the demand is small, supply remaining constant, the price goes down The important point in all this is that none of the three elements—demand, supply, price—is regulated from outside, but only by the operation of the other two If one were to label the free market system with a catch phrase, it would be *laissez faire*

It is not of present importance to worry about the ethics of *laissez faire,* or even to inquire into the failure of this set of ideas accurately to describe the actual operation of the market. It should simply be noted that this has constituted a basic "ideology" of industrial capitalism, and that to a significant degree a free market has in fact existed

Not only does a free market imply freedom from regulation of any of the elements by governmental agency, by traditional restrictions upon demand, by traditional or other restrictions upon productive techniques, and so on, but it means that the market is not regulated or controlled through collaboration among consumers or among producers Thus a consumers' boycott or a producers "combination in restraint of trade" through monopoly or other price-fixing methods are violations of the tenets of the free market Put more simply, and no less accurately, the free market involves *free competition* (within broad limits to ensure "fairness") Thus the individual's efficiency is impartially and impersonally weighed (and presumably appropriately awarded) within the economic system itself

Another aspect of the free market, or at least a conception closely related to it, is that of *freedom of contract* This means that the individual is not only free to sell his goods or services to the one he wishes, or rather to the one with whom he can strike the best bargain, but is positively enjoined not to extend contractual obligations to more general and unspecified rights and duties. Thus in all economic relations, whether of employer and employee or buyer and seller, each interested person presumably acts as a free agent, bound only to those obligations to which he himself has willingly agreed This is, for example, quite different from the feudal conception of customary duties associated with hereditary statuses, or from the traditional neighborly rights and obligations of peasant communities The contractual relationship is voluntary, limited, explicit, and supposedly gives some advantage or "consideration" to all parties All this in turn implies an *official equality of opportunity.* Without such equality of opportunity freedom of contract becomes a rather empty phrase, and bargaining in the market place a fairly

one-sided affair We have noted that this has been a very sore spot in the relationships of employer and employee

As has already been observed, free labor in the widest sense under capitalism implies and involves individual ownership of the means of production and individual initiative in their operation The interrelationship of all these characteristics may once more be noted in view of the close dependence of a free market upon the commercialization and transferability of property By commercialization of property we mean simply the conversion of property rights and their appropriate values into monetary terms This has an immediate advantage in the market, for it subjects capital goods to the same measuring sticks as all other economic values, and provides the basis for exchange. This was, in fact, a heritage from earlier commercial capitalism, which had already established a basis for rational capital accounting and the translation of property values into money, with paper symbols of ownership Not only did this make it possible to compute "paper" profits and "paper" losses, but it gave capital its modern *fluid* character whereby vast industrial empires may be bought and sold in New York or London without disturbing production at the various plants, and cotton and wheat "futures" can be transferred in Chicago between individuals who do not so much as walk on the grass or water a window box A market could conceivably be "free" without this commercialization and cost accounting, but certainly could not be very active For a genuinely free market in all its ramifications it is essential that the means of production be available to those who can afford them. This would be next to impossible without the commercialization of all property values Thus not only are consumption goods transferred on the market, but, through absentee ownership and paper symbols of property, the means of production also are subject to the counterbalancing pressures of supply and demand To use a far-fetched illustration, it is possible for a person with sufficient capital (that is, money) to face a decision between buying a new yacht or a new factory

Finally, a necessary condition for the operation of a free market is that not only must the trader or the employer be protected from

positive outside control as long as he stays within the two boundaries set by force and fraud,[3] but the operation of the law must be certain and predictable That is, *the legal framework must be regarded as a constant condition, so that knowledge of its operation is alone sufficient in the rational calculation of means to the end of self-interest* Specifically, legal and judicial favoritism, or uncertainty in the law, or purchasable "justice" destroy equality in the market place, as they destroy the possibility of reasonable prediction of results. The idea of reasonable certainty in the law, and impartial justice, is so much a part of our culture that we may be tempted to forget that it is fairly recent in origin and not too extensive in the world today The arbitrary actions of a monarch, or of administrative officials, the practice of only reaching decisions on legality *after* the act, are all inimical to the operation of a free market. Whether the law is in fact certain, and whether it may not often be used as a means rather than a constant condition, are matters for future consideration. We are again here simply outlining the interrelated elements which converge to make up the "culture of capitalism"

In summary, *the free market of industrial capitalism involves* (a) *free competition and impersonal judgment of efficiency,* (b) *freedom of contract and equality of opportunity,* (c) *commercialization and transferability of all property, including rational capital accounting, monetary exchange and paper symbols of ownership, and fluidity of capital, finally,* (d) *the whole presupposes certainty and predictability in the operation of the law*

Many transformations have taken place in the machinery of production and in the social organization of industrial enterprise since the early days of capitalism Some of these have forced modification in the underlying assumptions of capitalistic production, and others have led to demands for even further modification These will be considered below. Nevertheless, modern economic

[3] It is noteworthy that the two most generally acceptable pleas for the avoidance of contracts are duress and fraud In fact, the minimum conditions for the operation of a social order include the control of these otherwise highly efficient means for securing private ends See Talcott Parsons, *op. cit*, especially pp 87–94, also, pp 95–107, 121–122, 129–177.

life in the United States to a large degree operates under the assumptions just outlined, and against a cultural background that has united ethical and normative conceptions with the demands of the market place.

The Separation of Industrialism from Capitalism. It is sometimes argued that the particular combination of norms and patterns that characterized relatively "pure" private capitalism are so little intrinsic to industrial capitalism as a system of economic production that "capitalism" should be freed from its older historical context and the term applied to all systems involving capital accumulation, mechanization, specialized production on a large scale, and other features of modern industry. On the surface this is merely a question of terminology. What lies beneath the surface is a genuine change in the character of economic production in many areas of the world.

"Industrialism" turns out not to be dependent upon all of the peculiar features of Western capitalism as it developed historically. This is notably true in the basic pattern of private operation guided by the impersonal operation of a competitive market. Even in the United States and other industrial areas where basic industries have not been nationalized on a comprehensive scale, the combination of governmental regulation with the growth of "monopoly" and "oligopoly" has seriously modified the notions of a self-regulating economic system. In other areas, including most of the late-comers on the industrial scene, capital accumulation, enterprise, and even management have been strongly governmental in character.

Whether industrialism could have originated with the kind of direction and control now evident in most industrial and industrializing economies is a fairly academic question. Once the productive possibilities of industry became established in the centers of its original development, subsequent development in those and other areas was no longer independent of what had already been done. Industry does not develop now out of the indigenous social structure of some peasant society, but comes as an outside, intrusive, but powerful influence.

This leads to a kind of "acceleration" principle in the spread of

the industrial system For both political and economic reasons governmental leaders in undeveloped countries increasingly seek industrial development, and in doing so place that development under "forced draught" by governmental sponsorship and direction. This, in turn, is made possible under otherwise favorable conditions because it is not necessary for the late-comer to recapitulate all of the slow technical development characteristic of the original centers of capitalism.

The industrial system in its expansion, however, encounters quite different antecedent institutions from those that characterized the Western world at the time of the "Industrial Revolution." In general, those institutions and the social structures that they regulate include those characteristic of all nonindustrial (primitive or peasant) societies, and also those that are peculiar to each society.

Two outstanding and related features of nonindustrial societies are important in the present context (1) Production and distribution are typically carried on by multifunctional organizations, such as the family and the village, with consequent motivational and security patterns that emphasize responsibility and mutual aid and do not emphasize minute skill differentials. (2) There is in such societies a lack of any *general* expectation of mobility of occupational or social position[4]

The industrial expansion of Germany, Japan, and the Soviet Union, as well as the newer developments in many other areas of the world, give ample evidence to the fact that industrialism does not require, in the full sense outlined above, "free labor" and a "free market" It does require competition for occupational placement on the basis of skills and a consequent flexibility of labor supply Where various systems of forced labor or stringent ethnic distinctions have been used in new industrial enterprises, as in some colonial areas, requisite skills have been supplied by the superordinate group and the impact of the industrial mode of production on the domestic economy has been radically minimized

[4] The significance of these barriers to industrial development is explored in some detail in Wilbert E Moore, *Industrialization and Labor* (Ithaca Cornell University Press, 1951)

The mechanisms for achieving flexibility of labor supply are variable, and may include planned production of skills through early selection in the educational process. But it appears impossible to achieve an industrial mode of labor allocation without some mode of positive incentive and reward for scarce talents and skills, whether those rewards be contingent upon a "market" system of wage determination or an "administered price" for labor supplemented by other rewards.

Industrialism is possible under governmental rather than private initiative, planning, investment, and distribution. It does require, however, an area of political stability adequate to insure the supply of raw materials and a reasonable certainty of distribution. Although capital may not be treated as itself subject to market considerations, it must be fluid and transferable from one operating unit to another if technical development and changes in operating conditions and output goals are to be taken into account.

Moreover, governmental ownership or detailed regulation of productive enterprises does not obviate the necessity of rational capital accounting or of a monetary system of exchange in order to give specialized producers claims on the products of other producers as well as in order to effect capital transfers.

These requisites of an industrial system comprise the principal institutional features necessary for the operation of an industrial mode of production. They are in addition to the essential features of productive organization itself, which also is in a number of essential features not peculiar to capitalism. This is notably true of the managerial organization and hierarchy inherent in the combination of specialization with large size of concrete productive units. The arrangements for managerial responsibility and for the representation of other interests may vary in important ways, but the combination of coordination with specialization is intrinsic and not a peculiar sin of capitalism as an institutional order.

SCIENCE AND TECHNOLOGY

An outstanding characteristic of modern industry is its widespread use of exact knowledge. Science and industrial production are

separate yet related aspects of our civilization. Thus in tracing the cultural background of industrial organization it is fitting to sketch the development of science before turning to its union with production through technology.

General Features of Science. Science rests as much upon metaphysical assumptions or "acts of faith" as does any other mode of orientation to the world about us. There is no need here, even were it possible, to examine the ultimate truth or falsity, or even the relative adequacy of those assumptions. It must be simply noted that among many types of "world views" science represents but one.[5] It assumes, for example, a certain orderliness in natural events. that what happens is not simply the result of chance, or luck, or the whimsy of a facetious or malicious divinity. It assumes, moreover, that this order is knowable, or discoverable, through sensory experience Reality is what one sees or hears or smells or turns about in one's hands Subject to the refinements made possible by mechanical aids, and to the checks provided by the experiences of others, science must assume that "seeing is believing," that this is not an illusory dream world, but a world of fact. These may be said to constitute the basic assumptions of science concerning the nature of the universe—of reality But one must add to this a further basic assumption that is normative in character, that is, a view concerning the obligations that follow from such a conception of reality. The ultimate ethical judgment that supports scientific inquiry is that it is good to know. For science as a part of our culture consists not simply of abstract metaphysical preconceptions; it is also a set of beliefs relating to action. If knowledge is possible, it is also good, it is better to know more than to know less These are the dicta that transform a philosophical conception into a program of action.

[5] See, for example, P A Sorokin, *Social and Cultural Dynamics* (New York: American Book Company, 1937, 1941, 4 vols), especially Vol I, Chap II, "Ideational, Sensate, Idealistic, and Mixed Systems of Culture " The presuppositions of modern science and their comparatively recent development are outlined also by Lewis Mumford, *Technics and Civilization* (New York, Harcourt, Brace and Company, 1934), Chap I, "Cultural Preparation", and by Thorstein Veblen, *The Place of Science in Modern Civilization* (New York, The Viking Press, 1932), pp 1–55

It follows from the underlying "factual" and ethical assumptions of science that this sort of knowledge must place particular emphasis on doing things. The orderliness of nature is not adequately revealed by sudden inspiration, or by long and quiet contemplation. It must be actively sought. Thus the validity of the oft-repeated assertion that science is essentially a method. Knowledge of worldly affairs is the result of doing certain things, of going through regular procedures. Scientific knowledge is distinguished from commonsense knowledge not only in that the former is more often "right" (within the assumptions noted), but that it is more orderly, precise, and organized. It is not simply a question of looking at lots of things, but of ordering, classifying, noting similarities, observing sequences, and drawing conclusions. Thus the primary test of the validity of a statement of fact is not its correspondence with some system of absolute truth, but rather the repetition of the *procedures* whereby the phenomenon was observed. The importance of this aspect of science can scarcely be overemphasized, for it provides the key to an understanding of the *active* orientation to the knowable universe with which we are so familiar. More and more phenomena must be brought within the purview of the scientific observer, and the precision and exactness of the observations must be continually increased. Such are the conclusions to be reached from the basic assumptions of science.

Like many other important aspects of the culture that bear on the nature of modern industry, the preconceptions of science antedate capitalistic production. On the other hand, the modern rapid development of science and the expansion of industry have been not only parallel but also closely interdependent movements.

Science and Industry. Medieval churchmen would have understood expressions such as "natural order" or the "orderliness in nature," but they would not have understood them in the same way as the modern scientist. The scholar versed in the Scripture and the writings of the Church Fathers knew the world as an exemplification of the handiwork of God, about which it was unnecessary to ask further questions. The important reality was that of the Heavenly City, not the forces of nature. But the newer conceptions of time

and space and movement made possible a new and mechanistic view of nature Movements became connected through causation The study of astronomy and discovery of order and regularity in the heavenly bodies that were amenable to quantitative expression provided the basis for "laws" based on observation, not on faith or philosophy

But first and foremost there was a shift of interest from the perusal of sacred manuscripts and an other-worldly focus of attention to interest in natural events. Much of this development had taken place by slow accretions before the seventeenth century The groundwork in basic conceptions had been laid through several hundred years. However, it is from the seventeenth century that we must date most of the rapid development of modern science

Although it is true that much of the voluminous work of that century may be represented as simply combining principles previously established and multiplying their applications, the development was given a tremendous impetus by the same transformations which contributed to the ideology of capitalism Notably, the Protestant Reformation transformed scientific interests from preoccupations contrary to or barely suffered by the teachings of the church, to positive goods.[6]

Much of the interest that has fostered scientific development has been primarily practical (technological), and only secondarily in knowledge for its own sake. Science may be either an intermediate or an ultimate value For his protection, and with good grounds in

[6] The importance of Protestantism, especially Calvinism and related doctrines, for the development of capitalism was demonstrated in some detail by Max Weber The essential part of his study is to be found in *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism,* tr by Talcott Parsons (London George Allen and Unwin, Ltd., 1930) For a summary of Weber's treatment, together with a discussion of his methodology and the comparative study of other religious systems which he undertook elsewhere, see Talcott Parsons, *op cit*, pp 500–578 See also Max Weber, *General Economic History,* tr. by Frank H Knight (New York Greenberg Publisher, Inc, 1927), pp 352–369, Richard Henry Tawney, *The Acquisitive Society* (New York Harcourt, Brace and Howe, 1920), and *Religion and the Rise of Capitalism* (New York Penguin Books, 1926)

For a careful analysis of the role of religious influences in the development of science and technology, see Robert K Merton, *Science, Technology, and Society in Seventeenth Century England,* in the series *Osiris,* Vol. IV, Part 2, pp 360–632 (Bruges, Belgium The Saint Catherine Press, 1938)

view of the notable gaps at least in time between theoretical and practical importance, the scientist often insists on the ultimate value of scientific knowledge. It is certainly true historically that reservation of judgment concerning the value of "pure science" has borne subsequent fruit in practical applications to mechanical production or new consumption goods Nevertheless, science has been tied up with technology during most of its recent history.

Industrial Technology[7] Technology, simply defined, is the application of scientific principles for the achievement of particular concrete ends, taken as given These ends are "practical" within the given scale of values, although they may be regarded as illusory or wasteful according to different value schemes For example, for approximately twenty years after 1918 the technology of armaments and destructive warfare was widely regarded in our society as wasteful, whereas during the second World War civilian production was often held to be wasteful of valuable resources, skills, and productive capacities needed in the war effort

It is the utilization of science for technical organization and industrial production that has given modern industry its *economic* superiority over other systems of production Whether this system is ultimately "better" than traditional handicrafts cannot be scientifically determined. What is of importance here is that a distinct body of culture, namely, technology, has been of profound importance in shaping the character of modern industry. Its particular manifestations include the large number of technical schools which not only carry on research of fairly immediate applicability to industrial processes and products, but the graduates of which find positions as technical specialists in manufacturing corporations Although there are many actual, and more conceivable, varieties

[7] It would serve no useful purpose for the present analysis to attempt a historical sketch of technological inventions used in industrial production From rather simple beginnings the combination and application of basic principles have resulted in an ever-increasing rate of inventions of all types Thus some authorities speak of an "exponential rate" of culture growth (See, for example, William F Ogburn and Meyer F Nimkoff, *Sociology* [Boston, Houghton Mifflin Company, 1940], pp 791–793) This, however, is a principle that must be limited to the field of technology in recent times, and must presuppose a cultural interest in the elaboration of techniques and products.

of "engineers," the large and growing profession of technologists finds its primary societal function in the service of productive enterprise. That science ought, sooner or later, to be useful is a widespread belief in our society. Contemporary industrial technology represents one fulfillment of that conviction.

The utilization of science in capitalistic production has taken three principal forms increased complexity and coordination of semi-automatic (machine) production, increased and intensified production through greater and greater mastery of mechanical power; and multiplication and standardization of industrial products, giving a much wider range and larger quantity of articles of consumption.[8]

The ideas and values embodied in capitalism, science, and technology should provide warning against any crude economic or technological determinism in the analysis of modern industry. Together with the ideas of individualism and a technical division of labor, they form a general climate of opinion that had major importance in the formative stages of factory production and continues to influence the organization of modern industry.

INDIVIDUALISM

Individualism, when it is spoken of by leading industrial managers or their representatives, or by speakers at Rotarian luncheons, chiefly means individual acquisitiveness, unhampered by governmental restriction or organized labor This is, of course, but one aspect of the emphasis upon the self-reliant individual, but it is the one which most often comes to attention in matters affecting economic policy The first phase of individualism which we must distinguish, therefore, is economic individualism

Economic Individualism Briefly, economic individualism is tied up with the doctrine of *laissez faire*, namely, that each individual pursuing his own well-understood self-interest without undue restriction will contribute to the good of all The emphasis of our economic system has been on individual opportunity and free enterprise Other economic systems have emphasized family or kinship

[8] Adapted from Emil Lederer, "Technology," in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, 14 555

solidarity, national interests, or the maintenance of traditional and hereditary relationships. Industry in our society is in times of peace preeminently a matter of "individual" concern This is *not* to say that traditional common values and institutional controls have not operated in our economic order, but only to point out that these controls have been glossed over in the theory of economic activities, and minimized in fact In time of war the necessity of hanging together becomes more clear-cut, and social (that is, national) interests may claim precedence over individual initiative and individual aspirations But in "normal" periods of industrial production our culture has focused attention upon the interests of the individual Concretely, this has involved a peculiar theory of individual motivation, a valuation of individual or distributive rather than common or collective ends, and a justification of the whole system of ideas both as scientific ("practical") theory and as a scheme of values.

Economic individualism assumes a pain-pleasure hedonism. The individual attempts to maximize his "utilities," or, negatively, to avoid losses. All this, of course, might be something like an accurate (if not very significant) explanation of individual behavior, were there some recognition of the source of the "pleasures" and "pains." Traditional economic individualism, as a theory of social behavior, has stumbled over this problem, but chiefly has placed the motivation within the individual Thus well-understood self-interest is phrased in exclusively economic terms, and its source is found in some sort of acquisitive instinct or in the satisfaction of biological needs. This turns out therefore to be not only a focus of interest and value in the individual, but an emphasis upon material acquisition and consumption as the sole significant goal of individual behavior.

Economic individualism thus appears as both a theory and a doctrine As a theory, it attempts to explain social behavior in terms of a rational, self-interested, acquisitive "economic man " As a doctrine it maintains that such an orientation of individual behavior in society is good and proper, for it leads to social and individual values.

As an explanation of the operation of the social order the theory will not stand close scrutiny,[9] but as an ideal and a doctrine, it remains of first-rate importance for the operation of the economic order. Linked with other aspects of individualism, it makes the individual, rather than the state or society, the responsible source for productive initiative, and the measure of the effectiveness of a given organization of production

Individualism in Other Spheres. Economic individualism is given added support in the value system of our society by the prevalence of individualistic notions in other fields of activity Although partly of independent origin, and certainly with varying applications, the ideals of individual responsibility in religion, government, and the family add weight to the expectation of economic self-help. A very few examples will suffice to call to mind how much importance we attach to the individual

The religious tenets of Christianity provide the basis for both group-emphasis and individual-emphasis In Protestantism the individual has the positive duty of making his own decisions. Political democracy and the protection of "natural rights" serve to confirm the individual's importance and self-reliance. In all of the major spheres of individualistic ideas distinctions have been made· the manufacturer or trader as opposed to the unskilled laborer, the religiously elect as opposed to the sinful, the politically worthy as opposed to the rule of the masses All, however, have been found amenable to outward and downward extension The concern over personality development, the emphasis on competitive courtship and individual choice of marital partners, and the development of psychiatry, social work, and medicine may be viewed with considerable accuracy as applications of individualistic doctrines

Although traditions and groups are antecedent to particular individuals, at least in the chronological sense, in our society we have emphasized the individual's part in changing the world, and not its

[9] For a careful analysis of the inadequacy of economic individualism as a complete foundation for social order, and the fallacy of a "natural identity of interests," see Talcott Parsons, *op cit*, pp 87–102 See also G D H Cole, "Laissez Faire," in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, 9 13–20

part in changing him. One may thus properly speak of a "cult of individualism," a major doctrine of which is the maximum achievement of the individual's capacities the "unfolding" of the individual's personality

Role of the Individual in an Industrial Society. Despite the ubiquity of individualistic conceptions in our culture, there are fairly obvious and rather stringent limitations to the extension of individualism in any society No society can be so tolerant or so naive as to develop *every* human capacity to its ultimate, or to place no barriers upon the fulfillment of unbridled appetites The human organism is plastic, and its capacities and potentialities are extremely varied. Some special abilities, like the ability to kill, must clearly be limited and regulated, various outstanding skills such as superior cunning and effective trickery and deceit must be regarded as inimical to the stability of society In short, *all special abilities must be in conformity with the requirements of social order in general, and of a given social order in particular* This constitutes the ultimate difficulty of attempting to reason from the nature and worth of the individual to the social organization and culture of a society.

In other words, it is a scientific impossibility to attempt to construct a society with the sole aim of complete and universal individualism in all its forms Yet in our society this has been more often a theoretical than a practical difficulty, for the conception of the *nature* of the individual has been pretty clearly linked with a particular kind of social organization which gave meaning to that conception Thus we have not in fact looked with the same favor upon the development of individual aesthetic or mystical talents as we have upon shrewd economic rationality It is only in the disordered and perilous households of certain believers in the wrongness of repressions and inhibitions that children develop their personalities in directions of property destruction and sudden death It is thus *not* the complete and unrestrained individual who is the center and measure of modern industrial society, but rather the individual whose character most closely conforms to the ideals established in traditional doctrine

This restraint upon individual talents and abilities and the focus-

ing of those talents and abilities on activities and goals that are, in fact, of social origin explain the paradox that modern industry may exist in societies with a prevailing ideology of collectivism rather than individualism In a sense, collectivism submerges the individual in the group and places an immediate and constant, rather than indirect and ultimate, test of group interest on individual activities But in fact when collectivism is combined with industrialism, the social rationale of individual efforts is more insistently stated, and enforced in ways that modify the concrete structure of productive enterprise, but the emphasis on individual talents and competitive performance and placement is retained Indeed, because the matter is no longer explained or justified in terms of individual self-interest, competitive performance and placement may be more strongly encouraged and enforced because of its importance to collective goals

THE DIVISION OF LABOR

Social differentiation and division of labor are universal attributes of human society Contrary to the view persisting into the recent past that primitive man lives in completely homogeneous and amorphous groups, modern knowledge of primitive and peasant communities reveals much complexity and specialization Such knowledge also dispels the older view of the simple, "natural" man, unhampered by social conventions, completely dependent on his own efforts for his bodily needs Modern specialization cannot therefore be contrasted with an assumed society or period having no division of labor The difference is one of degree and not of kind

What we know of the nature of the human organism and the simple necessity of the child to be cared for after birth indicates a minimum of organization below which not only society but also the human species ceases to exist. The character of that organization requires differentiation in the social positions and duties of individuals. Thus no society can completely ignore the great dichotomy of sex as a basis for social distinction. Neither is it possible to pass over the different capacities and acquired skills which accompany dif-

ferences in age It does not follow that the precise social significance attached to age and sex is the same, or more than roughly similar, in all societies, but no society can overlook these fundamental distinctions.

Bases for Division of Labor Thus in all societies every individual has certain positions (statuses) that serve to ally him with some and distinguish him from other members of that society. Those statuses, such as the ones following from age and sex, over which the individual has no control, are said to be *ascribed.*[10] Ascribed statuses are important in the productive system in any society. This is true in regard to sex, whether the division of labor is that between men who hunt and make war and women who till the soil and rear the young, or that between men who work in factories and women who belong to clubs and do the family shopping. The principle holds in regard to age whether the adolescent boy goes through a public initiation and becomes a warrior or finishes his compulsory education and becomes a breadwinner. The aged may rule the tribe, be left to die because unable to keep up their share to work, or be pensioned at sixty-five by a state insurance system. Despite the impressive cultural variability, the underlying principle remains constant

Assigning status by reference to broad categories without regard to individual competence is, in a highly specialized and integrated productive system, definitely limited in its applicability This may be seen by brief examination of the various possible bases for a rigid and automatic division of labor. The distinction between the sexes allows only a dichotomous specialization. Even age provides relatively few convenient lines of demarcation. Moreover, if there are a great many specialized positions to be filled within a single career, the length of time available for each might well be inadequate for learning the particular techniques required. For example, we do not, and could not, expect every male to achieve competence

[10] See Ralph Linton, *The Study of Man* (New York D Appleton-Century Company, Inc, 1936), p 115 and pp 113–131, *passim* See also his "Age and Sex Categories," *American Sociological Review,* 7 589–603, October, 1942, Kingsley Davis, "The Child and the Social Structure," *Journal of Educational Sociology,* 14. 217–229, December 1940

successively as a carpenter, barber, physician, lawyer, corporation executive, and research chemist. Indeed, we expect no such occupational career from *any* person, and if such a person were to gain such diversified skills, his ability in any one field would be seriously doubted for the very reason of his "dabbling" in others.

In view of the fairly independent variation of population distribution, there is no guarantee of an exactly appropriate age composition for a given degree of specialization on the basis of seniority. Thus a productive system might find itself with too many old administrators and too few young clerks, just as in a more limited field modern armies that operate on a seniority basis of distinction occasionally have too many generals and not enough privates. Even combining age and sex gives only a very few general divisions within the population.

A further basis for status ascription as a method of ensuring a social division of labor is the widely used one of inheritance of occupational position in family lines. The hereditary distinction between aristocrat and commoner, master and slave, or even the more elaborate hierarchy illustrated in European feudalism or the Indian caste arrangement, provide common examples of the utilization of kinship organizations as a mode of social differentiation. Again, however, as indicated in the foregoing illustrations, the possible number of divisions is fairly small. It is, of course, just conceivably possible to draw lines of occupational distinction between small, individual families, and so perpetuate any given fairly minute division of labor from one generation to the next. Such a system could only work if other significant elements in the situation were subject to complete control. Specifically, it would involve stabilizing the economic or industrial system at a particular level, so that no changes could occur that could change the demand for workers of a particular type. It would also involve such a control of population size and composition as to ensure that every family reproduced its quota of workers of the appropriate type, no more, no less. Imagine the difficulty in our rapidly changing industrial order where occupations go out of style over night, and in a population such as ours that overreproduces at some occupational levels and under-

reproduces at others, of attempting to make each highly specialized occupation precisely hereditary.

There is, indeed, an even more general limitation upon the sole use of status ascription for widespread division of labor. Despite the previously noted plasticity of the human organism, the variability of the species is such that many individuals are born who lack even the minimum capacity for fulfilling their expected roles in society. If those roles are very specific, and peculiar to one or a few individuals, society stands to take too great a chance on individual ability. This problem is well illustrated by the difficulties encountered when a hereditary ruler turns out to be unmistakably feeble-minded. Again, imagine our present plight if a fair proportion of the hereditary stevedores should turn out to be physically incapable of lifting a ten-pound weight, and the members of any other hereditary calling could not be transferred to replace them.

The inevitable conclusion is that, as a basis for division of labor, status ascription is effective for marking off general categories but is inadequate for widespread specialization.[11] The obvious corollary of this principle is that any complex division of labor must depend upon at least some indeterminacy of occupational status to ensure a minimal relationship between the demands of the job and the abilities of the incumbent.

If one asks, perhaps reasonably at this juncture, what all this has to do with the structure of modern industry, the answer is fairly simple. Precise occupational position in modern industry is rarely ascribed, although general class status in the society may be in some

[11] We have not discussed all conceivable bases for status ascription, but only those more commonly used. Skin pigmentation as a mark of "race" is very frequently fixed upon as a method of categorizing the population into broad occupational groups. This is to a large degree evident in the treatment of the American Negro. Any other visible symbol of distinction might be used, such as color of hair or shape of nose. Since few, if any, of the available methods of status ascription have any necessary correspondence to native ability, societal choice is made on other grounds and then justified as representing true differences in capacity. It would be just as sensible, on grounds of biological ability, to confine left-handed persons to pitching professional baseball as to limit Negroes to carrying bags and shining shoes or to give special privileges to descendants of *early* immigrants.

degree.[12] The considerations advanced above give a partial, if negative, explanation of the nature of the social division of labor in contemporary society Taking, for the moment, a manifold division of labor as given, it must be subject to explanation on other grounds than status ascription. But this is not to say that ascription of status is simply irrelevant for industrial specialization Thus, employers may insist that tool and die workers shall be men, which of course immediately limits the field of competition to those having the appropriate ascribed status. The widespread belief, not only among women but also among male employers, that factory work is in general unsuitable for female laborers is a potent factor in determining the section of the population that is available for specialized industrial tasks But after the broad categories have been determined on grounds that are in general irrelevant to particular abilities, it is still necessary to fill particular jobs by another method. status *achievement*[13]

The general bases of status achievement are the qualities of the individual and how they relate to the values of the society In industrial societies it is the person's productive usefulness that is primarily at issue, and it is upon that basis that an individual presumably arrives at a particular position in an industrial organization. In fact, the whole cultural background of industrial capitalism either supports directly, or conforms indirectly, to the expectation that each individual will do that useful work for which he is best fitted. Despite the very real inequalities of opportunity engendered by the necessity of qualifying for particular positions by first belonging to the appropriate age, sex, or similar category, we nevertheless place great value upon occupational diversification *grounded upon the achieved specialized capacities of particular individuals.*

Assuming the advantages or social value of occupational diversity, the first necessary step to allow widespread division of labor was to remove the traditional barriers provided by a rigid inheritance of

[12] The question of the relation of occupational position to general or class status in society will be discussed in Chap XXIII.

[13] Linton, *op cit.*, pp. 113–131.

occupation Put more positively, and more correctly, the various types of individualism that have permeated the culture of capitalism have provided a positive incentive to specialization and to a correspondence between position and demonstrated ability The situation, we have seen, is in this respect not radically different under industrial collectivism. Within the limits, therefore, of the necessary status ascription found in all societies, and its specific forms and types in any one society, modern industrial division of labor may be said to rest upon individual competition and achievement of position, supported by fundamental values in the culture Specialization is not simply a major phenomenon in industrial organization, it is also an ideal

Extent of Specialization. Occasionally the newspapers and popular magazines carry feature articles on newly discovered "strange and unusual occupations" whereby enterprising individuals in the population earn a living In addition to such careers as winding clocks, tasting tea, or helping out-of-town shoppers get rid of their money, there are many others that make less sense to the uninformed layman There is in the United States at least one water smeller, whose special skill is the detecting of unpleasant odors in city water. A number of "mattress walkers" stamp out lumps before the heavy pads are sold, to ensure the citizen's comfort while sleeping The meat-packing industry employs workmen whose job titles, such as "tooth knocker out," sound truly satanic One can even make a paying career out of spooning (cleaning out holes for dynamite in coal mines) and necking (putting on sweater necks in knitting mills) With such a diversity of legitimate occupations, to say nothing of skilled parasites like the pickpockets who specialize in particular pockets, the average American is fairly shockproof on the subject of the division of labor From an occupational classification which could be fairly completely covered by fifty or a hundred callings about one hundred and fifty years ago, we have reached a degree of complexity that is truly astounding by any comparative standards.

The *Dictionary of Occupational Titles*, prepared by the United States Employment Service of the United States Department of

Labor,[14] has 1040 pages devoted solely to an alphabetical listing of titles with brief definitions. The dictionary defines 17,452 distinct jobs and classifies an additional 12,292 alternate titles This is a total of 29,744 occupational titles defined. Yet this is not claimed to be a complete coverage of occupational specialization. The editors write,

> It should be especially noted that the coverage of the Employment Service Dictionary, either occupational or industrial, is by no means complete Reasons of economy, practicability, and efficiency, as well as administrative and budgetary considerations, imposed certain limitations, in some instances rather severe, but the book as it now stands is thought of as but a first edition [15]

The positions and occupations defined range from "cheese sprayer" (confectionery industry) to "pharmaceutical botanist" (professional and kindred occupations) Arranged by industry the number of distinct jobs gives an even better indication of how far the division of labor has proceeded in modern manufacture For example, there are approximately 375 different jobs in the petroleum refining industry, besides an additional 125 or so in petroleum and natural gas production The textile industry, first on the field in the transition to the factory system and outstanding in the degree of mechanization and subdivision of processes, requires more than 1850 types of specialized abilities This is exclusive of the cultivation and transportation of textile fibers, or of such specialized related industries as garments, hosiery, knit goods, and textile bags [16] This is truly a far cry from individual economic self-sufficiency

A random selection of definitions of occupations may illustrate not only the degree of specialization but also the degree of skill required in modern economic life Some representative definitions of skilled and semiskilled occupations listed in the *Dictionary* follow.[17]

[14] United States Employment Service, United States Department of Labor, *Dictionary of Occupational Titles* (Washington U S Government Printing Office, 1939), Part I, Definitions of Titles

[15] *Ibid*, p xvi

[16] The number of jobs by specific industries noted in this paragraph is computed from lists in *ibid*, Appendix III, pp 1117–1287

[17] Quoted from *ibid*, pages as indicated at the end of each definition The

Heel-Seat Scourer, *seat scourer and tack remover* (boot and shoe) 6–61 811 Operates a heel-scouring machine and an insole tack cutter (m) to cut and remove nails from heel seats and insoles of shoes and to smooth the heel seats holds heel seat tightly against revolving disk cutter of scouring machine, and turns shoe in a horizontal circular motion, thus cutting off any protruding nails and removing any unevenness in the heel seat, holds shoe with both hands so that disk cutter of insole tack-cutting machine is inside of shoe on the insole near the toe, makes a downward movement with the shoe while the insole is against the cutter, thus cutting any protruding tacks which may be in the insole, and removing any unevenness in the insole where the protruding tack was cut [449]

Radio-Chassis Aliner, *intermediate frequency aliner, radio chassis test man, radio-frequency aliner, radio tester* (radio mfg) 4–98 040 Adjusts completed radio chassis to obtain proper electrical frequencies connects chassis to testing equipment, adjusts position of iron core in each intermediate frequency stage successively, using a neutralizer (type of socket wrench), adjusts with a screw driver or wrench, the trimmer condensers of radio frequency stages for maximum response in headset or on meter [725]

Saccharate-Filtration Man (sugar) 6–10 632 Filters saccharate which is used in place of lime in treating raw sugar juice, manipulates wheel valves to control flow of fluid to and from filters (m), maintains proper level of liquid in the filtration reservoir, changes cotton twill cloths on filters periodically by releasing metal clamps, checks temperature of liquid coming to filter [771]

Not all specialized occupations, of course, are so closely dependent on complicated machines and tools Thus the following definitions indicate administrative and professional abilities

Sales Engineer (whole tr) 0–19 04 Sells chemical, mechanical, and electrical equipment and supplies, and other products that require professional or technical knowledge based on familiarity with products sold calls at factories and industrial plants, and on engineers, architects and other professional and technical workers, attempting to convince prospective customers of the desirability of purchasing from him, computes the cost of installing equipment and calculates saving in production costs anticipated by use of equipment, makes estimates from blueprints, plans,

---

numbers following the title are for use in coding occupations The insertion (m) indicates a machine

or other records submitted by potential customers, draws up and proposes changes in equipment or use of materials which would result in cost reduction or more efficient operation of enterprise Usually specializes in selling one product or a group of closely related products, such as technical electrical equipment, industrial machinery, mechanical rubber equipment, chemical goods, or mineral products. *ref* **Salesman, Wholesale, Salesperson** (any ind.). [773]

Secretary, Administrative, *secretary, executive* (any ind) 0–97 03 Executes administrative policies determined by, or in conjunction with, other officials prepares memoranda outlining and explaining administrative procedure and policy to subordinate supervisory workers, acts as intermediary between minor supervisors and policy-making officials Makes confidential contacts, keeps special files and performs other responsible duties, varying according to policy of firm or organization In small organizations, such as trade, civic, or welfare associations, often performs publicity work, *ref* **Public-Relations Man.** [804]

Even those occupations coded as unskilled labor reveal a considerable degree of specialization and involve at least some special skills. Two sample definitions follow

Gore Stapler (boot & shoe) **A Laborer, Process.** Cuts strips of rubber elastic tape (gore) and staples them to shoe ornaments lays gore strip on finished side of ornament, centering the strip across the width of the part and over the metal strip on the underside of the ornament, sets ornament with gore strip in place under head of stapling machine, and drives staple through the ornament, and through the metal strip, clinching the end of the staple under the metal strip [418]

Ham Grader; *ham selector* (slaught. & meat pack) **A Laborer By-products Operations** Turns uncured hams over and inspects them for blood cots around the bone, bruises, and broken bones, places bruised hams in truck for pork products, broken bone hams in truck for pickling, and perfect hams in truck for boiling or smoking [431]

One might, of course, reasonably ask to what extent this tremendous specialization represents simply increased mechanization so that the laboring processes are diversified In other words, is this an artificial specialization as far as the laborer is concerned so that workers might freely move from job to job without serious difficulty or retraining? To a certain extent, yes. That is, many of the di-

versified occupations listed and defined as found in modern industry are classified as "unskilled labor," implying that laborers occupying those positions could be interchanged with small relative loss. Recognizing the disadvantages of the minute classification of occupations for determining the degree of specialized and technical skills required by workers, a group of experts have undertaken the tremendous task of classifying many similar occupations found in various industries into "families" of occupational skills [18]

To determine the degree of transferability of workers involves comparative job analysis and the computation of time required to learn the skills and routines that are to some degree different from others in the same family of occupations The principal criteria used for comparative analysis were:

1. Working rapidly for long periods
2. Strength
3. Dexterity
4. Co-ordination
5. Estimation
6. Special senses
7. Memory
8. Social factors
9. Temperament
10. Miscellaneous worker factors
11. All C jobs in which all the worker characteristics were rated C, the amount possessed by the lowest 70 per cent of the general population
12. Training period on job, one week or less
13. Training period on job, one week to one month
14. Training period on job, one month to six months
15. Training period on job, over six months
16. Special knowledge required for entrance into occupation
17. Supervising
18. Public contacts
19. Use of measuring devices or graphic instructions
20. Use of tools
21. Use of machines

[18] See William H Stead, Carroll L Shartle, and Others, *Occupational Counseling Techniques, Their Development and Application* (New York, American Book Company, 1940)

22 Minimum formal education requirement
23. Seasonality
24. Working rapidly for long periods
25 Repetitive nature[19]

Even such a simplified list of important worker attributes and job requirements indicates that wholesale reshuffling of occupations would not be easy A diagrammatic representation of degrees of transferability in various occupational groups has been presented by the same authorities, and is reproduced in Figure 8[20] The author of the section of the report under consideration explains the figure as follows.

It is postulated that the higher one goes in this pyramid, the fewer will be the opportunities for transfers from one occupation to another in a horizontal direction There will probably be families of occupations quite closely related in each level, permitting an interchange of workers within that particular group The more complex the occupation the longer the training period required to become expert in the trade, the more difficult it will be to effect transfers.

. . . At the top of the pyramid is superimposed an inverted pyramid that represents the executive and administrative workers Here once more is found a level wherein rather wide transferability from one industry to another is possible and occurs frequently, especially in large corporations. This is probably due to the fact that executive ability and adaptability are necessary to attain this position[21]

Even this limitation of the degree of division of labor to the positions requiring approximately equal (and interchangeable) degrees of skills leaves but one clear-cut conclusion The "laboring population" is by no means a homogeneous mass of workers who may be chosen at random for any industrial position. The fact that the degree of interchangeability of laborers decreases with an increase in technical skill required for the position, and thus somewhat with rank, has had far-reaching consequences for industrial organization,

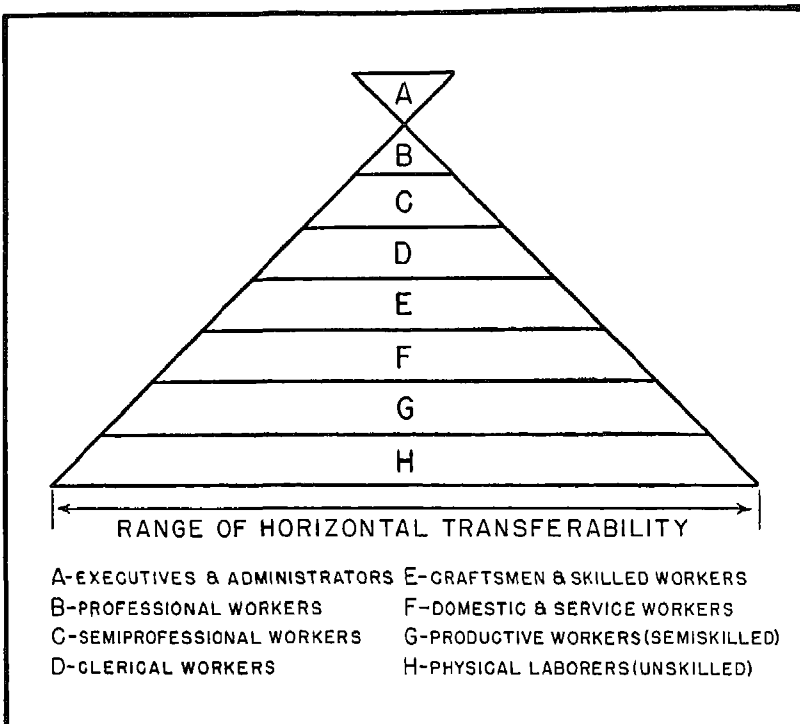
[19] Quoted (main headings only) by permission of American Book Company from *ibid*, Chap X, "Occupational Relationships," by Raymond S Ward, pp 194–195 The first ten items are worker attributes, the last fifteen job characteristics

[20] Reproduced from *ibid*, Fig 41, p 205.

[21] *Ibid*, pp 203–205 Quoted by permission of American Book Company

and for the relative strength of skilled and unskilled workers in labor organizations. Other implications following from a technical division of labor will be sketched briefly in the paragraphs that follow.

FIGURE 8 *Range of Horizontal Transferability of Workers in Various Groups of Occupations*



Adapted by permission from Raymond S Ward, "Occupational Relationships," in William H Stead, Carroll L Shartle, and Others, *Occupational Counseling Techniques, Their Development and Application* (New York American Book Company, 1940), Fig 41, p 205

Economic Significance of Specialization The foremost fact of industrial significance that follows from an extended division of labor is that the greater the specialization the greater the problem and necessity of coordination and cooperation As between independent producers, control is effected through buying and selling on the

market[22] This provides a largely automatic (that is, impersonal) coordination of productive efforts. Within a manufacturing establishment coordination is accomplished on a different basis· that of *authority*. Thus in contemporary industry a major task of management is that of maintaining coordination of effort and effectiveness of the entire unit in the face of large-scale diversification. It is axiomatic, if somewhat paradoxical, that increased diversification of individual positions in society requires at the same time increased cooperation because of widespread interdependence Economic individualists have not always recognized this in theory, although they have done fairly well in practice

The division of labor along lines of productive technical specialization has a number of economic advantages Not least among these is the increased productivity afforded through the selection of the personnel best qualified for a particular job Moreover, training for a particular activity may save considerable time as compared with the requirements for learning a whole series of processes. By devoting himself only to a limited kind of work, the laborer may gain greater proficiency than could possibly be achieved in more elaborate tasks involving frequent changes of activity and a relatively short time on any one Thus an apprenticeship of years may be eliminated almost entirely, or limited to a few weeks required to learn one or two operations.

This raises a fundamental question in the economics of specialization does the division of labor introduce simplification of tasks, or increase the technical competence required for highly diversified positions? Actually it does both. Economists since Adam Smith have emphasized simplification of tasks through division and subdivision of operations This, it is argued quite rightly, saves time in changing from one operation to another, saves duplication of equipment for each worker, and is of special advantage in main-

[22] See Sumner H Slichter, *Modern Economic Society* (New York· Henry Holt and Company, Inc , 1931), pp 105–106 The treatment of "specialization" in this book, pp 104–121, has been drawn upon at numerous places in the present section Slichter also quite properly notes that division of labor takes place on business and territorial lines, as well as occupational Naturally, our primary concern is with the last, although the three are not unrelated

taining the labor force. The last named advantage can be seen in the reduction of skilled labor costs to a minimum through breaking down complex operations into easily learned component units, especially with the aid of machinery It is likewise evident in the decreased dependence of the manufacturer upon a small number of skilled workers not easily replaced, and in the control made possible by the interdependence of the workers Thus, as Slichter points out,[23] a pace-setter at an early stage in continuous processing involving many workers can regulate the speed of the others all down the line.

But what practically all treatises on economic specialization have overlooked is that "division of labor" is a misleading term, since it implies that a given amount of labor is to be divided or subdivided. Modern specialization, however, involves more than that. The very complexity of industrial organization, plus the special services made possible by increased productivity through specialization, has increased rather than decreased the demand for *skilled* specialists. True, the newer skilled labor may be in managerial and advisory positions, rather than in "production" itself, but this is likely to be an artificial distinction. The fact remains that in an American textile factory one sees not simply division of labor illustrated by the breakdown of processes to such a point that in some departments each worker tends a number of identical or similar machines, but also a *diversification* of labor involving technical specialists responsible for research, design, planning, and coordination If the producer is less dependent on any given processor of the raw material, he may be more dependent on highly trained specialists whose knowledge of particular aspects of the organization is far greater than his own.

It is, of course, not even true in economic terms that more specialization is always better than less. The degree of division of labor as a basis for increased productivity must always be limited by the optimum (most satisfactory) utilization of a worker's time and energies. Thus the almost unbelievably extensive division of labor fostered among large groups of slaves by Roman patrician slaveholders was in the interests of conspicuous display and waste, not

[23] *Ibid*, p. 108.

productive efficiency. Unless it is possible to find other work for an individual employee, or hire a part-time worker, it is probably not in the interests of efficiency so to subdivide operations that it takes four workers to do what one did formerly. This implies a further point, previously noted with regard to industrial organization. *the extent of useful division of labor is intimately related to the size of the establishment or complexity of the industry as a whole. Thus, as a general rule, the larger the concern, the greater the possible degree of specialization*

Certain Social Implications The division of labor, we have noted, is well grounded in the cultural background of modern industry It is not enough simply to note the fact that specialization is rampant in our society. We must note also the fact that in general it is believed in as a positive good But the assumptions upon which it rests—for example, the doctrines of individualism—and the conclusions to be drawn from the applications of the principle are not always in complete conformity For example, minute subdivision of tasks has led some critics to maintain that specialization destroys individual self-reliance, pride in useful work, and so on, by reducing a worker to the status of a machine It is certainly true, as noted in Chapters IX and X, that the relation of the worker to the machine as expressed in routine tasks has created serious problems in employee satisfaction and industrial morale. This implies the possibility, moreover, that individual specialization makes the worker more and more dependent upon society, yet more poorly integrated into the entire social system because he is too far removed from the common values toward which all this diversified activity is directed, and too little aware of his place in the entire structure This was the classic problem posed by the French sociologist, Emile Durkheim. Put very simply, the question he raised was how to prevent extensive social division of labor, which should presumably lead to social interdependence, from producing instead a general social collapse through insufficient integration around common values [24] This

[24] See Emile Durkheim, *On the Division of Labor in Society*, tr by George Simpson (New York The Macmillan Company, 1933), especially pp 200–229, 353–373, and Preface to the Second Edition.

is a problem basic to the relationship of modern industry to society as a whole, and thus will merit fuller discussion in later chapters It is sufficient here to note that, however strongly the belief in specialization may be rooted in the culture, its practical applications must meet the tests of social expediency and rough conformity with other values held in the society

Related to the considerations just advanced is the problem of *controlled* specialization. It was noted that, although the division of labor requires coordination of labor, this is accomplished in an industrial plant by means of authority. Thus the general assumptions of economic individualism in regard to free and impersonal competition within a few well-recognized rules, resulting in an "automatic" judgment of appropriate position in the entire system, break down for all but a limited number of entrepreneurs and managers If the capitalist is judged by the impersonal operation of the market, his laborers are judged by *him* or his representatives. The modern factory worker must not only satisfy the demands made upon his skill, but he must avoid being "sassy" to his foreman. He may, in concrete cases, be judged more quickly on the latter achievement (or its absence) than on the former. And therein lies the breakdown of some time-hallowed tenets of economic individualism that emphasize impersonal competition Thus again it is clear that the cultural structure underlying industrial activity is not a consistent body of doctrine Thus "individualism" may be deposed and "collectivism" put in its place, without changing the essential characteristic of competitive specialization and administrative coordination The effects of the difference in doctrine are real and important, but they are exhibited in such questions as the toleration of independent unionism, the separation of political and economic sanctions upon the worker, and the less stringent insistence on detailed political orthodoxy, which are more or less characteristic of modified "individualism." The industrial system has shown a considerable adaptability to noncapitalistic doctrines and types of organization, while imposing its own requirements for specialization and coordination of specialized activities.

REFERENCES

AYRES, C E., *The Theory of Economic Progress* (Chapel Hill· University of North Carolina Press, 1944), Chap IX, "Technology and Institutions"

BEARD, CHARLES A , "Introduction I–The Development of Social Thought and Institutions IX Individualism and Capitalism," in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, 1 145–163

BERNAL, J D., *The Social Function of Science* (New York. The Macmillan Company, 1939).

BOGART, ERNEST L , and CHARLES E LANDON, *Modern Industry* (New York Longmans, Green and Company, 1927), Chap III, "Specialization," and Chap IV, "Division of Labor"

CLARK, HAROLD R , *Economic Theory and Correct Occupational Distribution* (New York. Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, 1931), Chap VII, "Eighteenth Century Individualism and Occupational Distribution"

COMMONS, JOHN R , *Legal Foundations of Capitalism* (New York. The Macmillan Company, 1924)

DAVIS, JEROME, *Capitalism and Its Culture* (New York Farrar & Rinehart, Inc , 1935), Chap I, "The Rise of Capitalism," and Chap. III, "The Philosophy Examined"

DURKHEIM, EMILE, *On the Division of Labor in Society*, tr. by George Simpson (New York The Macmillan Company, 1933), especially Book I, Chap VII, "Organic Solidarity and Contractual Solidarity", Book III, Chap I, "The Anomic Division of Labor", and Preface to the Second Edition.

HENDERSON, LEON, "Basic Assumptions of American Competitive Capitalistic System," in the United States Congress, Temporary National Economic Committee, *Investigation of Concentration of Economic Power, Hearings . . .* (Washington· U. S. Government Printing Office, 1940), Part I, pp 167–168.

LEDERER, EMIL, "Technology," in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, 14 553–560

LINDSAY, A D , "Individualism," in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, 7 674–680

LINTON, RALPH, "Age and Sex Categories," *American Sociological Review*, 7 589–603, October 1942

———, *The Study of Man* (New York D Appleton-Century Company, Inc , 1936), Chap VIII, "Status and Role"

MARSHALL, LEON CARROLL, ed , *Readings in Industrial Society* (Chicago University of Chicago Press, 1918), Chap. III, "The Coming in of

Capitalism," especially pp 144–174, Chap VII, "Machine Industry—An Expression of the New Technology," especially pp 417–436.

MARX, KARL, *Capital* (New York. The Modern Library [1936]), Vol. I, Chap XIV, "Division of Labour and Manufacture"

———, *The Poverty of Philosophy* (Chicago Charles H Kerr and Co, 1920), Chap II, "The Metaphysics of Political Economy," especially Sec II, "The Division of Labor and Machinery"

MERTON, ROBERT K, *Science, Technology and Society in Seventeenth Century England*, in the series *Osiris*, Vol IV, Part 2, pp. 360–362 (Bruges, Belgium The Saint Catherine Press, 1938)

MUMFORD, LEWIS, *Technics and Civilization* (New York Harcourt, Brace and Company, 1934), Chap I, "Cultural Preparation", Chap. II, "Agents of Mechanization", and pp 107–118, 316–320

NATIONAL ASSOCIATION OF MANUFACTURERS, Economic Principles Commission, *The American Individual Enterprise System Its Nature, Evolution, and Future* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1946, 2 vols), Vol I, Chap. I, "Nature and Philosophy of the Individual Enterprise System", Chap II, "Evolution of the Individual Enterprise System", and Chap III, "Fundamental Elements of the Individual Enterprise System"

PAGE, KIRBY, *Individualism and Socialism* (New York Farrar & Rinehart, Inc, 1933), Chap I, "The Theory of Individualism"

PARSONS, TALCOTT, *The Structure of Social Action* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1937), Chap. II, "The Theory of Action", Chap III, "Some Phases of the Historical Development of Individualistic Positivism in the Theory of Action", Chap. IV, "Alfred Marshall. Wants and Activities and the Problem of the Scope of Economics", Chaps XIV and XV, "Max Weber I (II) Religion and Modern Capitalism", and pp 399–408

POLANYI, KARL, *The Great Transformation* (New York. Farrar & Rinehart, Inc, 1944).

SALZ, ARTHUR, "Occupation," in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, 11 424–435

———, "Specialization," in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, 14 279–285

SÉE, HENRI EUGÈNE, *Modern Capitalism, Its Origin and Evolution*, tr by Homer V. Vanderblue and Georges F Doriot (London N Douglas, 1928)

SIEVERS, ALLEN MORRIS, *Has Market Capitalism Collapsed? A Critique of Karl Polanyi's New Economics* (New York. Columbia University Press, 1949).

SLICHTER, SUMNER H , *Modern Economic Society* (New York. Henry Holt and Company, Inc , 1931), Chap VI, "Specialization."

SMITH, ADAM, *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations,* Everyman's Library ed (London and Toronto J M Dent and Sons, New York E P. Dutton & Company, Inc , 1910), Book I, Chap I, "Of the Division of Labor", Chap II, "Of the Principle which Gives Occasion to the Division of Labor", Chap III, "That the Division of Labor is Limited by the Extent of the Market"

SOMBART, WERNER, "Capitalism," in *Encyclopaedia of the Social Sciences,* 3 195–208

STEAD, WILLIAM H , CARROLL L SHARTLE, and OTHERS, *Occupational Counseling Techniques, Their Development and Application* (New York American Book Company, 1940) See especially Chap X, "Occupational Relationships," by Raymond S. Ward

TAWNEY, RICHARD HENRY, *The Acquisitive Society* (New York Harcourt, Brace and Howe, 1920)

———, *Religion and the Rise of Capitalism* (New York Penguin Books, 1926).

VEBLEN, THORSTEIN, *Absentee Ownership and Business Enterprise in Recent Times* (New York B. W Huebsch, 1923), Chap X, "The Technology of Physics and Chemistry"

———, *The Instinct of Workmanship* (New York The Macmillan Company, 1914), Chap. V, "Ownership and the Competitive System"

———, *The Place of Science in Modern Civilisation* (New York The Viking Press, 1932) See especially the following essays "The Place of Science in Modern Civilisation," pp 1–31, "The Evolution of the Scientific Point of View," pp 32–55, "The Preconceptions of Economic Science, I, II, III," pp. 82–179, "On the Nature of Capital, I and II, " pp 324–386

———, *The Vested Interests and the State of the Industrial Arts* (New York B W Huebsch, 1918), Sec I, "The Instability of Knowledge and Belief," and Sec III, "The State of the Industrial Arts"

WEBER, MAX, *General Economic History,* tr. by Frank H Knight (New York Greenberg Publisher, Inc , 1927), Chap XXII, "The Meaning and Presuppositions of Modern Capitalism", Chap XXVII, "The Development of Industrial Technique", Chap XXX, "The Evolution of the Capitalistic Spirit"

———, *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism,* tr by Talcott Parsons (London George Allen and Unwin, Ltd , 1930).

———, *The Theory of Social and Economic Organization,* tr by A M Henderson and Talcott Parsons (New York Oxford University Press, 1947), pp 216–254.

CHAPTER XIX

SOURCES OF LABOR SUPPLY

ONE OF the many ways industry is dependent upon society at large and in turn affects the total society is through the supply and utilization of industrial labor. Labor is one of the "resources" or factors of production, which, however, constitutes a substantial part of the very social system served by the productive organization. And, as a part of society, and being subject to human reproduction and socialization, laborers are a product of noneconomic segments of society before they enter the productive system. In this chapter attention will be given to four main problems: (1) the size of the "labor force" in the American population, (2) the *quantitative* problems of labor supply with reference to geographical mobility of labor, (3) the *qualitative* problems which hinge upon the social mobility of labor, and (4) the problem of specialized training in an industrial system characterized by extensive division of labor.

THE LABOR FORCE IN THE POPULATION

Even in a society that places strong emphasis on productive labor, not every one works for a living. Aside from individuals (a very small minority) who are "independently wealthy," and whose chief productive labor consists in clipping coupons from gilt-edged securities, there are large numbers of living Americans who by reason of age, sex, or physical infirmity must be supported by the nation's workers.

The Concept of Labor Force. The actual and immediately potential workers in the population comprise our "labor force." The labor force thus includes not only all the employed population, but those

who are temporarily or involuntarily unemployed but are able and willing to work. It excludes the unemployables (even though willing to work) and those under age or not seeking work.

The concept of labor force is not and cannot be very precise in its reference Part of the indefiniteness is due to questions of general definition. For example, are part-time laborers who work only a few hours a week and are not interested in additional employment part of the labor force? Are working children under fourteen, such as newsboys, delivery boys, and girls employed after school in domestic service, part of the work force? These and similar questions indicate difficulties in defining what we mean by workers in the population However, the technical questions of definition can be met more easily, if somewhat arbitrarily, than can the problems that arise from the *inherently relative* character of the concept To a highly significant extent, the size and character of the labor force depends upon the customs of society Thus, if children were allowed to work as soon as any productive labor could be found for them, and without regard for considerations of future health or training for greater productivity, the labor force would be considerably larger Similarly, if the American family structure were such that all adults were expected to contribute their share to total production instead of confining occupational selection primarily to males and single females, the number of actually or potentially gainfully employed persons would be much greater In the following chapter these and similar restrictions will be noted as "institutionalized wastes" of labor resources At this point it is sufficient to recognize that *the labor force at any particular time is relative to the actual situation in the institutional structure at that time.* Conversely, any large and rapid increase in the labor force must be made at the expense of existing institutional restrictions, as in the present widespread employment of women and pressure for the employment of children

The labor force is not a constant factor, even aside from questions of definition, possible institutional modification, or the more basic consideration of population size and age-sex distribution It is also relative to the existing or predicted future demand on the labor mar-

ket. This is to say that the supply of labor and the demand for that labor are not completely independent variables. This is especially evident in the way the demand tends to affect the available supply. A few illustrations may serve to indicate some of the ways this relationship works.

In a period of rapid industrial expansion and increased demand for labor, persons who had not previously considered gainful employment enter the labor force either as workers or as persons seeking employment. Persons long unemployed and no longer actively seeking work, workmen beyond the normal retirement age, and youths who would normally continue their formal training or depend upon parental support until their maturity become part of the available supply of labor.

In a period of reduced industrial employment, as in the early 1930's, the labor force tends to shrink through the withdrawal of those who have the least necessity or chance of employment. This is not an exact relationship, however, because of the contrary tendency for the ranks of the unemployed to be swelled by members of the family of the unemployed breadwinner, seeking to compensate for the loss of normal sources of support.

Part of the relativity of the size of the labor force is due to the difference in quality of workers employable under different conditions. Thus persons who are classified as "unemployable" when the demand for labor is low may become fairly readily employable with increased demand, and without change in the qualifications of the worker. In other words, the margin or threshold of employability is raised or lowered in conformity with the condition of the labor market in general. If the pressure for manpower is acute, useful occupations can be found for the lame, the halt, and the blind.

The Size of the Labor Force. In view of this relativity of the concept of "labor force," it is understandable that any statement of the size of the employed and employable population in the United States must either be very approximate, or else assume the constancy of conditions which may not in fact remain constant. Nevertheless, it is possible to indicate, without too much error, the proportion of

the American population that may be considered to constitute our work force

According to the Sixteenth Population Census of the United States, 1940, the labor force then numbered 52,789,499 persons, of whom 5,093,810 were then unemployed and seeking work[1] The labor force in 1940 thus comprised forty per cent of the total population of 131,669,275 By May, 1950, the labor force had increased to an estimated 62,788,000 persons, or about forty-two per cent of the estimated population at that time[2]

Part of this increase was due to continued growth of the population, that is, more persons reached the age of employability (set at fourteen) than died or became too old for employment (set at sixty-five) A more important source of the increase, however, was the marked upturn in the employment of women not previously considered part of the work force Some additional increment of workers resulted from lowering the threshold of employability accompanied by specialized training for the handicapped "unemployable" As long as the shortage of manpower for the armed forces and armament production continues, the increase in the size of the labor force from sources other than natural population growth may be expected to continue Indeed, as is discussed in the following chapter, there is good reason for believing that the luxury of many riders and few pushers may be a thing of the past.

The present expansion of the labor force over and beyond the increase of the population thus documents its relativity in terms of industrial and general social conditions. The short-term variability in the proportion of the total population that may be considered part of the available labor supply is possible because of the normal existence of a large number of potential workers who neither work nor seek employment

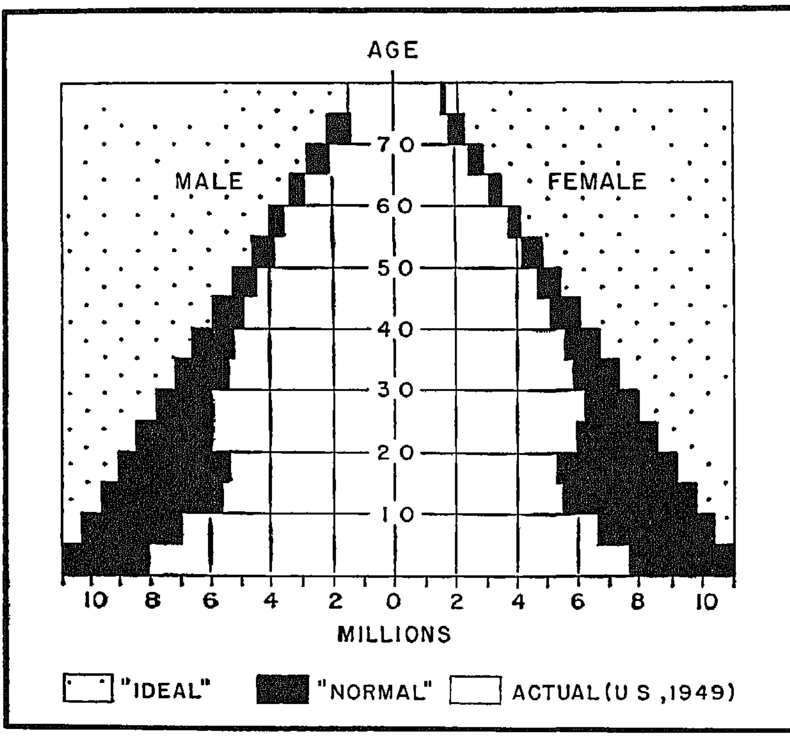
Peculiarities of Population Distribution. At the present time and for the near future the age composition of the American population

[1] Figures from United States Department of Commerce, Bureau of the Census, *Sixteenth Census, 1940, Population*, Vol III, The Labor Force, Part 1, p 3

[2] Figures from United States Department of Commerce, Bureau of the Census, *Current Population Reports Labor Force*, Series P–59, No 17, August 2, 1950, and *Population Estimates*, Series P–25, No 42, June 30, 1950.

shows a heavy concentration in the productive years—that is, among those actually or potentially part of the labor force. Whether this is to be regarded as fortunate or unfortunate depends upon other circumstances and upon point of view. In the pressure for man-

FIGURE 9. *Age-Sex Distribution of the Population "Ideal" (If Everyone Died of Old Age), "Normal," and Actual (United States, 1949)*



American population data for 1949 are official estimates of the Bureau of the Census in *Current Population Reports Population Estimates,* Series P–25, No 39, May 5, 1950, Table 2

power in a war for national survival, the high proportion of producers must be regarded as fortunate In the interwar years, when the pressure was not for manpower but for jobs, the number of actual or potential competitors was clearly disadvantageous to the individual laborer.

Aside from the disturbing factors of immigration and emigration, the size of a population is obviously determined by births and deaths. More specifically, the age-sex composition of the population is the result of past births and deaths which have determined the survival ratios in each age or sex group It is axiomatic therefore that the source of the present "peculiar" distribution of the American population must be sought in the birth and death rates of the last several decades.

A convenient way to approach recent changes in the size of the American labor potential is to note the departures from a "normal" age distribution. A normally expanding population may be represented as a pyramid, with the children under five constituting its base, and then by five-year intervals progressively narrowing to its apex The narrowing of the "walls" of the pyramid is, of course, the result of the failure of some in each age group to survive into the next. A hypothetical "population pyramid," as such graphs are called, is represented in Figure 9. The width of the horizontal base is determined by the birth rate. How slowly or rapidly the pyramid narrows and reaches an apex is determined by the death rate (or, positively, the survival rate). If every human infant were assured of living out the full human span of life, the age composition would not be pyramidal at all, but a perfect rectangle of superimposed strata. (See Figure 9.)

Now the first important departure from a normal population is the marked decrease in the death rate during the last forty or more years. This is indicated by a death rate of 17 6 per 1000 in 1900 and of only 9 7 per 1000 in 1949[3] Part of this reduction is to be attributed to controlling of epidemics, improved sanitation, reduction of maternal mortality, and so on Most spectacular, however, has been the reduction of infant mortality (that is, death within the first year of life). Thus one infant in ten (99 9 per 1000 live births) born in 1915 did not survive the first year, whereas less than one in thirty (31 per 1000) of those born in 1949 died during the

[3] Figures from U S Department of Commerce, Bureau of the Census, *Vital Statistics of the United States*, 1939, Part I (Washington· U. S Government Printing Office, 1941), Table U, p 11, and National Office of Vital Statistics, *Monthly Vital Statistics Bulletin*, 12 1, March 31, 1950

first year of life.[4] The infant mortality rates before 1915 (the first year of American registration) were certainly higher. What the reduction of death rates in general and infant mortality rates in particular signifies for the size of our labor force is that *many persons are alive and working today who would not have lived through infancy if previous conditions had continued*. Put in our previous graphic terms, the walls of the population pyramid have been straightened toward the perpendicular. This constitutes a significant approximation to the hypothetical situation of one hundred per cent survival to which we previously referred.

Yet we have only partially accounted for our present proportion of productive laborers. Although paradoxical at first glance, the relative size of the labor force has been increased by a reduction of the birth rate. The paradox is resolved by noting that the decline of the birth rate came later than the decline of death rate,[5] so that there are fewer nonproductive persons for the laboring population to support. Prior to 1950, the 1920 census was the last to show a larger percentage under five years of age than in the age group from five to nine. Even then the difference was only one-tenth of one per cent (0.1 per cent). Until about 1945, the population pyramid was contracting on its base. In conjunction with the earlier fall in the death rate already noted, this has produced a positive "bulge" in the age groups from which productive labor is chiefly drawn. This also is illustrated by Figure 9, which shows the age-sex composition of the American population by the 1949 estimates.

It may be noted that this situation is clearly a temporary one. As the "bulge" in the pyramid moves nearer and nearer the apex of the pyramid, representing the span of human life, more and more

[4] *Ibid.*

[5] In 1915 (the first year of anything like national registration), the birth rate was 25.1 per thousand, and in 1939 only 17.3 (*Ibid.* Table F, p. 6.) Estimates, based partly upon state statistics, indicate that in 1896–1900 the rate was 29.8, and in 1912, 26.4. (See Alfred J. Lotka, "Modern Trends in the Birth Rate," *Annals* of the American Academy of Political and Social Science, 188: 1–13, November 1936, Table I, pp. 2–3.) Although there is some evidence that the birth rate in the United States has been slowly declining since early in the last century, the marked decline is a relatively recent phenomenon. (See Warren S. Thompson, *Population Problems*, 2nd ed. [New York and London: McGraw-Hill Book Company, Inc., 1936], p. 126.)

persons will be too old for productive labor. Thus the dual problem of old-age security plus the manpower requirements of a competitive world power may be predicted in the future The latter problem will be accentuated by the very circumstance which contributes to the national "good fortune" at the present time· *the declining birth rate means increased difficulty in the future in replacing the aged.* This is not the place to "view with alarm" The present concern is to focus attention upon the "sources of labor supply" and to indicate some temporary circumstances that will not hold in the future of the American labor force.

The remarkable recovery of the birth rate in the United States and other Western countries after World War II may reflect a trend toward higher average size of families, but seems to be more nearly the result of higher marriage rates at earlier ages, which in turn reflect a high level of employment. With a population generally practicing deliberate control of fertility, birth rates seem to parallel closely the level of employment and prosperity They are thus subject to considerable short-run variations, with inevitable long-run effects on the age cohorts reaching working age Since death rates remain rather stable short of major catastrophes, populations of working ages can still be predicted for a decade or two, but longer predictions require hazardous assumptions about future births Thus the increasingly unfavorable ratio between accessions and retirements as far as those are a function of age may be reversed around 1960 when the postwar "baby crop" begins to enter the labor market.

QUANTITATIVE PROBLEMS AND GEOGRAPHICAL MOBILITY

In an earlier chapter it was noted that one of the characteristics of modern industrial capitalism is its reliance upon free labor. It was also observed that, throughout most of the modern history of industrial production, a fairly adequate supply of labor has been at the disposal of managers Again there is evident a correspondence between historical fact and the assumptions of traditional economic theory, whereby the particular instance comes to be thought of as a universal rule. In this instance, labor and wage theory has been

posited upon the presumption of a continued supply of cheap labor In order adequately to understand the general position of labor in contemporary affairs we must place on record the customary assumption with regard to the numerical supply of laborers, and some of the factors that may and do modify those assumptions.

The Assumption of the Expanding Population. The ready supply of cheap labor to which we have referred has in the recent past existed over most of western Europe and America by reason of the technological improvements in agriculture and industry that allow each worker to produce more, and by reason of a rapidly expanding population In so far as these conditions have prevailed, a problem of the amount of labor supply could not exist. That is, no problem could exist from the capitalistic or managerial point of view, whatever might be the difficulties with regard to low wages, underemployment, and insecurity from the laborer's point of view The rapid expansion of the population that accompanied increased industrialization came to be thought of as another "natural law" The increase in numbers was held to provide a constantly expanding market for industrial products, and the arms and hands to tend the machines

The validity of this line of reasoning becomes seriously impaired either under a situation of widespread withdrawal of potentially productive laborers for military or other duties (coupled in wartime with a demand for increased production), or in a situation of voluntary or involuntary reduction of the rate of population growth Thus, for given levels of industrial production, labor *shortages* may actually occur The effect of military action and war production is more immediate, since a reduction in the birth rate temporarily increases the *proportion* (but not the number) of workers The latter trend may prove the more serious in the future Recent and contemporary events illustrate the coincidence of these situations, in various degrees of urgency or immediacy The various solutions of this problem through expansion of the labor force have already been discussed Our present concern is to emphasize that, despite customary views to the contrary, a contemporary industrial system may be faced with quantitative problems of labor supply

The Assumption of Spatial Mobility. Merely to have sufficient workers in the entire population is not, of course, enough They must be at the right place at the appropriate time Traditional economic theory has assumed the "fluidity" of the labor market, or in other words free geographical mobility in accordance with differences in "economic opportunity" Thus the movement of rural populations to urban industrial centers, the westward movement of land-hungry migrants, and the crowding of armament-producing cities are all explained by the "pull" of greater opportunity

This fluidity of the labor market will hold true in any marked degree only under certain further conditions, and can never operate completely The necessary conditions for its operation *at all* include the existence of a labor system allowing free occupational shifts, and the absence of barriers to territorial mobility Economic opportunity as a factor in labor mobility would be meaningless if states or counties forbade the entrance or emigration of laborers. In any event, communication must be sufficiently well developed for workers in one area to hear of openings in other places. Then, too, it must be assumed that economic advancement is the sole significant motive for the residential choice of laborers, and that the potentially mobile worker can distinguish genuinely from fictionally greener pastures. A little reflection by anyone familiar with recent American migratory labor reveals how far the actual circumstances deviate from the assumed conditions

Although there have been few official barriers to occupational shifts in the past, they have been present The outstanding case has been the discrimination against Negro labor by employers, labor unions, and members of the community in general. Yet it is clear that the greater industrial (and social) opportunity for the Negro in northern cities has been chiefly responsible for the northward migration of rural southern Negroes. Thus the principle holds, but in a modified degree

There have been attempts, almost entirely extralegal, to prevent free territorial mobility in order to protect the laborers or taxpayers of one area from the competition or public assistance burden of migrants from other areas. Within the United States such practices

have been held by the Supreme Court to be unconstitutional.[6] Yet the restrictions on international migration clearly limit the fluidity of the labor market. Immigration laws, in fact, are designed to do for native laborers what tariff laws do for native industries. In both cases a free market has been set aside

More important than these violations of the conditions of labor mobility, however, are those inherent in the institutional structure of the society Property ownership, for example, especially the ownership of residences and real estate, is a potent source of immobility. The worker who has invested his savings in a home of his own has also given hostages to fortune (or at least to society). He has a stake in remaining at his place of residence and employment as long as possible, despite the pull of greater opportunity elsewhere. Likewise, residential and regional preferences, familistic and similar bonds, and the difficulty (real or imagined) of starting as a stranger in a strange land serve to reduce the casual wandering of a mobile laborer sensitive to slight differentials in opportunity

Add to these limiting factors the expense of mobility, the frequently overcrowded residential conditions in expanding industrial communities, difficulties in the education of children, and so on, and the assumption of free geographical mobility loses its force [7]

[6] See United States Congress, House of Representatives, Select Committee Investigating National Defense Migration, *Hearings*, Part 26, "Constitutional Rights of Destitute Citizens of the United States to Move from State to State —the Edwards Case" (Washington U S Government Printing Office, 1942) This case involved the constitutionality of a California statute attempting to limit interstate migration California, during 1935 and 1936, attempted by various devices to reduce the number of drought victims and other migrants entering the state During 1936 the Los Angeles police illegally stopped migrants at the Arizona border and forced them to turn back See *ibid.*, pp 10148–10158

[7] The writer has pointed out elsewhere that "economic opportunity" cannot be separated from the institutional framework of society, and that the "pull" of a serious labor shortage may be offset by the general social status that the available type of labor gives the worker See Wilbert E Moore, "Migration and Social Opportunity," *Rural Sociology*, 7 86–89, March 1942

A number of recent studies have been directed to the discovery of the actual extent of geographical and job mobility in the labor market See, for example, Edward William Noland and E Wight Bakke, *Workers Wanted* (New York Harper & Brothers, 1949), Lloyd G Reynolds and Joseph Shister, *Job Horizons. A Study of Job Satisfaction and Labor Mobility* (New York. Harper & Brothers, 1949)

The evidence from the large amount of labor mobility in the decade of the 1930's is that the "push" of highly unfavorable economic circumstances is more important under some social conditions than the assumed "pull" from the sources of labor demand Without the push of unfavorable circumstances, the economic opportunity must be great enough (or rumored to be great enough) to offset the contrary factors which produce immobility.

In so far as the transactions of employer and employee resemble the conditions of a market governed by supply and demand, it is to the interest of employers to urge the in-migration of potential laborers, and of local workers to send the hopeful immigrant elsewhere Both groups, therefore, may try to interfere with any total or partial operation of the "automatic" mobility of labor supply. This circumstance adds still another factor to the quantitative problem of available labor Even in a period of pronounced increase in the demand for labor (that is, heightened economic opportunity), the combination of pushes and pulls, the erroneous operation of the "grapevine" system of communication, and the barriers to free mobility combine to produce "overages" of labor in some areas and shortages in others In view of the differences in interest already noted, it is not surprising that *employers and laborers do not always agree about the existence of a surplus or deficiency of available labor.*

QUALITATIVE PROBLEMS AND SOCIAL MOBILITY

Even a sufficient number of laborers in the right places to satisfy the demands of industrial employment may still constitute an inadequate labor supply *The workers must be of the appropriate quality* We noted in the preceding chapter, with reference to the division of labor, that the ideal situation in the "culture of capitalism" is for every laborer to do that useful work for which he is best fitted This, it was pointed out, involves a differentiation as well as a simple division of labor The labor force of the nation is not a large mass of identical units (or interchangeable parts), but a group of specialized workers trained in the skills of industry Under the assumptions of traditional theory, the higher the skill the

smaller the supply of workers possessing that skill, consequently, there is a greater relative demand for those workers having greater ability, and the market price of labor (wages) reflects the situation and appropriately rewards the deserving

Social Mobility of the Labor Force Assuming for the moment that the basic potentialities exist in the human resources available for productive work, the over-all problem of getting the right persons for the jobs to be done might be called that of facilitating the social mobility of labor Put in more concrete terms, if an industrial concern has too many sweep-up men and not enough toolmakers, its problem is to make skilled workers out of janitors. Actually, a single industrial concern is likely to fire the extra sweep-up men or transfer them to other unskilled jobs, and look elsewhere for toolmakers If, however, a comparable situation develops for the entire industrial order, the problem cannot be so simply evaded: the fluidity of the labor market must compensate for shortages in skill as well as in numbers

Overcrowding, the unemployment of the unskilled or those whose skills are no longer marketable, and acute shortages of some types of skilled workers may coexist in the same industrial order. Whether one assumes the traditional doctrine as a standard of judgment, or the contemporary necessity of maximum production, such a situation indicates that "something is wrong" From the viewpoint of the employer or manager, something is wrong with the quality of the labor he can secure. It might, of course, almost as reasonably be held that something is wrong with the organizational ability of the manager who has failed to take into account the quality of the workmen available.

In economic theory, a "correct occupational distribution" would presumably be one that showed neither shortages nor underemployment, with those of equal ability in various occupations receiving equal income [8] Thus any barriers to occupational mobility, whether

[8] See Harold F Clark, *Economic Theory and Correct Occupational Distribution* (New York Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, 1931), Omar Pancoast, Jr, *Occupational Mobility* (New York Columbia University Press, 1941)

due to conscious manipulation, ignorance, tradition, or whatever, would force a disruption in the equilibrium of labor and production.

Skills: Supply and Demand. It is essential for an understanding of the general position of labor in our society to examine briefly the sources of difficulty in the qualitative distribution of skills. The more important barriers to free occupational mobility that affect the quality of the labor supply are (1) ignorance, (2) traditional restrictions on freedom of choice, (3) absence of equal opportunity, (4) the prevalence of "trained incapacity," and (5) the rapidity of change in industrial processes (and therefore in skills demanded).

1. We have often noted the fundamental assumption of classical economic theory to the effect that every individual will pursue his economic activities according to the canons of rational self-interest. Even were this a true characterization of human motivation, it would still face a formidable obstacle in lack of knowledge of facts essential for decision In the absence of knowledge of opportunities the worker may either fail to develop his skills, or fail to use those he already possesses No group has a monopoly on ignorance, however, and the industrial manager may fail to utilize potential skills by neglecting to discover them or by not recognizing the usefulness of those which he sees The lack of vocational information on the one hand, and the tendency to be concerned only with machine technology on the other, may produce poor occupational adjustment.

2. But other difficulties arise from an error in the original premise. It is by no means certain that vocations will be chosen "wisely" (in terms of rational self-interest), even if knowledge is freely available The marked tendencies for sons to follow their fathers' occupations frequently reflects a vocational choice (or simply a lack of choice by following the line of least resistance) that takes into account neither opportunities nor abilities. This is one example of what we have called traditional restrictions on freedom of choice. Another type of limitation is to be found in the customary distinction between "honorable" and "common" occupations. This distinction may correspond neither to the amount of ability required, nor even to

the income received. Thus the professions have long represented honorable vocational opportunities for children of the upper classes, regardless of the children's abilities and the degree of overcrowding in some of the professions. In industrial plants an invidious distinction is always drawn between office ("white collar") and shop workers, although the latter may be far more skilled and more highly paid. One of the difficulties that employment service representatives have had in recruiting women factory workers has been the consistent preference for lower paid clerical positions. It is frequently claimed that the schools, particularly the high schools and colleges, are responsible for much of the disdain for the work of the skilled artisan or mechanic. In any event, it is certainly true that the "brain worker," who may not use much of his brain, feels superior to the "manual laborer," who may use his hands (and his brain) rather well. It is also true that this represents a barrier to the development of an equilibrium between skills demanded and skills available.

3. The classical formulation of the equilibrium theory assumed a condition that does not completely hold in fact: an effective equality of opportunity. Partly through the family's contribution to rigidity in the class structure,[9] and partly through the deliberate controls exercised by interest groups, the individual worker may never have the opportunity to develop or use the ability or skill he possesses. Any close approximation to fluidity in occupational distribution—that is, a high degree of correspondence between supply and demand—must rest upon free access to the means of vocational training and advancement. Although the American nation has gone a long way toward the breaking down of hereditary privileges through tax-supported education, it is still not true that the opportunities are equal with regard to precisely those more skilled occupations where shortages are most likely to occur. Advanced technical education in colleges, universities, and technical schools is by no means free. The able son of an unskilled factory worker or tenant farmer has very little chance of becoming a professional engineer or machine

[9] See the discussion of institutional limitations on equality of opportunity in Chap. XXIII.

designer. Stories to the contrary are newsworthy because they are exceptional.

The inequality of opportunity is also fostered by those persons in critical occupations simply to protect their scarcity value. This is in conformity with well-understood self-interest, and could only be prevented by positive rule allowing equal access to specialized skills by all those capable of learning them. Certain professional groups, notably physicians and surgeons, have been outstanding in limiting the number of persons to be trained. Labor organizations of skilled craft workers have long attempted to maintain a monopoly over apprenticeship to prevent overcrowding and possibly unemployment or lower income. Such practices have great advantage for those in a position to monopolize a needed skill, but may operate to the disadvantages of less fortunate workers, employers, or even society as a whole if they serve to restrict production. The societal disadvantage from barriers to occupational mobility are of course most noticeable in a period of wartime production. As is discussed more fully in the concluding section of this chapter, the whole issue of the responsibility for technical training has been in a state of confusion, and under the impetus of national emergency major efforts have been made to remove some of the barriers to social mobility.

4. The very complexity of industrial division of labor has an adverse effect upon free movement from one occupation or rank to another. This point was discussed in the preceding chapter with regard to the "range of horizontal transferability," which was noted as decreasing with higher ranks and skills. We also noted in our analysis of industrial bureaucracy (especially Chapter VI) that an individual who develops a high ability in one sphere of competence develops also a corresponding "trained incapacity" to perform other (perhaps less skilled but different) tasks. This inelasticity of distribution of skills is most pregnant with difficulty when the character of the organization or the industrial order as a whole so changes as to demand either quite different skills, or at least a different proportion in the various types of technical abilities required.

5. As just indicated, the problem of the equality of labor supply

is largely significant precisely because the demand is not constant The rapidity of change in industrial processes requires an ever-different distribution of requisite abilities, as well as the continual addition of new ones. This places a serious strain on the entire training system, for modern training is necessarily long and the problem of retraining is not easy of solution The length of the training period implies that much of the education must take place with no adequate prediction of placement opportunities The changes in industrial processes customarily have been made in view of mechanical and technical developments, and not in view of the quality of the labor supply. In other words, demand has affected supply more than existing supply has affected demand.

Labor Pirating Even without major transformations in technical organization, a change in volume and product necessarily disrupts any previous equilibrium Slight increases in production may, of course, take up existing slacks in employment, but rapid expansion as in wartime may create critical shortages of skilled workers (even though unskilled or uselessly skilled workers remain unemployed). This leads to the phenomenon known as "labor pirating" The so-called labor market in the past has operated almost entirely through an individual laborer seeking employment, or a single industrial unit advertising for workers Some modifications have been introduced, such as union hiring halls, industrial labor pools through cooperation of several plants, and private employment agencies. During the industrial depression of the 1930's there was a growing tendency to consider the task of bringing employers and employees together a legitimate function of government As the drive for increased defense and subsequently war production got under way, the older system of hiring showed increasing inadequacy The obvious and, in the most immediate terms, easiest way to secure needed skilled workmen is to find those who are doing similar work elsewhere On a national scale, however, this simply means robbing Peter to pay Paul unless the workers are shifted from nonessential fields of production

A condition of widespread labor pirating dramatizes the rapidity of industrial change and the qualitative problems of labor supply.

An over-all shortage of workers of a particular degree of skill can only be met by additions to that segment of the labor force through training programs or by a change in industrial processes to allow the employment of less, or at least differently, skilled persons The latter is usually called the *dilution* of job requirements. Such a program, however, seems to require over-all supervision, first taking the form of voluntary or compulsory elimination of pirating It should be noted that an elimination of pirating reduces the worker's horizontal mobility (job shifting without significant change of occupation) in order to facilitate the upward movement of the less skilled[10] This, of course, constitutes what might be called an intrusion upon the traditional liberties of workers (and employers), but might be justified on grounds of equalizing the freedom of mobility of the labor force in general.

In summary of the question of the quality of the labor force, we may say that, although the qualifications of laborers and the qualities demanded by industry are not completely independent variables, since training is normally undertaken in view of predicted occupational opportunity, neither are the two automatically consistent. It would certainly be improper to insist that the lack of consistency is the "fault" of the labor force, or even to maintain that regardless of responsibility the situation could only be rectified by a change in the quality of the supply. Industrial processes may be modified in view of human as well as mechanical requirements Yet it may be maintained, in view of the size of the American labor force, its general potentialities, and the possibility of turning potentialities into useful skills, that the single most strategic approach to the problem of labor quality lies in the training system of the society We are now in a position to examine that possibility in the concluding section of the chapter.

[10] The proponents of the uncontrolled labor market might hold that the competitive bidding for skilled labor would so increase wages that other workers would be "automatically" attracted to those occupations and thus eliminate the shortage as well as reduce the excessive wage payments Aside from the limitations upon free mobility already noted, however, the time required for the new equilibrium to be established may be overlong, as under the necessity of immediate conversion to war production.

TECHNICAL EDUCATION FOR INDUSTRIAL PRODUCTION

Words like manpower, human resources, or labor force fail to convey the proper impression of the workers who operate American industry, whether in peace or in war The expressions are too colorless, they connote only numbers and physical strength An elaborate industrial system does not use manpower in the sense that it uses the horsepower of engines and machines. Rather it uses the hand-and-brain power of intelligent and highly trained persons

It is true that a great many American workmen are classified in industry and by employment services as "unskilled" To many persons that term evokes a picture of a hulking brute of feeble intelligence ploddingly digging a ditch, or that of a frail and palsied workman casually tending an almost automatic machine There are such individuals, and there are such jobs in American production. But there are not many of either The term *unskilled* should always be preceded by the qualifier *relatively* So qualified, the category of the unskilled would be understood to include those whose abilities and training are somewhere just beyond the minimum for industrial employability, *whatever that minimum may be* We noted earlier in the present chapter that what we called the "threshold of employability" is subject to short-time changes through increases or decreases in the demand for laborers We should also recognize that there is some tendency toward a long-term upward trend through wider education on the one hand and increasing industrial complexity on the other. In anything approximating the absolute sense of the word, *there obviously are no unskilled workmen in American industry* We ask for and receive a quality of work from the contemporary unskilled laborer that might well have been classified as at least "semiskilled" a generation or two ago This means that the problem of training for industrial employment is always present in some degree, and with reference to all industrial laborers That the difficulty is more acute with the more highly skilled should not be allowed to obscure its generality.

Who Should Do the Training? Except for the automatic increase in skill and possibly wider experience that come from continued in-

dustrial employment, industry typically has little if any training program as a means of creating its own skilled labor force. The industrial manager or foreman attempts to select needed workmen from among previous applicants for employment, applications in answer to an advertisement of an opening, or from men in the "bull pen" outside the factory gates. Depending partly upon the size of the plant and partly upon its degree of "rationalization," the applicant's ability may be judged on the basis of his appearance and manner, or his employment and job allocation may depend upon his showing in a more or less elaborate battery of interviews and aptitude tests

In-service training is likely to be expensive for a small concern, and the supply of most types of skilled workers has been fairly adequate during periods of normal production. Some larger industrial units have had for some time their own training schools for certain classes of employees These have ranged from a type of orientation class for all incoming employees to brief courses on special industrial processes for the technical staff More recently some companies have given up the attempt to select foremen from outside the plant or to rely on haphazard promotion from the ranks, and have established foremanship and supervisory training programs. For the higher ranks of skilled workmen, and various types of technical specialists, industries have relied almost exclusively on the general labor market or on direct recruiting from colleges and technical schools. Some of the largest companies recruit persons directly from higher educational institutions not for a definite position but for a training course, which serves both a sorting and a specific training function A single company may have as many as ten or fifteen such programs, but virtually all of them will be designed to supply various categories of *managerial* personnel, and all rely on previous advanced training.

It seems clear that an industrial plant could not rely on its own training resources completely for turning out persons with the skills needed in the operation of the organization The instructional personnel would be a sizeable nonproductive group on the payroll. Moreover, the industry could not hope to give the necessary sci-

entific and technical background for training specialists It is widely conceded that at least for the higher groups of skills the individual or the community through its educational system has the responsibility for training At what point the community's responsibility leaves off and that of industry's begins, however, is not easily determined, as we shall discuss presently

Craft unions of skilled laborers have long attempted to maintain a monopoly on apprenticeship and training in order to keep an effective position for bargaining with employers This means that the organized craftsmen are willing to accept responsibility for technical training, but claim the right to extend or limit the training in accordance with the state of the labor market. In this respect the craft unions maintain a position quite similar to that of the medieval guilds. Yet such a close monopoly may defeat itself if the training is so restricted that substitute methods or materials are introduced, or if the government breaks the "bottleneck" by instituting its own training program for industry.

To an increasing extent the tax-supported schools have taken over much of the task of fitting out workers with the skills demanded by business and industry Not only are the schools offering specific vocational instruction at educational levels lower than the colleges and technical institutes, but there is an increasing emphasis upon information about vocational opportunities with a view to increasing intelligent occupational choice[11] Smaller school systems, however, face a more acute problem than even the small industry, for the school is called upon not only to give a general background for further advanced training for those having the ability, but also to provide specific vocational training suitable to the level of ability of students No school system, however large, could hope to offer competent instruction in each of the immense variety of industrial skills. The basis for limitation is naturally determined in part by local and regional occupational demands, but is likely also to reflect irrevelant considerations such as the preferences of teachers and school board officials, ideas of honorable employment, and so on

[11] See Alfred Kahler and Ernest Hamburger, *Education for an Industrial Age* (Ithaca Cornell University Press, 1948)

In some vocational fields the requirements vary so greatly from one establishment to another that specific training may range from the useless to the positively bad, since so much has to be "unlearned" before the student who takes industrial employment can learn the new rules demanded by his employers This circumstance seems to be more prevalent in financial and general office work than in shop work, but may be true in the latter The conclusion seems clear that in general the responsibility of the schools will be limited to giving general training and background knowledge, and that the specific job will continue to be learned "on the job"

Under a wartime economy the shortage of skills became more acute than normal methods of instruction could handle, and the Federal government, in cooperation with schools, colleges, and industrial organizations, established training programs of immense proportions[12] The necessity of governmental training programs illustrates the contemporary difficulty in providing a skilled labor supply for industrial production

Problems of Training in a Complex Society The uncertainty concerning the responsibility for keeping up a labor supply of the quality needed for current industrial demands stems from a more basic uncertainty the relation of general background and special training.

Modern industry demands specialists, not amateurs, dabblers, or dilettantes The individual or those charged with formal education may therefore be tempted to start special training rather early in the educational career "Practical" persons in the community constantly press for more useful education and fewer "frills" The temptation is enhanced by the fact that early specialization may allow either an earlier attainment of narrow skills or possible greater and greater specialization

Even assuming that the individual child's adult occupational career can be precisely predicted early in the educational process, such an emphasis on "practical" teaching is likely to defeat its own purposes That is, it runs great risk of being the most impractical

[12] See, for example, United States War Manpower Commission, Bureau of Training, Training Within Industry Service, *The Training Within Industry Report, 1940–1945* (Washington U. S. Government Printing Office, 1945)

type of training in the long run. One of the major risks is that employment opportunities in a very narrow field, or even the occupation as a whole, may cease to exist before or soon after the completion of the training. A very narrowly trained person must then be entirely retrained because he has no general background to fall back on It should take very little time to train a physician for the single skill of diagnosing smallpox and prescribing treatment. Such a physician would not only be completely incompetent if asked to treat scarlet fever, but might find that through universal vaccination he was among the "technologically unemployed" Similarly, a narrowly skilled workman in a factory may find that his "short-order" or "lunch-counter" training has fitted him for only one job He is then at the mercy of a rapidly changing and expanding technology

It may be stated as a general principle that the higher the position in business or industry, the more general must be the background of the individual before he may safely specialize This applies not only to executives and administrators, but to professionals and technical specialists also It is not so much greater bookkeeping ability that distinguishes the chief accountant from his assistants as a broader background and experience that allows him to solve problems and make decisions not covered in the ordinary course of specialized training The difference between the engineer who has completed a four-year college course and one who has passed a six-weeks correspondence course may only appear in greater ability of the former to overcome unusual difficulties or spot the source of trouble. The engineer with the broader training has the additional advantage of not having to backtrack so far before he can start in on a new specialty if that becomes necessary

It is undoubtedly true that the type of education known as *general* or *liberal* has turned loose upon a hard-boiled business and industrial world a rather large number of graduates with no *special* abilities to offer except an exaggerated idea of their own importance But it is also true that a complete swing to the highly practical type of instruction would turn loose upon an unsuspecting society a group of persons totally incompetent to face rapid changes in occupational requirements.

Since we do not fix adult occupations at birth, but wait for the socially valuable attributes and skills to appear, the question becomes one of drawing a line somewhere—the point at which general training is no longer profitable and specialization may begin. This point will presumably differ with each individual, or, for the sake of convenience, with different groups of individuals When our training system, under whatever sponsorship, has been perfected to the degree that the line can be and is drawn at the appropriate place in every instance, our labor force will have achieved something like maximum employability, at least in the qualitative sense.

REFERENCES

AMIDON, BEULAH, "Manpower for Industry," *Survey Graphic*, 29 602–605, December 1940.

BIDDLE, ERLE H , *Manpower, a Summary of British Experience*, Public Administration Service, Publication No 84 (Chicago, 1942)

CARSON, DANIEL, "Accessions to and Separations from the Labor Force Concepts for Analyzing Certain Types of Labor Problems," *Journal of Political Economy*, 49 882–894, December 1941

CLAGUE, EWAN, "The Problem of Unemployment and the Changing Structure of Industry," *Journal of the American Statistical Association*, 30 209–214, March 1935

CLARK, HAROLD F , *Economic Theory and Correct Occupational Distribution* (New York Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, 1931), especially Chap I, "Summary of Theses," and Chap IX, "Objections and Obstacles to Correct Occupational Distribution "

COOKE, MORRIS LLEWELLYN, and PHILIP MURRAY, *Organized Labor and Production* (New York Harper & Brothers, 1940), Chap 18, "Adult Education for Management and Men."

CORSON, JOHN J , "The Labor Force Its Recruitment and Training," *Law and Contemporary Problems*, 9 (3) 418–429, Summer 1942

DAVIDSON, PERCY E , and H DEWEY ANDERSON, *Occupational Mobility in an American Community* (Stanford University, Calif Stanford University Press, 1937)

DURAND, JOHN D , *The Labor Force in the United States, 1890–1960* (New York Social Science Research Council, 1948)

HAGOOD, MARGARET JARMAN, and LOUIS J DUCOFF, "Some Measurement and Research Problems Arising from Sociological Aspects of a Full

Employment Policy," *American Sociological Review*, 11 560–567, October 1946

HAUSER, PHILIP M., "The Labor Force and Gainful Workers—Concept, Measurement, and Comparability," *American Journal of Sociology*, 54 338–355, January 1949

KAHLER, ALFRED, and ERNEST HAMBURGER, *Education for an Industrial Age* (Ithaca Cornell University Press, 1948)

KERR, CLARK, "Labor Markets Their Character and Consequences," in Milton Derber, ed., *Proceedings of the Second Annual Meeting, Industrial Relations Research Association*, New York City, December 29–30, 1949 (Champaign, Ill 1950), pp 69–84

MYERS, HOWARD B., "Dynamics of Labor Supply," *Journal of the American Statistical Association*, 36 175–184, June 1941.

NOLAND, EDWARD WILLIAM, and E. WIGHT BAKKE, *Workers Wanted* (New York Harper & Brothers, 1949)

PANCOAST, OMAR, JR., *Occupational Mobility* (New York Columbia University Press, 1941).

(Political and Economic Planning), *The Entrance to Industry* (London PEP, 1935), Chap I, "Introduction", Chap II, "The School-Leaving Age", Chap III, "Continued Education", Chap IV, "The Employment Situation."

REYNOLDS, LLOYD G., and JOSEPH SHISTER, *Job Horizons A Study of Job Satisfaction and Labor Mobility* (New York Harper & Brothers, 1949)

SIMONS, A M., *Personnel Relations in Industry* (New York The Ronald Press Company, 1921), Chap IV, "Sources of Labor Supply," and Chap IX, "Training"

SOROKIN, PITIRIM, *Social Mobility* (New York Harper & Brothers, 1927), Chap. VIII, "The Channels of Vertical Circulation," and Chap. IX, "Mechanism of Social Testing, Selection, and Distribution of Individuals with Different Social Strata"

SPENGLER, JOSEPH J., "Some Effects of Changes in the Age Composition of the Labor Force," *The Southern Economic Journal*, 8 (11) 157–175, October 1941.

STEAD, WILLIAM H., CARROLL L SHARTLE, and OTHERS, *Occupational Counseling Techniques* (New York American Book Company, 1940)

UNITED STATES WAR MANPOWER COMMISSION, Bureau of Training, Training Within Industry Service, *The Training Within Industry Report, 1940–1945* (Washington U S Government Printing Office, 1945)

VREELAND, F M., and E J FITZGERALD, *Farm-City Migration and In-*

dustry's Labor Reserve, Works Project Administration, National Research Project, Report No L-7 (Philadelphia, 1939). See entire series on Re-employment Opportunities and Recent Changes in Industrial Techniques, David Weintraub, Director

WEBB, JOHN N, and ALBERT WESTFIELD, "Industrial Aspects of Labor Mobility," *Monthly Labor Review*, 48 789-802, April 1939

WOOFTER, T. J, JR., "The Future Working Population," *Rural Sociology*, 4. 275-282, September 1939

WOYTINSKY, W. S, *Labor in the United States* (Washington Committee on Social Security, Social Science Research Council, 1938), Chap. II, "Workers by Industry and Class of Work," and Chap. VII, "Economic Shifts of Workers"

———, *The Labor Supply in the United States*, rev. ed (Washington Committee on Social Security, Social Science Research Council, 1937).

CHAPTER XX

WASTES OF LABOR RESOURCES

To SPEAK of "wastes of labor resources" is to tread on dangerous ground. Is the nonemployment of women and children a waste of manpower? Is the shortening of the work week and the extension of leisure a waste of valuable time? The answers to such questions are scarcely judgments of fact, but rather of sentiment, *unless a common value or goal be assumed.* Waste is an epithet that is applied to departures from "ideal" conditions of productivity or exploitation. If the ideal is not shared, or is shared subject to serious reservations, the epithet will be judged to be misapplied

The term *waste* when applied to labor, then, implies a point of view that is rather common among older captains of industry that labor is a commodity, or an expendable and exploitable resource. That point of view is momentarily adopted here simply as a mode of presentation of *one* aspect of the position of labor in an industrial society The purpose of the present chapter is to formulate the conditions for the "maximum utilization of manpower," *as if* such a goal were in fact the sole significant value for consideration, and then to analyze the social issues involved in various types of departures from the "ideal" situation The goal itself varies in its importance in relation to other societal goals from time to time (for example, in periods of war and of peace), and from one interest group to another at any given time (for example, in the attitudes of management and labor) Since a judgment of "waste" is a value judgment and not an assertion of fact unless the value is assumed, it may be well to bear in mind that for purposes of exposition we shall present the ideal and then indicate as nearly as possible why

the departures from the ideal may or may not be considered wasteful in view of other considerations previously neglected.

MAXIMUM UTILIZATION OF MANPOWER

Under circumstances of heightened industrial production, particularly when coupled with large withdrawals of workers into armed forces, one hears a great deal about maximum utilization of manpower. In the preceding chapter the sources of supply were indicated, and we noted that the amount of labor available is at least partly related to the amount needed. We are now in a position to formulate what would be the maximum amount and quality of labor if there were no limits to exploitation, that is, if labor were considered simply as a utilizable resource.

Factors in Labor Utilization. We have previously observed that the number of workers is not the sole significant factor in labor supply: the workers must be at the right place and of the appropriate quality. In the dynamic utilization of labor supply, there are further important variables, namely, time and rate of work. In the concrete industrial situation, of course, there is a further highly relevant factor in productivity of labor: the availability of tools and the extent of mechanization. Under given conditions of industrial organization, mechanization, and availability of tools, therefore, *labor resources are used to the maximum when each of the following is at a maximum: the number of workers in the employed labor force; the correlation between usable skills and skills available, time spent at productive work, and speed or rate of work.*

The relevance of all these factors is fairly obvious, although the problem is rarely if ever formulated in precisely these terms. In the completely dynamic sense it might even be maintained that the factor of industrial organization and mechanization is an index of the extent of past utilization of skills. Thus labor resources are wasted if technological and organizational skills are not developed or used. It is certainly clear that an increase in mechanization or efficiency of organization can increase productivity without increasing the value or weight of any of the other factors.

The factor of "skill" seems to require a little further comment. To

a large extent this is obviously a qualitative factor, although any given job may be done with more or less skill The maximum utilization of skill of the entire labor force requires that the duties of every useful job be done with the greatest possible skill This in turn requires that an appropriately skilled person be found for every job, in other words, "correct" occupational distribution. For any given or concretely possible condition of the productive organization of society, therefore, the available and *usable* skills will be fully exploited when all jobs are filled by the most competent persons[1] To adopt a popular figure of speech, skills are maximally used when there are no square pegs in round holes (and no holes left without pegs)

The "time spent at productive work" has reference not only to the number of hours worked in any span of time (as the length of the work day or work week or the constancy of employment throughout the year), but also to the total duration of productive work in the worker's life span The two may be reduced to the same thing by saying that the time factor consists in the total amount of time that workers devote to their employment throughout their lives. In practice, it is convenient to separate the short-time from the long-time utilization of the worker's time, since the problems and "wastes" in the two cases are of a different order

The number of workers and rate of work seem self-explanatory, although subsequent discussion will reveal the necessary conditions for the attainment of these maxima, and the limitations that in fact prevail.

Relations between the Factors. The factors of number N, skill S, time T, and rate R are independent but interdependent variables That is, a change in the value of one will not automatically pro-

[1] It is of course concretely possible either that the potential skills have not been developed (trained) and therefore that some jobs must be filled by persons of less ability than ideally possible, or that the skills available will be higher than the existing productive system can absorb, so that some persons are working at jobs considerably below their ability From the strictly limited point of view here presented, either situation would represent a waste—the former through inadequate utilization of potential ability, the latter through the time and effort given to needless training In the latter case, however, the "fault" may lie with the organization of production

duce a determinate change in any other,[2] yet if the four are made into a functional equation equalling productivity P, as

$$P = N \times S \times T \times R$$

a change in the value of one *will* produce a determinate change in any other, under conditions of constancy in the values of the other factors Thus, a given level of production may be maintained even if the number of workers is halved, provided one of the other factors is doubled

Since the factor of skill is less subject to easy quantification, we may consider it momentarily as a qualitative condition (along with availability of tools, extent of mechanization, and the adequacy of organization, and direct our attention to the relations of the other three variables in labor utilization. Our equation then becomes

$$P = N \times T \times R$$

or algebraically,

$$P = NTR$$

In theory, this is a perfect functional relationship so that variations in the value of any variable must be reflected by a corresponding (direct or inverse) change in the value of one or more of the others If we express the amount of the change in value by the symbol n, the following relationships hold by definition

$$P = \frac{N}{n}(nR)T = (nN)R\frac{T}{n} \text{ etc}$$

The productivity of the labor force may also be changed by varying the value of the factors in labor utilization Thus,

$$nP = n(NRT)$$

or

$$= (nN)RT = N(nR)T = NR(nT)$$

Put in linguistic terms, the theoretical relationship of these factors is such that productivity may be expanded without limit provided

[2] It should be noted that the factors of time, skill, and rate are here being used as amounts *per worker* Otherwise, it is apparent that these would all be dependent upon number, since a reduction of workers totally removes those persons' working time, skill, and speed from the field of utilization

that a corresponding change can be introduced in the number of workers, the length of employment, or the rate of work. Any one of these factors may be subject to control, so that demands for increased productivity may be answered by selection of the number of workers or hours of labor as the "strategic factor" and changing that factor in the desired direction. In practice, there are limitations in any productive system on the increase of any one element or combination of them Some of these limitations are intrinsic to the nature of the variables, and are thus in addition to the restrictions arising from the failure of our assumption of "ideal" conditions to hold in fact.

Limits to Maximization We have just noted that at least three of the important variables in the utilization of labor stand in a mathematically functional relationship to one another when linked by an equation to productivity But this theoretical relationship will hold only under certain conditions (which we have so far largely neglected), and subject to certain limitations Thus, the value of N, or the *number* of workers, has an upper limit determined by the size of the population Or, more significantly, the number is limited by the size of that segment of the population which has *any* capacity or utilizable skill under a given system of production This upper limit of numbers is rarely if ever reached by any modern society because of other restrictions on labor utilization

The factor of *skill* is also one that in actual situations is not capable of limitless expansion The expansion of skills is limited by the character of the human organism, and also depends upon effective organization of training. Although the adaptability of the human individual is great, and the period of training represents a considerable portion of the total life span, the "weaknesses of the flesh" (including those of the mind) seem to provide barriers to further and further demands upon human ingenuity. However, this limitation may be partially circumvented by cooperative action—that is, by organization. An additional problem with reference to skills is that of their distribution in the working population In so far as differences in usable skills represent differences in innate ability, their proportional distribution in the population is likely to

approximate a "normal curve of distribution." That is, there seem to be relatively few individuals with markedly superior native capacity, and few markedly inferior. There is no evidence that the inherent ability of modern man is appreciably greater than that of his ancestors. If more skills are demanded, the difference would seem to depend on longer and more effective training, plus the advantages of division of labor. This is not to say that any modern society utilizes available skills to the maximum degree, but only that there is no reason to believe that the abilities of human beings are limitless.

Time is a notoriously scarce commodity, and few persons would argue against the point that the amount of it available for productive labor is limited. Without regard to restrictions on the working day, week, or career which have been made in view of other values, the goal of maximum productivity limits the length of the working period. If we simply take the view of efficient utilization (or exploitation) of labor resources, we must still recognize the limits of human endurance, both in the short run and in the long run. Just what those limits are will vary, of course, with the individual and the job. The longest working day is not necessarily the most productive one. The evidence concerning the duration of employability (under given industrial conditions) is extremely scanty, but there can be little doubt that a person can be literally "worked to death," and thus possibly his total time at work may be less than if he worked shorter hours or under more favorable conditions over a longer period of time. Since, unlike some other resources, the labor force tends to replenish itself, a deliberate or unconscious policy of exploitation might neglect the long-term employability of labor for greater short-term production. In view of the dependence of population reproduction upon a variety of social circumstances, however, it is doubtful if such a policy or practice could long operate in any area.[3]

The final factor we have considered, the *speed* or *rate* of work,

[3] Under the special circumstance of wartime demands, it is possible to view the labor force, like the armed forces, as "expendable." What this means is that the sacrifice of manpower is recognized as necessary for the accomplishment of war aims.

is again not capable of infinite increase. Although closely dependent upon organization and the extent of mechanization, the speed of laborers is also subject to independent variation. This factor is sometimes a "strategic" one in the sense that it may be pushed toward its maximum value by positive or negative inducement (reward or punishment), yet the limits set by the human organism are real, and the dependence upon training and differences in individual capacity are just as certain as with the more general factor of skill.

In addition to the absolute limits to the increase of numbers, skills, time, or rate, there are various practical limits determined by the circumstances pertaining to particular cases. Thus we have taken a general or over-all view of utilization of labor resources. A single industrial unit may attempt to increase production by considering any one of these factors as the strategic factor and pushing that variable toward its maximum. But how far any factor can be pushed will depend upon the state of the organization, the character of the local or regional labor market, and so on. Thus the size of the plant will place at least temporary limitations upon the expansion of the working force. The maximum utilization of skills will be largely conditional upon the nature of the activity involved, whether time or rate of work is the strategic factor has to be determined in individual cases. We might, therefore, distinguish maximum utilization of labor resources and *optimum* utilization, meaning by the latter the "most satisfactory" relationship between the variables under conditions not readily subject to control.

In our treatment of the use of labor resources we have consistently overlooked the obvious and important fact that labor is a social as well as a "natural" affair; our discussion has assumed a state of affairs that does not exist and probably could not exist in any complete way. Among the conditions assumed has been that of the complete irrelevance of considerations other than exploitation. The control necessary for such a policy would either have to be that of slavery, or that of such a complete agreement upon the goal of production taking precedence over all other interests that the value system of the society would support the view that the highest or

possibly sole virtue was to be found in productive labor. Neither condition prevails or could prevail in the modern world

It will be recalled that we have adopted this highly unrealistic position because "waste" is an evaluative term and requires a standard of reference By this view, *a waste of labor resources is represented by any departure, however small, from utilization of the maximum number of workers at their highest usable skills, for the longest possible time and at their maximum rate of work.* We can now review the wastes occasioned by failure to achieve each of these four conditions, and note why those wastes exist.

WASTES OF NUMBERS

By general consent of all parties concerned, unemployment, or underemployment, represents an outstanding problem of the industrial history in the Western world. Our immediate concern is with this problem as a category of waste of labor resources It may be repeated that the nonemployment of any person who has any ability, however small, that is productively usable represents a departure from maximum utilization of labor resources. But in actual social and industrial situations we must recognize different departures from that standard and different social values which would deny that all nonemployment represents "waste." Indeed, the ordinary discussions of manpower wastes do not so much as consider some of the restrictions on full employment.

Institutional Restrictions on Full Employment One of the major sources of nonemployment of potential workers is to be found in the basic institutional structure of the society. In our discussion of the maximum utilization of labor resources we were speaking *as if* productivity were the sole aim of the society, to which all other values were secondary. Although in highly critical situations a country may temporarily approximate this state of affairs, in "normal" times the limits of employability are set more narrowly. Two great categories of our population have been employed in numbers far below their potential strength in the labor force Those two groups are the women and children. It may be instructive to inquire briefly into this tremendous "waste" of manpower

American popular speech is full of such expressions of sentiment as "A woman's place is in the home." It is precisely the conflict between the socially approved status of women as housewives and mothers of children on the one hand, and more directly productive workers on the other that accounts for the infrequency of their industrial employment. So strong did this restriction become in the first three decades of the present century that many persons were mistakenly led to believe that the traditional role of the American woman had been that of the nonproductive and rather expensive luxury whose first business in life was to catch (and hold) a "good provider."

This mistaken impression has had a superficial validity because of the unquestionable fact that the occupational status of the American woman has been closely associated with her role as wife and mother. But it overlooks the equally unquestionable fact that production was formerly closely associated with the home and family, and that when production moved out of the home, women followed for only a brief period. With the growth of the industrial cities, the diminishing size of families, reduced size of living quarters for the housewife to take care of, aided and abetted by labor-saving conveniences, *women became America's outstanding leisure class.* The values attached to maintenance of some semblance of the traditional patterns of home and family outweighed the goal of continued productivity after the two could no longer be achieved together.[4]

The institutional restrictions on the employment of women because of the incompatibility of familial duties and industrial work has until very recently been buttressed by the greater difficulty of

[4] It is interesting to note that the possessive treatment of women as luxuries was bitingly pointed out by Veblen in 1899. See Thorstein Veblen, *The Theory of the Leisure Class* (New York: B. W. Huebsch, 1918), first published in 1899. Since the nonemployment of women is dependent upon the ability of bread-winners to feed those who do not work, it has been true that the ideal and practice has spread from upper economic groups downward.

The special institutional character of the nonemployment of women is indicated not only by the historical change in American society, but by the widespread employment of women both in primitive and peasant societies on the one hand and in a large industrial society (the Soviet Union) on the other.

workers finding jobs than of employers finding workers. Thus, after the first years of factory development, during which women and children comprised the bulk of factory workers, productivity per worker increased so enormously that there were ample adult male workers for the available jobs. Women, indeed, became technologically unemployed, but few people seemed to notice, for the women seemed simply to return to their traditional roles as housewives. But this was only a seeming return; actually, they had come to occupy a new social status, for now they were being supported.

It is true that during the first decades of the twentieth century, but especially after the first World War, women played a constantly increasing part in industrial production, as well as in business and the professions. But this increasing utilization of "womanpower" still proceeded slowly, and in the face of considerable opposition. Men, both employed and unemployed, resented the competition of the women, especially of married women. Many organizations, private and public, refused to hire married women if their husbands were employed. But the opposition did not stem simply from the conviction that the jobs ought to be given to those who most needed them. Performance, rather than need, has been the basis of selection in our competitive occupational order. But the employment of women meant the sacrifice, at least to some extent, of the major socially approved female "career": marriage and motherhood.

The institutional restrictions upon inclusion of women in the labor force have not operated as a complete and final barrier to use of their productive labor, but as a source of strong resistance which could only be overcome in "exceptional" cases. The barrier has been broken for some time in cases of relative poverty where the labor of all capable members of the household has been necessary for survival at the level which the family considers appropriate. In other cases, the desire for a "career" has prompted an ever-increasing number of women to overcome the extra obstacles thrown in their way. In times of national emergency, shortages of manpower provide the double incentive of lucrative jobs and patriotic

service for large numbers of women to push back the customary restrictions.

According to the census of 1940, there were 50,549,176 women fourteen years of age and older in the American population. Of these 12,845,259 were part of the labor force (fully or partly employed or seeking work). This was only 25.4 per cent of the total number potentially available. According to a Bureau of the Census estimate relating to July, 1949, there were at that time some 55,748,000 women 14 years of age and older in the United States, of whom 18,548,000 (33.3 per cent) were in the labor force.[5] Thus a favorable labor market accentuated a general trend toward increased employment of women.

We may repeat that the epithet "waste" when attached to the general nonemployment of women may be justified only under the assumption of exclusive preoccupation with labor utilization. There can be no doubt that the universal employment of adult females in full-time commercial and industrial jobs would have a major, and from certain points of view disastrous, effect upon the character of the American family. With an entirely different institutional system, there would remain a great amount of "domestic" work now largely done by housewives. Even under the narrow view of "wastes" here adopted, not all of the time of women who are not "gainfully occupied" is wasted. On the other hand, the character of the American family has already undergone considerable transformations in urban and other industrialized areas, and there seems to be no reason to expect this process to stop. On the contrary, it is apparent that the second World War has had an even more pronounced effect upon the size and composition of the labor force than did the previous world conflict. Yet the balance of social institutions is such that the addition of a large proportion of adult women to the work force must either come slowly or temporarily, or it will come disruptively.

The other major "institutionalized waste" of labor resources is that represented in the nonemployment of children. It is not true, of

[5] United States Department of Commerce, Bureau of the Census, *Current Population Reports. Population Estimates,* Series p-25, No. 39, May 5, 1950.

course, that barring children from productive labor constitutes a total waste even from the limited viewpoint here adopted The early full-time employment of children would prevent their training for subsequent employment with greater productivity. But to the extent that abandonment of child labor is justified on other grounds—such as the protection of character and morals, or the "right" of children to be reasonably carefree—the restriction may be called wasteful

The utilization of the labor of children, like that of women, is very old in human society, but attended by new problems in an industrialized society. Aside from the question of training, the chief objection seems to be to their employment by an outsider, rather than as part of a family group. Again, therefore, it is the traditional structure and function of the family that is usually at stake when the attempt is made to add children to the active labor force To a certain extent, also, the formal but nonvocational education of the young provides a restriction on concentrated training for early industrial productivity. As we noted in the last section of the preceding chapter, there is some reasonable doubt about the length and type of training that society ought to provide for the young Part of this doubt is due to the uncertainty of the child's present and future position in society The arguments raised against child labor indicate pretty clearly that more is at issue than simply the future value of the resources if they are further trained. Even with wartime shortages of manpower the minimum ages of employability were pushed down only a little in some areas, not at all in others. The crisis was not great enough to force major institutional modification in this particular sphere.

Probably as a result of increasing restrictions on the employment of children, the census figures for 1940 do not reveal the number of employed children under fourteen years of age. In 1930 only 235,328 (2 4 per cent) of the 9,622,492 children aged ten to thirteen were "gainfully occupied," and only 157,660 (6 6 per cent) of the 2,382,385 aged fourteen. Neither the statistics nor the restrictions on employment apply to agricultural employment, or children working for their parents, so that there remains a considerable amount of at least seasonal or part-time child labor. The trend, even under war-

time conditions, has been toward reduction rather than increase of this amount[6]

Thus, with respect to at least two major groups in the population, the women and children, the organizational framework and values of our society have created "institutionalized wastes" of labor resources We might add still a third group those who are voluntarily unemployed, including not only those who, if not lazy, at least "do not feel like working," but also and more importantly those whose income is independent of gainful employment Although the right to leisure is likely to be denied to those who have "no visible means of support," are able to work, and yet are unwilling to do so, it is generally upheld as a right of those whose income from investments makes work unnecessary It is impossible to separate the two groups precisely from the statistical information available, and equally impossible to determine how many of the independently wealthy may be included in the labor force on the basis of essentially fictitious jobs It may be noted that of the persons over fourteen years of age recorded in 1940 as "not in the labor force," 1,275,400 were not engaged in housework in their own homes, were not in school, in institutions, or listed as "unable to work," and must therefore be presumed to be "persons of leisure"[7]

Social institutions are of course subject to modification and realignment, and this has taken place to a considerable extent in the employment of housewives and the reduction of the "leisure class" Nevertheless, the institutionalized wastes are certainly the most difficult to overcome

Quasi-Institutional Restrictions. There are other restrictions on full employment of available labor that are less official and much less

[6] See especially the summary prepared by the Industrial Division, Children's Bureau, "Trend of Child Labor 1937 to 1939," United States Department of Labor, Bureau of Labor Statistics, Serial No R 1058 It is interesting to note that the Bureau of the Census, in its releases on "labor reserves," makes no suggestion of any potential labor supply under fourteen years of age See, for example, "Population Potential Labor Supply in the United States," Sixteenth Census, Series P-9, No 10, "Population Labor Reserves in the United States by Household Relationship and Occupation," Sixteenth Census, Series P-14 No 5

[7] See Sixteenth Census, Series P-14, No 5

uniformly accepted as morally or ethically proper, yet bear some rather close similarities to truly institutional limitations Outstanding examples of such semiofficial bars to employment are those excluding, or partially excluding, *noncitizens, convicts* and *ex-convicts,* and members of America's chief *racial caste,* the American Negro.

The white inhabitants of the Western hemisphere are either immigrants or the descendants of immigrants. The New World in general, and the United States in particular, have long been hailed as the land of opportunity for the oppressed peoples of the world Yet in recent years immigration restrictions have been imposed, and the stream of migrants is reduced to a trickle The "foreigner," always an object of some suspicion in any society, was increasingly made to feel the pressure for assimilation into the American social scheme Yet it remained for the period of defense and subsequently war production, much of it on vital ordnance materials, to bring to a head the distinction between the citizen and alien Even "resident aliens," that is, immigrants who have lived in the United States for twenty, thirty, or more years but had not considered it worth their while to become naturalized citizens, found many jobs, perhaps their own jobs, closed to them It was difficult to tell to what extent this was a governmentally sponsored policy. Since it applied not only to the subjects of enemy and doubtfully neutral countries, but to friendly aliens as well, the policy seemed to be based on grounds other than those of danger to the national welfare

The number of noncitizens in the population in the early 1940's was not large (approximately 3,850,000 over fifteen years of age by the 1940 census), but with the increasing shift of manpower to the armed forces and essential war production, many aliens either became unemployed or were forced to accept employment far below their full skill Thus, the determination of employment policies on technically irrelevant grounds (however immediately practical they may have been) constituted a considerable waste of manpower By the 1950's "loyalty," of citizen and alien alike, had become an increasingly important factor in many types of employment

A comparable situation in many respects is the nonemployment or

underemployment of jail and prison populations, and the prevalence of discrimination against ex-convicts For the most part jails have few if any facilities for using the labor of inmates except in custodial duties, and even the largest and most modern prisons face many problems in attempting to establish labor systems Among these problems may be mentioned the following the opposition of manufacturers and laborers to direct or indirect competition from prison labor, the difficulty of combining close supervision to prevent escape with many types of work, the fact that prison populations tend to be a highly "select" group, and the basis of selection has nothing to do with the personnel requirements of the prison's industries, and the problem of finding compromises between the labor requirements of prison industries and the fulfillment of the prison's avowed function of training the inmate for successful post-prison adjustment The last problem calls attention to the fact that the partially understandable reluctance of employers to employ ex-convicts results in an extension of the waste of labor resources, frequently for the remainder of the potentially productive life of the man with a "record."

Perhaps a more outstanding, and certainly more persistent, waste is that represented in the nonemployment of Negroes, or employing them at jobs considerably beneath their capacity Racial discrimination in hiring and firing arises from what may be called a "caste division of labor " That is, a segment of the population, in this case the Negro, is marked off as inferior by definition and fit only for menial tasks It is not necessary here to trace the fairly well-known history of Negro-white labor relations in the United States, but a few outstanding points should be noted.[8] American Negroes were

[8] The best single treatment of the role of the Negro worker in American industry is that of Sterling D Spero and Abram L Harris, *The Black Worker* (New York Columbia University Press, 1931) These authors give available materials on proportional occupational distribution of Negroes and whites, and indicate the disproportionate unemployment of Negroes For more recent discussions of the role of the Negro in industry as affected by organized labor, see Horace R Cayton and George S Mitchell, *Black Workers and the New Unions* (Chapel Hill University of North Carolina Press, 1939); Herbert R Northrup, *Organized Labor and the Negro* (New York and London. Harper & Brothers, 1944)

predominantly concentrated in the rural south until the first World War At that time heightened labor demand in the north started a mass migration to northern industrial centers This migration has continued up to the present time. It was again given impetus, of course, by increased employment opportunities during the second World War However advantageous the greater freedom of movement, and fewer obvious repressive symbols (such as "Jim Crow" cars) may have been, the industrial north has not exactly provided a land of golden opportunity for the American Negro The Negro has usually been the last hired and first fired Excluded from employment by employers, excluded from union membership by his fellow employees, and forced almost always to take the meanest jobs at the lowest pay, the Negro's time and talents have been a drug on the labor market.

Racial prejudice is not confined to any section or region in the United States, although some of its more blatant forms are largely confined to the Old South. Contrary to the culture of capitalism and of democracy alike, it still represents an almost official aspect of American institutional structure It is not always possible even to fix responsibility for the nonemployment of Negroes in any given plant Employers may blame the policy on labor unions, employees charge it to the employers, and both together throw the responsibility back on "public opinion." Labor unions may charge that Negroes have engaged in strike-breaking, and the charge is frequently true. On the other hand, Negroes were excluded from employment *before* they found employment opportunities at good wages in strike-breaking. They may and do reply, accordingly, that they have no reason to support unions that not only give them no advantages, but may actually prevent any advantages they may seek to gain "on their own" Employers and white employees alike may assert, with partial truth, that the Negro is not qualified for many types of industrial employment But this is likely to leave, or actually seek to create, the mistaken impression that the lack of qualification is a racial trait rather than the result of past discrimination in opportunities for training and advancement

Out of each period of increased labor demand, when the pressure

for reducing discrimination is at its highest, the northern industrial Negro has gained some slight permanent advantage. Other factors have contributed to increased employment, or at least decreased discrimination in employment Among these are: (1) the more recent policies of organized labor, particularly of the unions associated with the Congress of Industrial Organizations, in accepting or actively seeking Negro membership, (2) the activities of such organizations as the National Association for the Advancement of Colored People and the National Urban League, and (3) the reassertion of democratic principles growing out of the war against the fascist powers and exemplified in the Fair Employment Practices Committee and various state anti-discrimination statutes.

These recent changes have not solved the general "American Negro problem," or even the question of manpower utilization. They seem to have reduced somewhat the waste represented by the caste division of labor.

Unemployment of "Employables" The term *unemployment* is usually restricted to those persons who are not working and are seeking work. Such persons are included as part of the "labor force," whereas housewives, children under employment age, and coupon clippers are not. Those persons whose services are "wasted" because of quasi-institutional restrictions (the alien and the Negro) are therefore "unemployed" if they continue to seek employment, and excluded from the labor force if they bow to fate and seek other means for support. We must still distinguish other groups of the unemployed, whose services are from time to time, and for one reason or another, wasted At least four additional groups deserve attention. (1) submarginal employables, (2) the seasonally unemployed, (3) the technologically and "frictionally" unemployed, and (4) the group most commonly thought of, which we may call the "business cycle unemployed" It may be noted in passing that wastes of numbers of the potentially useful labor resources are automatically wastes of time, speed, and skills. Since few persons in the various categories of the unemployed are permanently outside the employed labor force, these might with equal propriety be considered examples of loss of employable time. They are first discussed as wastes of num-

bers because in the immediate situation of unemployment that is the most obvious.

1 *Submarginal Employability.* The margin of employability, as was noted in the preceding chapter, is relative to the state of the labor market and the general characteristics of industrial production. With reference to the latter, it is clear that a person whose only skill is one not required by the existing state of industrial production is practically speaking not only unemployed but unemployable He is, in other words, below the margin of employability. Taking the existing division of labor as given, this unemployability might be regarded as absolute, were it not for the additional considerations that (a) the unemployable may be trained in additional and usable skills and (b) the demand for labor may become so acute that production is reorganized to make a place for those formerly considered below the margin

In addition to the long-term trends in changing productive organization, there is also a short-term variation in the categories employable and unemployable. Although there is some question whether such short-term variations would exist in a completely controlled economy, it is certainly true that when the supply far exceeds the demand in a competitive labor market, those workers who are physically or mentally handicapped, or whose skills are minimal, will be regarded as outside the active labor force.

The relativity of the margin of employability was most forcibly demonstrated by American experience during the second World War Persons previously regarded as incapable of useful employment were brought into the labor force, partly through training programs, partly through a definite lowering of employment standards[9] In some cases the lowering of employment standards was more apparent than real. it consisted in relaxation of *irrelevant* require-

[9] See John B Knox, "Employment of Handicapped Persons," *The Conference Board Management Record*, December 1941, R E Thomas, "Vocational Rehabilitation," *Monthly Labor Review*, 53 120–121, July 1941, United States House of Representatives, Select Committee Investigating National Defense Migration, *Hearings* (Washington U S Government Printing Office, 1942), Part 27, Washington Hearings, "The Manpower of the Nation in War Production—Book One."

ments. Both the army and some industries came to the point of matching specific requirements with specific capabilities The navy and other industries continued to require nearly perfect physical specimens for job assignments which required no such high standards.

The fact that standards of employability are capable of downward modification, and the capacities of individuals subject to some upward revision, justifies considering the nonemployment of so-called submarginal persons as a waste of labor resources

2. *Seasonal Unemployment.* A waste that requires little explanation is that represented by the employment of persons only during certain seasons of the year. Although this type of unemployment is most marked among the migratory seasonal workers in agriculture,[10] other types of industry also are seasonal in character This seasonality arises in part from the nature of the market demand (for coal and ice, for example), and in part from the direct limitations set by weather and climatic conditions on the organization of production (as in the oustanding example of the building trades) In a few industries seasonality, or at least off-and-on operation, seems to be dictated by the smallness of demand and the necessity, technological or economic, of operating at full capacity until the demand is met, then closing down until the supply is absorbed by the market Whether seasonal unemployment is to be "blamed on" poor planning by individual employers, or simply on lack of over-all employment control and ease of transition from one job to another, it must be regarded as a waste from the point of view here adopted

3 *Technological Unemployment.* Many books have been written on the question whether the introduction of labor-saving machinery is

[10] Large-scale agriculture in the Midwest and Far West has long depended at least partly on migratory seasonal workers The waste of manpower, and especially the broader social problems involved, were publicly recognized when the previous supply of seasonal workers was augmented by refugees from drought-stricken areas See Henry Hill Collins, Jr, *America's Own Refugees* (Princeton Princeton University Press, 1941), Carey McWilliams, *Factories in the Field* (Boston Little, Brown & Company, 1939), Paul S Taylor, *Adrift on the Land,* Public Affairs Pamphlet No 42 (New York Public Affairs Committee, Inc, 1940), United States House of Representatives, Select Committee to Investigate the Interstate Migration of Destitute Citizens, *Hearings* (Washington. U. S Government Printing Office, 1940–41), 10 vols, *idem*, *Report,* 1941

beneficial or harmful to labor in the long run. The argument on the one side runs, in bare outline, as follows The introduction of labor-saving machinery, it is claimed, serves to increase the productivity per laborer, reduce labor and therefore production costs, and thus lower the market price of the goods produced This results, it is further maintained, in a heightened demand, both for these and for other goods, which in turn creates new employment either in the same industry or in new industries In general, it is claimed, the rise in the average level of living of the American workman is directly attributable to technological improvement

On the other side it is argued that, although the over-all and long-term benefits of mechanization may be partially admitted, the short-term disadvantages may outweigh these benefits. Thus, it is pointed out that although mechanization may create new demands, this is a slow and uncertain process Then too, there is no guarantee that the *same* workers who were technologically displaced will be hired in the new industries.

Technological change ordinarily increases the productivity of the labor unit, and may even create a net increase in productivity after taking account of the labor time lost through displacement. (This is, however, very difficult to compute.) But the *full benefits* of technological change in increasing production are only achieved under conditions of immediately utilizing the displaced labor for other productive work Under present circumstances, technological change clearly displaces some workers permanently, forces others out of employment for considerable lengths of time, and requires others to accept employment considerably below their maximum skills In any event, there is always enough loss of time between jobs to create what is called *frictional unemployment* Some waste of this last type appears to be the minimum price of technological change.[11]

"Business Cycle Unemployment" The most outstanding example of the failure of our productive system to utilize labor resources to a

[11] For an extensive review of facts and interpretations relevant to the whole problem of the impact of technology on employment, see United States Congress, Temporary National Economic Committee, *Investigation of Concentration of Economic Power, Hearings* (Washington U S Government Printing Office, 1940), Part 30, "Technology and Concentration of Economic Power"

maximum degree is provided by the apparently cyclical alternation of periods of "prosperity" and "depression" The whole problem of the causes of business cycles, or even whether the trend of business activities is more than superficially cyclical, cannot occupy us here Neither are we here primarily concerned with the wider individual and social problems arising from loss of livelihood[12] We must note, however, that in periods of seriously curtailed industrial activity the waste of unemployment may run as high as eighteen to twenty-nine per cent of the active labor force.[13] This is in addition to the waste

[12] The "wastefulness" of unemployment is so generally agreed upon that the norms or standards upon which judgment is based are frequently confused The "waste" is most frequently stated in terms of such wider social reverberations as loss of public morale, increased poverty and crime, and of personal problems of adjustment Now these indirect effects may be true, in view of the existing social situation, and still be condemned only in view of values other than loss of labor productivity From the standpoint of maximum utilization of manpower, these other effects of unemployment may be indirect and incidental Even if loss of employment had no untoward effects on family stability, the incidence of personality disorders, and so on, it would still represent a waste of human productive resources As a practical matter, of course, the concern shown about the loss of values other than productivity facilitates increased manpower utilization For this reason, the unemployed provide a more strategic source of manpower than the institutionally restricted nonemployed

For treatment of the broader social problems of unemployment, see E W Bakke, *Citizens without Work* (New Haven Yale University Press, 1940), Mirra Komarovsky, *The Unemployed Man and His Family* (New York. Dryden Press, 1940)

[13] Estimates, and even complete or sample censuses of unemployment, have varied widely This represents not only the general inaccuracies of enumeration, but differences in definition as well Thus, some estimators seeking to arrive at the number of unemployed in the middle 1930's excluded part-time workers and those working on public works projects or relief work, others included one or both of these groups Part of the discrepancy in figures, ranging as high as three or four million, was also undoubtedly due to the neglect by some investigators of the tendency for the number of the "unemployed" to increase faster than the loss of gainful employment, and to decrease faster than the gain in employment This tendency reflects the fact noted in the preceding chapter that, as the breadwinner falls out of employment, additional members of the family will register for employment and thus swell the ranks of the unemployed Conversely, when the breadwinner is reemployed, he may remove from the unemployed category not only himself but several of his dependents as well

The estimated percentages given in the text (eighteen to twenty-nine) are based on the following sources Corrington Gill, *Wasted Manpower* (New York W. W Norton & Company, Inc , 1939), especially pp 288–293 Gill's estimates are based on Works Progress Administration findings Several estimates are given in a treatment of the problem by the editors of *Fortune* magazine, "The Dis-

of those institutionally barred from employment, the "submarginal" employables, and so on

The over-all picture of the number of persons in the population who have some utilizable ability and who are not employed in productive occupations, therefore, leaves the definite impression that our industrial system has always operated far below capacity. This is not to say that all of these wastes are to be so regarded if other values are taken into account, or even that the social structure would long hang together if it were based on the value of "bread alone." We have rather indicated the major types of waste through nonemployment and noted something of the reasons for these wastes.

WASTES OF TIME

Wastes of numbers, that is, the nonemployment of those potentially employable, also automatically entail other wastes. This is most apparent in reference to time It will be recalled that, by our abstract definition of waste, any departure from the maximum amount of usable time of each worker constitutes a waste. Thus, unemployment represents a loss of part of the usable time out of the total life span of the worker, or the work year, work month, and so on. Different varieties of time waste are partly the result of different units of comparison. This may range from the question of the maximum or "optimum" length of the work day or work week to the problem of the total duration of employment and the point at which the worker becomes "too old" (superannuated) For sake of convenience, we may divide this range into three units (1) the work day and work week, (2) the work year, and (3) the work span.

The Work Day and Work Week Since the first days of the factory system, the fairly steady trend of the work day and work week has been downward The efforts of organized labor in this regard have been marked by such milestones as the twelve-hour day, the ten-hour day, the eight-hour day, the thirty- or forty-hour week.

possessed," *Fortune*, 21 (2) 94–96, 118, 120–121, 123–124, 126, February 1940 The peak of unemployment seems to have been in 1933 or 1934, with estimates ranging from eight million to thirteen million for those years

At the same time, industrial productivity per man hour has enormously increased Does this demonstrate that the shorter work period is automatically responsible for greater productivity, in other words, that the longer work period was beyond the maximum or optimum? The evidence for such a conclusion is by no means clear. The relationship is most obviously disturbed by the factor of increased mechanization. Yet, viewed either as a machine or as a biological organism, the laborer certainly has an optimum productive life, which may be shortened by overloading Also, since the human individual *is* an organism, it is affected by the principles of bodily metabolism, so that over the short run there is certainly a maximum period of productive employability which is considerably shorter than the number of hours in the day or week

The evidence concerning physiological, psychological, and social factors in fatigue has already been reviewed, but certain conclusions have immediate relevance here. In general, the maximum period of productive employment seems to be no greater than twelve hours a day, or seventy-two hours per week. Beyond this, not only proportional but total productivity may suffer. Even considerably short of this, the worker may have to be given much extra inducement to get him to maintain his effectiveness. The maximum in particular cases will depend not only on the nature of the work, the objective conditions of employment, and the physiological characteristics of the worker, but upon the worker's motivation, his definition of the situation, and so on. In view of the complexity of these factors, it is very difficult to determine the maximum even by our limited definition, and consequently difficult to judge the existence or extent of waste.

Nevertheless, it is clear that there is *some* waste as judged by our criteria, since the shorter work week or work day is sought on other grounds than increased "efficiency" Aside from questions of health, which might be regarded as an intrinsic factor, the values attached to leisure for other activities are clearly involved. Likewise, the assumption that there is a definite amount of work to be done (the "lump of labor theory") prompts workers, especially those organized in unions, to seek shorter work periods and more extensive

employment Without examining the economic validity of the theory, it should be noted that *either* nonemployment or unduly shortened employment represents a waste by our definition. "Spreading the work" amounts to the substitution of one waste for another, therefore, even if it works

Two other wastes of working hours deserve brief mention: *voluntary absenteeism,* and *lost-time accidents and sickness* Voluntary absenteeism refers, of course, to the practice of workers failing to report for work on some slight excuse or other, or none at all. It is understandably most prevalent when workers are most in demand and the absentee accordingly is in the least danger of losing his job because of his "vacation." Although it might be claimed that this practice constitutes a way of preventing a work week which is too long in terms of health and physiological fatigue (and therefore no waste), the evidence points rather to the inference that voluntary absenteeism follows from a work week which is "too long" *on other grounds.* Especially with a work week greatly lengthened with overtime work, paid for at an extra rate, the worker apparently stays away to spend his extra money, or because he feels he can afford to take a vacation [14] This not only illustrates the falsity of the assumption that the laborer is exclusively interested in money for its own sake, but also suggests that efforts to approach the maximum utilization of the laborer's time are beset with considerable difficulty.

Sickness, whether occupationally caused or not, and lost-time accidents both on and off the job clearly represent wastes of laboring time Industrial nursing and medical attention, safety devices, and educational campaigns may reduce this category of waste. On the other hand, as persons with less physical stamina and meager experience are added to the labor force, the increase in labor power

[14] The growth of voluntary absenteeism became a serious industrial problem during World War II with the increase of the work week for war production, compensated by extra overtime pay Women were more frequent offenders than men, as might be expected because of the recency of their addition to the work force and the change from their traditional or customary roles as housewives and shoppers In many instances there was no one else to perform essential services at home, such as caring for members of the family who were ill.

may be partially offset by greater frequency of sickness and accidents. Over two days of working time (around eighteen hours) out of every one thousand man hours is regularly lost through accidents in thirty manufacturing industries. The rate varies little from year to year and does not include accidents involving lost time of less than one day.[15]

It is clear that some reductions of time wastage would meet general approval, whereas other wastes arise from the "intrusion" of values other than maximum productivity, such as increased leisure or the expenditure and enjoyment of earnings. Thus increases in the work day or work week which are effected by other methods than reduction of sickness and accidents must in concrete circumstances be approached with understanding and caution.

The Work Year. The most convenient time unit for considering some varieties of time wastage is the longer one of the work year. This is evident in the seasonal, technological, frictional, and business-cycle unemployment already discussed. Because of the inadequacy of statistical records of employment and unemployment, it is virtually impossible to indicate the amount or proportion of available working time that is wasted by these departures from steady employment. That they represent major wastes is unquestionable.

Besides these varieties of "unemployment" we should briefly note some other departures from the full work year. These are, *strikes and layoffs, labor turnover, and serious accidents and disease.*

The "right to strike" is a major canon of organized labor, and now widely recognized in American law. Yet there can be no disputing the fact that strikes represent wastes of employable time. This is again a situation where the judgment of the significance of the "waste" will vary according to the values considered most important. Thus, union leaders will maintain that the waste is justifiable in

[15] The rate of days lost per one thousand man hours is computed by the Bureau of Labor Statistics of the United States Department of Labor. It is known as the "injury severity rate." See, for example, *Monthly Labor Review,* 44: 101, January 1936, National Safety Council, "Industrial Accidents in 1940," *National Safety News,* 43 (3): 9–11, March 1941, Ruth R. Puffer, "Industrial and Occupational Environment and Health," in Milbank Memorial Fund, *Backgrounds of Social Medicine* (New York, 1949), pp. 119–137.

terms of benefits received by labor, and will lay responsibility for forcing the strike on managerial groups. Employers' associations will attach considerable importance to this waste, and use it as an argument against organized labor. Here again values other than maximum productivity are concretely relevant.

Layoffs are less frequently spoken of as industrial wastes of employable time, but are as clearly in that category as are strikes. Whether the layoffs reflect market conditions, availability of raw materials, or simply poor organization and planning within the industrial plant, is not a matter of immediate concern In any case the blame or responsibility may be hard to fix, and consequently the point of attack for reduction of waste is difficult to discover. There is little doubt that a "planned" or "controlled" economy would exhibit less of this variety of waste (as it would of wastes due to industrial disputes), but the "culture of capitalism" clearly places a greater value on the right of industry to make mistakes and take the consequences than on the possibility of eliminating layoffs through centralized control

A widely discussed industrial problem, that of labor turnover, represents not only an important item of production cost, the usual point of discussion, but a loss of time as well. The time lost is the result of the lapse of time, however short, between jobs. Possibly also chargeable to labor turnover is the time required to train replacements. Because of the virtual impossibility of keeping records on each worker as he moves from one job to another, with temporary loss of work time between, there are no adequate figures for estimating the amount of this waste Its reduction, of course, could be brought about by any device that stabilized employment Yet in a society that places a value on freedom of occupational choice and an absence of formal barriers to mobility, this must be done by increasing "employee satisfaction" rather than direct forbiddance of movement. During the war, formal restrictions on free mobility were put into effect as a temporary measure, but a permanent measure without the justification of wartime production would have considerably less chance of success.

Little further comment need be made about accident and sickness

as sources of waste, except to repeat that there is almost universal agreement concerning the desirability of reducing or eliminating this waste, of course, this is especially true of accidents and disease that take the worker out of employment for weeks or months rather than hours or days.

The Work Span. We need mention only a few further varieties of wastes of time, but these are highly significant ones for they represent a reduction of the worker's span of productivity Most closely related to those previously discussed are wastes which permanently remove the individual from the potential work force through *death or physical incapacitation* Most difficult to ascertain precisely, but certainly present in some degree, is the reduction of the worker's span of usefulness through long-continued employment at overtaxing assignments and under unfavorable working conditions. The closest approximation to a measure of this waste is afforded by statistics of total life expectancies of various occupational groups, but these differences reflect income differentials, adequacy of medical care, dietary habits, and other indirect effects of occupation as well as the direct effects of employment It is nevertheless certainly true that some occupations are more healthful than others, and that one way to decrease labor waste would be to improve physical working conditions, adapt work assignments more closely to physiological capacity, and so on

Other wastes are more directly chargeable to the nature and conditions of employment, especially incapacitating and fatal industrial diseases and accidents Statistics are again not completely adequate, but indicate this as a major problem upon which there is common agreement.[16]

Less spectacular, yet probably greater in total loss, is the waste represented by "superannuation" Literally, superannuation refers

[16] The number of fatal and totally incapacitating accidents in 1940, for example, was estimated as 18,100 By standard methods of computing life expectancy, this represented 196,928,000 man days of irretrievably lost time See Max D Kossoris and Swen Kjaer, "Industrial Injuries in the United States During 1940," *Monthly Labor Review*, 53 327–354, August 1941 See also Louis I. Dublin and Alfred J. Lotka, *The Money Value of a Man* (New York: The Ronald Press Company, 1946)

to getting "too old." But the difficulty (and consequently the waste) arises from a general failure to determine by objective standards when a man is too old to be useful. With the increasing mechanization of industry, and the constantly changing requirements for skills, there has been an understandable tendency on the part of American employers to seek younger workers. Both the untrained and the too highly specialized worker ran the risk of finding his experience counted as worthless, whereas the younger man with newer skills found employment opportunities. With more workers than jobs, the employment manager understandably sought the "best" man for the job, although his judgment of the superiority of the younger worker was likely to be colored by, if not exclusively based on, a sentiment favorable to youth, rather than a true appraisal of relative merit.

By our definition of waste, it is apparent that firing or retiring any worker before he has served out his full period of useful labor is a waste of labor time. The waste may be directly chargeable to management, as in the case of an older employee being dismissed to make way for a younger man whose advantage consists simply in the fact that he is younger, not that he is better qualified It may be chargeable to inadequacy of the company's or the community's retraining program in keeping the worker's skills abreast of the times It may in certain cases be chargeable even to the worker himself, who feels he has earned the right to quit after a long life of labor. In any case, an artificially early line of "superannuation" is likely to be a luxury of restricted production, with industries discovering that former employees thought too old to work can be advantageously employed when the pressure for increased manpower is acute.

It is impossible to estimate the numerical extent of the wastes of time represented in short-term and long-term work stoppages The statistics collected are confined to only part of the wastes, and even in those cases do not sufficiently guard against the double danger of undercounting and overcounting (through overlapping wastes, as when an accident victim's period of disability extends into a layoff period at his place of employment) On the basis of

figures available, plus the knowledge of additional wastes that are not so easily measurable, it is possible to make as a net judgment that our waste of time is tremendous.

WASTES OF SPEED OR RATE OF WORK

The mere fact that a single worker's maximum time is being used, or that the greatest possible number of workers is employed for the greatest possible time, does not mean that labor resources are not being wasted It is also clearly necessary to ensure that the rate of work while the laborer is on the job will be at its maximum. The "time-server" is a notoriously wasteful worker

It is impossible to find anything like a single numerical expression of maximum rate of work, or even to devise a formula for expressing the relations among the various factors involved One of the factors is clearly that of the nature and extent of mechanization, or quality of the tools with which the laborer works. The character of the work itself and the physical characteristics and skill of the workman are equally involved, and equally difficult to generalize. But these factors are likely to be more important in the determination of maximum speeds than in explaining the *actual* rate of work We are primarily concerned with the reasons for the difference between the *actual* and the *possible*

Inefficient Organization and Supervision A primary source of waste in the worker's rate of production is obviously the failure to give him enough to do This may come about through improper planning or prediction of the time required, poor arrangement of tasks so that the worker is only occasionally required to operate at maximum speed, and so on It is this aspect of labor waste that has been considered so extensively by "scientific managers," discussed in previous chapters The worker who is not told the quickest way to do a certain job, or, knowing the quickest way, is not provided with sufficient materials to keep him busy, is falling short of maximum productivity through an error of managerial organization. Likewise, the worker who spends part of his time waiting for the machine, or the clerical worker who is slowed down by a rattletrap typewriter, is operating wastefully because of the shortcomings of

engineering and maintenance personnel. These are but samples of the multitudinous ways in which potential speed may be lost through managerial failure The variable factors are so numerous, indeed, that even in a highly "rationalized" organization the reduction of this type of waste is likely to consist in a series of "successive approximations" which have comparatively little chance of complete and final success

Inadequate Incentive The managerial responsibility for waste is enhanced by the very important fact that workers are not simply mechanistic units, and must be *induced* to perform at somewhere near their maximum capacity. We have previously noted that this has been a major stumbling block of scientific management Simply to increase a worker's pay is frequently not enough. It may not even be necessary if other rewards or advantages are offered. This is the reason that managers resort to contests, public citations, and the like. Simply increasing the worker's pay without taking into account the extent or proportion of his increased productivity is likely to fail. The situation is even more complicated in view of the fact that the increased incentives may have to be *more* than proportional to the increase in rate of work demanded, since greater and greater sacrifices of other interests (such as informal organization and "horseplay") are required. Again, the practical maximum may be considerably below the "ideal" maximum, mechanistically considered, since all the worker's interests are not necessarily capable of direction toward the single goal of greater speed. In practical terms, in other words, the manager may have to be satisfied with considerably less speed than that of which the worker is physiologically capable, and the practically "irreducible waste" may be a matter only for theoretical consideration Yet it is also certainly true that a recognition and utilization of the possible incentives would lead to much less waste of this type, whether in the behavior of executives and professional men or among the ranks of the lowly.

Voluntary Restriction of Output. Our emphasis on the necessity of providing adequate incentives illustrates the joint directional-opera-

tional (or, more specifically, management-labor) responsibility for waste of speed On the one hand it may be asserted that management fails to take into account, and use, the worker's interests and motives for behavior. On the other hand, it may be claimed with equal validity that workers are concretely not primarily motivated by maximum productivity. If they were, the problem of incentive would be nonexistent, the question would simply be one of ways and means. But it is concretely true that *all* sane (and some insane) individuals in the population have certain ideas of their own worth, and of the proper reward for those services that are not directly or primarily for their own benefit (however defined). What scientific managers sometimes call "systematic soldiering" or what Veblen would call sabotage (conscientious withdrawal of efficiency) is so prevalent in every field of productive enterprise that it is commonly accepted and even verbally defended The idea of a "fair reward," or a "fair day's work," is no more common among day laborers than among corporation executives or independent professionals

The concrete motives for restricting output (in the broadest sense of the word) are as various as the range of individual interests that conflict with "living by bread alone" The day laborer may fear that he will work himself out of a job, the piece worker that the pay rate will be reduced, and the executive that his golf game will suffer. Partly because managerial and professional tasks are so difficult to assess and standardize, and partly because extra leisure and freedom of activity are widely accepted rewards for higher positions, the waste of speed or rate of work at these levels ordinarily goes unnoticed. Although it is possibly true that sustained effort is more difficult to maintain at work requiring a great deal of intelligence and reasoning, and involving frequent shifts of attention, it would be naive in the extreme to assume that only the lower ranks of productive workers "soldier" on the job.

To repeat, the calculation of the quantity of waste of speed or rate of work in general is impossible, and extremely difficult even in very concrete cases. Yet it is possible to reduce the amount if the appropriate line of action is followed, *and if the goal of pro-*

ductivity is considered, or made, sufficiently important to warrant the sacrifice of pleasant wastefulness.

WASTES OF SKILLS

A final set of departures from maximum utilization of labor resources merits brief consideration Even though all available workers are employed, for the maximum amount of time, at the highest speed of which the individual worker is capable, resources are still being wasted if the occupational classification of the workers is poor Even an energetic cutoff saw operator is not likely to be an effective corporation executive, and a really quick-moving chemist may provide a sad picture as a fruit sorter in a cannery If waste is to be avoided, each worker must be doing that useful job that he is best qualified to perform

The qualification "useful" is necessary, since the judgment of waste must always be in terms of the actual or concretely potential productive organization. Thus, the failure to use some or all of the special talents of an architectural engineer in a primitive society like, let us say, the Trobriand Islands in the South Pacific, could scarcely be regarded as a waste within the confines of that society. On the other hand, the scarcity of jobs for men technically trained in a complex industrialized society may represent either a waste of past time in training, or a failure of productive organization to change rapidly enough to capitalize on the skills available. The sources of waste of skills may accordingly be classified as *inadequate training, and errors in classification*

Inadequate Training Not only does a complex industrial civilization require diversified and very extensive training, but the ever-changing character of industrial organization and production necessitates continual change in training, possibly even in the training of the same individuals Thus whenever the community through its formal education program, the labor organization through its apprentice program, or industry through its instructional facilities fail to develop potential skills, or provide opportunity to learn new and more useful talents, there is waste. Where the responsibility lies is not of immediate concern, although it would certainly be of pri-

mary importance to the one who would seek to reduce this waste. It is even difficult at any time to discover what reductions are possible, since ways of discovering potential abilities are poorly developed in most occupational fields, and the probable future utility of any very specialized training is hard to predict. Yet these questions, as we noted at the end of the preceding chapter, are fundamental in any consideration of the usefulness of labor in the modern world.

Errors in Classification. Even if the appropriate training has been provided, and the usable skills are at hand, there is no guarantee that the talents will be used. Any barriers to occupational mobility that prevent ready placement of the worker in the spot he can fill best (and that *he* best can fill) facilitates the waste of skills. Whether the barrier be the almost official ones barring women, Negroes, and other lowly valued persons from filling jobs for which they are qualified, or simply the result of inadequate methods of discovering and using the skill, the waste is apparent. An overrigid promotional system (such as seniority) is wasteful just as surely as whimsical promotion of friendly incompetents. The barrier may be self-created, as in the case of the individual who mistakenly believes he is qualified for expert salesmanship whereas his actual skills better fit him for managing the stock room. Both history and folklore are full of examples of wasted talents, and both are equally full of examples of incompetence in high places. So important, indeed, is the whole matter of maximum utilization of skills that not only may major departures waste the talents of the poorly placed individual, but his labor may be worse than useless: he can offset the work of others. Just as a large, well-trained, hard-fighting, and swift-moving army may go down in defeat because of the errors of the general staff, so a productive system may fail through insufficient attention to the exploitation of skills. Incompetence is, of course, always wasteful, but it becomes more so the higher the position and responsibility of the incompetent person. Although the wastes of numbers, of time, and of speed are usually more obvious, and certainly more capable of quantitative statement, the bottleneck to greater utilization of manpower may well consist in im-

TABLE 1 *Types of Waste of Labor Resources, and Some Social Values That Demand or Encourage Waste*

Major Types of Waste	*Subtypes and Examples*	*Social Values at Issue*
Number	Nonemployment	
	Institutionally restricted age, sex, financial independence	Ascribed status and roles, stability and functions of the family
	Quasi-institutionally restricted caste, citizenship, criminal conviction	In-group and upper group dominance, "free labor"
	Unemployment	
	Marginal employability	"Right" (and obligation) to work
	Seasonal	
	Technological	Business and technological vs. "human" interests
	Business Cycle	
Time	Work Days and Weeks	
	Legally or contracturally restricted hours	"Spread the work"
	Voluntary absenteeism	Leisure
	Lost-time accidents and sickness	Health
	Work Year	
	Seasonal and other short-term unemployment	
	Strikes	Right to strike
	Layoffs	Business interests
	Labor turnover	Free mobility
	Serious accidents and diseases	
	Work Span	
	Shortened life expectancy	
	Incapacitating and fatal accidents and diseases	
	"Superannuation"	Presumed superiority of youth
Speed or Rate of Work	Inefficient Organization and Supervision	
	Inadequate Incentives	"Fair reward", health (fatigue and monotony), "spread the work"
	Voluntary Restriction of Output	
Skill	Inadequate Training	
	Erroneous prediction of requirements	Free occupational choice
	Errors in Classification	
	Failure to promote or "upgrade"	Reward for ability, equality of opportunity
	Irrelevant grounds for selection	

proper training and erroneous classification of personnel a multitude of square pegs in an area predominantly characterized by smooth round holes

A final summary of the major wastes of labor resources, and the chief interests and values that prevent maximum exploitation of labor, is presented in Table 1 This may serve as sort of "check list" of important wastes, as a basis for determining what may be the strategic factor in any concrete situation, as well as the relative ease or difficulty of attacking the problem at various points We may repeat that wastes from a strictly technical point of view may not be regarded as such in view of other important social considerations, and that workers of all types and ranks provide considerable resistance to efficient exploitation

REFERENCES

AMIDON, BEULAH, "Jobs after Forty," *Public Affairs Pamphlets No 35* (New York Public Affairs Committee, Inc , 1939)

——, "Negroes and Defense," *Survey Graphic,* 30 321–326, 359–361, June 1941.

ANDERSON, H DEWEY, and PERCY E DAVIDSON, *Occupational Trends in the United States* (Stanford University, Calif.. Stanford University Press, 1940)

BAKKE, E W, *Citizens Without Work* (New Haven. Yale University Press, 1940).

——, *The Unemployed Worker* (New Haven Yale University Press, 1940)

BRIDGES, CLARK O , *Job Placement of the Physically Handicapped* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc., 1946)

BROUSE, HERMAN L , "State Laws Barring Aliens from Professions and Occupations," *Immigration and Naturalization Service Monthly Review,* 3 281–284, March 1946.

CAYTON, HORACE R , and GEORGE S. MITCHELL, *Black Workers and the New Unions* (Chapel Hill. University of North Carolina Press, 1939)

CLARK, J. M , "The Attack on the Problem of Full Use," in National Resources Planning Board, *The Structure of American Economy* (Washington U. S. Government Printing Office, 1940), Vol II (Toward Full Use of Resources), pp. 20–26.

COLLINS, HENRY HILL, JR , *America's Own Refugees* (Princeton, N J : Princeton University Press, 1941).

DUBLIN, LOUIS I, and ALFRED J. LOTKA, *The Money Value of a Man*, rev. ed (New York· The Ronald Press Company, 1946)

FLORENCE, P SARGANT, *Economics of Fatigue and Unrest and the Efficiency of Labour in English and American Industry* (New York Henry Holt and Company, Inc, 1924), Chap VI, "The Loss by Labour Turnover", Chap VII, "The Loss by Absence", Chap. VIII, "The Loss by Deficiency of Output", Chap IX, "The Loss by Defective Output", Chap V, "The Loss by Industrial Accidents"; Chap. XI, "The Loss by Industrial Ill-health"

GILL, CORRINGTON, *Wasted Manpower* (New York W. W. Norton & Company, Inc, 1939)

GREAT BRITAIN, Ministry of Labour and National Service, *Hours of Work and Maximum Output* (London The Ministry, 1940).

HAMMER, PHILIP G, and ROBERT K. BUCK, "Wasted Manpower in Agriculture," *Land Policy Review*, 5 (4) 9–18, April 1942

HUMPHREY, DON D, "Alleged 'Additional Workers' in the Measurement of Unemployment," *Journal of Political Economy*, 48. 412–419, June 1940. See reply of Woytinsky, *Journal of Political Economy*, 48· 735–739, October 1940

KNOX, JOHN B, "Employment of Handicapped Persons," *The Conference Board Management Record*, December 1941

KOMAROVSKY, MIRRA, *The Unemployed Man and His Family* (New York: Dryden Press, 1940)

KUH, CLIFFORD, "Selective Placement of Older Workers," *Journal of Gerontology*, 1 313–318, Summer 1946

NICHOLS, FRANKLIN O, "Employment of the Colored Worker," *Personnel* 19 409–417, July 1942

NICKERSON, J. W, "Work Assignment," *Annals*, 184 54–61, March 1936.

NOURSE, EDWIN G, and Associates, *America's Capacity to Produce* (Washington. The Brookings Institution, 1934), Chapter XIX, "The National Labor Force."

PARRISH, JOHN B, "Women in the Nation's Labor Market," *Quarterly Journal of Economics*, 54 527–534, May 1940

PATTERSON, S HOWARD, *Social Aspects of Industry*, 3d ed. (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1943), Chap. XII, "The Problem of Unemployment. Quest for Security"

POLLACK, OTTO, "Discrimination Against Older Workers in Industry," *American Journal of Sociology*, 50 99–106, September 1944

PUFFER, RUTH R, "Industrial and Occupational Environment and Health," in Milbank Memorial Fund, *Backgrounds of Social Medicine* (New York. 1949), pp. 119–137.

RUBIN, ERNEST, "Unemployed Aliens in the United States, 1940," *Immigration and Naturalization Service Monthly Review,* 3 308–312, May 1946

SHOCK, N. W , "Older People and Their Potentialities for Gainful Employment," *Journal of Gerontology,* 2 93–102, April 1947.

SIMONS, A. M , *Personnel Relations in Industry* (New York The Ronald Press Company, 1921), Chap XIII, "Labor Turnover"

SPERO, STERLING D , and ABRAM L HARRIS, *The Black Worker* (New York Columbia University Press, 1941)

STERN, BERNHARD J , *Medicine in Industry* (New York The Commonwealth Fund, 1946), Chap. III, "The Extent of Industrial Disability," and Chap IV, "The Handicapped Worker in Industry"

UNITED STATES DEPARTMENT OF LABOR, Bureau of Labor Statistics, "Standard Procedure for Computing Labor Turnover," *Monthly Labor Review,* 41 1584–1586, December 1935, Same, 43 1486–1488, December 1936.

UNITED STATES DEPARTMENT OF LABOR, Bureau of Labor Statistics, "Young and Old at the Employment Office," *Monthly Labor Review,* 46 3–15, January 1938

UNITED STATES DEPARTMENT OF LABOR, Division of Labor Standards, *Safeguarding Manpower for Greater Production,* Special Bulletin No 1 (Washington U. S Government Printing Office, 1940)

UNITED STATES HOUSE OF REPRESENTATIVES, Select Committee Investigating National Defense Migration, *Hearings* (Washington U S. Government Printing Office, 1942), especially Part 27, Washington Hearings, "The Manpower of the Nation in War Production—Book One"

UNITED STATES SENATE, Committee on Education and Labor, *Investigation of Manpower Resources, Hearings before a Subcommittee* (Washington U. S. Government Printing Office, 1942), especially Part 1

VANCE, RUPERT B., and NADIA DANILEVSKI, "Population and the Pattern of Unemployment, 1930–1937," *Milbank Memorial Fund Quarterly,* 18 27–43, January 1940.

VERNON, H. M , *The Health and Efficiency of Munition Workers* (London Humphrey Milford, Oxford University Press, 1940), Chap. V, "Sickness and Absenteeism," and Chap. VI, "Accidents and Injuries"

WOYTINSKY, W S , *Additional Workers and the Volume of Unemployment in the Depression,* Committee on Social Security, Social Sci-

ence Research Council, Pamphlet Series No. 1 (Washington: The Council, 1940).

WOYTINSKY, W. S., *Labor in the United States* (Washington: Committee on Social Security, Social Science Research Council, 1938), Chap. III, "Workers by Sex", Chap. IV, "Workers by Race", Chap. V, "Workers by Age", Note 12 (pp. 263-266), "Death Rates in Different Classes of Work."

CHAPTER XXI

THE AGED IN INDUSTRIAL SOCIETIES[1]

THE CONCERN of one generation or major age-group over the problems presented by another is no new thing. The young in all societies constitute a problem for adults, for they must be supported and socialized until they are ready to take an active part in the life of the community And in rapidly changing societies adults have long bewailed the deteriorating manners and morals of their own or their neighbors' children. In such societies it is also quite likely that children approaching maturity will know more than their parents about many things, with consequent damage to time-honored principles of age-respect and consequent material for uncomfortable humor

Over the last few decades in modern industrial societies an interesting and significant change has occurred in the pattern of expressed concern over particular age-groups. Adults have not ceased to worry about their troublesome offspring, but they have begun to worry also about their own and others' aged parents

What gives rise to this recent concern for the aged in industrial societies? Three intricately interrelated explanations may be offered. (1) Old people form a larger proportion of the total population in "advanced" than in "undeveloped" areas, and the secular trend in this proportion is steadily upward (2) In both obvious

[1] This chapter was originally prepared for and published in a symposium edited for the Industrial Relations Research Association by Clark Kerr, J Douglas Brown, and Edwin F Witte See *The Aged and Society* (Champaign, Ill · 1950) The editors kindly consented to the reprinting of the paper here

The demographic data reported in the chapter are a product of the author's work with the Office of Population Research, Princeton University

and subtle ways, the industrial economy places a peculiar emphasis on youth while the aged are subject to special hazards of obsolescence of skills (3) The patterns of organization and social norms of modern industrial societies present peculiar problems with regard to the opportunities for security and satisfactory activities for the aged

These points will be discussed in unequal detail. Together they permit a preliminary understanding of the connections between the social position of the aged on the one hand and the industrial mode of production and organization of society on the other.

RELATION BETWEEN INDUSTRIALISM AND AGING POPULATIONS

The aged are of special significance in industrial societies in part simply because they are numerous. In primitive and peasant societies life may not be nasty, brutish, and dull, but is very likely to be short. An important correlate of the increased levels of material production made possible by the industrial system is the increasing proportion of the aged in the population

Table 2 shows the marked disparity in the proportion of old people in "advanced" and " undeveloped" societies The "advanced" societies include the major industrial countries except the Soviet Union, where available statistics would seem to indicate a position about midway between the types indicated in the table The "undeveloped" societies were selected in part for their direct or representative importance, in part in terms of availability of data Column 1 of the table expresses the population aged 65 and over as a percentage of the total population for the country and year indicated. In this and the other columns of the table undue significance should not be attached to the exact rank order of countries, since the data derive from different census years and the age distribution in any population reflects vagaries in its own demographic history, including migrations and changes in birth rates as well as death rates Considered as types, the two groups of countries exhibit sharp differences in the proportions of the aged The variations internal to the groups appear to be roughly related to the time

TABLE 2 *Proportion of Population Aged 65 and Over and Ratio of Those Aged 15–64 to Young and Old Dependents in Certain "Advanced" and "Undeveloped" Countries*[a]

Country and Year	*Population Aged 65 and Over as Per Cent of Total Population*	*Ratios of Population Aged 15–64*	
		To Those Under 15 Years of Age	*To Those 65 Years of Age and Over*
Certain "Undeveloped" Countries			
India and Burma, 1931	2.2	1.4	26.3
Mozambique, 1940	2.2	1.2	24.3
Brazil, 1940	2.4	1.3	23.0
Colombia, 1938	2.9	1.3	19.2
Mexico, 1940	3.0	1.4	18.7
Chile, 1940	3.5	1.6	17.0
Philippines, 1939	3.5	1.2	15.5
Egypt, 1937	3.6	1.5	15.6
Turkey, 1935	3.9	1.3	14.0
Peru, 1940	4.3	1.3	12.5
Roumania, 1930	4.3	1.8	14.3
Palestine, 1931	4.4	1.4	12.7
Japan, 1930	4.8	1.6	12.3
Certain "Advanced" Countries			
Netherlands, 1930	6.2	2.1	10.2
Canada, 1941	6.7	2.4	9.8
United States, 1940	6.8	2.7	9.9
England and Wales, 1931	7.4	2.9	9.3
Belgium, 1930	7.6	3.0	9.2
Germany, 1939[b]	7.9	3.3	8.9
Australia, 1947	8.0	2.6	8.3
Norway, 1930	8.3	2.2	7.6
Denmark, 1945	8.4	2.7	8.0
Switzerland, 1941	8.6	3.1	8.1
New Zealand, 1945	9.0	2.5	7.2
Sweden, 1940	9.4	3.4	7.5
France, 1936	9.8	2.6	6.6

[a] Based on official national statistical sources

[b] Territory of 1939, including the Saar, Austria, and Sudetenland

"modernization" has been going on and to the degree of its success.

Table 2 also indicates, in columns 2 and 3, the consequences of changing age distributions for the ratios of potential workers to

probable dependents In the "undeveloped" countries there are likely to be about one and one-half persons in the assumed working ages (15–64) to each person under 15,[2] whereas this ratio varies from two to three and one-half working-age adults to each person under 15 in economically advanced countries. In contrast, the aged constitute a much smaller burden of dependency in areas where industrialization is slight and recent.

The historical connection between industrial development and the increasing proportion of the aged is suggested by the comparisons given in Table 3, where the proportions of those over 65

TABLE 3 *Proportion of Population Aged 65 and Over in Certain Countries at Various Census Dates 1880–1901 and 1930–1947* [a]

Country	Population Aged 65 and Over as Per Cent of Total Population			
	Date	Per Cent	Date	Per Cent
Australia	1901	4 0	1947	8.0
Austria	1880	4 4	1934	7 9
Belgium	1900	6 1	1930	7 6
France	1891	8 3	1936	9 8
Switzerland	1900	5 8	1941	8 6
United States	1890	3 9	1940	6 8

[a] Based on official national statistical sources

around the end of the last century and at the most recent census are shown for a limited group of economically developed countries. With the exception of France, which has the longest record of low fertility and its consequences for age distributions, there has been a pronounced increase in the proportion of old people over the periods represented [3]

[2] The arbitrariness of the limits of working ages is indicated by the likelihood that in "undeveloped" countries many persons under 15 years of age will be at productive work, partly because production is labor-intensive and partly because of the extremely limited opportunities and demand for formal training in productive skills

[3] In terms of the types of data presented in Table 2, the United States in 1890 would appear on that table in the approximate position of contemporary Egypt or Turkey, with 3 9 per cent of the population aged 65 and over, 1 7 per-

The demographic explanation of this changing age structure, although complex in ways of small importance here, is simple in its broad outlines It may be stated briefly in terms of absolute and relative numbers of the aged

With given fertility and barring the effects of migration, declining mortality will have the general effect of increasing the number of people living to an advanced age, the precise effect obviously depending on the differential impact of reduced mortality at various ages Put simply, reduced mortality allows more people to die of "old age."[4]

An increase in the *relative* proportion of the aged will occur if, subsequent to a decline in death rates, birth rates also decline, with a consequently reduced proportion of young people in the population The amount of the relative increase of the aged will obviously depend not only on the magnitude of the changes in deaths and births but also on the length of time elapsed since the changes occurred. For example, suppose a population has had stable birth and death rates for a considerable time Should birth rates suddenly be cut in half and remain at the new level while death rates remain constant, the highest proportion of old people (65 and over) would occur just short of 65 years later.

Both the absolute and relative increase of the aged have accompanied the process of industrialization. Every industrial society still exhibits in some degree the effects of the relative increase of the aged. Persons are now reaching retirement age who would not have survived infancy had they been born a decade earlier, or might not have been born at all had their parents married a decade or so later

This relative increase arising from the time gap between declin-

---

sons 15-64 to each person under 15, and 15 6 persons of potential working ages to each person 65 or older

[4] By the latest available life tables, a male child born in one of the "advanced" countries listed in Table 2 has an average expectation of life of 56 to 66, depending on the country he chooses as birthplace A male child born in one of those "undeveloped" countries for which mortality data are available has an average expectation of life of some 30 to 47 years, again depending on the area (Females have a uniformly higher average expectation of life at birth)

ing mortality and declining fertility may be regarded as "transitional," although not thereby unimportant. There remains the fundamental relationship between economic development and improved chances for living out something like a full "span" of life.

What accounts for this relationship between declining mortality and industrialization? One is tempted to jump immediately to an explanation in terms of individualistic values associated historically with capitalism but somewhat inherent in any industrial system through the requirement of competitive occupational distribution This explanation has merit, but only when set in a somewhat less idealistic perspective.

The decline in mortality in the Western world, which started before the conventionally ascribed beginning of the Industrial Revolution, has been in large measure a by-product of political order, improved transportation from surplus to deficiency areas, control of epidemic diseases, and improved sanitation and nutrition In later stages of industrial development the tremendous increases in production, of agricultural as well as manufactured products, have often resulted in greater disparities in income, but also in rising minimum levels of consumption

All of these changes can be explained without *direct* recourse to the "value of human life" as a variable The conditions necessary for an industrial mode of production with an urban population are conditions conducive to reduced mortality

Industrial societies then provide and depend upon the conditions for making mortality reduction appropriate and feasible, and the means for improving material welfare and medical services. The canons of rational efficiency of production, when added to the universal valuation of preservation of life, might then be thought to constitute adequate bases for linking the available means to the ends of health and longevity Although difficult to prove, it does additionally appear that the individualization of motives and rewards in industrial societies is related to an especially strong emphasis on health and preservation of life. No society encourages early death as a positive value in the ordinary course of affairs But in industrial societies the greater means for preserving life

are combined with the notion that life and health are fundamental values available to all within the limits of available services and technical knowledge.

Suppose that the rationale for mortality reduction were based solely on productive efficiency. The question would then immediately arise, Why not kill the aged on grounds that they are a drain on the social product? In view of the universal valuation of life-saving unless the community is obviously endangered by scarcity[5] —a condition difficult to imagine in peacetime in industrial societies—and in view of the values necessary to the system of individual motivation appropriate to industrial systems, such a policy if explicit would be impossible The circumstances cannot be imagined that would make possible maximum devotion to productive efficiency during working life, followed by the certainty of death when no longer productive

In sum, the relation between industrialism and increased longevity cannot be accounted for solely on the basis of increased supplies and improved medical techniques plus consideration of technical efficiency It is necessary to add to the explanation the values attached to health and longevity for their own sake. Since these values are in some form universal, present knowledge lends only tentative support to the hypothesis that the motivational pattern typical of industrial societies places special emphasis on universal sharing of the benefits of vigor and long life However, the nuances of the explanatory principles do not alter the basic association between industrialism and a high proportion of the aged in the population.

THE AGED AND THE INDUSTRIAL ORDER

Industrialization leads not only to an increased proportion of nonproductive old people but also to an increased proportion of pro-

[5] In many primitive societies the aged who require a great deal of care and those who would seriously impede or prevent movement of the group may be abandoned or even killed It seems safe to say that life-preservation is a universal value, but that, like other social values, it is not maintained "at all costs" to the individual or the group See Leo W Simmons, *The Role of the Aged in Primitive Society* (New Haven· Yale University Press, 1945), especially Chap. VIII, "Reactions to Death"

ductive workers in the later years of life. Like the number of people beyond the ordinary retirement age, the proportion of older workers can be traced not only to declining death rates but also to later reductions in birth rates The decline of birth rates leads to an increased relative number of persons who represent larger "baby crops" in earlier years [6] The "bulge" in the age structure, representing the gap between declining birth rates and reduced death rates, must either move to steadily higher ages or else "move out" through increased mortality at the working ages The latter is a highly improbable alternative in peacetime Every industrial country provides evidence of this "bulge," although its dimensions vary with the demographic history of each area

Several implications of this generalized phenomenon of an aging labor force are important for their bearing on productive organization in industrial societies. These implications may be appraised in terms of three ratios: workers and dependents, older and younger workers, and labor force entrances and retirements

Although age is by no means the sole criterion of inclusion in the labor force, it is obviously an important one. For some purposes of examining the relation between age structure and a productive system, it is convenient to make the arbitrary assumption that persons aged 15–64 represent the potential labor force and that those under 15 and those 65 and over represent "dependents" This assumption was made in the discussion of Table 2, above, with regard to the increasing proportion of aged dependents in industrial societies. If now these two groups of "dependents" are treated as one, a significant feature of industrial societies emerges Despite the number of old people in these societies, they enjoy a distinctly favorable ratio of potential workers to probable dependents In the "undeveloped" countries listed in Table 2, there are only about 1.3 persons 15–64 to each person older or younger. In the "advanced" countries the ratio is about 2 to 1. This difference comes about because in industrial societies there is a smaller mortality

[6] For an exposition of this process and its projection into the future, see Frank W Notestein and Others, *The Future Population of Europe and the Soviet Union* (Geneva League of Nations, 1944), Chap IV, "Changing Age Structures, 1940–1970," and Chap V, "Manpower"

during working life (so that a person who reaches adulthood is more likely to be active 40 or 50 years later),[7] and more importantly because efficient human reproduction reduces the burden of supporting the young. The dependency of the young is a very serious drain on the productive arrangements in "undeveloped" countries. Were this simply a question of high birth rates, it might be argued that large accretions to the potential labor force are thereby assured. Actually, however, high birth rates are partially offset by high mortality in infancy and childhood. This means that many children are supported and educated formally or informally at very considerable social cost without living to contribute to their own and others' support. The waste involved in such circumstances is obvious and significant. Viewed solely in these terms, the industrial societies have clear advantages in age distribution, always assuming that economic arrangements permit effective utilization of potential manpower.[8]

The potential advantages to industrial societies in the ratio of workers to dependents may be offset by other characteristics of age distributions in industrial societies. One very important consideration is the ratio of older to younger workers. Durand shows that in the United States male workers 45 and over comprised only 26.0 per cent of the male labor force in 1890, 34.2 per cent in 1940, and systematic projection leads to an estimate of 36.9 per cent in 1960. Those under 25 comprised 27.7 per cent in 1890, only 19.0 per cent in 1940, and may fall to 15.3 per cent in 1960.[9] Thus the oldest workers were slightly outnumbered by the youngest in 1890, but by 1940 had become twice as numerous as the youthful members

[7] Seymour L. Wolfbein, "The Length of Working Life," *Population Studies*, 3: 286–294, December 1949.

[8] Part of this advantage is a "transitional" phenomenon, since no industrial society has yet absorbed the full impact of the "bulge" in the age structure as it affects the number of persons over 65. The ratio of persons in the working ages to those over 65 is likely to be even lower, therefore, in the immediate future. Meanwhile, the upward swing in birth rates following World War II, even if temporary, will affect the ratios here discussed. It is virtually certain that the 1950 census will show that the United States now has a lower ratio of working ages to old and young dependents than in 1940.

[9] John D. Durand, *The Labor Force in the United States, 1890–1960* (New York: Social Science Research Council, 1948), p. 40.

of the labor force. Although increased educational exposure during this period had some effect on delaying entrance into the labor force, this change is mainly due to the factor of the changing age of the population.

It is not possible here to explore the full implications of this change in labor force composition It may be appropriate, however, to mention some of the more obvious problems One of these is the geographical and occupational *mobility* of workers Family responsibilities, property ownership, community ties, and probable attitudinal changes combine to make the older worker less sensitive to geographical and occupational income differentials than is his younger and less encumbered colleague. In a very real sense, the longer a worker's experience in one place and occupation, the greater his "trained incapacity" for taking other jobs. A related problem deriving from the greater proportion of older workers is that of *efficiency* on the job Here one must balance decreased physical stamina and mental ingenuity against accumulated knowledge and experience. Whether the net effect is positive or negative will depend in large measure upon the organization of productive work and upon the degree to which employers and labor unions are sensitive to the problem

A further problem may be regarded as another dimension to the problems of mobility and efficiency. it is the *flexibility* of an aging industrial labor force with regard to the changing demand for skills The industrial system of production depends upon and fosters rapid technical change Now technology is often discussed as if it were a factor external to and impinging on labor, but it may also be viewed as the useful knowledge and skills represented in the productive sector of the population (including inventors and engineers as well as production workers) Technical innovation, fostered by one sector of the labor force, has two significant effects upon the demand for skills as related to age.

(1) Any technical change, whether an alteration of process alone or of both product and process, is likely to cause some degree of obsolescence of skills. This obsolescence may come about either through the demand for different skills of something like the same

relative order or through the dilution of skills through further mechanization and specialization. Specialization decreases the monopoly by the old and experienced of fairly complex but relatively static knowledge of social importance This does not mean that all workers become unskilled, as is sometimes foolishly asserted, but only that any given command of skills is subject to fragmentation and obsolescence through technical changes.

(2) In any case, however, continued technical change requires a continued supply of new and high-order skills, whether as "operators" of the process or as designers, technical planners, and coordinators A new occupation added to the repertoire of the labor force is likely to be filled by a new or recent entrant to the labor force. Conversely, the older an occupation, the greater the probable average age of its practitioners This principle is commonly known and its implications commonly missed. The formal training programs for the young, whether at intermediate or advanced level and whether public or private, have been relied on to provide the ever-changing vocational skills With a reduced proportion of younger workers, there is reduced adaptability to technical demands.

If the industrial system is to maintain anything like its historic dynamism, it would appear that adult retraining programs, designed to help supply the changing demand for skills, must be a definite part of social policy in the older industrial societies. This is a case where a change in social organization may serve both the interests of the individual worker whose skill has become obsolete and the interests of the economy as a whole.

This leads to a consideration of the third ratio mentioned above, that between labor force retirements and entrances For the present and near future, severances may nearly equal additions, unlike the usual situation in populations recruited by high fertility and eroded by high mortality even in the middle years of life The principal implication of the decreasing proportion of young workers has already been indicated One or two other comments are in order. An increased number of retirements for "superannuation," whether voluntary or not, clearly poses problems of pensions or

other support. Whether a large annual cohort of new workers is advantageous or not very much depends upon the state of the labor (including military) market. During the depression of the early 1930's the ranks of the unemployed were steadily swollen by new job aspirants without a correlative withdrawal of older workers by death or retirement Aside from the problem of labor force flexibility discussed above no clear conclusion can be drawn from the probable decrease in the proportion of young labor force entrants in the near future.

It is possible, however, to conclude that the increasing age of the productive sector of the population in industrial societies presents clear challenges to public policy. It has been suggested that attention needs to be given to the organization of production for maximum adaptability to the characteristics of older workers, at the same time that the flexibility of the labor supply itself is fostered by adult retraining facilities Changes in retirement age and employment policies will also affect the quantity and quality of labor. But even so the problem of the aged in industrial societies will not have been solved.

THE AGED AND THE INSTITUTIONS OF INDUSTRIAL SOCIETIES

Perhaps the fundamental problem of the aged in industrial societies is that they have no definite place in the social structure. That is, there are no regular, institutionally sanctioned responsibilities for their care and social participation which square with both traditional values and the requirements of an industrial system To test these assertions, rather careful attention must be given to the place of the family in industrial societies [10]

The family system of the modern Western world approaches one extreme along a range that extends from complete emphasis on extended biological kinship (the consanguine family) at one pole

[10] Although the exposition here differs sharply in emphasis, it follows the general theoretical position developed by Talcott Parsons in *Essays in Sociological Theory, Pure and Applied* (Glencoe, Ill The Free Press, 1949), Chap. X, "Age and Sex in the Social Structure of the United States," and Chap. XI, "The Kinship System of the Contemporary United States."

to complete emphasis on the marital relationship and its immature progeny (the conjugal family) at the other. Along this range the family in industrial societies is clearly nearer the conjugal type, and the degree of its approximation to the pure type stands in some proximate relation to the degree to which the various societies approach the pure type of urban industrialism as a mode of social organization The most frequent appearance of the pure conjugal family appears to be in the United States.

The significance of this family type for the role of the aged may best be seen through comparison and contrast with other kinship systems. It is the universal function of the family to provide sanctioned sexual relations and legitimate reproduction, to educate the child in attitudes and at least partly in facts, and to establish the child as a member of society as a whole. A child is a member of society only by membership in an effective kinship unit, or in some substitute unit recognized as such.

In most societies, however, the immediate family of reproduction is part of an extended kinship system, so that the child is *structurally* related to siblings and parents but also to grandparents and collateral relatives descended from common ancestors (uncles and aunts, cousins of various degrees) *Structurally* related is emphasized because that form of kinship system sets definite patterns of social rights and responsibilities among kinsmen, varying with their relationship as defined in the structure. A most important attribute of the consanguine system in the present context is that it retains its forms of social relationships throughout the life of any member, shifting only by change of status from child to parent or grandparent (and their collateral equivalents) as a normal part of growing older The important point is that the child remains a member of the same extended kinship group, with definite and continuing rights and responsibilities, even through marriage, parenthood, and old age Neither adulthood nor marriage severs ties with the parental family and its broader kinship liaisons. The aged in such a system tend to acquire increasing power and responsibility, with correlative security, at least as long as they retain their normal faculties.

The extreme conjugal family stands in marked contrast to such a system As in any system, the conjugal family is the nexus between the child and society But the family into which a child is born and the family into which his children are born are two quite different units, only tenuously related through the single individual. In the conjugal system when an adult married person refers to "his" family he must perforce mean his wife and immature children and not his parents or brothers and sisters In short, the conjugal family in the type case involves a radical separation of the generations, and of adult brothers and sisters They are all members of different families. Each married adult male has a wife who also no longer belongs to the kinship unit into which she was born, although this separation is not uncommon in human societies.

The implications of this system for the role of the aged are clear and far-reaching. Old people have *no* definite claim upon an extended kinship group for support and social participation The primary obligation of each brother and sister is to his or her *own* family, *and the same is true for married children*

The increasing incidence of the conjugal family type in industrial societies is often interpreted in terms of "loss of functions" to more specialized agencies (government, factory, church, school, organized recreation) With this interpretation there are commonly explicit or implicit overtones of moral condemnation for those who have allowed timeless principles of kinship obligations and solidarity to fall into neglect. These interpretations usually rest upon a fundamental misapprehension of the structural requirements of modern industrial societies.

The conjugal family makes possible and indeed fosters the determination of adult status upon the basis of qualities and achievements of the individual as they are developed through childhood and maturity. This system of filling adult occupational and other positions is quite different from the determination of adult status at birth on the basis of criteria such as kinship group and birth order, over which the individual has no control. The efficiency of the industrial system rests upon the recruitment of individuals as individuals, for their technical competence and not for their mem-

bership in a kinship system. An adult can be assigned a status appropriate to the system and various rewards for his own performance in the occupational sphere only if he is not directly and completely dependent upon the success of his parents and siblings. This mode of occupational placement and reward requires also a substantial amount of movement from place to place and between occupations, and the necessary motivation to seek enhanced opportunities. Changes of this sort are most easily accomplished if the family is sufficiently small and free of entangling alliances with kinsmen

The family universally prepares the child for adulthood, with or without the help of other agencies It follows from the thesis presented here that the conjugal family supports the industrial system by preparing the child for adult independence of his parents and siblings

Once this relationship between family and society becomes clear, considerable light is thrown on many contemporary problems associated with the aged For example, the care of the aged is often discussed in terms of urbanization and urban housing But urbanization simply gives a geographical dimension to the basic phenomenon of occupational change And housing is merely a symptom and not a very reliable one at that Comparisons of the ease of housing the aged in rural communities as contrasted with the cramped space in urban apartments are likely to involve unrecognized comparisons through time and across social strata Not all rural families live in large, rambling dwellings where aged parents may be given a room and a corner in a spacious living room The spacious dwelling unit is a rarity in rural as in urban communities, crowding is common in both.

The hidden comparison through time is that between the standards and expectations typical of the semi-isolated rural community at the turn of the century and those of urban dwellers (but also of many of their rural contemporaries) at the present time Crowding is resented only when it is recognized as such, and it is increasingly alleged precisely because the basic structure of the modern family encourages spatial as well as social separation of the generations.

Married children have both the right and the duty to "lead their own lives"

The hidden comparison across social strata is that between low-income farm families, where more traditional types of kinship relations are likely to prevail, and white-collar and professional groups in the cities, which are precisely the most mobile as compared with parental occupations and status and as compared with the aspirations and expectations of other occupational strata. It is for the competitor in the urban occupational sphere that the separation of generations is most effective

The unwillingness of the young married adult to make serious sacrifices for the benefit of his parents is then something different from a general attrition of morals If he makes such sacrifices he not ony prejudices his own legitimate aspirations but also jeopardizes his responsibilities to his own children.

The foregoing structural analysis is, however, a little too neat. The conjugal family is *not* universally adhered to in industrial societies. In major sectors of the social systems of Western Europe, where change has been somewhat more gradual, and in older rural communities and among the very poor and families representing several generations of wealth in the United States, the generations and collateral kinsmen retain a variable but important range of social ties. These areas and sectors of the social order are precisely the least mobile in terms of generational change and of movement within a single career It is therefore not accurate to refer to the pure conjugal family as *the* kinship system of industrial societies but only as the kinship system best integrated with urban industrialism.

This lack of uniformity in practice is also reflected in the normative system The conjugal family is *not* completely institutionalized, even in the United States. An adult married person may be criticized both for continuing to consider himself a member of his parental family and for failing to provide for his aged parents. Age-respect, honor to one's father and mother, and indeed intimate affectional bonds between generations are traditional values that do not mesh neatly with intergenerational mobility and achievement

of social status Parents are expected to provide maximum opportunities for their children, but without commensurate assurances for themselves

Persons now in or approaching inactive old age were reared before the end of the last century, quite probably in a rural environment and certainly when urban industrialism was less firmly entrenched. They are likely to be kinship-oriented to a degree that disturbs their children and bewilders their grandchildren Here the lack of clarity and uniformity as to the nature of the American family system may have acute consequences the total incompatibility between the expectations of aged parents and their children as to their mutual obligations. Of the two, the children are the more likely to be ambivalent because of the inconsistency between the older expectations and the newer ones.

It is important to emphasize that this ambivalence is not one between moral obligation and crude self-interest It is a moral obligation of the middle-class breadwinner to respect his primary responsibility to his own immediate family.

Only on the most superficial view can the sloppy sentimentality surrounding Mother's Day be attributed to clever commercialism. Its emotionalism is also cultivated and sanctified in urban churches. But the basic factor is surely the widespread prevalence of uneasy consciences about aged parents cut off from their adult offspring.

At the same time there are manifold signs of a sense of frustration among the aged. As Parsons suggests,[11] it is highly probable that the demand for pensions, especially as represented in pension clubs, is only partly a search for financial security. Emotional security is perhaps the acute need of the aged, and this can be assured only by stable and fairly intimate relationships that are regarded by participants as good in themselves and not as inferior substitutes

There is a kind of deep tragedy in the vagaries of the normative patterns as they now stand. Parenthood, far from being "old age insurance," is a type of sacrificial duty. In the urban environment large families generally hamper both generations in competition for status. But even the small family does not assure the position of

[11] *Op. cit.*, pp. 231, 247.

the parents after their children reach adulthood. The parents' freedom from responsibilities is likely to be too late for effective utilization for enhancement of the parents' social status of the money, time, and effort formerly spent on the young. Even more important is the lack of satisfying social participation, as the available activities substituted for those centering around the family are likely not to provide the emotional sense of belonging and being needed. The aged are in effect members of no family except their own truncated one If that is further severed by death of one member, the awkward question of living arrangements arises. And there are few definite and approved patterns for filling the gap

The tragedy, however, does not consist primarily of the separation of the generations Rather it arises from the differing expectations of the aged and their children as to rights and responsibilities. This in turn derives from the incomplete institutionalization of the conjugal family. Failure to recognize this situation accounts in large measure both for the lack of attention to the social participation of the aged and for the apparent feeling of the aged that available activities are inferior substitutes for kinship bonds

The same complex process loosely called "urbanization" and "industrialization" has made it possible for more people to reach old age and has made it difficult or impossible for the aged to be used and supported in conformity with older patterns and values. It has been argued here that continued efficiency and technical innovation in the industrial system will require modifications in the organization of productive assignments and definite provisions for dealing with the obsolescence of skills of the older worker, probably through adult retraining It has also been argued that the type of family system best fitted to the industrial order is incompletely supported by social norms. This fact has further implications not only for the expectations of the aged but also for the scant attention society has given to the emotional as well as financial security of old people and to the types of social participation which will be within the capacities and expectations of the aged

The problems of the aged will be alleviated but not solved by pensions or other forms of financial security The reintegration of

the aged into an extended kinship system would entail tremendous sacrifices in the organization of industrial societies with their attendant norms—sacrifices of such degree and complexity as to result in a quite different form of productive organization. A solution consistent with the industrial order would require new activities and organizations *appropriate* for the aged, appropriate being defined not only in terms of their capacities and interests, but also in terms of ethical principles commonly held in the society at large.

REFERENCES

CLAGUE, EWAN, "The Working Life Span of American Workers," *Journal of Gerontology,* 4 285–289, October 1949

DURAND, JOHN D., *The Labor Force in the United States, 1890–1960* (New York Social Science Research Council, 1948)

FRIED, EDRITA G, "Attitudes of Older Population Groups toward Activity and Inactivity," *Journal of Gerontology,* 4 141–151, April 1949.

KERR, CLARK, J DOUGLAS BROWN, and EDWIN E. WITTE, eds, *The Aged and Society* (Champaign, Ill Industrial Relations Research Association, 1950)

KISER, CLYDE V, "Significance of Our Aging Population," in New York State, Joint Committee on Problems of the Aging, *Birthdays Don't Count,* New York State Legislative Document (1948) No. 61 (Albany? 1948), pp 66–88

NOTESTEIN, FRANK W, and OTHERS, *The Future Population of Europe and the Soviet Union* (Geneva League of Nations, 1944), Chap IV, "Changing Age Structures, 1940–1970," and Chap V, "Manpower."

PARSONS, TALCOTT, *Essays in Sociological Theory, Pure and Applied* (Glencoe, Ill The Free Press, 1949), Chap X, "Age and Sex in the Social Structure of the United States," and Chap. XI, "The Kinship System of the Contemporary United States."

POLLACK, OTTO, *Social Adjustment in Old Age A Research Planning Report* (New York Social Science Research Council, 1948)

SIMMONS, LEO W, *The Role of the Aged in Primitive Society* (New Haven Yale University Press, 1945).

WERMEL, MICHAEL T, and SELMA GELBAUM, "Work and Retirement in Old Age," *American Journal of Sociology,* 51 16–21, July 1945

WOLFBEIN, SEYMOUR L, "The Length of Working Life," *Population Studies,* 3 286–294, December 1949.

CHAPTER XXII

THE INDUSTRIAL COMMUNITY

ALONG THE streets of an American town in the cool morning hours the industrial army, dressed in uniforms roughly symbolic of occupational differences and armed with field rations in metal lunch pails, hurries toward the gates of some local factory. Later a shrill steam whistle indicates that another production day has begun, or another "shift" of workers has manned the machines. A little later the businessmen and clerks, the administrators, bankers, and professionals will walk or ride to office and administration buildings. For the bulk of the gainfully occupied citizenry of the community, a working day has begun Although at other times of the day or the week, or in a slack period in the so-called "business cycle," another impression might be gained, the "normal" state of affairs we have been briefly calling to mind leaves the unmistakable idea that the life of the community revolves around the business of producing, trading, and earning a living

Certainly the most obvious, the most daily apparent, relation of industry to society is to be found in the workaday life of an industrial community It is here that the role of occupation and the hierarchy of industrial organization has the most immediate effect upon the life patterns of the individual. It is in the out-of-work life on American Main Streets and suburbs that the distinctions between the social life of the administrative and professional people and their families are most readily distinguishable from the associations and activities of the "working" population Conversely, it is in this small-scale impact of society upon industrial life that the grouping of people in their nonoccupational life reflects itself in

the industrial organization In our previous discussions of these matters, looking from the inside of the factory out upon the community, we have had occasion to observe the high relevance of religious, ethnic, and more intimately personal affiliations and differences upon the groupings and hostilities, the "efficient" or "inefficient" productivity of workers in the offices and shops.

It is our purpose in the present chapter to examine the interdependence of industry and the community, with some attention to the practical problems of industrial location on the one hand, and of the community's stake in economic production on the other We shall then turn to some of the more immediate problems of conflicting interests, the powers and reciprocal rights and obligations that necessarily develop within the industrial community Finally, we shall attempt to give point to these general considerations by a survey of various types of industrial communities, taking as our chief point of reference the relative dominance of industrial (and more particularly managerial) interests as compared with other aspects of communal life.

INTERDEPENDENCE OF INDUSTRY AND COMMUNITY

It is a perfectly obvious truism that an industry must locate somewhere, and that the personnel of a productive establishment must depend upon a community of some sort for their economic demands, to say nothing of other social activities It is, of course, not equally true that a community is *directly* dependent upon locally established production, as long as trade facilities are available for securing necessary manufactured products. Yet short of completely self-sufficient agricultural production (a rarity in the modern world), the community must at least depend upon a trading center, and offer locally produced goods and services in exchange for those produced elsewhere

If we limit the meaning of "industry" to mining, commercial agriculture, and manufacturing (and thus exclude finance and trade, and the marketing of services such as government and recreation), it cannot be said that every community must have one or more industries, although it remains true that every industry must de-

pend upon a community. Of course, in most concrete cases such abstract questions of relative dependence are not likely to arise in this form, once an industrial activity has been located in an existing community or served as the attraction for the establishment of a residential and trading center, the dependence of that center upon the economic life of the industry may be absolute. These general considerations are perhaps best approached successively from the point of view of industrial managers concerned with the location of establishments and from the point of view of the community that is dependent for its existence or expansion upon the livelihood provided by industry.

The Location of Industry As a business enterprise oriented toward the balance sheet of productive costs, any industrial establishment must weigh certain factors in choice of a location. Those factors that can be most easily assessed in monetary terms are, of course, raw materials and resources, sources of power, markets, transportation routes and costs, the availability of suitable sites at reasonable cost, and so on. These factors clearly bear no constant relationship to one another, since their importance varies with the type of establishment as well as with changes in market and other situations beyond the immediate control of industrial management. Thus the primary consideration for agricultural and extractive enterprises is clearly that of resources, although this is also clearly in the nature of a minimum condition. A virtually inaccessible deposit of high-grade iron ore cannot become the economic foundation of a thriving community until such time as transportation routes are established. So-called heavy industry must weigh transportation costs more heavily than manufacturers of small articles for a near-by market The tremendous amounts of electrical energy required for the manufacture of aluminum prescribe location of plants near enough to the sources of that energy to make its use economically feasible These and similar considerations indicate the complexity of the problems facing the technical experts who are asked to determine the location of industrial plants The situation is, moreover, a dynamic rather than a static one, especially in view of an ever-changing technology which may make new raw materials available,

open markets for new products, reduce transportation costs, or in many ways upset the previously existing relationship among the variables.

It is not meant to imply that all productive establishments are located with such care, and certainly not that plants can be moved about like checkers to take advantage of the latest developments The necessity for careful planning clearly increases with the amount of risk involved, the stringency of price competition, and similar considerations Then too, we noted in an earlier chapter that a characteristic of the "factory system" is that of fixed capital. What this means in the present context is that once a heavy investment in buildings and equipment has been made that situation may well be the overwhelmingly important factor in any future consideration of location Although industrial establishments display both mortality and mobility, a fact to be discussed more fully below, it remains true that for the bulk of productive establishments the initial decision is a reasonably permanent one

In so far as the factors that determine the location of industry can be expressed in monetary terms (which may imply extensive technical knowledge and predictability), the problem may be approached by the simple expedient of evaluating the relative advantages and disadvantages and reaching a conclusion. But such a procedure must either rest upon assumptions of "all other important things being equal," or else produce a partial rather than a final conclusion. And it is in the actual "inequality" of other important considerations that the significance of the dependence of industry upon an industrial community is most evident Thus the economics of industrial location as we have briefly sketched it must assume the existence of an abundant, qualified, and "fluid" labor supply Now although this assumption has been more or less correct throughout most of the development of industrialization, it is actually of highly unequal validity in time and space The fluidity of labor supply is never complete with respect to either location or quality "Economic opportunity," which presumably induces migration from less favored areas, must be at least sufficient to offset the expenses of movement, to say nothing of the familial and community ties, home

ownership, and so on, which provide major barriers to mobility based solely on shrewd calculation of monetary advantage. Nor is the abundance of qualified labor always a safe assumption. The theory of course is that the unemployed and those seeking greater opportunity will together descend upon a new manufacturing location, at their own expense, and thus relieve the accountants from the necessity of considering labor supply or costs as a factor in location. However, barriers to mobility, labor shortages due to expanded production, local and regional wage differentials through unequal unionization, or a variety of other circumstances, belie the theory. Ample illustration of this has been provided during wartime with the location of plants in the open countryside under the naive assumption that wartime labor shortages and the absence of housing and other community facilities would make no difference. The minimum penalty has been high rates of turnover and absenteeism.

With respect to houses, trade areas, schools, churches, professional services, and countless other aspects of normal community life required or expected by contemporary industrial workers, the company cannot be simply indifferent. In choosing a location it must either seek a community with services already established, or aid in their establishment in a new community. Indeed these considerations must figure at least as large as problems of industrial water supply, waste disposal, and police protection.

For the introduction of the factory system in countries or regions without industrial experience and traditions, the problem of labor supply in the qualitative and attitudinal sense is fully as important as considerations of raw materials, transportation, markets, and even the quantitative supply of able-bodied workers [1] Even in older industrial areas there are sociological nuances in the patterns of social organization that may materially affect the economic as well as the social success of the enterprise. One important consideration is the social composition of the potential work force. If the labor supply is characterized by fundamental cleavages along ethnic, religious, or other lines the single company may find itself incapable

[1] See Wilbert E Moore, *Industrialization and Labor· Social Aspects of Economic Development* (Ithaca Cornell University Press, 1951).

of staffing its operations regardless of its desire to consider these distinctions as irrelevant to technical competence.

A consideration of a different order arises with respect to the characteristics of urban concentration and the ecology of the city These pose problems of the proximity of residences to places of work and the correlative problem of rapid transportation and traffic control.[2] There is some evidence that voluntary absenteeism increases with the distance of workers' residences from their place of employment.[3] If zoning regulations prohibit manufacturing establishments in residential areas and the means of transportation to available manufacturing sites are already overburdened, other advantages offered by location in a particular city may be overbalanced by effective inability to get workers to the plant.

The extensive literature concerning industrial location—a subject to which economists and economic geographers have devoted considerable attention[4]—neglects in general the foregoing and other equally pertinent questions. The additional questions are chiefly those of a legal or normative character—ranging from attitudes of sympathy or hostility to the more formal expression of those attitudes in terms of organized interest groups or legislative enactments

The community may provide various inducements to attract industrial location. Yet a community which is not completely dominated by industrial management may (and normally will) also establish various restrictions upon industrial location and activities in the protection of other interests. Thus most towns and cities

[2] See Gerald W Breese, *The Daytime Population of the Central Business District of Chicago* (Chicago University of Chicago Press, 1949), Kate K Liepmann, *The Journey to Work* (New York Oxford University Press, 1944)

[3] From an unpublished study carried out by the Industrial Relations Section at Princeton University

[4] See, for example, Edgar Malone Hoover, *Location Theory and the Shoe and Leather Industries* (Cambridge Harvard University Press, 1937), Part I (Chaps I–VI), "The Theory of Location", Hoover, *The Location of Economic Activity* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc , 1948), Alfred Weber, *The Theory of the Location of Industries*, tr by Carl J Friedrich (Chicago University of Chicago Press, 1929) For other references see Douglas Moore McDonald, *A Select Bibliography on Location of Industry*, Social Research Bulletin No. 2 (Montreal McGill University, 1937).

have "zoning" ordinances which may prevent the location of a plant in an otherwise desirable location in a residential area. Similarly, local governments are frequently pressed into restricting various industrial "nuisances," such as noise, odors, poisonous fumes, or stream pollution and other unhealthful practices in the disposal of wastes Indeed, the local community may prevent industrial operation altogether, as in the prohibition upon brewing and distilling alcoholic beverages or the prohibition upon endangering home sites by mining operations Labor unions, organized farmers' groups, or even religious groups in a particular community may have (from the industrialist's point of view) an unsavory reputation with respect to the policies of industrial enterprise. Since these are factors that vary widely from one community or area to another, the mere location of industry, to say nothing of its subsequent relations with the community, depends on considerations which are incapable of neat appraisal in a double-entry account book

The Community's Stake in Industry. While the managers of a new plant attempt to find a "favorable" location, and the managers of established plants attempt to keep their position as favorable as possible, the community on its part may seek to attract or retain industrial establishments.

Clearly the chief stake a community has in local industry is in the payrolls of the company. The plant is not only a direct source of employment for the local citizens, but the trade and services required by the employees provide income for businessmen, insurance salesmen, physicians, lawyers, and a greater or smaller host of others The clergyman's salary and the plumber's wage may come indirectly from the local mill Although the intricacies of trade and exchange are difficult to trace, and it would be difficult to maintain that even in a one-industry community the industrial payroll is the sole source of "wealth," the disastrous effect upon such a community when the plant temporarily or permanently ceases operations illustrates clearly enough the community's stake in the payroll.

A secondary source of advantage to the community from a local industrial establishment is to be found in the collection of taxes for local government, education, municipal services, and the like. Again

the advantages derive not only from the taxes collected directly from the company, but from the enhanced value of real estate and other taxable wealth throughout the community

But the effect upon the community of the establishment of a factory or a near-by mining operation cannot all be put in monetary terms. Industrialization inevitably means a fairly extensive modification of previous community organization, to say nothing of familial relationships and personal behavior Conservative elements in a rural community may view with considerable misgiving any imminent industrialization. It is undeniably true that industrialization is normally accompanied by urbanization, in the social if not in the strictly numerical sense The commercialization of recreation, the introduction of larger varieties of manufactured products through a more extensive monetary exchange, and even the adoption of "urban" attitudes with respect to the independence of women, the practice of contraception, occupational and class distinctions, and the like—these are some of the results of industrialization that are either welcomed or despised by the local citizenry

For the most part, however, the opposition to industrialization in the United States has arisen from a vociferous but definitely minority group The economic advantages (real or imagined) of industrial payrolls and taxes, plus the welcome extension of urbanism, have combined to place communities in competition to attract industry, and so to order their local affairs that an existing plant will not close its doors There is, of course, an even further factor in the imagined stake of the community in industry, and that is the generally accepted blessings of community size and volume of economic production, particularly if the latter is contributed by many small producers and thus avoids the stigma of Big Business. So oriented toward the ideology of commerce and industry is the ordinary American citizen that he takes considerable pride in belonging to a community that "has the largest volume of pork production in the state of Iowa," or "ships the most lumber to foreign markets," or is "the world center for the manufacture of four-holed pearl buttons." Although there is perhaps some occasional validity for the assumption that "what helps business helps you!" there is no evidence that

the desire to advertise the advantages a community can offer to an enterprising industrialist rests upon any careful individual calculation of monetary returns. Just as the opposition to industrialization may be said to derive from nonrational sentiments, so there is every reason to suspect that its encouragement is also at least partly sentimental.

Methods of Attracting Industry. The community that seeks industrialization or additions to its industrial support need not rely solely on favorable position with respect to raw materials, power, markets, or transportation. Although the community that enjoys some advantages in these respects will not hesitate to point them out, chambers of commerce and similar organizations are sufficiently realistic to recognize the importance of other considerations. In the business and financial sections of metropolitan newspapers and in national magazines one may read advertisements on the order of the following.

LOCATE IN THE HEART OF INDUSTRIAL MARYLAND

If you are looking for an industrial site close to the Eastern markets and well situated for foreign trade, we recommend to your attention a number of unexcelled locations in progressive Marysville. Served by Eastern Shore and Transcontinental Railroads, close to Pennsylvania and West Virginia coal and to new hydroelectric developments, heavy and light industry will find many advantages Low taxes, no restrictive or "business busting" legislation. Ample supply of skilled and unskilled laborers No labor troubles in more than ten years

Let us send you our illustrated brochure entitled "America's Most Progressive Industrial Community." Just write to

Industrial Bureau of Marysville
Marysville, Maryland

The foregoing hypothetical advertisement illustrates many of the more common inducements offered to industrialists. A favorable economic and legal situation is of course the most important factor Especially in recent years the presumed advantages of an unorganized and "tractable" body of workers have figured prominently in industrial location But the community may be in a position to offer added incentives The most common of these is that of tax reduction

or complete tax abatement for a period of years Almost equally common is the offer of free sites, contributions to the building of railroad sidings, or similar directly financial inducements In fact, if the bidding becomes spirited community political or business leaders may be tempted to offer more than sober reflection would justify in economic terms.[5]

Interdependence and Conflict In the relations between an established industrial concern and its local community, many of the same problems are posed as appear in the question of industrial location Traditionally the same power of giving or withholding employment, which ensured the dominance of the employer over the employee, also ensured his importance in the affairs of the community Thus, the more nearly exclusive the economic dependence of the community upon the company, the heavier the weight of company policy in the affairs of schools, churches, fraternal organizations, and political groups in the town

The traditional dominance in direct proportion to economic power remains the basic principle with respect to the relative position of management and the community today. The various types of industrial communities discussed in the latter part of this chapter are chiefly distinguishable in terms of relative degrees of subservience to industrial interests But the principle is no longer unalloyed (if indeed it ever was). The fact that there are independent sources of power, particularly in the form of more strictly "political" control, suggests the possibility and explains the occurrence of communal opposition to company interests and policies.

It is, of course, true that a common pattern of management-community relationship is that of the extension of managerial

[5] For a review of common methods used to attract industry, see Chamber of Commerce of the United States, Department of Manufacture, *Special Inducements to Industries* (Washington 1931) Some interesting case materials concerning the trials of certain New England communities in attracting and retaining manufacturing plants are given by Carle C Zimmerman, *The Changing Community* (New York Harper & Brothers, 1938), Chap IX, "Lonely's Belligerency", Chap X, "Utopia's Belligerency", Chaps XX–XXI, "Zenith's Industrial Tolerance" Zimmerman's treatment heavily accents the advantages of tolerance and concessions to industries, and avoidance of challenges to industrial domination by labor unions or "agitators"

authority over most of the affairs of the economically dominated community. This domination becomes especially evident in some cases of industrial conflict, where control of the law enforcement agencies, as well as of the seemingly disinterested "Citizens' Committees," lends additional and possibly decisive force to the interests of the company [6] The threat to close or move the plant is one of the most convincing arguments used by the company, and directly illustrates our discussion of the dependence of the community upon industrial payrolls In fact the problem of migratory labor has been so much discussed in recent years that little attention has been given to the problems raised by migratory industry. Yet so common is the phenomenon of changing community economies that two extreme cases are commonly recognized as "boom towns" and "ghost towns," both of which are discussed below Our present interest is in the fact that the stake of workers, and less directly of the community as a whole, in the continued operation of plants is so great that this very dependence serves as an effective instrument of managerial power in the community

Again, however, it must be emphasized that organizational specialization is sufficiently developed in contemporary life that labor unions, political parties, religious organizations, and many other groups may raise a more or less effective dissenting voice in councils on local affairs Part of the move for community independence is clearly a challenge to the primacy of narrowly economic interests, while part is based upon a challenge to the exclusive or universal character of the economic interests represented by management

The "Community Obligations" of Management. The foregoing discussion provides some grasp on the slippery problem of the obligations of management to the community, and the reluctance of some

[6] Many of the indirect weapons of management in industrial conflict, as discussed in Chap XVI, depend on gaining the support of that most important segment of the "public" represented by the local community and its political and legal structure See Agnes Hannay, *A Chronicle of Industry on the Mill River*, Smith College Studies in History, Vol 21, Nos. 1–4, October 1935–July 1936 (Northampton, Mass Smith College), especially Chap VII, "Labor under Local Enterprise", Liston Pope, *Millhands and Preachers A Study of Gastonia* (New Haven Yale University Press, 1942)

elements in the community to become recipients of such obligations. The issue at stake, of course, is the character and extent of the leadership and general "good works" expected of persons of wealth or high business position, and acceptable to the community.

The roots of the doctrine favorable to the extensive influence of "persons of property" are very deep in American tradition. The main transformation of English institutions with regard to social stratification in the northern American colonies was in the direction of substituting an *aristocracy of wealth* based on business acumen for a hereditary aristocracy of landed gentry. Thus the idea that political leadership (as well as the necessary economic control) should stem from the most "respectable" elements in the community. In this connection it is interesting to note that property qualifications for the suffrage were universal in the colonies comprising the original United States under the Constitution, even in those areas that had abolished religious and similar qualifications. The community leadership of high-ranking businessmen was throughout the nineteenth century rarely challenged in theory and even more rarely effectively challenged in fact.

But in the development of the factory system and the increased industrialization and urbanization of American society, the fairly intimate and traditionalistic form of local leadership gave way more and more to the specialized interests of big business. This development was all the more marked because of the increasingly corporate character of industrial enterprise, accompanied by what amounted to some form of "absentee ownership," with a more or less mobile staff of resident managers.

It is this turn of events that has disturbed many exponents of the values of community leadership by industry as a whole, or more particularly, by those qualified for community leadership by virtue of managerial ability demonstrated in the world of commerce and industry. The argument is somewhat as follows. In primitive society there is little specialization, and leadership tends to extend into many spheres and contribute to the unification of the whole social structure. Even in the history of Western civilization the kinship system localized in the village community, or, later, the extensive

and pervasive influence of the church as the major social organization, gave integration to the life of the whole community Now, it is argued, the organization and institutions of production and trade occupy a position in the daily lives of the population commensurate with earlier major organizations, but without a commensurate enrichment of social existence In place of the personal, informal, unifying relationships, we have the phenomenon of individuation, the "poverty" of social existence. The moral that one is expected to draw is that this modern organizational equivalent of the medieval church should supply the moral (or at least "integrative") qualities lacking in modern life[7]

The argument proceeds in its specific application to business to maintain that modern business leadership is a leadership of ability, and that high position in a powerful organization means not only the possibility of considerable extension of that power, but also exercise in administrative skill Thus, it is claimed, the ethical responsibilities of business leadership should proceed beyond the protection of narrowly economic interests to one of genuine social leadership. More or less explicitly the doctrine is maintained that

[7] The general character of this argument, without however the uniform agreement upon the moral to be drawn with respect to business leadership, is to be found in an impressive quantity of literature It has formed the basic assumption of more than one social theorist, of whom Ferdinand Tonnies may be taken as an outstanding example. His contrast is that between *Gemeinschaft* (community) and *Gesellschaft* (society), with the latter, of course, representing the present "unhappy" state of affairs See his *Gemeinschaft und Gesellschaft*, translated as *Fundamental Concepts of Sociology* by Charles P Loomis (New York. American Book Company, 1940) See also the "Foreword" by Pitirim A Sorokin in *ibid*, in which Professor Sorokin gives a brief account of the wide acceptance of the argument

The application of this argument to the social responsibilities of industrial management, in more or less explicit form, is also very common For example, see L R Boulware, "The Business Leader's Larger Job," in Marvin Bower, ed, *The Development of Executive Leadership* (Cambridge Harvard University Press, 1949), pp 49–69, William E Mosher, "The Social and Civic Responsibilities of the Profession of Business Management," in Henry C Metcalf, ed, *Business Management as a Profession* (Chicago A W Shaw Company, 1927), pp 202–214, Oliver Sheldon, *The Philosophy of Management* (London Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd, 1924), Chap III, "The Social Responsibility of Management", T N Whitehead, *Leadership in the Free Society* (Cambridge Harvard University Press, 1937), Chap XII, "The Organization of a Community," and pp 253–259

"the employer is the natural leader of his men," and, by very slight extension, that this is the pattern of leadership that the employer should exercise in the community [8]

The foregoing line of reasoning seems to call for some analysis, both because it is a view widely expressed and because the implications of such a view are far-reaching. Thus, it is immediately pertinent to examine the "leadership principle" that would extend the authority and responsibility of the industrial manager to include the ordinary affairs of the community So examined, it appears that the authority and leadership attributed to the business official are based on position in a highly structured organization As such, he is a *responsible* individual The argument summarized asks increased responsibility for community affairs on the part of industrial managers But the argument neglects to specify· *responsibility to whom?* What is really being suggested is a moral conversion of industrial officials to accept a vague sentimental or ethical responsibility for those over whom they have the skill, and possibly the power, to exercise leadership.

Any leader, even a dictator, will and must attempt to claim that he is acting in the best interests of all The suspicion with which managerial leadership over community affairs is viewed is that in an organizational sense there is no responsibility without *accountability* And in a democratic political order, that accountability means the representative character of leadership and the following of democratic political institutions.

Put somewhat bluntly, but with essential adherence to fact, the

[8] As part of an excellent analysis of the policies and practices of American employers' associations in comparison with "big business" associations in several other countries, Robert A. Brady has pointed out the great weight placed by business interests on the ideology of leadership, trusteeship, and so on See his *Business as a System of Power* (New York Columbia University Press, 1943), Chap VIII, "Social Policies Status, Trusteeship, Harmony," especially pp 259–274. See also Marshall E Dimock and Howard K. Hyde, "Bureaucracy and Trusteeship in Large Corporations," United States Congress, Temporary National Economic Committee, *Investigation of Concentration of Economic Power, Monograph No 11* (Washington U. S. Government Printing Office, 1940), Part IV, "The Implications of Trusteeship" The case for managerial control of government and society has been argued most forcibly (if not cogently) by James Burnham See his *The Managerial Revolution* (New York. The John Day Company, 1941).

"community obligations of management" are either obligations within the system of power allocation in the community (that is, political organization), or they are no obligations at all

It is somewhat pointless to argue that because business and industry are important in the life of the modern community, that the leadership of the former should *ipso facto* constitute the leadership of the latter Viewed by the participant in the educational, religious, or similar organizations, *there is no effective guarantee that the leadership of businessmen will be disinterested.* In other words, the very fact that such officials represent an organization that is not only powerful but organized around very specialized and explicit goals justifies considerable doubt concerning the treatment of any interests that might conflict with those of the business organization It must be repeated that the responsibility of an officeholder in a bureaucratic system is insured by accountability Even the best intentioned industrial manager could scarcely be expected to weigh his fairly vague obligations to the community as heavily as he does the fairly clear-cut and organizationally sanctioned policies favorable to the financial and managerial interests of the company. Indeed, the officials of any powerful organization must wield their community influence in a way which preserves or enhances the power of the organization to which they are accountable

It seems hard to avoid the conclusion that an extension of the community obligations of management will either be in the interest of the strictly organizational interests represented by management (and thus not community obligations at all), or else they will be asserted and enforced by an independent organization Since the latter case must involve an effective exercise of power, the nature of its action must by definition be political, normally, of course, the existing political organization provides the medium for the control and adjudication of special interests, and it is through elections, law making, court decisions and the like that the leadership (or domination) of industrial officials over the affairs of the community is challenged

It is with these fundamental issues and principles in mind that we can best approach the types of industrial communities, taking as our

chief basis of distinction the relative extension or delimination of "company" interests in the organization of communal life.

TYPES OF INDUSTRIAL COMMUNITIES

It is apparent not only that communities differ widely, but that no single mode of classification would be equally satisfactory for all purposes. Thus, a classification according to size obscures differences in political units of approximately equal size density of population, distance from other communities, occupational distribution, and so on. Yet it is also true that as size increases the specialization of community types tends to decrease, since the sheer fact of size tends to require the development of most aspects of communal living. Thus classifications of urban communities frequently refer to Chicago as a transportation center, Pittsburgh as an industrial center Washington as a governmental center, New York as a commercial and financial center, and Atlantic City as a resort center. Although these distinctions have some merit in the statistical sense of the main single source of income, close examination will reveal that each of these cities has developed in some degree all of the other types of urban economies.

If we limit ourselves to communities directly dependent upon industry in the narrow sense of payrolls of manufacturing and extractive establishments, the problem of classification still remains. As previously indicated, the distinction most significant for the relation of industry to the community is precisely the degree of dependence or indepedence of the community in its relations with industrial organizations. Even so, it will be observed that there is at least a rough correlation between independence and size of the community, for reasons closely related to those just indicated with respect to the diversification of interests and activities in the urban community. Thus we may start our review of the types of industrial communities with the typically small and completely dependent community commonly known as the "company town."

Company Towns. Although industry of the modern type is in a real sense an urban phenomenon, or at least dependent upon an urban civilization, particular establishments may be located in very small

communities, the bulk of whose residents have little contact with urbanism Whenever the location of an industrial concern is decided on grounds exclusive of existing local labor supply, a "detached" industrial community grows up with the influx of workmen and managers and their families, as well as tradesmen and professionals supplying services to the industrial personnel. It is in such circumstances that the "company town" is likely to be established.

In the company town of "pure" type the company buys land encompassing the proposed site of factory, mine, or mill, and also sufficient area for the building of homes, necessary public buildings, roads or streets, and, possibly, even recreational areas The company then builds homes and streets, a school, perhaps a church, provides water, light, and heating facilities, a general "company store," barracks, "bunk houses," or even a hotel for single men and any itinerants, and such other construction as may be indicated by managerial whim or local necessity The workman lives in a company house, drinks company water, reads at night by company light, buys his food at the company store, and walks to the store on company streets. Frequently little money changes hands since subtractions for monthly accounts and other charges are made before the worker receives a check Following a period of unemployment the laborer may work for months or even years without receiving any money, since all money due him above his current debts to the company is applied to the expenses incurred while the company was "carrying" him [9]

The circumstances and motives inducing the establishment and maintenance of company towns are many and varied Some such arrangement may be almost inevitable for the establishment of a new community Individual resources are rarely adequate for establishing even the minimum essentials for the immediate operation of a

[9] Descriptions of the peculiar features of the company town, together with illustrations drawn from mining and textile communities, are given by Lois MacDonald, *Labor Problems and the American Scene* (New York Harper & Brothers, 1938), Chap V, "Company Towns Coal Camps," and Chap VI, "Company Towns Textile Mill Villages" See also by the same author, *Southern Mill Hills* (New York Alex L Hillman, 1928), Jennings Rhyne, *Some Southern Cotton Mill Workers and Their Villages* (Chapel Hill University of North Carolina Press, 1930)

completely new community. But unless the company has other reasons for maintaining its dominance, it may be able to sponsor the necessary developments without actual control, and at the most need retain this all-pervasive influence only temporarily But the fact of the matter is that the operation of a company town is regarded by many concerns as a definite and permanent part of their activity

The company town has, of course, many advantages to the company from a "strictly business" point of view Thus the control of practically the entire economic life of the community provides an additional source of profit to the company. Indeed, the additional profit may be considerably larger than in a comparable "normal" community since monopoly conditions prevail. If that monopoly is at all threatened by near-by competing trade areas it can be enforced by making continued employment or residence in the community conditional upon acceptance of the company's goods and services at the rate charged Such situations frequently prevail in the mining communities of Pennsylvania and West Virginia, the cotton mill towns of the South, and the lumber towns of the Pacific Northwest

A somewhat different point of view apparently prevails in a minority of company towns, where management regards the supply of attractive houses, exceptional recreational and similar community services, model schools, and clean streets as "good business" The business motives are presumably the attraction of a labor supply of better than average quality, and the retention of that labor supply in an effort to reduce the cost represented by labor turnover The managers of such companies (and therefore of such towns) may see advantages in minor withdrawals from some details of complete domination through the encouragement of purchase of homes from the company, allowing some semblance of competition in retail trade, withdrawing detailed scrutiny of primary school curricula and instructional personnel, and so on

The company town that in some respects stands at the opposite extreme from the community whose economic life is completely and exploitatively dominated by the company is the town seemingly

established and managed out of mainly philanthropic considerations Houses may be furnished that are well above the quality and well below the rental of the living accommodations of workers of similar type elsewhere Local taxes borne by the ordinary citizen may be negligible or nonexistent, despite exceptional community services supplied by the company Artistic and other "cultural" interests may be fostered, and in all such respects a "model" community established

Whatever the outward diversity of the company town, which in a single state like Pennsylvania may range from the unpainted and unsanitary rows of boxes of the typical "coal camp" to the highly advertised beauties of Hershey, the fact of company domination gives a good deal of similarity to the types as a whole It is not meant to minimize the differences with which the domination is displayed, the possible diversity of motives which prompt the domination, and certainly not the quite apparent differences in results. But neither is there any gainsaying the fact that local political action, freedom of organizational affiliation (including especially independent labor unionism), unbiased secular and perhaps even religious instruction, and indeed the whole range of so-called "civil liberties" are either completely denied or effectively curtailed.[10] Whether the motives are mixed or unmixed, that is, whether paternalism or simple exploitation is most evident, the company town makes of the local citizenry the relatively fortunate or relatively unfortunate vassals of feudal overlords If the managers have (for whatever reason) a high degree of the "community responsibility" previously discussed, the community may exhibit a high degree of stability and ordered prosperity, at least until such time as the "ungrateful" recipients of managerial bounty attempt some independent political or economic action But whether the management of the company town is frankly in the interests of the company or nominally in the interests of all, this is planned economy without any but the most remote and indirect accountability of the planners to

[10] In 1947 a Connecticut worker was allowed unemployment compensation after he was discharged by his employer for violating a company rule against fraternization of male and female employees after working hours See *New York Times*, Wednesday, June 25, 1947, p 8

the bulk of the population affected by the planning. The company town in fact provides ready evidence with respect to the leadership of the community by industrial managers, and that evidence indicates that, although the character of the leadership varies, the line between leadership and outright domination is self-imposed and therefore thin

One-Industry Towns and Cities We may distinguish a class of communities widely variable in size, with heavy stakes in local industry but with considerable independence of communal life. At the one extreme these communities—usually the smaller ones—are not greatly different from the company town, with the same variation between benevolent or exploitative domination by the local enterprise. But however great may be the direct power of the company to give or withhold employment either individually or collectively (through closing or abandoning the plant), and its indirect influence based largely on that power, the machinery for independent political action may be used for challenging company supremacy. Moreover, the fact that the company does not "own the whole town" means that other economic as well as political and similar interests may assert themselves Although the examples of such communities are widely scattered and fairly common, perhaps the highest concentration is still to be found in the mill towns of New England

At the other extreme is the city such as Pittsburgh, which, together with the group of towns and cities comprising the Pittsburgh area, tends to be poor or prosperous in relation to the market for steel. Similarly, the Detroit area largely depends in peacetime on the market for automobiles. In both of these areas, and others that are similarly dependent on a single type of production, the policies and decisions of the various top-ranking managers may affect the daily lives of millions. Even in such metropolitan districts there is some tendency for local areas, such as Aliquippa, Pennsylvania, and Dearborn, Michigan, to be developed as "closed" communities approximating the company town In other cases the preeminence of a single company with scattered branch plants throughout an industrial area, such as the United States Steel Corporation and subsidiaries in and about Pittsburgh, ensures fairly heavy influence in

community life through the sheer weight of economic control. In still other cases, as with the group of rubber companies centered in Akron, the common interests of the major companies with respect to labor policies, favorable political officials, and so on may provide the basis for a kind of joint domination. In any single-industry city, however, the difficulties of maintaining a control as complete as that possible in the small community are well-nigh insurmountable The typical urban heterogeneity of interests, the virtual impossibility of a strict and detailed surveillance of private lives, the possibility of independent political action—all mean that the economic dependence of the community may be real, but may be kept within limits as far as the remainder of communal life is concerned.[11]

The Industrial Metropolis. The direct dependence of the community as a whole upon the whims, interests, and fancies of industrial managers is obviously least where industry is diversified, or where other special-interest groups are sufficiently well organized and powerful to assert their independence. It follows that the direct dependence of communal life upon local industry is at a minimum in the industrially diversified city

Yet the indirect dependence of the modern city upon industrialization in the broad sense is clear Industrialism in its full institutional development gives rise to and in turn depends upon concentrations of population A great deal of attention has been devoted to the series of "social problems" brought in the train of urbanization. These problems include housing, sanitation and public health, social control (negatively, the problems of crime and conflict), congestion and transportation, and the like. An additional volume of literature

[11] For descriptions of industry-community relations in various one-industry towns and cities, see C W M Hart, "Industrial Relations Research and Social Theory," *Canadian Journal of Economics and Political Science,* 15 53–73, February 1949 (especially emphasizes the role of unions in Windsor, Ontario), Alfred Winslow Jones, *Life, Liberty, and Property* (Philadelphia J B. Lippincott Company, 1941), especially Chap. II, "Early Akron," Chap III, "The Rubber Industry," and Chap IV, "Present Akron", Robert S Lynd and Helen Merrell Lynd, *Middletown* (New York Harcourt, Brace and Company, 1929), Part II (Chaps IV–VIII), "Getting a Living", Ruth McKenney, *Industrial Valley* (New York Harcourt, Brace and Company, 1939), Zimmerman, *op cit*

has been devoted to the pattern of urban growth, the tendency for the various activities of the community to concentrate in "zones," and the social characteristics of urban living All these studies may be said to constitute a commentary upon the communal effects of industrialization. But it is noteworthy that relatively little attention has been devoted to the direct relations of industry to the urban community, and very little more to the significance of the fact that the growth and organization of the modern city have been more influenced by business interests than by any other combination of interests. We are not here arguing the relative merits of the urban or the rural way of life, but merely emphasizing that at least until very recently urban concentrations have been the necessary and direct products of highly specialized and large-scale industrial production, commerce, and trade. Whatever the narrower relations between industry and the community, an industrial civilization is an urban civilization, and in the present circumstances there seems to be little point in nostalgic pinings for the homely virtues of the isolated rural community.

Decentralization. The foregoing discussion does not, however, necessarily lead to the conclusion that greater and greater densities of urban population may be expected in the future Rather the increased productivity of agriculture and the development of manufactured and synthetic foods, on the one hand, and the tendency toward industrial and residential decentralization on the other hand, point to a more even dispersion of the urban industrial population. As already implied, the movement toward decentralization rests in part upon technological changes, including new methods, new products, and, especially, new developments in transportation and communication. Yet the new technology is partly in answer to demands for solution of the various "social problems" arising from urban concentration It represents, in a sense, a declaration of independence from the factory as the literal center of the community Thus in all large metropolitan districts there are to be found "bedroom suburbs," which are, in effect, communities without visible means of support The various publicly and privately sponsored suburban housing projects have recently emphasized the divorce

of communal activities from the mill, rather than the integration of life about the place of employment.[12] There are, indeed, enthusiasts for taking industry into the remoter hinterlands and combining industrial employment with the security of part-time farming, although the prospects for widespread decentralization of precisely this sort are not very great.[13]

The well-known development of "satellite communities" on the outskirts of established urban centers represents in a certain sense the older tendency toward concentration, yet many of these communities retain some semblance of the more isolated industrial communities of similar size They do, however, inevitably share in at least part of the near-by urban organization, and this tends to make the local residents much less completely dependent on the local industrial and business establishments [14]

The forms of industrial decentralization are so numerous, and its possible future forms so much more numerous, that it is difficult to characterize the communities resulting from this process by a single formula. Part of the movement of industrial plants from urban centers has been for the purpose of reestablishing managerial dominance over employees and the community, as we shall note below On the other hand, considerable residential mobility has taken place to avoid at least the more visible domination of the community by factory smokestacks.

Migratory Industry Boom Towns and Ghost Towns. The significance of industry for the economic life of the community, and the effects of fairly rapid changes in industrial activity upon the character of the population dependent upon that activity, are perhaps most startlingly

[12] See Earl E. Muntz, *Urban Sociology* (New York The Macmillan Company, 1938), Chap X, "Garden Suburbs, Villages, and Cities "

[13] See Carter Goodrich, *et al*, *Migration and Economic Opportunity* (Philadelphia University of Pennsylvania Press, 1936), pp 382–392, 618–659, United States National Resources Committee, *The Problems of a Changing Population* (Washington U S Government Printing Office, 1938), Sec II, "Regional Distribution of Economic Opportunity," especially pp 71–73

[14] See Leon Carroll Marshall [ed], *Readings in Industrial Society* (Chicago: University of Chicago Press, 1918), Chap X, "Concentration," especially pp 668–682 ("C The Modern Industrial and Commercial City"), Rhyne, *op. cit*, Chap VI, "A Suburban Mill Village "

illustrated by so-called "boom towns" and "ghost towns." So much attention has been paid to the problems of migratory labor that the transiency and mortality of industrial establishments have been somewhat neglected

Migratory industries are likely to be those characterized by high labor costs and low capital investment and relatively minor transportation difficulties Such establishments are relatively free to move about the country in quest of cheap and submissive labor. These conditions have been notably prevalent in the garment trades, where mobility was great until limited by collective bargaining agreements,[15] and to a lesser extent in the textile industry as a whole. Other factors that lead to the mobility or mortality of industries include competition and technological change (for example, the loss of factories in New England supplying wooden body parts for automobiles with the introduction of all-steel bodies, and the closing of hand rolling mills in the steel industry with the introduction of continuous strip mills), the exhaustion of resources (especially notable in mining and lumbering), and activities that are by nature temporary (such as the boom towns that develop around public construction projects like the Grand Coulee dam and will become close to ghost towns after the project is completed).

Although boom towns are customarily associated with discovery of oil or gold, or some other spectacular event, the establishment of any industrial activity in an area without previous industrial employment or with a working population much smaller than that required by the new activities will create for at least a short time the conditions of a boom town The boom town is typically characterized by underhousing, absence or inadequacy of water, sewage disposal, and similar public utilities, price inflation, and inability of law enforcement agencies to keep up with a growing and heterogeneous community, at least some of whose members have been attracted precisely by the profitable possibilities of crime

The tremendous expansion of industrial production during the

[15] See "Notes. Legal Problems Raised by the Relocation of Industry Runaway Shops," *Columbia Law Review*, 36 776–794, May 1936, Dubinsky *v* Blue Dale Dress Co, 292 N Y S. 898 (1936).

second World War resulted in turning previously stable industrial communities into suddenly overgrown beehives of activity and in the appearance of other boom towns where only farm lands existed before Such rapid establishment or expansion of a community inevitably raises all of the problems noted, as well as that of preventing excessive population (and employment) turnover arising from the unsatisfactory conditions prevailing in the community.[16]

The establishment during the second World War of communities at Hanford, Washington, and Oak Ridge, Tennessee, for the manufacture of atomic bombs and subsequently for other aspects of atomic energy posed problems not only of the "boom town" but of the "company town" as well. Because of the high importance of secrecy of the processes involved in nuclear fission, the communities so established were not only subject to the "domination" of the employer (in effect, the government) to a marked degree, but were essentially closed communities Even with the establishment of considerable community freedom, "security" considerations continued to affect community composition and social life

The boom town has the possible advantage of widespread optimism—which may be partly unfounded—and certainly many of its problems are temporary. they exist until such time as the rate of business expansion subsides sufficiently to allow the machinery of the community to catch up The plight of the town abandoned by its economic support is not so easy. If it seeks to avoid becoming a complete ghost town it must seek to attract new industry, take over the abandoned plants and operate them communally, or, possibly, settle back to a life dependent upon agricultural trade. The remaining residents of a community fast becoming a ghost town must face the prospect of an almost daily curtailment of community activities and services, and loss of familiar patterns of social relationships These losses are of course in addition to losses of income, decline in property values, and similar economic disadvantages.

[16] See United States Senate, Special Committee Investigating the National Defense Program, *Investigation of the National Defense Program, Hearings* . (Washington U S Government Printing Office, 1942), Part 12, pp 5250–5281, 5373–5413

Although some of the more famous ghost towns resulting from the abandonment of Western mining operations have been widely publicized in the popular magazines, few serious studies of the actual process of community collapse have been undertaken. Studies of the fairly long-range decline of industrial centers through shifts in markets and industrial location give some indication of the adjustments required in such communities,[17] but do not of course reveal the more drastic adjustments occasioned by the relatively sudden and complete abandonment of the community by industry.[18]

Migratory industry and communities resulting from industrial mobility illustrate two principles of the usual relations between industry and the community. (1) community and industrial interests are interdependent but by no means identical, and (2) although industrial location and activity tend to be determined on grounds independent of community interests, this is rarely completely possible, and in any event the structure and activity of the community are basically affected by industrial policies. The assertion of nonindustrial interests has been primarily local in character, and therefore highly unequal in strength or effectiveness. The modification of industrial privileges through state and national legislation, to be reviewed in a subsequent chapter, has certainly affected the position of industry in the community, but has so far reduced by very little the rather wide range of industrial community types discussed in this chapter.

REFERENCES

Arensberg, Conrad M., "Industry and the Community," *American Journal of Sociology,* 48: 1–12, July 1942.

[17] See MacDonald, *Labor Problems and the American Scene,* Chap. IV, "Declining Towns and Cities."

[18] For a description of the situation in New Castle, Pa., a steel town virtually abandoned by industry through the closing of an old-style hand rolling mill, see Harold J. Ruttenberg and Stanley Ruttenberg, "War and the Steel Ghost Towns," *Harper's Magazine,* 180: 147–155, January 1940. See also United States Congress, Temporary National Economic Committee, *Investigation of Concentration of Economic Power, Hearings* , Part 30, "Technology and Concentration of Economic Power" (Washington: U. S. Government Printing Office, 1940), pp. 16469–16474, 17332–17339. (The latter pages contain a reprint of part of the Ruttenbergs' article.)

BOULWARE, L. R., "The Business Leader's Larger Job," in Marvin Bower, ed., *The Development of Executive Leadership* (Cambridge: Harvard University Press, 1949), pp. 46–69.

BRADY, ROBERT A., *Business as a System of Power* (New York: Columbia University Press, 1943), Chap. VIII, "Social Policies: Status, Trusteeship, Harmony," especially pp. 259–274.

BREESE, GERALD W., *The Daytime Population of the Central Business District of Chicago* (Chicago: University of Chicago Press, 1949).

CHAMBER OF COMMERCE OF THE UNITED STATES, Department of Manufacture, *Special Inducements to Industries* (Washington, 1931).

DIMOCK, MARSHALL E., and HOWARD K. HYDE, "Bureaucracy and Trusteeship in Large Corporations," United States Congress, Temporary National Economic Committee, *Investigation of Concentration of Economic Power, Monograph No. 11* (Washington: U. S. Government Printing Office, 1940), Part IV, "The Implications of Trusteeship."

GILFILLAN, LAUREN, *I Went to Pit College* (New York: The Literary Guild, 1934). This book is an excellent description of small company towns in the coal region.

GOODRICH, CARTER, *et al.*, *Migration and Economic Opportunity* (Philadelphia: University of Pennsylvania Press, 1936), Chap. VII, "The Changing Pattern of Industrial Location."

GREEN, CONSTANCE MCLAUGHLIN, *Holyoke, Massachusetts: A Case History of the Industrial Revolution in America* (New Haven: Yale University Press, 1939).

HANNAY, AGNES, *A Chronicle of Industry on the Mill River*, Smith College Studies in History, Vol. 21, Nos. 1–4, October 1935–July 1936 (Northampton, Mass.: Smith College). See especially Chap. VII, "Labor under Local Enterprise."

HART, C. W. M., "Industrial Relations Research and Social Theory," *Canadian Journal of Economics and Political Science*, 15: 53–73, February 1949.

HERRING, HARRIET L., *Passing of the Mill Village: Revolution in a Southern Institution* (Chapel Hill: University of North Carolina Press, 1949).

HOOVER, EDGAR M., *The Location of Economic Activity* (New York: McGraw-Hill Book Company, Inc., 1948).

——, *Location Theory and the Shoe and Leather Industries* (Cambridge: Harvard University Press, 1937), Part I (Chaps. I–VI), "The Theory of Location."

JONES, ALFRED WINSLOW, *Life, Liberty, and Property* (Philadelphia: J. B.

Lippincott Company, 1941) See especially Chap II, "Early Akron", Chap III, "The Rubber Industry", Chap IV, "Present Akron"

LAHNE, HERBERT J, *The Cotton Mill Worker* (New York Farrar and Rinehart, 1944), Chap 3, "The New England Mill Village," and Chap 4, "The Southern Mill Village"

LANDIS, PAUL, "The Life Cycle of the Iron Mining Town," *Social Forces,* 13 245–256, December 1934

LIEPMANN, KATE, K, *The Journey to Work* (New York Oxford University Press, 1944)

LUMPKIN, KATHARINE DU PRE, and MABEL V. COMBS, *Shutdowns in the Connecticut Valley A Study of Worker Displacement in the Small Industrial Community,* Smith College Studies in History, Vol. 19, Nos. 3–4, April–July 1934 (Northampton, Mass Smith College).

LUNDBERG, GEORGE A, *Marketing and Social Organization,* Charles Coolidge Parlin Memorial Lecture (Philadelphia privately printed, 1945).

LYND, ROBERT S, and HELEN MERRELL LYND, *Middletown* (New York Harcourt, Brace and Company, 1929), Part II (Chaps IV–VIII), "Getting a Living"

LYND, ROBERT S, and HELEN MERRELL LYND, *Middletown in Transition* (New York Harcourt, Brace and Company, 1937), Chap II, "Getting a Living", Chap III, "The X Family A Pattern of Business-Class Control"

MACDONALD, LOIS, *Labor Problems and the American Scene* (New York Harper & Brothers, 1938), Chap III, "Workers in Cities and Middletowns", Chap. IV, "Declining Towns and Cities", Chap V, "Company Towns Coal Camps"; Chap VI, "Company Towns Textile Mill Villages"

———, *Southern Mill Hills* (New York Alex L Hillman, 1928)

MARSHALL, LEON CARROLL, ed., *Readings in Industrial Society* (Chicago University of Chicago Press, 1918), Chap X, "Concentration," especially pp. 668–682 ("C The Modern Industrial and Commercial City")

MCKENNY, RUTH, *Industrial Valley* (New York Harcourt, Brace and Company, 1939)

MILLS, C. WRIGHT, and MELVILLE J ULMER, *Small Business and Civic Welfare,* Report of the Smaller War Plants Corporation to the Special Committee to Study Problems of American Small Business, United States Senate, 79th Congress, 2nd Session, Document No 135 (Washington U S Government Printing Office, 1946)

MOSHER, WILLIAM E., "The Social and Civic Responsibilities of the Profession of Business Management," in Henry C Metcalf, ed, *Business*

Management as a Profession (Chicago: A. W. Shaw Company, 1927), pp. 202–214.

MUNTZ, EARL E., *Urban Sociology* (New York: The Macmillan Company, 1938), Chap. III, "Ground Plan and Physical Growth of Cities", Chap. IV, "City Growth through Natural Increase and Rural Migration", Chap. VII, "The Urban Housing Problem", Chap. VIII, "Improved Housing under Private Auspicies", Chap. X, "Garden Suburbs, Villages, and Cities."

PARKER, MARGARET TERRELL, *Lowell: A Study of Industrial Development* (New York: The Macmillan Company, 1940).

(Political and Economic Planning), *The Location of Industry* (London: PEP, 1939).

POPE, LISTON, *Millhands and Preachers: A Study of Gastonia* (New Haven: Yale University Press, 1942).

RHYNE, JENNINGS, *Some Southern Cotton Mill Workers and Their Villages* (Chapel Hill: University of North Carolina Press, 1930).

SHELDON, OLIVER, *The Philosophy of Management* (London: Sir Isaac Pitman & Sons, Inc., 1924), Chap. III, "The Social Responsibilities of Management."

SHEPPARD, MURIEL EARLEY, *Cloud by Day: The Story of Coal and Coke and People* (Chapel Hill: University of North Carolina Press, 1947).

SHLAKMAN, VERA, *Economic History of a Factory Town: A Study of Chicopee, Massachusetts,* Smith College Studies in History, Vol. 20, Nos. 1–4, October 1934–July 1935 (Northampton, Mass.: Smith College).

SLICHTER, SUMNER H., "The Problems of Business Leadership in a Laboristic Economy," in Marvin Bower, ed., *The Development of Executive Leadership* (Cambridge: Harvard University Press, 1949), pp. 3–27.

WARNER, W. LLOYD, and J. O. LOW, *The Social System of the Modern Factory, The Strike: A Social Analysis* (New Haven: Yale University Press, 1947), Chap. IV, "From Clippers to Textiles to Shoes."

WEBER, ALFRED, *Theory of the Location of Industries,* tr. by Carl J. Friedrich (Chicago: University of Chicago Press, 1929).

WHITEHEAD, T. N., *Leadership in a Free Society* (Cambridge: Harvard University Press, 1937), Chap. XII, "The Organization of a Community," and pp. 253–259.

WOLFBEIN, SEYMOUR LOUIS, *The Decline of a Cotton Textile City: A Study of New Bedford* (New York: Columbia University Press, 1944).

ZIMMERMAN, CARLE C., *The Changing Community* (New York: Harper & Brothers, 1938). Chaps. VIII–XV and XVII–XXIV comprise a

series of "case studies" of New England communities, in each of which the role of industry in community life is indicated See especially Chap IX, "Lonely's Belligerency", Chap. X, "Utopia's Belligerency", Chap XIII, "Nudeal's Planned Life Organization", Chap XV, "Babbitt's Bourgeois Life Organization", Chaps. XX–XXI, "Zenith's Industrial Tolerance."

CHAPTER XXIII

SOCIAL CLASSES AND THE INDUSTRIAL ORDER

THE PRECEDING chapter outlined various modes of relationship between industrial organizations and the communities in which they are located. The industrial community, it was pointed out, represents the relationship between industry and society in its most concrete and obvious form. A different range of problems arises with reference to the place of the productive order in the status system of society. In the most general terms, this may be phrased as the question: What significance does modern industrial organization have for social classes? We propose to answer that question in this chapter. More specifically, we are faced with three central issues: (1) the nature of social class, (2) the role of the industrial order in the class structure, and (3) the dynamic relations between classes in the sense of the factors determining harmony or conflict among the several social strata. As a whole, these issues have a direct bearing on contemporary discussion about industrial relations and social stability. Our examination should provide a groundwork of facts on a subject currently characterized by widely differing opinions.

THE NATURE OF SOCIAL CLASS

As a starting point for distinguishing this type of social differentiation from other methods of determining general social position, and as an introduction to the criteria of class membership, we may quote a satisfactory definition from a recent general text in sociology:

. . classes are inclusive, loosely organized groupings whose members behave toward each other as social equals and toward outsiders as social superiors and inferiors, and who as individuals either stay in the group to which they are born, or rise or fall to different levels depending upon the way their social attributes correspond to the values around which the particular class system is organized.[1]

We may first consider the values that are used as the basis for determining class membership as a prelude to determining the lines of demarcation that separate one class from another

Criteria of Class Membership If one were to ask an American college student upon what distinctions one should place chief emphasis in determining higher or lower position in a community or the entire society, the first response would very likely be "wealth or income" This judgment is by no means insignificant, for it is upon the basis of many judgments of this sort that relative class position is to be determined Wealth and income are certainly widely accepted indexes of general social position, not only among American college students, but as indicated by various official and unofficial studies and surveys which divide the population into income groups, or such categories as wealthy, well-to-do, comfortable, poor, and so on But a little further questioning will reveal that wealth is by no means regarded as the sole criterion of class status One must at least add how the wealth or income is acquired, and how it is used or spent Thus low-paid school teachers rank above high-paid mechanics, or in an industrial plant, low-paid clerical workers often rank above high-paid "operatives" in the shops Moreover, income is not necessarily spent for the appropriate symbols of social status, so that the well-paid lumberman or miner may spend his entire paycheck in riotous living every Saturday night and thus have nothing to "show" for his money.[2]

The significant variation of even such a thing as "property" is thus

[1] From Robert L Sutherland and Julian L Woodward, *Introductory Sociology*, 3d ed (Philadelphia J B Lippincott Company, 1948), p 368 Italics in original omitted

[2] The high importance of symbols of class status, particularly conspicuous consumption, leisure, and waste, has been noted in the classic work of Thorstein Veblen, *The Theory of the Leisure Class* (New York B W Huebsch, 1918),

not limited to the quantitative range In any society, and especially in ours, there is likely to be a difference between the quantitative variation in property values or cost, and the qualitative worth of valuable things as symbols of status. For example, a Cape of Good Hope triangular postage stamp may cost more than a new automobile, but gives its owner considerably less prestige among his neighbors who do not collect stamps.

But ranking does not stop even here Especially in a relatively small community where many types of knowledge about one's neighbors are possible, one may also have to take into account one or more of the following: formal education, family respectability; relative authority, circle of acquaintances, and formal associational affiliations, including church, fraternal organizations, recreational clubs, and service groups.

In short, the criteria of class membership or general social position amount to any bases of differential valuation that are part of the value system of the society[3] These do not, in an open-class society, constitute a homogeneous or completely interdependent system In other words, each of these modes of valuation is to a marked degree an *independent* variable[4] This makes it impossible to determine the individual's relative position in terms of any one of the variables and then predict with any degree of exactness his position with regard to the others Given a certain income level, for example, all the other appropriate criteria of high or low class status do not necessarily follow. A person may earn a large income in an approved occupation, and spend it for furs, automobiles, and symphony tickets, yet be excluded from full membership in upper class circles by reason of nationality, religion, lack of appropriate man-

[3] The statement that any mode of differential valuation constitutes a criterion of class status is perhaps too broad Notably, it neglects two important bases of distinction which partly coincide with, partly cut across class lines Those two are age and sex, which are universally used for drawing lines within society We shall note in a subsequent section of this chapter that age and sex qualifications tend to be assumed in class differentiation

[4] The discussion here deals with the determinants of individual class affiliation We shall note subsequently that for the community as a whole there is a significant grouping of variables around wealth and occupation as primary determinants in general class structure.

ners and etiquette, or other similar shortcomings Thus the precision of the grouping decreases as more standards are taken into account Only within a single organization, or with reference to a single value or interest, are very exact judgments possible. Thus it is very difficult to compare the social status of a leading university president and an outstanding entertainer Usually a further question must be asked: upon what grounds of comparison? The judgment will certainly vary according to the values or symbols used.

Further difficulties in classification arise from the fact that, at least in reference to the more significant and widely accepted bases of social distinction, each scale is pretty much of a continuum, from bottom to top Thus again drawing lines is likely to be arbitrary in "border-line" cases For example, in what meaningful sense does a person without dependents who earns an annual salary of $2400 belong to a lower class than a person with several dependents who receives $2500 annually?

To determine an individual's generalized social status is thus likely to involve a quasi-statistical procedure In this, two distinct types of information are necessary (1) the individual's relative position on each of the several scales of differential valuation, and (2) the relative weight that the community or society attaches to each of these modes of valuation

Thus, one might define an individual's (or family's) general social position as a weighted average of the scale values on each of the bases of differential valuation

A number of difficulties arise from such an approach to the problem of social class.

1 It depends upon facts not easily obtainable. This is particularly true with regard to the weighting system, since the semiindependent character of the several modes of valuation means that they are usually treated separately, not comparatively

2 Since comparison of social position is actually made by members of society at any one time only in reference to *part* of the various modes of valuation, the weighted average referred to is likely to be unduly abstract—that is, have no particular relevance for modes of behavior, attitudes, prestige, esteem, and so on

It is not the observer who makes the valuations, or determines relative weights The observer therefore has no authority to insist that the community ought to be consistent, or that the generalized social position arrived at by the inductive manipulation should correspond to the community's treatment of the individual so ranked

The foregoing remarks concerning the difficulty of determining precisely the criteria of class membership indicate the wisdom of the tests indicated in the definition quoted above the test of treating others as equals, superiors, or inferiors. Thus such highly important symbols of equality as marriage, and informal social relationships such as entertaining guests and acceptance into a particular circle of acquaintances, indicate common class membership. When such tests are lacking, resort to some more limited and more arbitrary criteria is necessary, but is likely to reduce the significance of the demarcations made

Levels of Class Analysis The problem of the "operational" definition of social class is considerably clarified if three distinct levels or contexts are recognized (1) The first is stratification in the "mass society," that is, cutting across the social system as a whole. This is usually what is meant by social class, in the sense of "upper, middle, and lower," or "business and working" Now the fact that the categories must account for the entire population, and must presumably not be dependent upon all sorts of local judgment and variations in standards, means that criteria of membership must be few and closely interdependent If the "operational" definition is built up upon the basis of judgments of prestige throughout the system, it appears that a more or less stratified order results, but not necessarily a *class* system This is because occupation is of crucial importance in judgments that relate to the status of persons in the system as a whole, but occupations are more readily compared within fairly distinct "families" of jobs than between them [5] If the criterion of class membership is essentially the behavioral one indicated at the beginning of the chapter, then obviously there are

[5] See Paul K Hatt, "Occupation and Social Stratification," *American Journal of Sociology*, 55 533–543, May 1950, Hatt, "Stratification in the Mass Society," *American Sociological Review*, 15 216–222, April 1950

few ways in which people not brought into contact by occupation or residence can behave in *any* way relevant to equality and inequality. In so far as strictly *class* phenomena exist in the society at large, therefore, they are likely to be represented in collective relations and oriented around symbols Part of management-union relations and of national political behavior are of this sort But it should be noted that where there is widespread freedom of association, cleavages do not necessarily follow a single line. The result is that "class" at this level may perhaps be identified by certain procedures without being a membership group or constituting the most significant segment of the society for all purposes

(2) The second level is that of the neighborhood or community. This is the level of description that accounts for the greater part of the recent literature on American social stratification[6] Here it is possible to build up a representation of a "class system" upon the basis of the statistical probability of various types of memberships and informal social relations and activities, and possibly simplify these by virtue of their intercorrelations But since here contact does occur and more can be known about any individual or family, more criteria of valuation are typically taken into account. Thus the studies made in "typical" American communities lead to the identification of sectors of the population as "classes" only as a result of the particular procedures used. There is nothing methodologically wrong with this, as long as the partial populations are not then considered to be real membership groups with divisions more fundamental than would be yielded by some other procedure. Thus various studies have concluded that there are five, six, or nine "classes" in the community reported. Other procedures might yield a quite different number.

There are two further limitations on the legitimate inferences that

[6] See, for example, August B. Hollingshead, *Elmtown's Youth The Impact of Social Classes on Adolescents* (New York John P Wiley and Sons, 1949), W Lloyd Warner and Others, *Social Class in America* (Chicago Science Research Associates, 1949) For criticisms of this approach, see Hatt, "Stratification in the Mass Society," previously cited, Harold W Pfautz and Otis Dudley Duncan, "A Critical Evaluation of Warner's Work in Community Stratification," *American Sociological Review,* 15 205–215, April 1950

may be drawn from studies of stratification in the single community. The first limitation is that an increasing proportion of the population lives in large urban centers, which are not necessarily made up of neighborhoods that duplicate the small community. In the city, stratification phenomena approach those of the mass society, not those of "community reputation" The second limitation is akin to the first. Stratification in the society as a whole is not made up of community segments, like building blocks As the context of interaction and social valuation is more limited and oriented around such criteria as have a significance throughout the social system, stratification in the mass society is to a high degree in terms of relatively simple stereotypes as compared with the social system of the small community

(3) Finally, many stratification phenomena relate to position within formally organized associations, and especially those associations that constitute a livelihood for their members. Here more gradations may be taken into account than are commonly attributed to the class system even at the community level, but the formal criteria are rather clear and precise Other elements of evaluation enter, but as variations of the established prestige scale in the organization

Occupational position accordingly may be of primary importance in all three levels of the phenomenon of stratification, but in different ways and in different contexts

The Number of Classes. The actual complexity of the criteria of class membership has a further significance, for it reveals the difficulty of determining the number of classes in our society. Many people, it is true, are at no loss to tell how many classes exist in American society—there are three upper, middle, and lower It is, in fact, a common practice to divide any range of continuous variation into the two extremes and the middle. But it must be emphasized that this is a purely arbitrary division, and the lines are almost impossible to discover. Some authorities, finding that by any available method of grouping a threefold classification yields groupings that are too heterogeneous to be at all significant, have distinguished nine classes That is, they proceed from "upper upper" and

"middle upper" down to "middle lower" and "lower lower." Here again, however, the basis of distinction is likely to be either very thin, or not significantly related to other aspects of differential valuation

The number of classes yielded by any method of demarcation will vary not only with how finely the distinctions are drawn, but also with the point of comparison chosen. Wealth, for example, yields any desired number of distinctions, whereas a division according to the possession of at least one college degree would yield only two groups As in all scientific classifications, the first test ought to be pragmatic The utility of any one method of classification is enhanced if it indicates other distinctions at the same time —that is, if it serves as an *index* We shall examine one such index.

Occupation as a Basis for Class Distinctions Among the various more limited and therefore more arbitrary criteria of class status, position in the economic productive order—"occupation" in the broadest sense—has been given the greatest attention by those attempting to deal with the subject[7] The choice of this line of social cleavage is prompted by a number of considerations.

1. Occupation combines to a fairly high degree a number of the more important criteria of class membership Thus gradations in wealth and income are ideally closely related to occupational position and achievement, and in fact the correspondence is rough but important Although even less closely related, there is a notable tendency for the level and type of living, that is, what income is spent for, to follow occupational lines. The same correspondence is to be observed in regard to common interests (which are much more likely to follow occupational interests than merely common income levels) and social affiliations, including intermarriage

2 As a partial explanation of the preceding general point, it may

[7] Much of the literature in the field stems directly or indirectly from the position taken by Marx and Marxians Marx himself wrote very little on class analysis, and that little is widely scattered (See references to Marx listed at the end of this chapter) As developed by his followers, the Marxian analysis of class is not unimportant, but its extreme emphasis on a twofold division into owners and producers is of doubtful scientific utility in general, and certainly tangential to the issues raised in the present chapter.

be noted that to a large degree the primary criterion of social status in our society is the economic worth of the individual This is most clearly seen, of course, in the idea that the impersonal market rewards the efficiency and industry of the individual enterpriser It is to be observed in unconscious caricature in the not uncommon remark that "Businessman X must be worth close to $100,000." But the emphasis upon reward for useful labor is a basic part of our culture even in regard to occupations not so neatly rewarded by the operation of the market. In fact, one of our most frequent, and usually the first, method of placing a person in social space is to determine what he (or the breadwinner responsible for his support) does for a living

3. In view of the two preceding considerations, it is understandable that shifting occupational position has been the chief avenue of class mobility. This is, as we shall see, significant in two respects: the factual possibility (or impossibility) of status mobility by means of occupational ladders, and the general conviction that the possibility is real and extensive, whatever the "facts."

4. A consideration of a different order, but none the less significant, is that data concerning occupational distribution and occupational mobility are available and more readily utilizable than are other types of information concerning class divisions.

OCCUPATIONAL DISTRIBUTION

Out of the immense variety of occupations in a society characterized by a minute division of labor, certain occupational groups stand out because of general similarity in type of work, level of skill demanded, and roughly equal social evaluation. Although again it must be emphasized that by reference to any specific component of social status there will be a good deal of overlapping between occupational groups, the principal categories are socially recognized as sufficiently distinct to imply general similarity within the group greater than similarities that include two or more groups

Principal Occupational Categories With these considerations in mind, we may note seven principal occupational categories that are of significance in general social status, and which therefore will pro-

vide a basis for determining the relationships between industry and the open-class system. The seven groups, roughly in order of their general status, are. (1) professionals, (2) proprietors and officials, (3) farmers (owners and tenants), (4) low-salaried workers, (5) wage earners, (6) servants, and (7) farm laborers. To repeat, such a classification is not meant to deny or completely to overlook the more or less definite gradations within each group, or the very real possibility of overlapping, so that in particular cases other criteria of social evaluation would have to be taken into account Neither is it meant to imply that these groups represent a continuous gradation in the sense of possibly constituting stages in a single career. It is, on the contrary, evident that the divisions are to a certain extent *functional,* and thus represent different systems of gradation [8] For example, one line of ascent might be that of farm laborer, to tenant, to owner In the industrial hierarchy, strictly speaking, it is often convenient to divide wage earners into the unskilled, semiskilled, and skilled The succeeding stages in this line would then be low-salaried worker and proprietor or official It is interesting that, with reference to the professionals, there is no definite line of occupational ascent, but rather entrance is chiefly by means of special education and training Nor is there any widely recognized step that follows domestic service This probably indicates a lack of general cultural support for menial service as an

[8] The difficulty of ranking various occupational categories in order of general superiority and inferiority arises again from the problem of the criteria of social valuation "Occupation" itself is not a simple criterion Most lists, including the one here used, tend to confuse a number of points of comparison These points of comparison which are "hidden variables" in occupational classification include ownership status, degree of skill required (which is about the same as saying "scarcity value"), the industry within which the occupation is found or character of the services rendered, and so on Age distinctions may even be included, since the length of training necessary for some positions produces a higher average age of persons in those occupations Sex distinctions are most certainly assumed, due to the minor occupational role of women, even at the present time Since each of these occupational groups has its own internal gradations, and since the "hidden variables" will not operate equally in all cases, there will of course be some overlapping in general social position However, the tendency for persons in the higher groups to remain occupationally active until a later age than the others introduces a time element into social valuation Thus a low-ranking but young industrial official or professional will be judged not only on present position but on future promise

avenue of social advancement. In general, both status comparisons and actual avenues of mobility are more appropriate within than between these categories[9]

Granting the limitations noted, the classification here adopted represents a convenient division of our population according to approximate "rank order" in society How these divisions compare in size and proportion of the total labor force may be seen from Table 4 This represents a considerable shift from the occupational distribution in 1880, as indicated in the same table Notable in this shift has been the great reduction in the proportion of farmers of all types, indicating the well-known fact of increased urbanization and industrialization during this period, and the proportionally even greater increase of low-salaried workers. This latter movement is not so often recognized, but conforms with what we know concerning the tremendous growth of industrial bureaucracy, with the corresponding increase in the "white-collar" class of employees

Aside from the significant increase of strictly industrial classes, however, a number of critical problems arise in reference to the selection of the membership of these classes and the chances, ideal and actual, for individual workers to "get ahead in the world" A consideration of occupational class mobility will therefore form the concluding section of this chapter

OCCUPATIONAL MOBILITY AND THE OPEN-CLASS IDEOLOGY

If we now recall the definition of social classes previously quoted, we shall note the emphasis placed upon the three alternatives in regard to the stability of an individual's class position he may stay in the class in which he is born, he may rise, or he may fall, according to the way he as an individual measures up to the general criteria of class membership and therefore of general social evalu-

[9] Hatt, in "Occupation and Social Stratification," previously cited, reports the following "families" of occupations, upon the basis of prestige ratings by a national sample of the American population political, professional, business, recreation and aesthetics, agriculture, manual work, military service The results of this study do not support a ranking of these families, but only of occupations within these categories.

TABLE 4 *Proportional Distribution of Occupational Classes in the Classified Employable Population, 1880 and 1940* [a]

Occupational Class	*1880 (%)*	*1940 (%)*
Professionals	4 2	7 1
Proprietors and Officials	5 1	7 9
Farmers (Owners and Tenants)	26 8	10 6
Low-Salaried Workers	3 3	16 6
Wage Earners	33 1	39 8
Servants	6 7	11 0
Farm Laborers	20 8	7 0

[a] Percentages for 1880 computed from census figures summarized in T M Sogge, "Industrial Classes in the United States in 1930," *Journal of the American Statistical Association,* 28 199–203, June 1933 The 1940 percentages were computed from figures given in the Sixteenth Census, 1940, P-11 Series, Summary, June 9, 1942 In both cases the "Unclassified" employables were omitted from the computation

ation A class system, or open-class system, is chiefly differentiated from other methods of social stratification in that mobility, up or down, is possible and considered appropriate.[10] We may accordingly examine the general assumptions and ideals which underlie the American open-class system and then see how it works "in fact."

The Open-Class Ideology. Much of what may be called the ideology of the open-class system is included in the general features of the "culture of capitalism," with its emphasis on the role of the individual entrepreneur as the ideal, and presumably typical, example of individual initiative and achievement Those who started in inferior positions might reasonably aspire to such independence, if they had the initial ability and played the game hard and fairly.

Primary among the assumptions of the open-class system is that

[10] The opposite extreme from the open-class system is the caste system, typified by the social stratification in India, but also approached to a significant degree in American Negro-white differentiation For a schematic summary of the differences in the extreme types of stratification, together with the intermediate type of "estate" arrangement, see Max Weber, *Wirtschaft und Gesellschaft* (Tubingen G C B Mohr, 1925), pp 177–180, 631–641 See also Kingsley Davis, "A Conceptual Analysis of Stratification," *American Sociological Review,* 7 309–321, June 1942

of *equality of opportunity* The emphasis upon social judgment of the individual presupposes that no prejudice, that is, prejudgment, will stand in the way of his aspirations Given equality of opportunity, the individual is expected to take part in an impersonal competition for social status within well-understood rules. In the most general terms, that social status is to be determined in accordance with *known* criteria of particular qualities and valued achievements, in addition to possessions and authority viewed as following from the first two.[11] It should be noted again that there is a general tendency to find a uniform measuring stick in terms of economic worth It emphasizes the independent individual, and rewards those individuals who are frugal, industrious, and therefore virtuous Negatively, the ideology of the open-class system assumes that no barriers will be placed on free mobility in the occupational structure according to ability. Positively, and as a consequence of the foregoing assumptions, *it assumes that every individual occupies that position in the occupational hierarchy which he of a right ought to occupy.* This accounts for the persistent "survival" from Puritanism of the close connection between poverty and sin Not only is poverty in this system of ideas a cause of sin, or even a result of sin, but it comes close to *being* sin [12]

We shall discuss below the importance of this system of values and basic conceptions concerning the nature of the social order. But in order to place this subsequent treatment in its proper setting, we must first examine certain "facts of the situation " Primarily we shall face the question. How accurately does the ideology of the open-class system reflect the actual situation in regard to equality of opportunity, impartiality of competition and judgment, and freedom of occupational mobility?

[11] See Talcott Parsons, "An Analytical Approach to the Theory of Social Stratification," *American Journal of Sociology*, 45 841–862, May 1940

[12] Perhaps the most elaborate and forceful exposition of the ideology of individualism and the open-class system is that of the early Yale sociologist, William Graham Sumner See his *What Social Classes Owe to Each Other* (New Haven Yale University Press, 1934, first published 1883) For the ideology as expressed by the residents of an American city in the 1930's, see Robert S Lynd and Helen Merrell Lynd, *Middletown in Transition* (New York Harcourt, Brace and Company, 1937), pp 46, 406–410

Facts of the Case The first set of facts that strike one in regard to the assumptions of the open-class ideology is the notable *inequality* of opportunity that prevails in actual occupational competition and stratification Nor can all of these inequalities be set aside as exceptional, or even as unethical departures from the ideal Inequalities of this latter type would include such things as favoritism and nepotism, or the more indirect importance of family connections and "pull" But there are in addition more basic barriers to equality, which are structural and institutional in nature Notable among the institutional forces that account for occupational rigidity are those associated with the economic position of the family, and its role in status-fixing and socialization This includes (1) inequalities arising from inheritance of property, (2) differential access to the avenues of social welfare and occupational advantage through existing inequalities in family income, and (3) the general transferral to the children of the propensities, outlook, and culture of the father's occupation or occupational category [13] There are also various structural limitations on opportunities, such as the restriction upon the number of available high-ranking positions in a highly bureaucratic system This means, concretely, that, contrary to the popular adage, there is not always room at the top, but that able men often have to wait for an "opening" The increasingly large-scale nature of industrial enterprises also means that larger capital backing is necessary to compete successfully with established firms [14] Thus there are even limitations on the industrial entrepreneur. These additional restrictions do not necessarily operate unequally, but do tend to enhance the inequalities noted above

In view of these institutional and unofficial limitations to equality

[13] See Percy E Davidson and H Dewey Anderson, *Occupational Mobility in an American Community* (Stanford University, Calif Stanford University Press, 1937), p 103

[14] This is illustrated and documented by the findings of the Temporary National Economic Committee, *Investigation of Concentration of Economic Power* (Washington U S Government Printing Office, 1939–1941) The two series of *Hearings* and *Monographs* run to over eighty volumes and provide a detailed commentary upon the rigidification of business enterprise See particularly the testimony of Dr Willard Thorp, in *Hearings*, Part 1, "Economic Prologue," pp 81–156

of opportunity, it is not surprising to learn that, despite the office-boy-to-president success pattern, there is relatively little occupational mobility between the distinct occupational categories

Minor and major changes of occupational position may either occur within single careers, or between generations (that is, non-inheritance of occupation). With reference to the first, studies of various groups and in different areas show a good deal of job shifting, and comparatively little shifting in occupational level In the San Jose, California, study made by Davidson and Anderson, somewhat less than half (forty-four per cent) of all occupational shifts involved no change in general level, whereas almost three-fourths of the shifts involved no more than one step up or down. This study includes six levels, in addition to professionals, proprietors, and clerks, the group we have called wage earners is divided into skilled, semiskilled, and unskilled A good deal of the total occupational mobility has occurred among these three levels.[15] Sorokin has found similar occupational mobility without much shifting in occupational level[16] The Lynds found in their study of "Middletown" in the mid-1920's that over a period of twenty-one months there was but one chance in four hundred twenty-four for wage earners to be promoted to foremen[17] They found no reason to alter their conclusions in their second study in 1935 On the contrary, they found a marked development in the number of specialized technical and managerial jobs for which even the exceptional wage earner was unqualified[18] All studies point to the unmistakable conclusion that anything like complete transversal of the occupational range within a single career is extremely rare.

It is often said that occupational mobility is simply slowing up, so that it takes more than a single generation to move a considerable distance up the stratification ladder There is some evidence that this is true, although the available studies indicate that the son

[15] *Op cit*, pp 84–102, 179–186

[16] Pitirim Sorokin, *Social Mobility* (New York Harper & Brothers, 1927), pp 424–456

[17] Robert S Lynd and Helen Merrell Lynd, *Middletown* (New York Harcourt, Brace and Company, 1929), pp 65–66

[18] Lynds, *Middletown in Transition*, pp 67–73

more frequently follows an occupation on the same level as that of his father than any other occupational level, and that the shifts in level from one generation to the next are chiefly confined to those occupational classes closest to the father's occupation.[19] For example, one study conducted in a growing Western community indicated that 41.7 per cent of the sons of unskilled would become unskilled workers and 71.9 per cent would remain among the ranks of wage earners.[20]

Thus, occupational class mobility is by no means a common phenomenon within one career, and even from one generation to the next the extent of shifting could be easily overrated. But does this mean that there is increasing likelihood of acute class consciousness or the necessary imminence of class struggle? The evidence supports no such conclusion. There are several additional considerations of high significance for the stability of American society.

Stabilizing Factors. The first of these additional facts that decreases the chances of a developing class consciousness as the result of the presumed rigidity in general class lines is to be found in the nature of occupational specialization and mobility itself. Competition and mobility are not limited to major shifts in general occupational status. Especially at lower occupational levels, and decreasing as one proceeds to positions requiring longer training and greater ability, there is a considerable "range of horizontal transferability."[21] Thus unskilled, semiskilled, and even some skilled laborers can make considerable shifts in specific occupations in an industrial

[19] See Davidson and Anderson, *op. cit.*, pp. 17–38, 162–167; Sorokin, *op. cit.*, pp. 428–457. The Davidson and Anderson study indicates considerably less occupational inheritance at the professional level than at others. This is probably related to the previously noted importance of specialized (ordinarily academic) training for professional status, rather than occupational climbing. This to be contrasted with a uniform indication in the various studies of considerable immobility in farming. In this regard, see also W. A. Anderson, *The Transmission of Farming as an Occupation*, Cornell University Agricultural Experiment Station, Bulletin 768 (Ithaca, N. Y.: October 1941).

[20] Davidson and Anderson, *op. cit.*, pp. 17–38.

[21] See William H. Stead, Carroll L. Shartle, and Others, *Occupational Counseling Techniques, Their Development and Application* (New York: American Book Company, 1940), pp. 203–205. See the discussion of occupational specialization in Chap. XVIII, above.

system characterized by a tremendous division of labor, without appreciably altering their general occupational rank Since there is some range of vertical variation within one rank, these shifts may well appear to the worker as appropriate economic opportunity. Although the extent of occupational shifting is reduced to a minimum in higher occupational ranks, the range of variation within a particular occupation may be considerable A professional man, for example, confines his competitive energies primarily to his own profession The individual competition for general social status is likely to be less significant than competition within a single line of occupational differentiation.

This consideration is given added point if it is recognized that the translation of the occupational categories discussed here into "social classes" is an operation of doubtful validity All occupations are not arranged on a single prestige scale, and certainly do not constitute possible steps in a single career Even the relative rank of the major functional groups is doubtful, and since rank *within* these groups is usually the decisive question, failure to move from one "situs"[22] to another in the occupational career has no necessary implications for "class" conflict The major difficulty with much of the argument and analysis in this area is the assumption that a single scale of occupational levels will produce classes that "really exist" and have concrete relevance for attitudes of identification with "class interests" Classes in the sense of strata cutting across the entire system may "exist" for certain purposes of collective relations or advancement of particular "interests" and yet not "exist" in many other contexts where a much more complex and differentiated social structure is relevant. There is no magic in the single number (or single scale) if it obscures the operation of a social system Occupational position, we have noted, will have one sort of relevance within the concrete organization in which the individual is employed, a different relevance in the neighborhood or community or circle of acquaintances, and still another on national political issues or sympathies in cases of conflict between broad interests

[22] Hatt, "Occupation and Social Stratification," previously cited

A second major consideration with reference to occupational mobility and class consciousness is that much too little attention is customarily given to the increasing complexity of the occupational structure and the demand for *new* skills and the establishment of *new* organizations with their appropriate quota of leadership positions. This increasing complexity and appearance of new occupational opportunities is in turn related to the growing importance of the school as the avenue of occupational mobility. The increasing difficulty of traversing the entire range of positions in a single line of ascent is directly related to the fact that higher positions are increasingly filled directly from colleges and technical schools. Now access to higher education is by no means equal for persons of equivalent native ability, but the direction of change has been for greater educational opportunities, not smaller.

A third significant limitation to the appearance of class-conscious groups arising from major occupational distinctions derives from the degree of arbitrariness in fixing attention exclusively upon occupation as a mode of differential valuation. Failure to "get ahead in the world" by occupational advancement is no final barrier to "class" mobility. On the contrary, satisfactory social valuation on other grounds may compensate for considerable inadequacies in the productive order. Two typical examples are to be found in high status of Southern aristocrats living in respectable poverty, and in the assiduous "social climbing" of suburban clubwomen.

In addition to these "facts of the situation" there is another fact of considerable importance: the fact of belief in and support of the open-class system.

Functions of the Ideology. The Marxians have written and exhorted a great deal about class interests following from class position, as judged by relationships of production. While we must reject their reduction of social classes to a single dichotomy, and their claims that this necessarily leads to class opposition and class struggle, we have also noted that occupational affiliations form a primary, if complex, basis for social distinctions in our society. We have even indicated that a number of common interests are associated with occupational group membership. Indeed, because the child is so-

cialized within the particular class position of his parents, it is possible on these grounds to maintain that divergent "class" attitudes follow from differing functional roles in the productive system.

But this differential participation in culture by no means automatically produces *conflict* in class interests, formulated in class ideologies We should note the negative part played by such associations as the church and state which cut across class lines. Perhaps more important than these (or their values in religious ethics and national patriotism) as an integrative factor is the fact that differences of status, and even of "interest," are given an over-all justification in the ideology of the open-class system

The integrative and stabilizing effect of the belief in the open-class organization, both as fact and ideal, is evident in a variety of circumstances It is most generally recognized in a rather pervasive hope for better things The absence of official barriers, and the emphasis upon rising in the social and economic world, give a stake in the future that may be illusory, but is real in its effects if it is thought to be real A survey by the staff of the magazine *Fortune* indicates the generality of belief in personal chances for success[23] Sometimes, especially among the middle-aged, hope for greater personal success may be lost, but this by no means ends the matter, or produces complete disillusionment For the common tendency for parents to project their own unrealized desires upon their children simply postpones the realization of the hope for another generation.[24] Associated with this personal hope, or hope for one's children, is, of course, a general belief in continued opportunity. One frequently hears, for example, that the days of expansion and individual opportunity are not over, that the new frontiers are the new industrial opportunities Amid some persistent doubt, and much occasional doubt, there is a widespread belief in industrial and economic "progress" which will challenge the best talent of the society[25]

[23] See *Fortune*, "The Fortune Survey XXVII The People of the U S A—a Self-Portrait," 21 (February 1940), pp 134, 136

[24] See for example the findings of the Lynds in *Middletown*, pp 48–52

[25] See the *Fortune* survey, *loc cit*, pp 133–134, Lynds, *Middletown in*

To point up the previous observations, and to draw their logical conclusion, there is a widespread conviction that there is no intrinsic conflict between classes. Thus in the *Fortune* survey, in answer to the question, "Do you think that the interests of employers and employees are, by their very nature, opposed, or are they basically the same?" the following results were tabulated.[26]

	Percentages Answering		
	The Same	*Opposed*	*Don't Know*
Total	56.2	24.8	19.0
Prosperous	73.9	17.8	8.3
Lower middle class	58.8	25.4	15.8
Poor	44.4	29.0	26.6
Executives	80.2	15.3	4.5
White-collar workers	69.8	23.1	7.1
Factory labor	41.3	37.3	21.4
Unemployed	45.1	29.2	25.7

To be sure, this and other studies indicate some differences among various occupational and income groups. The Lynds, for example, found much incipient class consciousness, which was offset by hope in future opportunity.[27] Jones found evidence of very nearly polar reactions to the problem of corporate property rights as opposed to "human" rights, with industrial executives supporting property interests and industrial laborers giving preference to human rights. Yet he found no evidence of translating this difference into class ideologies, nor even of any widespread break-down of traditional adherence to the respect for property. He also noted the stabilizing function of hope for acquisition of property and higher status.[28]

The open-class ideology, then, is real in the double sense that it exists and that it works. That is, it works to preserve the existence of the prevailing system of social differentiation, and thus to inte-

Transition, pp. 454–461; William F. Ogburn and Meyer F. Nimkoff, *Sociology*, 2nd ed. (Boston: Houghton-Mifflin Company, 1950), Chap. 8.

[26] *Loc. cit.*, p. 133.

[27] *Middletown in Transition*, pp. 25–44, 450–454.

[28] *Op. cit.*, particularly Chap. XXIII. The managerial group showed the most consistent and extreme response. This may be evidence in support of Marx's generalization that the upper classes must always be "for themselves" (that is, have class consciousness) in order to remain in a position of dominance.

grate all groups about a common set of values and a common set of assumptions.

In summary, one might, in view of the notable gaps in equality of opportunity, speak of the "mythology" of the open-class system. But to call a particular belief a "myth" does not thereby dismiss its social importance. Scientific validity and social utility have no necessary relation to one another And the mythology is "useful" for preserving a measure of social—and industrial—peace. It has of course by the same token a profound disutility for possible changes in the direction of increased economic opportunity or decreased differentials in economic welfare.

Whatever may be the numerical odds against advancement, it is *possible* There are few official limitations, and the general equality of opportunity, though restricted, is nevertheless greater than in any other modern complex society. That may not be regarded as sufficient, it is, however, undeniably something

The occupational categories we have discussed are to a large degree the product of an industrial civilization. They represent part of the wider ramifications of modern economic activity. But the interests represented by the several strata of society—the common levels of living, appropriate dress, speech, and general behavior, the social circles in which one moves and mates—are not simply "reflections" of industrial interests. Even in a society unusually preoccupied with getting ahead in the world, no single occupational group genuinely threatens to use extraordinary means for major transformations in the productive system

REFERENCES

ANDERSON, H. DEWEY, and PERCY E DAVIDSON, *Ballots and the Democratic Class Struggle* (Stanford University, Calif · Stanford Universit Press, 1943)

ANDERSON, W A., "The Transmission of Farming as an Occupation," *Cornell University Agricultural Experiment Station, Bulletin 768* (Ithaca N Y, October 1941)

BAKKE, E WIGHT, *Citizens Without Work* (New Haven Yale University Press for the Institute of Human Relations, 1940), Chap. ' "A Working Class."

CENTERS, RICHARD, *The Psychology of Social Classes* (Pimceton Princeton Umversity Piess, 1949).

DAVIDSON, PERCY E , and H DEWEY ANDERSON, *Occupational Mobility in an American Community* (Stanford University, Calif Stanford University Piess, 1937).

DAVIS, KINGSLEY, "A Conceptual Analysis of Stratification," *American Sociological Review,* 7 309–321, June 1942

DAVIS, KINGSLEY, and WILBERT E. MOORE, "Some Pimciples of Stiatification," *American Sociological Review,* 10 242–249, Apiil 1945

DOBB, MAURICE, "The Economic Basis of Class Conflict," in T H Marshall, ed , *Class Conflict and Social Stratification* (London LePlay House Piess, 1938), pp 134–152

ENGELS, FREDERICK, *Socialism, Utopian and Scientific* (Chicago Charles H Kerr and Co , 1907)

GINSBERG, MORRIS, "Class Consciousness," in *Encyclopaedia of the Social Sciences,* 3 536–538

HATT, PAUL K , "Occupation and Social Stratification," *American Journal of Sociology,* 55 533–543, May 1950

———, 'Stiatification in the Mass Society," *American Sociological Review,* 15 216–222, Apiil 1950

HOLLINGSHEAD, AUGUST B , *Elmtown's Youth The Impact of Social Classes on Adolescents* (New York John Wiley and Sons, 1949)

HOOK, SIDNEY, *Towards an Understanding of Karl Marx* (New York The John Day Company, 1933), Part II, "The Philosophy of Marx"

JONES, ALFRED WINSLOW, *Life, Liberty, and Property* (Philadelphia J B. Lippincott Company, 1941), Chap XXIII, "Summary and Interpietation", Chap XXIV, "Conclusion—Class Consciousness and Property"

LORWIN, LEWIS L , "Class Stiuggle," in *Encyclopaedia of the Social Sciences,* 3. 538–542

LYND, ROBERT S , and HELEN MERRELL LYND, *Middletown* (New York Harcourt, Biace and Company, 1929), Chap IV, "The Dominance of Getting a Living", Chap VI, "What Middletown Does to Get a Living", Chap. VII, "The Long Arm of the Job", Chap VIII, "Why Do They Woik So Hard?"

LYND, ROBERT S , and HELEN MERRELL LYND, *Middletown in Transition* (New York· Harcourt, Brace and Company, 1937), Chap. II, "Getting a Living" and pp 406–410, 444–462

MARSHALL, T H , "The Natuie of Class Conflict," in T H Marshall, ed , *Class Conflict and Social Stratification* (London LePlay House Press, 1938), pp. 97–111

MARX, KARL, *Capital* (Chicago Charles H. Kerr and Co., 1906–09, 3 vols.), especially Vol. I, Chap. VII, "The Labour-Piocess and the

Process of Producing Surplus-Value," and Vol III, Chap. LII, "The Classes"

MARX, KARL, *A Contribution to the Critique of Political Economy* (New York International Library Publishing Co, 1904), "Author's Preface," and "Appendix"

——, *Revolution and Counter-Revolution, or Germany in 1848* (Chicago. Charles H. Kerr and Co, 1912).

——, *Value, Price and Profit* (Chicago Charles H Kerr and Co, n d).

MARX, KARL, and FREDERICK ENGLES, *Manifesto of the Communist Party* (Chicago Charles H Kerr and Co, 1906)

MCCONNELL, JOHN W., *The Evolution of Social Classes* (Washington American Council on Public Affairs, 1942).

MEUSEL, ALFRED, "Middle Class," in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, 10 407–414

MICHIGAN STATE COLLEGE, Social Research Service, *Youth and the World of Work* (East Lansing 1949)

MILLER, DELBERT C, and WILLIAM H FORM, "Measuring Patterns of Occupational Security," *Sociometry*, 10 362–375, November 1947.

MILLS, C WRIGHT, "The American Business Elite· A Collective Portrait," *The Tasks of Economic History*, Supplement V to *The Journal of Economic History*, December 1945, pp 20–44

——, "The Middle Classes in Middle-Sized Cities, The Stratification and Political Position of Small Business and White Collar Strata," *American Sociological Review*, 11 520–529, October 1946.

MOMBERT, PAUL, "Class" in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, 3 531–536

NORTH, CECIL CLARE, *Social Differentiation* (Chapel Hill The University of North Carolina Press, 1926), Chap III, "Differences of Rank", Chap X, "The Creation of Privileged Classes"

PAGE, CHARLES HUNT, *Class and American Sociology* (New York The Dial Press, 1940).

PARSONS, TALCOTT, "An Analytical Approach to the Theory of Social Stratification," *American Journal of Sociology*, 45 841–862, May 1940.

PATTERSON, S HOWARD, *Social Aspects of Industry*, 3d ed (New York. McGraw-Hill Book Company, Inc, 1943), Chap VI, "The Ideal of Equality of Opportunity and the Facts of Economic Inequality: Division of National Wealth and Distribution of National Income"

PFAUTZ, HAROLD W, and OTIS DUDLEY DUNCAN, "A Critical Evaluation of Warner's Work in Community Stratification," *American Sociological Review*, 15 205–215, April 1950

ROBBINS, LIONEL, "The Economic Basis of Class Conflict," in T H Marshall, ed , *Class Conflict and Social Stratification* (London. LePlay House Press, 1938), pp 112–123.

SOGGE, T M , "Industrial Classes in the United States in 1940," *Journal of the American Statistical Association,* 39 516–518, December 1944.

SOROKIN, PITIRIM, *Social Mobility* (New York Harper & Brothers, 1927), Chap II, "Social Stratification", Chap VI, "Occupational Stratification", Chap XVII, "Vertical Mobility within Western Societies"; Chap XVIII, "Vertical Mobility within Western Societies (Continued). Shifting on the Economic Ladder "

SUMNER, WILLIAM GRAHAM, *What Social Classes Owe to Each Other* (New Haven Yale University Press, 1934).

THOMAS, BRINLEY, "The Problem of Bridges and Barriers," in T. H Marshall, ed , *Class Conflict and Social Stratification* (London, LePlay House Press, 1938), pp 73–96

VEBLEN, THORSTEIN, *The Place of Science in Modern Civilisation* (New York The Viking Press, 1932) See "The Socialist Economics of Karl Marx, I," pp 409–430.

——, *The Vested Interests and the State of the Industrial Arts* (New York B W Huebsch, 1919) Sec VIII, "The Vested Interests and the Common Man "

——, *The Theory of the Leisure Class* (New York B W Huebsch, 1918)

WANCE, WILLIAM, and RICHARD BUTLER, "The Effect of Industrial Changes on Occupational 'Inheritance' in Four Pennsylvania Communities," *Social Forces,* 27 158–162, December 1948.

WARNER, W. LLOYD, and J. O. LOW, *The Social System of the Modern Factory, The Strike A Social Analysis* (New Haven Yale University Press, 1947), Chap V, "The Break in the Skill Hierarchy" Chap IX, "The Workers Lose Status in the Community", Chap X, Blue Print of Tomorrow—General Conclusions", Appendix 6, "Social Characteristics of the Shoe Workers "

WARNER, W. LLOYD, and OTHERS, *Democracy in Jonesville* (New York Harper & Brothers, 1949)

WARNER, W LLOYD, and OTHERS, *Social Class in America* (Chicago Science Research Associates, 1949).

WARNER, W LLOYD, and PAUL S LUNT, *The Social Life of a Modern Community,* Yankee City Series Vol I (New Haven Yale University Press, 1941), Chap V, "How the Several Classes were Discovered," and Chap VI, "Class and Social Structure "

WARNER, W. LLOYD, and PAUL S. LUNT, *The Status System of a Modern*

Community, Yankee City Series Vol II (New Haven Yale University Press, 1942)

WOYTINSKY, W S, *Labor in the United States* (Washington Committee on Social Security, Social Science Research Council, 1938), Note 2 (pp 236–239), "Rearrangement of Occupational Statistics", Note 5 (pp 249–251), "On Methods of Occupational Classification", Note 14 (pp. 268–272), "Trends in the Socio-Economic Structure of the Working Population in the United States."

CHAPTER XXIV

GOVERNMENTAL INTERVENTION

"LESS GOVERNMENT in business, more business in government"—so runs the slogan of the United States Chamber of Commerce, quoted frequently as an epigrammatic summary of the sentiments of all right-thinking persons. If added weight of authority be needed, Thomas Jefferson may be erroneously quoted to the effect that "That government is best which governs least." Yet despite these expressions of sentiment concerning the way in which political virtue lies, it is undeniably true that the visible social controls that limit freedom of action in economic affairs are steadily increasing.

Here we are concerned with the way the institutions of production, trade, property, etc., fit into the larger framework of the social order. Previous chapters have outlined the position of industry in the community, and the relation between occupational status and general social or class status. We must now examine how the vast and sprawling economic interests of our society are modified or controlled.

The social controls of industry are both numerous and varied. This is not surprising in view of the complexity of industrial organization and the diversity of interests which prompt some measure of control. The rules that guide the conduct of industrial affairs function not only to maintain order in an economy that is only nominally self-regulating, but also to ensure the consistency of economic organization with such values as individual health and familial stability.

The present chapter will first review briefly the traditional doctrines of a "free" economy and the controls actually hidden in the institutional structure comprised in the "culture of capitalism." We

shall then note the ways in which the "automatic" (that is, unconscious) controls have been modified and supplemented as the economic system has become more complex and powerful, and the objectives served or goals sought by the additional controls.

MODIFICATION OF THE CULTURE OF CAPITALISM

Discussions of the role of government in economic affairs usually proceed rather quickly to theoretical comparisons of capitalized epithets like Capitalism, Socialism, Fascism, and Communism. In such discussions the scientific observer can take little part, since they tend to revolve around sentiments concerning the "good life" rather than fact, and, above all, because they are about the relative merit systems that do not in fact exist That is, these grandiose systems of economic production and distribution do not exist in the "pure forms" usually taken as the basis of argument. The observer may, however, grant that the folklore or mythology that contains the blueprint of a system in theory has some effect upon the operation of that system in practice

These remarks are prefatory to the commonplace observation that capitalism as pictured in the older learned treatises, and even as staunchly defended by corporate managers, no longer exists We have already outlined the main principles of the traditional culture of capitalism (Chapter XVIII), and have had occasion at numerous junctures to point out how the conduct of contemporary industrial affairs departs from the true faith We are not here concerned with a detailed review of the theory accompanied by an item by item contrast with the facts, however telling such a review might seem to be We are not even primarily concerned with the fact that the theory could not work in the everyday affairs of the community, because it neglected the highly significant problems of harmony of interests. It is, however, important to note again that mere poking fun at the more ludicrous assumptions of an individualistic, *laissez-faire* economy does not remove the importance of the ideology That ideology serves as a standard for approximation and as a convenient set of symbols for giving official sanction to the devices used in the production and distribution of eco-

nomic goods. Thus if, as frequently happens, a vast public utilities empire of pyramided holding companies is treated in the rarified atmosphere of the courts as an individual whose private property must not be taken away "without due process of law," it is a little naive to be either amused or angry. It is true that this is not capitalism of the textbook or Rotary Club variety, but neither is it a ritual that is entirely devoid of doctrinal significance On the contrary, the strength of the doctrine of noninterference in "private" economic affairs is daily demonstrated in the resistance generated by any proposal for new controls.

Death of Homo Economicus. The "economic man," as a rational, self-interested, acquisitive individual, who competes with other economic men and thus serves the best interests of all, was of course always an abstraction That is, it was possible and necessary to think of such a person as the active force in the economic theory of a competitive social order, but it was impossible to observe such an individual in fact Difficulties, both theoretical and practical, continue to arise, however, when this abstraction is confused with actual manufacturers and traders, to say nothing of corporations. Without making untenable assumptions about a "natural identity of interests" it is impossible on such grounds to account either for the goals of competitive enterprise or for the rules that restrict the activities of competitors and keep them "fair"[1] It has been the merit of the so-called institutional economists to have pointed out some of the extensive legal and other controls required to make a competitive order work at all, as well as the ways in which those presumably limiting institutions may be manipulated to sanction practices and organizations not contemplated in the original doctrines.[2] We shall return below to a brief examination of the role of institutions in economic affairs

[1] See Talcott Parsons, *The Structure of Social Action* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc , 1937), Chap III, "Some Phases of the Historical Development of Individualistic Positivism in the Theory of Action"

[2] Much of the thinking in this field stems more or less directly from the work of Thorstein Veblen See, for example, his *Absentee Ownership and Business Enterprise in Recent Times* (New York B W Huebsch, 1923), and his *The Theory of Business Enterprise* (New York Charles Scribner's Sons, 1936) See

The fact of the matter is that controls other than those exercised by the market have always been part of our social order, even in the days of "early" capitalism. This situation has been partly due to the fact that competition without rules is a contradiction in terms, and it will be noticed that in any critical case the rules must be regarded as referring to more fundamental values than the particular object of the competition. As a minimum statement of the situation, it is clear that the competitive system as such will be regarded as more important than an otherwise effective device (such as "cornering" the market) that threatens the system Thus the rather efficient practices of force and fraud, which a pure specimen of economic man could scarcely be expected to overlook, would destroy the very bases of societal life.

The conception of an economic man has been lately under a great deal of attack, only part of it justified Thus critics have discovered with ill-concealed glee that human beings, including businessmen, often act "irrationally," practice many rituals, apparently subscribe to quite inconsistent doctrines, and so on. Such criticism has been undoubtedly useful to the extent that it has served to call attention to the unreality and impossibility of a self-ordering society based upon shrewdly acquisitive behavior by self-interested individuals. It is scientifically unfortunate to the extent that it gives rise to the idea that human behavior is simply unpredictable. that is, that since people do not behave "rationally" as narrowly defined, there is simply no way to understand their motives or their behavior. Stated more positively, it is good to recognize that a society of economic men could not exist, but it is at least equally good to recognize *why* in terms of the whole fabric of social behavior. Especially is it necessary to recognize the fundamental significance of the controls of human behavior that make social life possible, and of the common values that those controls serve.

---

also Thurman W Arnold, *The Folklore of Capitalism* (New Haven Yale University Press, 1937), John R Commons, *Legal Foundations of Capitalism* (New York The Macmillan Company, 1934), Leverett S Lyon, Myron W Watkins, and Victor Abramson, *Government and Economic Life* (Washington. The Brookings Institution, 1939), Vol I, Chap II, "Conditioning Factors in America."

The "death" of economic man to which we have referred in the heading of this section is thus not a true demise. Rather, a ghost has been laid. But even this more limited homicide has been less attributable to the theoretical critics than to the course of events in the legislatures and courts For the older and customary controls of economic behavior might be accepted and dismissed as part of the natural order of things. But as new controls have been introduced, for whatever reason, it has become increasingly clear—even, and especially, to the strongest adherents to the belief in the possibility and advisability of a *laissez-faire* economy—that the actions of the most self-reliant individual are circumscribed and hedged about by a host of regulations.

The Role of Institutions. The seeming absence of official administrative or legislative controls in the older "free" economy did not signify that there were no controls Rather, the division of labor, the control of productive wealth, and the system of exchange and distribution were thought to be *self-regulating* But such self-regulation could only exist within the framework of a fairly well-defined ideology and pretty rigid institutional system. As long as economic activities were carried on with reasonable conformity to the limits assumed in the ideology of liberal capitalism, the controls were not obvious. But a persistent and otherwise successful effort to violate the canons of "free enterprise" and individualism called forth definite legal controls, *presumably to make the self-regulation work according to theory* Thus, we have noted that the doctrines of individual competition were *enforced* by the courts in the case of groups of workingmen Similarly, every time a person who has entered an agreement with another person is forced by the courts to fulfill his contractual obligations, the so-called "sacredness of contract" is being made an objective of social control. And if the contract called for one party to surrender himself to enslavement by the other, the courts would refuse to uphold the obligation—no matter how valuable the consideration received by the prospective slave—because here the principle of freedom of contract violates the "public interest" in maintaining a free labor system

We have purposely chosen examples of commonly recognized

legal principles, of sufficiently ancient vintage to escape any taint of new-fangled governmental interference with the free conduct of production and trade. The fact that the older structure of economic organization did allow a comparatively wide range of self-regulation (that is, regulation by unconscious controls of price competition, etc.) should not lead one to the mistaken conclusion that the social control of industry is a modern development. Indeed, it is simply impossible to maintain a society if a major part of social activity is unregulated.

If one were comparing a number of economic systems in relation to the societies in which they flourish, one would note at least three critical questions which every social order must answer in some well-understood way: *Who does what, Who controls what and whom, and Who gets what?* This rather commonplace way of asking the questions may be translated into the terminology of the social sciences: they are the spheres of the institutions of the division of labor, property, and distribution. The way these institutions define the situation with respect to economic affairs provides the major controls of the system.

As in all forms of social control, these controls will become obvious only to the extent that they are transgressed or are regarded as burdensome. In general, a *new* control is more obvious than one long familiar, partly because any new control affects some members of a society adversely.

This line of argument begs some questions, of course. Notably, it leaves unanswered the rather practical questions as to the mechanism of the control, and the ends toward which regulation is directed. We shall return to these problems in the latter part of this chapter. Rather than dealing with all of the controls in terms of the major institutional structures within which they fall, we may single out for special attention the rather fundamental modifications that have taken place in the realm of property.

New Property Conceptions. In Chapter III, in connection with the legal character of the modern corporation, the fundamental importance of property institutions as a source of control of economic activity was discussed, as well as the way in which the legal theory

of the corporation has gradually forced a modification in the traditional views of private property Without a detailed analysis of the system of private property,[3] we may nevertheless repeat the assertion that a system of *completely* private property (that is, with no limitations upon individual use of those types of wealth which are "owned") is a social impossibility. There must always be reservations and restrictions in the public interest, or to preserve social order. If we add to this observation the further one, also previously discussed, that property rights are divisible and capable of considerable diffusion, we are in a position to understand the ways in which the modification of property rules serves to provide new social controls of industry.

Stemming partly from a slow but growing legal recognition that corporate control of wealth is a far cry from traditional conceptions of private property, there is in modern property conceptions an *increased dichotomy between productive wealth and consumers' goods.* Legal recognition has not been sharply defined, but is evident in increased restrictions on the uses of productive wealth in view of the power inherent in concentration of economic control Popular recognition has been even less incisive, but may be observed in the attempt to distinguish property rights and human rights As ordinarily understood, the property rights in question are those of capital ownership and not ordinary private ownership of consumers' goods Even though, as noted in the previous chapter, the fairly widespread enjoyment of private ownership of consumption goods has tended to lend support to the system of nominally private property as a whole, distinctions according to use are increasing. This is further illustrated by the sale of phonograph rec-

[3] For a statement of the elements in, and limitations on, a system of private property, see Wilbert E Moore, "The Emergence of New Property Conceptions in America," *Journal of Legal and Political Sociology,* 1 (3–4) 34–58, April 1943 The following paragraphs of this section of the text are adapted from the paper cited, by permission of the editors of the *Journal* See also A Irving Hallowell, "The Nature and Function of Property as a Social Institution," *ibid*, 1 (3–4) 115–138, April 1943, John R. Commons, *Legal Foundations of Capitalism* (New York The Macmillan Company, 1924), Chap II, "Property, Liberty, and Value," and Chap VII, "The Price Bargain—Capitalism and Exchange Value", R T. Ely, *Property and Contract in Their Relation to the Distribution of Wealth* (New York The Macmillan Company, 1914), 2 vols

ords or printed dramas for nonproductive use only, unless additional returns in the form of royalties are paid to the vendor.

Coupled with the distinction between productive wealth and consumers' goods is the radical departure from strictly private control of the former. There is every reason to expect even further development of the corporate principle of productive organization, with rights held either distributively or, possibly, publicly. The newer limitations on corporate action are especially significant in their recognition of the "trustee" character of corporate control. This is illustrated in the expansion of protection for the minority or unrepresented stockholder through Securities and Exchange Commission regulations. The possibility of increased public ownership is enhanced by the acceptance by the courts of such ventures as the Tennessee Valley Authority, even though so far the decisions have been in terms of such expansible generalities as "interstate commerce," "general welfare" (national defense), or the "police power."

In an increasingly complex society with an expanding technology, new uses—that is, new values—are found in familiar objects, ideas, and relationships. These call for new property regulations and illustrate a sort of "logic of growth" of property conceptions. Part of the change can be cushioned by reliance on general principles of relative worth or necessity. Thus, the natural rights doctrine of private property, particularly with reference to the principle of unlimited rights, has in the past consistently obscured the sociological fact that property institutions are societal creations This has led to a general policy of attaching all new values accidentally or unpredictably accruing to some locus of value[4] to the recognized owner "as of right." For example, if a person buys a sheet of postage stamps presumably for the purpose of using them for postage and discovers that an error in their manufacture makes them far more valuable for sale to collectors, our ideas of property

[4] The term *locus of value*, although somewhat awkward, is suggested as a substitute for the common designation of property rights in "things" The limiting of property controls to controls of "things" not only is conducive to confusing values and rights in those values (as in the common and erroneous habit of speaking of objects as being property), but simply leaves out of consideration the vast number of property rights which do not refer to land or objects at all.

concede that the purchaser was lucky and has full claim to the extra value. Any restrictions on this principle have been viewed as requiring positive legislation unless particular cases clearly fall within the exercise of police power or the promotion of general welfare

Nevertheless, the traditional principles are subject to considerable change, even if that change is chiefly in the form of slow accretions and slight modifications The new uses of scarce objects or loci of value are numerous, and growing. Rather than attempting a complete catalogue of changes already apparent or which can be readily predicted, we may indicate three main categories of novel property controls· (1) controls of new uses of the natural environment, or new controls of old values, (2) controls of power relationships to prevent "exploitation," or to direct the benefits differently, (3) controls following from both of these, an ever-widening recognition of "intangibles"

1 With the constant development of scientific research, particularly that directed toward practical (technological) ends, new values are added to familiar aspects of the environment This inevitably raises questions of allocation of rights, and the evidence points fairly uniformly to increasing public control of such new values. Two fairly recent situations will serve to illustrate this policy. Both involve new uses of "airspace" in the broadest sense· the control of navigable airspace and the control of radio wave lengths. Although the attempt was made in both instances to follow the traditional idea of allocation of additional rights to those already in "possession" (like the fortunate purchase of rare postage stamps), such a solution actually destroys the utility of the inventions that gave rise to the new uses of air Thus, both have been placed under Federal jurisdiction as an extension of the "police power" and justified by the power of Congress to regulate interstate commerce.

Other cases of new controls are less clear-cut. Thus, the rate of exploitation of exhaustible natural resources has been a leading public issue for a generation, and only fairly recently have the traditional property rights of systematic and profitable destruction

been placed under some modicum of public control. The fate of such controls at the hands of the courts has been variable. However, it may be safely predicted that legal devices to accomplish control "in the public interest" will be increasingly apparent in the future.

The situation with regard to patents is also in flux. As pointed out by Walton Hamilton and others,[5] the Constitutional purpose of granting patents "to promote the progress of science and useful arts" may be subverted by the possibility of maintaining the property right of advantageous nonuse Either through positive legislation or through possible continuation of patent pools established in wartime, the private-property character of patents assigned to corporations will probably be modified in the future. It seems reasonably certain, for example, that the courts would prevent the withholding of a patented cancer cure in the unlikely event of such an attempt. The doctrines of "human rights" or "general welfare" are still capable of some expansion.

2. Property regulations, in defining the relation between persons and scarce values, necessarily also define social relations To talk of property at all implies therefore an actual or potential power relation between the person holding property rights and the person excluded from their enjoyment The ideology of private property, particularly as developed in a period of relatively "free enterprise," has consistently obscured this point It is only in recent legislation and judicial decision that the effect of factory production, and especially of corporate enterprise, upon the bargaining power of the individual employee has been officially recognized and modified. The support of collective bargaining has the effect of extending to employees a virtually property interest in their jobs, as was pointed out in Chapter XVII.

The great power wielded by large concentrations of wealth has been recognized in other ways, of course Much of the "trust-bust-

[5] Walton Hamilton, "Patents and Free Enterprise," United States Congress, Temporary National Economic Committee, *Investigation of Concentration of Economic Power, Monograph No 31* (Washington U. S Government Printing Office, 1941) See also TNEC *Hearings*, Part 3, "Patents—Proposals for Changes in Law and Procedures" (1939), Part 30, "Technology and Concentration of Economic Power" (1940)

ing" of the present century has been vainly aimed at squaring traditional doctrine with contemporary economic organization by forcing the "facts" to change to satisfy the assumptions of the law. Yet even this antimonopoly legislation has served to indicate an awareness of the interdependence of modern economic life and to pave the way for even greater extensions of the "police power" in behalf of workers, investors, and consumers, as well as on behalf of actual or potential competitors. It is at the present time safe to say that we have so far departed from traditional morality with respect to private enterprise that any large and strategic corporation could not and would not be allowed completely to fail. The precedent is at hand in the governmental underwriting of banks. There is little doubt that a similarly critical situation in other fields would yield similar or comparable results This amounts to increased *responsibility* to the public as some measure of compensation for the *power* for good or ill necessarily wielded by concentrations of wealth

3 Much of what we have been saying about the emergence of new property conceptions and controls in America may be phrased in another way with partial accuracy: the ever-widening recognition of what the law calls "intangibles." Our social structure has become far too complex for property to be confused with real estate, or even with realty and objects of personal ownership The division and multiplication of property rights points the way to further additions to an already impressive list. patents, trademarks, mining claims, franchises, company good will, stocks, bonds, insurance Not all of the "intangibles" protected by law (such as a protected professional reputation) are called property rights by courts still considerably befuddled by the rapid development of new controls, and some rather important ones such as controls of the market (as in the phenomenon of "price leadership") have had an almost extralegal development.[6] It appears likely that the course of future development will be toward incorporating these controls into a more consistent body of property regulations

[6] See Walton Hamilton, "Property Rights in the Market," *Journal of Legal and Political Sociology*, 1 (3–4): 10–33, April 1943

Despite the fundamental character of these changes in property controls, they have frequently escaped the attention of laymen and even of those specialists whose implicit conception of society and its controls is far more simplified than the facts warrant But some of the modifications of the culture of capitalism are too obvious to be overlooked, and may in fact be more apparent to the layman than to those lawyers and judges whose calling requires them to deal with abstractions and fictions as if they represented the actual state of affairs. We may conclude our survey of the changes in the old order of individual enterprise by brief attention to some characteristics of the modern social order that are not only significant but also fairly apparent to the casual observer.

Concentration of Economic Power One of the outstanding modifications of the culture of capitalism, or rather a whole chain of modifications, has already received detailed examination in Chapter III Those modifications are the ones stemming from the invention of the corporation and the concentration of economic power It is true that the corporation did not immediately force any official modification of the ideology of individual enterprise, the corporation simply became a person within the meaning of the law But it is also true that, whereas corporate enterprise might be treated as individual and private enterprise for some purposes, two considerations of ever-increasing importance make that position difficult to maintain. (1) the dispersion of stock ownership, the claims of bondholders, and so on have brought to the fore (even in the courts) the undeniably plural and even discordant character of the individual interests represented by the corporation, (2) the concentration of financial control through closely held minority blocks of stock and accentuated by pyramided holding companies has created organizations of such tremendous power that even the ablest and most imaginative myth-makers have been hard put to maintain the principle that the only restraints upon such enterprising "individuals" should be a few, simple rules.

Interest and Pressure Groups In the face of the increasing size of industrial establishments, and the far-reaching effects of the activities and policies of these organizations, various "interest groups"

have appeared to promote the common interests of their members in economic affairs Such interest groups are of course made possible by the growing ease of communication and transportation in an increasingly urban civilization, they are made "necessary" by the threat to their interests represented by other special-interest associations, including those of big business

It is apparent that such combinations of individuals for the purpose of gaining common objectives do not fulfill the strict expectations of "every man for himself." The fact of the matter is, of course, that the older principles of noninterference with private enterprise were themselves made a part of the law of the land by virtue of the fairly well-organized pressure of producers and traders. That a great number and variety of comparable associations have made their appearance has been partly due to the relative freedom of association allowed within our social order, and partly to the fact that in a political democracy with a widening suffrage the members of these groups have been provided with a relatively easy way of exerting influence in their own behalf.

Not only have special-interest groups become very numerous, but their methods of gaining their objectives have become so well known that they are frequently called "pressure groups." These groups are not, of course, mutually exclusive, since the very limited number of common interests among their members ensures realignments when other interests are at stake. We noted in the preceding chapter that this is one of the reasons a major class-conscious political or social movement has failed to appear in the United States Yet on any given question of social policy, or even a closely related series of questions, those whose interests are affected in one way or another may be expected to make their views known and their influence felt through an organization

Our immediate interest in pressure groups is not only in the fact that they represent in themselves a modification of the traditional theory of the self-reliant individual, but also in the fact that the specific forms of social control of industry are likely to represent the current "balance of pressures." The process of government is sometimes defined as a balancing of pressures, although it should

be noted that it is not only at the time of voting, when "each counts for one," that pressure may be exerted. It is not even always true that counting noses provides the conclusive test of power in a democratic social order, since some account must be taken of existing principles as expressed in previous legislation, as well as the well-known fact that differences in wealth, general social position, official status, and the like circumvent the doctrine of equality It is likewise true that not all special-interest groups are equally well organized to exert pressure, or equally vocal in their demands. But whatever may be the source of the real or implied power upon which pressure groups rest their claims to be heard, it is clearly true that they do affect, and even largely determine, both the amount and the direction of social controls upon industry.[7]

REGULATION IN THE "PUBLIC INTEREST"

Every major social activity, whether educational, religious, economic, political, recreational, or familial, must to a significant degree fit other aspects of social life In a simple, homogeneous rural or peasant society this is not difficult. All tend to merge in what we might call the life of the community. But as these activities become larger and more complex, they tend to develop a certain autonomy—to have walls around them insulating and separating them from the rest of society. Then it becomes necessary to establish new rules for controlling their relations, to prevent the elaboration of one at the expense of the others Viewed in this way, the problem of so-called social legislation is a problem of the same order as that of keeping the church, or the school, or the government in check. Just as the grant of religious freedom could not be extended to include a religiously sanctioned polygamy without endangering the customary structure of the family, so the principle of free competition for employment may be thought too extensive when it results in the widespread and economically advantageous employ-

[7] See Lois MacDonald, *Labor Problems and the American Scene* (New York Harper & Brothers, 1938), Chap XXXII, "The Process of Intervention by Government," especially pp 623–628

ment of ten-year-old children. The issue at stake may be called that of *institutional compatibility.*

The social controls of industry are thus at least partly aimed at maintaining a balance of major social activities But control is a little more extensive than this it involves the balance of interests *within* as well as outside of the major social organizations. This is especially apparent in the industrial sphere, where there is no necessary consistency in *economic* interests, apart from questions of interferences with health, familial life, political liberties, or other valued objectives.

Obviously, no social legislation (or any other social change) is in the immediate interests of everyone It would be hard to imagine any change that would not affect some persons adversely. In such a situation it is clear that a governmental decision to exert control, and the direction and extent that control will take, depend on some standard of relative importance and worth Because there is considerable debate both over the ideals and over the instrumentalities for achieving those aims, it is understandable that the social controls that now limit action in the industrial sphere represent compromises and occasional inconsistencies That all are claimed to be "in the public interest" simply means that they also represent the more or less successful attempts of the legislatures and courts to maintain a distribution of powers and privileges somewhat in accordance with prevalent standards of judgment in such matters.

Protection of "Economic Opportunity" One class of social controls of industry is clearly aimed at preservation (or, in many cases, re-establishment) of private initiative and free enterprise This is antimonopoly and antitrust legislation Such legislation is not aimed at the corporate combinations *per se,* but at various devices to create intercorporate combinations or complete monopoly The phrase "combinations in restraint of trade" (that is, in restraint of competitive trade) aptly summarizes the evil that the laws seek to prevent The Sherman Antitrust Act of 1890 and the Clayton Act of 1914 are the two outstanding Federal enactments aimed at "trust-busting"

We are not here primarily concerned with a detailed account of

the ups and downs in antitrust enforcement.[8] Rather, a few observations may be made about the general problems of control in this field One fairly obvious limitation on the attempt to preserve individual economic opportunity in the field of industrial production and finance is that the corporation is already a "combination in restraint of trade". that is, its assets are so large and its advance competitive position so secure that if any new competitive enterprise is to offer an effective challenge, that enterprise must also be a corporation Concerns already established may exercise economic power in a way to discourage competition by control of basic patents, control of strategic raw materials, domination of markets, and so on The total effect of these advantages is to limit new enterprises almost exclusively to new products or new markets. Even in pioneering, however, existing companies can usually branch out more easily than a new company can be established.

The preservation of economic opportunity in the modern organization of economic enterprise would seem to depend on one of two alternatives· (1) a wholesale splitting up and decentralization of capital, in an attempt to re-create a society of small enterprisers,

[8] For review of antitrust legislation and its enforcement, see Ford P Hall, *Government and Business,* 2d ed (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1939), Chap XV, "Control of Business under the Antitrust Laws," and Chap XVI, "The Control of Business by the Federal Trade Commission", Leverett S Lyon, Myron W. Watkins, and Victor Abramson, *Government and Economic Life* (Washington The Brookings Institution, 1939), Vol I, Chap X, "The Maintenance of Competition in Business Enterprise," and Chap XI, "The Plane of Competition in Business Enterprise", George Matthews Modlin and Archibald MacDonald McIssac, *Social Control of Industry* (Boston Little, Brown & Company, 1938), Chap VII, "The Restriction of Competition," Chap XIII, "Control of Industrial Monopoly," and Chap IX, "Control of Trade Practices", Myron W Watkins, *et al*, *Public Regulation of Competitive Practices in Business Enterprise* (New York National Industrial Conference Board, 1940)

For a statement of some of the difficulties involved in antitrust and similar legislation, see Thurman W Arnold, *The Folklore of Capitalism* (New Haven Yale University Press, 1937), Chap IX, "The Effect of the Antitrust Laws in Encouraging Large Combinations" In this discussion the author notes that the attempt to make our economic system conform to the ideal of a collection of competitive individuals is virtually impossible in view of the necessity of organization In a later book, written at a time when Professor Arnold was charged with the enforcement of these laws, he seems to have more faith in a return to small competitive enterprise See his *Democracy and Free Enterprise* (Norman University of Oklahoma Press, 1942)

(2) an admission of the advantages of size with extensive capitalization but with highly centralized control and increased responsibility to those whose interests are affected. In the latter case economic opportunity would have to take the form of occupational specialization, with possibly some choice in investments. Either alternative calls for extensive exercise of governmental controls: in the one case to break up the productive system into very small units and prevent new combinations under some new disguise, and in the other case to ensure responsibility and the protection of fairly equal opportunity. But true believers in economic opportunity should beware the preachments of those who would have their cake and eat it too—that is, who want to "keep government out of business" so that they can control other people's money as they see fit.

The emphasis on economic opportunity has been placed so exclusively in terms of independent business enterprise, which never occupied more than a minority of the working force, that the mistaken idea seems to prevail that only by competition among individual enterprisers in production and distribution can economic opportunity prevail. On the one hand, even were it possible to return to the simple days of individual competition among producers, there would be little incompatibility between that kind of "free enterprise" and the enslavement of the working population. In discussions of economic opportunity it is necessary to bear in mind two further questions: what kind of opportunity, and opportunity for whom? On the other hand, there is no question that a small establishment, granting competition and a free labor system, offers less danger to other establishments and other economic interests than does the large *and uncontrolled* enterprise. In view of the actuality and the necessity of large-scale organization in the contemporary conduct of industrial affairs, it seems reasonable to expect a gradual diminution of efforts to fight bigness as an evil in itself, and a turning of attention toward the control of powerful organizations. Above all, there is reason to expect an emphasis on opportunities other than those of the independent investor-manager-inventor who remains the (virtually nonexistent) stereotype of the free enterpriser.

Protection of Investors Somewhat in line with the more recent developments in the attempted preservation of economic opportunity has been a possibly tardy official recognition that the bulk of investors are no longer capitalists or enterprisers, and stand to gain or lose on their investments through persons and circumstances quite beyond their effective control This recognition was long retarded, as we have already noted, by the persistence of the legal fiction that corporate wealth is private property for which adequate guarantees are provided by the ordinary property laws It is the exposed and frequently disadvantageous position of the minority stockholder or member of a dispersed majority of stockholders that has most forcibly given the lie to the comfortable practice of treating corporations like small enterprisers

The incorporation laws of the several states provide a highly variable degree of control over the purposes of enterprises, the ratio between assets and liabilities, the availability of information for the investor, and so on The obvious difficulty with such controls in a federal system of government is the inequality of control in the various states, coupled with the fact that a corporation may do business in a state other than the one where it has been incorporated. Thus a corporation with almost all its business located in Illinois may, for reasons best known to the original organizers, be chartered under the extremely "moderate" laws of Delaware The registration of securities, licensing of agents and traders, and similar provisions in state laws are equally variable

To offset some of this unevenness of control, as well as to provide some controls possible only as a national basis, the Federal government has since 1933 required the registration of securities with extensive information for the guidance of investors, and since 1934 has supplemented that mode of control by regulation of stock exchanges Both of these controls are administered chiefly by the Securities and Exchange Commission.[9]

Both state and Federal laws attempt some measure of control over erroneous claims by promoters, issuance of stocks valued far in excess of the tangible assets of the company (sometimes called

[9] See Hall, *op cit*, Chap XVIII, "Regulation of Securities"

"watered" stock), and various manipulative and speculative devices used in exchanges to alter the price of securities without regard to their value as long-term investments. However, these restrictions do not in any positive sense give governmental security to investments. They tend to reduce the margin of fraud by those in financial control or by the manipulative practices of traders. They do not guarantee an efficient (or even an honest) management of the affairs of the company, but they do provide information from which much of the company's past activity may be judged They cannot prevent an investor from buying or selling stock because of his opinion of the United States President, the advice of his astrologer, or the state of his liver. They do provide a measure of protection against manufactured rises and declines in market prices through deliberate manipulation. Above all, the law still leaves many doubts concerning how far those in financial control can legally disregard the interests of unrepresented stockholders, although the tendency to increased "trusteeship" is quite apparent.

Protection of the Consumer The equivalent of the older "hands-off" policy with respect to production and trade was the rule that the consumer should look out for his own interests The traditional catchword for this policy was *caveat emptor*, "let the buyer beware." Under the assumptions of extensive knowledge and invariable rationality, such a policy was thought adequate safeguard for all concerned, even against most types of fraud. But the voidance of contracts by reason of fraud is a very old legal principle, and its extension to include the plain and fancy lying of shrewd traders marked the first major inroad into the freedom of the consumer to make his own mistakes.

As the preparation and manufacture of goods has become more complex and further removed from the direct knowledge of the ultimate purchaser, the simple provisions against fraud were widely held to be inadequate protection of the consumer Thus, to take a simple example, the ordinary well-informed layman can scarcely be expected to know the nature and physiological effects of chemical preparations or the relative advantages of different methods of constructing automobile engines, or to detect the presence of char-

coal in pepper, sawdust in whole wheat flour, and similar adulterations. To be perfectly sure of the nature and performance of the goods he buys, the consumer would have to set up an extensive laboratory with a complete research staff Before buying any article he would have to check its weight and size against the public claims, analyze its composition, test its performance, to say nothing of taking all these facts into consideration with respect to comparable articles at the same or different prices. One hears a great deal these days about the "intelligent consumer." But no consumer could be reasonably expected to go to such lengths to protect his own welfare.

Yet the conditions prevailing before the first Federal Pure Food and Drug Act of 1906, and the number of prosecutions under the Act and the more extensive law passed in 1938, indicate that the buyer must "beware" of a great deal of chicanery if he is not to be duped, cheated, and possibly maimed or killed These laws, and other Federal and state laws running along similar lines, operate chiefly to reduce the range of information which the consumer must secure to protect himself, and secondarily to remove some positively harmful products from the range of choice of the most willfully ignorant or "foolish" consumer

The protection of the consumer through governmental control actually extends much further than protection of his health. Licensing, labeling, inspection of weights and measures, various devices for standardizing grades and their names, the reduction of false and misleading advertising, and many other interferences "in the public interest" gradually reduce freedom in manufacturing and marketing goods. Such controls, for example, may prevent or dissuade producers from calling the smallest size of peas "colossal," or the fourth grade of milk "Grade A " Inspectors may lead to the prosecution of butchers who weigh their thumbs, and the Federal Trade Commission may attempt to dissuade manufacturers from making extravagant claims for their products Thus a fountain pen manufacturer was persuaded to cease guaranteeing the product "forever" (which is a long time), and the manufacturer now advertises that the *service* on the pen (at a fixed price) is guaranteed forever.

Federal and state laws do not seek to eliminate choice on the part of the consumer, but rather attempt to narrow the range of choice to those products that are not harmful or offered under false or misleading claims Thus, as long as a moderately "free" market prevails, both price and quality competition may go on, subject only to the limits established by public control In these circumstances, public control cannot guarantee that the choice of alternative but similar goods made by the consumer will be rational—that is, based on some narrowly defined self-interest. Certainly public authority intervenes only in extreme cases (such as charges of nonsupport) to insist that the consumer should buy one class of products and not another At the risk of offense to a sensitive and highly articulate occupational group, it may be pointed out that the bulk of advertising copy appeals to anything else but the narrow calculation of prices and qualities for necessities. Courtship and class competition, appeals to bogus authority, the properly respectable (and costly) sentiments of and about mothers—these are grist for the advertisers' mill And given certain values and symbols of proper conformity to those values, who is to say that the double prices charged for nationally advertised goods or the exclusive label of an eminently proper Fifth Avenue address are too high? Presumably the prices paid yield "satisfactions" of some sort

Protection of Employment Standards An impressive series of governmental controls limits the terms of the labor contract, and to a certain extent the relative powers of employers and employees in fixing upon labor conditions. We have already commented upon the role of government in attempting to equalize the power of employers and employees through collective bargaining (Chapter XIV), as well as the more limited attempts to procure agreements through mediation and arbitration (Chapter XVI) Collective bargaining legislation does not, in itself, directly affect employment standards except in so far as it protects union members from arbitrary dismissal for union activity Its chief effect upon the terms of the labor contract is obviously indirect, although none the less real by removing legal restrictions upon collective bargaining and actively intervening to prevent the employer from denying the right, the

laws clearly add weight to the demands of labor for higher wages, shorter hours, and so on.

Many enthusiastic labor leaders claim that the only governmental control over the labor contract necessary is the assurance of the right of collective bargaining Anything else, it is claimed, may be left to self-help by the unions. Yet for a variety of reasons, the state and Federal governments have gone much further than this in the matter of labor standards Outstanding among the reasons for the more direct intervention of government is that labor standards are of considerably wider interest than simply the protection of organized labor. Add to this the fact that labor organization, and especially collective bargaining, have been looked upon with legal favor only recently, and the intervention of governmental control is readily understandable

The regulation of the labor of women and children—who represented the bulk of early factory employees—got under way rather slowly in the last century, but during the present century has been extended fairly widely Industrialization by no means introduced female and child labor, but rather introduced new circumstances and posed new problems. Even though factory hours might be no longer and the work no more difficult than was customary in rural areas, factory labor took place outside the home, under hours, wages, and working conditions determined by the employer. Under these circumstances, and the further highly important circumstance that ideas and values were also undergoing considerable changes, child labor came to be regarded as contrary to such values as health, the influence of the family, and extensive education Similarly, the labor of women came to be regarded as either contrary to public policy, or at least as calling for special regulation to protect their health It is true, of course, that adult male laborers were concerned over the fact that women and children, together with immigrants and other "substandard" workers, not only forced down wages through the sheer weight of numbers but could be employed for less money at the same type of work as the adult male. However, in view of the fairly weak political position of laboring groups until very recently, there seems to be no reason to lay all the opposition

to child labor and the regulation of female labor to the competitive interests of other workers

The laws regulating the employment of women and minors have not been welcomed by the courts A fairly standard interpretation until recently was that such laws took away freedom of contract "without due process of law" (that is, the courts did not like it). Under the older constitutional interpretations, this was a matter for legislation by the individual states, if at all But state legislation in this matter, as in all other matters having significance beyond state boundaries, was subject to great inequalities Thus states that did not prohibit child labor gave to employers in the state an "unfair" (that is, unequal) competitive advantage over those employers not allowed to use such cheap labor. The Federal child labor law of 1916 was declared unconstitutional, as was the child labor tax law of 1919. Similarly the child labor provisions of the National Industrial Recovery Act of 1933 fell with the rest of the Act before the courts. An attempted amendment to the Constitution, started in 1924, failed of ratification by a sufficient number of states. Only with the Fair Labor Standards Act of 1938, which has been upheld, has the power of the Federal government in this field been allowed to stand. The Federal law applies only to those establishments engaged in interstate commerce by the new and expanded definitions, and so still leaves to state or no regulation a large number of factory and agricultural child laborers. The regulation of employment conditions for women has had an even more difficult history, the Supreme Court for a time having maneuvered itself into the position of denying both to the state and to the Federal government the right of interference Recent decisions have again opened the way for state, but not for national, legislation.[10]

[10] See MacDonald, *op cit*, Chap XXXIV, "Child Labor Legislation", S Howard Patterson, *Social Aspects of Industry*, 3d ed (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1943), Chap X, "Women and Children in Industry Problems of Exploitation", Emanuel Stein, "Government and the Terms of the Labor Contract," in Carl Raushenbush and Emanuel Stein, eds, *Labor Cases and Materials* (New York F S Crofts & Co, 1941), Chap 6, "Regulating the Supply of Labor " See also United States Department of Labor, Bureau of Labor Statistics, "Trend of Child Labor 1927 to 1936," and "Trend of Child Labor 1937 to 1939," Serial No. R. 677 (1938) and Serial No. R 1058 (1940).

As other examples of the gradually extending control over labor conditions, we should note the wages and hours provisions of the Fair Labor Standards Act, which narrows the range of collective bargaining for those workers in "interstate commerce" establishments covered by the Act. In popular speech this law is said to put a floor under wages and a ceiling over hours, thus effectively reducing the bargaining power of the employer on these matters The regulation of what is currently called "industrial homework," which is the contemporary equivalent of the putting-out system, is also attempted by a number of states and by the Fair Labor Standards Act. Although the problems of low wages, long hours, night work, child labor, the transformation of the home into a factory, and so on, are commonly recognized, the substandard working conditions are chief among the reasons for the continuance of this mode of productive organization. Enforcement of special industrial homework laws is in other words difficult precisely for the reason that the evasion of factory standards and factory inspection accounts for much of this activity. Although the normal pattern of change is toward the gradual transfer of homework activities to the factories (especially where mechanization is possible or increased control necessary), the problem of bringing labor conditions in this type of work into line with those prevailing in larger establishments is likely to be present for some time.

In general the governmental controls aiming at the regulation of employment conditions seem to indicate several major tendencies: (1) modifications of freedom of contract and the "right to work" where those ideals markedly conflict with other values, (2) a standardization of employment conditions at equivalent levels in the division of labor, and (3) an attempted general raising of those standards, or at least a raising of the minimum standards

Reduction of Risks. A final group of social controls of industry, both direct and indirect, are also aimed primarily at changing either the direct conditions of employment or the indirect results of a "free labor" system Those controls are the laws designed to reduce the effect of the risks of the industrial employee. The risks of the employee are, of course, many, and our legislation does not provide for

all of them equally. Indeed, compared with most European countries, our development of "social security" or "social insurance" is remarkably meager That is, the slow development is remarkable unless one takes into account the pronounced institutional differences, which in our case have resulted in an emphasis on the self-reliant individual. As already noted, this emphasis made a positive virtue of getting on in the world without outside help, while tending to think that failure to get along (for whatever actual reasons) represented a moral judgment of inadequacy

The risks of the employee revolve chiefly around his job and his capacity to earn. That the employee is frequently unable to underwrite those risks on his own account has been more or less recognized for a long time, although the older pattern of family assistance and neighborly mutual aid tended to cushion part of the changes in fortune. The oldest and most extensive modification of the doctrine of individual self-reliance and accountability is represented by workmen's compensation laws Although the payment of benefits for industrial accidents causing injury and death—without regard to responsibility—is not compulsory in all states, and applies to different classes of workers in different areas, the principle is fairly commonly accepted

Only very recently, chiefly since the passage of the Social Security Act in 1935 and its expanded coverage in 1950, have other industrial risks been considered a proper sphere for governmental intervention With this Act both old age and unemployment insurance is made available to a major portion of industrial employees, the former directly by the Federal government, the latter through Federal-state cooperation. The application of the unemployment benefits is somewhat more limited than that of old-age payments, but the unemployment insurance has been extended in a number of states to cover additional workers.[11] Sickness insurance, apart from purely indus-

[11] See MacDonald, *op cit*, Chap XXXVII, "Social Insurance Legislation," Chap XXXVIII, "Federal Social Security Legislation," and Chap XXXIX, "Unemployment Insurance", Patterson, *op cit*, Chap XI, "Industrial Hazards and Social Insurance Promotion of Safety", Carl Raushenbush, "The State's Relation to Labor," in Emanuel Stein and Jerome Davis, eds, *Labor Problems in America* (New York Farrar & Rinehart, Inc, 1940), Book V, especially Chap

trial diseases, has made little headway in the United States. Some companies provide medical care for their employees, others for employees and their families. "Sick leaves" with pay and sometimes jointly sponsored insurance programs are occasionally written into collective labor agreements. For the most part, however, health and sickness—including maternity risks for employed women—remain highly individual matters in our society There is no doubt that part of this is due to long-standing individualism, part to the definite and concerted opposition to anything remotely approximating "socialized medicine" by the medical profession.

Our major concern so far in this chapter has been with the principles and problems behind the exertion of public authority over the life and welfare of the individual citizen. Any specific measure, once adopted, raises a whole additional series of problems, partly administrative and technical in character, partly of a political character (that is, having to do with policy) The questions of policy seem bound to arise in some degree because of the difficulty of predicting all of the consequences of any given line of action But they also arise because of the characteristically irregular and piecemeal manner with which "reforms" are introduced. So pronounced is the uneven and even inconsistent character of the controls that some critics have been led to advocate some form of "planned" economy. Just what such a social order might mean, and the relevant scientific considerations for either policy-forming or prediction, will constitute the major points of concern in the following section

SOCIAL INTEGRATION AND PLANNING

A widely recognized characteristic of our economic organization is the fact of economic interdependence But if the fact of economic interdependence is widely recognized, its significance is not. The classical theory of a nation of small producers did not deny interdependence, but rather placed reliance on "automatic" market adjust-

---

33, "Work-Injury Laws," Chap 34, "Old-Age Legislation," Chap 35, "Unemployment Insurance," and Chap 36, "Health Insurance"; Stein, *loc cit*, Chap. 10, "Workmen's Compensation," Chap 11, "Unemployment Compensation," and Chap. 12, "Old Age Assistance and Benefits."

ments and contractual agreements motivated by private gain to keep the productive and distributive systems in operation The present organization of industry and trade has not only increased specialization (which inevitably spells dependence on others), but through concentration of economic power has placed a small number of individuals in such strategic positions that their decisions affect millions. If the president of the United States Steel Corporation were to order a shut-down of all of the company's plants, the entire metropolitan area of Pittsburgh would be faced with economic disaster If the president of the United Mine Workers orders a strike in the coal fields, industrial power plants close down and householders shiver. And both of these actions may be dictated by the "state of the market," and in terms of traditional theory be perfectly sound.

Whether in wartime or in peacetime, these decisions would not be allowed to stand for an extended period of time. *The fact of interdependence produces the necessity of intervention in the public interest.*

Social Control and Economic Planning Intervention in the public interest does not, however, constitute economic planning, strictly defined It may be well to consider briefly the distinctions between the detailed social controls summarized in the preceding chapter and the characteristics of a planned economy

In its broadest sense, social planning is simply organized and deliberate social control for the achievement of certain objectives Whenever a pressure group secures the passages of legislation favorable to its interests, that group is sponsoring some measure of social planning. Indeed, in the same broad sense social planning is an integral part of any formal legal or political order. The law and the agencies of government constitute the structure responsible for the achievement of social objectives

Economic planning differs from the more general social controls by a greater concentration on the control of the production and distribution of economic goods, and by a greater degree of integration Our present concern, then, is with the deliberate and integrated control of the economic order for the achievement of certain objectives It is perhaps unnecessary to add that we are primarily con-

cerned here with the prospects and problems of a planned economy as a whole, and not with the otherwise important planning by industrial concerns, or even groups of industrial concerns The controls characterizing a planned economy are exercised in behalf of, or at least in the name of, the entire society.

The integration of controls in a planned economy calls for a few words of comment It is this feature which most disturbs those who see in planning a threat to traditional liberties. Most Americans are brought up in a tradition of distrust of politics and politicians in general, and in the political tradition of separation of powers, checks and balances, and the rest of the features of a federal system The eternal vigilance that is supposed to be the price of liberty is thus directed toward spreading the evil of political authority as widely as possible, rather than concentrating power and responsibility in the hands of a few key officials Thus a multitude of administrative agencies with conflicting jurisdictions have grown up in response to the pressure for increased control, the "planning" undertaken in these circumstances is haphazard and frequently self-defeating.

As critics of economic planning point out, there is scarcely any detail of our economic life that is not covered by some form of administrative supervision The critics can also assert with some reason that this administrative supervision has neither resolved the issues in our economic order, nor uniformly attained even the limited objectives sought But here our agreement with the critics must stop, since the latter customarily go on to the conclusion that the present difficulties in social control demonstrate the evils of "governmental interference."

Our previous discussion of the social controls of industry indicated the necessity of governmental intervention if anything like a stable economic order is to be maintained under present conditions of technology and economic organization But our previous analysis also revealed something of the source and mechanisms of these controls in our political system as presently constituted Some of them undoubtedly reflect very nearly a consensus, since they directly relate to the security of the society as a whole For obvious reasons, these controls are most numerous and most apparent in wartime and

in periods of marked international tension. Others, and these represent the majority at any time, reflect the opinions of particular segments of the population, whether or not those segments are organized as definite political pressure groups. This circumstance, coupled with the ideology that views *any* intervention as exceptional, has produced an immense number of controls, but it has produced practically no planning in the narrower sense of taking account of the facts of interdependence and functional relationships, and acting accordingly

The difficulties of social controls that are haphazard and piecemeal thus partly derive from the neglect of economic interdependence. Any regulation or control of one phase of economic activity has repercussions not only in the whole structure of the national economy, but in general social organization If the controls are minor or the activity unimportant, the repercussions may be of only academic interest (except, of course, to those most directly affected) But if, for example, wholesalers and retailers are obliged to observe wartime ceiling prices while producers are allowed to charge what they can get, a "black market" results Moreover, the buying and law-abiding habits of numerous citizens are affected. If strikes are prohibited without provision of alternative methods for settling disputes, violence or political changes may ensue, and certainly the outlook and social status of workmen will be changed If "industrial leaders" agree upon measures for price maintenance, production quotas, etc , as under the National Recovery Administration, the small producer may find himself "squeezed out" by lack of political power rather than lack of competitive ability in a free market If collective bargaining is upheld by law, the authority of the industrial manager is reduced, and the property institutions of the society are modified If minimum wage standards are enforced in plants employing pieceworkers, those workers who cannot meet the minimum earnings at the current rate may lose their employment rather than gain security

The examples of the secondary consequences of social controls, many of them unforeseen and unfavorably regarded, could of course be extended almost indefinitely. They illustrate the absence of in-

tegrated economic planning rather than the inherent weakness of governmental control.

Enthusiasts for and opponents of a planned economy share in general at least one characteristic their easy-going neglect of some of the more practical considerations involved in integrated social control And although some of these practical considerations are "mere details," some of them are of such fundamental importance with respect to public policy that any discussion of planning without attention to them becomes meaningless A review of some of the more fundamental problems posed by a planned economy may serve to throw more light on the possible future place of industry in society.

The Problem of Ends It seems evident that any planning must be directed toward the achievement of certain objectives Thus one of the very first questions which must be asked with respect to proposals for a planned society is, Planning for what and for whom? Were there perfect agreement in a society upon the objectives of social life, and a perfect community of interests, it would only be necessary to find the appropriate means for the universal ends Such a state of affairs is approximated when the question at issue is the security of the society as a whole. Even traditional doctrine allowed to governments a wide scope of integrated control in obviously crucial cases, and in any event confined debate to the means rather than the objective But when the problem concerns the internal distribution of rights and duties, no such uniformity of judgment prevails. The values prevailing in our society are highly diversified, and it becomes necessary to find some system for weighing their importance

Given the requisite political power, it is of course possible to adopt almost any standard of judgment concerning relative worth. Thus, the objectives sought might be those of the farmers who do not have an "adequate" amount of land—the commonest aim of planning in prewar eastern Europe, or the objective may be to establish a society of workingmen—the professed goal of the Soviet Union, or the goal may be a society dominated by combinations of large industrial concerns—an early stage of the German and Italian

fascist systems. Under the same assumption it would be equally possible to aim at the prosperity of all left-handed persons, or an assured social and economic position for all individuals whose family name begins with "R"

As we have seen, it is possible to develop a series of social controls which aim at all manner of objectives, and which conform to the wishes of various interest groups. But if integrated control toward definite and interrelated objectives be attempted, it is of primary importance to determine those objectives and their relative importance. Suppose, for example, that the principal aim of a planned economy were a higher minimum standard of living. Quite aside from questions about appropriate means, there remain some ticklish problems to be settled. Is the objective to be considered more important than existing property rights? What weight will be attached to effort, achievement, and need? Should relative as well as absolute levels be considered, that is, is any attention to be paid to great disparities in income?

Not all of the interests of individuals and groups within a society are concerned with material prosperity. This means that a planned economy would need to be concerned with matters such as health, education, recreation, and perhaps the preservation of various traditional rights and liberties. Even if planning were formally confined to the production and distribution of goods and services, the relative importance of those goods and services must be determined. As in an industrial organization, effective administration entails the prediction of sacrifices as well as incidental benefits deriving from a program of action

The selection of goals for planning is facilitated by several characteristics of societal organization. Chief among these is the fact that any society already has a fairly clear hierarchy of values, so that in cases of conflict of objectives priorities can be determined At the same time, although it is not the same thing, there exist within any society fairly common standards of relative worth of individuals, that is, bases for determining whose interests should be served On the other hand, it would be a mistake to minimize the difficulties of choice of objectives in view of the tremendous weight of all man-

ner of vested interests incorporated within existing ideals and controls. Thus the goal of equality of opportunity is widely approved, but usually not at the expense of inheritance of wealth, and certainly not at the expense of differential advantages provided by families of different social positions. Questions of this sort are not peculiar to social planning since they simply reflect the functional and interdependent character of social values and social controls, but they are likely to appear in more acute form in the event of formal planning and formal organization for the achievement of objectives.

Within the predictable future, the most likely over-all goals of economic planning in democratically disposed societies are those of economic security internally and military security externally Security is of course an essentially negative goal, more positively, an assured minimum level of living and reasonably full employment (partly for external security) are likely to be emphasized

The Problem of Responsibility Even if the ends of social planning are readily agreed upon (for example, winning a war), there is an entire range of touchy questions concerning the agencies and techniques for achieving those objectives

This problem frequently raises the horrible picture of a welter of agencies, bureaus, offices, and departments, issuing separate and contradictory statements of objectives and "directives" for their accomplishment Such a state of affairs can happen, it has happened in various national political administrations, including that of the supposedly efficient Nazis It is a product of (a) too little centralized control (not, as many "localists" seem to believe, of too much), which in turn arises from (b) uncertainty concerning immediate or ultimate objectives, and (c) the necessity of rapid expansion in time of crisis.

There is no question that a planned economy spells bureaucracy. But we earlier observed that bureaucracy is a general type of formal social organization, not limited to the agencies of government, and not necessarily "inefficient" Above all, it must be noted that a sprawling and disjointed administrative organization is not due to specialization, to detailed administration, or even to expansion *per se* It is rather due to the absence of the necessary counterpart of

specialization: coordination. It is true that expansion and adjustment to change (even if planning and control of change is the main business of the organization) places strains on a bureaucracy which can only be met by administrative attention to the main goals and the responsibility for achieving them. The administrative difficulties imposed by rapid change are not a special burden borne by political officials If they are more noticeable in governmental circles, it is because industrial bureaucracies adhere to as rigid privacy as possible (so that even their own "public," the stockholders, are carefully shielded from any disturbing information) For this reason also, incompetence can be discovered and rectified at least as quickly in a public agency

If the problem of objectives can be phrased with at least partial accuracy as the question, Planning for whom? the problem of responsibility may be expressed as, Planning *by* whom? This is partly, and secondarily, a question of the technical competence of administrators It is more importantly a question of the *accountability* of administrators

At first glance the essential question of responsibility for planning might seem to be whether the direction of social and economic activities will rest with the state or with "private" organizations This question is not unimportant in so far as it relates to questions of administrative organization, but is meaningless with respect to final authority By definition, the latter rests with the state That is, the organization that effectively exercises the final authority *is* the state, whatever may be its particular name. Both on grounds of special interests and of special competence, it is reasonable to expect considerable decentralization and even latitude of judgment But the decentralization is likely to be functional in character, with questions of more general policy necessarily decided by political organs

The more significant question of responsibility for social planning is that of the responsibility of the officials of governmental planning agencies. That is, given certain objectives, how is the assurance maintained that those interests are being served? It is at precisely this point that various European experiments with planned economies diverge most radically from democratic doctrine *The im-*

portant point is not that the ultimate control is exercised by the state, but that those who exercise the power are with respect to the bulk of the population not responsible for their actions. The experiences of the Italian "corporate state," of German "national socialism," and of the Russian "dictatorship of the proletariat" indicate a common pattern in at least one respect. however broad the claims to allegiance, and however great the opportunistic support of special-interest groups, the officials are ultimately responsible only to a very small power group—the inner circle of the "party" Other interests are served, at least to the extent necessary to avoid revolution and secure minimum allegiance to the program of the party But through a virtual monopoly of armed power, authority remains with a relatively small group.

If the democratic way be followed, how are various interests to be represented? It is sometimes said that the role of government, whether the control be minimal or maximal, should at least be impartial But impartiality in this sense cannot mean scientific objectivity, for the role of government is inevitably concerned with policy. The most that official impartiality can mean is a freedom from a highly specialized bias in view of other recognized interests and values—for example, a recognition and protection of interests beyond those of capital, or of labor, or even of capital *and* labor. This means, in terms of responsibility, that a planned economy that adhered to democratic doctrine would require a government that was representative (in the strict political sense of the term) of all interests consistent with the fundamental value system, and in approximate weight of their numerical or other importance.

Political representation in the United States is nominally on a territorial basis However, it is increasingly evident that voting tends to follow economic interests, with the supplemental fostering of those interests by unofficial and extralegal pressure groups As the direct participation of government in economic affairs increases, there is likely to be an increasing development of "guild" or "syndical" organizations representing common economic interests (including occupational interests) Short of a major political upheaval, it is, however, likely that such organizations will grow up gradually

alongside more traditional forms of political representation The wartime increases of such agencies of control as the War Labor Board—some of them with the familiar tripartite representation of management, labor, and the "public"—indicates one possible line of development In testing the consistency of such organizations with democratic principle it is essential to inquire, not about their particular form, but especially about how the group holding the balance of power is chosen, and to whom it is responsible It is frequently argued, with some merit, that representation and responsibility are more adequately secured through such means than through traditional political parties supplemented by more or less irresponsible "pressure" organizations and lobbies.[12]

The Problem of How Much Control The problems of the objectives of social planning and the responsibility for accomplishing those objectives may be regarded as the most fundamental in future policy. The solutions to these problems do not, however, answer all the pertinent questions that may be asked Notably, they only partially answer the question of how extensive and detailed the control is to be. This question is especially significant in a society with traditions of "freedom" and resistance to "regimentation"

A free economy, it has been noted, is not an uncontrolled one. We may go even further, since a "free" economy as commonly discussed meant simply freedom from market controls and from public interference with the use made of "private property" For large sections of the population, including both laborers and small investors, that kind of freedom has been illusory or nonexistent. Thus when the objection is raised that a planned economy takes away liberties, a legitimate question is always: Whose liberties? The control of a few for the benefit of many may or may not be sound policy, it is certainly a possible one.

It is possible to plan for and control an economic system in great

[12] See, for example, Georges Gurvitch, "Democracy as a Sociological Problem," *Journal of Legal and Political Sociology*, 1 (1–2) 46–71, October 1942, Lewis L Lorwin, "Planning in a Democracy," *Publications of the American Sociological Society*, 29 41–48, August 1935 The idea of occupational or similar representation is, of course, shared by the "Guild Socialists," the "pluralists" in political philosophy, and many other groups

detail, with, however, a considerable margin of unpredictability and error.[18] On the other hand, it is possible to restrict the centralized controls to problems of general direction and policy and the setting of limits to variation and the results of activities not controlled in detail In other words, planning may take such a form that fairly extensive competition (including occupational competition), relatively free choice of consumers' goods, relative freedom of association, and a variety of other customary "rights" and liberties are preserved. Planned economy of the latter type would seem to have more chance of success in the predictable future, not only because of the greater degree of support to be expected, but because a complex and heterogeneous economic order virtually requires considerable elasticity. Thus, to take but a single example, it would appear to be foolhardy to attempt such complete planning that the occupational structure, down to the last minute specialty, should be determined ten or twenty years in advance, and the prospective occupants of each little niche "earmarked" through some system of inheritance of occupation. Even the most enthusiastic supporters for planning must leave some things to competition and chance.

The preservation of liberties within a controlled economy is partly an administrative question. The opponents of detailed planning by centralized commissions are certainly correct in doubting both the ability and the interest of over-all policy makers in carrying out detailed programs in various fields. Thus, one of the most consistent objections by medical practitioners to "socialized medicine" is the presumed horrors of control by laymen. Similarly, businessmen look with no favor upon being told how to manage their concerns "by some Washington bureaucrat"

To the extent that the expressed fears are founded on fact, the opposition would appear to be justified in terms of expediency, with-

[18] The sources of unpredictability are of the same order as those previously discussed (in Chap VIII) as applying to planning *within* an industrial organization It is certain, however, that the margin of uncertainty is greater in planning an entire economy, simply because of greater size and complexity On the other hand, this may be partially offset by the fact that a planned economy may rest upon a broader control of significant factors See Robert K Merton, "The Unanticipated Consequences of Purposive Social Action," *American Sociological Review*, 1. 894–904, December 1936.

out regard to questions of abstract rights That is, a detailed directive by a layman on how to prescribe for a physiological complaint or perform an operation would scarcely aid the practice of medicine, either for the physician or for the patient Similarly, the attempt of a governmental executive to oversee detailed manufacturing methods or the stocking of retail inventories would certainly result in disorganization rather than effective control But the presumed disadvantages of centralized control are not inherent in that control They simply indicate the necessity of functional specialization and decentralization

Any large and specialized organization is faced with these same problems, and we have commented upon them in detail with reference to the managerial organization of industry At that point we also noted, however, that *the development of "functional authority" with special spheres of competence, as well as decentralization with respect to administrative detail, are possible only within the framework of centralized responsibility for general policy* Enthusiasts for a *complete* functional division of authority within industrial management are as mistaken as the pluralists in political theory who see no reason for political authority taking final precedence over other interests Just as it is the specialized function of the industrial executive to be the final authority (at least within the organization) on questions of general policy and the adjudication of conflicts among special interests, so it is the function of political organization to be concerned with the achievement of ultimate societal objectives and the compatability of organizational interests. Just as it is unreasonable to assume that laymen should set rules for the diagnosis of disease, it is unreasonable to assume that a physician—as a physician—should determine the public policy with respect to the distribution of medical benefits Just as it is unreasonable to expect an executive of a central planning board to be able competently to direct the manufacture of products from crude oil, it is unreasonable to assume that a manufacturer—as a manufacturer—has any special competence in determining policy with respect to the rate of efficiency of use of natural resources

It is an old saw, but a true one, that freedom within a stable so-

ciety implies and requires responsibility. To be truly effective, responsibility in turn always requires sanctions How intimately the problems of a planned economy are interwoven can be seen from the simple fact that the question of how much control should be exercised is also partly a question of how to enforce responsibility for actions that affect the public interest Traditional theory held stoutly that each individual was the best judge of his own interests. Even were this true—and it is patently not true with respect to matters of fact and policy beyond the individual's range of competence—this still leaves the question of the ability of the individual to *protect* as well as judge his interests Certainly this calls for considerable decentralization to take account of detailed knowledge of local and special conditions But it also requires the possibility of an appeal to sanctions of a more persuasive character when the stakes are high and the resources uneven

The sanctions of the market (profit and loss, and even success or failure) are real, and their morality has been based upon the responsibility of the individual for his actions and his willingness to accept the consequences According to this view, if an enterpriser failed, it served him right. The problem of policy that is posed for any program of economic control is whether the sanctions of competitive failure place the burden where it belongs For example, the failure of a large corporation may "serve its president right," but does it also serve its investors, employees, and consuming public right?

The social controls of economic activity in the future may be expected to be as detailed as necessary to ensure the public interest, according to the definition of those interests that is then current. But if a planned economy is fitted to a democratic social order, the controls may also be *limited* in the public interest, since a fairly wide range of individual freedom and initiative (in the broadest sense) is certain to be regarded as one of the fundamental public interests

Dichotomies and dilemmas in social affairs are likely to be false, since alternative courses of action are usually more numerous than the two extremes It is noteworthy that almost every poser of dilemmas manages to find some "middle ground." The probable future

course of economic planning is no exception to these rules There seems to be no reason for maintaining that the choice lies between Fascism and Communism, or between a completely free economy and a completely controlled one In the latter case at least, the extreme positions are considerably less likely than some middle ground, since both of the extremes are virtually impossible in modern society. The foregoing analysis seems to indicate that the future course of the social order presents many alternatives, in various possible combinations, and that any sound appraisal of the future must deal at least with the objectives of, the responsibility for, and the extent of social controls. These are matters of real concern to the ordinary citizen, who may not choose "wisely," and need not choose at all But some choosing will be done by "ordinary citizens" within the framework of democracy, or by groups of "extraordinary citizens" within the framework of some narrower power structure.

REFERENCES

ANDREWS, JOHN B , *Labor Laws in Action* (New York Harper & Brothers, 1938)

ANTHONY, ARTHUR BRUCE, *Economic and Social Problems of the Machine Age*, University of Southern California Social Science Series, No. 3 (Los Angeles University of Southern California Press, 1930)

ARNOLD, THURMAN W , *Democracy and Free Enterprise* (Norman. University of Oklahoma Press, 1942)

——, *The Folklore of Capitalism* (New Haven. Yale University Press, 1937), Chap II, "The Psychology of Social Institutions", Chap III, "The Folklore of 1937", Chap IX, "The Effect of the Antitrust Laws in Encouraging Large Combinations", Chap XI, "The Benevolence of Taxation by Private Organization", Chap XII, "The Malevolence of Taxation by the Government"

BERLE, ADOLF A , JR , and GARDINER C MEANS, *The Modern Corporation and Private Property* (New York The Macmillan Company, 1933), Book IV, Chap I, "The Traditional Logic of Property", Chap II, "The Traditional Logic of Profits", Chap III, "The Inadequacy of Traditional Theory", Chap IV, "The New Concept of the Corporation"

BLAISDELL, DONALD C., "Economic Power and Political Pressures," United States Congress, Temporary National Economic Committee, *In-*

vestigation of Concentration of Economic Power, Monograph No. 26 (Washington, U S Government Printing Office, 1940).

BLUMER, HERBERT, "Group Tension and Interest Organization," in Milton Derber, ed , *Proceedings of the Second Annual Meeting, Industrial Relations Research Association,* New York City, December 29–30, 1949 (Champaign, Ill 1950), pp. 150–164

BRADY, ROBERT A , *Business as a System of Power* (New York Columbia University Press, 1934)

CLARK, JOHN M , *Social Control of Business,* 2d ed (New York McGraw-Hill Book Company, Inc , 1939), especially Chap IV, "Purposes of Social Control," and Chap XXVIII, "Economic Planning"

FISHER, THOMAS RUSSELL, *Industrial Disputes and Federal Legislation,* Studies in History, Economics and Public Law, No 467 (New York Columbia University Press, 1940), Chap XI, "Contemporary and Future Need for Social Legislation"

GRAHAM, FRANK D , *Social Goals and Economic Institutions* (Princeton. Princeton University Press, 1942), Chap III, "The Setting for Social Goals," and Chap XII, "Implementation of the Program of Power-cum-Freedom"

GRAHAM, GEORGE A , and HENRY REINING, JR , *Regulatory Administration* (New York John Wiley & Sons, Inc , 1943)

HALL, FORD P , *Government and Business,* 2d ed. (New York McGraw-Hill Book Company, Inc., 1939)

HAMILTON, WALTON H , "Organization, Economic," in *Encyclopaedia of the Social Sciences* 11 484–490

LASKI, HAROLD J., *Trade Unions in the New Society* (New York Viking Press, 1949)

LAUTERBACH, ALBERT, *Economic Security and Individual Freedom. Can We Have Both?* (Ithaca Cornell University Press, 1949)

LYON, LEVERETT S , MYRON W. WATKINS, and VICTOR ABRAMSON, *Government and Economic Life* (Washington. The Brookings Institution, 1939), Vol I.

MACDONALD, LOIS, *Labor Problems and the American Scene* (New York. Harper & Brothers, 1938), Part Eight (Chaps XXXII–XL), "Labor and the State Protective Legislation."

MANNHEIM, KARL, *Man and Society in an Age of Reconstruction* (New York Harcourt, Brace and Company, 1940), Part V, "Planning for Freedom," and Part IV, "Freedom at the Level of Planning."

MARSHALL, LEON CARROLL, ed , *Readings in Industrial Society* (Chicago. University of Chicago Press, 1918), Chap XV, "Social Control"

MEANS, GARDINER C., "The Distribution of Control and Responsibility in a Modern Economy," in Benjamin E. Lippincott, ed , *Government*

Control of the Economic Order (Minneapolis University of Minnesota Press, 1935), pp 1–17

MILLER, GLENN W, *American Labor and the Government* (New York. Prentice-Hall, 1948)

MOSSE, ROBERT, "Economic Planning and Freedom," *Journal of Legal and Political Sociology,* 3 (1–2) 122–133, Fall 1944

NATIONAL ASSOCIATION OF MANUFACTURERS, Economic Principles Commission, *The American Individual Enterprise System Its Nature, Evolution, and Future* (New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1946, 2 vols.), Vol II, Chap XIV, "Government Regulation"

RAUSHENBUSH, CARL, "The State's Relation to Labor," in Emanuel Stein and Jerome Davis, eds, *Labor Problems in America* (New York Farrar & Rinehart, Inc, 1940), Book V (Chaps 27–36)

SCHUMPETER, JOSEPH A., *Capitalism, Socialism, and Democracy,* rev. ed. (New York Harper & Brothers, 1947)

SHARP, MALCOM, and CHARLES O. GREGORY, *Social Change and Labor Law* (Chicago University of Chicago Press, 1939), Part I, Chap I, "Responsibility, Damages, and the Protection of Property", Chap II, "Contract and Constitution"

SPENGLER, JOSEPH J, "Power Blocs and the Formation and Content of Economic Decision," in Milton Derber, ed, *Proceedings of the Second Annual Meeting, Industrial Relations Research Association,* New York City, December 29–30, 1949 (Champaign, Ill 1950), pp 174–191

STEIN, EMANUEL, "Government and the Terms of the Labor Contract," in Carl Raushenbush and Emanuel Stein, eds *Labor Cases and Materials* (New York F S Crofts & Co, 1941), Part Two, including Chap 6, "Regulating the Supply of Labor", Chap 7, "Wage Laws", Chap 8, "Hours of Work Laws", Chap 9, "The Regulation of Working Conditions", Chap. 10, "Workmen's Compensation", Chap 11, "Unemployment Compensation", Chap 12, "Old-Age Assistance and Benefits"

TELLER, LUDWIG, *A Labor Policy for America A National Labor Code* (New York Baker, Voorhis & Co, Inc, 1945)

WOLLETT, DONALD H, *Labor Relations and the Federal Law An Analysis and Evaluation of Federal Labor Policy since 1947* (Seattle University of Washington Press, 1949)

WOOTON, BARBARA, *Freedom under Planning* (Chapel Hill University of North Carolina Press, 1945)

ZWEIG, FERDYNAND, *The Planning of Free Societies* (London Secker and Warburg, 1942)

CHAPTER XXV

ON THE STABILITY OF THE INDUSTRIAL SYSTEM

PROPHECY is a hazardous trade, as legend and recorded history amply testify. The attempt to predict the probable future of a world increasingly subject to industrial modes of productive organization is not a task to be undertaken lightly, or with supreme confidence in foresight. In view of the large range of ignorance about social processes on the grand scale, which is mainly ignorance of how a system of complex variables behaves through time, the soundest procedure for knowing the future state of the world is to stay alive and see. As this may be regarded as a counsel of perfection or despair, some attempt at foretelling the future may be thought to be as important as it is difficult.

This final chapter is not an essay in precise prediction, but rather represents an attempt to summarize some of the dynamic features implicit in the industrial system and to indicate some possible consequences for the future. After a brief review of the "success" of industrialism, attention is turned to some problems of internal stability in industrial societies and then to the relations between industrialism and the disorderly world.

THE SUCCESS OF INDUSTRIALISM[1]

Industrialization may be viewed with partial accuracy as a process involving an increasing range of resources exploited, an increasing amount and type of goods produced, and an increasing efficiency

[1] Several paragraphs in this section are quoted from the author's paper, "Utilization of Human Resources through Industrialization," *Milbank Memorial Fund Quarterly*, 28:52–67, January 1950.

of capital and technique employed From this point of view the process may be studied as a dynamic relationship among certain elements or "factors," which in their combination presumably determine both the pattern and rate of economic development

The most general case for industrialization rests upon the range of goods and services made available for human consumption. As a productive system, it tends to free both supply and demand from traditional restraint, and to entail a dynamic rather than a static relation between man and nature[2]

The particular case for industrialization as a mode of productive organization rests upon enhanced opportunities, through specialization, for utilizing special qualities and aptitudes of producers Human beings both constitute necessary means and determine the ends of productive efforts. As means or as resources, human beings may be considered as coming within the general case for optimum utilization The duality of the human role in this scheme complicates the issue, however Inherent in the nature of human society are limitations to efficiency in the utilization of human resources for production, for in no society can production be the sole social function and in no human being can it be the sole motive Within those limits, industrialism is that system of production which most effectively uses differences in aptitude and interest[3]

[2] This abbreviated and therefore dogmatic formulation rests upon the abstract characteristics of the industrial mode of production and neglects many concrete problems and variations in experience For example, differences in systems of control of production and allocation of products, and the problems of "balanced economies" as opposed to regional specialization are not irrelevant in the concrete instance but cannot be explored here It may be maintained, however, that given certain characteristics of the industrial system—for example, utilization of advanced technology and of specialization of labor—other characteristics are inherent and in considerable measure independent of particular goals and procedures—for example, a reasonably elaborate system of exchange and of effective incentives to insure labor mobility and the development of skills It follows that the case here does not assume or depend upon the institutional structure of liberal capitalism

[3] Again, this formulation is abstracted from a host of concrete issues and problems for example, the extent to which various categories of human laborers as means (or, in some economic formulations as "costs") of production share in determining the ends of production, the "dilution" of skill that accompanies some forms of specialization and the attendant problems of motivation, the multitudinous human problems of mobility and its accompanying uncertainty

In terms of output, the industrial system has made possible tremendously increased levels of material production and the wide distribution of that production both at home and abroad Even where production has been geared primarily to capital formation rather than immediate consumption, or has been diverted in considerable measure to armaments and the support of "nonproductive" armed forces, it is probable that the average level of consumption has increased if the minimum has not This consequence is due to the importance of material rewards in incentive systems of industrial societies, with their great dependence on adequate numbers and performance of skilled workers, technicians, and administrators.

It is not just in production of material goods that the industrial system shows its superiority, however By the tremendously greater efficiency of material production relative to workers directly involved, industrialism makes possible a wider diversion of time and talents to the production of services. Some of these services are indeed directly necessary to the industrial mode of production itself—for example, many administrative and professional activities, and the facilities for communication, transportation, and distribution essential to specialization of productive activities Other services are also functionally related to the industrial system, although somewhat less directly—for example, medical care and public health in their connection with productive efficiency and the hazards of congestion fostered by the scale of industrial operations. Still other services or types of "material" production allow widespread participation at some level in recreational and aesthetic activities, although opinions differ as to the quality of these services and activities as compared with the spontaneous "folk" participation or the activities of a small élite in nonindustrial societies. In short, the industrial system lends itself to *mass* production and distribution of goods and services, including some not otherwise available at all In the process, goods and services are torn from their traditional social context and subject to impersonal market transactions, and some items of "culture" are literally cheapened in the process

The industrial system is rampant in the modern world. Its effects spread to the most isolated regions in some form or degree Its

system of communications and organization of world markets, and the political power that its productive system makes possible, have produced an interdependence of all peoples everywhere The process is by no means complete, nor is its final fruition in any particular form determinate and inevitable Even the results so far effected are not entirely clear or their implications commonly understood Yet one elementary fact stands out the isolated primitive or peasant community has everywhere lost part of its insularity The true primitive represents a small and diminishing species The self-sufficient peasant is shaken by forces beyond his control and perhaps even further beyond his understanding.

The impact of the industrial system on primitive and archaic cultures is a crude empirical phenomenon It makes irrelevant or academic much of the well-meaning debate about interfering in other cultures The question in most areas of the world is not whether change under external influence ought to be allowed, but rather the form and degree of chance, the interests taken into account, and the human as well as material costs of transition

Ironically, the arguments in behalf of sealing off the effects of new productive organizations and processes, in order to preserve as much as possible of traditional values in the far places of the world, arrive approximately at the same policy as that of the most cynical "exploiter," who seeks to use native labor but to keep native societies otherwise outside the industrial system If the effective utilization of human resources for the achievement of health, longevity, and heightened levels of material well-being be the goal, then education strictly "adapted" to *native* needs, wage labor as purely supplementary to primitive modes of production, and public health measures that do not change fertility patterns represent serious compromises in the short run and mixtures of doubtful stability in the long run

The spread of the industrial system to primitive and archaic societies constantly poses anew problems not completely solved in the oldest industrial areas. Those problems differ widely in their details and specific incidence, but may be subsumed under the general category of maintenance of the integrative structures of society—

particularly those involving emotional and affective orientations and informal controls—in the face of the rationalized organization inherent in modern productive forms.

INTERNAL STABILITY OF INDUSTRIAL SOCIETIES

Viewed by the participant in a relatively stable nonindustrial social order, or, more accurately, one in which the impact of the industrial system is sufficiently small and recent that it may be regarded as a novelty, industrialism may not be regarded as an unmixed blessing The industrialization process sets in motion transformations throughout a social system, many of which must be regarded as undesirable from the standpoint of any traditional set of norms and expectations Were all of the costs of economic transformation to be viewed as purely transitional phenomena, viewers with alarm might be reassured The continuance of tension and instability where the process of industrialization is far advanced removes any such comfortable rationalization

Prophets of doom are never popular and, in company with all members of their trade, are not uncommonly wrong Yet the tensions of the present and uncertainty of the future lend support to those who cry havoc There are sources of tension and instability in industrial societies and between them It is appropriate to examine those tensions, without, however, assuming that their existence makes disaster inevitable. The perfectly integrated society is a fiction, although for certain analytical purposes a useful one. The significance of existing sources of instability for prognosis of the future is an allowable scientific inquiry, although it may be difficult or impossible with available knowledge and technique The appraisal of those tensions in terms of social values violated will sooner or later surpass the realm of objective inquiry and properly not be a part of discovery and generalization but rather of choice and policy

The "Durkheim Dilemma" Before the end of the nineteenth century, Émile Durkheim, a French sociologist of lasting importance, arrived at a fundamental formulation concerning a major functional

difficulty in industrial societies.[4] This formulation, which was quite at odds with the easy evolutionary optimism concerning atomistic self-regulation in social affairs characteristic of the period, may be summarized in the proposition that *interdependence is no guarantee of integration*. Durkheim distinguished two forms of social "solidarity" or integration, that based on likeness and common values and that based on specialization and interdependence. But the latter he observed very easily became a state of no solidarity at all, of *anomie*—rulelessness. He concluded that the division of labor characteristic of industrial societies was a viable basis of social stability only if "beliefs and sentiments held in common" remained of superordinate importance in the system. The "Durkheim dilemma" therefore is the fact that industrial societies depend upon a minute differentiation of social position and behavior, and therefore upon interdependence of specialized functions, but run the constant risk of collapsing into all sorts of specialized segments. Loyalties tend to follow narrow interests but therefore to shift with the context of social relations. "Interests," narrowly considered, will not keep a society operating, beliefs and sentiments are also necessary, and these must be in some measure unifying and not divisive.

Changed Significance of Membership Units. The dilemma discussed in the preceding paragraphs is made more acute by another feature of the "progress" of industrialization. That feature is the attrition of the scope of activities that come within the purview of concrete membership groups. This is a technical and somewhat more accurate way of summarizing the phenomena commonly called the "declining functions" of the family and neighborhood. The industrial system actually depends upon the small family, with its radical separation of generations and adult siblings. It also depends upon a considerable measure of residential mobility and formal group membership as opposed to informal neighborhood or community patterns and sanctions. But it is precisely these membership

[4] See Emile Durkheim, *On the Division of Labor in Society*, tr. by George Simpson (New York: The Macmillan Company, 1933). The first edition of this work was published in France in 1893, and the second edition, in which the diagnosis of relevance here was greatly sharpened, in 1902.

units, with their characteristic functional diffuseness, that form the "building blocks" of most societies.

The family in industrial societies is by no means without functions. Indeed, not only is the particular small-family structure functionally related to the industrial mode of productive organization, but the heightened specificity and formality of most social relations places a peculiar weight on the family as a group marked by legitimate affectional ties and broad obligations. The family, however, is subject to severe pressures because it is small and relatively isolated from broader kinship and community supports, and because it too is not immune from occupational competition and the emphasis on egoistic satisfactions.[5]

With the declining *scope* (which is not the same as declining *importance*) of membership units that encompass many aspects of personal interest and behavior, the industrial society produces a tremendous array of associations based on limited interests and characterized by highly specific forms of social relations. Some of these associations revolve around occupational interests, the outstanding example being the labor union. Despite the importance of the common interests represented, and despite the more or less conscious attempts of some leaders and members to broaden the scope of organizational activities, even labor unions are poorly equipped to provide *meaning* and social participation. Such tendencies are, at least in the United States, so meagerly supported by norms and expectations that wider participation is likely to be regarded by participants themselves as a substitute for more "normal" types of social relations.

These internal organizational features of industrial societies go far toward an explanation of the growing importance of the national state as a membership unit. The scope of state activities has increased steadily or by leaps and bounds in all industrialized economies. This trend is accounted for in part by the necessity of insuring order and maintaining interdependent relations in the face

[5] See Talcott Parsons, *Essays in Sociological Theory, Pure and Applied* (Glencoe, Ill.: The Free Press, 1949), Chap. XI, "The Kinship System of the Contemporary United States."

of powerful divisive forces stemming from group tensions and conflicting interests But in all industrial societies there has been another trend scarcely noticed in most discussions. It is commonly observed that urban-industrial societies have undergone a pronounced attrition of older membership units with their extensive reciprocities, and also that established religious organizations and beliefs have been undermined by the process of "secularization" The trend usually not noticed in the same context has been the pronounced increase of emotional nationalism, of treating the national state as a sacred entity Any definition of religion that will fit systems of organization and belief commonly recognized as religious will at the same time fit at least the more extreme types of ideological nationalism.

The heightened importance, both structurally and normatively, of the state in industrial societies is of course most readily observed in totalitarian systems. Whether of the fascist or communist variety, the totalitarian state has provided one kind of attempted solution of industrial instability. The solution has rested upon a combination of new forms of social organization and new ways of accentuating common or collective values and loyalties. The organizational innovation is the attempt to relate all groups—both those with broad and informal bonds and those with highly limited interests—in an orderly and definite way to the single, inclusive group, the state. Special occupational, territorial, and even recreational and "cultural" interests are all made subservient to an integrated system of policies and controls. A prescribed hierarchy of loyalties is actively fostered, with the pull-hauling upon the individual or small group typical of less tightly organized industrial societies reduced to a minimum In case of doubt, the overriding loyalty to the party and state nominally settles the issue.

Viewed purely as a mode of societal organization, the modern totalitarian state is largely an outgrowth of tensions in industrial societies, and provides a sort of solution for those who maintain the ideal of the "perfectly integrated" society. Both direct and inferential evidence casts doubt on the actual achievement of integration in the full sense of emotional support. Not only is there a

strong emphasis in such societies on coercion by the power holders, but also there is likely to be serious conflict within the leadership group itself. The struggle for power, the divisive force of special interests, may take less overt forms, but it is present. By virtue of the fact that the possibility of legitimate division is officially denied and that mechanisms for permitting disputes have been largely dissolved, conflicts are likely to be more fundamental and eventually disruptive of the system as a whole. Internal cohesion tends to be maintained in large measure by the device of a constant conflict orientation toward internal and external "enemies" as identified by the political authorities. The loyalty requirement is absolute and extends to all social behavior, rather than limited to national affairs or fundamental principles as such.

There is neither theoretical nor empirical basis for supposing that the totalitarian state provide a fundamental solution to the problem of stability, even if that is defined only with respect to internal order. The aggressive international policies that are apparently inherent in the ideology and structure of totalitarian systems cast further doubt on this form of solution to the tensions of industrial societies.

Competition, Mobility, Insecurity. The industrial mode of division of labor must rest in large measure upon merit judgments. Where many highly diversified skills are needed and small skill differences are important, recruitment must follow *universalistic* criteria. That is, the criteria of selection are those possible in any sector of the population and do not depend upon previously established social ties.[6] Within limits, the test of eligibility for a particular position is not lineage or regional background but technical competence. Internal to the productive and market systems, social relations are in high degree *functionally specific.* Interpersonal relations are nominally limited to those relevant to the transaction or the performance of technical duties in a complex organization. Both of these expectations are normatively sanctioned—they are regarded as *right.*

Functional specificity, which implies in most instances a tenuous,

[6] *Ibid.*, Chap. VIII, "The Professions and Social Structure," and Chap. IX, "The Motivation of Economic Activities."

impersonal form of social interaction, is subject to great pressure within complex organizations As noted in an earlier chapter, the productive organization—the corporation or the local plant—constitutes a livelihood for its members, and they are in daily direct contact with small numbers of other members over considerable periods of time The informal group, the development of ideas of "morale" and "loyalty," the sense of broad participation in a labor union—all these mark departures from strict canons of limited, segmental relations

These same circumstances give rise to pressures on universalism The "good fellow"—"our kind of man"—may be promoted and his more competent competitor passed by In view of the expectation, which is ethically supported, that merit is specific and primary, inevitable tensions arise.

The tensions arising within the organization considered as an isolated entity are made more acute by "external" pressures on the productive system. Universalism and functional specificity are not and could not be the uniform norms for all social relations. Obligations that precisely depend upon established social ties and are not limited to "contractual" specifications are essential to the continuity of any social system The most obvious case is that of the family and its functions. Children cannot be treated in terms of their economic merits, nor do the obligations of adults extend to all children indiscriminately. Affectional ties that relate only to particular persons and not to categories and types of persons are an important element of social behavior and the functioning of social systems. A major source of strain in any industrial system is the conflict between principles as they apply to concrete situations Primary reliance on universalism and functional specificity alone would at most produce a temporary, atomistic interdependence of individuals and a system without loyalties or emotional allegiances—that is, no social system that could survive Primary reliance on kinship ties or other particularistic relations would mean the collapse of any industrial system But where one principle leaves off and another applies is neither uniformly clear nor uniformly observed. Thus the father who fails to provide for his children and give them the best

possible advantages for adult position is condemned, but if he secures his son's appointment to a position mainly on the basis of the father-son relationship, he is almost equally condemned.

The strains deriving from the uncertain spheres in which particular norms are effective are further accentuated by competition as the mode of placement and reward in the productive system. Whether or not enterprises compete through an impersonal market, allocation of position and reward on the basis of merit necessarily involves competition This elementary principle is often obscured by a fallacious opposition of competition and cooperation. Competition may be the effective mechanism for achievement of cooperative goals

Competition, however, entails hazards to social stability of at least two kinds The one hazard is that the several goals of competitors supersede the common goals or functions of the activity, with resulting strain on the rules for limiting and directing competitive activities The second and related hazard is the frustration and insecurity fostered by competition. As Parsons has pointed out, such insecurity is prevalent in varying degrees among different sectors of industrial societies, but is most acute precisely where competitive advancement is a primary orientation.[7]

The frustration and insecurity deriving from competition invites group tensions and the diverting of aggression upon "scape-goats." This process is certainly one of the explicit functions of the internal "enemy" in totalitarian states, but also occurs in all industrial societies Ethnic and "racial" groups are commonly the favorite target, but any minority will serve if it appears in any way connected with failure of the aggressors. Such group tensions, with their typical emotionality, are also related to the loss of emotionally meaningful participation in more socially recognized and regulated groups.

A final source of internal instability in industrial societies is that of mobility, whether that of actual geographical migration or that of occupational shifts even within the single plant or office Mobility is the mechanism that "frees" the individual from meaningful mem-

[7] *Ibid.*, Chap XII, "Certain Primary Sources and Patterns of Aggression in the Social Structure of the Western World"

bership groups and from participation in constituted patterns Patterns of social conformity are of course especially effective when controls are informal, that is, the result of the opinions and suasion of those who matter to the individual. The greater the degree of occupational and residential movement in an industrial society, the less are individuals controlled through the constant reinforcement of learned behavior by the expectations of associates, neighbors, and friends Moral judgments are typically formed early, but may be found not to fit exactly the changing situation of the mobile individual, and probably undergo attrition in any society in the absence of constant reinforcement by the expectations of persons bound to the actor by many bonds and reciprocities. The industrial society produces the phenomenon of the virtually isolated or atomistic individual—not usually as the typical case but as a representative of a significant fraction of the population Without "roots" or clear responsibilities, such an individual is in a very real sense encouraged to pure instrumentalism in social relations, or else to grudging conformity and willingness to join movements subversive or otherwise where he really "belongs"

In sum, the impressive productive efficiency of the industrial system is secured at considerable cost to most traditional forms of social participation and allegiance The actual experience of industrial societies raises the possibility that considerable instability is inherent, not only because change as such is institutionalized but because principles of efficiency and limited social relations are in almost constant tension with other necessary demands of the social order. New structures may appear or be deliberately created to add a measure of regularity and control of strains, but the nature of those structures is by no means clear nor is their appearance certain.

INDUSTRIALISM AND WORLD DISORDER

Industrialism has had a rough relation to nationalism at least in the sense of concomitant growth We have noted some reasons for believing that this relation is not pure coincidence, but derives in part from social transformations inherent in the industrialization process. Numerous cases can be cited to disprove a perfect correla-

tion between industrialization and aggressive nationalism, but the state as a political organ and as a focus of loyalties is important in all industrial societies The sheer importance of internal political order for industrial operations provides a partial key to the functional connection. The connection is heightened by the economic bases of imperialism and the function of the state as a membership group where other groups are undermined or transformed by the industrial system.

The industrial system has increased the interdependence of all peoples everywhere, but at this level interdependence is even less of a guarantee of solidarity than within societies Industry only assures that most of the world's peoples will be involved in national conflicts and provides the means for exceptional devastation

Ideological imperialism, especially in the rise of the totalitarian fascist or communist state, adds a new dimension to world disorder, and the conflicting ideologies relate precisely to the organization of the industrial system. Appeals are thus made across geographical boundaries to disaffected elements in other societies These tendencies give added support to pressures for "integration" and "order" within each social system, for loyalty becomes crucial in conflict situations.

Toleration of disputes, of voluntary associations, and of the privilege of protest, is regarded as a sign of "bourgeois decadence" in totalitarian states Their own drive for power may seemingly confirm the allegation by making loyalty and integration the condition for survival of democratic states. This produces the paradox that "liberal" societies in order to survive may adopt repressive measures that undermine the very structural supports of those societies. The hackneyed character of the paradox does not change its importance.

It is not clear that toleration of disputes and protest is inherently a source of military weakness, as long as the form and degree of dissent do not constitute a "clear and present danger." But the near hysteria created by cases of proved and alleged treason would appear to be partially a product of internal tensions and in any event give a dim prognosis for the survival of liberalism

Some students would suggest that in view of the growing inter-

dependence of all societies, the essential solution to the pressing problem of world disorder is to be found in perfection of the "techniques of cooperation."[8] However, attention to techniques or mechanisms solves problems only if the ends are not in question. Cooperation is no more the solution of international issues than it is of disputes within industrial plants. The first requirement for genuine social cohesion, a requirement now of burning importance in a disorderly world, is a common set of values by which men live. Failing this requirement, and it is in all honesty not in sight, the industrial system may yet provide the means for its own destruction.

REFERENCES

DRUCKER, PETER F., *The Society: The Anatomy of the Industrial Order* (New York: Harper & Brothers, 1950).

DURKHEIM, ÉMILE, *On the Division of Labor in Society*, tr. by George Simpson (New York: The Macmillan Company, 1933).

MANNHEIM, KARL, *Power, Freedom, and Democratic Planning* (New York: Oxford University Press), especially Chap. 1, "Main Symptoms of the Crisis," and Chap. 2, "Alternative Responses to the Situation."

MAYO, ELTON, *The Social Problems of an Industrial Civilization* (Boston: Division of Research, Harvard Graduate School of Business Administration, 1945), Chaps. II and VI.

MEADOWS, PAUL, *The Culture of Industrial Man* (Lincoln: University of Nebraska Press, 1950).

PARSONS, TALCOTT, *Essays in Sociological Theory, Pure and Applied* (Glencoe, Ill.: The Free Press, 1949), Chap. XII, "Certain Primary Sources and Patterns of Aggression in the Social Structure of the Western World."

——, "Introduction," in Max Weber, *The Theory of Social and Economic Organization*, tr. by A. M. Henderson and Talcott Parsons (New York: Oxford University Press, 1947), especially V, "The Modern Western Institutional System."

——, "The Sociology of Modern Anti-Semitism," in J. Graeber and Steuart Henderson Britt, eds., *Jews in a Gentile World* (New York: The Macmillan Company, 1942), pp. 101–122.

——, "Some Sociological Aspects of the Fascist Movements," *Social Forces*, 21: 138–147, November 1942.

[8] See especially Elton Mayo, *The Social Problems of an Industrial Civilization* (Boston: Division of Research, Harvard Graduate School of Business Administration, 1945), Chaps. II and VI.

SOROKIN, PITIRIM A., *Social and Cultural Dynamics*, Vol Three, *Fluctuations of Social Relationships, War and Revolution* (New York, American Book Company, 1937)

WARNER, W LLOYD, and J. O Low, *The Social System of the Modern Factory The Strike A Social Analysis* (New Haven Yale University Press, 1947), Chap. X, "Blue Print of Tomorrow. General Conclusions."

INDEX OF AUTHORS CITED

SUBJECT INDEX